# मध्य युगीन भारत

(A History of Medieval India)

( १००० - १७०७ )

पी० सरन

पहला भाग

# राजपूत युग

(लगभग १००० से १४०० तक)

# प्रस्तावना

इस पोथी के पाठकों से लेखक का साग्रह निवेदन है कि वे इसके पारायण से पहले नीचे लिखे कुछ आवश्यक तत्त्वों को ध्यान में रखें :

हमने इसका नाम 'मध्ययुगीन भारत' रखा है; यद्यपि इस समूचे युग को मध्ययुग मानना हमें यथार्थ व उपयुक्त नहीं जान पड़ता। हमारे विचार से मध्य-युग का आरम्भ ७वीं शती के उत्तरार्द्ध से शुरू होकर एक दृष्टि से तो लगभग अकबरी शासन के आरम्भ तक आता है और एक विचार से प्रायः १८वीं शती के अन्त तक। यहाँ पर मध्ययुग केवल उतने ही समयांश का द्योतक है जिसे शिक्षा-संस्थाओं के पाठ्यक्रमों के बनानेवालों ने मध्ययुग मान लिया है, अर्थात् लगभग ७०० बरस का वह समयान्तर जिसमें सबसे अधिक शक्ति व वैभवशाली नरेश मुसलमान थे। इन्हीं पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है। अतएव विद्यार्थियों एवं अन्य पाठकों का ध्यान हम विशेष रूप से इस तथ्य की तरफ आकृष्ट करना चाहते हैं कि इस आंशिक मध्ययुग को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी बहुमुखी पृष्ठभूमि को समझ लेना परम आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि अथवा पूर्व मध्ययुग के महासूत्रों का अति सूक्ष्म रूप से संकेतमात्र कर देना ही पर्याप्त होगा। विस्तार से उसकी व्याख्या करने का यहाँ न अवकाश है और न स्थान।

सबसे पहले हमें यह याद रखना चाहिए कि हर्षोत्तर काल में ही उन राजवंशों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्हें आधुनिक लेखकों ने राजपूत कहना शुरू कर दिया है, यद्यपि वे स्वयं कभी अपने को राजपूत नाम से न पुकारते थे। इन्हीं राजवंशों के दसवीं और बारहवीं सदियों के उत्तराधिकारियों को उत्तर-पश्चिम से आनेवाले तुर्की हमलों की बाढ़ से लोहा लेना पड़ा था। हम यह भी जानते हैं कि क्षत्रिय नाम पर गौरव करनेवाले और अपने शौर्य का डंका बजानेवाले ये वीर योद्धा इस बाढ़ को रोकने में सर्वथा असमर्थ ही नहीं हुए प्रत्युत उसमें बह गए और उनका कहीं पता न चला। इस भारी असफलता के कारणों एवं शुभाशुभ परिणामों का मूल्यांकन करना इतिहास के प्रत्येक विद्यार्थी का लक्ष्य होना स्वाभाविक है। इस युग की अन्य समस्याओं के सिवा हमने हिन्दू राज्यों के इस प्रकार अधःपतन व संहार की समस्या का भी विवेचन किया है।

भारतीय इतिहास का अनुशीलन करने के सम्बन्ध में एक और बात विचार-णीय है। हमारे देश की स्वाधीनता के बाद हिन्दी-साहित्य के संवर्द्धन को भारी

प्रोत्साहन मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि इतिहास पर भी पाठ्य-पुस्तकों की एकदम बाढ़-सी आ गई। यह स्वाभाविक ही था। किन्तु यह भी स्वाभाविक ही था कि जो माल इस उतावलेपन में बहुत से प्रलोभनों के कारण तैयार हुआ वह अधिकतर अधकचरा था। उसमें बहुत-सा ऐसा भी है जिसकी अवस्था बे-पचे अन्न से किसी प्रकार बेहतर नहीं है। ऐतिहासिक प्रगति के मौलिक तत्त्वों तथा उसके विभिन्न पक्षों को ग्रहण करके उनके समन्वित रूप का दर्शन करना-कराना सहज कार्य नहीं है। बिना गहरे विवेचन व मनन के इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण, कि इतिहास केवल कतिपय घटनाओं का एक निर्जीव समूह मात्र नहीं है। मानव समाज की आज की अवस्था जो असीम काल-प्रवाह के घटनाचक्र का एक अंश मात्र है, उन अनन्त घटनाओं, परिस्थितियों एवं मानव-प्रवृत्तियों के परस्पर संघर्ष एवं सहयोग का फल है, जिन्हें पूरी तरह ग्रहण करने के प्रयास का नाम ही इतिहास की साधना है। यह साधना कितनी कष्टसाध्य है, इसे मननशील विद्यार्थी भली-भाँति अनुभव करते हैं।

परन्तु इस साधना के मार्ग में एक और अड़चन है और वह सबसे गहन है और रही है, विशेषकर हमारे देश की पिछली लगभग दो सदियों की विलक्षण परिस्थिति के कारण। यह अड़चन इतिहास की बाह्य सामग्री से उत्पन्न नहीं प्रत्युत हमारी आन्तरिक भावना से उद्भूत होती है। हमारे सामाजिक व मनोवैज्ञानिक वातावरण, जिसमें हमारी शिक्षा हुई है, के कारण हमारा दृष्टिकोण एक विशेष अथवा एक-देशीय पक्ष से इतना प्रभावित हो जाता है कि हमें इतिहास के वास्तविक स्वरूप को देखने में असमर्थ कर देता है। इस प्रकार की संकुचित व पक्षपात-जनित प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए इतिहास-ग्रंथों की आज दिन कमी नहीं है।

किन्तु हमारे इतिहास की सबसे अधिक हानि उन लेखकों ने की है जो इतिहास को एक ऐसी लचीली व नरम वस्तु समझते हैं कि वे जिस प्रकार चाहें उसे अपने मनोवांछित लक्ष्य की पूर्ति के हेतु तोड़-मरोड़ लें। इस वर्ग में सबसे आगे वे महानुभाव हैं जो किसी कृत्रिम व स्वकल्पित लक्ष्य को सामने रखकर इतिहास को कुचल डालना चाहते हैं। हमारी धारणा है कि इस प्रकार के प्रयास हमारे इतिहास पर एक भारी आघात हैं जिनसे उसकी रक्षा करना इतिहास के प्रत्येक सच्चे विद्यार्थी का कर्त्तव्य है। इसीसे हम पाठकों को इन सब निराधार कल्पनाओं के प्रति सतर्क कर देना चाहते हैं। इनके केवल एक-दो उदाहरण यहाँ काफी होंगे।

एक बड़े आदरणीय विद्वान ने हाल ही में इस्लाम और उसके प्रवर्तक को कार्लमार्क्स और उसके सिद्धान्त का अग्रगामी बतलाते हुए यह सिद्ध करने की भगीरथ चेष्टा की है कि इस्लामी हमलों और उसके सिद्धान्तों की भारत देश पर इतनी विलक्षण विजय का एकमात्र कारण यह था कि जब यहाँ का सामन्त व पूंजीपतिवर्ग श्रमजीवियों का शोषण कर रहा था ऐसे समय में (तुर्की) आक्रान्ताओं ने इस्लाम के साम्यवादी सिद्धान्त का सन्देशा दिया, तो यहाँ के पद-दलित श्रमजीवी

इन अपने उपकारी आक्रान्ताओं के झण्डे के नीचे तुरन्त आ गए और थोड़ा-सा सामन्त-वर्ग इस प्रकार सर्वथा असहाय होकर छिन्न-भिन्न हो गया। इस्लाम की मनुष्यमात्र के प्रति समता की फिलासफ़ी से यहाँ के पददलितवर्ग को बड़ा आश्वासन हुआ। परिणाम यह हुआ कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार यहाँ के नगरों में एक क्रान्ति हो गई और उनका श्रमजीवीवर्ग सामाजिक व आर्थिक समत्व के दाता मुसलमानों के साथ जा मिला। यही कारण था कि बिना किसी विशेष युद्ध के मुस्लिम आक्रान्तागण विजयी हुए।

किन्तु यह क्रान्ति जो लगभग १२०० ई० में सम्पन्न हुई शहरों तक ही सीमित रही; क्योंकि ग्रामीण जनता में इसको लाने की क्षमता पहले आक्रान्ताओं में न थी। ग्रामीण क्षेत्र में यह क्रान्ति पूरी एक सदी के बाद हुई और इसका सारा श्रेय सुलतान अलाउद्दीन ख़ल्जी को था, जिसे प्रोफ़ेसर महोदय संसार के इतिहास में पहला साम्यवादी बादशाह और एक माने में सबसे महान मानते हैं। उनके कथनानुसार अलाउद्दीन ने गाँवों की गरीब पददलित श्रमजीवी जनता को वहाँ के सामन्तों व ज़मींदारों के चंगुल से मुक्त करके सबको एकसमान एवं सुखी-सम्पन्न बना दिया। अलाउद्दीन सरीखे दैत्य आततायी के बारे में उपर्युक्त स्थापनाओं को शिक्षित समाज के सामने लाकर विद्वान लेखक ने अपनी अनुपम कल्पना की उड़ान का परिचय दिया है।

परन्तु इतिहास के अनन्त गगन में उपरोक्त विद्वान की कल्पना ही सर्वोच्च हो ऐसा नहीं है। इससे कहीं अधिक 'ख़याल की परवाज़' एवं अपूर्व प्रतिभा का प्रदर्शन एक और सम्मानित विद्वान ने किया है। इन महानुभाव ने भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विषय में बड़े विचित्र विचार प्रकट किए हैं, पर उनकी मेधा का शायद सबसे अधिक चमत्कार इस नये वाद (theory) की स्थापना के प्रयास में प्रतीत होगा कि आदि शंकराचार्य को अद्वैतवाद प्रतिपादित करने में बहुत हद तक प्रेरणा इस्लाम से मिली थी, कारण कि शंकर के समय में मलाबार तट पर मुसलमान व्यापारी आते-जाते थे। अतएव शंकर उनके एकेश्वरवाद से अवश्य प्रभावित हुए होंगे। ऐक्यवाद अथवा अद्वैतवाद (monism) और एकेश्वरवाद (monotheism born of anthropomorphic concepts) इन दोनों में कितना मौलिक व ज़मीन-आसमान का भेद है, आदि बातों का तो यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है परन्तु विद्वान लेखक को हम यह याद दिलाने का दुस्साहस अवश्य करना चाहते हैं कि शंकराचार्य आठ ही बरस की उम्र में संन्यास लेकर अपने घर से गुरु की खोज में निकल पड़े थे और अन्त में नरमदा के किनारे पर आचार्य गोविन्दपाद के शिष्य बने थे और इन्हीं आचार्य से उन्होंने अद्वैतवाद की शिक्षा प्राप्त की थी। हमारे विद्वान लेखक एवं उनके अनुगामियों का यह भी कहना है कि भारत देश में सभ्यता का पदार्पण मुसलमानों के आने पर ही हुआ है। उससे पूर्व इस देश में सभ्यता का विकास ही नहीं हुआ था। इसी वर्ग की एक और

इल्हाम हुआ है। वह यह कि सच्ची देश-भक्ति का चिह्न और मूल मन्त्र यह है कि ब्रिटिश शासन की हर प्रकार से और हर समय बुराइयाँ दिखलाते रहो और मुस्लिम शासकों के समस्त कृत्यों पर मुलम्मा चढ़ाते जाओ। उनके विचार से राष्ट्रीय ऐक्य का एकमात्र मंत्र यही है कि इस प्रकार इतिहास को कुचला जाय और उसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि का एक अस्त्र ही समझा जाय।

इसके विपरीत एक और वर्ग सामने आया है। इसका कहना है कि महमूद गज़नवी के मुसलमानी हमले होते ही प्राचीन भारत और उसकी समस्त ज्योति समाप्त हो गई और देश पर तब तक अन्धकार छाया रहा जब तक हिन्दुत्व के हिमायती मराठों ने फिर से १८वीं सदी में विदेशी शासन से मुक्त होने के लिए स्वाधीनता संग्राम आरम्भ न कर दिया। इसी इतिहासवेत्ता की यह सतत चेष्टा है कि समस्त मध्ययुगीन हिन्दू नरेशों की अनेक त्रुटियों, उनकी मूढ़ता, अन्धविश्वास, उनकी रणकौशल के नियमों से नितान्त अनभिज्ञता पर तथा उनकी लगातार पराजयों पर एवं उन शासकों के स्वार्थी, जड़, देशद्रोही, पंडा-पुजारियों के जघन्य कृत्यों पर स्वर्णपत्र चढ़ाकर उन्हें हिन्दुत्व के नाम पर चमकाया जाय। समाज के वास्तविक उत्कर्ष के मार्ग में इस प्रकार के समस्त सिद्धान्त बाधक हैं, साधक नहीं।

इसके अतिरिक्त अनेक विषयों पर केवल लकीर पीटनेवालों अथवा किसी वर्ग-विशेष के पक्षपातियों से हमारा मौलिक मतभेद है। उदाहरण के लिए प्राचीन काल के अनेक विषयों पर नित नई खोजों के कारण नई रोशनी पड़ती जाती है और पिछले सिद्धान्त व स्थापनाएँ निराधार होती जाती हैं। आदि इतिहास का—उसकी घटनाओं का ही नहीं—उसके अनेक महापुरुषों का काल-निर्णय ही अभी तक संदिग्ध है। मध्यकालीन तुर्क व अफ़गान सुलतानों के चरित्र, नीति, आचार-विचार आदि के विषय में जो धारणाएँ हमारे प्रायः लेखकों के द्वारा प्रचलित हुई हैं वे इतनी निराधार व कच्ची हैं कि तनिक भी विचारपूर्वक अध्ययन करनेवाले को उनपर आश्चर्य होता है। गंड तथा पृथ्वीराज सरीखे अनेक नामी वीर राजपूतों के होते हुए इस काल में हिन्दुओं की बेरोक सतत हार तथा ह्रास के कारण आदि, अनेक इसी प्रकार की समस्याओं पर अधिकांश पाठ्य-पुस्तकों के रचयिताओं के प्रवचन तो परिपक्वता का लेशमात्र भी परिचय नहीं देते। यदि इतिहास के अध्ययन की इन बाधाओं से सतर्क होकर पाठकगण सच्चे मन व शुद्ध अन्तःकरण से इस विषय की साधना करेंगे तो लेखक अपने प्रयत्न को सफल समझेगा। हमारे निर्दिष्ट युग की संस्थाओं व सामाजिक अवस्था का विशेषण हम दूसरे अध्याय में करेंगे।

—लेखक

# पहला प्रकरण
# भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि

एक

## भूगोल और इतिहास

**किसी** देश के इतिहास का अध्ययन करने के लिए उसके भूगोल का जानना आवश्यक है। भूगोल के आधार पर ही इतिहास रूपी भवन का निर्माण होता है। जिस देश में मनुष्य निवास करता है, उसकी भौगोलिक दशा उसके सामाजिक व वैयक्तिक जीवन को ढालने में काफी प्रभाव डालती है। प्रत्येक देश और जाति के जीवन-प्रवाह के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर, उसकी संस्कृति पर एवं आर्थिक, नैतिक, शारीरिक इत्यादि सब ही अवस्थाओं पर भूगोल की छाप होती है। अतएव यह आवश्यक है कि हम अपने देश के इतिहास का अध्ययन करने से पहले उसके भूगोल पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल लें।

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति बड़ी अनुपम है। यह बात हम कई प्रकार से देखते हैं। इस देश के राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक भाग्य निर्माण पर भूगोल का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भौगोलिक दृष्टि से जितना मर्यादित यह देश है उतना और कोई नहीं है।

**देश की विशालता**—**हमारा देश अति विशाल** है। उत्तर में पामीर से दक्षिण में कन्याकुमारी तक उसकी लम्बाई लगभग तीन हजार मील है और द्वारिका से आसाम तक लगभग दो हजार मील है। इसका आकार एक प्रकार के चतुर्भुज-जैसा है जो दो त्रिभुजों के मिल जाने से बना है। एक त्रिभुज तो वह भाग है जिसकी पूर्वी और पश्चिमी रेखाएँ पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट बनाते हैं और कन्याकुमारी उसका शीर्ष है, तथा विन्ध्याचल की पेटी या मेखला उसकी आधाररेखा (base) है। इस त्रिभुज के ऊपर उत्तरी मैदान और पर्वतों का एक और त्रिभुज रखा हुआ है जिसकी एक रेखा तो यही विन्ध्याचल की पेटी है और दूसरी हिमालय की शृंखला है तथा आधाररेखा उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी और सिन्धु नदी है। इस त्रिभुज की दो रेखाएँ

बंगाल और बिहार के बीच में बहुत पास आकर फिर से एक चोंगे की तरह फैल गई हैं।

भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय पर्वत की अगम्य दीवार है जो कि उत्तर-पश्चिम और पूर्व की तरफ अपनी शाखाएँ दक्षिण की ओर को बढ़ा देती है। यह पहाड़ियाँ दोनों तरफ प्रायः समुद्र तक पहुँच जाती हैं। जहाँ पहाड़ियों की कोर समाप्त होती है वहीं से समुद्र शुरू हो जाता है और पूर्व व पश्चिम के दोनों किनारे दक्षिण में एक नोक पर जा मिलते हैं।

**सीमाओं का महत्व**—भारतवर्ष की सीमाओं का एक विशेष महत्व है। प्रकृति ने पहाड़ और समुद्र का एक ऐसा अटूट परकोटा इसके चारों ओर बाँधा है कि बाहरी हमले करनेवाले केवल थोड़े ही रास्तों से इस देश पर चढ़ाई कर सकते हैं। उत्तर में हिमालय की ऊँची दीवार को तो कोई पार कर ही नहीं सकता। उत्तर-पूर्व में कुछ दर्रे ऐसे हैं जिनमें से चीन व तिब्बत (त्रिविष्टप) आने-जाने के मार्ग हैं। परन्तु इन रास्तों से बड़ी सेनाएँ आसानी से आ-जा नहीं सकतीं। सेनाओं के आने-जाने योग्य बड़े दर्रे सिर्फ भारत के उत्तर-पश्चिम में हैं। इनमें दो रास्ते मुख्य हैं— खैबर का दर्रा उत्तर में और बोलन का दर्रा दक्षिण में।

**उत्तर-पश्चिम**—इन रास्तों की विशेषता समझाने के लिए यह आवश्यक है कि हम भारत के उत्तर-पश्चिम के भूगोल को समझ लें। सिन्ध नदी पंजाब के उत्तर-पश्चिम में अटक के कुछ ऊपर पहाड़ों की गोद से निकलकर मैदान में दाखिल होती है और दक्षिण-पश्चिम की राह चलती हुई कराँची के पास समुद्र में समा जाती है। यही पंजाब और सिन्ध प्रान्तों की पश्चिमी सीमा है। इसके उस पार समतल भूमि का एक तंग फीता चला जाता है जिसके पश्चिम में पहाड़ी पुश्ता है। इसी पहाड़ी हिस्से में वे सरहदी जातियाँ रहती हैं जिन्होंने हजारों बरस से आज तक किसी शासक का दबाव नहीं माना और आस-पास के प्रदेशों को लूट-मार करके अपनी आवश्यकताएँ पूरी करती रही हैं। इस पहाड़ी पंक्ति में दो मुख्य दर्रे हैं, उत्तर में खैबर और दक्षिण में बोलान जिनके द्वारा पश्चिमी देशों से आवागमन होता था।

इन दो मुख्य रास्तों के अलावा, अरबी लोग बिलोचिस्तान के दक्षिण के रास्ते से भी आते थे परन्तु वह रास्ता एक बीहड़ रेगिस्तान में होकर जाता है। खैबर और बोलान के बीच में और भी छोटे दर्रे हैं अर्थात् कुर्रम, टोची, जो जिले बन्नू के पश्चिम में हैं और गोमल जो डेराइस्माइल खां के पश्चिम में है। परन्तु इन रास्तों से केवल उस बड़ी सड़क तक ही पहुँच सकते हैं जो काबुल से गजनी होती हुई कन्धार जाती है। भारत के पश्चिम में उत्तर और दक्षिण के इन दो झरोखों और उन तक पहुँचानेवाले रास्तों की नाकाबन्दी करके उनको अपने बस में रखना देश की रक्षा के लिए सदैव अत्यन्त आवश्यक रहा है। जिन शासकों ने इनके महत्व को नहीं समझा वे देश की और अपनी रक्षा करने में सफल न हुए।

इसके अतिरिक्त सरहदी पहाड़ों के अन्दर हज़ारों साल से कुछ ऐसी जातियाँ बसती चली आई हैं जिन्होंने बड़े कष्टों से परन्तु बड़ी वीरता के साथ अपने जीवन का निर्वाह भी किया है और अपनी स्वाधीनता की रक्षा भी की है। इन जातियों के ऐसा बेधड़क और लड़ाकू रहने का कारण यह है कि उनके देश में भूमि ऐसी नहीं है जहाँ खाने-पीने की सामग्री काफी पैदा होती हो। इस कारण उनको अड़ोस-पड़ोस के प्रदेशों को लूट-खसोटकर अपना निर्वाह करना पड़ता है। सिन्धु नदी के और पास के प्रदेश सदा से इन लोगों की लूट-मार से पीड़ित रहे हैं। इनकी बसावट भारत और अफगानिस्तान के बीच के रास्तों के उत्तर-दक्षिण में होने के कारण ही तुर्कों, मुगलों और अंग्रेज़ों को देश की रक्षा करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था और आज दिन तक सरहदी समस्या का कोई सुचारु और टिकाऊ समाधान नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि आज तक किसी शासक ने भी इन जातियों के प्रति किसी रचनात्मक नीति का बर्ताव नहीं किया जिससे उनकी आर्थिक एवं प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए उनके देश में काफी सामग्री उत्पन्न होने लगती, एवं उनको शिक्षा दी जाती और इस प्रकार दमन-नीति के बजाय श्रेयस-नीति के द्वारा उन जातियों को मित्र बनाया जाता।

ऊपर के कथन से स्पष्ट हो गया होगा कि उत्तर-पश्चिमी प्रदेश का ऐतिहासिक, राजनैतिक, जनवैज्ञानिक एवं सामरिक दृष्टि से कितना भारी महत्व है।

भारतवर्ष के पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तटों पर कई बड़े उत्तम बन्दरगाह और नौकाशय हैं। इनमें सबसे उत्तम बम्बई है। मद्रास और मसुलिपटम इत्यादि भी अच्छे बन्दरगाह हैं। इन दोनों तटों के पास पहाड़ियों की पंक्तियाँ उत्तर से दक्षिण तक चली गई हैं और दूर दक्षिण में तिरुचिरापल्ली के पास मिल गई हैं। इन पर्वतावलियों और इनके बीच के दक्षिण के पठार का भी हमारे इतिहास पर भारी प्रभाव पड़ा है।

यदि देश के आन्तरिक भूगोल का दिग्दर्शन किया जाय तो ज्ञात होता है कि प्रकृति ने इस देश को चार भागों में बाँट रखा है—

(१) **हिमालय प्रदेश**—हिमालय की तीन पर्वतावलियाँ हैं। इनमें से जो सबसे नीची और दक्षिण की तरफ है उसके और बीचवाली अवली (जो इससे ऊँची है) के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक ऐसी घाटियाँ हैं जिनमें अति प्राचीन-काल से भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करती रही हैं। पहाड़ी प्रदेश के गर्भ में सुरक्षित होने के कारण ये राज्य सदैव अपनी स्वाधीनता को कायम रख सके।

(२) **गंगा-यमुना का मैदान**—उपर्युक्त पर्वतश्रेणी के नीचे वह लम्बा-चौड़ा मैदान है जो पश्चिम में सिन्धु नदी से लगाकर बंगाल तक फैला हुआ है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह मैदान एक त्रिभुज की शक्ल का है। इसका पश्चिमी भाग कश्मीर की तलहटी से लगाकर समस्त पंजाब और राजपूताने को पार करके विन्ध्याचल के

उत्तरी किनारे तक पहुँचता है। पूर्व की ओर बढ़ते हुए यह धीरे-धीरे तंग होता जाता है, कारण कि इसकी दोनों दीवारें, अर्थात् ऊपर हिमालय और नीचे विन्ध्य मेखला, तिरछी होकर एक-दूसरे की तरफ झुकती जाती हैं, यहाँ तक कि मिरजापुर और चुनार के पास हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में केवल लगभग १०० मील का अन्तर रह जाता है तथा बनारस के आगे चलकर तो और भी कम। यह याद रखना होगा कि पश्चिम में यह अन्तर १००० मील के लगभग है या उससे भी अधिक। परन्तु मिरजापुर के पास से विन्ध्याचल की रेखा गंगा के किनारे के बिलकुल ऊपर झुक जाती है और कोई ५० मील तक इसी प्रकार चलकर फिर नीचे की तरफ को घूम जाती है। यह मिरजापुर और चुनार के बीच की जगह बड़े महत्व की है। उत्तर-पश्चिम से बिहार या बंगाल जाने का रास्ता इसी तंग गली के अन्दर से है। गंगा के उत्तर में जो १०० मील से न्यूनाधिक चौड़ी जगह रह जाती है, गंगा के परिवार से घिरी हुई है। पूर्व से पश्चिम तक नदियाँ हिमालय से निकलकर दक्षिण-पूर्व की तरफ बहती हैं और सारे मैदान को चीरती हुई गंगा में आकर समा जाती हैं। यदि कोई सेना या काफला पश्चिम से बंगाल जाने के लिए गंगा के उत्तर के रास्ते से जाए तो उसे अनेक नदियाँ पार करनी होंगी।

इस मैदान के पश्चिमी भाग के दो मुख्य टुकड़े हैं। एक तो पंजाब और 'उत्तर प्रदेश' का पश्चिमी हिस्सा, जिसकी कमर पूर्व की तरफ पतली होती जाती है। दूसरा पंजाब के दक्षिण में राजपूताना। पंजाब और उत्तर प्रदेश के बीच का हिस्सा दोनों ओर की भूमि से कुछ ऊँचा गौ की पीठ के समान है। यदि अम्बाला से झाँसी तक एक रेखा खींची जाय तो वह इसी जल-विभाजक को प्रदर्शित करेगी। इस लाइन के ऊपर भारत के प्राचीन, इतिहास-प्रसिद्ध नगर बसे हैं। उत्तर में अम्बाला से, दक्षिण की तरफ थानेश्वर, करनाल, पानीपत, सोनीपत, बागपत, तिलपत, इन्दरपत, दिल्ली, कोसी, छाता, मथुरा-वृन्दावन, आगरा, इटावा, धौलपुर, ग्वालियर, दतिया, ओरछा और झाँसी, ध्यान में रखने योग्य नगर हैं। अम्बाला के उत्तर में हिमालय की सबसे ऊँची पीठ के इस पार और उस पार के हिमकोष से वे सब बड़ी-बड़ी नदियाँ उदित होती हैं जो उत्तरी मैदान को एक छोर से दूसरे छोर तक सींचती हैं और उसकी भूमि को इतना उपजाऊ, धन-धान्य पूरित, शस्य-श्यामला, सुजला, सुफला बनाती हैं। इनमें से सिन्धु (इण्डस) और सतलज जिनका उद्गम हिमाचल के दूसरी ओर मानसरोवर के निकट है, उसी जल-विभाजक के कारण पश्चिम की तरफ चली जाती हैं। यूँ तो इन सभी नदियों के दृश्य अत्यन्त अद्भुत हैं परन्तु सिन्धु की पर्वतीय यात्रा तो वर्णनातीत है। इस नदी का उद्गम-स्थान कोई २०,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। वहाँ से यह उत्तर-पश्चिम की तरफ लद्दाख (ललाटाक्ष) की ऊँची घाटी को पार करती हुई काश्मीर के उत्तर में बहती है और गिलगिट के पास पहुँचकर दक्षिण की ओर घूमती है। थोड़ी दूर दक्षिण को चलकर वह फिर कुछ दूर तक पश्चिम को घूमती है और फिर अन्तिम बार दक्षिण को प्रवाहित होकर

कश्मीर की पश्चिमी मर्यादा बाँधती है। इस नदी की हज़ारों मील की पर्वतीय यात्रा में कई ऐसे स्थान हैं जहाँ उसकी धारा ५, ६ या १० हज़ार फुट की ऊँचाई तक से एकदम नीचे गिरती है। इसका सर्वोत्तम और अनुपम दृश्य गिलगिट के पूर्व में है, जहाँ यह नदी दक्षिण को घूमती है। इसके बायें किनारे पर गगनचुम्बी नंगा पर्वत खड़ा है जिसका शिखर २६,६२९ फुट अर्थात् ५ मील से अधिक ऊँचा है। इस स्थान पर सिन्धु मानो स्वर्ग से उतरकर नंगा पर्वत के चरणों में गिर पड़ती है और उसकी परिक्रमा करके नीचे की ओर बढ़ जाती है।

इसी प्रकार सतलज (शतुद्री) सिन्धु के समीप से निकलकर पहले पश्चिम की तरफ कोई २०० मील तक चलकर दक्षिण-पश्चिम को मुड़ जाती है तथा कुल्लू और शिवालक पर्वतों की घाटियों को चीरती हुई सरहिन्द के ऊपर मैदान में प्रवेश करती है। पंजाब की बाकी चार नदियाँ भी उत्तर के पहाड़ों से इसी प्रकार निकल कर पंजाब की भूमि को सींचती हुई दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं और सब मिल कर अन्त में मिठनकोट के पास सिन्धु में जा गिरती हैं।

सिन्धु और सतलज के उद्गम के पूर्व से निकलकर ब्रह्मपुत्र (साँपू) पूर्व की तरफ तिब्बत में बहती है और फिर आसाम की पूर्वी सीमा के पास दक्षिण की ओर घूमकर आसाम और बंगाल को सींचती हुई गंगा में मिलकर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है।

परन्तु गंगा-यमुना का परिवार प्रायः हिमाचल के दक्षिण हिमप्रवाह से उदित होता है। यह सब धाराएँ पहले कुछ दक्षिणमुखी चलकर पूर्व की ओर मुड़ जाती हैं और धीरे-धीरे सब ही गंगा में जा मिलती हैं। मध्य देश के जल-विभाजक के किनारे पर यमुना उद्गम से कोई दोसौ मील बहकर पूर्व-मुखी हो जाती है। ऐतिहासिक और सामरिक दृष्टि से यमुना की धार का अम्बाला से आगरा तक बड़ा महत्व है। इस किनारे के तीन मुख्य नाके हैं—एक अम्बाला, दूसरा दिल्ली, तीसरा आगरा। इनका महत्व समझने के लिए राजपूताने का भूगोल समझ लेना आवश्यक है।

राजपूताना पंजाब के दक्षिण में है। राजपूताने में अरावली (अर्बुदावली) पहाड़ी दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर लेटी हुई है जिसकी एक भुजा दिल्ली तक तक चली गई है। दक्षिण-पश्चिम में यह आबू (अर्बुद) पर्वत तक जाती है। आबू ही इस पहाड़ी का सबसे ऊँचा शिखर है जो ५,००० फुट ऊँचा है। आबू के नीचे यह पहाड़ी सीधी दक्षिण को मुड़ गई है और गुजरात की पूर्वी मर्यादा बनकर नर्मदा तक चली गई है। इस पहाड़ी ने राजपूताना को दो बराबर भागों में बाँट दिया है। पश्चिमी भाग भारत की प्रसिद्ध मरुभूमि है जो सिन्ध और बिलोचिस्तान के दक्षिण के रेगिस्तान से मिलती हुई चली गई है। अरावली के पूर्व का आधा भाग बड़ा हरा-भरा और उपजाऊ है जो दक्षिण में मध्यभारत से लगा हुआ है।

हम ऊपर कह आए हैं कि अरावली की अन्तिम भुजा दिल्ली तक चली गई

है। एक ओर तो यह पहाड़ी कमान की शक्ल में है और दूसरी ओर यमुना की सीधी धार। इसी अर्ध चक्र के अन्दर दिल्ली बसी हुई है और दिल्ली के दक्षिण में आगरा तक कई सुदृढ़ और महान गढ़ और नगर बसे हुए हैं जिनके पश्चिम में पहाड़ और पूर्व में यमुना है।

**दिल्ली का महत्व**—ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि दिल्ली भारत का मुख्य द्वार है। उत्तर-पश्चिम से हमला करनेवालों को भारत के गर्भ में प्रवेश करने के लिए, पहले दिल्ली तक पहुँचना आवश्यक था। पंजाब के दक्षिण में रेगिस्तान है। एक तो उसके अन्दर सीधा घुस जाने में न पानी मिल सकता था न दाना, दूसरे पूर्वी राजपूताना की उर्वरा भूमि में पहुँचने के लिए रेगिस्तान का लम्बा रास्ता तय करके फिर अरावली की भीत और उसके शिखरों पर जो गढ़ बने हुए हैं उनसे भुगतना पड़ता था। इस कारण उस मार्ग से किसी आक्रान्ता का आना असम्भव था; अतः उसको भारत के अन्दर घुसने के लिए दिल्ली तक पहुँचना आवश्यक था। दिल्ली को अधिकार में करलेने वाले के लिए पूर्व, दक्षिण और पश्चिम के तीनों रास्ते साफ हो जाते थे। इसी कारण ऐसे महत्वशाली स्थान पर अत्यन्त प्राचीनकाल में इन्द्रप्रस्थ और मध्यकाल में उसी जगह दिल्ली की स्थापना की गई। अब केवल इतना और याद रखना होगा कि दिल्ली के उत्तर में कोई १२५ मील के फासले पर सिरमूर पहाड़ तक और दक्षिण में आगरा तक यमुना के किनारे पर कई दुर्ग-नगरियाँ बसी हुई हैं। कारण कि इसी हिस्से के किसी स्थान से यमुना को पार करके बाहरी सेना देश के अन्दर घुस सकती है। परन्तु इन सबकी व्यवस्था और नियन्त्रण दिल्ली के केन्द्र से ही हो सकती है और होती थी।

**दक्षिणी पठार**—इसके पश्चिम में मराठा देश है। उसके तीन मुख्य भाग हैं—(१) कोंकण अर्थात् धरती की वह लम्बी पतली पट्टी जो पश्चिमी घाट के पर्वत और भारत महासागर के बीच में है। यह हिस्सा चौड़ाई में २० मील से शायद ही कहीं अधिक हो परन्तु लम्बाई में कल्याण से गोवा तक कोई ३०० मील है। इसकी पीठ पर सैयादरी या पश्चिमी घाट का पहाड़ खड़ा है। (२) इस सैयादरी की ऊपरी चोटियों पर एक भिन्न प्रदेश है। यह महाराष्ट्र का दूसरा भाग है जो घाट-माथा कहलाता है। (३) तीसरा भाग वह है जो इस पहाड़ के ढलान पर है।

पूर्वी किनारे का पहाड़ इतना ऊँचा और खड़ा नहीं है जितना सैयादरी है। यहाँ का समुद्री तट भी कोंकण की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। इसका निचला भाग करनाटक, तामिलनाड और ऊपर का तिलंगाना कहलाता है। तिलंगाना गोंड़वाना के साथ मिल जाता है।

**नदियों का प्रभाव**—भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर यहाँ की नदियों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उत्तराखण्ड की नदियाँ तो आर्यजाति की जीवनधारा रही हैं। हिमालय पर्वत के अनन्त, बहुमूल्य एवं उपजाऊ बनानेवाले कोष को ला-लाकर इन नदियों ने उत्तरी मैदान की भूमि पर सदा से बिछाया है और उस भूमि को इतना रत्नगर्भा

और शस्य-श्यामला बनाया है। इन्हीं नदियों के द्वारा उत्तरी भारत का व्यापार होता रहा है। गंगा, सिन्धु और उनकी सहायक धाराओं के किनारों पर इसी कारण हमारे देश के प्राचीनतम बड़े-बड़े नगर पाए जाते हैं। दिल्ली, लाहौर, आगरा, इलाहाबाद केवल राजनैतिक केन्द्र ही न थे, अपितु व्यापारिक दृष्टि से भी अति महत्वपूर्ण थे। लाहौर से लहरी बन्दर (कराँची) को इतना माल नावों द्वारा, पश्चिमी देशों के लिए जाता था, कि उस बन्दर का नाम ही लाहोरी या लहरी बन्दर पड़ गया था। गंगा-यमुना के तट के नगरों का तो कहना ही क्या, इलाहाबाद से भागलपुर और राजमहल तक मिरजापुर, बनारस, पटना इत्यादि समस्त शहरों के बन्दरगाहों में २०, ३० और ५० हजार तक नावें माल से लदी खड़ी रहती थीं जो देश के एक कोने से दूसरे तक आती-जाती थीं। इसी प्रकार यह नदियाँ हमारे देश के आर्थिक और व्यावसायिक जीवन की नाड़ियाँ थीं। नदियों द्वारा हमारा व्यापार अत्यन्त सस्ता और सुव्यवस्थित था। उसके बीमे की भी व्यवस्था थी। बीमा कम्पनियाँ हर व्यापारी नगर में होती थीं जिनका पेशा ही व्यापारी सामान का बीमा करना होता था। जब से विदेशी पूँजीपतियों की रेलें बनीं तो उनकी मालगड़ियों को चलाऊ करने के लिए, हमारे इस नाविक व्यापार को भी उसी प्रकार नष्ट किया गया जिस प्रकार बंगाल और ढाका के कपड़े के व्यापार को।

इसके अतिरिक्त नदियों ने राजनैतिक विभागों, जिलों इत्यादि के विभाजन में बड़ी सहायता दी है। बहुत से प्रान्तों, सरकारों, परगनों इत्यादि की सीमाएँ नदियों के होने से बड़ी आसानी से बन गईं। यही नदियाँ आक्रमणों के समय शत्रु से रक्षा करने में सहायक हुई हैं। नदियों के साथ-साथ पहाड़ों ने भी प्रान्तों आदि के विभाजन में सहायता ही नहीं दी है अपितु प्रान्तों के विभाजन को अनिवार्य रूप से प्रभावित किया।

भौगोलिक स्थिति के कारण ही भारत के उत्तराखण्ड का मैदान एक ऐसा दुर्गम ही नहीं अपितु अभेद्य गढ़ बना रहा है जिसमें प्रवेश करने के केवल दो द्वार हैं। इन्हीं द्वारों से होकर बाहरी जातियाँ, व्यापारी एवं आक्रान्ता इस देश में आते रहे। जब तक हमारे शासकों ने इन द्वारों के महत्व को समझकर इन्हें अपने अधिकार में रखा और दृढ़ता तथा सामरिक चतुराई और दूरदर्शिता से उनकी रक्षा की तब तक देश स्वतन्त्र रहा। परन्तु फिर राजपूत शासक इस देश के विधाता हुए। वे एक ऐसी संस्कृति में पले थे जिसके रचयिताओं ने प्राचीन उदार, उन्नतशील, सार्वजनिक समानता के जीवन संचार करनेवाले सिद्धान्तों पर इस उद्देश्य से कुठाराघात किया था कि वे अपने संकीर्ण एवं संकुचित एकवर्गीय विशेष स्वत्वों की स्थापना और रक्षा कर सकें। इसी धर्म के ठेकेदारों ने अपने अन्धविश्वासी चेलों, अर्थात् राजपूत राजाओं को जीवन के वैयक्तिक, नैतिक एवं सामाजिक, प्रत्येक पहलू में एक बड़े संकीर्ण और जीवनरहित सिद्धान्तों की शिक्षा दी। इसके अनेक परिणामों को दर्शाने का यहाँ अवसर नहीं है। परन्तु इस संकुचित धर्म-भाव और संकीर्ण मनोवृत्ति का

राजनैतिक प्रभाव यह हुआ कि समस्त संसार के इतिहास में केवल भारत के मध्य-कालीन हिन्दू राजा ही ऐसे हुए जिन्होंने कभी भी अपने देश की सीमा की समस्या को और उसकी रक्षा करने के महत्व को नहीं समझ पाया। परिणाम यह हुआ कि ये एक ऐसे देश की भी, जिसको प्रकृति ने ही एक अभेद्य दुर्ग बनाया है, बाहरी लुटेरों और आक्रान्ताओं से रक्षा न कर सके। हमारी आज राजनैतिक ही नहीं परन्तु नैतिक व धार्मिक दासता एवं पतन का मुख्य कारण यही राजपूत काल और उसकी मानसिक दासता है।

भूगोल का एक और प्रभाव भारतवर्ष जैसे विशाल देश पर यह पड़ता है कि ऐसे काल में जब कि आवागमन के साधन प्रायः मन्द गतिवाले हों, जो प्रदेश केन्द्र से दूर होते हैं अथवा पहाड़, जंगल या नदियों इत्यादि से सुरक्षित होते हैं, उनकी जनता में विद्रोह करने और स्वतन्त्र हो जाने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है। इसके प्रतिकूल पासवाले अथवा सुगम स्थानों की जनता राजभक्त रहती है और राज्य की दृढ़ता में सहायक होती है।

देश की उपजाऊ भूमि, सुन्दर समुद्री तट, अच्छे-अच्छे बन्दरगाह, बड़ी-बड़ी नदियाँ जिनमें व्यापारी बेड़े चल सकें, विपुल खनिज वस्तुएँ इत्यादि देश और जाति को सुख-सम्पन्नता का जीवन प्रदान करके इस योग्य बनाते हैं कि वे अपने अन्दर सुदृढ़, सुव्यवस्थित और चिरस्थायी सामाजिक संस्थाओं की रचना एवं स्थापना कर सकें।

**सिंहावलोकन**—उपरोक्त विवरण से विदित हो गया होगा कि भूगोल का प्रभाव पग-पग पर भारतीय इतिहास पर पड़ा है। इतिहास के पन्नों से यह स्पष्ट है कि देश की पश्चिमोत्तर सीमा की प्राकृतिक रचना तथा उसके पीछे पंजाब के पर्वत, नदी, नाले तथा अन्य प्रकार की रुकावटें जिनके कारण बाहरी आक्रान्ताओं का देश में प्रवेश करना आसान नहीं था, निरन्तर उसके भाग्य निर्माण को बहुत कुछ प्रभावित करते रहे हैं। नैसर्गिक परिस्थिति ने तो इस भूमि को ऐसी अनुपम दृढ़ता प्रदान की है जैसी शायद ही अन्य किसी देश को प्राप्त हो। इसी प्रकार देश को उत्तर और दक्षिण के दो विभागों में बाँटनेवाली पर्वत, नदी व महाकान्तार वन की मेखला भी प्रायः अभेद्य है और उत्तरी आक्रमणों से दक्षिण की रक्षा के लिए एक दुर्भेद्य प्राचीर का काम करती रही है। हम यह भी स्पष्ट कर चुके हैं कि पश्चिम से पूर्व की ओर जाने में कितनी प्राकृतिक रुकावटों का किसी हमला करनेवाली सेना को सामना करना पड़ता था। इस प्रकार की अनेक प्राकृतिक विशेषताओं ने देश की आन्तरिक राजनीति को किस प्रकार हर युग में नियन्त्रित किया, इसे इतिहास के विद्यार्थी भली-भाँति देख सकते हैं। मध्ययुग में इन प्राकृतिक विशेषताओं का सदुपयोग देश के विधातागण, अर्थात् हिन्दू शासक, ज़रा भी न कर सके, क्योंकि वे उनके सामरिक महत्व को सर्वथा भूल गए थे। देश के भौगोलिक महत्व की इस प्रकार अवहेलना

करने की उन्हें बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ी। जो भूगोल देश का सन्तरी था वही आक्रान्ताओं का सहायक बन गया। भूगोल की उपेक्षा करने का यह भयानक प्रतिकार और दण्ड था। तुर्की हमलों से देश की रक्षा न कर सकना इस सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

●

दो

# भारतीय समाज व राजनीति
## (६५०—१००० ई० तक)

### सामाजिक व राजनीतिक क्रान्ति : एक विहंगम दृष्टि

**हमारे** निर्दिष्ट समय के समाज व राजनीति का विस्तृत विवेचन करने का यहाँ अवसर नहीं है। केवल इतना स्पष्ट कर देना अभिप्रेत है कि हम उसके उन मौलिक सूत्रों पर प्रकाश डाल दें जो सन् १००० ई० से पीछे के इतिहास की प्रगति को भलीभाँति समझने के लिए आवश्यक हैं। इसी घटनाक्रम को ध्यान में रखकर हम यह समझ सकेंगे कि किस प्रकार और किन कारणों से तुर्क-मुस्लिम हमलावरों के सामने हिन्दू राजा-महाराजा न ठहर सके और थोड़े ही समय में देश की स्वाधीनता को खो बैठे। इसी से हम यह भी देख सकेंगे कि मुस्लिम सम्पर्क एवं उनके शासन से भारतीय समाज व संस्कृति पर कैसा प्रभाव पड़ा।

**भारतीय समाज में युगान्तर**—मौर्य साम्राज्य के अन्तिम दिनों में श्रवणधर्म तथा उसके तत्कालीन रूप-रंग के विरुद्ध जो आन्दोलन शुरू हुआ, ईसा की छठी शती के अन्त तक उसका प्रभाव इतना गहरा एवं विस्तृत हो गया कि बौद्धधर्म अपने परिवर्तित कलेवर में भी उसके सामने न टिक पाया। यद्यपि गौड (देश) के नालन्दा आदि विद्यापीठों में कई सौ वर्ष पीछे तक बौद्धदर्शन का अध्ययन-अध्यापन एवं रक्षण-पोषण होता रहा, किन्तु भारतीय जनसाधारण में श्रवणधर्म के प्रति लेशमात्र भी श्रद्धा शेष न रह गई। इस परिवर्तन के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक आदि अनेक कारण थे। इनका विस्तार करने का यहाँ अवसर नहीं, किन्तु कोई विचारशील इतिहासज्ञ इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि इस समय भारतीय समाज में एक गहरा परिवर्तन हुआ जिसका प्रमाण हमको निम्नांकित घटनाओं से मिलता है :—

(१) धार्मिक जगत में एक नवीन सम्प्रदाय-समूह तथा संस्कृति का आविर्भाव हुआ जिसको नवीन ब्राह्मण-धर्म के नाम से लेखकों ने वर्णित किया है।

(२) इस धर्म के आधारभूत एक बहुत भारी तथा निरन्तर बढ़ते हुए साहित्य की उत्पत्ति जिसमें पुराणों तथा यज्ञ-याग, निस्सार पूजा-पाठ, व्रत-तीर्थ आदि ग्रन्थों की बहुलता थी।

(३) दैनिक चर्या में बाह्य आडम्बर, पाखण्ड, जड़-पूजा, जात-पाँत के भेद तथा जन्मना ब्राह्मणों का सर्वथा अनुचित तथा समाज के प्रति घातक आतंक, अंधविश्वासों आदि अनेक पतन की ओर ले जानेवाली परम्पराओं की दिनोंदिन वृद्धि हुई। सामाजिक शरीर इन अन्ध-परम्पराओं के जाल में इतना जकड़ गया कि वह स्वतन्त्र विचार, स्वतन्त्र कर्म एवं स्वतन्त्र विश्वास बहुत हद तक खो बैठा।

(४) इन अन्ध-विश्वासों का ही एक फल यह हुआ कि मठों, मन्दिरों व देवालयों का निर्माण कराना राजा से रंक तक प्रत्येक मनुष्य अपना आवश्यक धर्म मानने लगा। इस युग में मन्दिर व मठादि इतने अगण्य बनाए गए कि मुसलमानों से सहस्रों की तादाद में तोड़े जाने पर भी आज तत्कालीन मठों व मन्दिरों की गणना करना कठिन है।

(५) कला तथा विज्ञान पर भी इस नवीन प्रवृत्ति का बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ा। जहाँ तक कला के बाह्य शरीर का, उसके बनाने, सँवारने तथा शिल्प-विज्ञान के उत्तमोत्तम होते जाने का प्रश्न है, उसमें तो इन गुणों तथा अलंकार-रागों को भारतीय कलाकारों, शिल्पियों, वास्तुकों, स्थापतियों व चितेरों एवं साहित्यिकों व कवियों ने पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया और कहीं-कहीं तो इन आडम्बरों से कला की वास्तविक आत्मा को इतना दबा दिया गया कि उसमें उच्छृंखलता आ गई। इसीके साथ एक और बात अत्यन्त आश्चर्यजनक है। इस मानसिक व बौद्धिक क्रान्ति का एक मुख्य चिह्न हम यह देखते हैं कि लगभग १२वीं शती तक तो वैज्ञानिक क्षेत्र में भारतवर्ष पाश्चात्य देशों से आगे था और साहित्य के अनेक अंगों में वह अन्य देशों का गुरु था, किन्तु इस काल से हम इस देश की इस परिस्थिति को भी उलटते हुए पाते हैं। पाश्चात्य देशों में तो पुनरुज्जीवन (रिनेसाँ) के युग से निरन्तर वैज्ञानिक व बौद्धिक उन्नति होती रही; यद्यपि यूरोप के पोपों ने भी 'नई ज्योति' का कुछ कम विरोध नहीं किया। बहुत काल तक यूरोप में भी विचारों व विश्वासों की स्वाधीनता का घोर विरोध किया गया और उन्नतिशील मनुष्यों व वैज्ञानिकों को दिल दहलानेवाली यातनाएँ दी गईं। ईसाई संघ (चर्च) तथा कतिपय राजा दोनों ने एक भयानक गुट बनाकर धर्म के नाम पर इस अमानुषिक नीति का अनुसरण किया, किन्तु आश्चर्य यह है कि तिस पर भी वैज्ञानिक व बौद्धिक स्वातन्त्र्य की प्रगति न रुकी; प्रत्युत उसका वेग बढ़ता ही गया और अन्त में पोप आदि धर्म के ठेकेदारों को अपनी विवशता माननी पड़ी।

हैरानी का विषय यह है कि १२वीं शती के बाद भारतवर्ष में इस प्रकार की प्रगति का जन्म ही नहीं हुआ। तो फिर नए व पुराने, शिथिल व प्रगतिशील, उदार व अनुदार तर्क व अन्धविश्वास, विज्ञान व अज्ञान— इन दो परस्पर-विरोधी शक्तियों में संघर्ष होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता था। हमारा आशय यह नहीं है कि यहाँ किसी प्रकार का प्रयास मानसिक स्वाधीनता के लिए हुआ ही नहीं। धार्मिक व सामाजिक क्षेत्र में जो उच्च जातियों का अन्यायपूर्वक व्यवहार दूसरों के प्रति था

उसके तथा सामाजिक कुरीतियों व कुप्रथाओं के विरुद्ध यहाँ भी बड़ा प्रबल कार्य हुआ। यह कार्य मध्यकालीन सन्तों व सूफियों ने किया और सामान्य रूप से इस प्रगति का नाम **भक्तिधर्म** या **भक्तिमार्ग** पड़ा। किन्तु यह कार्य एकदेशीय अथवा एकांकी रह गया। वह समाज में सर्वांगीण उन्नति तथा गति की भावना को पैदा न कर सका। हमारे देश के सामाजिक प्रवाह का यह रूप अर्थहीन नहीं है। पर उसके रहस्य को समझना सर्वथा असम्भव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य है।

(६) यद्यपि यह कहना निराधार होगा कि संत-सुधारकों का सारा प्रयास निष्फल हो गया, तथापि उनके प्रचार का जितना कुछ लाभ समाज को हुआ हो, वे भारतीय मानव को मानसिक दासता के घातक फन्दे से न बचा सके। हम यहाँ इस गुत्थी को सुलझाने अथवा उसके रहस्य को समझाने का यत्न न करेंगे। हमें केवल मध्यकालीन समाज की वास्तविक दशा को चित्रित करना ही अभीष्ट है और इतना ही हमारे लक्ष्य के लिए पर्याप्त है। इस अवस्था के कारणों का सम्यक् रूप से अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन इतिहास के विद्वानों के सम्मुख एक पुकारती हुई समस्या है।

(७) राजनीतिक क्षेत्र में भी इस प्रकार बहुत व्यापक व दूरगामी प्रभाव इस क्रान्ति के हुए। पहले तो यह याद रखना चाहिए कि इस युग की देन थी एक नए प्रकार की क्षत्रिय जाति जिसके विभिन्न वर्ग समयान्तर में 'राजपूत' नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके आविर्भाव के साथ-साथ एक स्वार्थी ब्राह्मणवर्ग को भी बड़ा बल मिला। ये वर्ग राजपूतों का पथप्रदर्शक, धार्मिक नेता और उनके मन व बुद्धि का अधिष्ठाता बन गया। ब्राह्मणों का यह आतंक समस्त हिन्दू मात्र के ऊपर छा गया और इस कार्य में राजपूतों ने इनकी पूरी सहायता की। दोनों के स्वार्थ की सिद्धि इसी में थी कि वे एक-दूसरे का समर्थन करें—ब्राह्मण शास्त्रों से, और राजा लोग शस्त्रों से।

यहाँ यह भी बतला देना असंगत न होगा कि 'राजपूत' शब्द का प्रयोग प्राचीन क्षत्रिय के स्थान पर चाहे किसी भी कारण से हुआ हो किन्तु उसका वास्तविक अभिप्राय बड़ा सारगर्भित हो गया। राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की भाँति न तो उदारचित्त थे और न ही उन्नतिशील। राजपूतों में समाज के परिवर्तनों के अनुकूल अपने को सँभालने तथा आगे बढ़ने की योग्यता का नितान्त अभाव था।[1] जीवन के समस्त अंगों में यह लोग रूढ़ि के दास थे और अन्ध-विश्वासों की शृङ्खलाओं

[1] राजपूत शब्द दसवीं शती के बाद प्रयुक्त हुआ। जान पड़ता है कि एक समय यह शब्द व्यवसाय वाचक था। चम्बा राज्य के दसवीं शती के ताम्रलेख के अनुसार तत्कालीन राज्य में ३५ अफसरों के नाम गिनाए हैं। उनमें एक राजपूत (राजामात्य) भी हैं। देखो—इ० ए० नवम्बर १६०७, भाग ३६, पृष्ठ ३४८ से ५८ तक; एच० ए० रोज़ का लेख। गुजराती शब्द 'रावल' और मराठी 'राउत' का प्रयोग सिपाही या घुड़सवार के अर्थ में होता है। यह दोनों शब्द राजपूत का ही विकृत रूप जान पड़ते हैं। देखो का० इन्स० इण्डि० भाग ३, पृष्ठ २४८.

में इतने जकड़े हुए थे कि अपना सर्वनाश होते देखकर भी इनको अपनी विचारशैली बदलने की चेतना न हुई। इस रूढ़िवादी व संकीर्ण पद्धति का प्रसार धर्म के ठेकेदारों ने दो प्रकार से किया। समस्त प्राचीन स्मृति-साहित्य में अपने स्वार्थानुकूल शिक्षाएँ घुसाकर और इसी मन्तव्य की सिद्धि के हेतु सहस्रों नवीन ग्रन्थों की रचना करके, (इनका सम्यक वृत्तान्त यथा स्थान किया जायगा।)

इस क्रान्ति ने राजपूतों (इस युग के क्षत्रियों व राजाओं) के राजनीतिक आदर्श तथा विचारों में भी उतना ही गहरा परिवर्तन कर दिया जितना जीवन के अन्य अंगों में किया था। इनका सर्वोच्च आदर्श था अपने वंश की सत्ता आरूढ़ करना। इनकी उच्चतम आकांक्षा थी चक्रवर्तिपद प्राप्त करना अर्थात् अपने समकालीन शासकों को बलात् अपने चक्रवर्तिपद को अंगीकार करवाना। इन्हीं आदर्शों के आवश्यक फलस्वरूप युद्ध करना ही क्षात्रधर्म का एक परमावश्यक अंग बन गया। राजपूतों के लिए किसी आदर्श के हेतु, यथा देश व जाति अथवा धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना ही धर्म न था, प्रत्युत युद्ध करना मात्र ही वे अपना धर्म मानने लगे थे। उनके लिए युद्ध किसी उद्देश्य का उपाय मात्र नहीं रह गया था किन्तु निष्प्रयोजन, अकारण युद्ध करना ही धर्म हो गया था। इसीसे वे अपने समकालीन राजाओं से सदा लड़ते रहते थे, और उनके अहंकार की तृप्ति इतने में हो जाती थी कि अन्य राजाओं ने उनका आधिपत्य तथा चक्रवर्तित्व स्वीकार कर लिया। इससे अधिक वे कुछ न माँगते थे। देश में एकछत्र साम्राज्य का शासन, केन्द्र से प्रवाहित शासन-नीति व विधान, प्रजा की दैनिक आवश्यकताओं की देख-भाल, उनका रक्षण-पोषण, उत्कर्ष-अपकर्ष—इन विषयों से उन्हें कोई वास्ता न था। ये बातें उनके क्षात्रधर्म के अंग न रह गई थीं।

प्राचीनकाल में वेद से शुक्रनीति पर्यन्त (शुक्रनीति का संकलन कई कारणों से ८०० से १२वीं शती का अथवा उससे भी पीछे का माना जाता है) राजा के कर्तव्यों की एक ही परम्परा, एक ही मर्यादा चली आई है। इस सम्बन्ध में एक छोर पर मनु और दूसरे पर कौटल्य के प्रमाण देना पर्याप्त होगा।

जिस प्रकार इन्द्र वर्षा करता है, जिस प्रकार सूर्य बिना कष्ट दिए जल-सिंचन करता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के दर्शन से सब हर्षित होते हैं, जैसे पृथ्वी सबको माता के समान धारण व पालन करती है, इसी प्रकार राजा प्रजा के साथ बरते।* इसी प्रकार कौटल्य ने राजा का परम कर्तव्य बतलाया है:

राजा के लिए कर्मठ होना ही व्रत है, सब कर्तव्यों का सम्यक् पालन ही यज्ञ है। सबसे एकसमान बर्ताव करना ही प्रतिष्ठा है। प्रजा के सुख में ही राजा का सुख, प्रजा के हित में ही उसका हित है। जो कुछ राजा को प्रिय हो उसमें राजा अपना हित न माने, प्रत्युत् जो प्रजा को प्रिय हो उसमें अपना हित समझे।

* मनुस्मृति, अ० ९, श्लोक ३०३-३११ ;

इसी परम्परा का अनुकरण शुक्रनीति में किया गया है। राजा प्रजा का सेवक है और वह अपना भूमिकर पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त करता है।*

इतने अनुपम राज्यादर्श को भूलकर राजपूतों का मुख्य ध्येय एवं उनकी दृष्टि राष्ट्रीय तथा देशपरक के स्थान पर केवलमात्र वैयक्तिक हो गई थी। वैयक्तिक बल तथा शौर्य का प्रदर्शन, रण में मरना, कारण-अकारण लड़ना या चढ़ाई करना यही संकुचित आदर्श, यही परमित ज्ञान उनके पास रह गया था। रूढ़िवाद ने उनको इतना जकड़ लिया था कि यद्यपि उनमें से बहुधा बड़े प्रतिभाशाली विद्वान, अनेक विद्याओं के पण्डित, कवि, लेखक हुए किन्तु उनका यह ज्ञान उनको मानसिक स्वतन्त्रता न दिला सका। उनकी दशा उस बलशाली योद्धा की-सी थी जिसमें चलने की शक्ति है और वह अपने पूरे वेग से चलता भी है, किन्तु उसका पैर एक ऐसी खाई के अन्दर है जिसकी दोनों प्राचीरें उसके सर से ऊँची हैं और वह ऊपर के सौरभ वायुमण्डल, विशाल भू-प्रदेश, उसकी संजीवनी स्वतन्त्रता-समीर, उसके प्रकाश से सर्वथा वंचित है। वह आगे बढ़ता, भागता चला जाता है। किन्तु उसी खाई के अन्दर ; दायें-बायें देखने का उसे अवसर नहीं, न ही उसे अपने वास्तविक ध्येय का ज्ञान।

इसी रूढ़िवाद का एक अत्यन्त घातक प्रभाव यह था कि उस समय हिन्दू मात्र, जिनके नेता ब्राह्मण व राजपूत राजा थे, म्लेक्षों के देश में जाना तो दूर, उनसे किसी प्रकार का स्पर्श करना भी अधर्म समझते थे। हिन्दू धर्म के अन्दर इस प्रकार के विषैले तथा जड़तापूर्ण सिद्धान्त कहाँ से घुस गए इस विषय की विवेचना यहाँ करने का अवसर नहीं है, किन्तु इस सिद्धान्त का तत्कालीन राजनीति, सामरिक नीति, रणनीति आदि पर कितना घातक प्रभाव पड़ा, इसका विपद वर्णन हम आगे करेंगे।

हमने जिस क्रान्ति अथवा युगान्तर का दिग्दर्शन कराने का ऊपर चन्द पृष्ठों में यत्न किया है, उसीको ध्यान में रखने से हम उस मध्यकालीन युग की विशेष प्रगति, उसके इतिहास के सार एवं तत्कालीन समाज की अन्तरात्मा को सम्यक रूप से समझ सकेंगे, जिसके पूर्वार्द्ध में तो हिन्दू (राजपूत) राजवंशों का समस्त देश पर राज्य था, और उत्तरार्द्ध में घटता-बढ़ता प्रभुत्व मुसलमान शासकों का था। इस युग के मुख्य सूत्रों की ओर ध्यान न देने एवं उनकी अवहेलना करने और इतिहास का अध्ययन सर्वथा उथले ढंग से करने के कारण ही हमारा प्रायः समस्त ऐतिहासिक साहित्य निर्जीव तथा फीका बना हुआ है।

हमारे निर्दिष्ट काल के आरम्भिक रंगमंच की यवनिका उठते ही दो चित्र हमारे सामने आते हैं। एक पटल पर हिन्दू (राजपूत) राजवंशों का उत्कर्ष, उनकी कृतियाँ, तथा उनके निरन्तर परस्पर कलह, दूसरे पर विदेशी तुर्कों के लगातार

* सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवत्स्यातु रक्षणे—शुक्र, ४, २, १३०

आक्रमण, उनका देश के अन्दर बड़े वेग से आगे बढ़ते जाना, उसके तीर्थों, देव-स्थानों, मठ-मन्दिरों, विद्यापीठों व विहारों को निर्दयता से नष्ट-भ्रष्ट करना, उनकी अनन्त सम्पत्ति को लूटना, निस्सहाय जनता को खसोटना, बस्तियों को उजाड़ना, लाखों को तलवार के घाट उतारना, अथवा बन्दी बनाकर पकड़ ले जाना और इस सब आपदा के सामने देश के भाग्य के ठेकेदार राजपूत राजाओं का धर्म व जाति की रक्षा करने में सर्वथा असफल होना। इतना ही नहीं, देश को अपने अधिकार से खो बैठना। ये दो चित्र तथा इनके अन्तर्गत जितनी घटनाएँ हुईं वे सब हमारे इतिहास के प्रभाव के एक रहस्यपूर्ण घुमाव की ओर संकेत करती हैं। प्राचीन देशी सत्ताओं का ह्रास तथा बहुत कुछ लोप, और उनके स्थान पर विदेशी व विधर्मी सत्ताओं का आरूढ़ होना तथा इसके सर्वव्यापी, दूरगामी परिणाम ही इस युग के राजनैतिक इतिहास के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हैं।

इस घटना-चक्र को अध्ययन करनेवाला कोई भी विचारशील विद्यार्थी इस बात से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता कि वह राजनीतिक व सामरिक बाढ़ जिसमें लगभग हमारी समस्त उत्तरी सत्ताएँ बह गईं, इतने वेग से आई कि उसका उदाहरण संसार के इतिहास में कठिनता से ही मिलेगा। इसकी तुलना तो केवल आँधी या तूफ़ान से ही की जा सकती है।

हम देखते हैं कि १०वीं शती के अन्त में एक मुसलमान तुर्क आक्रान्ता गज़नी को केन्द्र बनाकर भारतीय सीमा पर टूट पड़ा और आए दिन हमलों की ऐसी बाढ़ लगाई कि देश के शासकों को पछाड़ता हुआ हर बरस आगे बढ़ता हुआ चला गया, और अन्त में कोई तीस बरस के अन्दर उत्तर भारत के समस्त बड़े-बड़े राजाओं तथा योद्धाओं को पराजित करके लगभग १,००० कोस तक देश के अन्दर घुस गया। इतना ही नहीं, इस अरसे में उसने विजित प्रदेश के अनेक बड़े-बड़े मन्दिरों, देवस्थानों आदि को नष्ट कर दिया, उनकी अतुल सम्पत्ति को लूटा और हज़ारों मनुष्यों को बन्दी करके ले गया। किन्तु देश के राजपूत वीर उसका कुछ न बिगाड़ सके तथा न ही उसके इन अत्याचारों से देश की रक्षा कर सके। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी भी लाहौर को समर-केन्द्र बनाकर उसका अनुकरण करते रहे और इन्हें भी किसी ने रोकने का साहस न किया।

परन्तु थोड़े ही समय में एक भारी परिवर्तन हुआ। महमूद के वंशजों का ह्रास हुआ, मध्य एशिया के वायुमण्डल में एक नई उथल-पुथल हुई जिसके कारण उत्तर-पश्चिमी हमले रुक गए और पूरे १५० बरस तक आर्यावर्त इनसे मुक्त रहा। सुख-शान्ति के इस अवकाश में भी देश के राजवंशों के हरस्पर कलह कम न हुए। कई नए राजवंशों का उत्कर्ष हुआ और कइयों का अपकर्ष व विनाश। परन्तु सीमाप्रदेश रक्षा की समस्यापर किसी ने तनिक भी ध्यान न दिया। मध्य एशिया के ऐसे उपयुक्त वातावरण से भारतीय राजाओं ने कोई लाभ न उठाया।

१२वीं शती के अन्तिम चरण में मध्य एशियाई वायुमण्डल फिर आन्दोलित

हुआ और उस तूफान की लहरें उत्तर-पश्चिम भारत की सीमाओं को लाँघकर देश के भीतर फिर उमड़ आई। इसके बाद केवल १० बरस के स्वल्प काल में ही समस्त उत्तरी भारत, एक छोर से दूसरे छोर तक, पेशावर और सीबी से आसाम (कामरूप) तक, इस बाढ़ में डूब गया। मानो पलक मारते-मारते देश का राजनैतिक चित्र बिलकुल बदल गया। कहना न होगा कि इतनी भारी क्रान्ति का प्रभाव देश के आर्थिक जीवन व संस्कृति पर होना अवश्यम्भावी हुआ।

प्रश्न उठता है कि हमारी इस विशाल भारत-भूमि पर, जो धन-धान्य से भरपूर, जिसकी सभ्यता संसार-भर में सबसे प्राचीन, जिसकी सर्वतोमुखी उन्नति तथा सभ्यता अन्य देश और जातियों का पथ प्रदर्शन करती रही, ऐसी भूमि पर इतने थोड़े से समय में एक अल्पसंख्यक बाहरी जाति ने किस प्रकार, किन कारणों से विजय पा कर अपना आतंक स्थायी रूप से स्थापित कर लिया? इस प्रश्न का उत्तर पाने अथवा इस समस्या की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए हमको देश की कई सौ बरस पहले की सामाजिक व राजनैतिक प्रगति का अध्ययन करना होगा। इसी पृष्ठभूमि का संक्षेप से दिग्दर्शन कराने की चेष्टा हम यहाँ करेंगे।

**हर्षोत्तर युग के मुख्य चिह्न**—कुछ लेखकों ने ऐसा मत प्रगट किया है कि हर्षवर्द्धन का राज्य तो उसके बाद के गुरज-प्रतिहार और गहरवार राजाओं के राज्य से बहुत छोटा था, फिर जो स्मिथ आदि इतिहासकारों ने हर्ष को प्राचीन भारत का अन्तिम सम्राट् माना है और यह कहा है कि उसके बाद देश की एकता समाप्त हो गई, युक्तिसंगत नहीं है। परन्तु उसकी समस्त घटनाओं तथा अवस्था का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि स्मिथ के मत में बहुत कुछ वास्तविकता है। हर्ष का साम्राज्य चाहे उतना विस्तृत न रहा हो किन्तु उसके व्यक्तित्व का प्रभाव तथा आदर उसके आस-पास के राजाओं व शासकों पर इतना था कि वे उसे एक प्रकार से तत्कालीन राज्यसंघ का केन्द्र-स्तम्भ मानते थे एवं उसका अपने वृद्ध जनों के समान आदर करते थे। इसी कारण लगभग समस्त उत्तरी भारत राजनीतिक रूप से एक था। हर्ष के बाद यह एकता नष्ट हो गई और राजनैतिक क्षेत्र में अव्यवस्था-सी फैल गई। इस दृष्टि से हर्ष को उत्तर भारत में प्राचीन आर्य युग का अन्तिम सम्राट् मानना अनुचित न होगा। उसको सकलोत्तरापथनाथ की उपाधि से विभूषित किया गया था। कारण कि हर्ष ने अपने शौर्य से लगभग समस्त उत्तर भारत पर अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित करने के अतिरिक्त अपने उच्च व्यक्तित्व तथा उत्तम शासन के द्वारा ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जिससे उसके विभिन्न पड़ोसी शासक जो स्वयं बड़े शक्तिशाली व सम्पन्न थे, इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महाराजाधिराज श्रीहर्ष से मैत्री का नाता जोड़ा और इस प्रकार वह इस राज्यसंघ का नेता मान लिया गया। इस संघ में कामरूप, मगध, नेपाल, काश्मीर व वल्लभी (सौराष्ट्र) के राजा सम्मिलित थे। इन सबने हर्ष को अपना अधिपति, उसके सैनिक प्राबल्य के भय से नहीं, प्रत्युत, उसकी महानता

के कारण, मान लिया। इनमें से काश्मीर और सिन्धु के राजाओं को उसने हराया भी था परन्तु उनके राज्यों को लिया नहीं था। महाराजा हर्ष के इन्हीं गुणों के कारण उसके साम्राज्य-संघ की एकता काश्मीर से कामरूप तक तथा सौराष्ट्र से कांगोद (गंजाम) तक निःशंक बनी रही। हर्ष के महान व्यक्तित्व का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्यान्तर्गत विभिन्न प्रदेशों के राजा किसी को भी हर्ष की पदवी देने पर तैयार न हुए। प्रत्येक की अभिलाषा यह थी कि वह उसका उत्तराधिकारी मान लिया जाए। सबने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, अतएव हर्ष का साम्राज्य विच्छिन्न हो गया।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि वह प्राचीन क्षात्र-परम्परा का अन्तिम प्रतिनिधि था।*

* प्राचीन राजनैतिक परम्परा तथा आदर्शों से हमारा अभिप्रायः उस क्षात्रधर्म से है जिसका एकमात्र उद्देश्य प्रजाहित तथा प्रजापालन था, चाहे राज्य कितना ही छोटा हो या बड़ा। समस्त देश पर एक राजसत्ता का होना कोई आवश्यक आदर्श न था। न ही राजाओं का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वे अपने पड़ोसियों का हनन करके अपना प्रभुत्व अथवा साम्राज्य बढ़ाएँ। यद्यपि उस युग में भी साम्राज्य निर्माण के लिए वीर सैनिक व सम्राट् पूरा प्रयास करते थे तथापि वे अपने परम कर्त्तव्य अर्थात् प्रजा-हित को कभी न भूलते थे। यह एक परम्परा थी जिसका पालन सामान्यतः सब ही राजा लोग करते थे। यदि कोई इस नीति का अपवाद होता तो विद्वन्मण्डल व सामाजिक नेता उसे खुले तौर से धिक्कारने में भी न हिचकते थे। प्राचीन भारत के क्षत्रियों का आदर्श था आन्तरिक व बाह्य आततायियों से देश और प्रजा की रक्षा करना एवं उसका परिपोषण करना। हर्षोत्तर कालीन राजपूतों का आदर्श केवल निष्प्रयोजन युद्ध करना ही हो गया। उनके लिए लड़ाई करना जातीय धर्म का परमावश्यक अंग बन गया।

तीन

# गज़नवी हमलों के समय भारतीय रजवाड़े
## (८वीं से १०वीं शती तक)

### उत्तर भारत

**यह** तो सब ही इतिहास के मनस्वी विद्यार्थी जानते हैं कि हर्षवर्द्धन के बाद उत्तर भारत में नवीं शती के अन्त तक एक भारी राजनैतिक उथल-पुथल हुई। उसके फलस्वरूप कई राजपूत वंशों का उत्कर्ष हुआ। उनमें से केवल उनका वृत्तान्त जान लेना आवश्यक है जिनको दसवीं शती के अन्त में तुर्कों से लोहा लेना पड़ा। दसवीं शती के उत्तर-भारतीय राज्यों में हिन्दूशाही, तँवर, गुरजरप्रतिहार, पाल, चौहान, परमार, चन्देल, सोलंकी तथा कलचुरि वंश विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनमें से शाही वंश का राज्य प्रायः समस्त पंजाब तथा अफगानिस्तान पर फैला हुआ था। शाही वंश अति प्राचीन तुर्की शकों से सम्बन्धित था। सातवीं शती में जब कि चीनी यात्री 'ह्वान-च्वांग' मध्य एशिया के मार्ग से भारत में आया शाही वंश के राजाओं का केन्द्र कपिशा में था। कपिशा हिन्दूकुश (हिन्दूकोह) की उपत्यका में स्वात के पश्चिम में स्थित है। उस समय उन लोगों का राज्य लगभग बल्ख से तक्षशिला तक विस्तृत था और सम्भवतः उनमें बिलोचिस्तान का उत्तरी भाग भी सम्मिलित था। शाही राजा तुर्की वंश के थे किन्तु उन्होंने प्राचीन काल से हिन्दू धर्म को अपना लिया था। अलबैरूनी ने लिखा है कि इस प्राचीन तुर्कीशाही वंश का अन्तिम बादशाह लगतूरमान था, जिसको उसके ब्राह्मण मन्त्री 'लल्लीय' ने गद्दी से हटाकर अपना अधिकार कर लिया और स्वयं राजा बन बैठा।

याद रहे कि जिस समय हूणों के विनाश के अनन्तर तुर्कीशाही शक्ति फिर से बढ़ रही थी, उसी समय अरब और ईरान के मुसलमान अफ़गानिस्तान की तलहटी तक पहुँच चुके थे। तत्कालीन काबुल के हिन्दू राजाओं ने लगभग २०० बरस तक (६५०-८६०) तक अरबों को अफ़गानिस्तान की पश्चिमी सीमा से आगे न बढ़ने दिया। यह हिन्दू राजा शायद कपिशा के शाहियों के अधीन रहते थे। कह चुके हैं कि नवीं शती के उत्तरार्ध में तुर्कीशाही वंश का अन्त करके उसके ब्राह्मण मन्त्री

**लल्लीय** ने अपना वंश स्थापित किया जिसका नाम **हिन्दूशाही** या **ब्राह्मणशाही** पड़ा। इस वंश के राजाओं ने काश्मीर और हिन्दूकुश की ओर राज्य विस्तार करना असम्भव देखकर काबुल प्रदेश पर अधिकार कर लिया। दशवीं शती के अन्तिम चरण में जबकि महमूद के पिता सुबुक्तग़ीन ने काबुल व गज़नी के प्रदेशों पर हमले शुरू किए, हिन्दूशाही वंश का पाँचवाँ राजा जैपाल राज्य करता था। ऐसे संकट के काल में शाहियों की काश्मीर के राजाओं से शत्रुता थी, किन्तु गुरजर-प्रतिहार, जिनका राज्य शायद झेलम तक फैला हुआ था, शाहियों के मित्र थे। काश्मीर से वैर होने के कारण शाही राजाओं की स्थिति अवश्य ही कुछ निर्बल हो गई जिससे बाहरी आक्रमणों के रोकने में उनकी कठिनाई बहुत बढ़ गई।

**पहले गज़नवी हमले**---गजनी और काबुल की सीमा पर शाही राजाओं की मुठभेड़ ईरानी व खुरासानी सैनिकों से नवीं सदी में ही शुरू हो गई थी। दसवीं सदी के आरम्भ से ही सामानी वंश का उत्कर्ष हुआ। जैसा हम ऊपर बतला आए हैं (देखो अध्याय २) सामानी वंश के राजाओं ने तुर्की सैनिकों को अपने सेनापति ही नहीं विभिन्न प्रान्तों के शासक भी नियुक्त करना शुरू कर दिया था। इन्हीं तुर्कों में अलप्तगीन नामक एक सैनिक था जिसने पहले तो ईरानी शासक को गजनी से निकाला और फिर शाहियों को काबुल प्रदेश से लमगान तक पीछे हटा दिया। अलप्तगीन से हार मानकर वे सिन्धु नदी के इस पार हट आए और अटक के निकट उदभाण्डपुर (उन्द) को राजधानी बनाया।

अलप्तगीन के बाद ९६९ में बिल्कातिगीन और ९७७ में पीरीतिगीन उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके समय में इसका दास सुबुक्तगीन बराबर शाही सीमा पर हमले करता रहा। इनसे तंग आकर राजा जैपाल ने गज़नी के पुराने ईरानी शासक से मित्रता करके तुर्कों को गज़नी से निकालने के प्रयास में सहायता दी किन्तु सुबुक्तगीन ने उनको परास्त किया और विफल हुए। उसी वर्ष (९७७ ई०) में सुबुक्तगीन पीरीतिगीन का स्थानापन्न हुआ। इस समय तक तो यह तुर्क सैनिक अपने स्वामी सामानी बादशाह के नाम पर काबुल व गज़नी आदि प्रदेशों को जीतते रहे, मगर जब सुबुक्तगीन का समय आया तो सामानी राजा इतने अशक्त तथा हीन हो चुके थे कि सुबुक्तगीन ने अपने को गज़नी का स्वतन्त्र 'अमीर' (शासक) घोषित कर दिया। इस प्रकार गज़नी का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। सुबुक्तगीन के लगातार हमलों से अपनी रक्षा करने के लिए शाही राजा जैपाल ने मुलतान के शासक हामिद लोदी तथा भेड़ा के राजा विजयराय से मिलकर एक संघ बनाया। परन्तु यह संघ कुछ कारगर न हुआ; क्योंकि सुबुक्तगीन ने बड़ी युक्ति से इस संघ को तोड़ दिया, और तब जैपाल के राज्य पर हमले शुरू कर दिए और उसका कुछ हिस्सा तथा कई किले हड़प कर लिए।

**जैपाल जागा**—जब जैपालशाही ने इस प्रकार अपने राज्य को घटते और छिनते देखा तो उसे जाग आई और अपने खोए हुए प्रदेशों को फिर से वापस लेने के लिए

उसने तैयारी शुरू कर दी। एक बड़ी सेना इकट्ठी करके जैपाल लमगान होता हुआ गज़नी तक पहुँचा। इसकी सूचना पाकर सुबुक्तगीन अपने युवक बेटे महमूद के साथ गज़नी से निकला। जैपाल की सेना एक पहाड़ी किले के अन्दर सुरक्षित थी। जान पड़ता है कि उसी को गज़नवी सेना ने घेर लिया। दोनों सेनाओं में बड़ी भयानक लड़ाई हुई। हज़ारों आदमी दोनों तरफ़ से मारे गए, धरती उनके खून से लाल हो गई। महमूद और उसका पिता हताश होने लगे। इतने में दैव ने तुर्कों की सहायता की। एक भारी तूफ़ान आया तथा ओलों की वर्षा होने लगी। जैपाल की सेना में बहुत से सिपाही हिन्दुस्तान के गरम मैदान से एकत्रित किए गए थे। वे इस सरदी-पानी को सह न सके। जैपाल को हार माननी पड़ी और उसे सुबुक्तगीन से सन्धि करनी पड़ी जिसकी शर्तं इस प्रकार थीं :—

जैपाल ने जुरमाने के तौर पर एक-एक हज़ार दीनारों की एक हज़ार थैलियाँ तथा ५० हाथी देने का वायदा किया और अपने राज्य के कुछ शहर तथा किले भी। इन शर्तों को पूरा करने तक के लिए उसे कुछ लोग ज़मानत के तौर पर भेजने पड़े। परन्तु जैपाल ने राजधानी लौटने पर अपने वायदे को पूरा नहीं किया और सुबुक्तगीन के प्रतिनिधियों को, जो शर्तें पूरी कराने को भेजे गए थे, बन्दी कर लिया।

**जैपाल और तुर्कों की दूसरी लड़ाई : काबुल घाटी को वापस लेने का अन्तिम प्रयास**—जैपाल के इस व्यवहार का बदला लेने के लिए सुबुक्तगीन ने उस पर फिर से चढ़ाई की और लमगान के हरे-भरे तथा धन-धान्य से भरपूर जिलों को उजाड़ डाला और हर स्थान पर मठों तथा मन्दिरों को तोड़कर मस्जिदें खड़ी कर दीं। जैपाल ने भी बड़ी भारी तैयारी की। उत्तर भारत के कई बड़े-बड़े राजा इस लड़ाई में जैपाल की सहायता के लिए गए। इस अवसर पर सुबुक्तगीन ने उच्चतर सैनिक कौशल से काम लिया जिसका प्रतिकार करने की बुद्धि हिन्दू सेनानियों में न थी। सुबुक्तगीन ने अपनी सेना को पाँच-पाँच सौ सवारों की टुकड़ियों में बाँट दिया और हिन्दू सेना पर धड़ाधड़ चोटें करके पहले तो उसे अस्त-व्यस्त कर दिया और तब उस पर एकदम धावा बोल दिया। यह युक्ति पूरी तरह से कारगर हुई। हिन्दू सेना हतबुद्धि हो गई। शत्रुओं ने हिन्दुओं की भयानक मार-काट की और उनका पीछा करते हुए सिन्धु के किनारे तक पहुँचे।

**परिणाम**—काबुल और उसके आसपास के प्रदेश को तुर्कों से वापस लेने का हिन्दू राजा ने यह अन्तिम प्रयास किया। इस लड़ाई से सिन्धु के पच्छिम का समस्त प्रदेश गज़नवी तुर्कों के अधिकार में चला गया। शाहियों को सबसे बड़ा धक्का यह लगा कि पेशावर (पुरूशावर) का अत्युत्तम सीमान्त सैनिक शिविर तुर्कों के हाथों में चला गया जिसके कारण शाही राज्य की सीमा की रक्षा अत्यन्त कठिन हो गई और गज़नवी शासकों की शक्ति बहुत बढ़ गई। सं० ९९७ में सुबुक्तगीन

की मृत्यु हो गई। इसके दो बरस बाद, अपने भाई इस्माइल को नष्ट करके सुबुक्तगीन का बड़ा बेटा गज़नी का शासक बना।

**दिल्ली का तँवर वंश**—भाटों की ख्यातों के अनुसार तँवर वंश का उद्‌भव पांडव कुल से था। इतना तो निश्चय है कि यह वंश भारतीय था एवं अति प्राचीन था। कन्नौज के गुरजर-प्रतिहार साम्राज्य के स्थापित होने पर तँवर राजाओं को उनका प्रभुत्व मानकर उनके सामन्त बनना पड़ा। उस वंश के ह्रास के बाद तंवर फिर स्वतन्त्र हो गए। इनका राज्य दिल्ली के पच्छिम में सतलज नदी तक और शिवालक से भटिंडा तक फैला हुआ था। १०५० ई० के लगभग अनंगपाल दूसरे ने पहले नगर से कोई चार मील उत्तर की ओर प्राचीन मिहिरपुरी (मेहरौली) के निकट अपना नया नगर बसाया था। इसके राजमहल लालकोट के अन्दर थे। इस दुर्ग की पहाड़ी दीवारें आज तक विद्यमान हैं। तँवरों के इन प्राचीन वास्तुओं में से दो अब तक बहुत उत्तम दशा में हैं, अर्थात् सूरजकुण्ड जो कुत्ब से और लालकोट से कोई चार मील दक्खिन-पूरब की तरफ़ पहाड़ियों के अन्दर स्थित है और दूसरा आनन्दपुर (अनंगपुर) गाँव के पास का बाँध या पाल जिसे पहाड़ियों का पानी रोककर झील बनाने के उद्देश्य से बनाया गया था। (देखो, लेखक रचित 'दिल्ली की कहानी और उसके वास्तु-स्मारक,' दूसरा परिच्छेद)

१७वीं शती के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक फिरिश्ता ने लिखा है कि दिल्ली के राजा ने आनन्दपाल शाही को महमूद गज़नवी के विरुद्ध सहायता दी थी। संवत् ११५२ में बीसलदेव (विग्रहराज) चौथे ने तँवर राजा अनंगपाल तीसरे को हराकर तंवर वंश का अन्त कर दिया और दिल्ली तथा तँवरों के समस्त राज्य पर अधिकार कर लिया।

**कन्नौज का गुरजर-प्रतिहार वंश**—गुरजर-प्रतिहारों के उद्‌गम के प्रसंग में आवश्यक होगा कि समस्त राजपूतों के उद्‌गम की समस्या की संक्षेप में समीक्षा की जाए। यह बात तो निस्सन्देह है कि 'राजपूत' नाम जातिवाचक नहीं, केवल कर्मवाचक है, क्योंकि राजपूतों के विभिन्न वंश एकजातीय नहीं वरन अनेक जातियों तथा कुलों से अवतरित हुए हैं। कारण कि इनमें गोंड व भर आदि आदिम जातीय वंश, गहरवार राष्ट्रकूट, चन्देल, कलचुरि (हयहय), प्राचीन क्षत्रिय वंश, गुरजर-प्रतिहार, परमार, चाहमान, चालुक्य, बाहरी जातीय वंश तथा कतिपय ब्राह्मण वंश, सभी सम्मिलित हो कर राजपूत कहलाने लगे हैं। उपर्युक्त कथन में तो किसी को आपत्ति नहीं है, परन्तु चालुक्य, गुरजर आदि चार वंशों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है। इस विषय के वाद-विवाद में पड़ने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। केवल इतना जान लेना उपयुक्त होगा कि बौद्धमत के पतन तथा नवीन सम्प्रदायों के उत्कर्ष के युग से अनेक बाहरी जातियाँ भारत में आकर बसीं और समयान्तर में वे इस देश की जनता में मिलकर एक हो गईं। इन जातियों के

अन्दर जितने भी वीर सैनिक तथा उच्चाकांक्षी योद्धा थे उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपना अधिकार करके अपने-अपने वंश के राज्य स्थापित कर दिए। इन लोगों ने नवीन हिन्दू धर्म को भी पूरी तरह अपना लिया था और उनकी यह आकांक्षा थी कि उनकी किसी प्रकार उच्च क्षत्रियवर्ग में गणना कर ली जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्राह्मणों की सहायता की आवश्यकता थी। दूसरी ओर ब्राह्मणों को श्रमण मतावलम्बी वर्ग के नष्ट करने के लिए राजाओं से मेल करने की आवश्यकता थी। दोनों वर्गों के अपने-नपने स्वार्थ की सिद्धि आपस में एक गुट बना लेने से हो सकती थी। अतएव बाह्मणों ने इन बाहरी जातियों को आर्य वर्ण-व्यवस्था के अन्दर प्रविष्ट करने के लिए आबू पर्वत के यज्ञ की कल्पित गाथा की रचना की और उसके द्वारा यह सिद्ध किया गया कि उन चार कुलों के आर्य पुरुष वशिष्ठ के यज्ञ-कुण्ड से उत्पन्न हुए थे। इस कारण वे अग्निवंशी कहलाए। यह भी सम्भव है कि इन विदेशी जातियों का संस्कार करने के लिए इस प्रकार का कोई यज्ञ राजपूतों में किया गया हो और इसीके आधार पर अग्निकुंड की गाथा रची गई हो। इस गाथा के अनुसार महर्षि वशिष्ठ ने आबू पर यज्ञ करके इस हेतु उन चार पुरुषों को उत्पन्न किया कि वे नवीन हिन्दू धर्म तथा ब्राह्मणों की रक्षा के लिए श्रमणों और बौद्धों को नष्ट करें, जिन्हें वे तक्षक अथवा नाग कहकर पुकारते थे। कुछ लेखकों का यह कहना कि भारतीय जनता में कहीं भी उस प्रकार के विशेष शारीरिक चिह्न नहीं मिलते जो बाहरी शक तथा हूण जातियों के थे। किन्तु हम जानते हैं कि कुशान, शक एवं पार्थियन जाति के मनुष्य काफी संख्या में भारतीय जनता में घुल-मिल गए थे। इसके अतिरिक्त यह सिद्ध हो चुका है कि मानव-जाति-शास्त्र के उपर्युक्त प्रमाण विश्वसनीय नहीं समझे जा सकते। अतएव निश्चय रूप से उपर्युक्त दोनों मतों में से किसी को भी प्रामाणिक कहना कठिन है।

गुरजर-प्रतिहारों का प्राचीन इतिहास अभी तक अन्धकार में है। अनुमान किया जाता है कि इस वंश का प्रवर्तक नागभट्ट प्रथम आठवीं शताब्दी के आरम्भ में रहा हो। सम्भवतः उसने जिन मलेच्छों को परास्त किया था वे सिन्ध पर आक्रमण करनेवाले अरब थे। युवान-च्वांग के अनुसार गुरजर राज्य की राजधानी भिन्नमाल थी। इस वंश के पाँचवें राजा नागभट्ट द्वितीय (ई० ८००-८३४) ने राजपूताना से हटाकर कन्नौज को राजधानी बनाया और यशोवर्मन के वंशजों तथा अन्य शत्रुओं का विनाश करके अपने राज्य का विस्तार किया। परन्तु राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय ने उसको हराया। नागभट्ट के बाद रामभद्र ने ८३४ से ८४०ई० तक राज्य किया। यह रामभद्र उस मिहिरभोज का पिता था जिसने प्रतिहार-वंश की शक्ति तथा राज्य का बहुत विस्तार किया।

**मिहिरभोज**—मिहिरभोज के पूर्वजों को बंगाल के पाल तथा दक्षिण के राष्ट्रकूटों की शत्रुता के कारण अपने राज्य को बढ़ाने का अवसर न मिला था। मिहिरभोज ऐसा प्रतापी हुआ कि उसने प्रतिहार राज्य में वे सब प्रदेश सम्मिलित

कर लिए जो आधुनिक पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, ग्वालियर आदि के अन्तर्गत हैं। सम्भवतः मालवा, गुजरात और काठियावाड़ पर भी उसने अधिकार कर लिया था। इसका प्रमाण यह है कि ये तीन प्रदेश निश्चय रूप से उसके वंशजों के राज्य में सम्मिलित थे। जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के शासक को उसने अपना सामन्त बना लिया था। विस्तार में प्रतिहारों का साम्राज्य हर्ष अथवा गुप्तों के साम्राज्य से कम न था। इसकी यह सत्ता लगभग पचास वर्ष तक बनी रही। उसका प्रमाण भोज के सिक्कों से भी मिलता है। यह बात विचारणीय है कि भोज के सिक्कों पर उसका विरुद **आदिवराह** अंकित है। स्पष्ट है कि मिहिरभोज अपने को ब्रह्मा के आदिवराह अवतार के समान बनाना चाहता था। शायद पृथ्वी का रक्षक होने का आदर्श उसने अपना लक्ष्य माना हो। वह विष्णु तथा सूर्य का पुजारी था। शायद उसने कुछ नगर भी बसाए थे। अरबी सौदागार सुलेमान के ८५१ ई० के लेख से विदित होता है कि गुरजर सम्राट के पास बड़ी भारी सेना थी और भारतवर्ष के किसी अन्य राजा की अश्वारोही सेना इतनी उत्तम न थी। सुलेमान ने यह भी लिखा है कि यह महाराजा बहुत धनवान है और उसके पास अनगिनत ऊँट तथा घोड़े हैं। उसका प्रबन्ध इतना उत्तम था कि उसकी प्रजा सुखी, सुरक्षित व सम्पन्न थी।

**महेन्द्रपाल** (८६०-६०८)—भोज का बेटा महेन्द्रपाल भी अपने पिता का सुयोग्य पुत्र था। उसने भी सम्भवतः अपने राज्य का विस्तार कुछ अधिक किया। उसके कुछ अभिलेख प्राप्त हुए हैं जिनसे विदित होता है कि उसने बिहार तथा उत्तरी बंगाल को अधिकृत किया था।

महेन्द्रपाल का राजत्व काल साहित्य व संस्कृति की उन्नति लिए उसके राजनीतिक पराक्रमों से भी बहुत अधिक प्रसिद्ध है। उस समय का महान कवि तथा नाटककार राजशेखर महेन्द्रपाल का राजकवि तथा गुरु था, वह संस्कृत और प्राकृत का महान पण्डित था। उसने प्राचीन महाकाव्यों के कथानकों के आधार पर बालरामायण, बालभारत तथा प्रचण्ड पांडव नाम के नाटक लिखे थे जो अत्यन्त रोचक हैं। उसका नाटक 'विद्धशालभंजिका' (अर्थात् खण्डित गुड़िया अथवा पुतली) अत्यन्त हास्यपूर्ण है। उसका सबसे उत्कृष्ट नाटक कर्पूरमंजरी है जो भारतीय प्राकृत साहित्य के सर्वोत्तम नाटकों में गिना जाता है। यह सम्पूर्ण नाटक प्राकृत भाषा में है। राजशेखर के नाटक समकालीन समाज-सम्बन्धी लोकोक्तियों तथा रीति-रिवाजों से भरपूर हैं। तत्कालीन सामाजिक तथा भोगोलिक वृत्तान्त जितना उत्तम तथा विपुल मात्रा में राजशेखर के ग्रन्थों में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। अतएव इन ग्रन्थों का इतिहासिक मूल्य बड़ा है। राजशेखर ने काव्यशास्त्र पर 'काव्यमीमांसा' नामक तथा भूगोल पर 'भुवनकोष' नामक दो अत्युत्तम ग्रन्थ लिखे थे।

महेन्द्रपाल के बाद उसके बेटे भोज द्वितीय ने (६०८-६१४ तक) शासन किया और उसके बाद महिपाल प्रथम राजा हुआ। महिपाल के समय से गुरजर-

प्रतिहार साम्राज्य का ह्रास आरम्भ हो गया। किन्तु महिपाल ने ९१४-९४३ तक राज्य किया। महिपाल ने केवल दो वर्ष सुख के शासन किया। ९१६ में उसे राष्ट्र-कूट राजा इन्द्र तृतीय ने पूरी तरह हराया। इसी समय से गुरजर-प्रतिहार राज्य का ह्रास शुरू हो गया। अगले वर्ष राष्ट्रकूट विजेता की मृत्यु हो गई तथा चन्देलों ने (जो गु० प्र० के सामन्त थे) महिपाल की सहायता की। इन घटनाओं से महिपाल ने अपने साम्राज्य का बहुत-सा प्रदेश वापस ले लिया, उनकी सत्ता तथा नियंत्रण नाम मात्र का रह गया। महिपाल के उपरान्त कई प्रतिहार राज्यों का निर्देश वंशावलियों में मिलता है किन्तु वे सब अत्यन्त निर्बल थे। १०वीं शती के उत्तरार्ध में परमार व चन्देल वंश उत्कर्ष के शिखर पर थे। प्रतिहारों के पुराने सामन्त, चन्देल, कलचुरि व सोलंकी सभी स्वतन्त्र हो गए। इन सबमें चन्देल बड़े शक्तिशाली थे। १०१८ में जब महमूद गज़नवी का आक्रमण हुआ तो राज्यपाल चन्देल ने बिना लड़े सर झुका दिया। उसकी कायरता से चिढ़कर विद्याधर चन्देल ने कन्नौज को नष्ट कर दिया।

**बंगाल व बिहार : पाल वंश**—सातवीं शती के मध्य में बंगाल पर शशांक राज्य करता था। वह बौद्धों का कट्टर शत्रु और ब्राह्मणों का पोषक था। उसने बोधगया के बोधिवृक्ष को भी उखड़वा दिया था। हर्ष तथा आसाम के भास्कर-वर्मन से उसका भारी वैर था। सातवीं शती के अन्तिम चरण में पिछले गुप्तों ने बिहार और बंगाल पर फिर से अधिकार करके वहाँ पर कट्टर ब्राह्मण मत का फिर से विस्तार व प्रचार किया था। जनश्रुति है कि उन्होंने कन्नौज से बुलाकर वहाँ पाँच ब्राह्मण व पाँच कायस्थ बसाए थे जिनके वंशज आज के उच्चकुलीय बंगाली हैं। फिर ८वीं शती में बंगाल को यशोवर्मन ने जीता और उसके बाद काश्मीर के ललितादित्य, मुक्तपीड़ व जयपीड़ महाराजाओं ने उस प्रदेश को खूब रौंदा जिसका परिणाम हुआ वहाँ पर अराजकता का फैलना। इस दुरवस्था से देश को बचाने के लिए बंगाल के मुख्य सामन्तों ने एकत्रित होकर अपने में से एक योग्य मनुष्य को सर्वसम्मति से अपना राजा निर्वाचित किया और देश का शासन उसको सौंपा। इसका नाम गोपाल था। पालों का तिथिक्रम आज तक अनिश्चित है। गोपाल ने सम्भवतः ७३५ से ७६४ ई० तक राज्य किया। उसी के नाम पर उसका वंश 'पाल' कहलाया। गोपाल ने बंगाल का शासन बड़ी योग्यता से किया और वहाँ हर प्रकार से सुख-शान्ति स्थापित की। वह बौद्ध था। उसने प्राचीन नालन्दा के निकट 'ओदन्तपुरी' (उद्दण्डपुरी) का विहार और विद्यापीठ स्थापित किया। इसी विहार के नाम पर मुसलमान विजेताओं ने समस्त प्रदेश का नाम बिहार रख दिया जो आज तक प्रचलित है। गोपाल ने थोड़े ही समय में अपने राज्य को इतना सुदृढ़ कर दिया कि उसके वंशजों ने दूरस्थ राज्यों पर हमले करने आरम्भ कर दिए।

गोपाल के बेटे धर्मपाल ने कन्नौज तक धावा मारा पर राष्ट्रकूट गोविन्द

तीसरे ने उसे परास्त किया। वह ७५२ और ७९४ के बीच में किसी समय गद्दी पर बैठा था। कन्नौज में गुरजर-प्रतिहार तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट सत्ता के उत्कर्ष के कारण पालों का विस्तार रुक गया, किन्तु पाटलिपुत्र से राजशाही तक का प्रदेश उनके राज्य में था। धर्मपाल ने भी गंगा के किनारे भागलपुर के निकट एक नए बौद्ध विद्यापीठ 'विक्रमशिला' का प्रतिष्ठान किया। यह महाविद्यालय शाक्तमत का केन्द्र था। कहा जाता है कि पाहड़पुर (राजशाही ज़िला) का विचित्र बौद्ध-मन्दिर भी धर्मपाल ने बनाया था।

धर्मपाल के बेटे देवपाल (८१५-८५४) ने अपने समय में कन्नौज व राष्ट्रकूटों की शक्ति घट जाने से लाभ उठाकर पाल साम्राज्य को बहुत बढ़ाया। उसने सुदूर देशों से राजनैतिक सम्बन्ध भी जोड़े। स्वर्णद्वीप (सुमात्रा) के शैलेन्द्र राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था। उसकी प्रार्थना पर देवपाल ने पाँच गाँव उस विहार के व्यय के लिए दान किए थे। देवपाल के बाद पालों की अवनति होने लगी। कन्नौज के मिहिरभोज के समय पालों के राज्य का बहुत-सा भाग उनसे छिन गया। ११वीं शती के मध्य में कर्नाटक के एक सैनिक सामन्तसेन ने अन्तिम पाल राजा से बंगाल का बहुत-सा हिस्सा छीन कर अपने राज्य की स्थापना की। यह सामन्त चालुक्य राजकुमार की सेना के साथ बंगाल आया था।

**पाल वंश के पराक्रम**—धर्मपाल और देवपाल के समय पाल वंश का चरम उत्कर्ष हुआ। उनकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। परन्तु उनके वंशजों ने मुंगेर को अपना केन्द्र बनाया। पालों ने सुदूर देशों के राजाओं से सम्बन्ध स्थापित किए और उनमें भारतीय संस्कृति का प्रचार करने का प्रयास किया। धर्मप्रचारक धर्मपाल व अतिसा दीपंकर तथा चक्रपाणि व संध्याकर सरीखे विद्वान भी उन्हीं के समय में हुए। धीमान तथा वीतपाल जैसे कलावन्तों ने भी उसी युग को सुशोभित किया था। पाल राजा बौद्ध थे किन्तु वे बड़े उदारचित्त थे। वैष्णव व शैव धर्मानुयायी उनके राज्य में स्वतन्त्रता से अपने धर्म का पालन कर सकते थे। उन्होंने कैवर्त्त जाति के सामन्तों को ऊँचे-ऊँचे पद दिए। किन्तु इतने प्रबुद्ध होते हुए भी तुर्की आक्रमणों से वे देश की रक्षा न कर सके।

**साँभर व अजमेर के चाहमान (चौहान)**—चौहान वंश निस्संदेह बड़ा प्राचीन वंश था। प्रबन्धकोष की वंशावली के अनुसार इस वंश का सबसे पहला राजा **वासुदेव** ६०८ वि० ( ५५१ ई० ) में विद्यमान था। किन्तु इस तिथि की प्रामाणिकता में सन्देह है। वासुदेव का वंशज **सामन्त** था जिसका समय आठवीं शताब्दी के प्रथम चरण (७२५ ई०) के निकट पड़ता है। शाकम्भरी के चाहमान उस नाम की झील के किनारे शाकम्भरी स्थान के शासक थे। (देखो, 'अर्ली चौहान डाइनेस्टीज' पृष्ठ ११-१३) चौहान वंश की अनेक शाखाएँ थीं जो भृगुकच्छ (भड़ौच) से लगाकर दिल्ली व सरहिन्द तक फैली हुई थीं। इनमें

चन्द्रावती (आबू), नड्डूल (नौदाल), रणस्तम्भपुर (रणथम्भोर), जालोर, भृगुकच्छ व धौलपुर (धवलपुरी) के वंश उल्लेखनीय हैं।

भाटों की गाथाओं के अनुसार चाहमान वंश का आदि केन्द्र नरमदा नदी तटस्थ महिष्मती (माहेश्वर) नगरी थी। किन्तु इसका कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता। इतना निश्चय है कि १०वीं सदी के चौहान राजा राजपूताना के साँभर (शाकम्भरी) प्रदेश के स्वामी थे। हमारी यह धारणा है कि सम्भवतः चाहमान राजा प्राचीन-काल में उत्तर पांचाल देश के निवासी थे। इसके निम्नांकित आधार हैं—पांचाल की भूमि शस्य-श्यामला, फल-फूल से भरपूर तथा हिमालय की उपत्यका में होने के कारण शाकम्भरी कहाती थी। इसीसे उस प्रदेश की पूज्य देवी उमा-पार्वती का नाम शाकम्भरीदेवी भी पड़ा। शाकम्भरी का एक बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर आज तक सहारनपुर के जिले में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त शिवालक पर्वत का संस्कृत रूप सपादलक्ष हो गया हो, यह अनुमान भी बहुत सम्भव है। बीजोलिया अभिलेख के अनुसार चाहमानों की आदि नगरी अहिच्छत्र थी। यह भी पांचाल देश का प्राचीन नगर अहिच्छत्र ही जान पड़ता है जिसके विस्तीर्ण खण्डहर बरेली जिले के रामनगर गाँव में फैले हुए हैं। हरविलास सारदा का यह कहना कि अहिच्छत्र नागोर का पुराना नाम है, अप्रमाणित है। जान पड़ता है कि इस प्रदेश के प्राचीन निवासी होने के कारण जब चौहान लोग राजपूताना गए तो उन्होंने अपने पुराने नगर के नाम पर ही नए नगर का नाम रखा।

उपर्युक्त दो अभिलेखों के अनुसार इस वंश का राजा गुवक प्रथम नवीं शती के अन्तिम चरण में हुआ। इसी सदी में इस वंश के राजा कन्नौज के गुरजर-प्रतिहारों के करद सामन्त हो गए। बीजोलिया लेख में गुवक से पूर्व पाँच और राजाओं का नाम वर्णित है जो हर्ष-लेख में नहीं है। इन लेखों के अनुसार विग्रह-राज द्वितीय (१०३० वि०) ९७३ ई० के आसपास विद्यमान था। विग्रहराज द्वितीय शाकम्भरी के प्राचीन चौहानों का सबसे प्रतापी राजा था। सम्भवतः यह गुरजर-प्रतिहारों के आधिपत्य को हटाकर स्वतन्त्र हो गया था। उसने अनहिलवाड़ा के मूलराज को पराजित किया था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय सम्भवतः वाक्पतिराज दूसरा (१००३ ई०) सांभर का राजा था। किन्तु उसकी शक्ति अभी साधारण थी। यह सम्भव है कि कोई चौहान राजा आर्यावर्त के अन्य राजाओं के साथ अनंगपाल शाही की सहायता के लिए महमूद से लड़ने गया हो, जैसा कि फिरिश्ता ने लिखा है।*

---

*वी० ए० स्मिथ ने 'आक्सफोर्ड हिस्टरी,' पृष्ठ १९१ पर लिखा है : "अजमेर का वीसलदेव चौहान हिन्दुस्थान के राजाओं का सेनापति बनकर महमूद से लड़ने गया था, यह कथन सर्वथा निराधार है। उस समय कोई वीसलदेव नाम का राजा विद्यमान था।"

**अनहिलवाड़ा के सोलंकी**—अनहिलवाड़ा (पट्टण, गुजरात) ८वीं सदी में कन्नौज के साम्राज्य के अन्तर्गत था। जब दसवीं सदी के मध्य में प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों की शक्ति घट गई, उस समय मूलराज सोलंकी ने (९६१-९९६) अपने मामा को गद्दी से गिराकर राज्य पर अधिकार कर लिया। मूलराज बड़ा वीर था। उसने प्रतिहार, परमार, चौहान तथा कल्याणी के चालुक्यों आदि अपने समकालीन सब ही राजाओं से युद्ध किए। वह शिव का पुजारी तथा सोमनाथ (प्रभास पट्टण) के विख्यात मन्दिर का भक्त व रक्षक था। उसके वंशजों में चामुण्डराज (९९६-१०१०), दुर्लभराज (१०१०-२२) और फिर भीमदेव प्रथम (१०२२-६४) महमूद गज़नवी के समकालीन थे। ठीक इसी समय महमूद प्रति वर्ष चढ़ाइयाँ करता हुआ देश के अन्दर घुसता चला आ रहा था। भीम के राज्य के आरम्भ में ही महमूद ने सोमनाथ की चढ़ाई की थी जिसका विषद् वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

**उज्जैन व धारा नगरी के परमार**—परमार व चार अग्नि वंशों में से था। इसका पूर्व इतिहास भी ९वीं सदी के मध्य में स्पष्ट होता जान पड़ता है। १०वीं सदी के बीच में कन्नौज और राष्ट्रकूटों की शक्ति का पतन होने से सियकहर्ष परमार को मालवा में अपना आधिपत्य स्थापित करने का अवसर मिला। उसका बेटा मुंज (वाक्पतिराज) (९७४-९९५) बड़ा प्रतापी तथा विद्याव्यसनी हुआ। उसने अपने पड़ोसियों से खूब युद्ध किए और प्रायः उसकी जीत ही हुई। परन्तु कल्याणी के चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने उसे पूरी तरह परास्त किया। यह निस्संदेह है कि यद्यपि मुंज ने प्रायः १०१० तक राज्य किया हो। उस समय सुबुक्तगीन और महमूद के हमले पंजाब और काबुल के शाहियों पर हो रहे थे, तथापि मुंज ने शाहियों की सहायता करने के लिए महमूद से कोई युद्ध नहीं किया। मुंज स्वयं उच्चकोटि का विद्वान व कवियों तथा कलावन्तों का आश्रयदाता था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ नवसाहसांक चरित्र का विद्वान लेखक पद्मगुप्त उसीके दरबार में था। नाट्यशास्त्र पर उत्तम ग्रन्थों के रचयिता धनंजय व धनिक दो भाइयों तथा छन्दशास्त्र का लेखक हलायुध भी उसीके दरबार में आश्रय पाते थे। मुंज ने बहुत से मन्दिर भी बनवाए थे और धारा नगरी के निकट मुंजसागर नामक एक विशाल जलाशय भी।

**भोज परमार**—मुंज के बाद उसका भाई सिन्धुराज जब ९९५ ई० में गद्दी पर बैठा, उसने प्रायः १०१० ई० तक राज्य किया। सिन्धुराज के बाद उसका बेटा जगत-विख्यात राजा भोज उत्तराधिकारी हुआ। भोज ने १०१० से १०५५ तक, लगभग अर्धशताब्दी तक राज्य किया। भोज के अनेक गुणों के कारण उसका नाम भारतीय इतिहास में इतना प्रसिद्ध है जितना प्राचीन शकारि विक्रमादित्य का कहा जाता है कि वह बड़ा प्रतिभाशाली सैनिक था। उसने कल्याणी के चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय और गांगेयदेव कलचुरि सरीखे शक्तिशाली राजाओं को परास्त किया था और उत्तर कोंकण आदि के प्रदेश जीत लिए थे। उसने कन्नौज के

प्रतिहार तथा शाकम्भरी के चाहमान राजाओं को भी हराया था। परन्तु गांगेयदेव कलचुरि ने भीम सोलंकी से मिलकर भोज को परास्त किया। फिर कल्याणी के भोमेश्वर और त्रिपुरी के लक्ष्मीकरण के साथ मिलकर भीमदेव ने एक सैनिक संघ बनाया जिससे भोज को हारना पड़ा। भोज ने अपनी राजधानी धारानगरी में बनाई थी।*

परन्तु उसके सामरिक व राजनैतिक पराक्रमों से बहुत अधिक उसका यश विद्यानुराग, साहित्य-सेवा एवं अत्युत्तम शासन-व्यवस्था के कारण है।

प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहासज्ञ एवं अन्य विद्वान सभी मुक्तकंठ से राजा भोज के अनुपम गुणों की प्रशंसा करते हैं। वह विद्वानों का आश्रयदाता तथा उनका समादर करनेवाला ही नहीं था प्रत्युत स्वयं भी अनेक विद्याओं का प्रकांड पण्डित एवं लेखक भी था। उसने वास्तुशास्त्र, अलंकारशास्त्र, योगज्योतिष, व्याकरण आदि अनेक विषयों पर अत्यन्त गूढ़ तथा उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे हैं। मिताक्षरा आदि के रचयिता भी भोज को दण्डविधान का भारी विद्वान मानते हैं। संस्कृत-साहित्य की वृद्धि और सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार के लिए भोज ने जो प्रयास किया और जैसी सफलता उसे प्राप्त हुई, उसकी मिसाल मध्यकालीन इतिहास में दूसरी नहीं मिलती। भोज को यह गौरव प्राप्त था कि उसके राज्य में एक भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं था। उसने संस्कृत विद्या की शिक्षा देने के लिए अपनी राजधानी में भारत भवन नामक एक विद्यापीठ की प्रतिष्ठा की थी। इसको नष्ट करके मुसलमानों ने उसके स्थान पर कमाल मौला नामक मस्जिद खड़ी कर दी। इस महाविद्यालय में विभिन्न विषयों के सूत्र शिलाओं पर उत्कीर्ण करवाए गए थे, जिनमें से बहुत से मस्जिद के फर्श में लगा दिए गए। उसका व्यवहार विद्वानों के प्रति अत्यन्त उदारतापूर्ण होता था। वह उनको बड़े-बड़े पुरस्कार देता तथा अन्य प्रकार से उनको प्रोत्साहित करता था। यशस्वी विद्वान उव्वट ने यजुर्वेद वाजस्नेयि संहिता की टीका उज्जैन में भोज के समय में ही रची थी। भोज बड़ा कलानुरागी भी था और वास्तु का तो वह मानों अद्वितीय विशेषज्ञ था। उसने प्राचीन विदिशा (भेलसा) के निकट एक उत्तम स्थान देखकर दो तरफ पहाड़ी की शाखाओं के बीच में एक बहुत बड़ा पाल अथवा बाँध बनवाया जिसके द्वारा बेतवा नदी का पानी रुक गया और एक भारी झील जिसका क्षेत्रफल २५० वर्ग मील था, बन गई। इसका नाम भोजपाल या भोजसर था।

---

* निज़ामुद्दीन अहमद बख्शी की तबक़ाते-अकबरी में वर्णित है कि सोमनाथ को विध्वंस करके महमूद ने पच्छिम मार्ग से लौटने का निश्चय किया क्योंकि उसे ज्ञात हो गया था कि हिन्दुस्तान का सबसे महान राजा परमदेव उसको रोकने की तैयारी कर रहा है। यह परमरदेव भोज के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता किन्तु यह भी निश्चय-सा है कि परमदेव महमूद से युद्ध करने की तैयारी करता ही रह गया और वह लुटेरा निकल भी गया।

मालवा के मुसलमान राजा होशंगशाह ने १५वीं शती में इस झील को कटवाकर उसका पानी फिर नदी में निकाल दिया। यह पानी २० बरस तक निकलता रहा, तब भी पूरी तरह झील खाली न हुई। इस झील के किनारे पर जो नगर बस गया था उसका नाम भोपाल पड़ गया। भोज का समस्त देश में बड़ा मान था। इसका प्रमाण यह है कि देश के चारों कोनों में उसने शिव-मन्दिर बनवाए थे, अर्थात् सोमनाथ, रामेश्वर, सुन्दीर (पूर्वी तट पर) और केदार में। इनके अतिरिक्त भोजसर के तट पर भी एक शिव-मन्दिर बनवाया था जो आज तक विद्यमान है। चित्तौड़ में उसने त्रिभुवननारायण का विशाल मन्दिर बनवाया। भारती-भवन में प्रतिष्ठापित करने के उद्देश्य से उसने सरस्वती की एक प्रस्तर-प्रतिमा का निर्माण कराया। यह मूर्ति अब ब्रिटिश म्यूज़ियम में है। इसकी कलापरक उत्कृष्टता के विषय में कलाविदों ने एक स्वर से इसको शिल्प का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण बतलाया है। उसकी अनुपम सुन्दरता तथा कान्ति, उसकी प्रशान्त मुद्रा व प्रसन्नवदन, उसके समस्त अंगों का विमुग्धकारी व काव्यमय साम्य, उसकी ललित व आकर्षक आकृति तथा अंगरचना में अत्यन्त निग्रह व औचित्य का प्रदर्शन—यह सब गुण इस प्रतिमा के अन्दर विद्यमान हैं जिनके कारण उसे तक्षण शिल्प के परमोषत्कर्ष का प्रतीक माना गया है। धर्म के विषय में, कई प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भोज बड़ा उदार था और सब सम्प्रदायों के विद्वानों की गोष्ठियाँ आयोजित किया करता था। इन गोष्ठियों में जो विचार-विनिमय होता था उसका सारांश भोज ने इस प्रकार बतलाया : मनुष्य को उपासना तथा ईश्वर के ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति होती है, चाहे वह किसी भी मत का अनुयायी हो।

इन सब अनुपम कार्यों के अतिरिक्त भोज का शासन इतना सुदृढ़, सुव्यवस्थित तथा प्रजावत्सल था, कि उसके साम्राज्य में कोई भी भूखा अथवा दरिद्र नहीं पाया जाता था। उसके एक लेख में उसके जीवनादर्श का वर्णन किया गया है : लक्ष्मी विद्युत के समान क्षणभंगुर है। उसके केवल दो सदुपयोग हैं, अर्थात् दान और उसके द्वारा दूसरे लोगों की प्रतिष्ठा की रक्षा करना। भोज ने अपने जीवन में इस आदर्श का पूरी तरह पालन किया। समकालीन लेखकों ने उसे उचित ही मानव, चक्रवर्ती और कविराज की उपाधि से विभूषित किया था। उसके समस्त गुणों को तथा पराक्रमों को देखते हुए मानना पड़ेगा कि उसका युग स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है।

किन्तु इस सम्बन्ध में एक समस्या अत्यन्त आश्चर्यजनक है जिसका समाधान असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य जान पड़ता है। इतनी उज्ज्वल कीर्ति वाला तथा इतना शक्तिशाली सम्राट जो युद्ध-कला तथा अस्त्र-शस्त्र विद्या का भी पूर्ण विद्वान एवं लेखक था, क्यों और किन कारणों से अपने समकालीन महमूद गज़नवी सरीखे नृशंस आततायी के अत्याचारों से देश और धर्म की रक्षा न कर सका, इस समस्या का उत्तर मिलना हमको सुगम नहीं जान पड़ता। इस विषय की हम अगले अध्याय में यथास्थान पूर्णरूप से विवेचना करेंगे। यहाँ पर इतना बतला

देना आवश्यक है कि चिन्तामणि वैद्य (हि० आ० हि० मै० इ०, जि० ई०, पृष्ठ १६६) ने भोज सम्बन्धी उदयपुर (गुजरात) की प्रशस्ति के आधार पर यह मत प्रकट किया है कि भोज ने कलचुरि गांगेय तथा कन्नौज के गुरजर-प्रतिहार जैचन्द को परास्त करके और उसके सहायक तुर्कों को देश से निकालकर भारत-भूमि को उनके उत्पीड़न से मुक्त किया था। यह मत निराधार है, क्योंकि मुसलमानों के आतंक तथा हमले किसी प्रकार कम न हुए, रुकना तो दूर।

**जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देल**—चन्देलों का उद्भव भी अत्यन्त विवादग्रस्त विषय रहा है। स्मिथ का यह मत कि चन्देलों की उत्पत्ति मनियापुर के गोंडों से हुई है, सर्वथा निर्जीव है। विश्रुत परम्पराओं तथा अभिलेखों के इतिवृत्तों पर सम्यक विचार करने से यह तथ्य सिद्ध होता है कि वे प्राचीन चन्द्रवंशीय क्षत्रियों की सन्तान थे। चन्देलों के राज्य के शिलालेखों में जेजाकभुक्ति, जेजाभुक्ति आदि नाम दिए गए हैं। कुछ लेखकों की धारणा है कि इस वंश के एक प्राचीन राजा जयशक्ति का अपभ्रंश नाम जेजाक या जेजा पड़ गया था और उसीके नाम से उनके अधिकार में जो 'भुक्ति' था वह जेजाकभुक्ति कहलाने लगा। किन्तु युवान-च्वांग के लेख से स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी यह प्रदेश उसी नाम से प्रसिद्ध था। युवान-च्वांग ने बुन्देलखण्ड का बहुत उत्तम भौगोलिक वर्णन करते हुए बतलाया है कि खजुराहो चीह-ची-त्-ओ प्रदेश की राजधानी थी। यह चीह-ची-त्-ओ जेजाकभुक्ति ही था, ऐसी संगति ठीक बैठ जाती है। जयशक्ति, द्वारा यह नामकरण नहीं हुआ। पर जयशक्ति ने इस भुक्ति को यह नाम प्रदान किया। अभिलेखों के इस कथन में भी कुछ सार अवश्य है। जयशक्ति ने अपनी अपूर्व विजयों से इतनी कीर्ति कमाई थी कि प्रशस्तिकारों ने उसके गौरव को चिरस्थायी करने के लिए पूर्व-प्रचलित नाम को 'जेजा' नाम से जोड़ दिया हो, ऐसा अनुमान होता है। इस प्रकार के उदाहरण और भी मिलते हैं।*

चन्देल राजा कन्नौज के प्रतिहारों के सामन्त थे। दसवीं सदी में मिहिर-भोज के बाद, प्रतिहारों का पतन बहुत वेग से हो गया। इससे लाभ उठाकर इस वंश के ११वें राजा धंग ने १०५६ ई० के लगभग अपने को स्वतन्त्र कर दिया। इसके बाद चन्देलों के किसी अभिलेख में, पहले के समान, प्रतिहारों की चर्चा नहीं मिलती। चन्देलों की राजधानी खजुराहो थी, किन्तु दसवें चन्देल राजा यशोवर्मन ने समीपस्थ कालंजर के दुर्ग को, उसके सामरिक महत्व के कारण राष्ट्रकूटों से छीन लिया।

**धंग** (९५०-१००२ तक) के समय में कालंजर चन्देलों की दूसरी राजधानी बन गया। उनका कोष इसी गढ़ में रहता था। कालंजर का सामरिक महत्व इतना बड़ा था कि उत्तर भारत में इस दुर्ग पर अधिकार रखनेवाला सर्वोच्च शूरवीर

---

*देखो, केशवचन्द्र मिश्र रचित 'चन्देल और उनका राजत्व काल,' पृष्ठ ६३-६४.

समझा जाता था। कालंजर के बाद धंगदेव ने ग्वालियर का दुर्ग भी हस्तगत कर लिया। कालंजर के बाद इसका सामरिक महत्व भी बहुत था। तत्कालीन लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि धंगदेव ने चारों ओर के प्रदेशों को विजय करके अपने राज्य को बहुत बढ़ाया और 'मण्डलेश्वर' होने का गौरव, जो पहले प्रतिहारों को प्राप्त था, चन्देलों के लिए प्राप्त किया। गंगा-जमना के दोआब का तो अधिकतर भाग इस राजा ने जीत लिया था, इतना निश्चय जान पड़ता है। परन्तु जिस तरह अन्य तत्कालीन राजाओं व राजपूत वीरों के चारण व प्रशस्तिकार अपने स्वामियों की विजयों तथा पराक्रमों का वर्णन करने में ज़मीन-आसमान एक कर देते हैं उसी प्रकार धंग के भाटों ने भी उसका गौरव-गान करने में निग्रह को तिलांजलि दे भरपेट अतिशयोक्ति की है। इन प्रशस्तियों का कथन है कि धंग ने समस्त दक्षिण, पश्चिम व पूर्वी भारत के शासकों को परास्त करके उनकी रानियों को अपने कारागार में रखा था और उसने अपने साम्राज्य की सीमा मनुष्य से बढ़े हुए भू-भाग-पर्यन्त और उसके भी बाहर पहुँचा दी थी।

धंग के विषय में एक शिलालेख में अत्यन्त रोचक सूचना हमें मिलती है। धंग ने अपने भुजबल से शत्रुओं का उन्मूलन कर उस 'शौर्यशाली हम्मीर' की समता प्राप्त की जो पृथ्वी के लिए आतंक बन गया था।* गज़नी के इन तुर्क सरदारों के आक्रमणों का वृत्तान्त आगे दिया जाएगा। उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि कम-से-कम उत्तर भारत के दूर-दूरवाले प्रदेशों में तुर्कों के हमलों के कारण काफी खलबली मची हुई थी और यहाँ के बड़े-बड़े योद्धा व शूरवीर तुर्क आक्रान्ता के समान कहलाने में अपना गौरव मानते थे। परन्तु सबसे अधिक सारगर्भित बात यह है कि ऐसे समय में भी जबकि तुर्क आततायी देश और धर्म के लिए एक भारी आतंक बना हुआ था, चन्देल वीर धंग शत्रुओं का उन्मूलन करके ही अपने निस्सार अहंकार की तृप्ति कर रहा था। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शत्रु कौन थे। इन घरेलू पड़ौसी राजाओं को मिटा देने की आकांक्षा से तो इस भारत-सम्राट का दिल भरा हुआ था, किन्तु वास्तविक एवं संघातक शत्रु को नष्ट करने और देश जाति की उससे रक्षा करने की चिन्ता उसे न थी। वह तो केवल उस गौरव के लिए लालायित था जो अपने पराक्रम के कारण सुबुक्तगीन को प्राप्त हो चुका था, और अपनों को ही मार-काट कर उसे प्राप्त करना चाहता था। राजपूत चरित्र तथा वैयक्तिक आदर्शों का जो मूल्यांकन हम ऊपर कर आए हैं उसका आदर्श उदाहरण हमें इस भारतीय वीर में प्राप्त है।

कहा जाता है (फिरिश्ता के आधार पर) कि इस उज्ज्वल कीर्ति वाले चन्देल शासक ने शाही जयपाल की सहायता अपने पूरे दल-बल से की, परन्तु फल क्या

* ई० आई०, भा० १, पृ० २१८ और २२१, श्लोक १७ (चन्देल और उनका राजत्वकाल, पृष्ठ ८० से उद्धृत) हम्मीर, हम्वीर, अमीर का हिन्दी अपभ्रंश है। गजनी के तुर्कों का जो पीछे से यामनी कहलाए, यह विरुद था।

हुआ ? क्या वह जयपाल की रक्षा कर पाया, अथवा अन्ततोगत्वा देश के आन्तरिक भाग की ? यदि नहीं, तो धंग की तथा उसके अन्य सहकारी सैनिकों की कीर्ति पर यह अमिट कलंक है ।
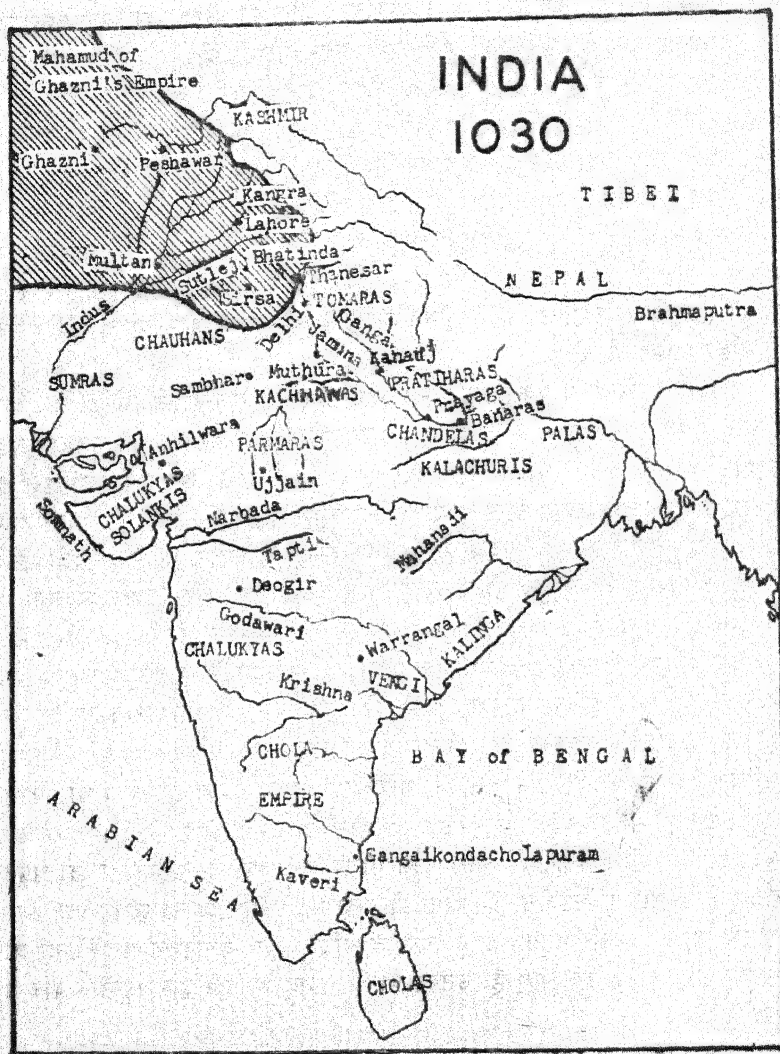
**गंड चन्देल**—धंग बहुत दीर्घायु हुआ । उसके देहावसान की तिथि तो निश्चित नहीं है, किन्तु शिलालेखों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि उसकी मृत्यु १००८ के बाद हुई होगी । परन्तु वृद्धावस्था के कारण उसने १००२-३ में ही राज-

काज अपने बेटे गंड को सौंप दिया था। इस वंश का शेष वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

**त्रिपुरी के कलचुरि**—कलचुरि वंश बहुत प्राचीन था। उनका दावा था कि वे महाभारत के हयहय वंश से अवतरित हुए हैं। उनके अभिलेख छठी शती से मिलते हैं। इस वंश के राजा त्रैकूटक अथवा चेदि संवत का प्रयोग करते थे, इससे यह परिणाम निकालना उचित नहीं जान पड़ता कि यह आभीर वंश के थे। वातापी के चालुक्यों व बुन्देलखण्ड के चन्देलों के उत्थान से पहले उनका राज्य बुन्देलखण्ड से नासिक तक फैला हुआ था। उपर्युक्त दो बड़े राज्यों के उठने के बाद कलचुरि राज्य सिर्फ़ जबलपुर के आस-पास की भूमि पर रह गया। उनकी राजधानी त्रिपुरि (आधुनिक तेवर, जबलपुर से ६ मील) थी। इसीसे यह त्रिपुरि, चेदि या दाहल के कलचुरि कहाते हैं। कलचुरियों का क्रमबद्ध इतिहास कोकल्ल प्रथम (लगभग ८७५-९२५ ई०) के समय से मिलता है। उसने राष्ट्रकूटों, प्रतिहारों व चन्देलों से विवाह सम्बन्ध या मैत्री जोड़कर अपनी शक्ति को दृढ़ किया। परन्तु कोकल्ल के वंशजों की लड़ाइयाँ पड़ोसियों से होती रहीं। दसवीं शती के उत्तरार्ध में लक्ष्मणराज ने बंगाल व काठियावाड़ तक चढ़ाइयाँ कीं। इसके बाद ११वीं शती के प्रथम चरण तक कलचुरि वंश चन्देलों के सामन्तों में से थे। ये लोग प्रायः शैव थे और शैव-संन्यासी महात्माओं का बड़ा आदर-सत्कार करते थे। कलचुरि वंश का शेष वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

# दूसरा प्रकरण

## (प्राय: १००० ई० से १२०० ई० तक)

चार

### राजनीतिक रंगमंच : यामिनी वंश के हमले

**शाही-गज़नवी संघर्ष**—शाही वंश का पूर्व इतिहास पहले प्रकरण में दिया जा चुका है। हम बतला आए हैं कि सन् ९९७ ई० में सुबुक्तगीन के बेटे महमूद ने अपने छोटे भाई इस्माइल को नष्ट करके गज़नी पर अधिकार कर लिया। सिंहासनारूढ़ होते ही उसने हिन्दुस्तान पर आक्रमण शुरू कर दिए। उसने इससे पूर्व हिन्दुस्तान के धन-धान्य आदि का वृत्तांत सुना था और उस पर हमला करने का वह पहले ही इरादा कर चुका था। सन् १००० में उसने सिन्धु नदी के पच्छिमी प्रदेश पर छापा मारा और वहाँ के शहरों तथा किलों को अधिकृत किया। इसके अगले वर्ष फिर १०,००० घुड़सवार सेना लेकर पेशावर पर टूट पड़ा। जयपाल शाही राजा जो सुबुक्तगीन से पराजित होकर भेड़ा तक हट आया था, अनायास पकड़ा गया। इस घटना से यह स्पष्ट हुआ कि अपने सीमान्त प्रदेशों की रक्षा तथा देखरेख का प्रबन्ध यह लोग न कर पाते थे। आश्चर्य यह है कि वही जयपाल जिसको सुबुक्तगीन ने काबुल और गज़नी के राज्य से निकालकर पीछे हटा दिया था और जिसका बेटा महमूद अपने युयुत्सु भावों को पूरी तरह प्रकट कर चुका था, एक ऐसे भयानक शत्रु के होते हुए भी अपने बचे-खुचे देश की सीमा की रक्षा करने में इतना असावधान पाया गया कि जब महमूद उसके राज्य की सीमा में घुस गया तब ही उसको इस आक्रमण का पता चला। तत्कालीन इतिहास-लेखकों ने कहा है कि जयपाल महमूद के विरुद्ध जी तोड़ कर लड़ा। उसने १२,००० घुड़सवार, ३०,००० पैदल तथा ३०० हाथी की सेना लेकर महमूद का मुकाबिला किया। दोनों सेनाएँ जी-जान से लड़ीं और अपने-अपने शौर्य का परिचय दिया परन्तु अन्त में जयपाल पराजित हुआ और शत्रु के हाथों में बन्दी हो गया। उसके साथ अन्य १५ राजकुमार भी पकड़े गए। हज़ारों हिन्दू लड़ाई

में काम आए। इस रणक्षेत्र से आगे बढ़कर महमूद ने उन्द (ओहिन्द) पर अधिकार कर लिया। यह नगर सिन्धु नदी के किनारे अटक से लगभग १५ मील उत्तर की ओर लाहौर से पेशावर जानेवाले मार्ग पर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सैनिक नाका था। यहाँ पर कुछ हिन्दुओं की सेना उससे लड़ने के लिए जमा थी। उसको महमूद ने बहुत आसानी से हरा दिया। परन्तु जयपाल और उसके साथियों को बहुत-सा धन लेकर उसने छोड़ दिया। जयपाल ने मुक्त होकर अपना राज्य अपने बेटे आनन्द पाल को सौंप दिया और स्वयं अग्नि में जलकर प्रायश्चित्त किया क्योंकि नवीन हिन्दू धर्म के अनुसार एक मलेच्छ के हाथ में पड़ जाने के बाद उसका और किसी प्रकार से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता था और वह हिन्दू जाति के अन्दर नहीं रह सकता था। इसका प्रमाण हमको अलबेरूनी से मिलता है, जो उसी समय हिन्दुस्तान में आकर रहा था और भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक-रीति-रिवाजों के विषय में उसने एक लोक-प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। इस घटना के बाद महमूद दो साल तक सीस्तान आदि प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ करता रहा।

आनन्दपाल के राजगद्दी पर आरूढ़ होने के समय (प्राय: १००२ ई०) शाही राज्य उत्तर में भेड़ा से मुल्तान तक ही सीमित रह गया था, और उसकी पूर्वी सीमा शायद सतलज तक रही हो। सन् १००४ में महमूद बलूचिस्तान होता हुआ दक्षिण मार्ग से आकर भटिंडा पर टूट पड़ा।* यह आक्रमण उसने इस कारण किया था कि भटिंडा के करद शासक ने आनन्दपाल के महमूद से परास्त होने के बाद उसको कर देना बन्द कर दिया था। अनुमानत: आनन्दपाल ने इसकी शिकायत महमूद से कर दी। महमूद को इस प्रकार उस नगर पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। भटिंडा पर अधिकार हो जाने से एक और बहुत आवश्यक लाभ महमूद को हुआ। जिस प्रकार उत्तर में पेशावर तथा ओहिन्द उसकी सैनिक चौकियाँ बन गईं थीं उसी प्रकार दक्षिण में भी सीबी, मुल्तान और भटिंडा सैनिक चौकियाँ बन गईं। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक की सारी सीमा पर उसका नियन्त्रण स्थापित हो गया।

सन् १००५ में उसने मुल्तान के शासक दाऊद लोदी पर चढ़ाई की। इसका कारण यह था कि दाऊद शिया सम्प्रदाय का था और वह महमूद के मार्ग में रुकावट डालता था। दाऊद ने भली-भाँति अनुभव किया कि यदि इस बढ़ती हुई बाढ़ को जल्दी ही न रोका गया तो वह हिन्दुस्तान के समस्त राज्यों को ले बैठेगी। अतएव दाऊद ने आनन्दपाल से सहायता माँगी। आनन्दपाल ने महमूद की सेना को पेशावर के पास रोकने का प्रयत्न किया किन्तु महमूद ने उसको पूरी तरह परास्त किया और चुनाब तक खदेड़ दिया। आनन्दपाल का बेटा सुखपाल शत्रु के हाथों में बन्दी हो गया और मुसलमान बना लिया गया। महमूद ने

*कुछ विद्वानों का कहना है कि यह नगर भेड़ा था जो रावलपिंडी के निकट है, लेकिन यह मत प्रमाणित नहीं जान पड़ता क्योंकि महमूद इस अवसर पर दक्षिण के रास्ते सीबी और मुल्तान होता हुआ आया था।

उसका नाम नवासाशाह रखा और उसे भेड़ा का शासक नियुक्त किया इसके बाद महमूद ने मुल्तान का घेरा डाला। इस बार वह दक्षिण के मार्ग को छोड़कर उन्द (ओहिन्द) के रास्ते से आया। आनन्दपाल के पराभव तथा महमूद के विध्वंसकारी आक्रमण देखकर मुल्तान के शासक दाऊद की हिम्मत टूट गई। उसने किले में बन्द होकर अपने को बचाना चाहा किन्तु अन्त में उसका प्रभुत्व मान लिया और बीस हजार दिरहम वार्षिक शुल्क देने का वचन दिया। इसी समय मध्य एशिया के एबक खाँ ने बल्ख (बाल्हीक) तथा खुरासान पर अधिकार करके महमूद के शासक को हिरात से निकाल बाहर किया। महमूद तुरन्त वापस भागा और उसको एलकखाँ से अपनी जान की बाज़ी लगाकर युद्ध करना पड़ा। बड़ी कठिनाई से उसने एलकखाँ से सन्धि की जिसकी शर्त यह थी कि दोनों एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन न करेंगे।

इस सम्बन्ध में एक घटना अत्यन्त रोचक व सार्थक है। अलबेरूनी ने लिखा है कि "जब आनन्द पाल ने सुना कि महमूद के देश पर एलकखाँ ने हमला किया है तो उसने महमूद को चिट्ठी लिखी कि यदि तुम चाहो तो मैं स्वयं ५,००० घुड़सवार १०,००० पैदल और १०० हाथी लेकर तुम्हारी सहायता के लिए आने को तैयार हूँ और यदि तुम चाहो कि मैं अपने बेटे को भेजूँ तो मैं उपर्युक्त संख्या से दुगनी सेना भेजूंगा। इस प्रकार लिखने में मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि इस बात से तुम क्या सोचोगे। मेरा अभिप्राय तो केवल इतना है कि क्योंकि तुमने मुझे परास्त किया है मैं यह नहीं चाहता हूँ कि तुमको कोई जीते। अलबेरूनी यह भी कहता है कि यह चिट्ठी आनन्दपाल ने महमूद के पास उस समय भेजी थी जबकि उनमें परस्पर गहरा वैमनस्य था, जिसका एक कारण यह भी था कि महमूद ने आनन्दपाल के एक लड़के को पकड़कर मुसलमान बना लिया था।

आनन्दपाल का इस प्रकार से अपनी चित्तवृत्ति को प्रकट करना तत्कालीन विपरीतबुद्धि व मूढ़मति हिन्दू राजाओं के आदर्शों के अनुकूल चाहे जितना सराहनीय समझा जाए परन्तु वास्तविक राजनीति के मानदण्ड से तो इस प्रकार की नीति अत्यन्त अदूरदर्शी तथा घातक ही मानी जाएगी। एक बुद्धिमान तथा राजनीतिज्ञ तो ऐसी परिस्थिति का उलटा लाभ उठाता और महमूद जैसे भयानक शत्रु के पीछे से आक्रमण करके अथवा एलकखाँ से मिलकर उसे नष्ट कर देता और इस प्रकार देश को उसके अत्याचारों तथा लूटमार से बचा लेता। इस नीति का अवलम्बन न करके आनन्दपाल ने न केवल महमूद को नष्ट करने का तथा देश को सुरक्षित बना देने का अवसर ही हाथ से खो दिया अपितु भावी हिन्दू राजाओं के लिए एक अत्यन्त हानिकारक तथा मूर्खतापूर्ण परम्परा स्थापित कर दी। सामरिक व राजनैतिक दृष्टि से इतनी अदूरदर्शी नीति का शायद ही कोई और उदाहरण हमको मिल सके। इससे यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन हिन्दू राजा सीमा की रक्षानीति तथा सैनिक व्यवस्था को तृणमात्र भी नहीं समझते थे। यह सब परिणाम था उनके पौरुष के

मिथ्याभिमान का। इस भ्रान्तिपूर्ण नीति का परिणाम यह भी हुआ कि उसका बेटा सुखपाल जिसने इस्लाम को त्याग फिर से अपने-आपको हिन्दू घोषित किया और महमूद का विरोध करने की तैयारी की, अपने प्रयत्न में सफल न हुआ। सुखपाल ने इलाकखाँ के हमले का अवसर पाकर महमूद के पदाधिकारियों को अपने शासन से निकाल दिया। परन्तु आनन्दपाल ने उसकी कोई सहायता न की। कहने की आवश्यकता नहीं कि आनन्दपाल तथा अन्य हिन्दू राजा सुखपाल की सहायता इस कारण न कर सके कि वह मुसलमानों के हाथों में पड़ गया था और थोड़े समय से उसको ऊपरी तौर से मुसलमान बनना भी पड़ा था। महमूद ने बेचारे निस्सहाय सुखपाल को हराकर उससे चार लाख दिरम लड़ाई के व्यय के रूप में वसूल किये और उसे जीवन-भर के लिए कारागार में डाल दिया।

१००८ ई० में महमूद ने आनन्दपाल पर फिर हमला किया। फिरिश्ता का कहना है कि इस अवसर पर आनन्दपाल ने उज्जैन, ग्वालियर, कालजंर, दिल्ली, कन्नौज तथा अजमेर आदि राजाओं को सहायता के लिए आमन्त्रित किया। फिरिश्ता ने यह भी लिखा है कि इस अवसर पर लड़ाई के लिए धन इकट्ठा करने के हेतु हिन्दू स्त्रियों ने अपने गहने इत्यादि भी दे डाले थे। फिरिश्ता का यह कथन कपोल-कल्पित है, और इसमें लेशमात्र भी तथ्य नहीं जान पड़ता। देश में धन-धान्य की कमी तो क्या वास्तविक बात तो यह है कि महमूद के आक्रमणों का एक बड़ा कारण यही था कि इस देश के मन्दिरों तथा राजाओं के भंडार अतुल धन तथा अन्य सामग्री से भरपूर थे। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े धनवान् व्यापारी तथा जमींदारों की भी कोई कमी नहीं थी। यह बात सर्वमान्य है कि इन्हीं को लूटने के लिए तुर्कों के आक्रमण बार-बार अपने देश से हजारों मील चलकर यहाँ आते थे। उनके समकालीन इतिहास लेखक उत्बी तथा अकबर के इतिहासज्ञ निज़ामुद्दीन अहमद बख़्शी ने फिरिश्ता के उपर्युक्त कथन का कोई निर्देश नहीं किया है। इससे भी प्रमाणित होता है कि फिरिश्ता का कथन सत्य नहीं है। इसके अतिरिक्त फिरिश्ता का यह कहना कि अजमेर के राजा को भी आनन्दपाल ने आमन्त्रित किया था, सर्वथा अप्रमाणित है क्योंकि उस समय अजमेर का नगर विद्यमान ही नहीं था। उसकी नींव इस घटना के लगभग १०० वर्ष बाद डाली गई। हिन्दुस्तान के विभिन्न नृपतियों का इस प्रकार इस अवसर पर आमन्त्रित किया जाना तथा आनन्दपाल की सहायता के लिए पहुँचना इस घटना का भी फिरिश्ता ने ही ज़िक्र किया है अन्य किसी लेखक ने नहीं। इसके अतिरिक्त ऐसे अवसर पर जबकि महमूद आनन्दपाल के ऊपर अचानक टूट पड़ा था, हिन्दुस्तान के दूरस्थ राजाओं को बुलाने अथवा उनके घटना-स्थल पर पहुँचने का समय ही न था अतएव फिरिश्ता के इस कथन को भी हम सर्वथा असत्य मानते हैं।

उत्बी के लेखानुसार आनन्दपाल और महमूद के बीच यह लड़ाई ओहिन्द (उन्द) के समीप सिन्धु के किनारे हुई थी। फिरिश्ता के अनुसार कि इस लड़ाई में ३०,००० गक्खर बड़े दलबल से सुलतान के विरुद्ध लड़े और उसकी फौज को चीरते

हुए अन्दर घुस गए और थोड़ी-सी देर में ५००० तुर्कों को काट डाला। गक्खरों के इतना भारी विध्वंस करने पर भी तुर्की सेना हतोत्साह न हुई। उसके तीरों और गोला-बारूद ने ऐसे संकटमय समय में उनका उद्धार किया। आनन्दपाल का हाथी बारूद की आग को सह न सका और भाग निकला। फिर क्या था सारी हिन्दू सेना भी भाग निकली। तुर्कों ने उनका पीछा किया। लगभग २० हजार सैनिकों को क़त्ल किया। ६० हाथी उनके हाथों में पड़े। यहीं से महमूद ने नगरकोट पर चढ़ाई कर दी।

**नगरकोट—१००८ ई०**—यह ज्वालामुखी पहाड़ के निकट व्यास नदी के किनारे पर स्थित था। उसकी अनन्त धन-सम्पत्ति का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि वहाँ के राजा ने एक मन्दिर शुद्ध चाँदी की ईंटों का बनवाया हुआ था। महमूद आनन्दपाल की सेना का विध्वंस करता हुआ चिनाब के किनारे तक पहुँच गया। वहाँ से नगरकोट तक उसको केवल थोड़ी ही दूर और चलना पड़ा। नगरकोट के राजा ने बिना विरोध किए उसका आधिपत्य मान लिया और बहुत से हाथी तथा अगणित उपहार उसके लिए भेजे। तिस पर भी महमूद ने उससे बड़ी भारी रकम वसूल की। एक लेखक ने अनुमान किया है कि महमूद को इस अवसर पर लगभग ४०० पौंड सोने के पासे, ४,००० पौंड चाँदी, और ४० पौंड मोती और अन्य जवाहरात और लगभग ५०,००,००० रुपये की कीमत के सिक्के प्राप्त हुए। महमूद ने जब किले का घेरा डाला तो थोड़े दिन बाद मन्दिर के पुजारियों ने उसके दरवाज़े खोल दिए क्योंकि राजा ने उनकी कोई रक्षा न की।

इस घटना का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान और खुरासान के बीच का व्यापार-मार्ग खुल गया और सतलज के पूर्व का प्रदेश इन आक्रान्ताओं के लिए अरक्षित तथा निस्सहाय हो गया, क्योंकि अब इस भीतर की सीमा की रक्षा करने वाला कोई राजपूत वीर न रह गया था। देश के अन्दर कन्नौज, कालंजर, सांभर, मालवा तथा गुजरात आदि प्रदेशों में एक-से-एक महान् तथा विख्यात नृपति विद्यमान थे, किन्तु जान पड़ता है कि बाहरी आततायियों से धर्म और देश की रक्षा करने के लिए सीमान्त भूमि को सुरक्षित व सुदृढ़ बनाने की सुध-बुध इन लोगों को थी ही नहीं।

अगले वर्ष अर्थात् १००९ में महमूद ने गजनी और हिरात के बीच स्थित ग़ूर की छोटी-सी रियासत पर चढ़ाई करके उसके राजा मुहम्मद-बिन-सूरी को परास्त करके अपने अधीन किया। इस घटना के भावी परिणाम बहुत भारी हुए। गज़नवी वंश की शक्ति का अपकर्ष होने पर इन दो पड़ोसी राज्यों के बीच बराबर संग्राम होते रहे और अन्त में ग़ूरी वंश ने गजनी तथा लाहौर दोनों पर कब्ज़ा कर लिया और यामिनी वंश को समूल नष्ट कर दिया। इसके बाद ग़ूरी सुलतान शहाबुद्दीन ने भारत पर आक्रमण करके मुस्लिम सत्ता की नींव डाली। इसके बाद महमूद ने भारत पर दो बार चढ़ाइयाँ की पर इनका बहुत महत्व न था।

**थानेश्वर पर आक्रमण** (१०११-१०१२)—इस आक्रमण के समय में कुछ मतभेद है किन्तु फिरिश्ता का मत जिसे प्रो० हबीब ने माना है, ठीक जान पड़ता है। थानेश्वर का हमला नगरकोट तथा तरारोई के बाद हुआ था जबकि आनन्दपाल लाहौर पर राज्य कर रहा था। थानेश्वर में एक बड़ा प्राचीन मन्दिर चक्रस्वामी* का था। आनन्दपाल को जब यह मालूम हुआ कि महमूद थानेश्वर की चढ़ाई पर चल पड़ा है तो उसने प्रार्थना की कि चक्रस्वामी का मन्दिर समस्त हिन्दुस्तान के लिए परम आराध्य है, इस कारण उसे छोड़ दिया जाय। किन्तु महमूद ने इस याचना को ठुकरा दिया। कुछ लेखकों के अनुसार थानेश्वर के सामंत ने महमूद का मुकाबला भी किया किन्तु हार मानी। अपने दस्तूर के अनुसार महमूद ने मन्दिर को तोड़ा और उसकी मूर्ति को गज़नी में पैरों के नीचे रौंदवाने के लिए ले गया। फिर आस-पास की भूमि को लूटता और जनता का ध्वंस करता हुआ हज़ारों मर्द-औरतों को पकड़कर गज़नी लौट गया।

थानेश्वर के आक्रमण के सम्बन्ध में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। कहा जा चुका है कि आनन्दपाल की याचना पर महमूद ने कोई ध्यान नहीं दिया। इतना ही नहीं आनन्दपाल को अपने नगरों तथा ग्रामों के दुकानदार व व्यापारियों को यह भी आज्ञा देनी पड़ी कि हर प्रकार की आवश्यक सामग्री महमूद की सेना के लिए मुहय्या करें। लाहौर के आनन्दपाल शाही ने अथवा थानेश्वर के राजा ने महमूद से यह भी प्रस्ताव किया कि वह हिन्दुस्तान के राजाओं से वार्षिक शुल्क अथवा कर वसूल कर ले और मन्दिरों आदि को छोड़ दे। किन्तु महमूद ने यह प्रस्ताव न माना क्योंकि उसने कहा—मैं तो हिन्दुस्तान से मूर्तिपूजा का नाम-निशान मिटा देना चाहता हूँ। इसी बीच में आनन्दपाल ने यह सोचा कि इस बाढ़ से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दुस्तान के समस्त राजाओं का एक संघ बनाया जाय, अन्यथा यह बाढ़ समस्त आर्यावर्त के ऊपर फैल जाएगी और छोटे-बड़े सब राज्य उसमें डूब जाएँगे। इस उद्देश्य से उसने देश के समस्त राजाओं को आमन्त्रित किया किन्तु समय इतना कम था कि राजपूत राजाओं का स्थूल सैनिक यन्त्र चलने भी न पाया था कि महमूद थानेश्वर पर जा पहुँचा। महमूद ने केवल चक्रस्वामी के मन्दिर को ही नहीं तोड़ा किन्तु उस सर्वथा अरक्षित नगर के लगभग सभी मन्दिरों को विध्वंस करके उनकी मूर्तियों को खण्डित किया तथा उनका सारा कोष लूट ले गया। इसके अतिरिक्त वह लाखों की तादाद में औरतें और मर्द पकड़कर ले गया और उनको गजनी में नौकरों और गुलामों के तौर पर बेचा गया। एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि महमूद ने इस समय अपनी सेना में हिन्दुओं की भी भर्ती की और थोड़े दिन बाद उनकी तादाद इतनी हो गई कि हिन्दुओं का एक अलग ही रिसाला बनाया गया जिसका संचालक भी एक हिन्दू सेनापति ही नियुक्त

---

*चक्रस्वामी विष्णु का एक नाम है क्योंकि वह चक्रधारी हैं। शंख, चक्र, गदा, पद्म—विष्णु के चार विशेष चिह्न हैं।

किया गया। इस परिस्थिति को देखकर विस्मय होता है कि हिन्दुओं ने इसका फायदा क्यों नहीं उठाया और वे क्यों अपने पवित्र स्थानों तथा देवालयों आदि की रक्षा न कर सके!

**महमूद के राज्य का पश्चिम की ओर विस्तार**—सन् १०१२ में महमूद ने बगदाद के खलीफ़ा अल्कादिर बिल्लाह को मजबूर करके उससे खुरासान ले लिया। परन्तु जब उसने समरकन्द भी माँगा तो खलीफ़ा ने बड़े क्रोध से उत्तर दिया कि मैं समरकन्द हरगिज़ न दूंगा और अगर तुमने बिना मेरी मर्ज़ी के इस पर अधिकार किया तो मैं संसार भर के सम्मुख तुम्हारा मुंह काला कर दूंगा। महमूद इस उत्तर को पाकर उबल पड़ा और उसने खलीफा को लिखा—"क्या तुम यह चाहते हो कि मैं हज़ारों हाथियों की सेना लेकर तुम्हारी राजधानी पर चढ़ाई करूँ और उसको मिट्टी में मिला दूं?" किन्तु अन्त में महमूद ने अनुभव किया कि यद्यपि खलीफ़ा की सैनिक शक्ति नगण्य थी तथापि समस्त मुस्लिम संसार में उसका इतना मान था कि उससे लड़ना महमूद के लिए श्रेयकर न था। अतएव उसने खलीफ़ा से क्षमा माँग ली। खलीफ़ा ने उसको यमीनुद्दौला व मुअय्यन-उल-मिल्लत की उपाधि प्रदान की। परन्तु फिर भी महमूद ने समरकन्द पर अधिकार कर ही लिया।

**त्रिलोचनपाल पर हमला (१०१३-१०१४)**—१०१३ के लगभग आनन्दपाल की मृत्यु हो गई और उसका बेटा त्रिलोचनपाल उसके स्थान पर राजा हुआ। थानेश्वर को नष्ट करने के बाद महमूद देश में आगे न घुसा क्योंकि उसके सैनिकों ने ऐसा करना उचित न समझा। उन्होंने सुलतान को परामर्श दिया कि जब तक शाही वंश को बिलकुल नष्ट न कर दिया जाए तब तक पंजाब के ऊपर अधिकार रखना असम्भव होगा। अतएव महमूद ने १०१३ में त्रिलोचनपाल के ऊपर हमला कर दिया। महमूद ने पहले नन्दना के किले पर, जो जेहलम के किनारे जोगी बालानाथ के टीले पर था, चढ़ाई की। जान पड़ता है कि त्रिलोचनपाल अपने पूर्वजों के पराभव के कारण इतना हतोत्साह हो गया था कि उसने आक्रान्ता का सामना करने की भी हिम्मत न की। वह किले को छोड़कर काश्मीर की घाटी में जा छिपा और किला महमूद के लिए खाली कर दिया। महमूद ने उसका पीछा किया। त्रिलोचनपाल ने अपनी सेना को एक सकरी घाटी के मुँह पर जमा दिया और अपने बेटे निडर भीम को सेनानायक बनाया। फिर उसने काश्मीर के राजा से सेना की याचना की। इस अवसर पर त्रिलोचनपाल ने तो सैनिक बुद्धिमत्ता का परिचय दिया किन्तु काश्मीर के मुख्य मन्त्री तुंग की मूढ़ता तथा उद्दण्डता के कारण सब नष्ट हो गया। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि जिस समय तुंग की सेना पाँच या छः दिन तक शत्रु के सामने रणक्षेत्र में पड़ी हुई थी, त्रिलोचन-पाल ने देखा कि सेना में न तो रात के पहरे की कोई व्यवस्था है, न ही गुप्तचरों को नियुक्त करके शत्रु के बारे में जानने की ओर न ही कोई सैनिक अभ्यास करते हैं

और न धावा बोलने के लिए किसी प्रकार की उपयुक्त तैयारी। त्रिलोचनपाल ने इस बारे में तुंग को परामर्श दिया कि जब तक वह तुर्की-रण-विद्या को भली-भाँति न समझ लें तब तक उनको पहाड़ी के ऊपर ही अपनी सेना को जमाए रखना चाहिए। किन्तु तुंग इतना मदान्ध था कि उसने त्रिलोचनपाल के इस उत्तम परामर्श की कोई परवाह न की और उसकी ओर कोई ध्यान न दिया। तुंग ने इसकी कोई परवाह न करके तौसी नदी के पार अपनी सेना को उतार दिया और वहाँ पर महमूद की एक सैनिक टुकड़ी का जो परिस्थिति का अन्वेषण करने के लिए आगे भेज दी गई थी, हरा दिया। इस विजय से उसका सर और भी फिर गया और यद्यपि त्रिलोचन-पाल, जिसको महमूद के साथ युद्ध करने का पूरा अनुभव था, तुंग को फिर भी सावधान होने की सलाह देता रहा, पर तुंग ने उसकी एक न सुनी। फल यह हुआ कि सवेरा होते ही तुंग की सेना पर महमूद ने एक दम धावा बोल दिया और उसे तितर-बितर कर दिया। त्रिलोचनपाल तथा काश्मीर के राजकुमार फिर भी बड़ी वीरता तथा धैर्य से लड़े और यद्यपि उनकी हार हुई। उन्होंने अपने देश अर्थात् काश्मीर की स्वतन्त्रता और सम्मान की रक्षा कर ली। यह लड़ाई पूँछ के पास तौसी नदी के किनारे जेहलम के उत्तर में हुई थी। इस स्थान से काश्मीर को रास्ता शुरू होता है। किन्तु महमूद ने काश्मीर के अन्दर घुसने का दुस्साहस नहीं किया। इसके दो वर्ष बाद महमूद ने काश्मीर में इसी मार्ग से घुसने का प्रयत्न किया। पर इसमें उसे सफलता न मिली।

उपर्युक्त लड़ाई के वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि जब तक त्रिलोचनपाल इस पहाड़ी मार्ग के ऊपर जमा हुआ बैठा रहा, महमूद उसका कुछ न बिगाड़ सका। उसकी हार तभी हुई जब तुंग की मूर्खता तथा अहंकार के कारण सेना मैदान में उतर आई। कुछ इतिहासज्ञों का कथन है कि त्रिलोचनपाल को इस पहाड़ी द्वार से हटा देने के बाद महमूद काश्मीर के अन्दर घुस गया और वहाँ उसने बड़ी नृशंसता से मार-काट तथा लूटमार की किन्तु यह विश्वसनीय बात नहीं है।

यह पराजय शाही वंश के ऊपर अन्तिम चोट थी जिसने उनका अन्त कर दिया। यद्यपि त्रिलोचनपाल फिर भी कई वर्ष तक अपने खोए हुए राज्य को वापस लेने में प्रयत्नशील रहा किन्तु उसे सफलता न मिली। शाही वंश के राजा बड़े शूरवीर तथा प्रख्यात राजा थे। उनके पराभव का बड़ा गहरा प्रभाव समस्त समकालीन हिन्दू राजाओं पर पड़ा। इस बात के समर्थक कल्हण व अल्बैरूनी कहते हैं कि हिन्दू शाही वंश नष्ट हो चुका है और इस वंश का कोई चिह्न अब शेष नहीं है। परन्तु हमें यह मानना पड़ता है कि अपने सारे जीवन में उन लोगों ने कभी भी उच्चकोटि के तथा भले कामों को करने में कोई कोर-कसर नहीं की। वे सब अत्यन्त सज्जन थे और उनका व्यक्तित्व बहुत महान था। अल्बैरूनी के कथन से विदित है कि शाही वंश के अन्तिम लोग पंजाब से निकाले जाने के बाद भीमपाल के नेतृत्व में लाहौर के निकट जा रहे और भीमपाल १०२६

में लड़ते हुए मारा गया। कल्हण का कथन है कि इस घटना के बाद शाही राज-कुमार काश्मीर दरबार के आश्रय में चले गए और लौहारा राजाओं के शासन में उनका कुछ हाथ रहा। इस अवसर पर भी महमूद ने लाखों हिन्दुओं को पकड़ कर गुलाम बनाया और उनको गज़नी ले गया। एक समकालीन मुसलमान लेखक के शब्दों में गज़नी में गुलामों की इतनी भीड़ थी कि वे कौड़ियों के मोल बेचे जाते थे और ऐसे लोग जो कभी अपने देश में अत्यन्त प्रतिष्ठित तथा श्रीमान थे, गज़नी में जाकर उनको साधारण दुकानदारों और व्यापारियों के यहाँ गुलाम बनकर रहना पड़ा। किन्तु उपर्युक्त मुसलमान लेखक कहता है कि यह सब ईश्वर की कृपा ही थी जो स्वयं अपने धर्म को प्रतिष्ठित करता है और कुफ़्र का सर नीचा करता है। इस प्रकार यह तुर्की आततायी बिना किसी प्रकार का भेद किए हुए, छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, सभी को असंख्य तादाद में हर बार पकड़ ले जाता था। इस सम्बन्ध में हम प्रो० मोहम्मद हबीब के इन आक्रमणों के बारे में एक नए तथा अत्यन्त विचारणीय सिद्धान्त का निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं। उक्त, विद्वान का मत है कि मुसलमानों के भारत पर जितने भी हमले हुए उनकी सफलता का एकमात्र कारण यह भी था कि भारतवर्ष में जातिपरक, पूंजीपतिवर्ग निम्न तथा अंत्यज जातियों पर अनेक प्रकार के अन्याय का व्यवहार कर रहा था। इस निम्न जातिवर्ग को प्रो० हबीब ने मार्क्स (Marx) के शब्दों में श्रमजीवीवर्ग का स्थान दिया है और उनका कहना है कि मुसलमान आक्रान्ता इस पद-दलित बहुसंख्यक श्रमजीवीवर्ग के लिए इस्लामी समानता तथा सामाजिक स्वतन्त्रता का संदेश लेकर आए और जैसे ही उन्होंने अपने समाजवादी सिद्धांत का नरसिंगा फूंका, यह सारा श्रमजीवीवर्ग एकदम उनके साथ जा मिला और अपने देशवासियों की सहायता करने के बजाय इस वर्ग ने इन आक्रान्ताओं की सहायता की क्योंकि ये लोग इन श्रमजीवियों को भारतीय पूंजीपतियों के अत्याचारों से मुक्त करने तथा उनका उद्धार करने के लिए आए थे। इस विषय पर आदरणीय प्रोफेसर ने बड़े विस्तार से अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।* इस विषय का सविस्तार विवेचन करने का तो यहाँ स्थान नहीं है किन्तु आक्रांताओं के उपर्युक्त कारनामों को ध्यान में रखते हुए यह समझना कठिन है कि वे कौन से आधार हैं जिनसे प्रो० हबीब ने यह निष्कर्ष निकाल दिया कि मुसलमान आक्रान्ता पद-दलितवर्ग को स्वाधीनता तथा समानता का संदेश देने आए थे।

**महमूद और भीमपाल**—१०१३ में महमूद ने त्रिलोचनपाल के पुत्र भीम पर जिसको सब लोग निडर भीम कहते थे, हमला किया। शाही वंश के राजा महमूद के आक्रमणों के कारण काश्मीर भाग गए थे तथा आनन्दपाल ने महमूद से सन्धि भी कर ली थी। भीम ने इस नीति का अनुसरण न किया। इसी कारण महमूद का

*देखो, 'इलियट' खण्ड २ (द्वितीय मुद्रण व संस्करण, अलीगढ़) की प्रोफेसर मुहम्मद हबीब-लिखित भूमिका।

हमला हुआ। भीम ने नन्दना के ऊपर मरगला के दर्रे के पीछे अपनी सेना जमा दी और जब उसके अन्य मित्र व सहायक आ गए तो वह लड़ने के लिए मैदान में निकल आया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में राजा की फौज हार गई और भाग निकली। भीम भी भागकर काश्मीर की घाटी में जा छिपा। महमूद ने नन्दना के दुर्ग को अधिकार में लेकर उसमें अपनी एक सेना नियुक्त कर दी। सुलतान ने कुछ समय तक भीम का पीछा किया परन्तु काश्मीर की उपत्यका से वह वापस लौट आया।

अगले वर्ष महमूद ने काश्मीर पर फिर हमला किया किन्तु लोहकोट के किले पर उसका इतना दृढ़ विरोध हुआ कि महमूद को अपने जीवन में पहली बार एक हिन्दुस्तानी सेना से हार मानकर लौटना पड़ा, साथ ही एक और आपदा आई। जेहलम नदी को पार करते हुए उसके सैकड़ों सैनिक जेहलम की बाढ़ में बह गए और वह स्वयं भी बड़ी कठिनाई से बचा।

इस क्षति की पूर्ति उत्तर-पश्चिम में हुई। ख्वारिज़्म के शासक को उसने अपनी बड़ी बहन ब्याह दी थी। परन्तु उसके खाविन्द को बागियों ने मार डाला। महमूद इन लोगों से बदला लेने के लिए गया और ख्वारिज़्म को अपने साम्राज्य में मिलाकर उस पर अपना एक शासक नियत कर दिया।

**गंगा-जमुना के प्रदेशों पर हमलों का आरम्भ**—महमूद ने गंगा-जमुना के दोआब के मन्दिरों की अतुल सम्पत्ति का हाल बहुत पहले सुन रखा था और वह एक दिन उस सम्पत्ति को लूटने का स्वप्न देखता था। थानेश्वर तक पहुँचने के बाद उसने अपने इस स्वप्न को पूरा करने का विचार किया। पंजाब और काश्मीर के राजाओं को वह अपने रास्ते से हटा चुका था। १०१८ के मध्य में वह गजनी से चला और दिसम्बर के शुरू में जमुना को पार करके बरन (बुलन्दशहर) पर जा पहुँचा। बरन का सामन्त राय हरदत्त उसकी महान सेना को देखकर हतोत्साह हो गया और उसने इसी में बुद्धिमानी समझी कि आक्रान्ता के सामने सर झुका दिया जाए। वह अपनी १०,००० सेना को लेकर शहर के बाहर आ गया और उन सबके साथ इस्लाम मत स्वीकार किया। इस नीति से उसने बरन को लूट-मार से बचा लिया और महमूद जमुना के किनारे महावन जा पहुँचा। इस स्थान का शासक राय कुलचन्द हरदत्त के समान भीरू न था। उसने महमूद से लड़ने की तैयारी की। किन्तु परास्त हुआ, और उसकी भागती हुई सेना के बहुत-से आदमी जमुना में डूब गए। वीर कुलचन्द राय ने अपने-आपको बन्दी होने के अपमान से बचाने के लिए अपनी स्त्री व बेटे को मारकर स्वयं आत्महत्या कर ली।

**मथुरा का विध्वंस**—महावन के शासक को नष्ट करने के बाद महमूद का मार्ग मथुरा पर पहुँचने के लिए साफ हो गया। उसने हिन्दुस्तान पर अब तक जितने शहरों पर आक्रमण किए थे उनमें मथुरा नगरी सबसे प्राचीन तथा पवित्र समझी जाती थी। यह नगरी बहुत विशाल थी और बड़े-बड़े जगत-विख्यात सैकड़ों

मन्दिर उसके अन्दर थे जो अनन्त धन व सम्पत्ति से भरपूर थे। उसके चारों ओर भारी-भारी पत्थरों की दीवार थी जिसके दो बड़े-बड़े द्वार नदी के किनारे पर खुलते थे। बड़े-बड़े सार्वजनिक मन्दिरों के अतिरिक्त हज़ारों घरों में देवालय थे जिनकी चुनाई विशेष रूप से सुदृढ़ थी ताकि नदी की बाढ़ से उनको कोई हानि न पहुँचे। इसी प्रकार अन्य हज़ारों घर बहुत बड़े-बड़े काष्ठ-स्तम्भों के ऊपर बने हुए थे। नगर के बीचोंबीच सबसे बड़ा व मजबूत मन्दिर था। महमूद ने उसको देखकर कहा कि उस मन्दिर का न तो वर्णन किया जा सकता है न ही चित्र बनाया जा सकता है। नगर-निवासियों का विश्वास था कि उसका मनुष्यों ने नहीं देवताओं ने निर्माण किया था। इससे यह भी अनुमान होता है कि यह मन्दिर अति प्राचीन रहा होगा। महमूद ने देखा कि यह नगर जनसंख्या तथा अपने भवनों की दृष्टि से अनुपम था। उसकी अनेक अद्‌भुत वस्तुएँ तथा वैभव वर्णनातीत थीं। इन भवनों के विषय में उसने अपने अमीरों को गज़नी पत्र भेजे जिनमें कहा कि यहाँ पर हज़ारों गगनचुम्बी भवन हैं जो भारी-भारी प्रस्तर-शिलाओं से बने हुए हैं। मन्दिरों की तो गणना करना ही कठिन है। यदि कोई इन भवनों आदि को बनाना चाहे तो उसको करोड़ों दीनार खर्च करना पड़ेगा और उच्चतम कोटि के शिल्पियों को कम-से-कम २०० वर्ष तक काम करना होगा। इस नगर की इतनी महिमा को देखकर महमूद थोड़ी देर के लिए ठिठका, किन्तु अन्त में उसको इसे विध्वंस करने का निश्चय करना ही पड़ा। आज हम बड़ी कठिनाई से यह अनुमान कर सकेंगे कि इन भवनों को तोड़ने में भी महमूद की सेना को कितना परिश्रम करना पड़ा होगा। मथुरा को ध्वस्त करने के बाद महमूद ने वृन्दावन के सात गगनचुम्बी किलों तथा अन्य भवनों को भी धराशायी किया। दोनों स्थानों से महमूद ने अतुल धन-सामग्री इकट्ठी की। कहा जाता है कि केवल स्वर्ण-मूर्तियों से ही उसको लगभग ९८,३०० मिस्काल (लगभग १६ मन सोना) प्राप्त हुआ। चाँदी की मूर्तियाँ इतनी बड़ी-बड़ी थीं कि बिना तोड़े हुए उनको तोला नहीं जा सकता था। इस अनन्त लूट में उसको दो लाल (मणि) इतने बड़े-बड़े मिले कि जिनका मूल्य ५,००० दीनार था और एक नीलम जिसका वजन ४५० मिस्काल (लगभग ४ तोला) था।

मथुरा नगरी उस समय दिल्ली के राजा तँवर विजयपाल के राज्य के अन्तर्गत थी। ऊपर कहा जा चुका है कि महमूद ने एक बार दिल्ली पर हमला करने का इरादा किया था और वह तरारोई अथवा तरावड़ी तक पहुँच गया था। इस स्थान पर उसको किसी हिन्दू राजा की बड़ी सेना ने रोका और दोनों के बीच में घोर युद्ध हुआ। इसके बाद महमूद वहीं से लौट गया। इसीसे जान पड़ता है कि जब महमूद बरन होता हुआ मथुरा की तरफ गया तो उसने दिल्ली पर हमला करने की आवश्यकता न समझी। यह भी अनुमान करना निराधार न होगा कि तँवर वंशी राजा ने महमूद के नृशंस हाथों से मथुरा को बचाने की हिम्मत न की, क्योंकि वही शायद तरावड़ी के मैदान पर उससे लड़ा था और परास्त हुआ था। उसने यह भी

देख लिया था कि पंजाब के शाही तथा काश्मीर व कांगड़ा आदि के सब ही भूपति इस आक्रमण के सामने हार चुके थे और शाहियों का तो वंश भी लुप्तप्राय हो गया था। यह भी विचारणीय बात है कि कन्नौज के प्रतिहार राजा ने मथुरा की रक्षा करने का प्रयत्न क्यों नहीं किया। इसका उत्तर हमें अनुमानतः यही जान पड़ता है कि तँवर लोग जो कन्नौज के सामन्त थे, १०वीं सदी में स्वतन्त्र हो गए थे। स्वभावतः उनके और प्रतिहारों के बीच वैमनस्य की आग भड़क रही होगी। इसी कारण से उन्होंने तँवरों की कोई सहायता न की हो। किन्तु वास्तविक कारण प्रतिहार राज्यपाल के मथुरा की रक्षा के न आने का तो स्पष्ट है। वह इतना भीरु था कि जब महमूद ने उसकी राजधानी पर हमला किया तो डर के मारे वह नगर को अरक्षित छोड़कर भाग गया। कलचुरि, चन्देल, परमार भोज आदि ने मथुरा की क्यों नहीं सहायता की इसका उत्तर हमारी समझ में नहीं आता। महमूद गजनवी के अन्य हमलों का वृत्तान्त देने से पहले तत्कालीन उत्तर भारतीय राज्यों का इतिहास देना आवश्यक है।

**गुरजर-प्रतिहार वंश**—गुरजर-प्रतिहार वंश का पूर्व इतिहास दिया जा चुका है। दसवीं सदी के पूर्वार्ध में महीपाल प्रथम (९१४-९४३) ने अपने साम्राज्य को थोड़े दिन तक सुरक्षित रखा किन्तु जब ९१६ में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने महीपाल को पूरी तरह परास्त किया तब से गुरजर-प्रतिहार सत्ता की अवनति शुरू हो गई। भाग्य से अगले ही वर्ष राष्ट्रकूट विजेता परलोकवासी हो गया जिससे गुरजर-प्रतिहार राज्य को वह अधिक हानि न पहुँचा सका। महीपाल ने अपने चन्देल सामन्तों की सहायता से अपने साम्राज्य की छिनी हुई भूमि बहुत-कुछ वापस ले ली। तथापि उनका प्रताप विलुप्त हो चुका था और साम्राज्य का मान-प्रतिष्ठा केवल नाम के लिए रह गई थी। महीपाल के बाद इस वंश में कई अयोग्य राजा हुए। इन्हींके समय में उनके सामन्त यशोवर्मन चन्देल ने विष्णु की मूर्ति को देवपाल प्रतिहार से छीन लिया। इसी समय से चन्देल वस्तुतः स्वतन्त्र हो गया। दसवीं सदी के उत्तरार्ध में प्रतिहारों की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई और परमार तथा चन्देलों का उत्कर्ष हुआ। यह दोनों तथा अन्हिलवाड़ा के सोलंकी और त्रिपुरी के कलचुरि प्रतिहारों के सामन्त थे परन्तु सभी इस समय में स्वतन्त्र हो गए थे। प्रतिहार वंश का अन्तिम प्रसिद्ध राजा राज्यपाल दसवीं सदी के उत्तरार्ध में किसी समय गद्दी पर विराजमान हुआ परन्तु उसका राज्य अत्यन्त संकुचित हो चुका था जिसकी सीमा गंगा और जमुना के बीच परिमित थी। जिस समय महमूद गजनवी ने कन्नौज के राज्य पर हमला किया, प्रतिहार राजा राज्यपाल ने बिना कोई विरोध किए उसके आगे सर झुका दिया। तिस पर भी उस निर्दयी तुर्क ने कन्नौज के नगर को न छोड़ा। उसने उसको भी जी भरकर लूटा तथा विध्वंस किया। हम ऊपर कह आए हैं कि फ़िरिश्ता का यह कथन कि महमूद के विरुद्ध आनन्दपाल शाही को हिन्दुस्तान के राजाओं ने सहायता दी थी, सर्वथा निराधार है। यह बात राज्यपाल की इतनी

निर्बलता से भी प्रमाणित होती है। इस घटना का पूरा हाल आगे दिया जाएगा।

महमूद के लौट जाने के बाद राज्यपाल के ऐसे कायरतापूर्ण व्यवहार से क्रुद्ध होकर चन्देल नृपति विद्याधर ने उसे दण्ड देने के लिए हमला किया और राज्यपाल मारा गया। इस प्रकार गुरजर-प्रतिहार वंश का अपयशपूर्ण अन्त हुआ।

**गहरवाल वंश**—सन् १०९० में कन्नौज पर गहरवाल वंशी चन्द्रदेव ने अधिकार कर लिया और अपने वंश की स्थापना की। प्रतिहार वंश के राजा शैव तथा वैष्णव पंथी थे और विशेष रूप से भगवती के पुजारी थे।

गहरवाल वंश का उद्गम निश्चित नहीं है किन्तु यह सिद्धान्त कि वे राष्ट्रकूट वंश के थे, निराधार है। इस वंश के प्रवर्तक चन्द्रदेव ने लगभग १०८० से ११०० तक बनारस, अयोध्या तथा कन्नौज के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसके बाद मदनचन्द्र तथा मदनचन्द्र के पुत्र गोविन्दचन्द्र (१११४-५५) के समय में इस वंश का बहुत उत्कर्ष हुआ। गोविन्दचन्द्र के ४० से अधिक अभिलेख मिलते हैं जिनके आधार पर उसकी विस्तृत भूमि तथा बढ़ती हुई शक्ति का ज्ञान होता है। उसने गज़नी वंश के लाहौर के शासक पर तथा पूर्व में पाल और फिर सेन राज्यों की भूमि पर पटना तथा मुंगेर तक हमले किए। चन्देल और चोल राजाओं से उसकी मैत्री थी किन्तु कलचुरियों से उसकी शत्रुता थी। उसीने तुरुष्कदण्ड नामक एक नया कर जनता से वसूल किया जो सम्भवतः मुसलमानों के आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए लगाया गया हो। यह भी सम्भव है कि यह कर उन मुसलमानों के ऊपर लगाया गया हो जो तुर्की आक्रमणों के बाद देश में बस गए थे। गोविन्द्रचन्द्र के समय में साहित्य और कला को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। उसके सिक्कों से विदित होता है कि वह शैव था। परन्तु अन्य सम्प्रदायों के प्रति उसका व्यवहार उदारतापूर्ण था क्योंकि उसकी चार रानियों में से कुमारदेवी बौद्ध थी। उसके मन्त्री लक्ष्मीधर ने 'स्मृति-कल्पतरु' नामक दण्डनीति का एक वृहद ग्रंथ लिखा था।

गोविन्दचन्द्र के बाद उसका तीसरा पुत्र विजयचन्द्र (११५५-७०) में गद्दी पर बैठा और विजयचन्द्र के बाद जयचन्द्र (११५५-९३)। महाकवि हर्ष इन दोनों का समकालीन था और वे उसका बड़ा आदर एवं परिपोषण करते थे। महाकवि हर्ष ने प्रख्यात ग्रंथ 'नैषध' तथा अद्वैतवाद सिद्ध करने के हेतु 'खण्डन खण्ड खाद्यक' नामक वृहद ग्रंथ रचा था।

जान पड़ता है कि जयचन्द्र ने दक्षिण बिहार पर सेन राजाओं के विरुद्ध अपने अधिकार को बनाए रखा। उसके और पृथ्वीराज चौहान के परस्पर वैमनस्य तथा संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि पृथ्वीराज उसकी पुत्री संयोगिता को स्वयंवर से हर लाया था और जयचन्द्र इसके विरुद्ध था। इसी कारण उसने चौहानों के विरुद्ध चन्देलों से मेल किया। ११९३ के अन्तिम दिनों में मुहम्मद गूरी ने, पृथ्वीराज चौहान को नष्ट करने के बाद जयचन्द्र पर चढ़ाई की और चन्द्रवर के

निकट (इटावा ज़िला) इसको पूरी तरह परास्त किया। इसके बाद गहरवाल वंश का प्रायः अन्त हो गया, यद्यपि उनके वंशज गंगा के पार एक छोटी-सी रियासत पर शासन करते रहे। गहरवाल राजाओं के अभिलेखों से विदित होता है कि विजयचन्द्र ने दिग्विजय की थी और लाहौर के हमीर से युद्ध करके उसको परास्त किया था। किन्तु अन्य तत्कालीन राजपूतों के समान गहरवाल राजा भी अपने कृत्यों के विषय में अत्यन्त अतिशयोक्ति से काम लेते थे। वास्तव में उनकी दिग्विजय केवल अपने आसपास के थोड़े-से प्रदेशों तक ही सीमित थी। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि तत्कालीन अन्य बड़े-बड़े योद्धाओं तथा अपने कारनामों के डंके बजानेवाले चंदेल और चौहान सरीखे नृपतियों के समान ही गहरवाल राजा भी लाहौर के छोटे-से राज्य से ग़ज़नवी वंश के अत्यन्त कृश एवं बलहीन शासक खुसरो को भी देश से न निकाल सके। याद रहे कि उस समय विदेशी मामलों से देश और धर्म की रक्षा करने के लिए लाहौर से विदेशी शासन को हटाना अथवा नष्ट करना तथा उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश को सुदृढ़ तथा सुरक्षित करना इन उत्तर भारतीय रणवीरों का सर्वोच्च कर्तव्य एवं सर्वप्रथम कर्त्तव्य था। किन्तु जैसा हम अनेक बार देख चुके हैं अपने इस एकमात्र कर्तव्य के ज्ञान अथवा उसकी चिन्ता से ही यह राजागण बहुत दूर थे।

**जेजाभुक्ति के चंदेल (प्रायः १००० से १२०० तक)**—धंगदेव चंदेल तक का वृत्तान्त हम पहले दे चुके हैं। सन् १००२ और १००३ के बीच किसी समय धंगदेव का पुत्र गंडदेव सिंहासनारूढ़ हुआ। इस प्रकार विदित होगा कि गंडदेव महमूद ग़ज़नवी का समकालीन था। गंडदेव ने अपने युयुत्सु पिता की लड़ाकू नीति का अनुसरण किया। आधुनिक इतिहास-लेखक प्रायः सभी यह लिखते चले आए हैं कि जब १००८ में महमूद ने लाहौर के शासक आनन्दपाल पर चढ़ाई की तो कालंजर, ग्वालियर, कन्नौज, अजमेर आदि के राजाओं ने आनन्दपाल की सहायता की। इस विषय की पूर्णरूप से तो विवेचना ऊपर की जा चुकी है और यह दिखलाया जा चुका है कि यह धारणा सर्वथा निर्मूल जान पड़ती है। गंड के समय में चन्देलों का राज्य पश्चिम में चम्बल नदी के पूर्वी तट तक फैल चुका था तथा ग्वालियर का शासक भी चन्देलों को कर देता था। सन् १०१९ में जब महमूद ने कन्नौज के राज्यपाल पर हमला किया और उस राजा ने तुरत उसकी अधीनता स्वीकार कर ली तो हिन्दुस्तान के नरेशों को उसकी इस कायरता पर अत्यन्त रोष आया। तब उसके पुत्र विद्याधर ने कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। (इसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं) गंड का यह आचरण जब महमूद को मालूम हुआ तो उसने तुरत गंड पर चढ़ाई करने के लिए कूच किया। गंड तथा उसके राजकुमार विद्याधर को इस चढ़ाई की सूचना मिलते ही उन्होंने एक विशाल सेना लेकर महमूद को रोक देने के लिए प्रस्थान किया। तत्कालीन लेखकों के अनुसार गंड की सेना में ३६,००० घुड़सवार, १,४५,००० पैदल तथा लगभग ४०० हाथी थे। महमूद ने पहले

तो गहरवालों के अन्तिम केन्द्र बारी को खूब लूटा और फिर वह गन्ड का मुकाबला करने के लिए लौटा। इब्नुल अतहर के अनुसार गन्ड की सेना के पास महमूद एक नदी के तट पर पहुँचकर डट गया। महमूद और गंड दोनों ने अपनी पैदल सेना की एक-एक टुकड़ी आगे भेजी; दोनों में भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया। रात होने पर दोनों सेनाएँ अपने-अपने शिविरों को वापस लौट गयीं। 'तबकाते अकबरी' के लेखक निज़ामुद्दीन के अनुसार महमूद ने गंड के पास संदेशा भेजा था कि वह तुरन्त उसके सामने सर झुका दे और इस्लाम स्वीकार कर ले। किन्तु गंड ने इस प्रस्ताव को घृणा के साथ ठुकराकर युद्ध की तैयारी की। इस समय महमूद गंड के सैन्य-शिविर का अनुमान करने के लिए एक ऊँचे टीले पर गया और उसने देखा कि जहाँ तक उसकी दृष्टि जा सकती थी उसे गंड की सेना ही से सारा मैदान भरा दिखाई दिया। वह यह दृश्य देखकर भयभीत हो गया और अपनी जल्दबाजी पर उसको पश्चात्ताप हुआ। इस संकट के समय में उसने ईश्वर से प्रार्थना की और सहायता माँगी। निज़ामुद्दीन का यह कथन कि गंडदेव महमूद की सेना को देखकर इतना भयभीत हुआ कि रात्रि के अंधकार में अपने सब शस्त्र-अस्त्र आदि को छोड़कर भाग निकला, किसी प्रकार भी विश्वसनीय नहीं है। इन राजपूत रणवीरों में रणकौशल की चाहे जितनी कमी रही हो, किन्तु मैदान छोड़कर भागना यह लोग स्वप्न में भी नहीं जानते थे और गंड जैसे वीर तथा साहसी योद्धा से ऐसा सम्भव नहीं था। इसके प्रतिकूल इब्नुल अतहर का यह कथन अधिक विश्वसनीय है कि दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ किन्तु यह निर्णय नहीं हो सका कि किसकी विजय हुई। अन्त में अमावस्या के अन्धकार में चन्देल राजा अपनी सेना के साथ वापस लौट गया। इसका कारण यह हो सकता है कि गंड को यह विदित हो गया हो कि पंजाब में देश-द्रोहियों का एक व्यापक अड्डा बन गया था। जो हो, महमूद भी रणक्षेत्र में अधिक जमे रहने का साहस न कर सका और उसने भी अपनी सेना को समेटकर वापस अपने देश का रास्ता लिया।

इस अनुभव से पूरा लाभ उठाकर महमूद ने गंड की शक्ति का पूरी तरह अनुमान कर लिया और उसने तदनुकूल तैयारी करनी शुरू कर दी। विपुल शक्ति संचित करके उसने कालंजर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। पहले वह ग्वालियर पहुँचा और उसका घेरा डाला, ग्वालियर के शासक अर्जुन ने जो चन्देल राजा का सामन्त था, चार दिन तक महमूद का सामना किया और अन्त में अपनी हार मान ली और आक्रान्ता को बहुत से हाथी भेंट किए।

ग्वालियर से चलकर महमूद ने कालंजर का घेरा डाला। कालंजर का दुर्ग उत्तर भारत के दुर्गों में अपनी कठोरता तथा अजेयता के लिए प्रख्यात था। कहा जाता है कि इस दुर्ग में ५,००,०००, आदमियों, २०,००० पशुओं और ५०० हाथियों के ठहरने को स्थान था। इसमें शस्त्रास्त्र तथा खान-पान आदि की अन्य आवश्यक सामग्री पर्याप्त मात्रा में रहती थी। महमूद ने इस दुर्ग के चारों ओर के मार्ग तथा आयात-निर्यात बन्द कर दिए ताकि दुर्ग की सेना को भूखों मार कर आत्म-समर्पण

करने पर मजबूर कर दे। परन्तु दुर्ग में सामग्री पर्याप्त थी जिसके कारण यह घेरा बहुत दिन तक चलता रहा। किन्तु अन्त में चन्देल राजा को सन्धि का प्रस्ताव करने के लिए विवश होना पड़ा। गंड ने तुर्कों की बहादुरी की परीक्षा लेने के लिए ३०० हाथी बाहर छुड़वा दिए। महमूद ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि वह उनको पकड़कर उन पर सवारी करें। सैनिकों ने सारथी-विहीन हाथियों पर सवारी कर ली। गंड इनकी वीरता से अत्यन्त प्रभावित हुआ और स्वयं एक कविता सुलतान की प्रशंसा में लिखकर उसके पास भेजी। महमूद के लश्कर में कुछ कवि और विद्वान भी थे। उन्होंने कालंजर और गजनी के शासकों का सम्मिलित गुणानुवाद किया। गंडदेव के इस वीरोचित आचरण से महमूद स्वयं विस्मित तथा प्रभावित हुआ और उसके पास बधाई भेजी तथा अन्य बहुमूल्य उपहार आदि भेंट किए। इस युद्ध के इस प्रकार अन्त होने से सुलतान को बड़ा सन्तोष हुआ और वह १०२३ के अन्त तक गजनी लौट गया।

**विद्याधर**—गंडदेव के बाद लगभग १०२५ में उसका पुत्र विद्याधर गद्दी पर बैठा। मुसलमान इतिहासकारों ने एक राजा नन्द का वर्णन किया है और कुछ आधुनिक लेखक भी इस भ्रम में पड़ गए हैं कि नन्द गंड का स्खलित रूप है। किन्तु यह धारणा उचित नहीं है। इसके प्रतिकूल इब्नुल अतहर ने जिस बिदा अथवा बीदा का निर्देश किया है, वह विद्याधर जान पड़ता है। विद्याधर अपने पिता के समय में ही एक उत्तराधिकारी के समान कार्य करने लगा था।

कन्नौज के शासक राज्यपाल के कायरतापूर्ण व्यवहार पर उसको दण्ड देने के लिए गंडदेव ने विद्याधर को ही सैन्य-संचालक बनाकर भेजा था। इस आधार पर यह निष्कर्ष भी निकलता है कि डा० राय ने जो विद्याधर का १०२९ में राजगद्दी पर बैठना माना है, वह अशुद्ध है। विद्याधर १०२५ के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ था। पर इतना अवश्य है कि अपने पिता के समय में चन्देल साम्राज्य के विस्तार, शक्ति तथा प्रतिष्ठा को अत्यन्त उत्कृष्ट स्तर तक पहुँचाने में राजकुमार विद्याधर का बहुत कुछ हाथ था। गंड के समय में गंगा-यमुना के दोआब का प्रदेश चन्देल साम्राज्य में मिला लिया गया तथा बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को करद तथा सामन्त बनाया गया। विदेशी आक्रान्ताओं का सामना भी चन्देलों ने बड़ी वीरता के साथ किया। यद्यपि अन्य राजपूत राजाओं के समान इन लोगों ने भी किसी प्रकार की सैनिक दूरदर्शिता नहीं दिखलाई और जब तक विदेशी आक्रामक हजारों मील देश को पार करके इनके सर पर ही न आ गए तब तक इनको भी अपनी रक्षा करने की न सूझी। बाकी देश की तो कौन कहे।

विद्याधर के विषय में शिलालेखों पर उसी प्रकार अतिशयोक्ति से उसके प्रताप तथा कीर्ति का वर्णन किया गया है जिस प्रकार तत्कालीन अन्य राजाओं के बारे में उनके निजी भाट तथा चारण आदि करते थे। कहा गया है कि त्रिपुरी का गांगेयदेव तथा जगत-विख्यात परमार सम्राट भोजदेव दोनों शिष्य की भाँति

व्याकुल होकर विद्याधर की पूजा करते थे। इतना ही नहीं यह गौरव उसने अपने पिता गंडदेव के शासन-काल में ही प्राप्त कर लिया था। दूसरी ओर जब हम परमार तथा कलचुरि राजाओं के वृत्तान्त पढ़ते हैं, तो उनमें हमको यह सूचना मिलती है कि भोज तथा अमर गांगेयदेव ने अपने समकालीन नृपतियों को नीचा दिखाया था और उनको अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर विवश किया था ; यहाँ तक कहा गया है कि गांगेयदेव ने प्रयाग तथा बनारस तक अपना राज्य फैला दिया था और पंजाब, बंगाल एवं उड़ीसा तक चढ़ाइयाँ की थीं। विद्याधर चन्देल जैसे प्रतापी तथा वीर राजा के रहते हुए गांगेयदेव ने किस प्रकार उसके राज्यान्तर्गत प्रयाग व काशी आदि नगरों पर अधिकार कर लिया, यह बात समझ में नहीं आती। किन्तु सन् १०३३ में जब न्यालत्गीन ने लाहौर से चलकर गंगा और यमुना को पार करके सातसौ मील तक समस्त भूमि को रौंदते हुए बनारस को जा लूटा और हजारों मन्दिरों को बरबाद करके तथा अगण्य लूट का माल लेकर वह अपनी सारी सेना के साथ सही-सलामत लाहौर लौट गया, उस समय भारत के उन योद्धाओं तथा यशस्वी विधाताओं के कानों पर मानों जूं भी न रेंगी। संसार भर के इतिहास में निश्चय ही इस प्रकार की शिथिलता तथा अकर्मण्यता का दूसरा उदाहरण मिलना असम्भव है। इस प्रकार की अनेक घटनाओं को देखते हुए इन राजाओं की दूर-दूर तक विजयों तथा चढ़ाइयों का यशगान करते हुए प्रशस्तियों व अभिलेखों में जो इनके चापलूस भाटों ने ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाए हैं वे सब कपोल-कल्पना मात्र हैं।

**महमूद गजनवी के अन्य आक्रमण**—ऊपर हम चन्देलों के वर्णन के साथ-साथ महमूद के कालंजर तक के आक्रमण का वृत्तान्त दे आए हैं। मथुरा के हमले के बाद महमूद ने एक दूरदर्शी सैनिक के समान यह विचारा कि यदि हिन्दुस्तान में कालंजर व कन्नौज के आगे घुसने की योजना बनाई जाए तो यह आवश्यक होगा कि अपनी सैनिक पीठिका (military base) को गज़नी से आगे बढ़ाकर पंजाब में किसी भी स्थान पर स्थापित किया जाए। इस कार्य के लिए उसने लाहौर को चुना और सन् १०२१ में वह गज़नी से एक बड़ी संख्या में बढ़ई, लोहार और संगतराशों को अपने साथ लेकर पंजाब पर शासन-व्यवस्था की स्थापना करने के उद्देश्य से आया। इन कारीगरों व शिल्पियों को वह उपयुक्त सामरिक नाकों पर किले आदि बनवाने के लिए लाया था। स्वात बाजोर व का फरिस्तान के निवासियों ने तब तक उसका प्रभुत्व नहीं माना था और न ही इस्लाम धर्म ही ग्रहण किया था। वे अभी तक 'शाक्यसिंह' के रूप में बुद्ध-प्रतिमा की पूजा करते थे। इस बार महमूद ने बड़ी क्रूरता से उन सबका दमन किया और उनको मुसलमान बनाया। आगे बढ़कर महमूद ने एक बार फिर लोहकोट के दुर्ग को लेने का प्रयत्न किया किन्तु उसे इसमें सफलता न मिली। महमूद ने पंजाब में लूट-खसोट की नीति को छोड़कर लाहौर में एक तुर्क अमीर अयारूक नामक को शासक बनाया और एक

काजी तथा सेनापति भी नियुक्त किए। प्रान्त के अन्य विभागों पर भी शासक नियत किए गए और हर प्रकार से शान्तिमय शासन स्थापित करने की योजना की गई। इसके बाद महमूद ने जितनी चढ़ाइयाँ भारत पर कीं उनमें लाहौर व पंजाब प्रान्त के रणपीठ होने से उसको बड़ी शक्ति प्राप्त होती थी।

**कन्नौज पर चढ़ाई (१०१९ के लगभग)**—मथुरा के विध्वंस का हाल ऊपर लिखा जा चुका है। वहाँ से महमूद अपने चुने हुए तथा अनुभवी सैनिकों को लेकर कन्नौज पहुँच गया। हर्ष के काल से ही यह नगर बराबर उत्तर भारत के साम्राज्य का केन्द्र रहा था। उसकी रक्षा के लिए सात गढ़ थे और १,००० के करीब मन्दिर उसके अन्दर थे। महमूद के आने की सूचना पाते ही राज्यपाल कन्नौज को अनाश्रय छोड़कर गंगा के पार भाग गया। महमूद ने पहले तो सातों किलों पर अधिकार किया और फिर उस अनाथ नगरी को खूब लूटा। फिर उसने आगे बढ़कर आसनी के किले का भी विध्वंस किया। आसनी का किला कन्नौज से दक्षिण की ओर आधुनिक फतेहपुर के निकट था। इसके और आगे चलकर महमूद ने 'मझवन' के दुर्ग और नगर पर धावा बोला। परन्तु यहाँ उनको इतनी आसानी से सफलता न हुई। मझवन के सैनिक इतने बलवीर्य से लड़े कि महमूद की सेना को चकित कर दिया और केवल सख्या में कम होने के कारण जब उन्होंने देखा कि बचने की कोई आशा नहीं है, तो अपने स्त्री, बालकों को आग में झोंक कर, भयानक मार-काट करते हुए एक एक कट मरे। एक लेखक के अनुसार यह दुर्ग भयानक नामी था जो बाद में जफराबाद कहलाया। इसको नष्ट करने के बाद महमूद ने 'शर्वा' के दुर्ग और नगर को भी लूटा। यह नगर शायद कालंजर और बांदा के बीच में किसी जगह था। इस नगर का राजा भी महमूद के निकट आने पर भाग निकला और अपनी सेना को लेकर जंगल में जा छिपा। परन्तु महमूद ने उसको न छोड़ा। वह जंगल और पहाड़ के दुष्कर रास्तों को चीरता हुआ चला और "शर्वा" के राजा पर अकस्मात रात के समय टूट पड़ा। उसकी सेना को परास्त करके विजेता ने उसके हाथी तथा अन्य सब सामग्री छीन ली। इस अनर्थक तथा लम्बी चढ़ाई के बाद जब महमूद गज़नी वापस लौटा, तो उसके पास लूट की अनन्त सम्पत्ति के अतिरिक्त इतने बन्दी किए हुए दास-दासियाँ थीं कि गज़नी के बाज़ारों में उनको दो-तीन दिरहम तक मूल्य पर बेचा गया। इसके समय में दूर-दूर के व्यापारी गज़नी आए और उन दासों को मोल ले गए जिसका परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया, खुरासान तथा इराक के नगर इन गुलामों से भर गए और गरीब-अमीर, काले-गोरे सब गुलामों के वर्ग में एकसमान मिल गए। इस सम्बन्ध में पाठकों को याद रखना चाहिए कि इस समय चन्देलों की शक्ति का परमोत्कर्ष हो चुका था। उस वंश के सबसे महान लब्ध-कीर्ति राजा गंड और उसका बेटा विद्याधर राज्य कर रहे थे। यह वही विद्याधर है जिसके बारे में प्रशस्तियों में कहा गया है कि कलचुरि के ख्यातनामा गांगेयदेव, मालवा के राजा भोज

दोनों ने शिष्य के समान उसका प्रभुत्व माना था। दूसरी बात यह भी याद रहे कि महमूद के इन कारनामों से प्रो० हबीब के सिद्धान्त का कहाँ तक समर्थन होता है। दूसरी ओर प्रो० हबीब स्वयं लिखते हैं कि महमूद की अद्वितीय विजय का परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के अत्यन्त अभेद्य कोनों के अन्दर तथा हज़ारों झुलसते हुए गाँवों और नगरों के बीच में मुअज़्जिन (अज़ां देनेवाले) की आवाज़ सुनाई देने लगी। महमूद के इस पराक्रम के उपलक्ष में बगदाद के ख़लीफ़ा ने एक विशेष दरबार का आयोजन किया और सैकड़ों नगरों में इस चढ़ाई तथा विजय का वृत्तान्त ऊँचे स्वर से पढ़कर सुनाया गया। धार्मिक मुसलमानों ने बड़े चाव के साथ कल्पना की कि नबी के साथियों ने जो कार्य अरब, ईरान आदि देशों में किया था वही महमूद ने हिन्दुस्तान में कर दिखाया। किन्तु उनकी यह कल्पना बिलकुल निराधार थी। महमूद ने केवल अनन्त धन-सम्पति इकट्ठी की थी, पर अपनी कृतियों से भारतीय जनता के हृदयों में इस्लाम मत के प्रति गहरी घृणा के भाव उत्पन्न कर दिए थे। जिन लोगों को इस्लाम के नाम पर इतनी निर्दयता के साथ लूटा और बेइज्ज़त किया था, वे किस प्रकार इस्लाम को अच्छा मान सकते थे। महमूद ने अपने पीछे लूटे हुए मन्दिर, उजड़े हुए नगर तथा रूँदे हुए खेत ही छोड़े थे। अतएव धर्म के रूप में इस्लाम कलंकित ही हुआ था न कि उत्कृष्ट।*

इसके बाद चन्देल राजा गंडदेव ने भोज परमार तथा कलचुरि गांगेयदेव को मिलाकर कन्नौज के राज्यपाल को इसकी कायरता पर सजा देने के लिए उसपर चढ़ाई की। इस धृष्टता से क्रुध होकर महमूद अगले वर्ष कालंजर पर चढ़ आया। इन सब घटनाओं का वृत्तान्त चन्देलों के इतिहास में ऊपर दिया जा चुका है।

**सोमनाथ पर आक्रमण**—लगभग समस्त उत्तर भारत को २५ वर्ष तक लूटने-खसोटने तथा उजाड़ने के बाद महमूद को कुछ शान्ति मिली। उसने गज़नी में एक विशाल मस्जिद का निर्माण कराया और वह नगर इतने बड़े-बड़े भवनों से भरपूर हो गया कि एशिया भर में उसकी तुलना करनेवाला कोई और नगर न था। महमूद के पास इतनी अनन्त दौलत तथा सेना थी कि मध्य एशिया तथा पश्चिमी देशों के सीरिया तक के शासक उसके आधीन हो गए और उनमें से कई कैद करके हिन्दुस्तान भेज दिए गए जहाँ उन्होंने अपने अन्तिम दिन बड़े दुःख से बिताए। अब उत्तर भारत को वह इतना लूट चुका था कि वहाँ उसके लिए कुछ बाकी न रह गया था। अतः उसने सोमनाथ के जगत-विख्यात मन्दिर पर धावा मारने का निश्चय किया।

**सोमनाथ का मन्दिर**—सोमनाथ का मन्दिर सौराष्ट्र (काठियावाड़) के दक्षिण में समुद्र के किनारे उस स्थान के समीप था जहाँ भगवान कृष्ण ने देह त्याग

*देखो, प्रो० मुहम्मद हबीब कृत 'सुलतान महमूद और गज़नी' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४१

किया था। यह मन्दिर अति प्राचीन तथा उत्तर भारत के तत्कालीन देवालयों में सबसे अधिक आराध्य माना जाता था। कहा जाता है कि उसको भोज परमार ने फिर से बनवाया था और वह इतना विशाल तथा दृढ़ था कि देश भर में उसके समान कोई अन्य मन्दिर नहीं था। उसकी नींव को समुद्र की लहरें स्नान कराती थीं। चिन्तामणि वैद्य का अनुमान है कि जिस मन्दिर को महमूद ने ध्वस्त किया था वह भोज का बनवाया हुआ था और उसकी काँठी काष्ठ (लकड़ी) की थी। महमूद के लौट जाने के बाद उसी स्थान पर सिद्धराज जयसिंह (१०६४-११४४) तथा कुमारपाल (११४४-११७३) ने फिर से इस मन्दिर का निर्माण किया। इस बार मन्दिर पत्थर का बनाया गया। इसको गुजरात के मुसलमान सुलतानों ने १५वीं सदा में तोड़ा। यही पुराना खण्डित मन्दिर है जिसका विवरण १८४३ में एक बाहरी यात्री ने किया है (दे० वैद्य, जि० ३, पृष्ठ ६१, जे० आर० ए० एस० जि० ८, पृ० १७३) फिर उसी स्थान पर इन्दौर की रानी अहल्याबाई ने नया मन्दिर बनवाया था। उसके महत्व का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि देश भर से यात्री उसकी पूजा करने तथा भेंट चढ़ाने आते थे। हिन्दुस्तान के राजाओं ने दस हजार गाँव इस मन्दिर के व्यय के लिए दान कर दिए थे। इसका देवता सोमनाथ इसलिए कहलाता था कि वहाँ सोम अर्थात् चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र इस मन्दिर के चरणों तक खिच आता था। यह नाम शिव का था और उसके अन्दर शिवलिंग अत्यन्त विशाल तथा बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ था। हजारों पुजारी इस मन्दिर में रहते थे जिनके कारण एक उपनिवेश ही बस गया था। प्रायः हिन्दू लोग इस मन्दिर के देवता को भारत के अन्य सब देवताओं का स्वामी मानते थे और अन्य सब देवताओं को उसके प्रतिहारी अथवा भांडागारिक बतलाते थे। इसके देवता को स्नान कराने के लिए प्रतिदिन १२०० मील से गंगाजल पहुँचता था। सोने की एक जंजीर जिसका वजन २०० मन था और जिसमें घण्टे लटके हुए थे, उस मन्दिर के एक कोने में लटकी रहती थी। पूजा के समय ब्राह्मणों को खबर देने के लिए इस जंजीर को हिलाया जाता था। इसके अन्दर देवता को प्रसन्न करने के लिए ५०० नर्तकियाँ अथवा देवदासियाँ तथा २०० गायक रहते थे। पुजारियों का मुंडन इत्यादि करने के लिए ३०० नाई भी वहाँ पर रहते थे। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान के बहुत से राजा अपनी पुत्रियों को भगवान सोमनाथ के अर्पण कर देते थे। यह मन्दिर इतना बड़ा था कि इसका मण्डप ५६ रत्नजटित भारी-भारी स्तम्भों के ऊपर आश्रित था।

फिरिश्ता ने इस मन्दिर के विषय में लिखा है कि हिन्दुस्तान के लोगों का यह विश्वास था कि मरने के बाद मनुष्यों की आत्मा सोमनाथ के देवता के पास आती थी और वह उनको जिस योग्य समझता था उस प्रकार के शरीर में भेजता था। उनका यह भी विश्वास था कि चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र देवता की आराधना करने आता था।

सम्भवतः अक्तूबर १०२४ में एक बहुत बड़ी सेना लेकर जिसमें ३०,००० तुर्की सैनिक भी शामिल थे, महमूद गज़नी से रवाना हुआ और नवम्बर में मुल्तान पहुँच गया था। मुल्तान में ठहरकर उसने एक टुकड़ी गुप्तचरों की इस उद्देश्य से आगे भेजी कि वे रास्ते की हालत का निरीक्षण करके उसको सूचित करें। महमूद का यह आक्रमण सामरिक दृष्टि से बहुत असाधारण था, क्योंकि अब तक जितने आक्रमण उसने किए थे उनमें वह पहले दिल्ली तक पहुँचता था और फिर वहाँ से देश के विभिन्न प्रदेशों में घुसता था। किसी आक्रान्ता ने यह साहस नहीं किया था कि मुल्तान से ही उसके दक्षिण की मरुभूमि में घुस कर सीधा गुजरात या काठियावाड़ तक पहुँच जाए। उसका यह दुस्साहस उसकी सामरिक क्षमता का भी परिचय देता है और यह भी सिद्ध करता है कि इस मार्ग से राजस्थान या गुजरात पर यदि कोई सैनिक आक्रमण करे तो उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और उसका सफल होना अत्यन्त कठिन होगा। इसलिए महमूद ने अपनी सेना के प्रत्येक सिपाही को आज्ञा दी कि वे काफी पानी और दाना अपने साथ ले चलें। और इसके अलावा ३०,००० ऊँट इसी प्रकार से सामान से लदवाकर साथ ले चला। रेगिस्तान को पार करके वह अन्हिलवाड़ा होता हुआ सोमनाथ के निकट जा पहुँचा। उसके आने का समाचार सुनकर अन्हिलवाड़ा का राजा भीम शहर को छोड़कर सोमनाथ के निकट कन्दना के किले में जा छिपा। महमूद ने अन्हिलवाड़ा से सेना के लिए आवश्यक सामग्री ली और आगे बढ़ा। सोमनाथ के पुजारी तथा अन्य सब निवासी यह विश्वास करते रहे कि उनका देवता आक्रान्ता को नष्ट कर देगा। यह लोग अपने दुर्ग की दीवारों पर चढ़े हुए मुसलमानों से हँस-हँसकर व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कह रहे थे कि उनका देवता उन सबका संहार कर देगा। किन्तु जो होना था वही हुआ। मुसलमान किले की दीवारों पर चढ़ कर उसके अन्दर घुस गए और भयंकर मार-काट की। मन्दिर के पुजारियों ने देवता के सामने साष्टांग दण्डवत करके याचना की कि उनको विजय प्रदान करे किन्तु यह सब कुछ निरर्थक सिद्ध हुआ। अगले दिन नगर के तमाम हिन्दुओं को तुर्कों ने मन्दिर के द्वार तक खदेड़कर हज़ारों को काट डाला। सैंकड़ों सोमनाथ के भक्त मन्दिर के अन्दर घुसकर देवता से रो-रो कर याचना करते थे कि वह उनकी रक्षा करे। कुछ लोगों ने नावों में बैठकर भाग जाना चाहा किन्तु तुर्कों ने उन पर भी हमला किया और उन्हें डुबा दिया। महमूद ने मन्दिर के शिवलिंग को तुड़वाकर टुकड़े गज़नी भिजवा दिए और वहाँ वे जामा मस्जिद की देहल में लगाए गए ताकि मस्जिद में आनेवालों के पैर उन पर पड़े। सोमनाथ का मन्दिर हिन्दुस्तान भर के मन्दिरों में सबसे अधिक सम्पत्ति का भंडार था। महमूद ने मन्दिर में घुसकर उसके सारे कोष को अपने कब्ज़े में ले लिया। तत्कालीन लेखकों का कहना है कि जितना सोना तथा जवाहरात उसको सोमनाथ के मन्दिर से मिले उसका सौवाँ हिस्सा भी हिन्दुस्तान के किसी

राजा के कोष में नहीं था।

सोमनाथ के आक्रमण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक प्रश्न विचारने के योग्य हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि सोमनाथ का आक्रमण केवल कुछ इतिहास-लेखकों की कल्पना है और सम्भवतः यह आक्रमण हुआ ही नहीं। इसका एक आधार यह बतलाया जाता है कि उत्बी ने जो महमूद का समकालीन लेखक था अपनी तारीखे-यामिनी में इसका वर्णन नहीं किया। इसके अतिरिक्त यह बात समझ में नहीं आती कि भीम सोलंकी की और भोज परमार सरीखे नृपतियों ने अपने परम आराध्य देव-मन्दिर की रक्षा क्यों नहीं की। शायद इस कलंक को इन राजाओं के मस्तक से धोने के लिए ही इस आक्रमण को निराधार तथा काल्पनिक कहने का प्रयत्न किया जा रहा हो। उत्बी ने इस आक्रमण का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि उसका ग्रन्थ १०२० में ही समाप्त हो जाता है और शायद वह उसके बाद जीवित भी न रहा। परन्तु इस घटना के अन्य इतने प्रमाण है कि उसको काल्पनिक कदापि नहीं माना जा सकता। हिन्दू राजाओं के उसकी रक्षा न करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि महमूद इतनी द्रुतगति से सोमनाथ पर पहुँचा कि इनको उसकी चढ़ाई का पता ही न चला। यद्यपि यह विश्वास नहीं होता कि इन राजाओं के पास कोई गुप्तचर विभाग था ही नहीं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा कि इस प्रकार की शिथिलता तथा अकर्मण्यता हिन्दुस्तान के तत्कालीन राजाओं में कोई नई बात न थी।

सोमनाथ से अनन्त दौलत समेटकर महमूद बहुत ही शीघ्र वापस लौटने के लिए तैयार हुआ। उसके तीन दिन बाद गुजरात और मालवा के हिन्दू राजाओं ने उसका रास्ता रोकने की तैयारी की। तत्कालीन लेखकों के विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि महमूद ने वापस लौटने से पहले भीम पर हमला किया जो कच्छ के अन्दर एक किले में जा छिपा था। महमूद सिन्ध होता हुआ वापस लौटा। किन्तु यह मार्ग कठिनाइयों से भरपूर था। इस मार्ग में दाना-पानी आदि आवश्यक सामग्री की बहुत कमी थी। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान होता है कि महमूद पश्चिमी सीमा के इस मार्ग से इस कारण लौटा कि हिन्दू राजाओं ने जिनमें मालवा का परमार सम्भवतः शामिल था, उसका पीछा किया। किन्तु महमूद के पास इतना अनन्त लूट का माल था कि वह शत्रुओं से इस समय लड़कर जबकि उसकी सेना भी थक गई थी, अपने सारे लूटे हुए धन को संकट में नहीं डाल देना चाहता था। अतएव वह तेजी से चला। तथापि उसको एक और विपत्ति झेलनी पड़ी। सोमनाथ के एक पुजारी ने उसकी सेना का रास्ता बतलाने का वचन दिया और एक दिन एक रात उसको भटकाने के बाद उस पुजारी ने यह बात स्वीकार कर ली। महमूद ने उसको तुरन्त मरवा डाला किन्तु दैवी प्रेरणा से उसकी सेना को पानी निकट ही मिल गया। जब रेगिस्तान को पार करके मुल्तान के आसपास गज़नवी सेना पहुँची तो वहाँ के जाटों

ने उस पर हमला करके काफी लूट-मार की। तिस पर भी महमूद जैसे-तैसे सुरक्षित गज़नी पहुँच गया। तथापि उसकी सेना को बड़ी भारी क्षति पहुँची। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, महमूद की यह बड़ी भारी सामरिक भूल थी कि उसने रेगिस्तान के द्वारा सेना को ले जाकर सोमनाथ पर हमला किया। इस चढ़ाई से उसका सही-सलामत बचकर निकल जाना तत्कालीन हिन्दू राजपूत राजाओं की गाढ़ निद्रा तथा अकर्मण्यता का द्योतक है।

**महमूद का अन्तिम आक्रमण**—१०२७ में उन जाटों को सज़ा देने के लिए चढ़ाई की जिन्होंने सोमनाथ से लौटते समय उसकी सेना को तंग किया था। महमूद ने १,४०० नावों का एक बेड़ा बनाया और उनमें से हरेक में २०-२० तीरन्दाज़ों को रखा। और तब जाटों से लड़ने के लिए आगे बढ़ा। लेखकों का कहना है कि जाटों ने ४,००० नावें तैयार कीं। दोनों सेनाओं में बड़ी घमासान लड़ाई हुई किन्तु अन्त में जाटों की हार हुई क्योंकि सुलतान की नावें उनसे बहुत उत्तम कोटि की थीं। इसके अतिरिक्त, सुलतान की सेनाओं ने बारूद बोतलों में भरकर फेंका जिसके फटने से जाटों की बड़ी हानि हुई। बहुत से जाट सिन्धु नदी में डूब गए और उनके परिवारों को सुलतान ने पकड़वा लिया।

**महमूद के अन्तिम दिन**—महमूद इतने दिन बराबर हिन्दुस्तान में लूटमार करके तथा उसके हज़ारों देवस्थानों का संहार करके ग्रामों और नगरों को जलाकर लाखों भारतीय जनता को नष्ट करके भी अपनी राजधानी में सुख की नींद न सो सका। उसको अपने शत्रुओं का, जो चारों ओर से घेरे हुए थे, बराबर सामना करना पड़ता था। किन्तु उसकी अशान्ति का सबसे बड़ा कारण यह था कि ढलती हुई आयु के कारण भविष्य का अन्धकारमय चित्र उसकी आँखों के सामने आने लगा। तत्कालीन लेखक हाफ़िज़ तथा प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार सुलतान ने अपनी अनन्त दौलत को मँगवाकर अपने महल में अपने सामने सजवाया और एक बार अश्रुपूर्ण नेत्रों से उस सब वैभव का अवलोकन किया और फिर उसको कोठों में बन्द करा दिया, किन्तु उसमें से कुछ भी दान करने का ध्यान उसको न आया। अगले दिन उसने पालकी में सवार होकर अपने तमाम हाथी-घोड़े आदि तथा सेना को देखा और फूट-फूटकर रोया। इस घटना का विवरण फिरिश्ता ने दिया है। किन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसा हुआ हो। अपने अन्तिम दिनों में महमूद क्षय रोग से पीड़ित था। इस कारण भी उसके चित्त की ऐसी अवस्था का होना स्वाभाविक ही था। अतएव मृत्यु जो उसे अब हरदम निकट आती हुई दिखती थी, उसके लिए अत्यन्त भयावह हो गई थी!

**महमूद का चरित्र और उसके भारत पर आक्रमणों के उद्देश्य**—महमूद के चरित्र को सम्यक प्रकार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसके युग की पृष्ठ-भूमि को भली-भाँति समझ लिया जाय। ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवीं और

दसवीं शती में ईरान (फारस) में हिन्दुस्तान की तरह अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए थे और ख़लीफ़ा की सत्ता विलुप्त हो गई थी। साथ ही फारसी भाषा तथा साहित्य का पुनरुत्थान हो रहा था। ऐसे समय में ख़ुरासान में जो फारसी संस्कृति का केन्द्र था, सामानी वंश का उत्कर्ष हुआ और उन राजाओं के दरबार में तुर्क सेनापति नियुक्त किए गए। इन्हीं तुर्कों में महमूद के पूर्वज थे, जिन्होंने सामानी बादशाहों की राजनीतिक दुर्बलता का लाभ उठाकर थोड़े समय में अपना स्वतन्त्र राज्य गज़नी में स्थापित किया। इन तुर्कों का लालन-पालन तथा शिक्षा दो मुख्य बातों से प्रभावित हुए थे। तुर्क होने के कारण आजीवन युद्ध करते रहना, साम्राज्य स्थापना के लिए संघर्ष करना ही इन लोगों की पैतृक प्रवृत्ति थी और यही उनका व्यवसाय था। इसमें उच्च शिक्षा तथा सांस्कृतिक विनय आदि गुणों का अभाव था। ये गुण इनमें फारस की शिक्षा तथा संस्कृति के संसर्ग से उपजे थे। इस प्रकार इनके चरित्र पर फारसी वायुमण्डल का प्रभाव पड़ा। दूसरा प्रभाव उनके चरित्र पर इस्लाम मत का पड़ा, जिसने उनके अन्दर अपने नए मत को फैलाने का बड़ा जोश पैदा किया। महमूद के जीवन से यह साबित होता है कि उसके चरित्र में उपर्युक्त तीन मुख्य प्रवृतियाँ मिश्रित होकर अभिव्यक्त होती हैं। प्रो० हबीब का मत है कि साम्राज्य स्थापना की भावना तथा आकांक्षा इन तुर्कों में फारसी परम्परा के अनुसार जागृत हुई। इस मत में हमको केवल आंशिक सत्य जान पड़ता है। कारण कि मध्य एशिया की तुर्क-मंगोल जातियाँ सदैव से ही युयुत्सु (लड़ाकू) तथा साम्राज्य की भावनाओं से प्रेरित होती चली आईं। सम्भव है कि उनको प्राचीन ईरानी साम्राज्य-वादी परम्परा के ज्ञान से और अधिक उत्तेजना मिली हो। इस उत्तेजना को इससे भी अधिक प्रज्वलित होने का बहाना इन साम्राज्यवादी सैनिकों को इस्लाम मत की शिक्षाओं से मिला। ये सब अंग समन्वित होकर एक उच्चतम रूप में सुलतान महमूद के चरित्र में अभिव्यक्त हुए।

हम जानते हैं कि महमूद की सेना में केवल तुर्क ही नहीं थे किन्तु तुर्क, अफ़गान, ईरानी, अरब, हिन्दू आदि विभिन्न जातियों व देशों के लोग सम्मिलित थे। इन सबको एकता के सूत्र में बाँधने और एक उद्देश्य को लेकर चलने का श्रेय इस्लाम मत को था। महमूद ने इन जोशीले नव-मुस्लिमों का अपने स्वार्थ तथा महत्वाकांक्षा को पूरा करने में पूरा-पूरा फायदा उठाया। उपर्युक्त कथन से महमूद के सैनिक चरित्र का स्पष्टीकरण हो गया होगा। उसने अमुस्लिम ('काफ़िर') प्रदेशों पर जितने हमले किए उन सबका उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करना ही नहीं था। वास्तव में ऐसा जान पड़ता है कि साम्राज्य स्थापना के मुख्य उद्देश्य को पूरा करने के साथ-साथ वह इस्लाम की सेवा करके परलोक-सिद्धि भी करना चाहता था। गज़नी तथा मध्य एशिया के मुसलमानों को प्रभावित तथा आकर्षित करने के लिए भी उन स्थानों तथा जातियों को नष्ट करना जिनमें मूर्ति-पूजा प्रचलित थी, उसके लिए आवश्यक था। अतएव यह स्पष्ट है कि उसका मुख्य उद्देश्य पश्चिमी एशिया पर अपना

साम्राज्य स्थापित करना था, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एवं बढ़ते हुए लालच के कारण उसने उत्तर भारत के अनन्त धन-सम्पत्तिपूर्ण मन्दिरों तथा भंडारों को जी-भरकर लूटा क्योंकि वे सब हिन्दू राजाओं की अकर्मण्यता के कारण अनाथों के समान सर्वथा अरक्षित पड़े हुए थे। इस दृष्टि से यद्यपि महमूद के हमलों को संकीर्णता तथा कट्टरता से भी उत्पन्न हुआ मानना उचित न होगा किन्तु इसके प्रतिकूल यह कहना भी किसी प्रकार ठीक न होगा कि उसके कार्यों में कोई धार्मिक असहनशीलता तथा धर्मोन्माद बिलकुल न था। कह आए हैं कि कट्टर मुसलमान होने के नाते शायद उसको यह विश्वास भी प्रेरित करता था कि मूर्ति-पूजा आदि इस्लाम के विपरीत धर्मों को नष्ट करने से उसकी परलोक-सिद्धि भी निश्चित हो जाएगी। इस सब संघर्ष तथा जीवन-भर की अनवरत भाग-दौड़ की वास्तविक तुच्छता का दर्शन उसको तभी हुआ जब मौत उसके सामने आकर खड़ी हो गई।

एक सैनिक के रूप में महमूद की गणना काफी उच्चकोटि में की जा सकती है। रणकौशल, सामरिक बुद्धि तथा युद्धप्रक्रिया में वह निश्चय ही अपने समय का अद्वितीय सैनिक था और भारतवर्ष के हिन्दू राजाओं से बहुत ऊँचा था। कहा जा चुका है कि सोमनाथ पर मरुभूमि को चीरकर हमला करने से जहाँ हमको सामरिक दृष्टि से इस प्रदेश के भौगोलिक महत्व का प्रमाण मिलता है वहाँ यह महमूद के रण-कौशल को भी सिद्ध करता है। यदि कोई साधारण कोटि का सेना-संचालक होता तो वह अवश्य ही इस दुस्साहस में नष्ट हो गया होता। किन्तु कतिपय आधुनिक लेखकों का यह मत कि महमूद की गिनती इतिहास के कैसरे-रूम, चंगेजखाँ, नेपोलियन आदि महान प्रतिभाशाली सैनिकों में की जा सकती है, निराधार तथा निस्सार है। यदि हिन्दुस्तान के तत्कालीन शासकों में तनिक-सी भी बुद्धि एवं सामरिक दूरदर्शिता होती और वे अपना धार्मिक अन्ध-परम्परा के कारण देश की सीमाओं की रक्षा करने से अपना मुँह न छिपाते तो महमूद कदापि अपने प्रयास में सफल न होता।

महमूद अपने निजी चरित्र में धर्मपरायण था तथा तत्कालीन अन्य नृपतियों की अपेक्षा उसका घरेलू चरित्र निष्कलंक था। उसकी फारसी शिक्षा का उसके चरित्र पर गहरा प्रभाव इस बात से सिद्ध होता है कि वह प्रत्येक सुन्दर तथा कलात्मक वस्तु में रुचि रखता था और खूब समझता था। मथुरा के मन्दिरों को देखकर वह मुग्ध हो गया था और जैसा पहले कहा जा चुका है, उनको ध्वस्त करने का निश्चय वह आसानी से न कर सका। कहा जाता है कि उसके दरबार में ३०० कवि आश्रय पाते थे। इनके अतिरिक्त वह अन्य बड़े-बड़े विद्वानों तथा कलाविदों का बहुत सम्मान करता था। गज़नी के सुन्दर भवनों को अलंकृत करने के लिए वह हिन्दुस्तान से स्थपतियों, शिल्पियों तथा अन्य कलाकारों को पकड़कर सहस्रों की तादाद में ले गया था। उनका वह उचित आदर करता था। शाहनामे का रचयिता प्रसिद्ध कवि फिरदौसी भी उसके दरबार में था।

महमूद ने एशिया के पश्चिमी छोर से पूर्व में पंजाब तक तथा बदख्शाँ

बिलोचिस्तान तक अपना साम्राज्य फैला दिया था। किन्तु यह साम्राज्य विभिन्न प्रादेशिक टुकड़ों का एक असंयुक्त ढेर मात्र था जिनमें न कोई एकता थी, न कोई शासन-संगठन की दृढ़ता। सुलतान के बारे में सर्वसाधारण में भी यह बात प्रसिद्ध थी कि वह हर साल नए-नए प्रदेश तो जीतता जाता है किन्तु उनमें शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना का सर्वदा अभाव रहता है। उसके भारतीय प्रान्त पंजाब की दशा अत्यन्त अव्यवस्थित तथा शोचनीय थी और यही हाल साम्राज्य के अन्य भागों का था। राजमार्ग भी अत्यन्त अरक्षित थे। प्रो० हबीब ने एक मुस्लिम सूफ़ी का वचन सुलतान के बारे में उदधृत किया है जो कहता था कि यह सुलतान महा मूढ़ है क्योंकि जो राज्य उसके पास है उसका शासन तो कर नहीं पाता और अन्य देशों को अधिकृत करने के लिए भागता फिरता है। इन बातों से सिद्ध होता है कि महमूद में एक उत्तम शासक के गुणों का अभाव था और न ही उसका सुप्रबन्ध स्थापित करने की आकांक्षा थी। अपने इस कर्तव्य की कभी उसने चिन्ता तक नहीं की। शायद इस कारण भी उसको हमलों और सैनिक चढ़ाइयों में इतनी दिलचस्पी थी कि शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने का समय ही उसके पास न था। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि तत्कालीन अराजकता के वायुमण्डल में जो अनेक छोटे-छोटे सैनिक अपने-अपने कोट बनाकर चारों तरफ लूटमार करने लगे थे और जिनके कारण आने-जाने के रास्ते सब बन्द हो गए थे, इन लुटेरों को दमन करने का उसने कोई प्रयास न किया। न ही उसने प्रजा की रक्षा के हेतु किसी पुलिस विभाग की स्थापना की। जैसा प्रो० हबीब ने लिखा है जब हम ईरान के सल्जुक तथा दिल्ली के कतिपय योग्य तुर्की सुलतानों की शासन-सुव्यवस्था से महमूद के शासन की तुलना करते हैं तब हमें इस क्षेत्र में महमूद की भयानक अयोग्यता का ज्ञान होता है। महमूद के न्यायशील होने के बारे में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं। इसको स्वीकार करने में हमको कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती कि यदि कोई भूला-भटका हुआ अत्याचार-पीड़ित मनुष्य उस तक पहुँच गया तो उसने बड़ी तत्परता से न्याय किया हो। किन्तु इस प्रकार की दो-चार घटनाओं से जो साम्राज्य के केन्द्र ही में सीमित रह जाती थीं, इतने विस्तृत साम्राज्य पर वास्तविक लाभकारी प्रभाव पड़ने की कोई संभावना नहीं थी। आधुनिक पाठ्य-पुस्तकों के अनेक लेखकों ने उपर्युक्त कहानियों के आधार पर उसकी न्याय-व्यवस्था को ही नहीं किन्तु समस्त शासन को अत्यन्त उत्तम तथा सुलतान को एक प्रतिभाशाली शासक बतलाया है। उनका यह मत सर्वथा निराधार है।

हम देख चुके हैं कि महमूद अपने समय का केवल एक महान सैनिक नेता ही न था, वह कला-कौशल तथा विद्या का भी बड़ा प्रेमी व आश्रयदाता था। गज़नी को उसने अनेक विशाल भवन बनवाकर एक महान व सुसज्जित नगर बना दिया था। गज़नी की मस्जिद की सीढ़ियाँ उसने सोमनाथ के मन्दिर से लाई हुई मूर्तियों

को कटवाकर बनवाई थी। उसके दरबार में सैकड़ों विद्वान व कवि आदि आश्रय पाते थे।

महमूद स्वयं फिरदौसी सरीखे फारस के सर्वोत्तम कवि के गुणों को भलीभाँति समझने के अयोग्य था। ईरान के प्राचीन सम्राटों व वीरों के आख्यान बहुत पहले से अनुश्रुतियों के रूप में सर्वसामान्य में प्रचलित थे। दसवीं सदी के मध्य में खुरासान के तूस नगर के शासक, अबू मंसूर ने चार विद्वानों को इन वीर गाथाओं को नियमित रूप से लिखवाने के लिए नियुक्त किया। फिर सामानी शाह नूर इब्न मंसूर ( ९७६-९९७ ) के राजकवि दकीकी ने इस सामग्री को कविता का रूप देना आरम्भ किया। किन्तु वह उसे पूरा न कर पाया। महाकवि फिरदौसी भी तूस का निवासी था। उसने लगभग १०९० में जब कि वह ६० वर्ष का बूढ़ा था इस कार्य को आरम्भ किया और ११ वर्ष के अनवरत परिश्रम के अनन्तर अपना जगत-प्रसिद्ध ग्रन्थ शाहनामा लिखकर समाप्त किया। इस ग्रन्थ में फारसी की वीरगाथा शैली हर प्रकार से उत्तमता की उच्चतम कोटि को पहुँच गई है। फिरदौसी ने अपना यह ग्रन्थ सुलतान महमूद को समर्पण किया परन्तु उसको आकांक्षित उपहार न मिला जिस पर उसने अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में सुलतान के विरुद्ध भारी व्यंग्यपूर्ण पद जोड़ दिए। महमूद के क्रोध के भय से वह भागकर बगदाद चला गया जहाँ उसने यूसुफ व जुलेखा नामक एक और महाकाव्य लिखा। इस ग्रन्थ की शैली व विस्तृत विषय से प्रमाणित होता है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी यह कवि कितना प्रतिभाशाली था और उसका मस्तिष्क कितनी ताजगी से काम कर सकता था। सन् १०२० में जब उसको महमूद ने क्षमा कर दिया तो वह अपने नगर को वापस लौट आया। फिरदौसी का शाहनामा होमर के ईलियड से लगभग ८० गुना बड़ा है। उसके ग्रन्थों को ईरानी साहित्य का एक सर्वोत्कृष्ट अंग माना जाता है।

**महमूद के संसर्ग का साहित्यिक प्रभाव : अल्बेरूनी**—महमूद स्वयं बहुत सुशिक्षित और गुणग्राही था। कहा जाता है कि उसके दरबार में दूर-दूर के देशों से आए हुए ३०० कवि रहते थे जिनमें अनसरी, फ़िरदौसी, असदी, तूसी इत्यादि बहुत विख्यात हैं। फ़िरदौसी का (जो उनमें सर्वोच्च माना जाता था) शाहनामा संसार के साहित्य में एक ऊँचा स्थान रखता है। इसी प्रकार बड़े-बड़े इतिहास-लेखक, वैज्ञानिक, तत्त्ववेत्ता, ज्योतिषी और गणितज्ञ तथा दूसरे अनेक कलाविद् भी उसके दरबार में मौजूद थे। परन्तु उस समय के सबसे बड़े तत्त्ववेत्ता, वैद्य और जन्तुशास्त्रज्ञ ईरानी शेख बूअलीसीना ने उसके दरबार में आना कभी स्वीकार न किया और भाग कर राय के शासक के यहाँ शरण ली। पर बूअलीसीना के मित्र तत्त्ववेत्ता अबूरैहान को सुलतान ने उसके वतन ख्वारिज्म से पकड़ बुलवाया और निर्वासित करके भारत भेज दिया। यहाँ आकर इस प्रतिभाशाली अद्वितीय विद्वान ने भारतीय संस्कृति और साहित्य से प्रभावित होकर यहाँ की भाषा (संस्कृत) और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया और इस देश के इतिहास तथा सभ्यता पर एक अमर ग्रंथ 'किताबुल

हिन्द' की रचना की। इस ग्रन्थ में भारत के धर्म, अध्यात्म विद्या, तर्क, साहित्य, भूगोल, इतिहास, रीति-रिवाज, सामाजिक इत्यादि विषयों का वर्णन बड़ी योग्यता के साथ किया गया है। भारतीय इतिहास की सामग्री में इस पुस्तक का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके अतिरिक्त कई अन्य मुसलमान लेखकों (जैसे उत्बी, बैहकी इत्यादि) ने भी इतिहास लिखे जिनमें भारतीय इतिहास की बहुत कुछ सामग्री है।

**ग़जनवी वंश का पतन**—महमूद के मरने पर उसके वंश में गद्दी के लिए झगड़े शुरू हुए। अन्त में बड़ा बेटा गद्दी पर बैठा। यह स्वयं बड़ा बलवान, पर डरपोक तथा विलासी था। इसने ग़ज़नी को छोड़कर बलख को राजधानी बनाया और लाहौर के प्रान्त पर कई शासक नियत किए। इनमें से अहमद नियाल्तग़ीन ने बनारस पर धावा किया और फिर स्वतन्त्र होना चाहा। तब उसके पिता के विश्वास-पात्र सच्चे स्वाभिभक्त तिलक ने नियाल्तग़ीन को हराकर नष्ट किया। तिलक एक नाई वंश का भारतीय था। उसके रूप तथा अन्य गुणों के कारण सुलतान महमूद ने उसे उच्च पद पर नियुक्त किया था। सन् १०४० के लगभग मसऊद सलजुकों के डर से भागकर लाहौर आ रहा था, पर रास्ते में मारा गया। सन् १०४२ में उसका लड़का मादूद लाहौर का शासक हुआ। इस समय अवसर पाकर दिल्ली के राजा महिपाल ने हाँसी, थानेश्वर और काँगड़ा फिर से जीत लिया; और लाहौर पर भी चढ़ाई की, परन्तु विफल रहा। मादूद के समय (१०४६) में ग़ौर के अमीर से फिर झगड़ा शुरू हो गया। पंजाब के सूबे को लाहौर और पेशावर के दो भागों में अपने दो बेटों को बाँटकर वह सन् १०४९ में मर गया। मादूद के बाद फिर कई वर्ष तक झगड़े होते रहे और ग़ज़नी की गद्दी पर कोई स्थिरता से न बैठ सका। अन्त को मसऊद का लड़का फ़र्रुखज़ाद गद्दीनशीन हुआ और उसने सन् १०५९ तक राज्य किया। उसके लड़के इब्राहीम ने सन् १०९९ तक (४० वर्ष) बड़ी शान्ति से राज्य किया। इसने फिर से भारत पर कई चढ़ाइयाँ कीं और शायद पारसी बस्ती नवसारी तक भी यह पहुँचा था।

उसके बाद उसका २३वाँ लड़का मसऊद तीसरा अमीर हुआ। इसने सलजुक अमीर अर्सलान की पोती से शादी की थी। इसने १७ वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया। इस अवसर पर लाहौर के शासक ने फिर एक हमला गंगा के पार तक किया और साम के पुत्र हुसेन को ग़ूर का शासक नियुक्त किया। इसके बाद राज गद्दी के लिए भाइयों में झगड़े हुए और अन्त में बहराम, जिसकी माता सलजुक वंश की थी, अमीर हुआ। थोड़े ही दिन बाद उसे लाहौर के शासक बहलीम का दो बार दमन करना पड़ा। बहलीम ने छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं को पराजित करके पहले-पहल नागोर में मुस्लिम राज्य जमाया। बहराम के पिछले दिनों में ग़ूर से फिर झगड़ा शुरू हो गया। ग़ूर का कुत्बुद्दीन मुहम्मद अपने भाई से लड़कर ग़ज़नी चला आया और उसने इब्राहीम की लड़की से शादी कर ली। परन्तु उसके चरित्र पर सन्देह होने के कारण इब्राहीम ने उसे जहर दिलवा दिया। इसका बदला लेने के

लिए उसके भाई सैफ़उद्दीन ने इब्राहीम को निकालकर ग़ज़नी में अपने भाई बहाउद्दीन साम को शासक बना दिया। परन्तु सन् ११४६ में इब्राहीम ने लौटकर सैफ़उद्दीन को धोखे से मार डाला और उसका भाई इस शोक में मर गया। तब इनके एक और भाई अलाउद्दीन हुसेन ने इब्राहीम को पराजित करके ग़ज़नी से बड़ा कड़ा बदला चुकाया। उसने सारे नगर को जलवा डाला, वहाँ की क़बरों को खुदवा कर फेंकवा दिया और मकानों तथा किलों को ढा दिया। सैयदों को वध करने के लिए वह ग़ूर ले गया। परन्तु थोड़े दिन बाद वह सुलतान संजर सलजुक से हार कर क़ैद हो गया। यह अवसर पाकर इब्राहीम, जो भाग कर भारत में चला आया था, फिर लौट गया। परन्तु थोड़े दिन बाद ही वह मर गया। वह विद्वानों का बड़ा पोषक था। उसके दरबार में विख्यात कवि सनाई रहता था। उसने संस्कृत के पंचतंत्र का अनुवाद अरबी भाषा में कराया था जो 'कलेला व दमना' के नाम से विख्यात है। इसी ग्रन्थ का दूसरा अनुवाद 'अनवार सुहेली' के नाम से बाद को मुल्ला हुसैन वाइज़ ने किया था।

बहराम के बाद उसका लड़का खुसरूशाह अमीर हुआ। उसे तुर्कों ने मार कर ग़ज़नी से भगा दिया। वह सन् ११६० में लाहौर में मर गया। अब महमूद के वंशजों पास केवल पञ्जाब रह गया था। उसके बेटे खुसरू मलिक को मुईजुद्दीन मुहम्मद साम ने, जो अपने भाई की ओर से ग़ज़नी का शासक था, और उसके बेटे को सन् ११८६ में लाहौर से क़ैद करके ग़ूर भेज दिया। वहाँ वे सन् ११९२ में क़त्ल कर डाले गए। इस प्रकार यामिनी वंश का अन्त हुआ।

पांच

# उत्तर भारत के हिन्दू रजवाड़े
## (लगभग ११०० से १२०० ई०)

### साँभर और अजमेर का चौहान वंश

तीसरे अध्याय में चौहान वंश का आदि इतिहास दिया जा चुका है। विग्रहराज दूसरे के बाद आठवें राजा विग्रहराज तीसरे का बेटा पृथ्वीराज प्रथम उनमें सबसे प्रतापी हुआ। वह लगभग ११०५ में विद्यमान था। उसके बेटे अजयपाल (अजयदेव) ने अजयमेरु (अजमेर) का नगर एक बहुत उत्तम स्थान पहाड़ियों के बीच में देखकर उस पर लगभग ११०५ में बसाया। अजयदेव का बेटा आर्णोराज (अनलदेव या आणा) बहुत प्रतापी तथा योग्य शासक हुआ। ११२५ ई० में कुछ दिन बाद आर्णोराज का युद्ध अन्हिलवाड़ा के जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल के साथ होने का वृतान्त हमें आर्णोराज के ११३९ ई० के दो अभिलेखों से मिलता है। आर्णो ने लगभग ११३३ से ११५१ तक राज्य किया। आर्णोराज ने अजमेर में एक बहुत बड़ा बाँध बँधवाकर अनासागर नामक झील का निर्माण कराया था। आर्णोराज के बाद विग्रहराज चतुर्थ (११५३-११६४) ने चौहान राज्य को बहुत बढ़ाया। उसने पहले तँवर राजाओं से दिल्ली तथा झाँसी को जीता और फिर उत्तर-पश्चिम की तरफ बढ़कर सम्भवतः सतलज के किनारे तक का सारा प्रदेश अधिकृत किया। इसका प्रमाण विग्रहराज के उन शिलालेखों से मिलता है जो उसने तोपड़ा के अशोक-स्तम्भ पर अंकित कराया था। इस स्तम्भ को फ़ीरोज़ तुगलक १४वीं शती में दिल्ली लाया और फ़ीरोज़ कोटला के अन्दर एक तिमंजिले मंडप के ऊपर खड़ा किया। कुछ लेखकों ने यह भी कहा है कि विग्रहराज ने महमूद गज़नवी के लाहौर के वंशजों से युद्ध करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। हाँसी तक का प्रदेश उसने उनसे छीन लिया था। इससे अधिक उसने और कुछ नहीं किया क्योंकि न तो विग्रहराज और महमूद के वंशजों के किसी संघर्ष का निर्देश तत्कालीन मुस्लिम इतिहासज्ञों ने किया है और न ही ऐसा कोई प्रमाण मिलता है कि चौहानों का राज्य सरहिन्द हाँसी और भटिंडा के आगे कभी भी बढ़ पाया हो। इस प्रसंग में यह जान लेना सार्थक होगा कि विग्रहराज के समकालीन लाहौर के गज़नवी शासक, अत्यन्त हीन क्षीण अवस्था में थे, यहाँ तक कि थोड़े ही दिन बाद गूरी

शहाबुद्दीन ने उनका अन्त कर दिया। यदि बीसलदेव जैसा प्रसिद्ध योद्धा इन मुस्लिम शासकों को देश से निकालने का विचार करता तो इसमें उसको किसी प्रकार की कठिनाई थी ही नहीं। वे लड़ने के सर्वथा अयोग्य थे। अतएव इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए केवल एक ही परिणाम निकालना संभव है कि अन्य हिन्दू राजाओं के समान बीसलदेव ने भी यथासंभव मलेच्छों से अपवित्र किए हुए प्रदेशों में जाने तथा उनके सम्पर्क में आने से अपने को बचाए रखा। किन्तु अपने यश और कीर्ति का गान करने में वह अपने भाई-बन्धु अन्य राजपूतों से किसी प्रकार पीछे नहीं रहा था। जिस प्रकार धंग चन्देल की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने सारी बसी हुई पृथ्वी के आगे जहाँ बस्ती नहीं है वहाँ तक जीत डाला था। इसी प्रकार बीसल के लेख में जो उसने तोपड़ा के अशोक-स्तम्भ पर उत्कीर्ण कराया लिखा है कि विन्ध्य से हिमालय तक तीर्थयात्रा करते हुए उसने उन सब राजाओं को पराजित किया जिन्होंने विरोध से अपना सर उठाया और उन सब पर कृपा तथा प्रसन्नता प्रकट की जिन्होंने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। उसने आर्यावर्त को फिर से पवित्र करके आर्यों का वास्तविक निवास-स्थान बनाया और मलेच्छों को नष्ट किया। फिर इस प्रशस्ति में वह अपने वंशजों को निम्नांकित आदेश देता है : "हमने विन्ध्य और हिमालय पर्वत के बीच की सम्पूर्ण भूमि को अपने अधीन तथा करद कर लिया है। भगवान ऐसा करे कि तुम्हारे चित्त भी और अधिक विजय करने में बराबर तत्पर रहें।" इसी प्रकार उसने अपने बीजोलिया अभिलेख में लिखा है कि उसने हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच की समस्त भूमि को विजित करके बैकुण्ठ और जाबालिपुर पल्ली को भी अधिकृत किया था।

बीसलदेव अन्य बहुत से राजपूत राजाओं के समान विद्याव्यसनी तथा स्वयं भी बड़ा ज्ञानी और विद्वान था। वह विद्वानों व कवियों का बड़ा आदर करता था और उनका पालन-पोषण करता था। इस क्षेत्र में उसकी कीर्ति धारा नगरी के भोज के समान ही है। वह 'हरकेलि' नाटक का स्वयं लेखक था इस नाटक का आधार प्रसिद्ध महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' है। इस नाटक में बीसलदेव ने अपने आप को अर्जुन के समान मानकर बतलाया है कि उसको शिव का दर्शन हुआ था। उसके राजकवि सोमदेव ने ललित विग्रहराज नामक लिखा जिसमें विग्रहराज और एक काल्पनिक राजा वसन्तपाल की पुत्री के प्रेम की कथा वर्णित है। विग्रहराज ने अपनी प्रेमिका को एक पत्र द्वारा सूचित किया कि वह अमीर से युद्ध करने के पश्चात् अवश्य उसके पास पहुँच जाएगा। चिन्तामणि वैद्य के अनुसार इस कथा में इतना सत्य जान पड़ता है कि तुर्की अमीर और बीसलदेव का किसी स्थान पर सामना हुआ था और परस्पर गुप्तचर भी एक-दूसरे के शिविर में आए थे। परन्तु अन्त में दूतों के द्वारा सन्धि कर ली गई थी। हमको इस मत का कोई आधार नहीं जान पड़ता। बीसलदेव ने अपने पिता आर्णोराज की तरह एक बड़ा तालाब बनवाया था जिसका नाम बीसल-सर पड़ा। उसने एक संस्कृत महाविद्यालय की भी स्थापन

की थी जिसके भवन को तोड़-फोड़कर कुत्बुद्दीन ऐबक ने अपनी दिल्ली की कुवतुल इस्लाम मस्जिद के समान एक बड़ी मस्जिद बनवाई जो अढ़ाई दिन का झोंपड़ा कहलाती है।

बीसलदेव के थोड़े दिन बाद लगभग ११६४ में उसका छोटा भाई सोमेश्वर राजा हुआ। परन्तु उसने बहुत थोड़े दिन तक राज्य किया और उसके बाद लगभग ११७५ में उसका बेटा पृथ्वीराज तृतीय (प्रसिद्ध राय पिथौरा और चाहमानों का अन्तिम प्रतापी राजा) गद्दी पर बैठा।

## राय पिथौरा (पृथ्वीराज तृतीय) अन्तिम चौहान सम्राट

पृथ्वीराज उपनाम राय पिथौरा का विस्तृत वर्णन हमको चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो से मिलता है। किन्तु रासो में समय-समय पर इतनी कपोल-कल्पित तथा सर्वथा निराधार गाथाएँ मिलाई गईं कि वास्तविक मूल रासो का रूप सर्वथा बदल गया। रासो की कई प्रतियाँ ऐसी मिलती हैं कि जिनमें १६वीं शती की घटनाएँ भी वर्णित हैं। इस प्रकार की घटनाओं का समावेश होने के कारण प्रायः आधुनिक विद्वानों ने रासो को सर्वथा अप्रमाणित तथा कल्पित माना है किन्तु चन्द बरदाई तथा रासो का निर्देश अबुलफ़ज़ल ने अपने आइने-अकबरी में भी किया है। आधुनिक खोज से रासो के विभिन्न मूल ग्रन्थ मिले हैं और उनमें जितनी प्राचीन प्रतियाँ हैं वे बहुत छोटी हैं। अतएव यह मत कि रासो सर्वथा निराधार है, उचित नहीं जान पड़ता। किन्तु इसके अन्दर की कितनी कथाएँ प्रमाणित मानी जाएँ यह समस्या बड़ी जटिल है।

रासो के अनुसार पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की बेटी थी। किन्तु पृथ्वीराज का अधिक प्रामाणिक इतिहास हमको दो ऐतिहासिक काव्यों से प्राप्त होता है, अर्थात् पृथ्वीराज विजय और हम्मीर काव्य। इन दो ग्रन्थों के अनुसार पृथ्वीराज की माता चेदि के हयहय वंश की राजकुमारी कर्पूरदेवी थी। पृथ्वीराज की जन्मतिथि के विषय में भी बहुत मतभेद हैं। चिन्तामणि वैद्य ने पृथ्वीराज की जन्मतिथि तथा जन्मस्थान सम्बन्धी विभिन्न प्रमाणों पर विषद रूप से विचार किया है, जिससे ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज ११६१ के लगभग या तो अन्हिलवाड़ा में अथवा चेदि राजाओं की राजधानी त्रिपुरी में उत्पन्न हुआ था।

पृथ्वीराज के वृत्तान्त में उसके विवाहों का भी बड़ा राजनीतिक महत्व दिखलाया गया है। इसके अनुसार पृथ्वीराज की पहली स्त्री आबू के परमार राजा की पुत्री थी। इस रानी की बड़ी बहिन का विवाह चालुक्य राजा भीम के साथ हुआ था। भीम छोटी बहन के रूप पर मोहित होकर उससे भी विवाह करना चाहता था किन्तु उसके पिता ने उसका विवाह पृथ्वीराज के साथ कर दिया था। इससे चिढ़कर भीम ने आबू पर चढ़ाई की और पृथ्वीराज ने भीम के विरुद्ध चढ़ाई की। भीम ने बदला लेने के लिए शहाबुद्दीन ग़ूरी को पृथ्वीराज पर हमला करने के लिए आमन्त्रित किया और स्वयं दक्षिण की ओर उस पर चढ़ाई की। पृथ्वीराज

और उसके सेनापति कैमास ने उन दोनों को हराया और गूरी सुलतान को कई बार पकड़-पकड़कर छोड़ दिया। इस कथा में बहुत-कुछ अत्योक्ति जान पड़ती है। क्योंकि शहाबुद्दीन गूरी के पृथ्वीराज द्वारा कई बार पकड़े जाने की गाथा कल्पित ही जान पड़ती है। पृथ्वीराज के एक और वैवाहिक सम्बन्ध का भी काफी राजनीतिक महत्व है। कन्नौज के गहड़वाल राजा जयचन्द की पुत्री संयोगिता के विवाह के लिए स्वयंवर रचा गया। चन्दबरदाई ने रासो में तथा बिल्हण ने विक्रमांक चरित्र में स्वयंवर का वर्णन किया है किन्तु उस समय स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी, इसमें भी सन्देह है। अतएव संयोगिता के स्वयंवर की कहानी ही कल्पित मालूम होती है। किन्तु पृथ्वीराज-संयोगिता के विवाह की घटना से इतना स्पष्ट है कि संयोगिता पृथ्वीराज से ही विवाह करना चाहती थी और उसका पिता जयचन्द इसके विरुद्ध था क्योंकि इन दोनों में परस्पर संघर्ष तथा वैमनस्य चला आता था। पृथ्वीराज का यह विवाह उसके मोहम्मद गूरी के साथ युद्ध होने से कई वर्ष पहले हुआ होगा ऐसा जान पड़ता है।

चौहान वंश के उत्कर्ष से पूर्व उत्तर भारत में गहरवाल वंश का राज्य लगभग पंजाब तक फैल गया परन्तु १२वीं शती में उनका पतन शुरू हो गया था क्योंकि दिल्ली को तो अजमेर के चौहान अपने साम्राज्य में मिला चुके थे और जेजाभुक्ति के चन्देलों की सत्ता पूरब में बनारस तक और उत्तर में जमुना के पार तक फैल गई थी। इन दो शक्तियों के बढ़ जाने से गहरवालों का साम्राज्य तथा उनकी सत्ता बहुत क्षीण हो गई। गहरवालों के अतिरिक्त अपने समकालीन गुजरात, जेजाभुक्ति तथा अन्य प्रदेशों के राजाओं से भी पृथ्वीराज का अनवरत संघर्ष होता रहता था। हम ऊपर निर्देश कर आए हैं कि इन राजाओं के परस्पर संघर्ष तथा वैमनस्य का एकमात्र कारण यह था कि इनमें से प्रत्येक की सर्वोपरि आकांक्षा तथा जीवन-दर्श यह होता था कि वह अपने आपको देश भर के अन्य राजाओं से चक्रवर्ती स्वीकार कराए। केवल मात्र इसी आकांशा की वेदी पर यह राजा क्षात्रधर्म के वास्तविक तथा सच्चे आदर्शों को बलि कर देते थे। क्षात्रधर्म का यह विकृत रूप उनके मस्तिष्क में इतनी गहराई से बैठ गया था कि वे धर्म के वास्तविक रूप को बिलकुल ही भूल गए थे। पृथ्वीराज की सत्ता की बढ़ोतरी के कारण कन्नौज का जयचन्द उसका शत्रु हो गया क्योंकि जयचन्द का दादा गोविन्दचन्द्र उत्तर भारत का सम्राट माना जाता था और उसके इस पद को बीसलदेव ने छीन लिया था।

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गूरी के युद्ध तथा उसके परिणाम का वर्णन गूरी सुलतान के आक्रमणों के प्रसंग में किया जाएगा। उसके अन्य संग्रामों का वृत्तान्त भी विभिन्न वंशों के इतिहास के साथ ही किया जाएगा।

## चन्देलों का शेष इतिहास

विद्याधर का उत्तरदायी विजयपालदेव चन्देल हुआ। उसका राज्यारोहण १०४० के लगभग अनुमान किया जाता है। उसने लगभग १०५० तक शासन

किया। इसके शासन के बारे में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं है। १०५० के लगभग विजयपालदेव का पुत्र देववर्मन राजा हुआ। इसने भी केवल १० वर्ष राज्य किया। ध्यान रहे कि यह सब राजा अपनी प्रशस्तियों में परम भट्टारक, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि विरुद अपने नामों के साथ जोड़ने में किसीसे पीछे नहीं रहते थे। उनको यह भी गौरव था कि युद्ध-क्षेत्र में हत शत्रुओं की स्त्रियों के लिए वे वैधव्य के आध्यात्मिक नेता थे। किन्तु देववर्मन के एक शिलालेख में उसका यशोगान इन शब्दों में किया गया है, 'अपनी सच्चाई से युधिष्ठिर, उदारता से चम्पा के शासक कर्ण, गम्भीरता से महासागर, शक्ति से इन्द्र, सौन्दर्य से कामदेव और सूक्ष्म बुद्धि से शुक्र और वाचस्पति को लज्जित करता था। वह बुद्धिमान, न्यायप्रिय, पराक्रमी, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, साधुरंजक और शुभ मूर्ति था।'

## चन्देल वंश का पराभव व पुनर्उत्कर्ष

देववर्मन के पश्चात लगभग १०६० से ११०० तक उसके भाई कीर्तिवर्मन ने राज्य किया। इसके समय में चेदि वंश का कर्ण अपने समकालीन समस्त राजाओं में शक्तिमान तथा प्रतापी हुआ। उसने अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक एक संघ की स्थापना की और कीर्तिवर्मन चन्देल को भी अपना प्रभुत्व स्वीकार कराने पर विवश किया। उसके अभिलेखों से विदित होता है कि उसने अपना आतंक काश्मीर से दक्षिणापथ तक फैलाया था और तत्कालीन सभी राजा उससे डरते थे। किन्तु थोड़े समय बाद कीर्तिवर्मन ने अपने ब्राह्मण सेनापति गोपाल की सहायता से कर्ण को परास्त किया और इस प्रकार चन्देल राज्य फिर से स्वतन्त्र हो गया। इस महती विजय का वर्णन उसके राजकवि कृष्णमित्र ने अपने प्रसिद्ध नाटक प्रबोध-चन्द्रोदय में किया है। इस नाटक के पात्र ज्ञान, भक्ति आदि आध्यात्मिक शक्तियों के प्रतीक हैं। कीर्तिवर्मन ने चन्देल सिक्के प्रचलित किए और उन पर गांगेयदेव कलचुरि के सिक्कों की लक्ष्मी-मुद्रा के स्थान पर हनुमान की मुद्रा अंकित करवाई। कीर्तिवर्मन के बाद उसके पुत्र सल्लक्षण ने लगभग ११०० से १११० तक राज्य किया। उसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने मालवा तथा चेदि की सम्पत्ति को खूब लूटा। सल्लक्षण का उत्तरदायी उसका पुत्र जयवर्मन हुआ। उसने भी लगभग १० वर्ष तक राज्य किया। जयवर्मन पुत्रहीन था अतएव उसके बाद उसका चचा पृथ्वीवर्मन राजा हुआ किन्तु इसने भी केवल पाँच वर्ष तक राज्य किया। इन तीनों राजाओं के काल में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। उन तीनों ने सोने, चाँदी और ताँबें के सिक्के प्रचलित किए।

**मदनवर्मन देव**—पृथ्वीवर्मन का उत्तराधिकारी उसका यशस्वी पुत्र मदनवर्मन देव हुआ जिसने अपने वंश की कीर्ति तथा शक्ति का पुनरुत्थान किया। उसने ११२५ से ११६५ तक बड़े शौर्य तथा योग्यता से राज्य किया। महाकवि चन्द ने लिखा है कि गुजरात का प्रसिद्ध शासक सिद्धराज जयसिंह' उससे पराजित हुआ

था किन्तु इसके प्रतिकूल गुजरात के इतिहासों से पता चलता है कि मदनवर्मन सिद्धराज जयसिंह का करद था। मदनवर्मन के अभिलेखों में यह भी वर्णित है कि उसने मालवा और चेदि के राजाओं को परास्त किया था और बनारस के गहरवाल राजा के साथ उसकी मित्रता थी। इस प्रकार के परस्पर-विरोधी वृत्तान्तों का होना इस समय के राजाओं के विषय में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु इतना निश्चय जान पड़ता है कि मदनवर्मन का राज्य दक्षिण में लगभग जबलपुर, सागर व दमोह से लगाकर उत्तर में हमीरपुर, ग्वालियर तथा चम्बल नदी के दक्षिण तट तक अवश्य था। उसके राज्य के अन्दर कालंजर, खजुराहो, अजयगढ़ और महोबा सम्मिलित थे तथा बाँदा और झाँसी जिलों पर भी उसका अधिकार था। मदनवर्मन ने महोबा में एक विशाल कुंड (तालाब) तथा उसके किनारों पर बहुत से मन्दिरों का निर्माण किया, जिस प्रकार अन्य चन्देलों ने बहुत बड़े मन्दिर तथा ताल निर्माण कराए थे। उसने सोने और चाँदी की मुद्राएँ भी बहुत संख्या में प्रचलित कीं।

मदनवर्मन के जीवन-काल में ही उसके दोनों बेटों की मृत्यु हो गई, अतएव उसका पोता परर्मादिदेव (परमाल) राजा हुआ। इसने भी ११६५ से १२०३ तक लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया। परर्मादिदेव एक प्रकार से चन्देल वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ जिसकी कीर्ति बुन्देलखण्ड ही नहीं, किन्तु समस्त उत्तर भारत में घर-घर में फैल गई और उसका तथा उसके वीर सैनिक आल्हा व ऊदल का नाम आजतक याद किया जाता है। आल्हा और ऊदल बनाफर कुल के राजपूत थे और उन्होंने बुन्देलखण्ड तथा अपने स्वामी परमार्दिदेव की रक्षा के हेतु दिल्ली के राजा पिथौरा चौहान के विरुद्ध बड़ी वीरता से युद्ध किया और इसी प्रकार युद्ध करते हुए अपने प्राण दे दिए। इन वीरों के पराक्रम और यश का बड़ी ओजस्वी भाषा में आल्हा-ऊदल नामक काव्य में वर्णन किया गया है जो चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो का महोबा खण्ड है। चौहानों का दिल्ली पर अधिकार करने के समय से ही चन्देलों के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया था। चन्देलों और कलचुरियों का संघर्ष भी दीर्घकाल से चला आ रहा था। इसी परिस्थिति से लाभ उठाकर राय पिथौरा ने परर्मादिदेव से युद्ध आरम्भ कर दिया। इनका अन्तिम संग्राम लगभग ११८२ में पाहुज नदी के किनारे सिरसागढ़ के निकट हुआ। कुछ विद्वानों की धारणा है कि युद्ध का क्षेत्र उरई से १४ मील की दूरी पर बैरागढ़ में था यह स्थान बेतवा के तट पर सिरसागढ़ और राठ के बीच में था। इसी युद्ध में आल्हा और ऊदल लड़ते हुए मारे गए और चन्देलों की पूरी तरह हार हुई। चौहानों ने चन्देलों की भागती हुई सेना का दक्षिण महोबा तक पीछा किया और पृथ्वीराज ने महोबा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने कालंजर को भी लूटा और दिल्ली लौटते समय अपने सामन्त पंजुनराज को महोबे का शासक नियुक्त किया। इस युद्ध में गहरवाल जयचन्द ने भी चन्देलों की सहायता की थी किन्तु निष्प्रयोजन।

चन्देल साम्राज्य के पश्चिमी तथा उत्तरी भाग पर कब तक चौहानों का अधिकार रहा, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पृथ्वीराज के मुहम्मद ग़ूरी द्वारा सन् ११९२ में नष्ट होने के बाद चौहानों का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। तदनन्तर उनका अधिकार महोबे से भी हट गया था। अनुश्रुति है कि कन्नौज के जयचन्द के एक कर्मचारी नृसिंह की सहायता से परमाल के पुत्र समर्जित ने पंजुनराज को महोबे से निकाल दिया और १२०० के लगभग उस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु अभिलेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि परमर्दिदेव के बाद उसका बेटा त्रैलोक्यवर्मन उत्तराधिकारी हुआ। जान पड़ता है कि परमर्दिदेव ने पृथ्वीराज से परास्त होने के दस पन्द्रह वर्ष में फिर से अपनी शक्ति तथा साम्राज्य को संवर्धित कर लिया था क्योंकि उसने १२०३ में कुत्बुद्दीन ऐबक के हमला करने पर उसका बड़ी वीरता से विरोध किया। तो इतना निश्चय है कि पृथ्वीराज के आक्रमण तथा अत्याचारों से परमर्दिदेव की शक्ति को काफी धक्का पहुँचा था, और वह अत्यन्त क्षीण हो गई थी। जिस समय कुत्बुद्दीन ने चन्देल राज्य पर (१२०३) आक्रमण किया परमर्दिदेव ने अपने को कालंजर के किले में बंद कर लिया। तत्कालीन मुसलमान लेखकों के अनुसार थोड़े दिन तक घेरे का सामना करने के अनन्तर परमर्दिदेव ने कुतुबुद्दीन का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया तथा उसको कर देने और कुछ किले तथा हाथियों को देने का भी वचन दिया। इसके तुरन्त ही बाद परमर्दिदेव की मृत्यु हो गई और उसके सेनापति अजयपाल ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। अतएव कुत्बुद्दीन ने कालंजर का घेरा फिर शुरू किया। अजयपाल को अन्त में पानी की कमी के कारण आत्म-समर्पण करना पड़ता। कुत्बुद्दीन ने चन्देल राज्य पर अधिकार कर लिया और अपना एक प्रान्ताधीश नियुक्त करके वह दिल्ली लौट आया और इस प्रकार चन्देलों का प्राचीन तथा प्रसिद्ध वंश समाप्त हुआ।

परमर्दिदेव के अभिलेखों से विदित होता है कि वह विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता और परिपोषक था और ब्राह्मणों को बहुत से गाँव उसने प्रदान किए थे। उसके एक अभिलेख में उसकी प्रशंसा में कहा गया है कि उसके राज्य में शान्ति और सुख का प्रसार था और किसी प्रकार का कलह नहीं था क्योंकि उसने अपनी योग्यता से सरस्वती तथा लक्ष्मी के बीच मित्रता करा दी थी।

यद्यपि परमर्दि के बाद चन्देलों का प्रताप तथा यश विलुप्त हो गया किन्तु बुन्देलखण्ड में उसके वंशज बहुत पीछे तक राज्य करते रहे।

**अन्हिलवाड़ा के सोलंकी**—तीसरे अध्याय में सोलंकी वंश का प्राचीन इतिहास संक्षेप में भीमदेव प्रथम तक दिया जा चुका है। भीमदेव प्रथम (१०२२-६४) के राजत्व काल में महमूद गज़नवी ने सोमनाथ पर हमला किया था। इस हमले का विस्तृत वर्णन पीछे दिया जा चुका है। यहाँ पर यह बतला देना उपयुक्त होगा कि गुजरात के किसी ऐतिहासिक ग्रंथ अथवा अभिलेख में इस आक्रमण का वर्णन

नहीं है किन्तु केवल इसी आधार पर यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सोमनाथ का आक्रमण काल्पनिक है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी भारतीय इतिहास में उपलब्ध हैं। यथा अलक्षेन्द्र (सिकन्दर महान) के आक्रमण का भी कोई निर्देश भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। महमूद के चले जाने के बाद भीमदेव अपनी राजधानी में लौट आया और सदा की भाँति अपने निकटवर्ती राजाओं से उसके संघर्ष शुरू हो गए। कहा जाता है कि भीम ने चेदि के कलचुरि राजा कर्ण को परास्त करके उससे वह सोने की पालकी अपने को भेंट कराई जो कर्ण ने भोज परमार को परास्त करके उससे ली थी। भीम ने यह पालकी प्रभासपटन (सोमनाथ) के देवता को भेंट कर दी। इन तीन समकालीन राजाओं के वृत्तान्त तथा प्रशस्तियों में परस्पर इतना विरोध है कि यह कहना कठिन है कि उनमें से कौन-सा सत्य है क्योंकि प्रत्येक के निजी वृत्तान्त में यह दावा किया गया है कि उसने शेष दोनों को परास्त करके अपना करद सामन्त बनाया था। भीम सम्बन्धी पुरावृत्तों से पता चलता है कि उसने भोज परमार व कलचुरि दोनों के राज्यों को नष्ट किया था। किन्चु चिन्तामणि वैद्य का मत है कि गुजरात के पुरावृत्तों का यह कथन कि भीम ने भोज पर आक्रमण किया था, निराधार है। परन्तु यह सत्य जान पड़ता है कि भोज की मृत्यु के अनन्तर कर्ण ने मालवा पर आक्रमण करके उसको नष्ट किया था।

भीम प्रथम का उत्तराधिकारी कर्णदेव प्रथम (१०६४—९४) हुआ। उसके राजत्व काल में प्रायः सुख और शान्ति बनी रही और कोई उल्लेखनीय संग्राम आदि राजनीतिक घटना नहीं हुई। उसने कर्णसर नामक एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया और उसके तट पर एक नगर की स्थापना की जिसका नाम कर्णावती रखा। इसी नगर का परिवर्तित नाम अहमदाबाद पड़ा। अन्य हिन्दू राजाओं के समान कर्ण ने भी शिवाजी, दुर्गा आदि के मन्दिर बहुत बनवाए। उसका शाकम्भरी के राजा दुःसाल से युद्ध हुआ जिसमें उसकी मृत्यु हुई। कर्ण के बाद उसका पुत्र जयसिंह सिद्धराज (१०९४-११४४) राजा हुआ। जयसिंह सिद्धराज ने मालवा के राजाओं से १२ वर्ष तक अनवरत संग्राम करके उनको पूरी तरह परास्त किया और मालवा पर अधिकार कर लिया। यह मदनवर्मन चन्देल का समकालीन था। दोनों की प्रशस्तियों में यह दावा किया गया है कि एक ने दूसरे को हराया। जयसिंह की कलचुरि राजा यशकर्ण तथा गहरवाल गोविन्दचन्द्र से मित्रता थी। उसने सिन्ध के अरबी शासकों से युद्ध करके उनको हराया था। उसके अभिलेख जिन-जिन स्थानों पर मिले हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि उसका राज्य गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा और दक्षिणी राजपूताना तक फैला हुआ था। उसने अपने नाम का संवत १११३ में प्रचलित किया था। धार्मिक क्षेत्र में वह उदारभाव रखता था। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र उसके राज-दरबार में बहुत सम्मानित किया गया था। उसने बहुत से शिव-मन्दिर व एक बड़ी झील निर्माण कराए थे। इसके अतिरिक्त उसने

विद्या-प्रसार को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया; विशेषकर, न्याय, ज्योतिष और पुराणों के अध्ययन को। जयसिंह सिद्धराज पुत्रहीन था अतएव उसके बाद जैन लोगों की सहायता से उसका एक सम्बन्धी कुमारपाल शासक हुआ। अपने पूर्वजों की भाँति कुमारपाल ने भी अपने सभी निकटवर्ती राजाओं से निरन्तर युद्ध किए। कुमारपाल का गुरु जैनाचार्य हेमचन्द्र था और उसीके प्रभाव से कुमारपाल ने जैन-धर्म स्वीकार कर लिया था। वह मांस-मदिरा से परहेज़ करता था और उसने अपने राज भर में पशु-वध अवैध कर दिया था और पशु-वध करनेवालों को प्राणदण्ड दिया जाता था। उसने मांस भक्षण, जुआ तथा वेश्यावृत्ति भी अवैधानिक घोषित कर दी थी और निस्सन्तान लोगों की सम्पत्ति के अपहरण का नियम हटा लिया था। कुमारपाल निःसन्देह जैनधर्म का बड़ा बलशाली पोषक और प्रचारक था। तथापि उसने सोमनाथ के मन्दिर की पूजा नहीं छोड़ी। जयसिंह सिद्धराज तथा कुमारपाल ने अपने राज्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया था और परमारों को नष्ट करके अपनी शक्ति तथा सत्ता की अभिवृद्धि की थी।

कुमारपाल का उत्तराधिकारी उसका भतीजा अजयपाल (११७३-७६) हुआ। यह राजा जैनमत का अत्यन्त विरोधी था। उसने प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र को जो स्वयं विख्यात लेखक था, मरवा डाला था। शायद इसी कारण उसका विरोध हुआ हो। उसके एक कर्मचारी ने उसका वध किया। अजयपाल के अनन्तर मूलराज द्वितीय (११७६-७८) ने राज्य किया। मूलराज के समय में ही शहाबुद्दीन ग़ूरी ने गुजरात पर आक्रमण किया था और इस युद्ध में ग़ूरी पूरी तरह परास्त हुआ और बड़ी कठिनाई ने जान बचाकर वापस भागा। इसी कारण मूलराज को अनेक चालुक्य अभिलेखों में गज़नी के दुर्जेय सुलतान का विजेता कहा गया है। निस्सन्देह इस समय गुजरात के समस्त हिन्दू सामन्तों ने संगठित होकर मुहम्मद को हराया था। उपर्युक्त अभिलेखों के कथन से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दुस्थान के राजपूत योद्धा तुर्की आक्रमणों को दुर्जेय समझते थे और यह बहुत सम्भव है कि उनकी ऐसी मनोभावना के कारण ही अनेकों बार बड़े-बड़े हिन्दू राजा इन बाहरी आततायियों से परास्त हुए हों। इसके बाद उसके भाई भीमदेव द्वितीय ने (११७८-१२४१) राज्य किया। भीम द्वितीय अपने बाल्यकाल से सिंहासनारूढ़ हो गया था। जयसिंह की तरह उसने भी अपने आपको सिद्धराज अथवा अभिनव सिद्धराज कहलवाया। भीम द्वितीय के सामन्त तथा उत्तराधिकारी बहुत शक्तिशाली हो गए थे और यद्यपि वे उसे अपना राजा स्वीकार करते रहे, वास्तविक शक्ति उन सामन्तों के हाथ में आ गई थी। उसके राजत्व काल में ही उसके मन्त्री बघेल वंशीय लवणप्रसाद तथा उसके पुत्र वीरधवल ने राज्य की शक्ति पर पूरी तरह अधिकार कर लिया था। यहाँ तक कि वीरधवल को उसने अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। बघेल सामन्त भी चालुक्य वंश की शाखा से ही उत्पन्न थे। इस वंश का संस्थापक आर्णोराज कुमारपाल की माता की बहिन का लड़का था और

उसने कुमारपाल को राजगद्दी दिलाने में सहायता की थी जिसके प्रत्युपकार रूप कुमारपाल ने उसे व्याघ्रपल्ली नामक गाँव प्रदान किया था। इस गाँव के नाम पर उस वंश का नाम बघेड़ पड़ा। लवणप्रसाद कुशल सेनापति था। उसके पुत्र वीरधवल ने भीम के दुर्बल तथा अयोग्य उत्तरदायी त्रिभुवनपाल को हटाकर अन्हिलवाड़ा के राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बघेल वंश के अन्तिम राजा कर्ण (१२८६-१३०४) को अलाउद्दीन की सेना ने गुजरात से मार भगाया था। यह वंश चार पीढ़ियों तक चला। वीरधवल के अनन्तर क्रमशः अर्जुनदेव तथा सारंगदेव और फिर कर्ण हुए। इन्हीं बघेल राजाओं के महान एवं प्रसिद्ध मंत्रियों, वस्तुपाल और तेजपाल ने आबू और गिरनार के जैन-मंदिर निर्माण करवाए थे। अब इस वंश के प्रतिनिधि रीवाँ तथा सुहावल के राजवंश हैं और इन्हींके राज्य के कारण प्राचीन जेजाभुक्ति प्रदेश का नाम बघेल-खण्ड पड़ा।

गुजरात के चालुक्य राजाओं के अभिलेखों में जो उनकी कीर्ति के गुणगान किए गए हैं उनमें शायद सबसे अधिक ध्यान देने योग्य भीम द्वितीय का अपने आप को केवल अभिनव सिद्धराज की उपाधि से अलंकृत करना ही नहीं है, वह अपने आप को सप्तम चक्रवर्ती तथा भारतवर्ष का सम्राट भी कहता था। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रहे कि यह राजा इतना अयोग्य था कि उसके मंत्रियों ने उसकी सारी शक्ति को अपने नियंत्रण में करके उसे केवल नाम का ही गद्दीधारी छोड़ दिया था। इस प्रकार की अनेक बातें इन राजाओं की निर्मूल तथा तुच्छ मनोभावनाओं व अहंकार को ही प्रदर्शित करती हैं।

## सेन वंश

सेन वंश का संस्थापक सामन्त सेन (१०१५-७५) सम्भवतः कर्नाटक का एक ब्राह्मण सैनिक था। जान पड़ता है कि ११वीं शती में जब कर्नाटक के राजाओं ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किए थे उसके साथ सामन्त सेन एक सैनिक के रूप में बंगाल आया। कुछ विद्वानों का विचार है कि वह पहले जैन था और फिर उसने शैव मत स्वीकार किया था। इसके बाद वह कल्याणी के चालुक्य विग्रहपाल तृतीय के साथ बंगाल की चढ़ाई पर गया और वहाँ पाल वंश के पतन के कारण उसे अपना राज्य स्थापित करने का अवसर मिल गया। सामन्त सेन के उत्तराधिकारी हेमन्त सेन (१०७५-९७) और फिर विजयसेन (१०९७-११५९) हुए। विजयसेन ने बंगाल के वर्मन वंश को नष्ट करके उस भूमि पर अधिकार कर लिया। उत्तर बंगाल से उसने मदनपाल को भी निकाला। कहा जाता है कि उसने नेपाल, आसाम और कलिंग को भी जीता था तथा एक नौसेना गंगा नदी के द्वारा उत्तर की ओर भेजी थी। इस प्रकार राजपाल (पाल वंशीय) की मृत्यु के बाद विजयसेन ने सेन वंश की स्थापना की जिसमें प्रायः समस्त बंगाल सम्मिलित था। अन्य तत्कालीन हिन्दू राजाओं के समान उसने भी

परम महेश्वर तथा अरिवृषभ शंकर आदि की उपाधियाँ धारण कीं और एक शिव मन्दिर तथा एक बड़ा जलाशय भी बनवाया। उसने विजयपुर नगर की स्थापना की। विजयसेन के बाद बल्लालसेन (११५८) गद्दी पर बैठा। बल्लालसेन ने अपने पिता के साम्राज्य तथा सत्ता को पूरी तरह सुरक्षित रखने में पूरा प्रयत्न किया। उसने साम्राज्य पाँच प्रान्तों में विभक्त किया और तीन राजधानियाँ बनाई अर्थात् गोंड, विक्रमपुर तथा स्वर्णग्राम। जिस प्रकार देवगिरि के यादव राजाओं के मन्त्री हेमाद्रि ने हिन्दू धर्म के यज्ञ आदि पर चतुरवर्ग चिन्तामणि नामक एक विस्तृत ग्रन्थ लिखा था इसी प्रकार और उसी समय बल्लालसेन ने अपने गुरु अनिरुद्ध की सहायता से एक वृहद् ग्रन्थ दानसागर की रचना की जिसमें धर्म-सम्बन्धी दानों का बड़ा विस्तृत प्रतिपादन किया। उसने एक और ग्रन्थ अद्भुतसागर नामक लिखना प्रारम्भ किया किन्तु वह उसे पूरा न कर पाया। इस ग्रंथ को उसके पुत्र लक्ष्मणसेन ने समाप्त किया। लक्ष्मणसेन का पिता बल्लालसेन जब वृद्ध हो गया तो वह अपनी रानी सहित तीर्थवास करने प्रयाग चला गया और वहाँ त्रिवेणी के पवित्र संगम में अपने को विसर्जन कर दिया। लक्ष्मणसेन ने कलिंग, आसाम, बनारस तथा प्रयाग में विजय स्तम्भ स्थापित किए थे ऐसा उसकी प्रशस्तियों में वर्णित है किन्तु वास्तविक बात यह जान पड़ती है कि उसने उन प्रदेशों पर आक्रमण किए हों। लक्ष्मणसेन ब्राह्मण पण्डितों का तथा शैव मत का महान् पोषक व आश्रयदाता था। उसके राजदरबार के पंचरत्न प्रसिद्ध थे अर्थात् उमापतिधर, गीतगोविन्द का रचयिता जयदेव, पवनदूत कर्त्ता घोई, ब्राह्मण सर्वस्व का लेखक हलायुध तथा सदुक्ति करुणामृत का कर्त्ता श्रीधरदास। लक्ष्मणसेन स्वयं भी बड़ा पण्डित था। उसने मदनशंकर तथा परम वैष्णव की उपाधियों से अपने को अलंकृत किया था क्योंकि वह धीरे-धीरे वैष्णव मत की ओर झुक गया था। उसके राज्य के विषय में मुसलमान लेखकों ने बड़ी प्रशंसा की है। ११९९ में एक तुर्क सैनिक मोहम्मद-बिन-बख्तयार ने लक्ष्मणसेन की धर्म राजधानी नवद्वीप (नदियाँ जो अब पूर्वी पाकिस्तान के अधीन हैं) पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया और लखनौती को राजधानी बनाया और बंगाल तथा बिहार पर अपना अधिकार स्थापित किया। इस प्रकार सेन वंश तथा उसकी सत्ता का अन्त हुआ, किन्तु लक्ष्मणसेन के वंशज पूर्वी बंगाल में लगभग १२८० तक विद्यमान रहे। बिहार, बंगाल के मुसलमानों द्वारा विजय का वृत्तान्त तुर्की विजय के प्रसंग में विस्तार दिया जाएगा।

●

छः

# शहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ूरी के आक्रमण और तुर्क सल्तनत की स्थापना

## ( अ )

### १००० से १२०० तक उत्तर-पश्चिम एशिया की दशा

महमूद गज़नवी के बाद की दो शताब्दियों में मध्य एशिया के अन्दर दो बड़े राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। इनमें खुरासान की पूर्वी सीमा पर तुर्किस्तान के इल्खान आगे बढ़े और पश्चिम में इस्लाम की बढ़ती हुई बाढ़ को पहले-पहल इन लोगों ने रोका। इल्खानों के भय से बचने के लिए खुरसान के सामानी शासक ने सुबुक्तगीन से सहायता की याचना की। इस सेवा के उपलक्ष्य में सुबुक्तगीन को खुरासान का प्रान्ताधीश बना दिया गया। किन्तु कुछ समय के अनन्तर सुबुक्तगीन ने इलकखाँ से सन्धि करके मावराउननहर (सरदरिया और आमू दरिया के उस पार का प्रदेश) को परस्पर बाँट लिया। इस सन्धि के अनुसार सुबुक्तगीन का सरदरिया के दक्षिण की तरफ समस्त भूमि पर आधिपत्य हो गया और इलकखाँ के अधिकार में सरदरिया की समस्त घाटी आ गयी। निस्सहाय सामानी राजा अपनी सकुंचित बादशाहत को लेकर चुप बैठा रहा।

**सल्जुक वंश का उत्कर्ष और यामिनी वंश**—इस घटना के बाद सुबुक्तगीन के वंश को उत्कर्ष बड़ी तीव्र गति से हुआ और उसके पुत्र महमूद ने अपने शौर्य एवं महत्वाकांक्षा से एक विस्तृत साम्राज्य बना डाला। साथ ही उसके समय में फारस की प्राचीन संस्कृति तथा साहित्य को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला परन्तु बहुत ही जल्दी एक नई शक्ति के उत्थान के कारण फारस के सांस्कृतिक उत्थान तथा गज़नवी साम्राज्य दोनों की ही प्रगति को एकाएक रुक जाना पड़ा। **यह शक्ति गज्ज तुर्कों की थी**। खिलाफ़त की आन्तरिक परिस्थिति बहुत निर्बल हो चुकी थी। इसी समय तुर्कों के गिरोह खुरासान व ईरान की तरफ़ उतर पड़े। इनमें गज्ज फिरक़े के तुर्क सर्वोपरि थे। इस कुल का सरदार सल्जुक था, जिस कारण उस वंश का नाम सल्जुक वंश पड़ा। महमूद हिन्दुस्थान के हमलों में इतना व्यस्त था कि वह इस उठते हुए नये संकट को न रोक सका और न ही उसके भावी महत्त्व को समझ पाया। वे उसके रोके न रुके

और समूचे ईरान पर बिखर गए। महमूद की मृत्यु के बाद १०३० में उसके बेटे मसूद के सामने तीन गहन समस्याएँ थीं अर्थात् हिन्दुस्तान के प्रान्त को सुरक्षित रखना, फारस की छोटी-छोटी स्वतन्त्र रियासतों को नियन्त्रित रखना तथा गज्ज तुर्कों के फैलाव को रोकना। १०३७ तक सल्जुक भाइयों ने खुरासान तथा वंक्षु (आमू नदी) तक के प्रदेशों को अधिकृत कर लिया।

सल्जुक के बेटे तुगरिल ने खुरासान पर अपने भाई को नियुक्त करके स्वयं पश्चिमी एशिया के प्रदेशों को रौंद डाला। १०५४ में वह बगदाद पर चढ़ आया। परन्तु निश्शक्त ख़लीफ़ा ने उसका स्वागत किया और उसकी सहायता से खिलाफ़त को मरने से बचाया। परन्तु इसके उपहार में तुगरिल ने जो सत्तर वर्ष का बूढ़ा था, खलीफा की युवती पुत्री को अपने लिए माँगा। निस्सहाय ख़लीफ़ा को विवश होकर इस अपमानजनक प्रस्ताव को स्वीकार करना पड़ा। १०६३ में वह दुखी शहाज़ादी तुग़रिल के पास जाने को रवाना हुई किन्तु सौभाग्य वंश मार्ग में ही उसको यह सुन कर भारी सन्तोष हुआ कि बूढ़ा तुगरिल परलोक सिधार गया।

इन तुर्कों के सामने सबसे गहन समस्या थी अपने जीते हुए पाश्चात्य इस्लामी प्रान्तों के शासन को सुव्यवस्थित करने की। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार अरब विजेताओं ने फारस के योग्य पुरुषों को अपना शासन चलाने के लिए सर्वोच्च पदों पर नियुक्त किया था, उसी प्रकार तुर्कों को भी फारसी मंत्रिमंडल बनाने पड़े। इन फारस के मन्त्रियों के हाथ में शासन की बागडोर होने के कारण प्राचीन फारसी (ईरानी) संस्कृति की रक्षा हुई तथा अरबी और फारसी साहित्य दोनों को ही भारी प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त इस तुर्की साम्राज्य के द्वारा खिलाफ़त के बिखरे हुए टुकड़ों का राजनीतिक एकीकरण हो गया और एक बार फिर अफ़गा-निस्तान से भूमध्यसागर तक का प्रदेश एक सत्ता की छत्रछाया में आगया।

सल्जुक वंश ने लगभग १०० वर्ष तक राज्य किया। इसमें चार बड़े महान् बादशाह हुए जो न केवल शूरवीर किन्तु बड़े बुद्धिमान भी थे। इनमें पहले दो सम्राटों (अल्प अरसलान और मलिकशाह) ने अपने साम्राज्य को मिस्र और एशियाई तुर्की तक बढ़ाया। किन्तु इन दोनों सम्राटों की ख्याति उनके योग्य ईरानी मन्त्री निज़ामुलमुक के सामने फीकी पड़ गई। निज़ामुल्मुल्क उन तीन जगद्विख्यात सहपाठियों में से था जिनमें से एक उमर खय्याम और दूसरा हसन बिन्सब्बाह था। यही हसन अन्त में उस महान् सचिव के वध का कारण बना। निजामुल्मुल्क ने सल्जुक साम्राज्य की बड़ी सच्चाई तथा योग्यता के साथ व्यवस्था की। वह स्वयं प्रकाण्ड पंडित था और उसने राजधर्म पर **'सियासत नामा'** नाम की एक अत्युत्तम पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त उसने विद्या-प्रचार तथा साहित्योन्नति को प्रोत्साहन देने के लिए बगदाद, नीशापुर तथा अन्य प्रसिद्ध नगरों में महाविद्यालय खोले। वह साहित्य तथा कला का परम पोषक था। उसने पंजिका (Calendar or Almanac)

का संशोधन कराने के लिए प्रसिद्ध ज्योतिर्विदों की एक सभा आयोजित की। इस प्रकार निज़ामुलमुल्क ने अपने अद्वितीय गुणों एवं योग्यता से इस तुर्की ईरानी साम्राज्य की नीवों को सुदृढ़ किया।

सल्जुक वंश का अन्तिम महान् सम्राट् सुल्तान संजर था जो १११६ में राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। आरम्भ में उसने अनेक प्रदेश जीते और गज़नी, समरकन्द तथा ग़ूर शासकों को परास्त किया। परन्तु अन्त में तुर्कों की एक और बाढ़ ने उत्तर पूरब (चीन) की तरफ़ से आ कर सल्जुक साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। साम्राज्य के ह्रास के कारण उसके अधीन छोटे-छोटे राज्यों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इन्हीं में ख्वराज्य (खीवा) का अधीनस्थ शासक आतसीज़ भी था। ख़्वारिज़्म वह प्रदेश था जिसके पश्चिम में कश्यप समुद्र (Caspian Sea), पूर्व में बुखारा तथा वंक्षु और दक्षिण में खुरासान था। हम देख चुके हैं कि इस पर पहले सामानी वंश का अधिकार था और उनसे सुबुक्तग़ीन के वंशजों ने इसे हड़प लिया था और फिर सल्जुकों ने। सामानी राजत्व काल से ही ख़्वारिज़्म के शासकों को ख़्वारिज़्मशाह की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। ख़्वारिज़्मशाह के वंश का उत्कर्ष मध्य एशिया के तत्कालीन राजनीतिक वायुमण्डल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी। इस वंश के शासकों ने आगामी शताब्दी में मध्य एशिया के इतिहास को सबसे अधिक प्रभावित किया। ग़ज़नी वंश के पराभव का दूसरा परिणाम हुआ ग़ूरी वंश का उत्थान जो हिरात और गज़नी के मध्यवर्ती प्रदेश पर सल्जुकों के अधीनस्थ शासन कर रहे थे। ग़ूरी वंश ने इस अवसर से लाभ उठाकर गज़नवी प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। इस प्रकार सल्जुक और गज़नवी साम्राज्यों के स्थान पर ख़्वारिज़्मशाह तथा ग़ूरियों की सत्ता स्थापित हुई। इन दोनों में अलाउद्दीन ख़्वारिज़्मशाह (११९९-१२२०) बहुत योग्य था। उसने अपने साम्राज्य का बहुत विस्तार किया और ग़ूरियों को खुरासान से निकालकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसीने कराखितई तुर्कों की बाढ़ को रोका और उनको पूर्व की ओर पीछे धकेल दिया। उसका साम्राज्य फारस से समरकन्द और बुखारा तक फैला हुआ था। १२१४ में उसने ग़ूरियों को गज़नी व अफ़ग़ानिस्तान से भी निकाल बाहर किया।

मध्य एशिया की राजनीतिक प्रगति में तीसरी महत्वपूर्ण घटना थी मंगोलों का उत्थान तथा टिड्डी दल के समान समूचे एशिया पर छा जाना। इसके नेता चंगेज खाँ ने १२०७ से १२१७ के अन्दर लगभग समस्त चीन पर अधिकार करके समरकन्द व बुखारा तक अपना शासन स्थापित किया। तदनन्तर उसने अपने असंख्य सैनिक दल को तीन बड़े-बड़े भागों में बाँट कर और अपने तीन बेटों को इनका संचालक नियुक्त करके ख़्वारिज़्म, खुरासान, अफगानिस्तान, आजरबाईजान (ईरान का उत्तर-पश्चिमी भाग), जॉर्जिया तथा दक्षिण रूस तक के विस्तीर्ण देशों को रोंद डाला। ये मुगल अभी तक मुसलमान नहीं बने थे। इनकी बाढ़ में एक बार पश्चिम तथा मध्य एशिया का सम्पूर्ण मुस्लिम जगत विलीन हो गया।

उपर्युक्त परिस्थिति के दृश्य से विदित होगा कि मुगल झंझावात के कारण मध्य एशियाई मुसलमानी राज्यसत्ताएँ अत्यन्त क्षीण तथा निःशक्त हो गई थीं। इस झंझावात से कुछ ही दिन पूर्व मुहम्मद गूरी ने हिन्दुस्तान पर आक्रमणों की बौछार की थी जिसके परिणामस्वरूप भारत में केवल दस-बारह वर्ष के अल्प समय में तुर्की सत्ता उत्तर भारत के पश्चिम से पूर्वी छोर तक स्थापित हो गई थी। इन आक्रमणों की बौछारों के सामने बड़े-बड़े हिन्दुस्तानी राजपूत योद्धा न ठहर सके। कहना न होगा कि तुर्की राज्य-स्थापना के बाद कम-से-कम दो सदियों तक साम्राज्य का संगठन सुव्यवस्थित अथवा दृढ़ न हो सका था। इसके अतिरिक्त गूरी सुलतान के दास सैनिक जिन्होंने भारत के विभिन्न प्रदेशों को जीता था, अपने-अपने स्थान पर प्रायः स्वतन्त्र शासन कर रहे थे और उनमें से प्रत्येक की आकांक्षा थी कि वह दिल्ली का शासक बनकर सल्तनत में सर्वोपरि स्थान को प्राप्त करे। अतएव यह लोग आपस में सदैव लड़ते रहते थे। कुत्बुद्दीन ऐबक को इन प्रतिद्वन्दी तुर्की सैनिकों को दबाए रखने के लिए बड़ी बुद्धिमानी तथा युक्ति से काम लेना पड़ा था। इसलिए स्पष्ट ही है कि तुर्की सत्ता की नींव बहुत समय तक दृढ़ न हो पाई थी। हिन्दुस्तान के राजपूत सैनिक व राजागण ऐसी परिस्थिति का भी जबकि तुर्की शक्ति इतनी अव्यवस्थित थी और मध्य एशिया से उसे कोई सहायता न मिल सकती थी, कोई लाभ न उठा सके। इस शोचनीय परिस्थिति के कारणों की विवेचना हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे। तत्कालीन उत्तर भारत के हिन्दू राज्यों का विवरण पिछले अध्यायों में दिया जा चुका है।

## शहाबुद्दीन मुहम्मद गूरी के आक्रमणों की पृष्ठभूमि

मुहम्मद गूरी के हिन्दुस्तान पर आक्रमणों का वृत्तान्त देने से पहले यह आवश्यक है कि हम उन हमलों के समय की पृष्ठभूमि को भली-भाँति समझ लें। इस सम्बन्ध में पहला ध्यान देने योग्य विषय है—उत्तर-पश्चिम की भौगोलिक रचना, उसके नदी, पहाड़ तथा सार्थवाह (मार्ग) जिनसे बाहरी आक्रामक देश में घुस सकते थे। भौगोलिक रचना का विश्लेषण काफी विस्तार के साथ पहले अध्याय में किया जा चुका है तथापि यह अनुपयुक्त न होगा, कि उसके उन विशेष चिह्नों की ओर फिर से ध्यान आकर्षित कर दिया जाय जिनका लाभालाभ आक्रामक व आक्रान्त दोनों ने अपनी-अपनी सामरिक समझ के अनुसार उठाया।

उत्तर-पश्चिम और पश्चिम की भौगोलिक रचना बहुरंगी है। पहले चितराल से लगभग अरब सागर के तट तक बराबर पहाड़ी शृङ्खला की एक दीवार खड़ी है। यह प्रायः सूखे अनउपजाऊ ऊँचे-नीचे टीलों की बनी है जिनमें पानी भी आसानी से प्राप्त नहीं होता है। अतएव वहाँ के निवासियों को जीवित रहने के लिए इन नैसर्गिक बाधाओं से सतत संघर्ष करना पड़ता है। इसी कारण वहाँ के लोग बड़े वीर, निर्भीक तथा कठोर हृदय होते हैं, जिन्हें न अपनी जान की परवाह होती है,

न दूसरे की। इस पहाड़ी दीवार का मुल्तान से नीचे का हिस्सा उत्तरी भाग की अपेक्षा अधिक दुर्वाह है क्योंकि उसके पूरब में एक विस्तृत रेगिस्तान की झुलसती हुई भूमि पड़ी हुई है। इस रेगिस्तान के द्वारा भारत में घुसने की चेष्टा करनेवालों को कभी सफलता न मिल सकती थी और न मिली। पश्चिमी राजपूताना तथा पूरबी सिन्ध अपनी इस नैसर्गिक अवस्था के कारण कभी किसी बड़े साम्राज्य के केन्द्र न हुए, किन्तु वहाँ के निवासी योद्धा व शूरवीर होते आए। इस रेगिस्तान के प्रदेश को पूर्वी राजपूताना से अरावली की पहाड़ीविभाजित करती है। उसके पूरब का प्रदेश अपेक्षा से बहुत अधिक उपजाऊ, घनी, आबादीवाला तथा सुसम्पन्न रहा है। यह पूरब की तरफ उत्तर प्रदेश की हरी-भरी, उपजाऊ व धनधान्य से भरपूर भूमि से जा मिला है।

उपर्युक्त पहाड़ी दीवार का उत्तरी भाग पंजाब की सीमा बनाता है। उसके कोई ५० मील पूरब में सिन्ध नदी की दूसरी आड़ है जिसको पार किए बिना कोई आक्रामक अन्दर नहीं पहुँच सकता। परन्तु फिर उसे पाँच बड़े-बड़े और कई दरियाओं को पार करना भी आवश्यक है। पंजाब का यह भाग जिसके द्वारा हमलावरों को अन्दर जाना पड़ता है लगभग १००, १५० मील चौड़ी गली के समान है और जमुना तक पहुँचकर तो वह और भी तंग हो जाती है। इसी द्वार-गली के मुँह के द्वारा बाहरी आक्रामक हिन्दुस्तान तक पहुँच सकते थे। पर एक बार जमना की धार को पार कर लेने के बाद आक्रामक दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण व पूरब में बेरोक-टोक कई सौ मील तक घुस सकता था। पूरब में वहाँ तक वह आसानी से जा सकता था जहाँ पर गंगा-जमुना मिलती हैं और विन्ध्य पर्वत उत्तर-पूरब की तरफ बढ़ता हुआ गंगा की धार के इतने निकट आ जाता है कि आवागमन का मार्ग फिर एक तंग गली के समान रह जाता है। यदि आक्रामक गंगा को पार करके पूरब के मार्ग से जाना चाहे तो फिर पंजाब सरीखे दरियाओं की कई धाराएँ थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसकी गति को रोकती हैं।

इन सब नैसर्गिक चिह्नों के कारण जितनी कठिनाइयाँ व रुकावटें बाहरी आक्रान्ताओं को रोकती थीं, उतना ही फायदा तथा शक्ति वे हिन्दुस्तान के राजाओं को प्रदान करती थीं। इनका उपयुक्त सामरिक लाभ यदि हिन्दुस्तान के वीर राजपूत उठाना जानते तो देश इतनी आसानी से व इतने थोड़े समय में उनके हाथ से न छिन जाता। भूगोल के इस आवश्यक आदेश की अवहेलना करने और उस पर ध्यान न देने का परिणाम विनाशकारी होना अवश्यम्भावी था।

उन दिनों गज़नी से आनेवाले आक्रान्ता खैबर या बोलन दर्रों के मार्गों से ही नहीं आते थे। उनके लिए गोमल के दर्रे से जो उनके निकट था, आना आसान था। इसके द्वारा वे डेराइस्माइलखाँ में घुसकर सिंध सागर दोआब तक पहुँच जाते थे। कुर्रम, टोची आदि दर्रों का इतना प्रयोग नहीं हो सकता था जितना गोमल का होता था। इसी कारण १३वीं शती में जितने हमले हुए, पहले वे मुल्तान और

उच्च पर पहुँचते थे। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखने से ही ग़ूर आक्रमणों की सफलता विफलता के कारण तथा परिणाम ठीक समझ में आ सकेंगे।

## (आ)

**शहाबुद्दीन के हमले**—ग़ूरी वंश के वृत्तान्त में उसके और उसके बड़े भाई गियासुद्दीन ग़ूरी के परस्पर प्रेम व ऐक्य का बयान किया जा चुका है। उन दिनों जबकि राजघरानों के भाई-भाइयों में इतने कलह रहते थे और एक-दूसरे की जान के प्यासे होते थे, ऐसे प्रेम व परस्पर प्रतिष्ठा का होना एक असाधारण घटना थी। यह भी कहा जा चुका है कि ११७३ में गयासुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम ने गज़नी से सल्जुक शासक को निकालकर अपने छोटे भाई शहाबुद्दीन मुहम्मद को उसका शासक नियुक्त किया। इसके अतिरिक्त उसने अपने भाई को पूर्णरूप से स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा नीति संचालन करने की आज्ञा दी। ऐसे अच्छे वायु-मण्डल में मुहम्मद ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किए और उसके भाई ने इसमें उसका विरोध करने के स्थान पर उसकी सहायता की। मुहम्मद ने भी कभी अपनी शक्ति का लाभ उठाकर बड़े भाई के स्थान तथा प्रतिष्ठा को हड़पने का विचार न किया।

मुहम्मद ने ११७५ में हिन्दुस्तान पर पहली चढ़ाई की और मुल्तान के **इस्माइली** द्रोहियों को दंडित किया और उस नगर को अपने अधिकार में करके उच्च के भारी किले पर जा पहुँचा। इस किले को उसने एक युक्ति से अपने कब्ज़े में किया। उसने उस किले की रानी से मिलकर जो अपने पति से नाराज़ थी, राजा को ज़हर देकर मरवा डाला और फिर रानी और उसकी पुत्री को कैद करके गज़नी भिजवा दिया। इस प्रकार इन दो बड़े सीमवर्ती नगरों पर अधिकार करके मुहम्मद गज़नी लौटा।

**अन्हिलवाड़ा पर आक्रमण**—फिर लगभग दो वर्ष तक तैयारी करके मुहम्मद मुल्तान व उच्च के मार्ग से होता हुआ रेगिस्तान के द्वारा अन्हिलवाड़ा पाटन पर जा पहुँचा। यहाँ का राजा मूलराज सोलंकी था। इस मार्ग से आक्रमण करके मुहम्मद ने इस बात का परिचय दिया कि वह सामरिक परिस्थितियों को समझने में पर्याप्त चतुर नहीं था तथा काफी भूल कर सकता था। महमूद गज़नवी के सोमनाथ पर आक्रमण करने तथा मरुभूमि को पार करने में जो कटु अनुभव उसे हुआ था उससे मुहम्मद ग़ूरी ने शिक्षा न ली। न वह यह समझ सका कि राजस्थान अथवा गुजरात को जीतने के लिए उत्तर-पश्चिम से आनेवाले सभी आक्रांताओं के लिए पहले दिल्ली के नाके पर अधिकार करना आवश्यक था। परिणाम उसके लिए बहुत विनाशकारी हुआ। रेगिस्तान को पार करने में अनेक कठिनाइयों के कारण उसकी सेना अत्यन्त क्षीण तथा क्लांत हो गई और उसमें मूलराज की सेना से लड़ने की शक्ति न रही। यद्यपि तुर्क लोग बड़ी वीरता से लड़े किन्तु पूरी तरह हारकर उनको उसी रास्ते से पीछे हटना पड़ा। वापसी में

उनकी कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ गई और गजनी पहुँचते तक सुलतान की सेना का बहुत ही थोड़ा-सा थका माँदा हिस्सा बाकी रह गया। इस घटना में एक और बात भी ध्यान देने के योग्य है। तुर्की आक्रामक के इस प्रकार परास्त तथा उसकी शक्ति के नष्ट होने के सुअवसर से उत्तर भारत के हिन्दू राजा देश की रक्षा करने के हेतु जो पूरा लाभ उठा सकते थे उसकी उन्होंने तनिक भी परवाह न की। परन्तु मुहम्मद इस पराजय से हतोत्साह न हुआ। अगले ही वर्ष वह पेशावर पर चढ़ आया और गज़नी सुलतान खुसरो मलिक के शासक से उस नगर को छीनकर लाहौर की तरफ चला। मार्ग में अपनी पृष्ठभूमि को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से उसने स्यालकोट में एक भारी किला बनवाया और उसमें अपनी सेना रखी। गज़नवी वंश के लाहौर के अन्तिम शासक को किस प्रकार धोखे से पकड़कर मुहम्मद ने गोरबन्द भिजवाया था, यह पिछले अध्याय में बतलाया जा चुका है।

**तुर्कों का सिन्ध-राजपूताना की तरफ से हिन्दुस्तान में घुसने का प्रयत्न**—महमूद गज़नवी के वंशजों ने जो लाहौर में राज्य कर रहे थे कई बार मुल्तान की तरफ से राजस्थान पर आक्रमण किए। इन आक्रमणों के काफी प्रमाण मिलते हैं। नाडौल के चौहान राजा चच्चिकदेव के अभिलेख से पता चलता है कि उसके एक पूर्वज अंणहिल्लदेव ने एक तुर्की सेना को हराया और नष्ट किया था यह अणहिल्लदेव भीम चालुक्य प्रथम का समकालीन था। उसके बेटे ने भी एक तुर्की सेना को इसी प्रकार नष्ट किया था। तबकाते नासिरी में लिखा है कि लाहौर के शासक बहराम सेनापति ने मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर नागौर को अधिकृत किया था। इन तुर्की आक्रमणों के कारण राजपूताना के राजा अपनी रक्षा करने में लगे रहे। किन्तु इस मार्ग से आक्रमण करनेवाले तुर्क उस प्रदेश की भौगोलिक रचना को नहीं समझ पाये। इसीसे ये आक्रमण सफल न हो पाए।

**पृथ्वीराज से पहली लड़ाई**—पृथ्वीराज चौहान और ग़ूरी के युद्ध का विवरण देने से पहले यह बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि महमूद गज़नवी के बाद पंजाब के तुर्की शासक अक्सर गंगा-यमुना के दोआब और उसके पूर्वी प्रदेशों पर बनारस तक धावे मारते रहे। अहमद न्याल्तगीन के बनारस को विध्वंस करने का वृत्तांत दिया जा चुका है। उसके अतिरिक्त, मसूद ने हाँसी को अपने अधिकार में किया था और इब्राहीम के बारे में भी कहा जाता है कि वह काफिरों के विरुद्ध बराबर आक्रमण करता रहता था। इन आक्रमणों का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि गहरवाल राजा गोविन्दचन्द्र ने एक बार तुरुष्कदण्ड नामक कर लगाया था जो शायद तुर्कों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए ही लगाया हो। कन्नौज के गहरवाल राजा गोविन्दचन्द्र तथा गहरवालों के सामन्तों के अभिलेखों से भी पता चलता है कि इन लोगों ने तुर्कों से लड़ाइयों की थीं। इन सब अभिलेखों में इन राजाओं व सामन्तों के तुरुष्कों को नष्ट करने तथा पृथ्वी को उनके आतंक से मुक्त करने का श्रेय दिया जाता है। यहाँ तक कि विद्यापति की पुरुष-परीक्षा में जयचन्द गहरवाल के

सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने गूरी के तुर्क शासक को अधीन किया था। इसी प्रकार अन्य तत्कालीन साहित्य में अनेक कल्पित घटनाएँ दी गई हैं जिनसे इन अयोग्य राजाओं के क्षुद्र अहंकार की तुष्टि की जाती थी। ध्यान देने की बात है कि उस युग में इन राजपूत राजाओं को पतित बनाने तथा खोखले दम्भ व अहंकार से उनके हृदयों को सन्तुष्ट करने में तत्कालीन साहित्यिकों ने भी कोई कसर नहीं छोड़ी थी। दोनों एक-दूसरे को अपकर्ष के गर्त में ले जाने के प्रयास में लगे हुए थे।

**मुहम्मद की राय पिथोरा से पहली लड़ाई**—मुहम्मद गूरी की पृथ्वीराज पर चढ़ाई चौहानों के विरुद्ध तुर्कों की पहली ही चढ़ाई नहीं थी। चौहानों के दिल्ली को जीतने से पहले भी उनके राज्य पर तुर्कों ने कई आक्रमण किए थे। अजमेर के राजा अजयदेव चौहान ने एक तुर्की आक्रमक की सेना को पीछे हटाया था। उसके उत्तराधिकारी आर्णोराज के समय में तुर्कों ने अनासागर व पुष्कर के मन्दिरों को तोड़ा। उसके बाद स्वयं दिल्ली के विजेता विग्रहराज (बीसलदेव) का भी संघर्ष लाहौर के तुर्कों से होना निश्चय जान पड़ता है। सब ही समकालीन हिन्दू लेखकों का कहना है कि पृथ्वीराज ने मुहम्मद गूरी को कम-से-कम सात बार हराया था। पर मुस्लिम लेखक सिर्फ गूरी के एक बार हारने का उल्लेख करते हैं। जान पड़ता है ११८१ के बाद से गूरी सुलतान के सैनिकों ने चौहानों के सीमान्त नाकों पर धावे मारे हों और उन्हें चौहानों ने पछाड़ा हो। इन्हीं लड़ाइयों को भारतीय लेखकों ने बढ़ाकर लिखा है और इसके उलटा मुसलमानों ने इनका निर्देश करना भी ठीक न समझा। ११८९ ई० में मुहम्मद गूरी **'तबरहिन्दा'** यानी सरहिन्द* पर चढ़ आया और उस पर क़ब्ज़ा कर लिया। तब उसकी रक्षा के लिए १२०० सेना अपने एक सेनानायक के संचालन में छोड़कर वह वापस लौटने की तैयारी करने लगा किन्तु इसी बीच में पृथ्वीराज एक बहुत बड़ी सेना लेकर उससे लड़ने पहुँच गया। तराई गाँव के पास दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ और मुहम्मद गूरी पूरी तरह से परास्त हुआ, बड़ी कठिनाई से उसकी जान बची। वह स्वयं इतना आहत हो गया था कि एक ख़ल्जी घुड़सवार ने जब उसको गिरते देखा तो दौड़कर सुलतान के पीछे उसके घोड़े पर बैठकर उसको सँभाला और युद्ध-क्षेत्र से निकाल ले गया। मुहम्मद किसी प्रकार गज़नी वापस लौटा। किन्तु वह इस भयानक पराजय से हतोत्साह न हुआ। उसने तुरत दूसरे हमले की तैयारी शुरू कर दी। इधर पृथ्वीराज ने सरहिन्द के किले को वापस लेने के लिए उस पर घेरा डाला किन्तु आश्चर्य है कि किले को जीतने में उसको पूरे १३ महीने लग गए।

---

*हम डा० दशरथ शर्मा के इस मत से सहमत हैं कि यह स्थान भटिंडा नहीं था जैसाकि सभी आधुनिक लेखकों ने माना है। तराई ग्राम करनाल जिले में उसी स्थान के पास है जहाँ महाभारत का महायुद्ध हुआ था। देखो, 'अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़,' पृ० ८२

यदि पृथ्वीराज ने इस स्वर्ण अवसर से पूरा लाभ उठाकर देश की उत्तर पश्चिम सीमा तक सारा प्रदेश अपने अधिकार में करके भारत में आनेवाले दर्रों और मार्गों को सुचारु रूप से दृढ़ तथा सुरक्षित कर दिया होता तो ग़ूरी सुलतान के लिए देश में दुबारा आना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो जाता। अपने साम्राज्य तथा प्रजा का इन हमलों से सुरक्षित करने का इससे अच्छा अवसर उत्तर भारत के शासक को नहीं मिल सकता था। किन्तु अन्य राजपूत शूरवीरों के समान पृथ्वीराज को भी इस आवश्यक सामरिक सुरक्षा की सूझ न आई। सरहिन्द के अन्दर जो तुर्की सेना थी उसको अपनी थोड़ी-सी सेना से घेरा डलवाकर उनको दुर्ग के अन्दर ही बन्द रखा जा सकता था और इस प्रकार अपनी शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग देश की सीमा को सदा के लिए बाहरी हमलों से सुरक्षित करने में लगाया जा सकता था। किन्तु पृथ्वीराज ने ऐसा क्यों नहीं किया यह बात समझ में आना कठिन है, विशेषतया जब हम यह देखते हैं कि पृथ्वीराज को ज्ञात होना चाहिए था कि ग़ूरी सुलतान चुप न बैठेगा और फिर थोड़े ही दिनों के बाद आक्रमण करेगा। ऐसा ही हुआ। यह भी कहा जाता है कि पृथ्वीराज के धीर पुण्डीर नामक एक राजपूत सैनिक ने मुहम्मद ग़ूरी को पकड़ लिया था, किन्तु उससे ३० हाथी और ५०० घोड़े लेकर उसको छोड़ दिया।

## तराई की दूसरी लड़ाई

पृथ्वीराज सरहिन्द में अपना सारा समय बिताकर वापस लौट ही रहा था कि मुहम्मद ग़ूरी फिर चढ़ आया और दोनों सेनाओं की मुठभेड़ तराई के उसी रण-क्षेत्र पर फिर हुई। इस बार मुहम्मद बहुत भारी तैयारी करके आया था और पहले से ही उसने युद्ध-क्रिया की योजना निश्चय कर ली थी जिसकी सहायता से वह पूरी तरह विजयी हुआ और पृथ्वीराज अपने मुख्य-मुख्य सैनिकों सहित मारा गया। इस युद्ध के अवसर पर पृथ्वीराज की सेना लगभग तीन लाख बताई जाती है। इसके अलावा उसमें ३,००० हाथी भी थे। मुहम्मद ग़ूरी ने बहुत चतुराई तथा युक्ति से काम लिया। उसने अपनी समस्त सेना को पाँच भागों में विभक्त करके उनमें से एक को तो अवसर पड़ने पर काम में लेने के लिए २ मील पीछे ही छोड़ दिया और बाकी चार उप-सेनाओं ने हिन्दू शिविर को चारों ओर से घेरकर तीरों की बौछार करना शुरू किया और इस प्रकार जब हिन्दू सेना लगभग दोपहर बाद तक लड़ते-लड़ते क्लान्त हो गई तो पीछे छोड़ी हुई पाँचवीं उपसेना ने एकाएक थकी-माँदी हिन्दू सेना पर धावा बोल दिया। इस युक्ति के प्रयोग से हिन्दू सेना अन्त में निःशक्त हो गई और पृथ्वीराज का भाई गोविन्दराय (खांडेराय) मारा गया। मिनहाज़ के अनुसार 'पृथ्वीराज रणक्षेत्र से भागते हुए पकड़ा गया और सुलतान की आज्ञा से उसका सर काटकर सेना में घुमाया गया।' एक तत्कालीन लेखक का यह भी कहना है कि 'पृथ्वीराज को पकड़कर अजमेर ले जाया गया और वहाँ कुछ थोड़े समय के बाद उसका वध किया गया।'

तराई के रणक्षेत्र पर इस प्रकार हिन्दुओं का अन्तिम पराभव देश के इतिहास में एक चिरस्थायी परिणाम का कारण बना। इससे देश का भाग्य मौलिक रूप से पलट गया। एक विदेशी तथा विधर्मी जाति की सत्ता की स्थापना होने से देश की भावी संस्कृति तथा हर प्रकार की प्रगति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मुहम्मद ग़ूरी इस अद्वितीय विजय से मदान्ध होकर बेपरवाह नहीं हो गया। अपनी जीत को चिरस्थायी बनाने के लिए उसने तुरन्त हाँसी, कोहराम, सिरसुती, भटिंडा आदि समस्त बड़े-बड़े सैनिक नाकों तथा किलों को अधिकृत करके उन्हें अपनी सेनाओं से भर दिया। यद्यपि चौहान साम्राज्य पर पूरा अधिकार कर लेने से उसको रोकनेवाला अब कोई नहीं था तथापि उसने इसकी जल्दी नहीं की। उसने आगे बढ़कर अजमेर पर अधिकार कर लिया और उस नगर को जी भरकर लूटा तथा मन्दिरों को तोड़ दिया और उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवाईं। बतलाया जा चुका है कि विग्रहराज के संस्कृत कालिज को बदलकर अजमेर की बड़ी मस्जिद बनवाई गई जिसका नाम 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' पड़ा। किन्तु इसके बाद उसने पृथ्वीराज के बेटे को अजमेर का शासक नियुक्त किया और इसने सुलतान को वार्षिक शुल्क देने की शर्त मान ली।

अजमेर को लेने के बाद सुलतान दिल्ली की तरफ चला जहाँ उसने इतना बड़ा गढ़ देखा कि जिसकी दृढ़ता तथा ऊँचाई की तुलना हिन्दुस्तान भर में कोई गढ़ नहीं कर सकता था। यहाँ पर सुलतान को भीषण युद्ध करना पड़ा और दोनों सेनाओं का खूब खून बहा। अन्त में गढ़ के रक्षकों को हार माननी पड़ी और उसके शासक ने सुलतान का करद बनना स्वीकार किया। दिल्ली पर नियन्त्रण रखने के अभिप्राय से सुलतान ने इन्दरपत के प्राचीन दुर्ग में एक बड़ी सेना अपने सेनापति कुतबुद्दीन ऐबक के संचालन में छोड़ दी और स्वयं गजनी वापस लौट गया।

ऐबक को अब अपने निजी पराक्रम व चातुर्य के बल पर ही जीते हुए प्रदेश को अधिकार में रखना तथा अपने राज्य को और बढ़ाना था। ग़ूरी सुलतान के लौटते ही एक चौहान सैनिक ने हाँसी पर घेरा डाला। ऐबक तुरन्त घटनास्थल पर पहुँचा और चौहान सैनिक को परास्त करके राजपूताने की तरफ खदेड़ दिया। हाँसी को फिर से सुदृढ़ करके उसने गंगा-यमुना के दोआब को भी अधिकृत किया। दोआब में कन्नौज के गहरवालों के सामन्त शासक थे। उन्होंने कुतुबुद्दीन का बड़ा भयानक विरोध किया किन्तु अजयपाल नामक देशद्रोही के विश्वासघात के द्वारा बरन (बुलन्दशहर) तथा मेरठ आदि स्थानों पर ऐबक ने अधिकार कर लिया। इस अवसर पर मेरठ के दुर्ग में सेना नियुक्त करके ऐबक ने दोआब से आगे बढ़ने के लिए उसको अपना केन्द्र बनाया।

**दिल्ली पर अधिकार**—यहाँ तक अपनी शक्ति और सत्ता स्थापित करने के उपरान्त ऐबक ने देखा कि अब दिल्ली पर पूरी तरह अधिकार करना आवश्यक है और पहले की अपेक्षा सुगम भी। अतएव उसने दिल्ली के तँवर शासक को निकाल

कर उसे ग़ूरी सुलतान के हिन्दुस्तानी राज्य का ११९३ में केन्द्र बनाया।

इसके तुरन्त ही बाद पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने रणथम्भौर के मुस्लिम शासक को जा घेरा और साथ ही कुछ अन्य चौहान सैनिकों ने अजमेर से पृथ्वीराज के पुत्र को निकालकर उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। ऐबक पहले अजमेर की ओर चला और उसके निकट पहुँचने पर ये लोग अजमेर छोड़कर चले गए। हरिराज का पीछा ऐबक नहीं कर पाया था कि उसी समय उसके स्वामी मुहम्मद ग़ूरी ने उसे ग़ज़नी बुला भेजा। वह ६ महीने तक हिन्दुस्तान से बाहर रहा। इस अवकाश में हिन्दू राजाओं ने मिलकर खोए हुए देश को वापस क्यों नहीं छीन लिया यह बड़े आश्चर्य की बात है। अब ११९४ में ऐबक हिन्दुस्तान लौटा तो वह सीधा यमुना को पार करके दोआब के राजपूतों को पीछे हटाता हुआ कोयल (अलीगढ़) तक चला गया और उस नगर को अपने कब्ज़े में ले लिया। इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि दोआब के राजपूतों ने अवश्य देश को वापस लेने की कोशिश की होगी।

**गहरवाल राज्य तथा मध्य प्रदेश के अन्य स्थानों पर आक्रमण**—ऐबक ग़ज़नी सम्भवतः हिन्दुस्तान के आन्तरिक हिस्सों में घुसने कर योजना बनाने के लिए गया हो। दोआब के राजपूत सामन्तों पर आक्रमण करना इस योजना का पहला पग था। ११९४ के अन्तिम दिनों में ग़ूरी सुलतान ५०,००० घुड़सवार लेकर हिन्दुस्तान पर फिर से चढ़ आया और दिल्ली की सेना को अपने साथ मिलाकर कन्नौज की तरफ बढ़ा। कन्नौज के राजा जयचन्द ने निरीक्षण के लिए जो सेना आगे भेजी थी उसको परास्त करके वह एटा और कन्नौज के बीच में चन्दवर के स्थान पर गहरवाल सेना के सामने आया। गहरवाल राजा जयचन्द स्वयं सेना का संचालन कर रहा था। दोनों में बड़ा घमासान युद्ध हुआ किन्तु जयचन्द के मारे जाने के कारण राजपूत सेना अस्त-व्यस्त हो गई और भाग पड़ी। इस पराजय का परिणाम यह हुआ कि ग़ूरी सुलतान का अधिकार लगभग बिहार के मध्य तक फैल गया। गहरवाल राज्य को एक सैनिक प्रान्त बनाकर उसका मुक्ता (सेनाध्यक्ष) मलिक हुसामुद्दीन को नियुक्त किया। अपना नियन्त्रण दृढ़ करने के हेतु सुलतान ने बनारस, असनी तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर सेनाएँ स्थापित कर दीं। कुछ अभिलेखों से अनुमान होता है कि गहरवाल वंश के राजा पूर्वी उत्तर प्रदेश में छोटे-मोटे हिस्सों पर भी राज्य कर रहे थे। जान पड़ता है कि उन्होंने कन्नौज को भी वापस ले लिया था क्योंकि इल्तुत्मिश को उसे फिर से जीतना पड़ा था और इस घटना की स्मृति में उसने अपने सिक्के चालू किए थे।

ग़ूरी सुलतान के लौट जाने के बाद ऐबक को शान्ति न मिली। कोयल, अजमेर तथा अन्य स्थानों पर राजपूज सरदार बराबर उठ रहे थे। ऐबक को इन सब शत्रुओं को दमन करना पड़ा और उसने अजमेर को स्वाधिकार में लेने का निश्चय किया और उस पर अपना एक शासक नियुक्त कर दिया। पृथ्वीराज के बेटे को वहाँ से हटाकर रणथम्भौर दे दिया।

११९५ के अन्त में गूरी सुलतान फिर से हिन्दुतान आया और बयाना के भट्टी राजपूत शासक पर आक्रमण किया। वहाँ का शासक कुमारपाल बयाना को छोड़ कर थंगीर (ताहनगढ़) के किले में चला गया। सुलतान ने इस किले का घेरा डाला और कुमारपाल को हथियार डालने पर विवश कर दिया। तदनन्तर अपने एक सैनिक बहाउद्दीन तुगरिल को उसका अध्यक्ष नियुक्त करके ग्वालियर की तरफ बढ़ा। ग्वालियर का किला बहुत मजबूत था। मुइजुद्दीन बहुत दिन तक उसको न ले सका। किन्तु किले के राजा ने गूरी आक्रामक से सुलह करने में ही बुद्धिमानी समझी और सुलतान ने किले का घेरा उठा लिया। परन्तु उसको इस परिणाम से वास्तविक सन्तोष न हुआ। ग्वालियर को अधिकृत करने का भार तुगरिल के कन्धों पर छोड़ा गया। उसने वहाँ के राजा को इतना परेशान किया कि अन्त में वह किला छोड़कर पीछे हट गया और ऐबक ने उस पर अधिकार कर लिया।

**राजस्थान व गुजरात में फिर विरोध**—११९६ में अजमेर के निकट एक और राजपूत जाति ने गुजरात के चालुक्य राजा की सहायता से अजमेर को वापस लेने का इरादा किया। इसकी सूचना पाते ही ऐबक तुरन्त सेना लेकर अजमेर होता हुआ आगे बढ़ा, राजपूतों ने इतना बलपूर्वक उसका विरोध किया कि ऐबक को वापस लौटकर अजमेर में शरण लेनी पड़ी। परन्तु इसी समय गज़नी की एक सहायक सेना वहाँ पहुँच गई और इसे देखकर राजपूत पीछे हट गए।

इस आक्रमण का बदला लेने के लिए ११९७ में ऐबक ने बड़े दलबल के साथ अन्हिलवाड़ा पर आक्रमण किया। जब वह आबू के पास पहुँचा तो आबू के चालुक्य राजा धारावर्ष और नागोर का सामन्त अपनी सेनाओं के साथ उसको युद्ध करने के लिए तैयार मिले। उसी स्थान पर गूरी सुलतान को पहले बड़ी भारी पराजय हुई। ऐबक ने इस अवसर पर बड़ी युक्ति से काम लिया। उसने राजपूतों को ऐसा दिखलाया मानों वह लड़ने से हिचक रहा हो। इसको देखकर राजपूत सेना पहाड़ी घाटी के अन्दर से खुले मैदान में निकल आई। ऐबक ने इनके विरुद्ध **छापामार युक्ति** का प्रयोग किया जिससे उसको पूरी सफलता मिली और उसने अन्हिलवाड़ा को खूब लूटा और जनता पर बड़े अत्याचार किए। वहाँ का राजा भीम द्वितीय नगर छोड़कर भाग गया। किन्तु यह सूबा अब दिल्ली से इतनी दूर था और इसके बीच में राजपूताना अभी तक पूरी तरह सुव्यवस्थित रूप से अधिकार में नहीं आया था अतएव गुजरात (अन्हिलवाड़ा) के राज्य को साम्राज्य में मिला लेना ऐबक ने ठीक न समझा। अतएव उसके लौट जाने पर चालुक्य राजा ने अन्हिलवाड़ा पर फिर से अधिकार कर लिया और कम से कम आबू पर उसका राज्य १२४० तक अविच्छिन्न बना रहा।

**मध्य देश तथा राजपूताने में परस्पर कलह**—लगभग अगले ६ वर्ष तक ऐबक को राजपूताना तथा बनारस तक के प्रदेशों पर बार-बार सेनाएँ भेजनी अथवा ले जानी पड़ीं जिससे यह स्पष्ट है कि कितनी कठिनाइयों का उसको सामना करना पड़ा

होगा। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में भी इस तुर्की सैनिक ने अपने अधिकारकारों को स्थिर रखा, यह उसकी योग्यता तथा शौर्य का प्रमाण है। इन्हीं दिनों कोटा व बूँदी आदि के छोटे-छोटे राज्य उन राजपूत कुटुम्बों के सामन्तों ने स्थापित किए जो प्राचीन राज्यों के नष्ट होने पर तितर-बितर हो गए थे। इसी कारण इतना आवश्यक प्रयत्न करने पर भी राजपूताने पर तुर्की सत्ता स्थापित न हुई।

**कालंजर पर आक्रमण**—१४वीं सदी के शुरू में ही ऐबक ने बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने का विचार किया। यही एक राज्य था जिस पर प्राचीत चन्देल वंश तब तक विद्यमान था और उनके राज्य की सीमा तुर्कों की अधिकृति भूमि से लगी हुई थी। १२०२ के अन्तिम दिनों में ऐबक ने कालंजर पर चढ़ाई की। चन्देल पहले तो खुले मैदान में बड़ी वीरता से लड़े और फिर किले के अन्दर बन्द हो गए। ऐबक ने उसका घेरा डाला। परमर्दिदेव चन्देल ने जब किले के अन्दर की सामग्री समाप्त होती देखी तो आक्रान्ता से सन्धि करना ही ठीक समझा। बातचीत समाप्त न हो पाई थी कि परमर्दिदेव की मृत्यु हो गई और उसके मन्त्री अजयदेव ने आत्म-समर्पण करने से इन्कार कर दिया क्योंकि उसको एक जलाशय का पता लग गया था। तुर्की सेना ने इस जलाशय का बहाव दूसरी ओर कर दिया और चन्देल सेना को हार मानने पर विवश कर दिया। अजयदेव को अपनी सेना के साथ सुरक्षित रूप से निकल जाने दिया और उसने नीचे हटकर अजयगढ़ के किले में जाकर शरण ली। तुर्कों ने कालंजर, महोबा तथा खजुराहो पर अधिकार जमा लिया और इस प्रदेश को भी एक सैनिक प्रान्त बनाकर उसका सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया।

## पूर्वी हिन्दुस्तान के अन्दर तुर्कों का प्रवेश

ग़ूरी सुलतान और उसके सैनिक ऐबक ने शुरू में बंगाल तथा भारत के पूर्वी प्रदेशों तक घुसने की कोई योजना नहीं बनाई थी। स्पष्ट ही है कि उनको यह विदित नहीं था कि उस प्रदेश के राजा भी राजनीतिक एवं धार्मिक रूप से कितने निर्बल तथा पतित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त ऐबक यह भी जानता था कि उत्तर-पश्चिम तथा मध्य प्रदेश के विस्तृत साम्राज्य को सुसंगठित करने के अनन्तर ही अन्य प्रदेशों को जीतने की चेष्टा करना सम्भव तथा युक्तिसंगत होगा। किन्तु सुदूर पूर्व के अन्दर उसी समय घुस जाने का श्रेय एक दुस्साहसी सैनिक इख़्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख़्तियार ख़लजी को था। बंगाल और बिहार की विजय लगभग दिल्ली तथा कन्नौज के साथ हो गई थी और यह कार्य इतनी तीव्रगति के साथ सम्पन्न किया गया कि उससे दिल्ली के अधिपति ऐबक को भी आश्चर्य हुआ।

इस घटना का विवरण देने से पहले यह आवश्यक है कि उस प्रदेश की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का दिग्दर्शन कर लिया जाय। तुर्की हमलों के समय गहरवाल साम्राज्य के पूर्व में सेन वंश का प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन राज कर रहा था। उसके पूर्वज जैसा कि हम बतला चुके हैं, शायद कर्नाटक के ब्राह्मण थे। अतएव जब कि वे ब्राह्मण-वृत्ति को छोड़कर क्षात्रधर्म में संलग्न हुए तब वे

ब्रह्मक्षत्र कहलाए। पाल सत्ता के ११वीं सदी के मध्य में अन्त होने पर सामन्तसेन ने गौड़ देश (दक्षिण-पश्चिम बंगाल) पर अधिकार करके गंगा के किनारे एक छोटा सा राज्य स्थापित कर लिया और उसके बेटे हेमन्तसेन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। इस वंश का विवरण पहले दिया जा चुका है। इसका अन्तिम महाराजा लक्ष्मणसेन लगभग ११७९ में सिंहासन पर बैठा। उसके राज्य में वरेन्द्रि, वंग और गोड़, मगध और मिथिला सम्मिलित थे और उसके राज्य की पश्चिमी सीमा सम्भवत: गंडक नहीं थी। सेन राजा बड़े योग्य शासक हुए। पाल शक्ति के पराभव के अनन्तर बंगाल में सुख शान्ति तथा समृद्धि की पुनःस्थापना करना उन्हीं का काम था। वे कला तथा साहित्य के बड़े पोषक थे परन्तु उनका मुख्य कार्य नवीन ब्राह्मण धर्म को बड़े सशक्त रूप में उत्तेजित करना था। इसी कारण वे बौद्धधर्म के बड़े विरोधी थे और बौद्धों की शक्ति को नष्ट करने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों के घड़े हुए हज़ारों पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा आदि को बड़े विस्तार से प्रचलित किया। उनके संरक्षण में यज्ञादि तथा इसी प्रकार की अन्धविश्वासी रीतियों का प्रचार करने के लिए सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गए। इसी प्रकार इनके समकालीन देवगिरि के यादव नृपति भी ऐसे ही साहित्य को बड़ी प्रबलता से प्रोत्साहित कर रहे थे। इनके राजदरबार में धोई, उमापतिधर, गोवर्धन, और इन सबमें प्रशिद्ध जयदेव आदि कवियों ने भारतीय काव्य-भंडार को अपने काव्य-ग्रन्थों से भरपूर किया। किन्तु उनकी रचनाएँ भी उसी ब्राह्मण धर्म के अन्धविश्वासों तथा समाज को मानसिक दासता के गर्त में फँसानेवाले साहित्य का समर्थन करती थीं। वल्लालसेन के गुरु अनिरुद्ध तथा लक्ष्मण के राजपण्डित धर्माध्यक्ष व हलायुद्ध आदि विद्वानों ने वेद की टीकाएँ कर्मकाण्ड पद्धति तथा तत्सम्बन्धी क्रिया-कलापों की व्याख्या करने के उद्देश्य से ही लिखीं। इस सब वायुमण्डल का प्रभाव हिन्दू जाति के लिए अत्यन्त घातक हुआ।

लक्ष्मणसेन, जान पड़ता है, अपनी यौवनावस्था में बड़ा शूरवीर तथा योग्य शासक था। उसने गहरवाल राजाओं को गया व मगध से निकालकर अपना अधिकार विस्तृत किया था। किन्तु उसके वंशजों के अभिलेखों में कहा गया है कि उसने बनारस तक का प्रदेश जीत लिया था। यह कथन विश्वास के योग्य नहीं है क्योंकि गहरवालों का अधिकार बनारस तक तुर्की विजय के समय तक बराबर बना रहा था। एक बार लक्ष्मणसेन ने काशी तथा प्रयाग में तीर्थयात्रा करके बहुत बड़े ब्राह्मण-भोज किए तथा ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा दी थी और उन यात्राओं की स्मृति में शायद स्मारक-स्तम्भ स्थापित किए थे। इनके आधार पर लक्ष्मणसेन के पुत्रों ने अभिलेखों में यह दावा किया कि उसने काशी तथा प्रयाग को भी जीत लिया था। यह दावा भी बिलकुल निराधार है।

जो हो लक्ष्मणसेन अपनी वृद्धावस्था में इन राजनीतिक व सैनिक पराक्रमों की ओर से उदासीन होता गया और दिन-प्रतिदिन कर्मकाण्ड तथा धार्मिक कार्यों

में इतना व्यस्त हो गया कि अपने राज्योचित कर्त्तव्यों को भी भूल गया। उसकी शक्ति तथा नियंत्रण इन दिनों निर्बल हो जाने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसके राज्य में कई स्थानों पर छोटे-छोटे सामान्त विद्रोही हो कर स्वतन्त्र हो गए। उसकी निर्बलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि वह पंडा पुजारियों के बतलाए हुए कर्मकाण्ड तथा जड़ पूजा आदि पर अन्धविश्वास करके इन्हीं के द्वारा देश और धर्म की रक्षा करने की सम्भावना समझता था न कि अपने पराक्रम तथा कर्मनिष्ठ शौर्य व वीरता पर। इसी अन्ध-विश्वास में उसने शासन के पच्चीसवें वर्ष (१२०३) में देवताओं को प्रसन्न करने तथा तुर्की आपदा को शान्त करने के लिए अइन्द्री महाशान्ति नामक यज्ञ का बड़ा भारी अनुष्ठान किया था। यह यज्ञ दैवी-संकटों तथा आपत्तियों को शांत करने के लिए ही किया जाता है। दैवयोग से ऐसे समय में जब कि राजा व प्रजा की मानसिक दशा इस प्रकार की थी बख्त्यार खल्जी ने आक्रमण करने आरम्भ किए*।

इस घटना का विवरण केवल तबकाते नासिरी के रचयिता मिनहाज़ ने दिया है। मिनहाज़ दिल्ली सल्तनत का मुख्य काज़ी था। १२४२ में उसको दिल्ली से भागकर लखनौती (गौड़) में आना पड़ा था और वहाँ वह दो वर्ष तक ठहरा। अपने इस प्रवास में मिनहाज़ ने जो कुछ सुना उसको अपनी पुस्तक में अंकित किया। निस्संदेह मिनहाज़ का वृत्तान्त सर्वथा प्रामाणिक नहीं है और उसमें कल्पित गाथाएँ भी सम्मिलित कर दी गई हैं। किन्तु उसके इतने अंश में कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि मुहम्मद बख्तियार ने बिना किसी विरोध व कठिनाई के तथा बहुत-थोड़ी सी सेना से ही समूचे बिहार व बंगाल को विजय करके लक्ष्मणसेन को वहाँ से निकाल दिया।

बख्तियार खल्जी मुहम्मद गूरी की सेना में भर्ती हो कर हिन्दुस्तान आया था। वह बड़ा बेधड़क व साहसी सिपाही था, किन्तु उसकी भौंडी सूरत के कारण उसको कहीं भी नौकरी न मिली थी। किन्तु इन बातों से वह हतोत्साह न हुआ और ११९३ में बदायूँ के शासक की सेना में भर्ती हो गया और थोड़े ही दिन के बाद बनारस व अवध के सैनिक शासक के यहाँ एक छोटी सी टुकड़ी का संचालक बन गया। उसको आसपास की भूमि का निरीक्षण करने का कार्य-भार सौंपा गया। इससे उसको अपनी साहसी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करने का अवसर मिल गया। एक छोटी सी सेना एकत्रित करके वह कर्मनासा नदी के उस पार मगध देश-के अन्दर हमले करने लगा। आश्चर्य यह है कि सेन राज्य के अन्दर इस प्रकार लूट-मार करने पर भी उसको सेन नृपति ने दमन करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। इस लूट-मार से उसने थोड़े से समय में बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया और अपनी

*इसका वास्तविक नाम इख़्तियारुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख्तियार खल्जी था।

सेना को बढ़ा लिया। जब उसने देखा कि उसका विरोध करने और उन प्रदेशों की अनाथ प्रजा की रक्षा करने के लिए किसी हिन्दू शासक ने हाथ नहीं उठाया तो उसका साहस और भी बढ़ गया और वह बिहार (ओदन्तपुरी विद्यापीठ) तक घुस गया। ओदन्तपुरी की रक्षा राजा की ओर से किसी सेना व पुलिस ने न की। वहाँ के निहत्थे बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी रक्षा करने का निर्बल प्रयत्न किया, किन्तु बख़्तियार ने उनको पकड़कर तलवार के घाट उतार दिया। ऐसी भयानक घटना हो जाने पर भी सेन राजा ने इस ओर तनिक भी ध्यान न दिया जिससे यही परिणाम निकलता है कि वह इन बौद्ध-भिक्षुओं तथा विहार के नष्ट होने से अपने मन में बहुत प्रसन्न हुआ होगा। उसने यह न सोचा कि जिस आग ने बौद्ध-विहार भस्म किया था वह आगे भी बहुत जल्दी फैलनेवाली और रहे-सहे देश को निगलनेवाली थी।

ओदन्तपुरी को नष्ट करके स्वाभाविक ही था कि बख़्तियार दिल्लीश्वर के पास जा कर अपने इस पराक्रम की सूचना देता। बख़्तियार ने उसके समक्ष उपस्थिति होकर गौड़ तथा अन्य पूर्वी देशों पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी। ऐबक ने एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के समान उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, किन्तु इस शर्त पर कि दिल्ली सुलतान से किसी प्रकार की सहायता की आशा न करेगा और समस्त कार्य अपने ही बलबूते पर करेगा। बख़्तियार बदायूँ से लौटते ही (१२०४ से १२०५) अपनी परिमित सेना के साथ सेन राजा की दूसरी राजधानी नदिया पर धावा करने के लिए चल पड़ा। इस सम्बन्ध में यह बात विचारणीय है कि वह ऐसे मार्ग से गया जिसका प्रायः कोई प्रयोग नहीं करता था। वह दक्षिण मगध के झाड़खण्ड वन (आधुनिक हज़ारीबाग व छोटा नागपुर) के अन्दर से चलकर एकाएक नदिया (नवद्वीप) पर जा पहुँचा। जान पड़ता है कि उसने इस प्रकार अपनी सेना को ले जाने की तरकीब की थी कि मार्ग में उसे कोई देख न पाए और वह अपने शिकार पर अकस्मात टूट पड़े। उसकी इस योजना की सफलता का बड़ा कारण यह था कि सेन शासन ऐसे संकटमय समय में भी अपने सीमान्त नाकों तथा आन्तरिक भागों का समुचित निरीक्षण व रक्षण नहीं कर रहा था। मिनहाज़ के कथनानुसार बख़्तियार के साथ केवल २०० सिपाही थे, किन्तु वह इतनी तीव्रगति से चला कि १८ सिपाहियों को छोड़कर बाकी सब पीछे रह गए। मार्ग में इनको किसी ने नहीं रोका। नदिया के अन्दर वे घोड़ों के सौदागरों के रूप में घुस गए। राजमहल के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने द्वारपालों को एकदम काट डाला और महल के अन्दर घुस पड़े। लक्ष्मणसेन उस समय अपनी पाकशाला में भोजन करने बैठा था। इस अचानक आक्रमण तथा हल्ले-गुल्ले से वह इतना भौचक्का हो गया कि सिवाय अपनी जान बचाकर भाग जाने के वह कुछ और न कर सका। लक्ष्मणसेन के इस प्रकार भाग जाने पर कतिपय लेखकों ने उसको अत्यन्त भीरु तथा कापुरुष कहा है। किन्तु परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए

ऐसा कहना अनुचित होगा । इस प्रकार शत्रु के फन्दे में फंसकर वीर से वीर पुरुष पहले अपनी जान बचाने की चिन्ता करेगा। सम्भव है कि यदि वह राजपूती आदर्श का अनुकरण करता तो वहीं लड़कर मर जाता परन्तु इसको कोई क्रियात्मक बुद्धिमानी नहीं कह सकता। युद्ध के गुणों में केवल शारीरिक बल का प्रदर्शन ही नहीं है। एक योद्धा का मुख्य गुण है बुद्धिमानी तथा दक्षता से शत्रु को पछाड़ना। राजपूत आदर्शवाद में इन क्रियात्मक गुणों को निरर्थक समझा जाता था।

मिनहाज़ के इस विवरण का सारांश निस्संदेह ऐतिहासिक है। यद्यपि उसने समीक्षा किए बिना ही जो-कुछ सुना उस सबको अपने ग्रन्थ में अंकित कर दिया। इस घटना की वास्तविकता पर अधिक बहस करना आवश्यक नहीं है। किन्तु इस विषय पर विचार करना परमावश्यक है कि सेन राजा का ऐसे अकस्मात संकट में भाग कर आत्मरक्षा करना तो समझ में आता है किन्तु यह बात समझना कठिन है कि जब बख्तियार के पास केवल २०० या कुछ अधिक सेना थी और दिल्ली के अधिपति ने उसको किसी भी प्रकार की सहायता देने से साफ इन्कार कर दिया था तब लक्ष्मणसेन एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचने के अनन्तर अपने विस्तृत साम्राज्य की शक्ति और सेना को एकत्रित करके इस तुच्छ साहसी आक्रामक को नष्ट क्यों न कर पाया। हमको फिर आश्चर्य से कहना पड़ता है कि सेन राजा ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न किया ही नहीं। कुछ लेखकों ने यह सुझाव दिया है कि शायद सैनिक संरक्षण मुख्य मार्गों पर ही नियुक्त हुए होंगे। किन्तु ऐसा मान कर भी यह कहना पड़ेगा कि इन राजाओं का निरीक्षण विभाग अत्यन्त अयोग्य तथा निर्बल था। इसके अतिरिक्त यह समझ में नहीं आता कि जब इतनी थोड़ी-सी सेना के साथ आक्रामक राजधानी के अन्दर घुस गया तो इसकी सूचना पाते ही सामन्तों तथा सैनिकों आदि ने तुरन्त अपनी सेनाएँ एकत्रित करके उसका काम तमाम क्यों न कर डाला। लक्ष्मणसेन के वंशज नदिया से हटकर पूर्वी बंगाल में अपने अत्यन्त संकुचित राज्य को किसी प्रकार थामे हुए लगभग ५० वर्ष तक जीवित रहे। किन्तु इन्होंने भी इस आततायी को निकालने का कोई प्रयत्न नहीं किया। साथ ही यह भी याद रखना है कि लक्ष्मणसेन ने बख्तियार खल्जी के हमलों तथा लूटमार करने और ओदन्तपुरी व नालन्दा के विहारों को नष्ट करने के बाद भी अपने राज्य की सीमा व मार्गों को पूरी तरह सुरक्षित करने का कोई प्रयत्न न किया। इतना ही नहीं उन महान तथा प्रसिद्ध विद्यापीठों के इस प्रकार नष्ट होने पर किसी प्रकार की सहानुभूति तथा सहायता का प्रदर्शन नहीं किया गया। इसका उत्तर केवल इसी बात से मिलता है कि लक्ष्मणसेन नवीन ब्राह्मण पंथ का इतना कट्टर अनुयायी था कि बौद्ध-विहारों तथा बौद्ध-भिक्षुओं के नष्ट होने से वह मन में प्रसन्न हुआ होगा। किन्तु उसने स्वयं अपनी तथा अपने राज्य की रक्षा करने का भी विचार न किया। इसके कारणों पर हमको गहराई से सोचना होगा।

**लक्ष्मणसेन तथा सामान्यतया समस्त हिन्दू राजाओं के पराभव के कारण**—तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन पर गहरी दृष्टि से विचार करने पर प्रत्यक्ष रूप से विदित होता है कि हिन्दू राजाओं तथा क्षत्रियों की इस प्रकार की अकर्मण्यता व शिथिलता और उनके तन्द्राग्रस्त कार्य का मुख्य कारण था उनका वह सम्भ्रान्त धर्म जो कि अनन्त मूढ़ विश्वासों, दैनिक खोखले कर्मकाण्ड, यज्ञयाग आदि, निष्प्रयोजन तीर्थयात्रा तथा कुपात्रों को दान-दक्षिणा, जाति-पाँति के भेद आदि अनेक अन्य विश्वासों तथा कुरीतियों का अस्त-व्यस्त पिण्ड था। नवीन ब्राह्मण सम्प्रदाय रूपी व्याघ्र ने समस्त हिन्दू जाति को ऐसा ग्रसित कर लिया था कि उसकी क्रियात्मक बुद्धि तथा दूरदर्शिता नितान्त स्तम्भित हो गई थी। इसी नवीन सम्प्रदाय के साँचे में हिन्दू समाज का जीवन इतना संकुचित तथा अवरुद्ध हो गया था कि वह इन आक्रमणों के सामने किंकर्तव्यविमूढ़ के समान हो गया था। इस सम्प्रदाय की मुख्य शिक्षाएँ थीं श्रमणों, अर्थात् बौद्ध व जैनवर्ग से घृणा करना तथा उन पर हर प्रकार के अत्याचार करना। इसी संकुचित दृष्टि का परिणाम हुआ नीच कहीं जाने वाली जातियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार की नीति, इसीसे बंगाल में वह घातक प्रथा उत्पन्न हुई जिसको हम कुलीन प्रथा के नाम से आज तक मानते हैं और जिसका मुख्य जन्मदाता व संवर्द्धक स्वयं लक्ष्मणसेन था। इसी जड़ता के कारण अपने को उच्चकुलोत्पन्न कहनेवाले मुट्ठीभर वर्ग ने अन्य समस्त जातियों तथा वर्गों से धर्मग्रन्थों के श्रवण तथा पठन-पाठन आदि के जन्मसिद्ध अधिकार छीन लिए और समस्त स्त्री जाति को भी इसी निकृष्ट वर्ग में सम्मिलित कर दिया। समस्त मानव समाज के परस्पर प्रेम सहानुभूति तथा सेवा भाव एवं बिना भेदभाव के सबकी उन्नति का प्राचीन श्रेष्ठ तथा आर्योचित आदर्श विलुप्त हो गया। उच्च वर्ग के हिन्दुओं की सामाजिक दृष्टि इतनी विकृत हो गई कि वे अपने दलित पड़ौसी को तिरस्कार की दृष्टि से देखना अपना धार्मिक कर्तव्य मानने लगे। साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि उस युग में बौद्धिक चमत्कार बाल की खाल निकालनेवाले शास्त्रार्थ व संघर्षों की कोई कमी न थी। वास्तव में ऐसा कहना अत्युक्ति न होगी कि वास्तव में वह ऐसा युग था जबकि मानव समाज के अगुआ कहलानेवाले लोग केवल सारहीन बौद्धिक चमत्कार के प्रदर्शन में ही दत्त चित्त रहते थे तथा उनके हृदय से उच्चादर्श की भावना, उदार दृष्टिकोण, मानव को मानव समझकर ही उसके प्रति सेवाभाव आदि उत्तम गुणों को खोखले, संकुचित तथा निरर्थक धार्मिक दृष्टिकोण ने कुचल दिया था। इस युग में धार्मिक साहित्य का एक अनन्त भंडार ऐसे लोगों द्वारा निर्मित हुआ जो बुद्धि तथा प्रतिभा में किसी से भी कम न थे। किन्तु प्रायः यह समस्त साहित्य दो प्रकार की रचनाओं से भरा हुआ है अर्थात् कर्मकाण्ड, यज्ञ, पशुबलि तथा उन पण्डा-पुजारियों को जो हिन्दू समाज को घुन के समान खोखला करनेवाले थे, दान-दक्षिणा आदि के प्रचारार्थ ग्रन्थ तथा अवतारों व देवताओं की भक्ति के नाम पर अनेक प्रकार का विकृत व कामोत्तेजक

काव्य। इस साहित्य के उत्पादन में तत्कालीन नृपतियों तथा क्षत्रियों ने भी उतने ही उत्साह से भाग लिया जितना ब्राह्मणों ने लिया था। वल्लालसेन ने स्वयं एक बृहत् ग्रन्थ दानसागर लिखा था जिसमें लगभग १५०० विभिन्न प्रकार के दान-दक्षिणाओं का विवेचन किया गया है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय न लेना चाहिए कि अन्य किसी प्रकार का साहित्य उस समय रचा ही नहीं गया। इसके प्रतिकूल जैसा हम साहित्य-संस्कृति के प्रसंग में बतलाएँगे, लगभग समस्त वैज्ञानिक धार्मिक तथा अन्य विषयों पर अगणित साहित्य की रचना इस युग में हुई। किन्तु इस समस्त साहित्य पर नवीन ब्राह्मण धर्म के मूढ़ विश्वास तथा पाखण्डपूर्ण नियमों का व्यापक प्रभाव पड़ा। हम देखेंगे कि उस समय का शायद ही कोई बिरला ग्रंथकार इतना तार्किक व वैज्ञानिक हो जो इस अन्ध-परम्परा की शृंखलाओं से मुक्त हो।

उपर्युक्त सर्वव्यापी साम्प्रदायिक वायुमण्डल का अत्यन्त विषैला प्रभाव क्षत्रियों के आदर्शों व दृष्टिकोण पर पड़ा और सबसे अधिक विनाशकारी हुआ। प्राचीन क्षत्रियों के प्रजा पालन व राष्ट्रनिर्माण व रक्षा आदि के उच्च व श्रेष्ठ काव्य-आदर्शों को उस युग के क्षत्री सर्वथा भूल गए थे। उनके क्षात्रधर्म का एकमात्र आदर्श था किसी न किसी प्रकार चक्रवर्ती की उपाधि धारण करना, यद्यपि उसके वास्तविक कर्तव्यों का इन राजाओं को ज्ञान नहीं था। इसी अर्थहीन उद्देश की पूर्ति के लिए उस समय के भारतीय नृपतियों का आपस में अनवरत संघर्ष जारी रहता था। और वे अपने ऐहिक जीवन की सबसे बड़ी सफलता इसीमें मानते थे कि अपने पड़ोसियों को दबाकर उनसे अपने को चक्रवर्ती मनवा लें। उनकी महत्वकांक्षा यहीं तक परिमित थी। प्रजा-हित के किसी भी कार्य में उनको रुचि न थी। इस प्रसंग में यह निर्देश कर देना भी उपयुक्त होगा कि इन राजाओं के प्रजा-सम्बन्धी कर्तव्यों के प्रति उदासीनता के कारण उस युग में ग्राम-सभाओं व पंचायतों के कार्यक्षेत्र तथा अधिकारों का बहुत विस्तार हो गया क्योंकि प्रजा के बहुत से राज्योचित कर्तव्य जिनकी ओर से राजा लोग उदासीन हो गए थे, ग्राम-पंचायतों को संभालने पड़े। यह विषय ध्यान-पूर्वक समझ लेने का है कि मध्ययुगीन यूरोप में राजाओं की निर्बलता तथा कर्तव्यहीनता के परिणामस्वरूप सामन्त (Feudal system) की अभिवृद्धि एवं व्यापक विस्तार हुआ, यहाँ पर मध्ययुग में प्रायः उसी तरह की परिस्थितियों के उत्पन्न होने के कारण यूरोपीय सामन्तों के स्थान पर ग्राम-पंचायतों ने वे सब कार्य करने शुरू किए। भारतीय इतिहास के मध्ययुगीन सामाजिक व राजनीतिक ताने-बाने को सम्यक रूप से समझने के लिए यह जान लेना परम आवश्यक है कि यूरोप के समान यहाँ भी उसी प्रकार की समस्या सर्वसाधारण के सामने आई किन्तु कुछ कारणों से यहाँ उसका समाधान भिन्न प्रकार से हुआ अर्थात् सामन्त प्रथा के स्थान पर ग्राम-संस्थाओं द्वारा। इसका मूल कारण यह था कि भारत के नृपति यूरोप के नृपतियों के समान निःशक्त तथा अपने सामन्तों पर निर्भर नहीं हो गए थे। सामन्तवर्ग की उत्पत्ति इस

युग में इस प्रकार से हुई कि हर्ष के अनन्तर जो अव्यवस्था देश के राजनीतिक क्षेत्र में उत्पन्न हो गई थी उसके अन्दर जो सैनिक अपने पराक्रम से बड़े-बड़े राज्य स्थापित कर सके उनके राजकुल प्रतिष्ठित हुए और जो केवल छोटे-छोटे भू-भागों पर अधिकार कर पाए थे वे अपने सम्बन्धियों अथवा निकटवालों के सामन्त बन बैठे। अतएव ऐसा समय कभी न आया कि यह सामन्त अपने अधिपति राजाओं से अधिक प्रबल हो गए हों व सैनिक साम्पत्तिक सामग्री सब इन्हींके नियन्त्रण में आ गई हो जैसा कि मध्य-युगीन यूरोप में हुआ था। ऐसी परिस्थिति में इन सामन्तों के लिए यह भी सम्भव न था कि यूरोपीय सामन्तों की तरह रक्षा, शिक्षा, न्याय, दण्ड, सम्पत्ति, मुद्रा (सिक्के) संचालन आदि विभिन्न राजकीय कार्यों को वे राजा से छीनकर स्वयं करने लगते। अतएव आवश्यकता हुई किसी ऐसी संस्था की जो जनहित तथा जनसेवा के उन आवश्यक कर्त्तव्यों को कर सके जिनको शासक लोगों ने भुला दिया था। शासन व राजनीति के क्षेत्र में जो शून्य इस प्रकार पैदा हो गया था उसको भरने के लिए ग्राम-संस्थाएँ अग्रसर हुईं।

इसी प्रसंग में यह विचार करना भी आवश्यक है कि इतने व्यापक कार्य करनेवाली ग्राम-संस्थाओं की अभिवृद्धि का देश और जाति के भावी इतिहास पर कैसा प्रभाव पड़ा। ग्राम संस्थाओं की श्रेष्ठ जन-सेवाओं का विस्तार करना यहाँ उपयुक्त न होगा। उन सब राजकीय कार्यों के अतिरिक्त इन संस्थाओं ने जन-साधारण में परस्पर प्रेम, सेवाभाव, पारिवारिक भावनाएँ उत्पन्न कर दीं जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने स्थानीय काम-काज तथा दैनिक व्यवहार व आवश्यकताओं को इन संस्थाओं ने बहुत सुचारु रूप से सँभाल लिया और अपने-अपने दायरे के अन्तर्गत जनता की रक्षा, शिक्षा तथा न्याय आदि के राजकीय कार्य भी ग्राम-संस्थाएँ अधिकाधिक मात्रा में करने लगीं। इस प्रकार वे सब कृत्य जो राजाओं की शक्ति क्षीण होने के कारण यूरोप में सामन्त संस्थाओं (Feudal Institution) ने सँभाले थे, भारतवर्ष में उनको ग्राम-संस्थाओं ने सँभाला। इस प्रकार के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में एक लाभ यह भी हुआ कि सर्वसाधारण का नैतिक जीवन बहुत उत्कृष्ट हुआ। गाँव की समस्त बस्ती एक परिवार के समान बन गई और परस्पर सेवाभाव, सचाई, ईमानदारी आदि के आवश्यक सामाजिक आदर्श दूसरों के लिए उदाहरण के योग्य हो गए। इस पारिवारिक प्रेम तथा भावना का इतना गहरा प्रभाव था कि जब ग्रामों व नगरों में कुछ लोग मुसलमान हो गए तो उनके पारस्परिक सम्बन्ध व प्रेम में किसी प्रकार की कमी न आई। यह अवस्था बहुत कुछ आज भी हमारे देश में विद्यमान है। इन ग्राम-संस्थाओं के कार्य-क्रम को देखकर प्रारम्भिक काल के अनेक अंग्रेज शासकों व राजनीतिज्ञों ने इनकी मुक्तकण्ठ से सराहना की और अपने ग्रन्थों में लिखा कि भारतवर्ष अनगिनत छोटे-छोटे गणराज्यों से भरपूर है जिनका संगठन तथा कार्यविधि शुद्ध प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों पर आश्रित है।

परन्तु देश के विस्तृत राष्ट्रीय क्षेत्र में इस राजनीतिक परिस्थिति का परिणाम

अत्यन्त हानिकारक हुआ। अन्यान्य ग्राम-संस्थाओं के लोग अपने संकुचित क्षेत्र को सम्भालने में इतने व्यस्त हो गए कि सार्वदेशिक राष्ट्रीयता की भावनाएँ उनके अन्दर से विलुप्त हो गईं और यदि देश की सामूहिक रूप से रक्षा करने की इच्छा उनके अन्दर शेष रही भी तो उनको राष्ट्रीय रूप से संगठित व व्यवस्थित करनेवाला कोई न था। एक देश तथा एक मातृभूमि की भावनाएँ केवल धार्मिक ऐक्य पर आश्रित थीं क्योंकि तत्कालीन नृपतियों ने इस दिशा में कोई प्रयत्न किया ही नहीं। इसके अतिरिक्त इन लोगों का ध्यान धार्मिक अनुष्ठानों तथा पण्डा-पुजारियों को दान-दक्षिणा देने आदि में इतना केन्द्रित था कि देश की सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की ओर से मानो वे सर्वथा उदासीन हो गए थे। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर यह समझ में आ सकता है कि इन राजाओं ने बाहरी हमलावरों के सामने इस प्रकार का व्यवहार क्यों किया, क्यों वे अपनी सीमाओं से बिलकुल बेखबर थे और क्यों वे अपने देश की रक्षा न कर सके? जैसा कि ऊपर कहा गया है, देश की सामान्य प्रजा इसलिए मृतप्राय हो गई थी कि उनको अपने राजाओं से यह आशा बिलकुल न थी कि वे उनकी रक्षा कर सकेंगे। यही कारण था कि तुर्की आक्रामक अनेक बार सैकड़ों व सहस्रों कोस तक देश के अन्दर बेरोक-टोक घुसे चले आते थे मानो देशभर के निवासी सोए पड़े हों अथवा मूर्च्छित हो गए हों। इन आक्रामकों का न कोई विरोध करता था और न उन्हें सैनिक सामग्री व खाने-पीने की वस्तुओं आदि की कोई कमी ही होती थी। जो बेचारे गाँव इन आततायियों के मार्ग में पड़ने के कारण बरबाद कर दिए जाते थे वे आक्रामक के लौट जाने पर फिर से अपने घर-बार बनाकर साधारण जीवन आरम्भ कर देते थे।

**बिहार की तुर्की जीत के मुख्य कारण**—अब हम बिहार और बंगाल के इस प्रकार तुर्की मुसलमानों से विजित हो जाने के एक मुख्य कारण का संक्षिप्त विवरण देंगे। तिब्बत के एक मठ से भद्रकल्पद्रुम एक नया ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसका संकलन १७२२ व १७४७ के बीच में हुआ था। भद्रकल्पद्रुम एक प्रकार का विश्वकोष है जिसमें प्राचीनकाल के बहुत से इतिवृत्तों को एकत्र किया गया है। यह इतिहास तिब्बत के मठों के पुस्तकालयों में उपलब्ध हुआ था।* इस ग्रन्थ के आधार पर श्री डी० सी० सरकार ने एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह बतलाया कि आनन्दकेतु श्रीभद्र शाक्य पंडित वाचस्पति जिसका संक्षिप्त नाम शाक्यश्री था, एक काश्मीरी विद्वान था और वह नालन्दा आदि विहारों का अन्तिम महन्त था। वह तुर्कों के आक्रमण के कुछ समय पूर्व ही काश्मीर से नालन्दा आया था और वहाँ से भागकर तिब्बत पहुँचा था। यहाँ पर उसने बहुत से संस्कृत और तिब्बती भाषा के ग्रन्थ लिखे थे। जब वह ७५ वर्ष का था तब उसने 'सुभाषित रत्नविधि' नामक ग्रन्थ रचा। शाक्यश्री तथा

* देखो, 'जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी' दिसम्बर १९४० व जून और सितम्बर १९४१; और 'इण्डियन कलचर' खण्ड ७, अंक २। यह ग्रंथ १९०८ में श्री डी० सी० सरकार द्वारा प्रकाशित हुआ था।

उसके भतीजे का कुब्लईखाँ तथा अन्य मंगोल शासक बड़ा आदर-सत्कार करते थे। शाक्यश्री नालन्दा के विनाश के समय केवल २० वर्ष का था किन्तु तब भी वह सर्वोच्च विद्वानों में गिना जाता था।

उसने उपर्युक्त ग्रंथ में जो भद्रकल्पद्रुम में संकलित है, मगध के विक्रमशिला आदि विहारों के तुर्कों द्वारा विनष्ट होने का निम्न प्रकार वृत्तान्त दिया है। उसने बतलाया है कि जब १०७५ के लगभग पाल राजा को हटाकर सेन राजवंश की स्थापना हुई, मगध में भी ब्राह्मण सम्प्रदाय के अनुयायियों, म्लेच्छों व तुर्कों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। इस काल में बौद्धधर्म का ह्रास हुआ और ब्राह्मण धर्म तथा इस्लाम मत की अभिवृद्धि हुई। मुसलमान व्यापारियों की संख्या बंगाल में बढ़ती गई। स्पष्ट है कि ब्राह्मणों ने बौद्धों को नष्ट करने के लिए इन विदेशियों तथा विधर्मियों से भी सहयोग करने में कोई हिचक न की। विशेषकर अरबी और ताजिक व्यापारी लक्ष्मणसेन के राजतत्व काल में समुद्र के मार्ग से आ कर तटवर्ती प्रदेश पर आबाद हो गए। ताजिक तुर्क घोड़ों का व्यापार करते थे और उनको सेन राजाओं तथा ब्राह्मणों ने आमन्त्रित किया तथा बहुत प्रोत्साहन दिया था। यही कारण था कि जब बख्तियार खल्जी एक घोड़ों के सौदागर के वेश में नदिया के अन्दर घुस गया तो उस पर किसीने सन्देह न किया।

ब्राह्मणों के विरोध तथा शत्रुता के अतिरिक्त बौद्धों में आपसी झगड़ों के कारण भी बड़ी कमजोरी आ गई थी। उनका परस्पर वैमनस्य इतना बढ़ गया था कि कुछ बौद्धभिक्षु तुर्की हमलावरों तथा उत्तर भारत विजेता के पास पहुँचे और उनको बिहार के बौद्ध-विहारों तथा विद्यापीठों पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया। लक्ष्मणसेन के समय में इन बौद्ध-भिक्षुओं का इस प्रकार बेरोक-टोक मुसलमान विजेताओं के पास जाना इस बात का परिचय देता है कि लक्ष्मणसेन स्वयं बौद्ध संघ की शक्ति को मगध के अन्दर नष्ट करना चाहता था, क्योंकि बौद्ध-विहार पाल युग की परम्पराओं के भक्त थे और बहुत शक्तिशाली थे। लक्ष्मणसेन ने मगध के यशपाल को निकालकर उसका राज्य छीन लिया था और अपने वंश तथा ब्राह्मण पुजारीवर्ग की शक्ति को बौद्ध-भिक्षुओं में परस्पर वैमनस्य के बीज बो कर बढ़ाया था और इन्हीं मूर्ख द्वेषी बौद्ध-भिक्षुओं को प्रोत्साहित किया था कि मुसलमानों के पास जा कर उन्हें बौद्ध मठों आदि को नष्ट कराने के अभिप्राय से आमंत्रित करें। उसने इस प्रकार बौद्धों को नष्ट कराके लाभ उठाने की आशा की, किन्तु उसने यह न सोचा कि यह आपदा अन्त में उसको निगल जाएगी। लगभग ठीक इसी प्रकार की परिस्थिति में जब कि मकरान, सिन्ध तथा अफ़गानिस्तान के अन्दर बौद्ध तथा ब्राह्मणों में वैमनस्य की आग भड़क रही थी, मुसलमानों ने इन देशों को आसानी से विजित कर लिया था।

जिस पुस्तक से उपर्युक्त वृत्तान्त लिया गया है उसमें लिखा है कि 'जिस तुर्की सैनिक को बुलाने के लिए बौद्ध-भिक्षु गए थे वह चाँद कहलाता था। इससे जान

पड़ता है कि वह कुत्बुद्दीन ऐबक अथवा शहाबुद्दीन ग़ूरी रहा होगा ।*

इसी कुत्बुद्दीन का आशीर्वाद लेकर बख्तियार खल्जी का बेटा जो बदायूं के मुस्लिम शासक की नौकरी में थोड़े से दिन रहकर फिर अवध के शासक के यहाँ नौकर हो गया धीरे-धीरे जौनपुर और बनारस के पूर्व के प्रदेशों पर धावे मारने लगा । इसका वृत्तान्त हम ऊपर दे आए हैं । इस प्रसंग में यह जान लेना भी आवश्यक है कि अन्तर्वेदी (अर्थात् आधुनिक गंगा-जमुना के बीच का देश) के तुर्कों के अतिरिक्त पूर्वी बंगाल के अन्य छोटे-छोटे गाँवों को भी बौद्धों को नष्ट करने के काम में सहायता देने के लिए आमंत्रित किया गया था । उदाहरणार्थ, राजा चन्द जो मौर्यों का वंशज था और जिसकी पाल वंश के विरुद्ध गहरी शत्रुता थी, इस कार्य के लिए बुलाया गया था । साथ ही बंगाल के उन मुसलमानों से सहायता ली गई जो अरब से व्यापारियों के रूप में आकर वहाँ बस गए थे और उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी ।

उपर्युक्त ग्रंथ से हमको एक और आवश्यक सूचना मिलती है । लक्ष्मणसेन के वंशधर बहुत दिन तक दिल्ली और गौड (लखनौती) के अधीन दक्षिण व पूर्वी बंगाल पर राज्य करते रहे । इसी पुस्तक से विदित होता है कि जब ओदन्तपुरी (बिहार) और विक्रमशिला को तुर्कों ने नष्ट कर दिया और हजारों बौद्ध-भिक्षुओं का वध किया तो उस समय उपर्युक्त विद्वान् शाक्य पंडित अपनी जान बचाकर नेपाल में जा बसा और थोड़े दिन बाद तिब्बत चला गया । उसके साथ अन्य बौद्ध-भिक्षु भी तिब्बत पहुंचे होंगे ऐसा निश्चय रूप से कहा जा सकता है । इस घटना का एक दूरगामी परिणाम यह हुआ कि तिब्बत में बौद्धधर्म के उस सम्प्रदाय का प्रचार हुआ जिसके पालवंशीय राजा अनुयायी थे ।

## गौड और पूर्वी बंगाल पर तुर्की शासन की स्थापना

बख्तियार के बेटे इख्तियारुद्दीन खल्जी ने नदिया से लक्ष्मणसेन को निकाल कर लखनौती को अपनी राजधानी बनाया क्योंकि सामरिक दृष्टि से यह नगर अधिक उपयुक्त था । यह उत्तर में गंगा के तट पर स्थित था और इसके निकट प्राचीन गौड के खण्डहर आज तक मौजूद हैं । बख्तियार को बंगाल में इतनी आसानी से सफलता मिल जाने के कारण उसकी आकांक्षा तिब्बत तक धावा मारने की हो गई । इस उद्देश्य से उसने एक सेना तैयार करके ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे तिब्बत की ओर कूच कर दिया । उसकी सेना का पथ प्रदर्शन उसी प्रदेश का एक मनुष्य कर रहा था । जब तुर्की सेना एक ऐसे स्थान पर पहुँची जहाँ नदी को एक पुल के ऊपर से पार करना था और फिर एक पहाड़ी के अन्दर घुसना पड़ता था तो वह पथ प्रदर्शक उनको छोड़कर चला गया । इसी समय कामरूप के राजा ने तुर्की सेना के पास सन्देश भेजा कि वह उस वर्ष अपने हमले को रोक कर अगले वर्ष हमला करे क्योंकि

* कुत्ब का अर्थ है ध्रुव तारा, शहाब का अर्थ है चमक अतएव चाँद का शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता था ।

उस समय वह (कामरूप का राजा) भी उसकी सहायता कर सकेगा। बख्तियार ने इस परामर्श पर ध्यान न दिया और आगे बढ़ता चला गया। जब वह पहाड़ों के बीच एक विस्तृत घाटी में पहुँचा तो उसको अत्यन्त कड़े विरोध का सामना करना पड़ा और उसे सूचना मिली कि चीनी तुर्कों की ५०,००० सेना उससे लड़ने के लिए आ रही है। इस सूचना से वह इतना भयभीत हुआ कि उसने तुरन्त वापस लौटने का निश्चय किया। परन्तु वापसी में पहाड़ी लोगों ने उसकी लगभग सभी सेना को नष्ट कर डाला। और जब वह अपनी बची-खुची सेना के साथ उपर्युक्त पुल के पास पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि उसे आसामी सेना ने तोड़ दिया था। इस समय शत्रु की सेना ने उसे घेर लिया और वह अत्यन्त कठिनाई से अपनी जान बचाकर वापस लौटा। नदी को तैरकर पार करने के प्रयास में उसकी सेना के अधिक लोग बह गए। इस भयानक पराजय के धक्के को बख्तियार न सह सका और थोड़े ही दिनों के बाद वह इसी दशा में रोगग्रस्त हो गया और उसके एक सहयोगी सैनिक अली-मर्दानखाँ ने उसको छुरे से मार डाला। इख्तियारुद्दीन की मृत्यु लगभग उसी समय हुई जब कि मुइज़ुद्दीन ग़ूरी भी सिन्ध के किनारे पर गक्खरों के हाथों मार दिया गया था। बख्तियार के बाद बंगाल के परस्पर-विरोधी तुर्की सैनिकों में झगड़े खड़े हो गए, इसका अगला इतिहास यथास्थान दिया जाएगा।

## (आ)

## ग़ूरी वंश के अन्तिम दिन

ख्वारिज़्म के राजघराने का वृत्तान्त पहले दिया जा चुका है। इस वंश की उन्नति जल्दी ही रुक गई। बग़दाद के ख़लीफ़ा के उत्तेजित करने पर ग़ूरी सुलतान ने १२०० ई० के लगभग खुरासान पर आक्रमण करके उसके बड़े महत्वशाली नगर निशापुर, तूस सरख्श और मर्व पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसी समय अलाउद्दीन ख्वारिज़्म के घरेलू झगड़ों को दमन करके राजा बना। वह अत्यन्त योग्य शासक व सैनिक था। उसने ग़ूरियों से बहुत जल्दी निशापुर और अन्य स्थान वापस ले लिए और हिरात पर भी कब्ज़ा कर लिया। फिर अपने पूर्वी पड़ौसी कराखितई तुर्कों से सन्धि करके मुइज़ुद्दीन ग़ूरी की सेना को आक्सस के किनारे पूरी तरह हराया और उसकी भागती हुई सेना को अंधखुद के स्थान पर घेर लिया। इस संकट से मुइज़ुद्दीन की मुक्ति समरकन्द के शासक की सिफ़ारिश से हुई; क्योंकि वह ख्वारिज़्मशाह के अधीन था। इस दुर्घटना के बाद मुइज़ुद्दीन ने ख्वारिज़्मशाह से सन्धि कर ली जिसके द्वारा बलख और हिरात उसको वापस मिल गए।

अलाउद्दीन ख्वारिज़्मशाह अत्यन्त दूरदर्शी तथा बुद्धिमान राजनीतिज्ञ निकला। इसके प्रतिकूल ग़ूरी लोग इन आवश्यक गुणों से बिलकुल वंचित थे। कराखितई तुर्कों से सन्धि करने की ख़लीफ़ा की सलाह को लात मारकर उन्होंने उन पर हमला कर दिया। इसी समय मुइज़ुद्दीन को शीघ्रता से लाहौर भागना

पड़ा क्योंकि वहाँ उसके विरुद्ध बलवा हो गया था। इसी चढ़ाई के बाद जब वह वापस लौट रहा था वह सिन्ध के किनारे पर मारा गया। उसका बड़ा भाई गया-सुद्दीन सन् १२०२ में ही मर चुका था। उसके उत्तराधिकारी भतीजे महमूद को ख्वारिज़्मशाह का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। महमूद की मृत्यु के बाद गूरी साम्राज्य लगभग सारा ही ख्वारज़ियों के अधिकार में आ गया। कुछ समय के लिए मुइज़ुद्दीन के एक गुलाम ताजुद्दीन यल्दुज़ ने ग़ज़नी पर शासन बनाए रखा किन्तु १२१५ में यल्दुज़ के वहाँ से निकाले जाने पर गूरियों का मध्य एशियाई राज्य समाप्त हो गया। भाग्यचक्र के प्रपंच से मुहम्मद गूरी (मुइज़ुद्दीन) का भारतीय साम्राज्य उसके सुयोग्य गुलाम सैनिकों के हाथों स्थायी सिद्ध हुआ। इस साम्राज्य का इतिहास अगले अध्याय में दिया जायगा।

ग़ज़नी के साम्राज्य के विलुप्त हो जाने से मध्य एशिया तथा भारत के भावी इतिहास पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। ख्वारज़्मशाह मध्य एशिया में एक बड़े विस्तीर्ण साम्राज्य के अधिपति हो गए और कोई इनका विरोधी न रह गया। उनकी इस अतुल शक्ति के कारण दिल्ली की तुर्की सल्तनत के लिए एक अत्यन्त संकटमय परिस्थिति उत्पन्न हो गई। किन्तु भाग्य ने फिर पलटा खाया। इसी समय ख्वारिज़्म सम्राटों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली एक महान सैनिक की विजय-दुन्दुभी बजी और उसके हमलों की बाढ़ में ख्वारिज़्म साम्राज्य एक सामान्य नाव के समान बह गया। यह बाढ़ चंगेज़खाँ महान और उसके सैनिक मुगलों की थी।

## (इ)

## हिन्दू जाति के ह्रास के कारण—सिंहावलोकन

मुहम्मद ग़ूरी और उसके दास सैनिकों द्वारा उस दीर्घकालीन साम्राज्य संघर्ष का अन्त हुआ जिसके लिए बाहरी आक्रामक लगभग दो सदियों से प्रयास कर रहे थे। इस काल में देश और जाति की हर प्रकार से जो हानि हुई उसका दिग्दर्शन पिछले पन्नों में कराया जा चुका है। किन्तु सबसे बड़ी क्षति इस काल में जाति के आत्मसम्मान तथा राष्ट्रीय भावना की हुई। इसी आन्तरिक पतन तथा अपकर्ष का बाहरी परिणाम था राजनीतिक ह्रास और पराधीनता। अतएव हमको भारत जाति के राजनीतिक पराभव तथा अपनी स्वतन्त्रता खो बैठने के दूरगामी एवं तत्कालीन कारणों पर विषद रूप से विचार करना चाहिए।

मुख्यतया दसवीं से बारहवीं सदी तक के दो सौ वर्ष के राजनीतिक क्षेत्र में दो घटनाएँ सामने आती हैं जिन्होंने देश के भावी इतिहास में एक गहरी क्रान्ति पैदा कर दी और जिसका प्रभाव जाति की सभ्यता तथा संस्कृति पर भी महत्वपूर्ण हुआ। पहली घटना महमूद गज़नवी और उसके पूर्वजों के आक्रमणों से आरम्भ होता है। हमने देखा कि तत्कालीन उत्तर भारत के हिन्दू राजाओं के राज्य बड़े विस्तृत, सब प्रकार से

सम्पन्न तथा शक्तिशाली थे और उनका राज्य हिन्दूकुश तथा काबुल की घाटी तक फैला हुआ था। परन्तु ग्यरहवीं सदी के पहले चरण के अन्दर उत्तर भारत के बड़े-बड़े नरेशों को तुर्कों ने नष्ट किया तथा उनके तीर्थस्थानों व राजधानियों को लूट-खसोटकर अनन्त बहुमूल्य सामग्री देश के बाहर ले गए। इस सम्बन्ध में हम यह बात फिर से याद दिला देना आवश्यक समझते हैं कि तुर्कों की शक्ति किसी दृष्टि से भी भारतीय राजाओं से अधिक तो क्या उनके बराबर भी नहीं थी। भारत का एक-एक राज्य गजनी के तुर्की राज्य से कहीं अधिक विस्तृत था और उसकी जनसंख्या भी उनसे बड़ी थी। किन्तु यह सब वैभव आक्रान्ताओं के प्रहारों से देश और जाति की रक्षा करने में निष्फल सिद्ध हुआ। महमूद के बाद छोटे-मोटे हमले उसके लाहौर के शासक व सैनिक निरन्तर करते रहे। इन्हीं में से एक ने बनारस तक धावा मारा और उस नगर को निर्दयता से विध्वंस किया।

दूसरी घटना बारहवीं शती के अन्तिम चरण में मुहम्मद गूरी के आक्रमणों के साथ शुरू होती है और इसमें भी लगभग ३० वर्ष तक तुर्कों के प्रहार देश पर होते रहे। और यद्यपि इस अन्तर में एक-दो अवसरों पर आक्रान्ताओं को हिन्दू राजाओं ने परास्त किया और पीछे हटाया तथापि अन्त में देश की स्वतन्त्रता को वे न बचा सके और तेरहवीं शती के आरम्भ तक ही लगभग समस्त उत्तर भारत पर विदेशी तुर्कों की सत्ता स्थापित हो गई। इन दो घटनाओं में भेद केवल इतना ही है कि पहले आक्रान्ता ने हिन्दू राजाओं को परास्त करने पर भी समस्त देश पर साम्राज्य स्थापित करने का विचार न किया। उसने केवल लाहौर प्रान्त को अपने अधिकार में इसलिए ले लिया कि वह उसके आक्रमणों के लिए सैनिक पीठिका का काम देगा और दूसरे आक्रान्ता अर्थात् मुहम्मद गूरी ने विजित प्रदेशों पर अधिकार कर लेने से अपने सैनिकों को न रोका। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इतने सुयोग्य सैनिकों की सहायता तथा सहयोग गूरी सुल्तान को प्राप्त न होते तो शायद वह भी अपना साम्राज्य हिन्दुस्तान पर स्थापित न कर पाता। जैसा हम ऊपर देख आए हैं, स्वदेश में तो गूरियों की सत्ता एव वंश बहुत ही जल्दी नष्ट हो गए, किन्तु भारत में उनके तुर्क सैनिक स्वतन्त्र होकर एक स्थायी साम्राज्य के संस्थापक बन गये।

भारत जाति के इस विस्मयपूर्ण पराभव के कारणों पर अनेक लेखक प्रकाश डालने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु जहाँ तक हमको विदित है किसी भी लेखक ने इस समस्या पर गहराई से विचार नहीं किया और हमारे इतिहास की एक अत्यन्त कठिन समस्या को थोड़ी सी ऊपरी बातें गिनाकर टाल देने को ही पर्याप्त समझा है। इन ऊपरी बातों से किसी भी विचारशील पाठक को सन्तोष नहीं हो सकता। इस समस्या के समाधान के लिए जाति-पाँति के भेद, हिन्दुस्तान की कड़ी गर्मी के कारण यहाँ के लोगों का निर्बल होना आदि दो-चार कारणों को गिना देना, इन बातों का मूल्य बच्चों को बहका देने से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु देखना यह है कि देश और जाति के उस आन्तरिक पतन के क्या कारण थे जिसके

परिणामस्वरूप हमारे अन्दर इतनी दुस्साध्य निर्बलता प्रवेश कर गई कि इतना विस्तृत तथा प्राचीन देश जिसकी सभ्यता प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट थी और जिसने पूर्वकालीन आक्रान्ताओं को केवल परास्त ही नहीं किया था अपितु उनके देशों पर अधिकार भी किया था, इस युग में बिलकुल पलटा खा गया और अपनी स्वाधीनता की रक्षा न कर सका। इस विचित्र परिस्थिति को समझने के लिए आवश्यक होगा कि तत्कालीन समाज की मानसिक प्रवृत्ति, उसके विचार, विश्वास तथा सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण का यथासम्भव पूर्णरूप से अध्ययन किया जाय। कारण कि किसी जाति अथवा देश का पतन, उसका उत्कर्ष अथवा अपकर्ष उसके आन्तरिक भावों तथा प्रवृत्तियों के अनुसार होता है। जब तक कोई जाति आन्तरिक रूप से पतित नहीं होती तब तक कोई बाहरी आक्रामक उसको स्थायी रूप से पददलित करके उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता। ऊपर के पृष्ठों में यथास्थान इस बात का दिग्दर्शन कराया जा चुका है कि हर्षोत्तर युग में बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हुईं जिनके परिणामस्वरूप देश में एक गहरी मानसिक क्रान्ति हुई। हमारा अभिप्राय मुख्यतया इसी मानसिक क्रान्ति की ओर ध्यान आकर्षित करने का है।

इस सम्बन्ध में हैवेल ( Havell ) ने देश की परिस्थिति को बड़े उत्तम शब्दों में व्यक्त किया है। उत्तर भारत में आठवीं शती में राजनीति व कला का पतन आरम्भ हो जाता है और यह पतन बराबर सोलहवीं शती के मध्य तक जारी रहता है, जब कि शतियों के अव्यवस्थित तथा उथल-पुथल के जीवन के बाद भारतीय समाज को महान अकबर के शासन की छत्रछाया में फिर से सुख, शांति तथा पुनरुत्थान का सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजनीतिक रूप से यह पतन हर्ष की मृत्यु के पश्चात् ही आरम्भ हो गया था और इस क्षेत्र में केवल एक-दो प्रतापी नामों के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा अद्वितीय, शक्तिशाली अथवा बुद्धिमान राजनीतिज्ञ व योद्धा पैदा हुआ हो जिसका नाम लिया जा सके। सौभाग्य की बात यह थी कि लगभग ४०० वर्ष के इस दीर्घकाल में जिसमें कि भारत के विधाता नए राजवंश थे जो समयान्तर में राजपूत नाम से प्रसिद्ध हुए, भारतवर्ष बाहरी जातियों के आक्रमणों से बिलकुल मुक्त रहा। किन्तु इस काल के क्षत्रिय लोग यह समझने लगे थे कि कारण-अकारण युद्ध करना ही उनका जातीय पेशा है न कि युद्ध उस समय करना जब कि अवसर के अनुसार युद्ध करना कर्त्तव्य हो। अतएव जब इन लोगों के सामने कोई आवश्यक राष्ट्रीय समस्या नहीं होती थी जैसी परिस्थिति सौभाग्य वश उन लगभग चार सदियों में बराबर बनी रही (केवल सिंध इसका अपवाद था) ये राजागण, जिनको इनके धार्मिक पथ प्रदर्शक पण्डा-पुजारी इन कामों के लिए प्रोत्साहित करते तथा उकसाते थे अपने धार्मिक विश्वासों व कर्त्तव्यों की पूर्ति अपने पड़ोसियों पर हमला करके और उनको नष्ट करके करते थे। इतना ही नहीं प्रायः यह लोग बिना किसी उचित उद्देश्य अथवा अभिप्राय के केवल मनोविनोद

तथा क्रीड़ा के लिए ही युद्ध करने में अपने क्षात्रधर्म की पूर्ति समझते थे। इस प्रकार के सर्वथा निरर्थक तथा मूर्खतापूर्ण लड़ाई करने से स्वाभाविक ही इन लोगों में परस्पर तुच्छ पारिवारिक वैमनस्य तथा ईर्ष्या-द्वेष के गहरे भाव पैदा हो गए। हैवेल के शब्दों में इन क्षत्रियों के यह परस्पर युद्ध केवल एक प्रकार की असि-क्रीड़ाएँ ही थीं जो कि एक विस्तृत पैमाने पर लड़ी जाती थीं और जिनमें करनेवालों के अतिरिक्त किसी और को रुचि अथवा लगाव न होता था।

आगे चलकर हैवेल कहता है कि भारत के इस आध्यात्मिक व बौद्धिक पतन के ही कारण थे जो किसी भी संस्कृति अथवा समाज को अवश्य ही पतन की ओर ले जाते हैं। जो समाज अपने संकुचित दायरे के अन्दर इस प्रकार बन्द हो गया हो कि बाहर के नए-नए विचारों के सम्पर्क से उत्तेजित होना तथा लाभ उठाना और समय की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाना उसके लिए असम्भव हो गया हो, उसका पतन होना अनिवार्य हो जाता है। यही दशा इस युग में भारतीय समाज की थी। प्राचीन भारतीय आर्यधर्म, जो कि जीवन के प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के गूढ़तम दर्शन पर आधारित था, इस युग में एक निकृष्ट एवं स्वार्थी पुजारी जाति के हाथों में जकड़ गया। धर्म के इन ठेकेदारों ने सीधी-सादी भारतीय जनता के सरल स्वभाव तथा धार्मिक प्रवृत्तियों से अनुचित लाभ उठाया और प्राचीन धर्म के सरल अर्थ तथा आदर्शों को बाह्य कर्मकाण्ड के आडम्बरों के ढेर के नीचे दबा दिया। सामान्य जनता में साधु-संन्यासियों के ऊपरी वेश-भूषा के लिए भक्तिभाव बहुत बढ़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हज़ारों उसके आनन्दमय जीवन के प्रलोभन से मठों तथा मन्दिरों आदि की ओर दौड़ने लगे और भगवे वस्त्र धारण करके भोली-भाली भारतीय जनता को धोखे में फँसाने लगे। भारतीय दर्शन की वास्तविकता को देश के विद्वान भूल गए और केवल वाद-विवाद करने तथा प्रत्येक विषय में बाल की खाल निकालने की क्षमता में ही विद्वत्ता का सार तथा अपना गौरव समझने लगे और जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोप में धर्म के नाम पर अनेक दुराचार होने शुरू हुए उसी प्रकार हमारे मठ-मन्दिर तथा पुजारीवर्ग कुरीतियों तथा अंधविश्वासों के गढ़ बन गए। धार्मिक शिक्षा के वास्तविक पतन का ही यह परिणाम हुआ कि मंदिरों और मठों का बनवाना तथा उनको सतत दान-दक्षिणा दे कर विपुल सम्पत्ति से भरपूर कर देना ही धर्म का मुख्य अंग बन गया। जनता का अंधविश्वास यहाँ तक बढ़ा कि प्रत्येक हिन्दू यह समझने लगा कि केवल मंदिर बनवा देने से ही धर्म की रक्षा की पूर्ति हो जाती है और यह कि इस प्रकार के सांसारिक भवन तथा सिंहासन बनवाकर देवताओं को उनके अंदर निवास करने पर विवश किया जा सकता है। इसका प्रभाव प्रत्येक धनी अथवा राजा पर उसी मात्रा में हुआ जितना अधिक वह सम्पन्न था। अतएव उस समय के क्षत्रीय तथा राजा लोग एक ओर अपने पड़ौसियों को लूटने और नष्ट करने में अपना समय लगाने लगे और दूसरी ओर अपने केन्द्र-स्थानों तथा

राजधानियों में बड़े-बड़े मंदिर बनवाकर देवताओं से अपने इन कृत्यों के बदले में वरदान माँगने लगे। इसी प्रकार की भावनाओं व आकांक्षाओं से अपने ब्राह्मण पुरोहितों की सलाह के अनुसार वे तीर्थस्थानों में मंदिर व मठ आदि बनवाने तथा हज़ारों भगवे वस्त्रधारी पाखण्डी भिक्षुओं व संन्यासियों आदि का पालन-पोषण करने में अपना समय तथा प्रजा से वसूल हुए धन का बहुत-सा भाग व्यय करने लगे।

हमारे समाज के उपर्युक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा कि देश के रक्षक वर्ग अर्थात् राजाओं व क्षत्रियों का ध्यान अपने वास्तविक कर्त्तव्यों को छोड़कर किस प्रकार के निरर्थक कार्यों तथा अंध-विश्वासों और पाखण्डों के गर्त में फँस गया था। इसीसे जैसा कि ऊपर के अध्यायों में यथा-स्थान दिखलाया जा चुका है यह लोग अपने समस्त धन-सम्पत्ति तथा हर प्रकार की सामग्री का दुरुपयोग करने लगे थे और उनका दृष्टिकोण ही अपने वास्तविक कर्त्तव्यों से सर्वथा विपरीत और विमुख हो गया था। "ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं नृपः क्षत्रस्य रक्षणम्," इस श्लोक में मनु ने क्षत्रियों को आदेश दिया है कि उनका एकमात्र तप देश और जाति की रक्षा करना है। स्पष्ट है कि मध्ययुग के यह क्षत्री अपने इस कर्त्तव्य को भूलकर केवल बाह्य आडम्बरों में अथवा निरर्थक युद्ध करने ही में जीवन की सार्थकता समझने लगे थे। अतएव उनका युद्ध-कौशल केवल शारीरिक शौर्य प्रदर्शन तक ही सीमित हो गया था और न केवल वे प्राचीन रण-विद्या के मुख्य सूत्रों को भुला बैठे थे अपितु धार्मिक संकीर्णता के कारण उनकी उन्नतिशीलता के गुण बिलकुल नष्ट हो गए थे। उदाहरण के लिए जब हम तत्कालीन तुर्की आक्रमणों का विस्तृत अध्ययन करते हैं तो हमें पता चलता है कि एक बाहरी आक्रामक गज़नी से चलकर इस अनजाने देश में हज़ारों मील तक बेरोक-टोक घुसता चला जाता है और देश के क्षत्रियगण यद्यपि कहीं-कहीं उसका मुकाबला करते हैं किन्तु अन्त में परास्त हो कर चुप बैठे रहते हैं। आक्रामक के मार्ग में अनेक नैसर्गिक रुकावटें हैं तथा एक बड़ी सेना को दूर तक ले जाने में जो विभिन्न समस्याएँ सामने आती हैं वे भी किसी प्रकार कम नहीं हैं। उसको दर्जनों छोटी-बड़ी नदियों को, जिन पर शायद कहीं पार करने लायक पुल हों, पार करना होता है। उसके मार्ग में अनेक गढ़ या गढ़ैया इत्यादि हैं जो इन मार्गों की रक्षा के लिए किसी समय बनाए गए थे। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी शृंखला को पार करते ही उसको एक अत्यन्त निर्भीक जाति, अर्थात् गक्खरों का भी अक्सर सामना करना पड़ता है। इतनी बड़ी सेना को दाना पानी, अस्त्र-शस्त्र तथा वस्त्र घोड़े व सामान ले जाने के अन्य उपाय जुटाने की भी भयानक समस्या उसके सामने होती है। किन्तु इन सब कठिनाइयों व समस्याओं को किसी न किसी प्रकार हल करने की क्षमता आक्रामक दिखलाते हैं। दूसरी ओर आश्चर्य यह होता है कि देश के क्षत्रिय आक्रमक की इन कठिनाइयों से कोई लाभ नहीं उठाते। अर्थात् रक्षा-सम्बन्धी रण-कौशल के

किसी भी अंग का ज्ञान ये लोग प्रदर्शन नहीं करते। इसका एक कारण यह भी जान पड़ता है कि नवीन ब्राह्मण धर्म की शिक्षा के अनुसार इन लोगों को सिंधु के पार जाना तथा म्लेच्छों के सम्पर्क में आना वर्जित था। अतएव ये लोग यथा-शक्ति उनसे दूर रहने का ही प्रयास करने लगे और केवल उसी समय उनसे युद्ध करते थे जब कि आक्रामक उनके सर पर ही आ मौजूद होता था और इन राजाओं को युद्ध करने के सिवाय और कोई चारा न रह जाता था। इससे हमारा अभि-प्राय यह कदापि नहीं है कि ये लोग साहसी तथा वीर न थे और मरने से डरते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये अद्वितीय वीर थे और मरना जानते थे किंतु खेद यह है कि वे केवल मरना ही जानते थे किन्तु जीवित रहने के लिए पूरी क्षमता से युद्ध करना और उसके लिए समस्त आवश्यक उपायों को प्रयोग में लाना भूल गए थे। उनकी इस धारणा का ज्वलन्त प्रमाण यह है कि वे आपस में एक-दूसरे पर तो अनवरत चढ़ाइयाँ करते रहते थे किन्तु बाहरी और विधर्मी अरब व तुर्की आक्रामकों पर आक्रमण करने का विचार तक इन लोगों ने कभी न किया। यह निर्विवाद है कि रण-विद्या को जाननेवाला कोई भी सेनानी ऐसी परिस्थिति में यह समझ लेता कि इन आततायियों से देश की रक्षा करने के लिए सर्वोत्तम उपाय तथा नीति यही थी कि देश के विभिन्न राजाओं की शक्ति को संगठित करके उन बाहरी आक्रामकों के देश पर धावा मारते और उनको वहीं नष्ट करते अथवा कम से कम उत्तर-पश्चिमी मार्गों पर सेना का पूरा जमाव इकट्ठा करके उनका देश में घुसना बंद कर देते। इसके विपरीत हम देखते हैं कि भारत के ये वीर आराम से अपने घरों में बैठे हुए इन आक्रामकों के आने की मानो प्रतीक्षा करते रहते थे।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी विचारणीय है। जिस समय महमूद गजनवी अपने सतत प्रहारों से उत्तर भारत के नगरों, तीर्थों व देवस्थानों को ध्वस्त कर रहा था उसी समय मालवा का प्रसिद्ध परमार राजा भोज व अन्हिल-वाड़ा का भीम सोलंकी उत्तर में तथा दक्षिण में चोल वंशीय राजराजदेव (९८५-१०१७) और उसका बेटा राजेन्द्र देवचोल प्रथम (१०१८-१०३५) विद्यमान थे और यह सभी रणक्षेत्र में अपने-अपने पराक्रम दिखला रहे थे। राजेन्द्र चोल ने बड़ी भारी नौसेना बनाकर बंगाल के पूर्वी तट तथा बर्मा के राजाओं को अधिकृत किया था। दक्षिण के राजवंश यद्यपि उत्तर से काफी दूरी पर थे तथापि इनके राजनीतिक सम्बन्ध उत्तर भारत के राजाओं से बराबर जारी रहते थे। फिर यह बात समझ में नहीं आती कि जो लोग देश के अंदर तथा बाहर दूर-दूर तक जा कर हमले कर सकते थे वे अपने देश के इन आक्रामकों को नष्ट करने के लिए अग्रसर क्यों हुए न। ऐसा न करके इसके प्रतिकूल वे स्थान-स्थान पर बराबर अत्यन्त विशाल मंदिरों का निर्माण करते चले जाते थे। उदाहरणार्थ आबू के प्रसिद्ध जैन मंदिर जिनको विमलशाह ने बनवाया था, सन् १०३० में पूरा हुआ था। गंगई

कोंडा चोलापुरम का मंदिर तथा तंजौर का मंदिर भी जिसका विमान १६० फुट ऊँचा है, इसी समय बने थे। इसी प्रकार अनेक मंदिर व देवालय देशभर में एक बन के वृक्षों के समान उग रहे थे। और इनके निर्माता अगणित धन-सम्पत्ति से इन मंदिरों के भण्डार भर रहे थे। निस्संदेह इन अनंत किन्तु अरक्षित भण्डारों ने भी बाहरी आक्रामकों के अंदर भारी प्रलोभन पैदा कर दिया था।

सारांश यह है कि नवीन ब्राह्मण सम्प्रदाय की संकीर्ण व संकुचित शिक्षाओं के कारण जाति के अंदर ऐसी मानसिक शिथिलिता पैदा हो गई थी कि सर्वसामान्य तो क्या देश का शासक वर्ग भी इसकी राजनीतिक व सामरिक स्वाधीनता व सुरक्षा की आवश्यकता की ओर उदासीन हो गया था। उनके सामने धर्म की अन्य क्रियाओं का पूरा करना परम आवश्यक था जिसकी तुलना में बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करने का कर्तव्य उतना महत्व न रखता था। दूसरे वे यथासम्भव म्लेक्षों के सम्पर्क से बचना चाहते थे। इसी से वे लाहौर और भटिंडा आदि स्थानों से मरणासन्न गज़नवी सत्ता को भी न निकाल सके।

उपर्युक्त सामाजिक व मानसिक दशा का ही परिणाम था जात-पाँत के भेद-भाव व परस्पर साम्प्रदायिक विभाजन की प्रवृत्ति।

इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध या विचार न करना भी उसी विचार-शैथिल्य को दर्शाता है जिसका हम ऊपर निर्देश कर आए हैं। इन्हीं कारणों से, बड़े शूरवीर होते हुए भी मध्यकालीन क्षत्रियगण देश को बाहरी हमलों के संकट से न बचा सके और स्वाधीनता के साथ-साथ लगभग अपने अस्तित्व को भी खो बैठे।

## तीसरा प्रकरण

# तुर्की सत्ता का उत्थान व साम्राज्य का विस्तार

सात

## ममलूक (दास) वंश

( अ )

**दिल्ली सल्तनत की स्थापना : ऐबक और इल्तुत्मिश**—( संगठन का प्रयास)—सुलतान मुइज़ुद्दीन मुहम्मद ग़ूरी की मृत्यु तक तुर्कों की उत्तर भारत पर विजय तथा सल्तनत की स्थापना का वृत्तान्त आठवें अध्याय में दिया जा चुका है। उसके अचानक कत्ल हो जाने पर उसके उत्तराधिकारी का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। उसके भारतीय सैनिकों में कुत्बुद्दीन ऐबक हर प्रकार से श्रेष्ठ था और लाहौर के प्रान्त में उसकी सबसे अधिक मान्यता थी। तत्कालीन उत्तर-पश्चिम की परिस्थिति अत्यन्त संकटमय होने के कारण सामरिक दृष्टि से लाहौर का महत्व सबसे अधिक था। अतएव कुत्बुद्दीन ने दिल्ली को छोड़कर लाहौर को राजधानी बनाया और वहाँ पर अपने को सुलतान घोषित करके अपना सिक्का चालू किया। खुतबे में भी उसका नाम सुलतान के रूप में सम्मानित किया गया। लाहौर की जनता में ऐबक की सर्वप्रियता से जान पड़ता है कि लगभग २०० वर्ष तुर्की शासन के अन्दर रहने के कारण वहाँ के विभिन्न वर्ग आपस में इतने मिल-जुल गए थे कि वे अपनी भलाई-बुराई तथा सुख-शान्ति के लिए आपसी एकता तथा सद्भावों को आवश्यक समझते थे।

भारत में तो ऐबक का विरोध करनेवाला कोई शक्तिशाली सैनिक नहीं था किन्तु ग़ज़नी में ताजुद्दीन यल्दुज़ ने अपने को सुलतान घोषित करके ऐबक से भी अपना प्रभुत्व स्वीकार कराने की चेष्टा की। इसी आधार पर उसने सिन्ध के शासक नासिरुद्दीन कबाचा पर आक्रमण कर दिया क्योंकि इसने ऐबक को सुलतान मान लिया था। किन्तु ऐबक ने यल्दुज़ को वापस मार भगाया और ग़ज़नी तक उसका पीछा करके वहाँ से भी उसको निकाल दिया। पर ग़ज़नी में ऐबक बहुत

दिन न ठहर सका। वहाँ पर उसने केवल एक अत्यन्त आवश्यक काम कर लिया। उसने अपने स्वामी शहाबुद्दीन ग़ूरी के उत्तराधिकारी राजकुमार से जो उस समय फ़िरोज़ कोह में अपने दिन काट रहा था अपने को दासत्व से मुक्त, करा लिया। और इस प्रकार वैधानिक रूप से भी उसको सुलतान बनने का अधिकार प्राप्त हो गया। ग़ज़नी से लाहौर वापस लौटने के थोड़े ही दिन बाद चौगान (पोलो) खेलते हुए घोड़े से गिरकर अकस्मात उसकी मृत्यु हो गई। अतएव अपने भारतीय साम्राज्य को सुव्यवस्थित व दृढ़ बनाने का कार्य वह पूरा न कर पाया।

**ऐबक का कार्य**—दिल्ली की तुर्की सल्तनत के संस्थापक होने का मुख्य श्रेय ऐबक को ही दिया जाना चाहिए। सल्तनत की स्थापना के बाद उसने उन आन्तरिक कठिनाइयों का समाधान करने का भी यत्न किया जो किसी भी नए साम्राज्य के संस्थापक के सामने आती हैं। यह कठिनाइयाँ मुख्यत: तीन प्रकार की थीं :

(१) सबसे पहले उत्तर-पश्चिम सीमा की रक्षा की समस्या उस समय अत्यन्त गहन हो गई थी। इसका कारण यह था कि मध्य एशिया में, जैसा हम बता चुके हैं, ख्वारिज्म वंश का साम्राज्य बहुत विस्तृत तथा शक्तिशाली हो गया था और ग़ूरी वंश के राज्य को ख्वारिज्मशाह ने जीतकर अपनी दक्षिण-पूर्वी सीमा को भारत के किनारे तक पहुँचा दिया था। इसके अतिरिक्त सिन्धु व झेलम नदी के काँठे में खोखर लोग दिल्ली सुलतानों के भयानक शत्रु तथा विरोधी थे और वे न केवल स्वयं दिल्ली सल्तनत के लिए एक भारी संकट पैदा करनेवाले थे बल्कि विदेशी आक्रामकों के साथ भी मिलकर दिल्ली सुलतानों का विरोध करने को उद्यत रहते थे। इन्हीं की आबादी के कारण दिल्ली सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमा लाहौर के आगे कभी न बढ़ पाई और लगभग सतलज व रावी तक ही सीमित रह गई, केवल दक्षिण में इनका मुल्तान व सिन्ध तक कब्ज़ा था और मुल्तान की पश्चिम सीमा का महत्वशाली दुर्ग जो बोलान के दर्रे की चौकीदारी करता था, कभी-कभी दिल्ली सुलतानों के हाथों में आ जाता था और फिर छिन जाता था। इस प्रकार यह सीमा कभी स्थिर न हो सकी।

(२) दूसरी समस्या जो एक दृष्टि से पहली से भी अधिक जटिल थी वह थी अन्य तुर्की सैनिकों का विरोध। ये तुर्की सैनिक ग़ूरी सुलतान के उसी प्रकार दास थे जिस प्रकार ऐबक था और सुलतान की मृत्यु के बाद वे सभी उसके उत्तराधिकारी होने की आकांक्षा रखते थे। इनमें मुख्यतया बहाबुद्दीन तुग़रिल व नासिरुद्दीन कबाचा उल्लेखनीय हैं। इनके अरिरिक्त ताजुद्दीन यल्दुज़ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह ग़ज़नी का मालिक बन बैठा था और इस नाते ग़ूरी सुलतान के समस्त साम्राज्य का अधिपति होने का दावा कर रहा था। चौथा योग्य तुर्की सरदार शम्सुद्दीन इल्तुत्मिश था जो उस समय बदायूँ का शासक था।

(३) तीसरी समस्या थी अपने नए विस्तृत साम्राज्य को सुव्यवस्थित करने तथा

एक स्थायी शासन स्थापित करने की। अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए यह भी आवश्यक था कि बचे-खुचे हिन्दू सरदारों को किसी न किसी प्रकार दबाए रखा जाए तथा यथासम्भव साम्राज्य का अधिक विस्तार भी किया जाय।

ऐबक ने इन सब गहन समस्याओं का बड़ी चतुराई के साथ समाधान किया। उत्तर-पश्चिम की समस्या ऐबक के शासन-काल में कुछ समय के लिए इस कारण शान्त रही कि यल्दुज़ ख्वारिज़मशाह की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर अपनी रक्षा की चिन्ता में पड़ा हुआ था। आन्तरिक तुर्की सरदारों के विरोध के प्रति उसने उसी नीति से काम लिया जिसका प्रयोग अक्सर मध्यकालीन यूरोप के राजनीतिज्ञ तथा नृपतिगण करते थे। अर्थात् राजघरानों में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध जोड़कर। उसने अपनी एक लड़की की शादी इल्तुत्मिश के साथ कर दी और दो लड़कियों की शादी सिन्ध व मुल्तान के शासक नासिरुद्दीन कबाचा के साथ कर दी और इस प्रकार अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर लिया। हिन्दू सरदारों का विरोध दबाने के लिए उसने उदारता से काम लिया। उनमें से जिस-जिस ने जज़िया तथा राज-कर देना स्वीकार कर लिया उनको अपनी-अपनी भूमि का शासक रहने दिया गया। इस नीति से उसने देश के अन्दर शान्ति की स्थापना करने का प्रयत्न किया। इसके प्रतिकूल दिल्ली, अजमेर, बनारस तथा अन्य प्रसिद्ध स्थानों के मन्दिरों व देवस्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करने में उसने कोई कसर न की। इसमें दोष उन मन्दिरों के निर्माताओं ही का था जिन्होंने उनमें अतुल सम्पत्ति के भण्डार भर दिए किन्तु उनकी रक्षा करने की कोई चेष्टा न की अतएव एक ऐसी जाति जिसको धन-दौलत तथा साम्राज्य आदि की आकांक्षा भी हो और साथ ही मुसलमान होने के नाते यह भी विश्वास हो कि मूर्तिपूजा के स्थानों को नष्ट करने से उनको धार्मिक श्रेय तथा स्वर्ग की प्राप्ति होगी, यदि उस जाति को इन मन्दिरों या देवस्थानों के विध्वंस करने का प्रलोभन हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उन छोटे-बड़े हिन्दू सरदारों की कायरता तथा स्वार्थान्धता का यह प्रमाण है कि उन्होंने अपने देवस्थानों तथा धर्म की रक्षा के लिए कोई चेष्टा नहीं की और इस प्रकार अपने मानमर्दन को चुपके से सहते रहे।

ऐबक के इन कार्यों के अतिरिक्त इल्तुत्मिश ने इस बात का भी परिचय दिया कि प्राचीन ईरान की संस्कृति का प्रभाव अन्य तुर्कों की भाँति उस पर भी पूरी तरह पड़ा था। वह विद्वानों तथा गुणी लोगों का आश्रयदाता था। हसन निज़ामी तथा फ़ख्रे मुदब्बिर जैसे इतिहासज्ञ उसके दरबार में थे। दिल्ली और अजमेर में उसने बड़ी विशाल मस्जिदें बनवाईं जो वास्तुकला की दृष्टि से अत्युत्तम कोटि के भवनों में हैं। कला के क्षेत्र में ऐबक ने जिस परिपाटी का आरम्भ किया उससे उत्तेजित होकर उसके बाद आने वाले सभी सुलतानों ने वास्तु-निर्माण में अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कमी न की। इन गुणों के अतिरिक्त कहा जाता है कि उसका सर्वोत्तम गुण था उसकी अनन्य दानशीलता जिसके कारण उसको लाखबख्श कहा

जाता था। किन्तु साथ ही उसको लाखों को कत्ल करनेवाले का श्रेय भी तत्कालीन लेखकों ने ही दिया है। ऐबक ने इतने थोड़े समय राज्य किया कि उसको शासन-व्यवस्था को सुसंगठित करने का अवसर न मिला, अतएव भिन्न-भिन्न प्रदेशों के तुर्की सरदारों को अपने-अपने दायरे के शासन का पूरा अधिकार दे दिया गया था। और केवल सैनिक शक्ति के द्वारा ही उन लोगों से राज-कर आदि वसूल किया जाता था।

**ऐबक के उत्तराधिकारी**—ऐबक की अचानक मृत्यु हो जाने से उसके उत्तराधिकारियों के कन्धों पर बड़ा संकटमय भार आ गया था क्योंकि उसका समस्त कार्य अभी अधूरा ही था। राजधानी लाहौर से हटकर दिल्ली को बनाना पड़ा था क्योंकि इसी नाके से देश के आन्तरिक प्रदेशों में प्रवेश हो सकता था। आन्तरिक समस्याओं के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की समस्या ने इस समय बहुत ही भीषण रूप धारण कर लिया था। कारण कि मध्य एशियाई क्षेत्र से एक नए तूफ़ान के बादल मंडराते हुए आगे बढ़ रहे थे। मंगोल जाति के महान् सैनिक नेता चंगेज़ख़ाँ के नेतृत्व में एक सुव्यवस्थित सेना प्रलयंकारी महाजलप्रपात के समान बढ़ती चली आ रही थी। इस बाढ़ में समस्त चीन तथा मध्यएशिया विलीन हो गया था और ख्वारिज़्मशाह का विस्तृत साम्राज्य भी इसी प्रकार विलीन होनेवाला था। इस भयानक बाढ़ से भारतवर्ष किस प्रकार बचा, इसका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। इसीके साथ-साथ खोखरों ने भी चिनाव नदी के इस पार लाहौर तक छापे मारने शुरू किए जिनसे लाहौर के आस-पास की जनता त्राहि-त्राहि करने लगी। सन् १२१५ में ख्वारिज़्मशाह ने यल्दुज़ को ग़ज़नी और अफ़ग़ानिस्तान से निकालकर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण करने का भय उत्पन्न कर दिया था।

दक्षिण-पश्चिम अर्थात् मुल्तान व सिन्ध की सीमा की परिस्थिति इतनी संकटमय न थी किन्तु उसकी जटिलता वहाँ के स्थानीय तुर्की सरदारों की विरोध नीति के कारण उतनी ही कठिन हो गई थी जितनी उत्तर-पश्चिम की थी। इसके अतिरिक्त ऐबक के उत्तराधिकारियों के समक्ष एक निश्चित शासन-नीति निर्धारित व स्थापित करने की थी जिससे उनका शासन स्थायी बन सके और जिसके द्वारा वे अपनी प्रजा के अन्दर विश्वास, प्रेम तथा भक्ति के भाव उत्पन्न कर सकें और उसको सुखी बना सकें। कारण कि कोई शासक सच्चे अर्थों में शासक कहलाने के योग्य नहीं हो सकता जो उपर्युक्त आदर्शों को अपने सामने नहीं रखता। इन आदर्शों को किस प्रकार दिल्ली सल्तनत के अधिकारियों ने पूरा करने का प्रयास किया, यही उनकी सफलता व विफलता की कसौटी होगी।

**आराम और इल्तुतमिश**—ऐबक की मृत्यु के बाद लाहौर के सरदारों ने तुरन्त उसके बेटे आरामशाह को गद्दी पर बिठा दिया किन्तु दिल्ली के दरबारी और

तुर्की सरदार इस निर्णय से सन्तुष्ट न हुए। इसके दो कारण हो सकते हैं। आराम निर्बल व अयोग्य युवक था। दूसरे, दिल्ली के सरदार साम्राज्य की शक्ति अपने हाथों में रखना चाहते थे। अतएव लाहौर के नेताओं द्वारा मनोनीत सुलतान को वे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अतएव उन्होंने बदायूँ के सुयोग्य शासक तथा ऐबक के दामाद इल्तुतमिश को बुलाकर गद्दी पर बिठा दिया। आराम ने दिल्ली पर चढ़ाई की किन्तु इल्तुतमिश ने बड़ी आसानी से उसको पराजित किया और वह मारा गया।

**इल्तुतमिश की प्रारंभिक कठिनाइयाँ**—इल्तुतमिश एक बड़े ऊँचे घराने का तुर्क था। उसको बचपन में स्वयं उसके भाइयों ने बेच डाला था। जब वह गज़नी लाया गया तो ऐबक ने उसको खरीद लिया। किन्तु जल्दी ही अपनी योग्यता से उसने ऊँचे पदों को प्राप्त किया और हिन्दुस्तान आकर ग्वालियर, बरन और फिर बदायूँ का शासक नियुक्त हुआ। ऐबक के मरते ही कबाचा ने सिन्ध और मुल्तान का स्वतन्त्र शासक अपने को घोषित करके भटिण्डा, कोहराम, सरसुती और लाहौर तक अपना अधिकार जमा लिया। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर यल्दुज़ ने भी मुहम्मद ग़ूरी के उत्तराधिकारी होने के नाते अपने को समस्त तुर्की साम्राज्य का अधिपति घोषित कर दिया और इल्तुतमिश को अपने अधीन भारत का शासक बनाने का प्रयत्न किया। इस समय कई राजपूत सरदारों ने दिल्ली के प्रभुत्व को त्याग कर राज-कर देना बन्द कर दिया। जालौर और रणथम्भौर के चौहान सरदारों ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दिल्ली के चारों ओर जो छोटे-बड़े तुर्की शासक थे वे भी इस अवसर का लाभ उठाने से न चूके। इस प्रकार इल्तुतमिश राजगद्दी पर बैठते ही चारों ओर कठिनाइयों के बादलों से घिर गया। परन्तु इस परिस्थिति से वह विचलित नहीं हुआ। उसने बड़ी सावधानी व दूरदर्शिता से काम लिया। यल्दुज़ के दावे को कुछ समय के लिए वह चुप होकर सहन कर गया ताकि ठीक समय आने पर वह उसके दावे का प्रतिकार कर सके। यल्दुज़ ने लाहौर पर हमला करके कबाचा को वहाँ से निकाल दिया किन्तु इल्तुतमिश कुछ न बोला क्योंकि यदि वह इस समय यल्दुज़ से लड़ाई करता तो ख्वारिज्मशाह हिन्दुस्तान पर हमला कर देता। ऐबक की नीति के प्रतिकूल इल्तुतमिश ने शान्ति से बैठे रहना ही ठीक समझा। सन् १२१५ में जब ख्वारिज्मशाह अलाउद्दीन ने यल्दुज़ को गज़नी से मार भगाया और उसने लाहौर में आकर पनाह ली तथा फिर अपने को तुर्क साम्राज्य का अधिपति घोषित किया तब इल्तुतमिश को मौक़ा मिला। उसने यल्दुज़ पर हमला करके उसे परास्त किया और क़ैद करके बदायूँ भेज दिया, जहाँ पर वह मरते दम तक बंदी रहा। लाहौर के सूबे को इल्तुतमिश ने कबाचा को इस शर्त पर वापस दे दिया कि वह वफ़ादारी बरतेगा। किन्तु कबाचा के विद्रोह करने पर इल्तुतमिश ने उसको वहाँ से निकाल कर लाहौर पर अपना शासक नियुक्त कर दिया।

इसी समय चंगेज़ख़ाँ के संचालन में मंगोलों की एक भारी बाढ़ तातारी प्रदेश

से बढ़ती हुई और चीन आदि देशों को निगलती हुई ख्वारिज़्मशाह तक पहुंच गई थी ख्वारिज़्मशाह ने अपनी शक्ति के मद में चंगेज़ के दूतों के साथ दुर्व्यवहार करके इस दैवी प्रकोप को आमंत्रित किया था। चंगेज़ख़ाँ की सेना के सामने ख्वारिज़्मी साम्राज्य इस प्रकार विलुप्त हो गया जैसे झंझावात में धूल उड़ जाती है। ख्वारिज़्म-शाह अलाउद्दीन भाग कर काश्यप समुद्र (Caspian sea) के किनारे जा छिपा और उसका बेटा जलालुद्दीन मंगोल सेना के आगे भागता हुआ हिन्दुस्तान पहुँचा। यहाँ पर खोखर सरदार की सहायता से उसने लाहौर तक के प्रदेश पर कब्ज़ा कर लिया और लगभग ३ साल वहाँ ठहरा। इस अवकाश में उसने इल्तुतमिश के पास दूत भेजकर दिल्ली में शरण लेने की आज्ञा माँगी किन्तु दूरदर्शी नीतिज्ञ इल्तुतमिश ने उसको शरण देकर मुगलों के प्रकोप को उत्तेजित करना उचित न समझा। जलालुद्दीन के दूतों को राजविद्रोह का अभियोग लगाकर उसने मरवा डाला और उसको यह उत्तर भेज दिया कि दिल्ली का जलवायु उसके लिए उपयुक्त न होगा। कुछ ही समय बाद मंगोलों के पीछा करने पर जलालुद्दीन मुल्तान और सिन्ध के रास्ते से ईरान भाग गया। मंगोल सेना मुल्तान तक पहुँची किन्तु सौभाग्य से वह वहीं से वापस लौट गई। इस घटना का दिल्ली सल्तनत के लिए यह लाभ हुआ कि पजाब में नासिरुद्दीन कबाचा की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई और इल्तुतमिश उसको बहुत आसानी से नष्ट कर सका। किन्तु इसके प्रतिकूल इन्हीं घटनाओं का यह भी प्रभाव हुआ कि सुलतान पश्चिमी प्रान्तों तथा सीमा प्रदेश को पूरी तरह सुदृढ़ व सुरक्षित न कर पाया। जब १२२४ में चंगेजख़ाँ मध्य एशिया की तरफ लौट गया तब इल्तुतमिश ने पंजाब और सिन्ध को वापस लेकर उस पर पूरी तरह अपना शासन दृढ़ करने का विचार किया। सन् १२२८ में उसने लाहौर तथा देशली की तरफ से कबाचा पर आक्रमण किया। कबाचा सिन्धु नदी के रास्ते भागने का प्रयत्न करते हुए उसमें डूबकर मर गया। इस प्रकार इल्तुतमिश की सल्तनत को दक्षिण-पश्चिम की सीमा को मकरान व कस्दर तक विस्तृत करने का अवसर मिला। सिन्ध और मुल्तान पर उसने अलग-अलग शासक नियुक्त किए और देवल के सुमरा शासक को उसने अपने अधीन शासक स्वीकार कर लिया। उसके अतिरिक्त उस प्रदेश के सीबी आदि समस्त किलों को पूरी तरह सुदृढ़ किया और सम्यक सैनिक सामग्री से उनको भरपूर किया। किन्तु उत्तर-पश्चिम में खोखरों के विरोध के कारण इल्तुतमिश की सल्तनत की सीमा लाहौर से बहुत आगे न बढ़ा सकी। यह सम्भव है कि कभी-कभी उसका नियंत्रण स्यालकोट तक के प्रदेश पर हो गया हो परन्तु इल्तुतमिश को इससे संतोष न हुआ और वह बराबर उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी सीमा तक पहुँचने का प्रयत्न करता रहा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एक अनुभवी सैनिक को नमक पर्वत ( Salt Range ) के निकट नन्दना के स्थान पर नियुक्त किया। तथापि सल्तनत की उत्तर-पश्चिम सीमा व्यास नदी के किनारे तक ही सीमित रही। इसका प्रमाण 'तबक़ाते-नासरी' के उस निर्देश से मिलता है जिसमें

मिनहाज़ ने बतलाया है कि सन् १२५९ में उत्तर-पश्चिम सीमा अर्थात् लहौर तथा व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेशों पर मुगलों के आक्रमण के कारण बलबन कितना चिन्तित था। इससे स्पष्ट है कि नासिरुद्दीन और बलबन के समय में भी सल्तनत की सीमा व्यास नदी तक ही रुकी रही थी।

**पूर्वी प्रान्तों की घटनाएँ**—बख़्तियार ख़ल्जी के बेटे बंगाल के विजेता को मारकर हिसामुद्दीन एवज़ ने ग़यासुद्दीन एवज़ का ख़िताब लेकर बंगाल और बिहार पर सन् १२१२ में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। उसने बड़ी योग्यता से शासन किया और बहुत से जनहित के कार्य करके जनता को सुखी व सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया था। उसने लखनौती से देवकोट तक एक पानी की पक्की नहर 'सेतु' बनाई थी जो विशेष रूप से बरसात में बहुत उपयोगी थी। इन सब कार्यों के करने का अवसर उसको इसलिए मिल गया था कि दिल्ली के सुलतान उत्तर-पश्चिम तथा आन्तरिक संकटों की समस्याओं में व्यस्त थे। एवज़ ने अपने राज्य को भी बढ़ाने का प्रयत्न किया था।

मुग़लों के भय से छुट्टी पाते ही इल्तुतिमश ने एवज़ पर १२२५ में चढ़ाई कर दी। एवज़ ने तुरन्त उसका प्रभुत्व स्वीकार करके राज-कर तथा युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए धन दे दिया तथा बिहार के शासन से अपने को हटा लिया। सुलतान ने मलिक जानी को बिहार का शासक बनाया। किन्तु उसके वापस होते ही एवज़ ने संधि की उपेक्षा करके मलिक जानी को बिहार से निकाल दिया और उस पर फिर से कब्ज़ा कर लिया। अब इल्तुतिमश ने अपने बेटे नासिरुद्दीन महमूद 'प्रथम' को जो अवध का शासक था, एवज़ को दमन करने के लिए नियुक्त किया। नासिर ने बंगाल पर हमला किया और एवज़ लड़ाई में मारा गया। इसके बाद लखनौती दिल्ली सल्तनत का एक अंग बना लिया गया और महमूद उसका शासक नियुक्त हुआ। किन्तु महमूद की असामयिक मृत्यु के कारण बंगाल पर फिर एक ख़ल्जी सरदार ने अधिकार कर लिया। अतएव इल्तुतिमश ने उस पर फिर से चढ़ाई करके इस सूबे को दो खण्डों में विभक्त कर दिया अर्थात् लखनौती और बिहार।

**हिन्दू सरदारों का विद्रोह**—उपर्युक्त समस्या से भी अधिक जटिल समस्या उन हिन्दू सरदारों की थी जो इस अव्यवस्था के काल में फिर से स्वतन्त्र हो बैठे थे। इनमें सबसे शक्तिशाली रणथम्भौर का राजा वीरनारायण था। वास्तव में रणथम्भौर को दिल्ली के सुलतान पूरी तरह कभी भी अधिकृत नहीं कर सके थे। रणथम्भौर के राजा ने अपनी सत्ता राजपूताने के बड़े विस्तृत भाग पर स्थापित कर ली। तत्कालीन मुस्लिम लेखकों के अनुसार इल्तुतिमश ने थोड़े दिन के घेरे के बाद १२२६ में रणथम्भौर को विजित कर लिया था किन्तु हम्मीर महाकाव्य के अनुसार उसने राजा को धोखे से बंदी कर लिया था। तिस पर भी वह भयानक दुर्ग सुलतानों के अधिकर में कुछ ही दिन के लिए रहा। राजा वीरनारायण के मंत्री ने तुर्की सेना को निकाल कर फिर से अपने स्वामी के चौहान राजवंश की स्थापना

की। इसी वंश में वह प्रसिद्ध राजा हम्मीर हुआ जिसका संग्राम अलाउद्दीन खल्जी से हुआ था।

**अन्य राजपूत राजाओं के प्रति सुलतान की नीति**—उपर्युक्त संकटों का यथासम्भव समाधान करने के अनन्तर इल्तुत्मिश ने राजपूताना तथा गुजरात के
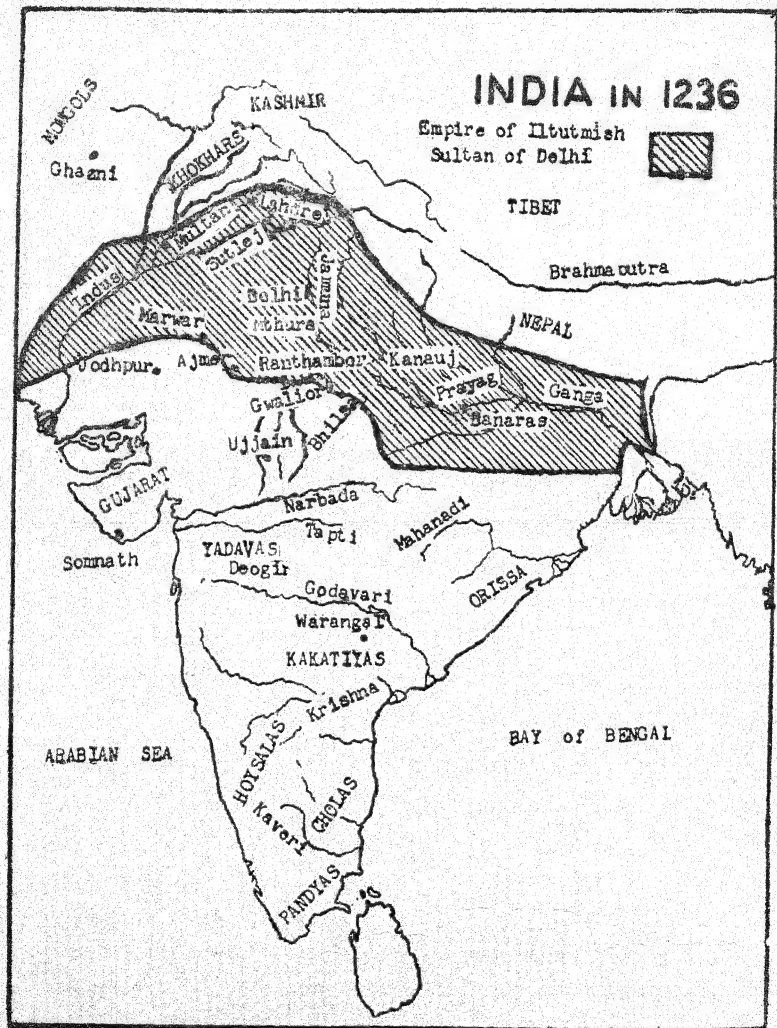
राजपूत राजाओं की तरफ मुँह मोड़ा। राजपूताना के कुछ उत्तरी प्रदेश को उसने जीत लिया। यहाँ के जालोर के शासक को उसने अपना अधीनस्थ करद मित्र

स्वीकार किया। इससे पता चलता है कि दूरदर्शी इल्तुतमिश इन राजपूत राजाओं से मित्रता के सम्बन्ध जोड़ने की नीति बरतना चाहता था किन्तु उसको इस उद्देश्य में कुछ सफलता नहीं मिली। गुजरात के चालुक्य तथा गहलोत राजाओं ने उसको परास्त करके पीछे हटा दिया। तथापि बयाना और थंगीर आदि के किले जो राजपूताने के उत्तर-पूर्व की सीमा के पहरेदार थे, उनको बड़े प्रयत्न के बाद इल्तुतमिश ने अपने अधिकार में ले लिया और अजमेर के आस-पास का प्रदेश भी जीत लिया। १२३१ में इल्तुतमिश विन्ध्य प्रदेश तथा मालवा की तरफ मुड़ा। ग्वालियर के किले को वह बड़ी कठिनाई से बहुत दिन तक घेरा डालकर ले सका। तदनन्तर अपनी शक्ति फिर से सुसंगठित करके १२३४ के अंतिम दिनों में सुलतान ने भेलसा तथा उज्जैन पर हमला करके, दोनों नगरों को बुरी तरह लूटा तथा विध्वंस किया और समस्त मन्दिरों व देवस्थानों को नष्ट करके उनकी सम्पत्ति पर अधिकार किया। उज्जैन के प्राचीन महाकाल तथा विक्रमादित्य आदि के मंदिरों में से वह बहुत-सी देव-मूर्तियाँ दिल्ली लाया और उनको जामा मस्जिद की सीढ़ियों में गड़वा दिया ताकि मस्जिद के अन्दर आने-जानेवाले उनको रौंद कर चलें। इल्तुतमिश का यह आक्रमण केवल लूट-खसोट के उद्देश्य से ही किया गया था। मालवा को वह सल्तनत में सम्मिलित न कर सका। सुलतान ने अपने बयाना और ग्वालियर के शासक के द्वारा बुन्देलखण्ड को भी जीतने का प्रयत्न किया किन्तु इसमें उसको सफलता न मिली और वह बड़ी कठिनाई से जान बचाकर उस बीहड़ प्रदेश से लौटा।

उपर्युक्त वृत्तान्त से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से घिरा होने पर भी इल्तुतमिश ने सल्तनत की सीमाओं को चारों ओर से क्रमशः दृढ़ करने की बड़ी योग्यता से चेष्टा की और इस उद्देश्य में उसको काफी सफलता भी मिली। तथापि उसके जीवन के अन्तिम समय तक इन संकटों से उसको मुक्ति न मिल सकी। जिस समय वह आस-पास के प्रदेशों पर चढ़ाइयाँ कर रहा था उसी समय दोआब के राजपूत सरदारों ने कन्नौज, बदायूँ आदि कई बड़े-बड़े केन्द्रों पर अधिकार जमा लिया था। इनके विरुद्ध सुलतान को सेनाएँ बार-बार भेजनी पड़ीं। अवध तथा बहराइच को भी उसके बेटे नासिरुद्दीन महमूद ने फिर से विजित किया था। एक अवसर पर मस्जिद में नमाज़ पढ़ते समय इस्माइली फिरके के एक मनुष्य ने सुलतान का वध करना चाहा, किन्तु वह पकड़ लिया गया और समस्त इस्माइलियों को एक-एक करके क़त्ल किया गया। १२३५ में इल्तुतमिश ने खोखरों पर चढ़ाई की, किन्तु मार्ग में ही वह बीमार पड़ गया और दिल्ली वापस लौटने पर उसकी मृत्यु हो गई।

**इल्तुतमिश का चरित्र और कार्य**—इल्तुतमिश दास वंश का सबसे योग्य शासक तथा गम्भीर राजनीतिज्ञ था। उसकी सफलता तथा पराक्रम का अनुमान करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस संकटमय परिस्थिति पर भली-भाँति

विचार करें जिसके अन्दर इल्तुतिमश राजगद्दी पर बैठा था। ऐसे कठिन कार्य को इल्तुतिमश ने बड़ी सावधानी, गम्भीरता तथा दूरदर्शिता के साथ सम्पन्न किया। तुर्की विजेताओं को इस देश के सामाजिक वातावरण, रीति-रिवाज तथा राजनीतिक संस्थाओं व नियमों का कोई ज्ञान व अनुभव न था। दैनिक शासन को सुचारु रूप से संचालित रखने के लिए यह आवश्यक था कि प्राचीन राजकर्मचारियों तथा शासक-वर्ग का सहयोग प्राप्त किया जाय क्योंकि उन्हीं के द्वारा यह आवश्यक कार्य किया जा सकता था। अतएव राजकीय आय-व्यय तथा भूमिकर आदि विभागों का प्रबन्ध करने के लिए उन्हीं हिन्दू कर्मचारियों को नियुक्त किया गया जो इस कार्य से पूरी तरह वाकिफ़ थे। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन ग्राम-संस्थाओं के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप राज्य की ओर से नहीं किया गया क्योंकि यह संस्थाएँ स्थानीय शासन में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करती चली आई थीं और इनके सहयोग के बिना शान्ति, रक्षा, न्याय तथा भूमिकर आदि का प्रबन्ध करना असम्भव था। इस प्रकार साम्राज्य तथा प्रान्तों के केन्द्रों में बड़े-बड़े तुर्की शासकों व भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारियों के नीचे अधिकतर हिन्दू कर्मचारियों की सहायता से ही शासन का कार्य आरम्भ किया गया। इस युक्ति से उसने शासन-व्यवस्था को फिर से सुचारु रूप से चलाया।

उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्या का समाधान भी इल्तुतमिश ने, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, बड़ी राजनीतिक कुशलता व चतुराई के साथ किया। उसकी सफलता का यह प्रमाण है कि अपनी सावधानी से उसने देश को एक अत्यन्त भयानक संकट से ही नहीं बचाया, साथ ही सीमान्त प्रदेश की रक्षा का प्रबन्ध भी सुदृढ़ कर दिया। आन्तरिक विद्रोह व अराजकता को भी उसने उसी प्रकार धैर्य व युक्ति से दमन किया। गंगा-जमुना के मैदान के विद्रोहों को उसने बड़ी दृढ़ता से दमन किया। राज्य की भूमि को भी काफ़ी विस्तृत किया। पूर्व में अवध, बिहार और बंगाल, पश्चिम में मुल्तान व सिन्ध के प्रदेशों को उसने अधिकृत किया और पश्चिमी राजपूताने का कुछ भाग भी ले लिया। मालवे पर उसने चढ़ाइयाँ व लूटमार की लेकिन वह प्रदेश राज्य में सम्मिलित न किया जा सका।

इल्तुतिमश के सफल कार्यों से सिद्ध होता है कि वह हिन्दुस्तान का पहला तुर्की शासक था जिसने एक स्थायी व सुदृढ़ साम्राज्य की रचना की और अत्यन्त चतुराई व दक्षता के साथ उसकी नींव वैधानिक एवं नैतिक आधार पर रखी और उसकी रक्षा के लिए सैनिक शक्ति की स्थापना की। इल्तुतिमश का वैयक्तिक जीवन एक कट्टर मुसलमान की दृष्टि से अत्युत्तम था। वह बड़ा धार्मिक व भक्तिभाव से पूर्ण था और सूफ़ियों व संतों का अत्यन्त आदर व पालन करता था। इन लोगों के सहयोग से मुस्लिम जनता में उसके प्रति श्रद्धा तथा आत्मीयता के भाव उत्पन्न हो गए जिसके कारण उसकी सत्ता व शक्ति को बहुत दृढ़ता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त विधानतः भी उसके सुलतान होने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी क्योंकि

मुहम्मद गूरी ने ही उसको दासता से मुक्त कर दिया था और बग़दाद के खलीफ़ा ने भी उसको हिन्दुस्तान का सुलतान स्वीकार करके चोगा व प्रमाणपत्र इत्यादि नियमित रूप से भेज दिए थे। इस विधि के अनुसार बग़दाद का खलीफ़ा विधानतः हिन्दुस्तान के सुलतान का उच्चाधिपति मान लिया गया किन्तु वस्तुतः उसका कोई अधिकार तुर्की सुलतान पर न था। इन सब घटनाओं के कारण इल्तुत्मिश ने अपने वंशजों के लिए वंशानुगत राज्याधिकार को स्थायी रूप से स्थापित कर दिया यद्यपि फिर भी तुर्की सरदारों के समर्थन व सहयोग के बिना कोई सल्तनत की गद्दी पर सुरक्षित न रह सकता था।

कह आए हैं कि इल्तुत्मिश बचपन से ही बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति का था। ख्वाजा कुत्बुद्दीन का वह बड़ा भक्त था। ऐबक की जामा मस्जिद के पासवाली कुत्ब मीनार को, जिसकी नींव ऐबक ने रखी थी, इल्तुत्मिश ने और भी ऊँचा किया। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो इल्तुत्मिश को करना था वह था तुर्की राज्य की नीति निर्धारण करना। यह निश्चय ही है कि एक क्रियाशील शासक होने के कारण इल्तुत्मिश ने भारतीय शासन व राजनीतिक संस्थाओं को बनाए रखा और उनका यथासम्भव प्रयोग किया। प्रजा के प्रति उसकी नीति प्रायः सहनशीलता की थी यद्यपि यह सहनशीलता उन इस्लामी शिक्षाओं व नियमों से परिमित थी जो अमुस्लिम तथा विशेष रूप से मूर्तिपूजक हिन्दुओं के प्रति बनाए गए थे।

**चाली तुर्क अमीरों का गुट**—तुर्की राज्य का एक मुख्य व अटल उद्देश्य यह था कि केवल अपनी बिरादरी के तुर्की विजेताओं को ही वे राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों तथा साम्पत्तिक आदि लाभ का हक़दार समझते थे। किसी भारतीय को, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, राज्य का कोई ऊँचा पद अथवा उत्तरदायित्व नहीं दिया जाता था। तुर्की राज्य की यह नीति इल्तुत्मिश के काल में स्पष्ट रूप से परिपक्व हो गई थी और उसने तुर्कों के प्रधान नेताओं को संगठित करके उनका एक गुट भी इसी उद्देश्य से बनाया। इस संगठन में लगभग उसने ४० मुख्य-मुख्य सरदारों को सम्मिलित किया था। इस संगठन का स्पष्ट उद्देश्य था तुर्की दल की शक्ति को सुदृढ़ करना ताकि वे सदैव अन्य दलों के विरुद्ध और हर संकट के अवसर पर सुलतान की सहायता करें और तुर्क सत्ता की रक्षा करें। इस आशा और विश्वास से ही इल्तुत्मिश ने सब तुर्क नेताओं को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की थी। किन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि इसका परिणाम इल्तुत्मिश के वंश के लिए बहुत ही घातक हुआ। इस नीति से यह भी विदित होगा कि सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में तो भारतीय मुसलमानों को हिन्दू जनता की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में वे तुर्की विजेतागण उनको भी उसी प्रकार तिरस्कृत तथा अधीन समझते थे जिस प्रकार पराजित हिन्दुओं को।

अन्त में यह याद रखना भी आवश्यक है कि साम्राज्य की हिन्दू प्रजा के साथ एक प्रकार की परिमित उदार नीति का व्यवहार करते हुए भी ये सभी सुलतान,

अपनी सल्तनत के बाहर के हिन्दुओं तथा उनके पवित्र स्थानों आदि के साथ विध्वंस नीति बरतने में कोई कसर न करते थे। इसमें इल्तुतमिश भी किसी से पीछे न रहा। इन लोगों के ये अनुदार तथा भीषण कार्य देश में इतने व्यापक हो गए थे कि देश की जनता को इस दुर्व्यवहार को सहने की आदत-सी पड़ गई थी।

(आ)

## इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी : तुर्कों में दलबन्दी

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सल्तनत को हर प्रकार से स्थायी बनाने के उद्देश्य से इल्तुतमिश ने तुर्कों के मुख्य-मुख्य नेताओं को संगठित करने का प्रयत्न किया था, ताकि ये विजयी तुर्की दल अपनी आबद्ध शक्ति से विजित हिन्दुस्तानी प्रजा पर बेखटके शासन करता रहे और इसी के बल पर राजवंश भी सुरक्षित रहे। इल्तुतमिश के बाद दास वंश के भाग्य का निबटारा इन्हीं तुर्कों की दलबन्दियों का शिकार बन गया। इनमें जो सबसे चालाक, प्रभावशाली तथा अनुभवी होता था वही अपना गुट बना लेता था। प्रत्येक की आकांक्षा थी स्वयं गद्दीनशीन होने की या कम-से-कम सुलतान को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर वास्तविक शक्ति व साम्राज्य का नियन्त्रण अपने हाथ में रखने की। शासन की शक्ति को अपने नियंत्रण में रखने के हेतु तुर्की नेताओं की यह दलबंदी ही दास वंश के भावी राजत्वकाल का मौलिक सूत्र था। इसी अधिकार-लालसा की वेदी पर बड़े-बड़े तुर्क नेताओं ने अपने स्वार्थ में अन्धे होकर कई योग्य किन्तु अनुभवहीन युवक सुलतानों के जीवन की आहुति दे दी और अन्त में इन्हीं में से एक भारी षड्यंत्री स्वार्थी अपनी शक्ति के मद में चूर तुर्की सरदार ने इल्तुतमिश के वंश को नष्ट करके अत्यन्त निर्लज्जता से राज्य को छीनकर अपने वंश की स्थापना करने की चेष्टा की किन्तु उसके इस दुस्साहस का परिणाम यह हुआ कि उसका अपना वंश भी सदा के लिए नष्ट हो गया और दास वंश की सत्ता का अन्त हो गया। इस तुर्की सरदार, जिसका नाम ग़यासुद्दीन बलबन था, के चरित्र तथा कृति का मूल्यांकन हम यथास्थान करेंगे।

अपने अन्तिम दिनों में इल्तुतमिश को इस चिन्ता ने घेरा कि उसके बाद शासन की बागडोर संभालने के लिए उसकी सन्तान में से कौन योग्य था क्योंकि उसका सुयोग्य बड़ा बेटा नासिरुद्दीन महमूद मर चुका था। और रुक्नुद्दीन फ़ीरोज जो उसके जीवित पुत्रों में सबसे बड़ा था, बहुत कामचोर था और उस पर तनिक भी भरोसा नहीं किया जा सकता था। उसके और लड़के बहुत कम उम्र के थे। केवल उसकी लड़की रज़िया के अन्दर बहादुरी, चुस्ती, सावधानी व कार्यकुशलता आदि वे सब गुण विद्यमान थे जिनके होते हुए यदि उसको आवश्यक अनुभव व शासन की शिक्षा होती तो वह राजकाज का भार बड़ी योग्यता से सम्भाल सकती थी किन्तु एक स्त्री का सुलतान होना मुसलमानों के लिए एक अनोखी-सी बात थी और केवल ईरान के प्राचीन इतिहास को छोड़कर, जिसमें स्त्रियों के राज्य करने के उदाहरण मौजूद थे,

अन्य कोई उदाहरण उनके सामने न था। तथापि इस्लामी शरियत अर्थात् धार्मिक विधान में इसका कोई स्पष्ट निषेध नहीं था और इस्लामी विधान के अधिकारी वर्ग सुलतान को खुश करने के लिए अवश्य इसके पक्ष में व्यवस्था दे देंगे, ऐसी आशा इल्तुत्मिश ने की होगी। अतएव इल्तुत्मिश ने रज़िया को अपना उत्तराधिकारी बनाने के उद्देश्य से शासन-कार्य की शिक्षा देना आरम्भ किया। १२३१ में ग्वालियर की चढ़ाई के समय वह राजधानी का शासन रज़िया के सुपुर्द करता गया और वहाँ से लौटते ही उसने रज़िया को अपना उत्तराधिकारी नामांकित करके घोषणा कर दी। निश्चय ही इल्तुत्मिश का यह कार्य अत्यन्त साहसपूर्ण था। जैसी आशा थी इसके विरुद्ध उसके मंत्रियों ने यह आपत्ति उठाई कि अपने पुत्र की मौजूदगी में पुत्री को उत्तराधिकारी बनाना उचित न होगा। रज़िया का नाम कुछ सिक्कों पर भी अंकित कर दिया गया था एवं उसकी योग्यता में किसी को सन्देह न था तो भी सुलतान के इस अनोखे निर्णय का विरोध होना अवश्यंभावी था। कुछ लेखकों का सन्देह है कि लाहौर से लौटते समय १२३६ में शायद इल्तुत्मिश ने रुकुनुद्दीन फ़ीरोज को ही सुलतान बनाने का विचार किया हो। किन्तु यह विचार निस्सार जान पड़ता है क्योंकि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए सुलतान ने अपने अमीरों को बुलाकर उनसे प्रार्थना की थी कि रज़िया को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार करें।

**रुकुनुद्दीन फ़ीरोज**— इल्तुत्मिश की अंतिम इच्छा की उपेक्षा उसके उन सब अमीरों ने जो उसके साथ लाहौर की चढ़ाई पर गए थे, फ़ीरोज़ की ताजपोशी करके उसको सुलतान घोषित कर दिया। फ़ीरोज की मां शाह तुरकान बड़ा तीव्र कार्य करने वाली स्त्री थी। केवल दिल्ली के निवासियों ने इस निर्णय को स्वीकार न किया। किन्तु गद्दी पर आसीन होते ही फ़ीरोज़ तथा उसकी माता ने अपने समस्त सम्बन्धियों तथा उनके बच्चों आदि को बड़ी निर्दयता से क़त्ल करना शुरू किया और फ़ीरोज़ ने सर्वथा असंयत व भोग-विलास का जीवन व्यतीत करना शुरू किया। थोड़े ही समय में सरकारी कोष खाली हो गया। मां बेटे के इस व्यवहार से उनके सहायक भी अत्यन्त असन्तुष्ट होकर विरोधी दल में जा मिले। इन्हीं में दिल्ली सल्तनत का वज़ीर मुहम्मद जुनैदी भी था। साथ ही मुल्तान, लाहौर, बदायूं आदि के शासक अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर दिल्ली पर चढ़ आए और जब फ़ीरोज़ उनसे लड़ने के लिए बाहर निकला तो उसकी अनुपस्थिति में रज़िया ने इससे लाभ उठाकर दिल्ली की जनता से अपील की कि फ़ीरोज़ और उसकी मां के अत्याचारों से नगर व सल्तनत की रक्षा करें और उसको शासन-कार्य सुपुर्द करके अपनी योग्यता सिद्ध करने का अवसर दें। रज़िया के अनुरोध के लिए दिल्ली वायुमण्डल बड़ा उपयुक्त था, अतएव फ़ीरोज़ के रणक्षेत्र से लौटने के पहले ही तुर्की जनता ने उसकी मां शाह तुरकान को बन्दी करके रज़िया को सिंहासनारूढ़ कर दिया। थोड़े ही दिन बाद नवम्बर १२३६ में केवल छः महीने राज करने के अनन्तर रुकुनुद्दीन का वध कर दिया गया।

## सुलतान रज़िया का शासन (नवम्बर १२३६—नवम्बर १२४० तक)

उपरोक्त वृत्तान्त से विदित हो गया होगा कि इल्तुतिमश के मरते ही तुर्कों के दो दल हो गए थे और प्रत्येक की यह चेष्टा थी कि अपने-अपने पिट्ठुओं को सामने रखकर राजशक्ति का अधिकार अपने हाथ में रखे। उनकी यह आकांक्षा पूरी इसलिए न हुई कि फ़ीरोज़ के पक्षपातियों को स्वयं अपनी ही जान बचाने की चिन्ता हो गई। परिणाम यह हुआ कि उसके समर्थकों ने ही फ़ीरोज़ का अन्त कर दिया। किन्तु रज़िया के सुलतान बनते ही दलबन्दी की वह आग फिर प्रज्वलित हुई। कारण कि जिस दल ने फ़ीरोज़ का समर्थन किया था उसी दिल्ली के तुर्की दल ने रज़िया को गद्दी पर बैठाया था। यह कार्य वास्तव में परम्परागत नियम के प्रतिकूल था। इस नियम के अनुसार सुलतान का निर्वाचन व नियुक्ति समस्त तुर्की सरदारों के द्वारा होना चाहिए था न कि केवल दिल्ली के निवासियों द्वारा। इस विरोध में वज़ीर मुहम्मद जुनैदी भी शामिल था क्योंकि रज़िया के निर्वाचन के समय वह भी मौजूद न था। इस समय से दिल्ली के राजनैतिक वायुमण्डल में एक और प्रवृत्ति का प्राबल्य हुआ। कह आए हैं कि दिल्ली सल्तनत का मौखिक सूत्र था प्रभावशाली तुर्की सरदारों व नेतातों की राजसत्ता को अपने अधिकार में रखने की आकांक्षा, जिसके परिणाम-स्वरूप वे इल्तुतिमश के मरते ही दो प्रतिवादी दलों में बँट गए थे। इधर रज़िया तथा उसके बाद के तीन सुलतानों को यह बात सह्य न थी कि तुर्कों का कोई दल उन पर इतना आतंक जमा ले कि वे नाम मात्र के लिए अथवा नमूने मात्र के सुलतान व शासक रह जाएँ और वास्तविक सत्ता व शक्ति उनके वज़ीर अथवा अन्य किसी तुर्क सैनिक के हाथ में हो। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि तुर्की दल व सुलतानों में परस्पर संघर्ष शुरू हो गया। सुलतान दैवयोग से, अनुभवहीन, नवयुवक थे और उनके वज़ीर आदि तुर्क अमीर वयोवृद्ध, अनुभवी, मँजे हुए कूटनीतिज्ञ। दास वंश का समस्त इतिहास इन दो दलों के सतत संघर्ष की कहानी है।

**आरम्भ से ही रज़िया का विरोध**—रज़िया का उन सब तुर्क अमीरों ने विरोध किया जो उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय दिल्ली में न थे और जिनकी सहमति इस आवश्यक काम में न ली गई थी। इनमें वज़ीर मुहम्मद जुनैदी, मलिक-जानी व कूची, कबीरखां व सालारी, फ़ौज़ें लेकर दिल्ली पर चढ़ आए। मलिक तायसी जिसे रज़िया ने अवध का शासक नियुक्त किया था और जो उसकी सहायता के लिए चला, मार्ग में ही विरोधी दल के हाथों मार डाला गया। रज़िया की सैनिक शक्ति शत्रुओं का सामना करने योग्य न थी किन्तु उसने इस संकट में अद्भुत कूटनीति व तीव्रबुद्धि का परिचय दिया। वह निःशंक होकर तुरन्त आक्रामकों की सेना में पहुँच गई और उनमें मलिक सालारी व कबीरखाँ को तोड़कर अपनी तरफ़ मिला लिया और तुरन्त यह खबर सारे कैम्प में फैला दी कि वजीर जुनैदी और मलिक जानी व कूची आदि को बन्दी बनाया जाएगा। अपने साथियों को इस प्रकार धोखा देते हुए देखकर वज़ीर और उसके मित्र भयभीत हो गए और भाग निकले; किन्तु

जानी व कूची पकड़कर मार डाले गए और वज़ीर शिवालक की पहाड़ी में छिपा रहा और इसी दशा में वह मर गया।

**नए मन्त्रालय का निर्माण**— इस प्रकार अपनी स्थिति को मज़बूत करके रज़िया ने शासन-व्यवस्था को ठीक करने की ओर ध्यान दिया। पहले उसने अपना नया मन्त्रिमण्डल (मन्त्रालय) बनाया। उपमन्त्री ख्वाजा मुहज्ज़बउद्दीन को मन्त्री का पद दिया गया और निज़ामुलमुल्क की उपाधि से सुशोभित किया गया। सैफ़ुद्दीन ऐबक सेनापति नियुक्त किया गया और उसके शीघ्र मर जाने पर मलिक हसन ग़ूरी नियुक्त हुआ। कबीरखाँ को अपने साथियों को धोखा देने के इनाम में लाहौर का शासक बनाया गया। उच्च का शासन हिन्दूखाँ को और अवध का ऐतिगीन को दिया गया। इस व्यवस्था से थोड़े समय के लिए शान्ति स्थापित हो गई और सबने रज़िया को सुलतान स्वीकार कर लिया।

**विद्रोह का फिर उठना**— किन्तु यह शान्ति व राजभक्ति केवल ऊपरी थी, क्योंकि इस निर्णय से तुर्क मलिकों का अभिप्राय सिद्ध होने के बजाय दूर हट गया। वे सुलतान पर हावी होकर वास्तविक शक्ति अपने हाथों में रखना चाहते थे किन्तु रज़िया ने अपनी चतुराई से उनका मनोरथ सफल न होने दिया। जिस लालसा से कबीरखाँ आदि ने अपने साथियों के साथ विश्वासघात किया था, वह पूरी न हुई। रज़िया किसी के चंगुल में न फँसी। अतएव उनके असन्तोष की आग जो दबी हुई थी, जल्दी ही फिर भड़की। सुलतान इस विद्रोह को दबाने और अपने अधिकार को पूरी तरह संस्थापित करने में दत्तचित्त थी। धैर्य, वीरता, दृढ़संकल्प, कार्यकुशलता आदि गुणों की उसमें कमी न थी। अपने शौर्य, योग्यता व निर्भयता का प्रदर्शन करने के लिए उसने मरदाना वस्त्र धारण करके घोड़े पर सवारी करना व खुले मुँह दरबार में बैठना आरम्भ किया। उसका यह कार्य उस युग के मुसलमानी समाज के लिए एक अत्यन्त अवांछनीय तथा मर्यादा-विरुद्ध था। इसी समय रणथम्भौर व ग्वालियर में विद्रोह हुए। रणथम्भौर के शासक को चौहानों ने घेर रखा था। सेनापति हसन ग़ूरी अपने शासक को बचाकर निकाल लाया परन्तु दुर्ग को छोड़ना पड़ा। ग्वालियर में तुर्की शासक ही विद्रोही हो गया था। इसमें काज़ी मिनहाज़ (तबक़ाते-नासिरी का लेखक) भी शामिल था। किन्तु यह विद्रोह तुरन्त ही दबा दिया गया। क़ाज़ी मिनहाज़ ने क्षमा माँग ली और उसे दिल्ली के नासिरिया कॉलिज का अध्यक्ष बना दिया गया।

**तुर्की गुट से बचने का प्रयास**—यह बात तत्कालीन वायुमण्डल एवं घटनाओं से निश्चय है कि रज़िया तुर्की अमीरों के आंतरिक भावों को खूब समझती थी और उनके विरोध का प्रतिकार करने के लिए उसने एक बड़ा विलक्षण प्रयोग किया, यद्यपि वह सफल न हो सका। इन तुर्कों के विरुद्ध उसने एक अन्य दल खड़ा करना चाहा और इस उद्देश्य से एक हब्शी, कमालउद्दीन याक़ूत को, अमीर आख़ोर के पद पर नियुक्त किया। यह पद बड़ा महत्त्वशाली होता था, क्योंकि सुलतान की निजी

सेना की समस्त व्यवस्था उसके अधिकार में होती थी। यदि हब्शी सैनिकों की संख्या काफ़ी होती तो अवश्य एक भयानक दल तुर्कों के जोड़ का पैदा हो गया होता। रज़िया के इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि उसके और अमीरों के बीच में खुल्लमखुल्ला संघर्ष शुरू हो गया क्योंकि तुर्की लोग यह कहाँ सह सकते थे कि उनकी बिरादरी के बाहर का कोई मनुष्य किसी ऊँचे पद पर नियुक्त हो। उन्होंने रज़िया के मरदाना वस्त्रादि पहनने तथा याक़ूत के साथ उसकी घनिष्ठ मित्रता का अभियोग लगाकर उसके विरुद्ध विद्रोह करने का बहाना टटोला। इस विद्रोह का नेता अवध का शासक इख्तियारुद्दीन ऐतिगीन था जिसको अभी-अभी अमीरे हाजिब के पद पर नियुक्त किया गया था। विद्रोहियों ने भटिण्डा के शासक को भी अपनी ओर मिला लिया और जब रज़िया इनका मुक़ाबला करने के लिए बाहर निकली तो उन्होंने याक़ूत को क़त्ल कर दिया और रानी को क़ैद करके अल्तूनिया के सुपुर्द कर दिया।

**सुलतान बहराम**—इसके बाद वे दिल्ली पहुँचे और रज़िया के सौतेले भाई बहराम को अप्रैल सन् १२४० में गद्दी पर बिठला दिया। अपने इस उपकार के बदले में उन्होंने उससे साफ़-साफ़ यह शर्त कर ली कि इख्तियारुद्दीन ऐतिगीन को **नायबे ममालिक** (Lord lieutenant of the Empire) बनाया जाएगा। नायबे ममालिक का नया पद इन तुर्कों ने ही निकाला और जैसा इस नाम से स्पष्ट है, इस पदाधिकारी के अधिकार व शक्ति वज़ीर से भी ऊँचे थे। इस प्रकार नायबे ममालिक ने सल्तनत का वास्तविक शासन व अधिकार अपने हाथ में ले लिया और सुलतान को केवल वैधानिक किन्तु निःशक्त राजा बना दिया। तुर्कों की यही लालसा थी जो इस प्रकार पूरी हुई। ऐतिगीन ने सुलतान की बहन से शादी की और राज्य के समूचे अधिकार अपने हाथ में ले लिए। यहाँ तक कि वह अपने द्वार पर हाथी बाँधने और नौबत बजवाने लगा जो विशेषाधिकार केवल राजा के ही होते थे। इस प्रकार उसने अपने को विधानतः नहीं तो वस्तुतः सुलतान बना लिया। बहराम ने कभी यह न सोचा था कि उसको इस प्रकार की तिरस्कृत परिस्थिति सहन करनी पड़ेगी। ऐतिगीन ने भी शासनाधिकार अपनाने में इतनी अति से काम लिया कि अन्य तुर्क इसको न सह सके और वज़ीर निज़ामुल्मुल्क भी जो अत्यन्त मक्कार व कृतघ्न था, ऐतिगीन से ईर्ष्या करने लगा। सुलतान बहराम ऐतिगीन और वज़ीर के अहंकार-युक्त व उद्धत व्यवहार से एक ही महीने के अन्दर इतना ऊब गया कि उसने उनको मार डालने के लिए दो तुर्कों को तैयार किया। ऐतिगीन तो इनके छुरे से मर गया किन्तु वज़ीर बच गया। इस घटना का परिणाम यह हुआ कि अन्य तुर्की अमीर भी बहराम के विरुद्ध हो गए। उधर अल्तूनिया को यह असंतोष था कि दिल्ली के अमीरों ने उसकी सेवाओं का कुछ भी इनाम न दिया और सब-कुछ आपस में ही बाँट लिया। अतएव उसने रज़िया को बरी करके उससे विवाह कर लिया और दोनों ने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। दिल्ली के मलिक सालारी व कराकश

भी रजिया से जा मिले किन्तु बहराम ने कैथल के समीप अक्तूबर १२४० में उनको हराया। अल्तूनिया व रजिया भटिण्डा की ओर बचकर भागे और मार्ग में कुछ लुटेरों ने उनका वध कर दिया।

**बहराम का उत्थान**—बहराम की इस विजय से तुर्की अमीरों की ईर्ष्या व विरोध और भी बढ़ गए क्योंकि उसकी शक्ति बढ़ने से अमीरों की आकांक्षा पूरा होने में रुकावट हो गई। इसके अतिरिक्त वज़ीर निज़ामुलमुल्क बहराम से बदला लेने पर तुला था। बहराम ने ऐतिगीन की मृत्यु के बाद नायब के पद पर किसी को नियुक्त करने से साफ़ इन्कार कर दिया था, क्योंकि वह इसका मज़ा चख चुका था। इससे उसकी दृढ़ता तथा शासकोचित योग्यता का भी परिचय मिलता है, परन्तु बदरुद्दीन सकर **अमीरे हाजिब** (Master of ceremonies) ने नायब ऐतिगीन से भी कहीं अधिक उद्धत व असह्य व्यवहार करना शुरू किया और सुलतान की सर्वथा अवहेलना करके समस्त राज्याधिकार हस्तगत कर लिया और सुलतान से पूछे बिना आज्ञाएँ निकालने लगा। साथ ही वह यह भी अच्छी तरह जानता था कि युवक सुलतान बहराम उसके इस बरतावे को सहन न करेगा। अतएव उसने उसको गद्दी से उतारने के लिए षड्यन्त्र रचना शुरू कर दिया और निज़ामुलमुल्क वज़ीर को अपने कपट-जाल में शामिल कर लिया। इधर मक्कार निज़ामुलमुल्क सकर के अहंकारपूर्ण व्यवहार से भी मन में उसके विरुद्ध हो गया था। उसने इस अवसर का लाभ उठाकर सुलतान व संकर दोनों को ही नष्ट करने की चेष्टा की और सुलतान को उसके विरुद्ध भड़का दिया। संकर ने सुलतान को गद्दी से हटाने के लिए साजिश शुरू की परन्तु सुलतान को इसका पता लग गया। उसने षड्यन्त्रियों को तुरन्त बन्दी कर लिया। जो बच गए वे डर के मारे राजधानी भाग गए। परन्तु सकर सुलतान से जा मिला और क्षमा कर दिया गया। सिर्फ़ पदच्युत करके उसे बदायूं भेज दिया गया।

**बहराम पर तीसरा झटका**—इस प्रकार बहराम ने सकर और उसके साथियों को नष्ट करने में सुस्ती की। इसका दुष्परिणाम जल्दी ही उसको भुगतना पड़ा। बदरुद्दीन सकर ने थोड़े ही दिन में अपनी शक्ति को फिर सुदृढ़ कर लिया और सुलतान की बिना आज्ञा के ही दिल्ली लौट आया। बहराम ने उसकी इस अवज्ञा पर उसे तुरन्त फाँसी दे दी और इस प्रकार एक बार फिर अपनी शक्ति, तीव्रता, राजोचित प्रताप तथा आत्मगौरव का परिचय दिया। ध्यान देने की बात है कि दास वंश के इन राजाओं को आधुनिक लेखकों ने बिन सोचे-विचारे अत्यन्त अयोग्य बतलाया है। किन्तु हमें पर्याप्त प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि रजिया व बहराम दोनों ही में राजाओं सरीखे गुणों की कमी न थी और यदि उनको शान्ति से शासन करने का अवसर मिलता तो वे अवश्य सफलता से राजकाज करते। किन्तु वे अभी इतने अनुभवी न थे कि दुष्ट व मक्कार वयोवृद्ध तुर्की अमीरों की कूटनीति तथा युक्तियों से पूरी तरह अपनी रक्षा कर सकते।

**बहराम का ह्रास**—बहराम ने बड़ी वीरता व साहस के साथ बड़े-बड़े तुर्कों का मर्दन किया था और कई एक को ख़त्म भी कर दिया था। किन्तु इनमें से किसी को भी वह अपनी ओर न मिला पाया था। अतएव वह एक प्रकार से अकेला और निस्सहाय रह गया। सारे तुर्क अमीर उसकी जान के प्यासे हो गए थे। इसी संशय से उसने एक क़ाज़ी को भी मरवा डाला। दुर्भाग्य से इसी समय लाहौर पर मुग़ल सैनिक चग़ताईखाँ और बहादुर नायर ने एक भयानक हमला कर दिया। लाहौर के क़िले में काफ़ी सेना तथा अस्त्र-शस्त्र न थे और लाहौर के लोग जो मुग़लों की आज्ञा से खुरासान आदि मुल्कों में व्यापार करने जाते थे, उनसे लड़ना न चाहते थे। लाहौर के शासक कराक़श ने बड़ी वीरता से मुग़लों का मुक़ाबला किया किन्तु जब उसने देखा कि शहर के लोग लड़ने से उदासीन हैं, एक रात को वह अपनी जान बचाकर भाग निकला। इसका एक बड़ा कारण यह भी था कि वज़ीर निज़ामुल्मुल्क की मक्कारी व बहराम से बदला लेने की इच्छा के कारण दिल्ली की सेना जिसे बहराम ने क़राक़श की सहायता के लिए भेजा था, रास्ते से ही पलट आई थी। जब बहराम को मुग़ल आक्रमण की ख़बर मिली, उसने तुरन्त तुर्की अमीरों को आज्ञा दी कि अपनी सेनाएँ लेकर लाहौर पहुँचे। किन्तु ये लोग अपने स्वार्थ में अन्धे हो रहे थे। कुछ समय तक उन्होंने सुलतान की आज्ञा की परवाह न की। किन्तु अन्त में उन्हें जाना पड़ा कि कपटी वज़ीर निज़ामुल्मुल्क ने सुलतान से बदला लेने और उसे नष्ट करने के लिए इस अवसर से लाभ उठाया। सुलतान को तुर्की सेना संचालकों के विरुद्ध भड़काकर उनको मार डालने के लिए उससे लिखित आज्ञा मँगवा ली और फिर इस पत्र को सब अमीरों को दिखला दिया। इसको देखते ही वे भयभीत हो गए और क्रोध में भरकर वापस लौट पड़े और उसी मक्कार, कपटी वज़ीर के परामर्श से बहराम को गद्दी से उतारने का निर्णय किया। बहराम को जब यह मालूम हुआ तो उसने शेखुलइस्लाम ख्वाजा कुत्बुद्दीन को उन्हें वास्तविक बात बतलाने तथा विश्वास दिलाने के लिए भेजा। मिनहाज (तबकाते-नासिरी में) कहता है कि शेखुलइस्लाम ने शान्ति व सुलह कराने के बजाय उल्टा उन लोगों को और भी भड़का दिया, और फिर वज़ीर और शेख़ दोनों तुर्की सैनिकों के साथ दिल्ली आ गए। मिनहाज का यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता। फिरिश्ता तथा अन्य लेखक इसका समर्थन नहीं करते। जो हो, तुर्की सेना ने दिल्ली का घेरा डाला। बहरान ने तीन महीने तक बड़े धैर्य और वीरता से उनका मुक़ाबला किया परन्तु अन्त में वह पराजित हुआ और मार डाला गया। बहराम ने केवल दो बरस से कुछ अधिक राज्य किया किन्तु इस थोड़े-से अवकाश में ही उसने अपनी शूरवीरता व योग्यता का पूरी तरह परिचय दिया।

### अलाउद्दीन मसूद (१२४२-१२४६) : राजशक्ति का फिर गिरना

बहराम का अन्त करके तुर्की अमीरों के दल ने फिर से साम्राज्य का अधिकार अपने हाथों में ले लिया और इस प्रकार सुलतान की शक्ति एक बार फिर नष्टप्राय हो गई। उन्होंने अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से रुकनुद्दीन फ़ीरोज

के नवयुवक बेटे अलाउद्दीन मसूद को कारागार से मुक्त करके मई सन १२४२ में राजगद्दी पर बिठाया और उससे भी उसी प्रकार की शर्तें कीं जैसी बहराम से की थीं। मिनहाज ने आरम्भ में मसूद के चरित्र की बड़ी प्रशंसा की है। वह कहता है कि मसूद अत्यन्त उदार तथा शील स्वभाव था और उसमें अनेक श्लाघनीय गुण थे। इसी बीच में एक तुर्की मलिक ने जिसका नाम इज्जुद्दीन बलवन्त किश्लूखाँ था, राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होकर अपने सुलतान होने की घोषणा कर दी। किन्तु तुर्की दल ने उसे सुलतान स्वीकार न किया। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि तुर्की नेताओं व मलिकों के उपर्युक्त कारनामों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वे सभी राजगद्दी पर बैठने के लिए लालायित थे और अपनी इस आकांक्षा को उनमें से कोई भी केवल इस कारण प्राप्त न कर पाया कि परस्पर ईर्ष्या के कारण अपने में से किसी को भी वे यह स्थान देने को तैयार न थे। उनकी यह लालसा तभी पूरी हुई जबकि गयासुद्दीन बलबन ने न केवल इल्तुत्मिश के वंश को अपितु लगभग समस्त प्रभावशाली तुर्कों को नष्ट करके बिना रोक-टोक राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। उसकी इस नीति का जो परिणाम हुआ उसे हम आगे चलकर देखेंगे।

मसूद ने अपने नए मंत्रिमंडल का निर्माण जिस प्रकार किया उससे प्रतीत होता है कि वह शुरू से ही तुर्की अमीरों की आकांक्षाओं तथा उनके कपटपूर्ण व्यवहार व प्रपंच से भली-भाँति परिचित था। उसको मालूम था कि उसके चचा बहराम का दुखमय अन्त इन्हीं षड्यन्त्री तुर्कों के द्वारा हुआ था। अतएव उसने यह प्रयत्न किया कि मंत्रिमंडल में पुराने तुर्की गुट के बाहर के कुछ अमीरों को नियुक्त करके दोनों दलों का संतुलन कर दे और इस प्रकार उनकी कूटनीति व प्रपंचों को दबा दे। उसने कुत्बुद्दीन हसन ग़ूरी को जो ग़ूर से भाग कर दिल्ली आया था, नायबे ममलिकत नियुक्त किया। हसन ग़ूरी शम्सी तुर्कों के गुट्ट का सदस्य नहीं था। अमीरे हाजिब के पद पर मलिक क़राक़श व वज़ीर के पद पर निज़ामुलमुल्क को नियुक्त किया गया। इज्जुद्दीन बलबन को नागौर, मांडौर और अजमेर की जागीर देकर राजधानी से दूर भेज दिया गया। बदायूँ का सूबा मलिक ताजुद्दीन सजर को दिया गया किन्तु मसूदशाह के गद्दी पर बैठने के चौथे दिन ही काज़ी मिनहाजुस्सिराज ने इस्तीफा दे दिया और दिल्ली छोड़ने की आज्ञा माँगी। इस घटना से प्रतीत होता है कि मिनहाज को जो सदैव इस प्रकार के विद्रोहियों में शामिल रहता था, सुलतान मसूद ने पसन्द न किया क्योंकि वज़ीर निज़ामुलमुल्क इस समय सर्वोच्च अधिकारी था और मिनहाज ने दिल्ली निवासी अमीरों के साथ उसका विरोध किया था। इतना ही नहीं उसको अपनी रक्षा के लिए परिवार-सहित सुदूर लखनौती (गौड) में जाकर रहना पड़ा था। उसके स्थान पर काज़ी इमादुद्दीन मोहम्मद को नियुक्त किया गया।

सुलतान मसूद ने बड़ी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता से राजनीतिक वायुमण्डल

में स्थायित्व स्थापित करने के लिए तुर्कों के विरोधी दलों में संतुलन पैदा करने की सराहनीय चेष्टा की थी किन्तु वज़ीर निज़ामुल्मुल्क के उद्दण्ड तथा असह्य व्यवहार के कारण यह शुभ कार्य स्थायी न रह पाया। उसने समस्त अधिकार अपने हाथ में लेकर स्वयं सुलतान के समान शासन करना शुरू कर दिया और नायब एक निःशक्त पुतले के समान रह गया। उसने अपना प्रभुत्व पूरी तरह जमाने के लिए अन्य तुर्की अमीरों को उनके पदों से च्युत करना आरम्भ कर दिया। और उनके सब अधिकारों को छीन लिया। उसने भी इख्तियारुद्दीन ऐतिगीन की तरह अपने द्वार पर हाथी बाँधना व नौबत बजवाना शुरू किया अर्थात् अपने को सुलतान बनाने की हर प्रकार से तैयारी की। परन्तु उसने यह सब कार्य इतने आवेग व उतावलेपन से किए कि समस्त तुर्की मलिक व अमीर उससे चिढ़ गए और अक्तूबर सन् १२४२ को उन्होंने हौज़ेरानी के मैदान में उसका वध कर दिया। इसके बाद उन्होंने एक ऐसे वज़ीर को नियुक्त किया जो उनके विरुद्ध होने का साहस न कर सकता था। इसका नाम नज्मुद्दीन अबूबकर था। निज़ामुल्मुल्क की मृत्यु से वह मंत्रिमण्डल छिन्न-भिन्न हो गया जिसके द्वारा मसूदशाह ने शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया था। परिणाम यह हुआ कि एक नया दल जिसको वज़ीर निज़ामुल्मुल्क की उपस्थिति के कारण उठने का अवसर नहीं मिलता था, अब सल्तनत की राजनीति में अग्रसर हुआ। कहा जा चुका है कि वज़ीर निज़ामुल्मुल्क के विरोध के कारण ही काज़ी मिनहाज को पदच्युत होकर बंगाल भागना पड़ा था। काज़ी मिनहाज एक नए दल का बड़ा उत्साही सदस्य था जो थोड़े ही दिन बाद अधिकार प्राप्त करनेवाला था। वज़ीर निज़ामुल्मुल्क के वध के बाद क़राक़शखाँ को भी अमीरे हाजिब के पद से हटना पड़ा और उसके स्थान पर उलुग़खाँ को अमीरे हाजिब के पद पर नियुक्त किया।

**ग़यासुद्दीन बलबन के नेतृत्व में एक नए तुर्की दल का उत्कर्ष**—वज़ीर निज़ामुल्मुल्क के मारे जाने से शम्सी तुर्कों का पुराना गुट समाप्त हो गया और एक नया गुट ग़यासुद्दीन बलबन के नेतृत्व में संगठित हुआ। इस प्रसंग में यह विचारणीय विषय है कि इख्तियारउद्दीन ऐतिगीन को तो सुलतान बहराम ने क़त्ल करवाया था और वज़ीर निज़ामुल्मुल्क को भी मरवा डालने का यत्न किया था जिसके परिणाम-स्वरूप इस संघर्ष में सुलतान की जीत हुई और तुर्की दल को दबना पड़ा था। किन्तु वज़ीर निज़ामुल्मुल्क को युवक तुर्की दल के अमीरों ने ही मारा था क्योंकि उनके उत्कर्ष के रास्ते में यह बूढ़ा ही रुकावट बना हुआ था। उसके मरते ही ग़यासुद्दीन बलबन ने नवीन तुर्की दल का नेतृत्व सम्हाला और तब से उसका निरन्तर प्राबल्य तथा शक्ति बढ़ती गई, यहाँ तक कि अगले लगभग ४० वर्ष तक बलबन ने ही दिल्ली की सल्तनत तथा उसके राज्यवंश का निपटारा किया। क़ाज़ी मिनहाज जिसको वज़ीर निज़ामुल्मुल्क तथा सुलतान मसूद के विरोध के कारण पद त्याग करके बंगाल में शरण लेनी पड़ी थी, वज़ीर की मृत्यु के बाद वापस लौट आया और बलबन के गुट का आदमी होने के कारण वह अपने पुराने पद पर बहाल किया गया। बलबन

का समर्थन करने और पग-पग पर उसको सहायता देने में जिस पार्टी का हाथ था क़ाज़ी मिनहाज उसका एक प्रमुख सदस्य था। बलबन की सिफ़ारिश पर ही मिनहाज को मसूद ने क्षमा करके नासिरिया कालेज का मुख्याध्यापक बनाया था। इस नवयुवक सरल हृदय सुलतान को संशय भी न था कि वही बलबन जो उस समय उसका विश्वासपात्र बना हुआ था, गुप्त रूप से अपने गुट को परिपक्व करता जा रहा था जिसकी सहायता से वह सुलतान को नष्ट करके स्वयं राजगद्दी हड़पना चाहता था। बलबन के घातक व कपटपूर्ण व्यवहार का उल्लेख यथास्थान किया जाएगा किन्तु उससे पहले अभागे मसूद के अल्प-कालीन शासन की घटनाओं का वर्णन करना आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रसंग में यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि मसूद के राजत्वकाल का वर्णन क़ाज़ी मिनहाज़ के अतिरिक्त किसी समकालीन इतिहास में नहीं मिलता और मिनहाज बलबन का इतना घनिष्ठ मित्र तथा समर्थक था कि उसने अपने आश्रयदाता बलबन के अच्छे-बुरे सभी कार्यों की अत्यन्त अतिशयोक्ति के साथ सराहना की है और उसके नीच तथा कुटिल कर्मों को दबा देने का निरन्तर यत्न किया है। मिनहाज़ के इस प्रकार के वर्णन से अनेक आधुनिक लेखक भ्रान्ति में पड़ गए हैं और वास्तविक सत्य को न समझकर तत्सम्बन्धी इतिहास का सर्वथा निस्सार तथा विकृत रूप प्रस्तुत किया गया है। किन्तु मिनहाज के लेख को ही ध्यान से पढ़ने से उसका वास्तविक सत्य निस्संदेह स्पष्ट हो जाता है।

मिनहाज़ ने तबक़ाते नासिरी में सुलतान मसूदशाह के शासन का वृत्तान्त आरम्भ करते हुए उसकी बड़ी सराहना की है। वह कहता है कि मसूदशाह अत्यन्त उदार तथा शील स्वभाव बादशाह था और इसके अतिरिक्त उसमें बहुत से उत्तम गुण विद्यमान थे। फिर वह लिखता है कि मई सन् १२४२ में जबकि दिल्ली शहर को बहराम से छीना गया तब समस्त सैनिकों तथा अमीरों ने एकमत होकर अलाउद्दीन मसूद को कारागार से मुक्त करके कुश्के सफ़ेद नामक राजमहल में लाकर राजगद्दी पर बिठाया। आगे चलकर वह यह भी बतलाता है कि गद्दी पर बैठने के दो वर्ष के अन्दर मसूदशाह ने अपने साम्राज्य के अन्दर अनेक विजएँ प्राप्त की। बतलाया जा चुका है कि नया वज़ीर नज्मुद्दीन अबूबक्र तथा दारुलमुल्क बालिग़खाँ अमीरे हाजिब दोनों अत्यन्त साधारण कोटि के मनुष्य थे। अतएव थोड़े दिन बाद ही बालिग़खाँ के स्थान पर बहाबुद्दीन बलबन जो बाद में ग़यासुद्दीन बलबन के नाम से प्रसिद्ध हुआ, अमीरे हाजिब बना। इस पद को प्राप्त करते ही उसने अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न प्रारम्भ का दिया था किन्तु वह इख्तियारुद्दीन ऐतिगीन तथा वज़ीर निज़ामुल्मुल्क की अपेक्षा बहुत चतुर था। इसी प्रसंग में मिनहाज़ यह भी बतलाता है कि अलाउद्दीन मसूद ने एक बहुत भला काम यह किया कि अपने अमीरों व अधिकारियों की सहमति से अपने दो चचाओं अर्थात् नासिरुद्दीन व जलालुद्दीन को कारागार से मुक्त करके ईदुलजुहा के दिन पहले को बहराइच और दूसरे को कन्नौज का शासक नियुक्त किया। दोनों ने अपना कार्य बड़ी तत्परता व कुशलता के साथ आरम्भ किया तथा

प्रजा की दशा को समुन्नत किया। उसी महीने के अन्दर उसने बंगाल के विद्रोही शासक तुग़रिल को पराजित करके उसके स्थान पर तमरखाँ को नियुक्त किया। १२४५ के अन्तिम दिनों में एक मुग़ल सेना ने आक्रमण करके मुल्तान के शासक को हटाकर उस नगर तथा उच्च पद पर अधिकार कर लिया। सुलतान मसूद ने बड़ी तत्परता के साथ इतनी बड़ी सेना एकत्रित की जितनी कभी पहले न देखी गई थी और स्वयं उसके साथ मुग़लों से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया। वह व्यास नदी तक ही पहुँचा था कि उसकी सेना की विशालता तथा हर प्रकार की आवश्यक तैयारी की सूचना पाकर मुग़ल सेना के पैर उखड़ गए और वह ख़ुरासान वापस लौट गई।

मसूदशाह के उपर्युक्त पराक्रमों से सिद्ध होता है कि एक अनुभवहीन नवयुवक होते हुए भी उसने कितनी योग्यता से शासन करना आरम्भ किया और तत्कालीन संकटमय परिस्थिति का कितने साहस तथा वीरता से सामना किया। ग़यासुद्दीन बलबन जो उसका अमीरे हाजिब था और बूढ़े तुर्की दल के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद उस दल का नेता बन गया था, मसूद के इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक शासन संचालन को सहन न कर सकता था क्योंकि इससे उसकी अधिकारलिप्सा पूरी न हो सकती थी। बतलाया जा चुका है कि मसूद से भी उसको गद्दी पर बिठाते समय अमीरों ने यह वचन ले लिया था कि उनके निर्देश के अनुसार वह वज़ीर आदि उच्च पदों पर अमीरों की नियुक्ति करेगा। मसूद ने यह तो स्वीकार कर लिया था किन्तु वह यह न समझ सकता था कि इस शर्त का अर्थ यह होगा कि अमीरे हाजिब वस्तुतः शासन करे और सुलतान को केवल नमूने के तौर पर गद्दी का मालिक बनाए रखे। मिनहाज जो इस सब कुटिल कृति में पूरी तरह रंगा हुआ था, बलबन की क्रूर कृतियों को छिपाने के लिए सहसा अपने वृत्तान्त को मसूद के विरुद्ध इस प्रकार उलटा कर देता है कि किसी समीक्षक को उसके कथन पर विश्वास नहीं हो सकता। मसूद के अनेक पराक्रमों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करने के बाद वह सर्वथा कृत्रिम रूप से कहने लगता है कि मुग़लों के विरुद्ध जो सेना गई थी उसमें बहुत से बेकार तथा दुष्ट मनुष्यों की संगति का सुलतान पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि वह अनेक बुरी आदतों में फँस गया और उसने अमीरों को पकड़-पकड़कर क़त्ल करवाना शुरू कर दिया तथा उसके समस्त उत्तम गुण नष्ट हो गए। और वह शिकार खेलने तथा अत्यन्त भोग-विलास के जीवन में व्यस्त हो गया। उसकी इन बुराइयों के कारण राज्य में असंतोष पैदा हुआ और शासन का कारबार अस्त-व्यस्त हो गया। अतएव अमीरों ने आपस में निश्चय करके नासिरुद्दीन महमूद को बहराइच से बुलाकर १२४६ के मध्य में तख़्त पर बिठा दिया और अलाउद्दीन को कारागार में डाल दिया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। अलाउद्दीन मसूद ने लगभग चार वर्ष राज्य किया। इस कथन के बाद मिनहाज कहता है कि इस घटना के परिणाम का वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

मिनहाज के शब्दों में "नासिरुद्दीन महमूद के गद्दी पर आरूढ़ होने की घटना इस प्रकार हुई। नासिरुद्दीन महमूद अत्यन्त शुभ लग्न में रविवार के दिन दिल्ली

पहुँचा और नगर के समस्त अमीरों तथा बड़े-छोटे अफ़सरों आदि ने बड़े जोश के साथ उसका स्वागत किया और एक सार्वजनिक दरबार में फ़ीरोज़ी महल के अन्दर सब लोगों ने उस उदार चित्त, धर्मात्मा तथा श्रेष्ठ राजकुमार के सुलतान होने की घोषणा की। राजसत्ता के इस प्रकार पुनर्स्थापित होने से समस्त जनता आनन्दित हुई और हिन्दुस्तान के सभी भागों में उसके सुशासन से प्रजा सुखी हुई।"

आठ

# बलबनी युग : उसका चरमोत्कर्ष व दास वंश का अन्त

**सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद का शासन : कूटनीतिज्ञों का लगातार परस्पर संघर्ष**—नासिरुद्दीन महमूद के राज्यारोहण के कारण तथा उसके शासन के बारे में मिनहाज़ के कथन से जान पड़ेगा कि मानों इस सुलतान का शासन एक आदर्श शासन था। किन्तु मिनहाज़ पूरी चेष्टा करने पर भी वास्तविकता को छिपा न पाया। उसके अपने वृत्तान्त को ही ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसका यह कहना कि नासिरुद्दीन महमूद एक साधु-प्रवृत्ति का आदमी था, बिलकुल निराधार है और वास्तविकता इसके सर्वथा प्रतिकूल है।

महमूद के राज्यारोहण की वास्तविक परिस्थिति के संबंध में मिनहाज स्वयं लिखता है कि जब दिल्ली के तुर्की अमीरों के गुप्त बुलावे पर राजकुमार महमूद बहराइच से दिल्ली के लिए रवाना हुआ तो उसकी माँ ने जनता में यह खबर फैला दी कि महमूद बीमार होने के कारण अपना इलाज कराने दिल्ली जा रहा है और वह उसको एक पालकी में सवार कराके स्वयं ले चली और उसकी रक्षा के लिए अपने निजी विश्वासपात्र घुड़सवारों को रखा। दिन में तो वह इस प्रकार चलता था और रात में उसको औरत के वेष में और उसके मुँह पर परदा डालकर घोड़े पर सवार करके उसको बहुत तेज़ी के साथ दिल्ली की तरफ दौड़ाया जाता था। इस मामले को इतना गुप्त रखा गया कि जब तक दिल्ली पहुँचकर महमूद राजगद्दी पर नहीं बिठला दिया गया तब तक किसी को भी इसकी कोई खबर न थी। इस बात से स्पष्ट है कि तुर्कों का नया दल जिसका नेतृत्व अब अमीरे हाजिब बलबन कर रहा था मसूद के विरुद्ध अत्यन्त गुप्त रीति से महमूद और उसकी माता के साथ षड्यंत्र को पूरी तरह परिपक्व करके अपना कुटिल कार्य सम्पन्न करना चाहता था। यदि मसूद मलिकों तथा अमीरों में इतना अप्रिय तथा घृणित होता जैसा कि मिनहाज उसके विषय में कहता है तो इन अमीरों को इतनी गुप्तरीति से महमूद को बहराइच से लाने आदि की आवश्यकता न पड़ती। इसमें संदेह नहीं कि उनको अन्त तक यह भरोसा नहीं था कि उनका षड्यंत्र बिना विरोध के सफल हो जाएगा। जिन गुप्त पत्रों के महमूद को भेजने की चर्चा मिनहाज़

ने की है वे अवश्य ही बलबन तथा उसके कुटिल साथियों ने भिजवाए होंगे जैसा कि समस्त परिस्थिति तथा तत्संबंधी घटनाओं से विदित होता है। अभागे मसूद का अपराध केवल उसकी योग्यता तथा सबलता थी जिसके कारण बलबन के दल को अपने उद्देश्य के पूरा करने का अवसर न मिला। उसकी मृत्यु के बारे में भी मिनहाज़ केवल इतना कहकर छोड़ देता है कि वह कारागार में मर गया।

इसी प्रसंग में महमूद के चरित्र पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है। यह वही महमूद था जिसको उसके भतीजे मसूद ने अपूर्व उदारता से कारागार से मुक्त करके एक सूबे का शासक नियुक्त किया था। इस प्रकार की उदारता तथा वात्सल्य का दिल्ली सल्तनत के इतिहास में यही एकमात्र उदाहरण मिलता है। यदि मसूद तत्कालीन सुलतानों की मर्यादा का पालन करता तो अन्य वह सब राजकुमारों तथा सम्बन्धियों को जो किसी समय उसके रास्ते में काँटा बन सकते थे, कत्ल करवा डालता। किंतु इसके प्रतिकूल उसने उनको कारागार से मुक्त ही नहीं किया अपितु उच्च पदों पर नियुक्त किया। उस बेचारे को ज़रा भी यह शंका नहीं हो सकती थी कि उनमें से एक इतना अधम व कृतघ्न निकलेगा कि वह उसके इतने अपूर्व और बड़े उपकार को भुलाकर केवल अपनी सांसारिक लिप्सा को तृप्त करने के लिए उसके नष्ट करने का शस्त्र बन जाएगा। यही कारण है कि मिनहाज ने जो इस कपटपूर्ण षड्यंत्र में स्वयं सम्मिलित था, इस सब घटना पर परदा डालने का प्रयत्न किया है।

**बलबन की शक्ति का उत्कर्ष**—अधिकार-प्राप्ति के प्रयास में बलबन को आरम्भिक सफलता प्राप्त हुई और यद्यपि उसके मानसिक भावों को समझनेवाले उच्च श्रेणी के तुर्की अमीरों की कमी न थी तथापि उसके दल का प्राबल्य पूरी तरह स्थापित हो गया। उदाहरणार्थ स्वयं बलबन का निकट सम्बन्धी शेरखाँ शकर जो उस समय का सर्वोत्तम सैनिक तथा वीर था, बलबन का कट्टर विरोधी था। सुलतान महमूद के शासनकाल का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से विदित होगा कि आदि से अंत तक युवक सुलतान और उसके कुटिल मंत्री बलबन में अधिकार-प्राप्ति के लिए निरंतर कूटनीतिक संघर्ष चलता रहा। बलबन ने मसूद को नष्ट करने के बाद यह आशा की थी कि महमूद जो उसी का बनाया हुआ सुलतान था आरम्भ से ही उसका आज्ञाकारी चेला बन जाएगा और उसके निज शक्ति-संवर्द्धन में किसी प्रकार रुकावट न डालेगा, कारण कि उसका अंतिम ध्येय राजगद्दी को प्राप्त करके अपने वंश को स्थापित करना था। किन्तु इसके लिए अभी समय नहीं आया था, इससे पहले यह आवश्यक था कि वह अपने रास्ते से उन सब शम्सी अमीरों को साफ़ करदे जो उसके विरुद्ध खड़े होनेवाले थे। अतएव महमूद को वह अपने ध्येय की पूर्ति का साधन मात्र बनाकर उसका प्रयोग करना चाहता था। परन्तु युवक महमूद भी आरम्भ में उतना दब्बू तथा सरल सिद्ध न हुआ जितना बलबन को आशा थी। बलबन की कुटिलता की काट करने के लिए वह भी पूरी तरह तैयार था, उसने बहुत दिन तक बलबन की सर्वाधिकार ले लेने की तरकीबों को आसानी से न चलने दिया। उसमें इतनी छोटी आयु में ऐसी

चतुराई इस प्रकार आगई कि उसकी बूढ़ी माँ जिसने तुर्की दल के काले कारनामों को अपनी आँखों से देखा था, बलबन की छिपी मनोवांच्छाओं को खूब समझती थी। वह जानती थी कि यदि उसके बेटे ने भी अपने वास्तविक राजोचित अधिकार को बनाए रखने की चेष्टा की तो उसका भी वैसा ही अंत होगा जैसा उसके पूर्वगामियों का हुआ था। साथ ही महमूद स्वयं भी ऐसा सरल न था जैसे मसूद और बहराम थे। अतएव माँ-बेटे ने बड़ी सावधानी से अपना काम निकालने का निश्चय किया। जब महमूद ने देखा कि राजकाज में पूरी तरह भाग लेने तथा अधिकार को वास्तविक रूप से बनाए रखने की चेष्टा करने से बलबन उसका शत्रु बन जाएगा और उसकी जान खतरे में पड़ जाएगी तो वह तुरन्त पीछे हट गया और उसने मिनहाज़ के कथनानुसार अपना समय कुरान की नक़ल करने व अन्य धार्मिक कृतियों में व्यतीत करना आरम्भ किया जैसा कि आगामी जीवन से सिद्ध होगा। नासिरुद्दीन महमूद का इस प्रकार धर्म का ढोंग बनाने का उद्देश्य यही था कि अवसर पाते ही अपने क्रूर तथा अनुचित प्रभुत्व जमानेवाले मंत्री बलबन को निकाल के बाहर करे और एक वास्तविक सुलतान के रूप में राज्य करे। मिनहाज़ ने अपने अन्नदाता व परिपोषक बलबन के दुष्कृत्यों पर परदा डालने के लिए इस घटना को यह रूप दिया है कि सुलतान महमूद को वस्तुतः राजकाज में कोई रुचि न थी। प्रत्युत वह ईश्वर आराधना व धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन आदि पुण्य कृत्यों में अपना जीवन व्यतीत करना चाहता था।

मिनहाज़ के इस कथन को अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने के प्रयास में पिछले लेखकों ने यह भी कह डाला है कि महमूद इतना साधु-वृत्ति का था कि वह स्वलिखित कुरान को बेचकर ही अपना निर्वाह करता था और राजकोष से निजी व्यय के लिए कुछ न लेता था यहाँ तक कि उसके महल में खाना पकाने के लिए कोई नौकर न था और उसकी मलिका, जो बलबन की लड़की थी, को खाना बनाना पड़ता था, इत्यादि। मिनहाज़ का यह कथन सर्वथा निर्मूल व असत्य है क्योंकि वह स्वयं अन्य स्थान पर कहता है कि उसकी बहन को एक अवसर पर मलिका ने सामान से लदे हुए १०० खच्चर और बीस-पच्चीस लौंडियाँ तथा अन्य वस्तुएँ उपहार में भेंट किए थे। इसी प्रकार के और भी प्रमाण प्राप्त हैं। यह भी याद रहे कि महमूद की एक ही स्त्री नहीं थी। अन्य बादशाहों के समान उसके हरम में भी एक से अधिक स्त्रियाँ थीं। मिनहाज़ के इस कथन से आजकल प्रायः सभी पाठकों में यह भ्रांति उत्पन्न हो गई है कि सुलतान महमूद इतना बूढ़ा होगा कि उसको सांसारिक बातों से ग्लानि हो गई थी। किन्तु वस्तुतः महमूद सुलतान बनने के समय केवल १६ वर्ष का नवयुवक था और जिस प्रकार उसने बहराइच के शासन में तत्परता व योग्यता का परिचय दिया था उसी प्रकार सुलतान बनने के बाद भी कई वर्ष तक वह भरसक चेष्टा करता रहा कि सल्तनत के विभिन्न कार्यों में पूर्णरूप से अपना अधिकार प्रदर्शित करे। इसका सबसे पहला उदाहरण यह है कि राजगद्दी पर बैठते ही

उसको मुग़लों के हमले से राज्य की रक्षा करने की समस्या का सामना करना पड़ा। यह समस्या झेलम के तटस्थ खोखरों की शत्रुता के कारण बहुत ही जटिल बन गई थी। किन्तु युवक सुलतान इस संकट से विचलित नहीं हुआ और तुरन्त एक बड़ी सेना लेकर दोनों शत्रुओं के विरुद्ध लाहौर पहुँचा। वहाँ से उसने उलूखाँ अमीरे हाजिब (बलबन) को एक सेना के साथ खोखरों के विरुद्ध भेजा और स्वयं रावी को पार करके चिनाब के किनारे तक पहुँचा। बलबन ने खोखरों के प्रदेश को बुरी तरह उजाड़ा और हज़ारों को क़त्ल करके वापस लौटा। महमूद का इस प्रकार जोश के साथ सेना-संचालन करना बलबन को अच्छा न लगा। बरनी व सैरुलऔलिया के लेखक से हमको विदित होता है कि बलबन ने सुलतान को केवल एक नमूना बनाकर गद्दी पर बैठा रखा था और सल्तनत के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिए थे। इसी अवसर पर जब सुलतान ने चिनाब से वापस लौटते समय पाकपटन के प्रसिद्ध सूफी फ़रीदुद्दीन गंजेशकर के पास जाकर उस साधु को कुछ भेंट देने और उसका आशीर्वाद लेने की इच्छा प्रकट की तो बलबन ने उसको वहाँ जाने से यह कहकर रोक दिया कि वह स्वयं सुलतान की तरफ़ से पाकपटन जाकर शेख फ़रीद को भेंट चढ़ा देगा। बलबन का वास्तविक तथा गुप्त प्रयोजन इस कार्य में यह था कि सुलतान महमूद को शेख का आशीर्वाद प्राप्त न हो और उसके स्थान पर वह स्वयं सुलतान बनने का आशीर्वाद प्राप्त करे। समकालीन तुर्कों से बलबन का वास्तविक ध्येय छिपा न था। स्वयं सुलतान के भाई कन्नौज के शासक जलालुद्दीन ने बलबन के गुप्त इरादों से उसको सचेत किया था किन्तु मिनहाज इस बात का संकेत ही नहीं करता। वह केवल सुलतान के भाई के इस घटना के बाद दिल्ली आने का निर्देश मात्र करके चुप हो जाता है।

इस अभियान ( campaign ) के अनन्तर क्रमशः एक वर्ष के भीतर दोआबे के हिन्दू सैनिकों तथा मेवात निवासियों के विद्रोह हुए जिनका बलबन ने जाकर दमन किया और फिर वह रणथम्भौर की विजय करने पहुँचा। इस चढ़ाई का संचालन पहले सुलतान ने किया था किन्तु मिनहाज हमें बतलाता है कि वहाँ रहने की आवश्यकता सुलतान के लिए नहीं थी अतएव वह वापस लौट आया और बलबन अकेला ही आगे बढ़ा। सुलतान के वापस आने का वास्तविक कारण जिसको मिनहाज ने फिर छिपाने का प्रयत्न किया है यह था कि बलबन यह नहीं चाहता था कि किसी रण में भाग लेकर वह अपने अनुभव को परिपक्व करे। इस अवसर पर रणथम्भौर के राजा ने बलबन को बुरी तरह परास्त किया और उसकी बहुत सी सेना नष्ट हुई।

अब बलबन ने नायबे-ममलिकत के पद पर जो शायद इसीलिए खाली रखा गया था, अपनी नियुक्ति करा ली। इसी समय उसको खान का मंसब और उलूखाँ का खिताब प्राप्त हुआ। अमीरे-हाजिब के पद पर उसका भाई कश्लूखाँ

नियुक्त हुआ और मलिक ताजुद्दीन को नायब हाजिब बनाया गया। क़ाज़ी मिनहाज को उसकी सेवाओं के उपलक्ष में यह इनाम मिला कि उसके लड़के अलाउद्दीन अय्याज़ तबरख़ाँ को नायब वकीले दर (Deputy controller of the household) का पद मिला। इन्हीं दिनों (अगस्त १२४९) बलबन ने अपनी लड़की का विवाह सुलतान महमूद के साथ कर दिया। इस प्रकार बलबन ने अपने मुख्य-मुख्य साथियों व सम्बन्धियों को ऊँचे-ऊँचे राजपदों पर स्थापित करके और सुलतान के साथ निकट सम्बन्ध जोड़कर अपने प्रभुत्व को पूरी तरह प्रतिष्ठित कर दिया। मिनहाज को एक और भी इनाम मिला। बलबन की सिफ़ारिश पर सुलतान ने काज़ी मिनहाज की बहन को १०० खच्चर उपहारों से भरे हुए प्रदान किए। उपर्युक्त घटनाओं से विदित हो गया होगा कि लगभग पाँच वर्ष के कुटिल संघर्ष के बाद अन्त में बलबन की जीत हुई और सुलतान महमूद ने प्रतिकूल परिस्थिति को देखते हुए इसी में बुद्धिमानी समझी कि राजकाज से पीछे हट जाए और बलबन को मनमानी करने दे। इसके अतिरिक्त दो और बातें स्पष्ट रूप से विदित हो जाती हैं। एक तो यह कि राज्य के अन्दर बराबर जगह-जगह विद्रोह होते थे और शान्ति अभी कहीं भी स्थापित नहीं हुई थी। इस समस्या का प्रतिकार करने के लिए महमूद सदैव तत्पर तथा उद्यत रहता था। दूसरी यह बात कि जब कभी वह किसी इस प्रकार के शासन-कार्य में भाग लेता अथवा सेना का संचालन करता तो बलबन उसको बीच से ही वापस लौटा देता। वह महमूद तथा उसकी माँ जिन्होंने राजगद्दी की लालसा के लिए अपने निकट सम्बन्धी सुलतान मसूद के प्रति निकृष्टतम कृतघ्नता का प्रदर्शन करने में भी हिचक न की थी, ऐसी परिस्थिति में निस्सन्देह अपना दम घुटता हुआ अनुभव करते होंगे।

**बलबन की निरंकुशता का परिणाम**—निरंकुश अधिकार प्राप्त करके बलबन इतना मदान्ध हो गया था कि वह अपने उद्दण्ड व्यवहार से अपने दल के तुर्कों की सहानुभूति व सहायता खो बैठा था। इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है कि इन विजेता तुर्कों ने साम्राज्य के समस्त ऊँचे-ऊँचे पद तथा हर प्रकार के सांसारिक लाभ अपनी बिरादरी के लिए ही सुरक्षित रखे थे और हिन्दुस्तानियों को चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, वे अत्यन्त तिरस्कृत समझते थे और छोटे-छोटे पदों के अतिरिक्त उनको कुछ नहीं देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तानियों का एक दल इन तुर्कों के विरुद्ध खड़ा हो गया। इस दल का नेता एमादुद्दीन रैहान था जिसने अत्यन्त राजनीतिक पटुता तथा कार्यकुशलता के साथ बलबन को पछाड़ा और हिन्दुस्तानी दल का प्रभुत्व स्थापित किया। अपने मनोरथ-सिद्धि में उसको इस कारण सहायता मिली कि सुलतान महमूद हृदय से बलबन के इतना विरुद्ध था कि वह ऐसे अवसर की ताक में ही बैठा था जबकि वह अपने नायब के असह्य प्रभुत्व को नष्ट कर सके। अतएव एमादुद्दीन रैहान तथा हिन्दुस्तानी दल

की सहायता मिलते ही उसने बलबन को पदच्युत करके हाँसी की जागीर पर भेज दिया। उसने इस बात की भी चिन्ता न की कि बलबन उसका श्वसुर था।

**हिन्दुस्तानी दल का उत्कर्ष**—हम देख चुके हैं कि दिल्ली सल्तनत की राज-नीति का मौलिक सूत्र था तुर्कों व हिन्दुस्तानी दलों की परस्पर प्रतिस्पर्द्धा। इस होड़ में हिन्दुस्तानी दल को सफलता मिलने का कारण यह नहीं था कि सुलतान को उनसे कोई विशेष लगाव या प्रेम था वरन इस कारण कि उसकी स्वार्थ-सिद्धि का यही एक रास्ता था कि रैहान और उसके हिन्दुस्तानी दल के साथ मेल कर लिया जाय। तुर्की दल का बलबन से शंकित होकर उसका साथ छोड़ देने का एक कारण यह भी था कि १२४६ के आरम्भ में अर्थात् बलबन का आतंक जमते ही, तुग़ानखाँ व तमरखाँ, क्रमशः अवध व बंगाल के गवर्नरों की अकस्मात मृत्यु हो गई। इन घटनाओं के सम्बन्ध में जनता में बड़ी चर्चा हुई और सबको पूरा सन्देह था कि इसके पीछे किसी खास तुर्क का हाथ है। तब ही बलबन के प्रति तुर्कों में शंका व असन्तोष उत्पन्न हो रहे थे। अतः महमूद ने अवसर पाते ही उसके पंजे से अपने को छुड़ाया। इधर रैहान ने वज़ीर के पद से शासन-कार्य में बड़ी योग्यता एवं सुलतान के प्रति बड़ी सहृदयता तथा उचित आदर का परिचय दिया। साथ ही उसने लगभग समस्त तुर्कों को ऊँचे-ऊँचे पदों से हटाकर उनके स्थानों पर हिन्दुस्तानी मुसलमानों को नियुक्त किया। सुलतान महमूद को तुर्कों की हीनावस्था की कुछ भी चिन्ता न थी; उसे तो किसी न किसी प्रकार शासन पर वास्तविक अधिकार प्राप्त करने से मतलब था। इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए वह बड़े से बड़ा मूल्य देने को उद्यत था। हम देखेंगे कि उसके जीवन का एक एक पद इस कथन का उदाहरण है।

बलबन के दल के अन्य तुर्कों के साथ क़ाज़ी मिनहाज भी अपने पद से हटाया गया था। अतएव अपने इतिहास में उसने रैहान को जी भरकर कोसा है और यह भी कह डाला है कि वह तो एक नीच क़ौम का हिजड़ा था जो जन्म से हिन्दू था और बाद को मुसलमान हो गया था।* किन्तु आगे चलकर मिन्हाज यह स्वयं स्वीकार कर लेता है कि रैहान के विरुद्ध सब तुर्क विशेषकर इस कारण थे कि वह एक तिरस्कृत हिन्दुस्तानी था, अतएव उच्चकुल वाले ताजिक तुर्क लोग जिन्हें सदैव विजय करने तथा राजाओं के समान शासन करने व अधिकार भोगने की आदत

*आश्चर्य यह है कि मिनहाज ने तो अपने शत्रु रैहान के लिए इतना ही कहा था, किन्तु कुछ आधुनिक लेखकों ने मिनहाज से भी आगे बढ़कर उस पर अधम नवोदित (vile up start) आदि शब्दों की वर्षा कर डाली है। खेद है कि आजकल अधिकतर पाठ्य-पुस्तकों में प्रायः ऐसी ही एवं इससे भी कहीं अधिक भूलें भरी पड़ी हैं, जिनके द्वारा हमारे विद्यार्थियों और अन्य पाठकों में बहुत भ्रान्तियाँ फैली हैं।

थी, वे यह कैसे सहन कर सकते थे कि विजितवर्ग का एक हिन्दुस्तानी उन पर शासन करे। मिनहाज़ रैहान पर यह दोषारोपण भी करता है कि तुर्कों को तंग करने के लिए उसने कुछ ऐसे लोग रख रखे थे जिनके डर के मारे वह छः मास तक घर से न निकला। किन्तु इन सब शिकायतों में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता।

**रैहान का शासन**—पहले तो अपनी स्थिति को निःशंक बनाने के लिए रैहान ने बलबन को हाँसी से हटाकर नागौर भेजा ताकि वह राजधानी से काफ़ी दूर रहे; यद्यपि एक प्रकार से यह परिवर्तन बलबन के लिए लाभदायक हुआ। उसने बेरोक-टोक आस-पास के प्रदेशों पर लूटमार करके अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया। हाँसी की जागीर बलबन के लड़के को, जो उसकी दूसरी स्त्री से था और बहुत छोटा बच्चा ही था, दी गई। इसका रहस्य यह जान पड़ता है कि बलबन की चालों पर देखभाल रखी जाय। इस समय रैहान वकीले-दर के पद पर आरूढ़ हुआ। वज़ीर अबूबक्र बलबन के पक्ष का होने के कारण पदच्युत किया गया और उसके स्थान पर जुनैदी जो बलबन के विपक्षी दल में से था, नियुक्त हुआ। बलबन का सम्बन्धी, शेरखाँ जो पश्चिम सीमा की रक्षा के लिए नियुक्त था, बलबन की भयानक चेष्टाओं से शंकित होकर तुर्किस्तान चला गया था। उसके स्थान पर उच्च, मुल्तान व भटिंडा में जो तुर्क सैनिक थे उनको सुलतान ने स्वयं वहाँ से निकालकर अर्सलान संजार चश्त को जो बलबन के विपक्षी दल का था, नियुक्त किया। बलबन के भाई कश्लूखाँ को राजधानी से दूर 'कड़ा' का शासक बनाया गया। क़ाज़ी मिनहाज के स्थान पर क़ाज़ी शम्सुद्दीन बहराइची नियुक्त किया गया। इस प्रकार रैहान ने अपने पक्ष के लोगों को सब आवश्यक पदों पर नियुक्त करके बड़े सुचारु रूप से शासन-कार्य आरम्भ किया।

इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि रैहान ने सुलतान महमूद को बलबन की तरह निकम्मा व निष्प्रयोजन, बनाकर नहीं रखा क्योंकि उसका कोई गुप्त ध्येय, राजगद्दी को छीनने का न था। रैहान ने सुलतान को राज-काज में पूरी तरह हाथ बँटाने के लिए प्रोत्साहित किया। हम देख चुके हैं कि १२५३ में सीमाप्रदेश की व्यवस्था स्वयं महमूद ने वहाँ जाकर की और संजार चश्त को सीमाध्यक्ष बनाया। वहाँ से लौटते ही उसने (१२५४ की गर्मी में) कटेहर के बलवाइयों को दबाया। इसी दौरान में सुलतान को सूचना मिली कि शेरखाँ शकर और उसका भाई जलालुद्दीन जो तुर्किस्तान भाग गए थे, मुग़लों की सहायता से भटिण्डा पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहे हैं। उसने तुरन्त उनका मुक़ाबला करने की तैयारी की किन्तु इसी समय बलबन ने तुर्कों को संगठित करके दिल्ली की राजनीतिक व्यवस्था को फिर पलटा दे दिया था। यद्यपि बहुत से तुर्क फिर भी बलबन का साथ देने को तैयार न हुए क्योंकि वे उस पर भरोसा नहीं कर सकते थे। इनमें स्वयं बलबन का भाई इज्जुद्दीन कश्लूखाँ भी था। अपने

निर्वासन (देशनिकाले) के दिनों में उसने दो ही काम किए थे। सब तुर्कों को परस्पर कलह के बुरे परिणाम की ओर उनका ध्यान दिलाकर, उनसे अपील की थी कि यदि वे एका करके दृढ़तापूर्वक रैहान का विरोध करें तो फिर से अपने खोए हुए पदों को प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे, उसने रणथम्भौर, कोटा आदि को लूटकर बहुत सा धन अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए इकट्ठा किया था। इस कार्य में क़ाज़ी मिनहाज ने अपने अन्नदाता का पूरी तरह साथ दिया था। इसी अवसर पर मिनहाज ने कहा कि वे उच्चकुलोत्पन्न तुर्क जो सदा से राज करते आए थे, एक नीच हिन्दुस्तानी के आधिपत्य को किस प्रकार सहन कर सकते थे।

**बलबन की दिल्ली पर चढ़ाई**—तुर्की दल को इस प्रकार फिर से जुटाकर बलबन एक भारी सेना के साथ दिल्ली की तरफ चला। ध्यान रहे कि तुर्की दल ने शायद अपना बल काफी समझकर सुलतान से शान्तिमय मार्ग से सुलह करने की कोई बातचीत नहीं की थी। इधर रैहान के साथ सुलतान महमूद भी सेना लेकर 'सामाना' पहुँचा और बलवाइयों के मुकाबले पर अपना कैम्प लगा दिया। इस अवसर की घटनाओं को मिनहाज ने स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है। किन्तु इतना निश्चय जान पड़ता है कि दोनों दलों की छोटी-छोटी टुकड़ियों में कुछ मुठभेड़ें हुईं जिनसे तुर्की दल को विदित हो गया कि सुलतान की शक्ति भी किसी प्रकार कम नहीं है। रैहान को तो इतना आत्मविश्वास था कि वह तुरन्त लड़ाई करके बलवाइयों को पछाड़ना चाहता था। परन्तु महमूद कोई ऐसा काम न करना चाहता था जिसमें उसको लेशमात्र भी भय हो। अतएव उसने जी तोड़ दिया और सामाना से हटकर वह हाँसी चला आया और बलवाई लोग उसके समीप कैथल तक बढ़ आए।

अब बलबन ने ध्यानपूर्वक सुलतान की शक्ति का अनुमान कर लिया। उसमें उसके भाई इज्जुद्दीन समेत कई तुर्क भी थे। उसने देखा कि उनकी जीत आसान नहीं है और युद्ध करने से पराजय की आशंका है। इसलिए उसने सुलतान से सन्धि की बातचीत चलाई। यह निस्सन्देह सत्य है कि बलबन ने इस युक्ति का आश्रय केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही लिया था न कि सुलतान के प्रति प्रेम अथवा सेवकाई के भाव से, जैसा कि भावी घटनाओं से भी प्रमाणित होता है और बलबन के चरित्र से भी स्पष्ट है। अवसर की अनिवार्य आवश्यकता से दबकर ही बलबन को स्वामि-भक्ति का यह ढोंग रचना पड़ा था। उधर युवक सुलतान महमूद भी उससे किसी प्रकार कम कूटनीतिज्ञ व स्वार्थी न था। उसने भी देखा कि सुलह के इस प्रस्ताव को अस्वीकार करके ऐसे सुअवसर को न खो देना चाहिए जिसके खो बैठने से अनिष्ट की आशंका हो सकती थी। बलबन इस सुलहनामे के बदले में केवल एक ही कीमत माँगता था अर्थात् रैहान को पदच्युत करा देना। सुलतान के लिए ऐसा कर देने में कोई आत्मग्लानि या धर्मसंकट बाधक न था। अपनी खाल बचाने के लिए अधम-से-अधम कोटि की कृतघ्नता का व्यवहार करने में वह सिद्धहस्त था।

रैहान ने सुलतान का यह रवैया देखकर उसको अपने रास्ते पर दृढ़ रखने के लिए एक बार अन्तिम चेष्टा इस प्रकार की कि बानखाँ ऐबक को जिसे तुर्कों ने सुलह का संदेशा लेकर भेजा था, उसने चुपके से मरवा डालने का प्रयत्न किया किन्तु वह असफल हुआ।* यह भी ध्यान रखने की बात है कि बहुत से तुर्की अमीर भी इस कुमंत्रणा में सम्मिलित थे। स्वाभाविक ही है कि मिनहाज ने इन सबको नीच कुलोत्पन्न तुर्क कहा है।

**रैहान का ह्रास**—उपर्युक्त घटनाक्रम का अन्तिम परिणाम जो होना था सो होकर रहा। सुलतान महमूद ने रैहान को अपने पद से अलग करके बदायूँ भेज दिया और बलबन तथा उसके पक्ष के तुर्क सब फिर से अपने-अपने पदों पर बहाल हो गए। इस अवसर पर हर्षोन्मत्त होकर मिनहाज अपने परिपोषक बलबन के विषय में अत्यन्त उद्भ्रांत तथा अनर्गल उद्गार प्रदर्शित करता है और कहता है कि बलबन के राजधानी के निकट पहुँचने पर देवताओं को भी हर्ष हुआ और आकाश से वर्षा हुई। स्पष्ट ही है कि मिनहाज के इस आलाप पर कोई संजीदा मनुष्य विश्वास नहीं कर सकता। अधिकार प्राप्त करते ही बलबन ने उन सब तुर्की व हिन्दुस्तानी अमीरों व पदाधिकारियों को जो उसके विपक्षी दल में सम्मिलित थे, चुन-चुनकर नष्ट करना शुरू किया। थोड़े ही दिन में सबसे पहले सुलतान की माँ की बारी आई और अन्त में स्वयं सुलतान महमूद की भी बारी आई। कुत्लुग़खाँ जो बयाना का शासक था, बलबन का कट्टर विरोधी था। उसको अवध भेज दिया गया। किन्तु सुलतान की नीचतम कृतघ्नता की पराकाष्ठा तब हुई जबकि बलबन के आतंक से भयभीत होकर उसने अपनी उस माता को, जो जीवन भर उसका पथप्रदर्शन करती रही थी और जिसके सद्परामर्शों के कारण ही उसका नवयुवक बेटा बलबन जैसे कुटिल मंत्री के हाथों से अब तक सुरक्षित रहा था, भी घर से निकाल बाहर करने में कोई संकोच न किया। अपने निर्मम बेटे के इस कठोर व्यवहार के कारण निराश्रय होकर उस वृद्धा को अवध जाकर कुत्लुग़खाँ से विवाह करके उसकी शरण लेनी पड़ी। रैहान को बहराइच भेज दिया गया। इसके बाद कुत्लुग़खाँ व रैहान ने दिल्ली पर चढ़ाई करने का विचार किया किन्तु वे इसमें असफल हुए। रैहान मारा गया और कश्लूखाँ कालंजर की ओर बचकर भाग गया। उसकी नवविवाहिता स्त्री, सुलतान महमूद की माँ, इन दिनों उसके साथ थी। परन्तु इसके बाद मिनहाज उस अभागी स्त्री का कोई ज़िक्र ही नहीं करता है। कारण कि उसके बेटे सुलतान को ही तनिक भी यह चिन्ता न थी कि उसकी माँ की क्या दशा है। यह घटना लगभग १२५५ में हुई।

**महमूद के राज्यकाल की अन्तिम घटनाएँ**—महमूद का शेष जीवन अन्दरूनी व बाहरी बलवों तथा मुग़लों के आक्रमणों का सामना करने में बीता। कश्लूखाँ जिसको रैहान ने उच्च और मुलतान के सीमान्त प्रदेश का रक्षक बना दिया था वहाँ

---

* इस घटना की चर्चा मिनहाज के अतिरिक्त अन्य किसी लेखक ने नहीं की है।

से अपने स्थान को छोड़कर चंगेज़खाँ के वंशज हुलागूखाँ के पास फ़ारस चला गया और सिन्ध प्रान्त उसको सुपुर्द कर दिया। फिर १२५७ में मुग़ल सेना की सहायता से वह पंजाब पर चढ़ आया और व्यास के किनारे-किनारे चलकर कुत्लूखाँ से मेल करके दिल्ली पर चढ़ाई करने का विचार किया। कुत्लूखाँ उस समय सिरमौर के पहाड़ के अन्दर छिपा हुआ था। दोनों की सेनाएँ मिलकर दिल्ली की ओर चलीं किन्तु सामाना के पास बलबन ने एक सेना के साथ उनका रास्ता रोका। यह समय दिल्ली के लिए अत्यन्त संकट का था क्योंकि कई बड़े-बड़े अमीर अभी तक बलबन को सहयोग देने पर तैयार न हुए थे और इस ताक में थे कि सुअवसर मिलते ही उसके विरोधियों से मिलकर उसे फिर से निकलवाया जाय। इन अमीरों में शेखउल् इस्लाम कुत्बुद्दीन और क़ाज़ी शम्सुद्दीन बहराइची ने गुप्त रूप से कुत्लू और कश्लूखाँ को दिल्ली पर चढ़ाई करने के लिए बुलाया था और यह वायदा किया था कि वे शहर के द्वार खुले रखेंगे ताकि उनको अन्दर घुसने में आसानी हो। किन्तु बलबन को इस षड्यंत्र का पता चल गया और उसने सुलतान महमूद को बड़ी हड़बड़ाहट में कहला भेजा कि उन सब राजद्रोहियों को राजधानी से निकालकर बाहर करे। परन्तु कश्लू और कुत्लू को इस बात का पता न चला और वे बलबन के रास्ते को बचाकर इस भ्रांति में दिल्ली पर जा चढ़े कि उनको नगर के द्वार खुले मिलेंगे। किन्तु इस बीच में महमूद ने परिस्थिति को बहुत कुछ सम्हाल लिया था। विद्रोहियों को निकालकर उसने नगरवासियों से अपनी रक्षा करने के लिए अनुरोध किया और इस प्रकार सेना-रहित होते हुए भी राजधानी की रक्षा की। इस प्रसंग में यह बात अत्यन्त अर्थपूर्ण और मनोरंजक है कि आक्रामकों के साथ महमूद की माँ भी सेना का संचालन कर रही थी। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उस बूढ़ी स्त्री के मन में अपने निर्दयी व कृतघ्न बेटे सुलतान महमूद के प्रति कितने हिंसात्मक भाव उत्पन्न हो गए होंगे। राजधानी और सुलतान इस संकट से इस कारण बचे कि आक्रामकों ने यह सोचकर कि कहीं बलबन पीछे से आकर उनका वापस लौटना असम्भव न कर दे, नगर का घेरा उठा लिया और वापस लौटा गए। कश्लूखाँ मुल्तान लौटकर फिर ईराक़ में हुलागू के पास सहायता लेने के लिए पहुँचा जिसका परिणाम यह हुआ कि १२५७ के अन्तिम महीने में एक बड़ी मुग़ल सेना ने पंजाब पर आक्रमण करके सतलज के किनारे तक का प्रदेश अधिकृत कर लिया। जान पड़ता है कि यह आक्रमण कश्लू के हुलागू से मिलने के कारण ही हुआ हो क्योंकि कश्लू ने अपनी सेना भी आक्रामक सेना के साथ मिला दी थी और वे दिल्ली सल्तनत की सीमा तक पहुँच गए। सल्तनत की सीमा उस समय उत्तर में व्यास नदी तक ही सीमित थी और दक्षिण में मुल्तान के समीप रावी के किनारे कहलोर तक पहुँचती थी। आक्रामक सेना ने पहले मुल्तान के दुर्ग को विध्वंस किया और फिर आगे बढ़ी। इस भयावह संकट से अपनी रक्षा करने के लिए सुलतान ने समस्त सूबों के शासकों तथा दिल्ली

की जनता से तैयार हो जाने का अनुरोध किया। सौभाग्यवश मुग़ल सेना अपने स्वभाव के अनुसार लूटमार से अपना सन्तोष करके वापस लौट गई और यद्यपि राजधानी की अवस्था उस समय अत्यन्त निर्बल थी इस प्रकार इस घोर संकट से उसकी मुक्ति हुई, अन्यथा यदि मुग़ल सेना ने आगे बढ़कर राजधानी पर हमला कर दिया होता तो सम्भवतः वह सल्तनत के लिए विनाशकारी हुआ होता। इस संकट से निकल जाने के कुछ दिन बाद सुलतान ने कड़ा और अवध के शासकों को दण्ड देने का विचार किया क्योंकि उन्होंने इस अवसर पर सहायता नहीं दी थी किन्तु क्षमा माँग लेने पर उनको छोड़ दिया गया।

**आन्तरिक परिस्थिति**—साम्राज्य की आन्तरिक परिस्थिति भी सीमांत समस्या से कुछ कम गहन न थी। इसका कारण यह था कि सीमा प्रदेश की रक्षा में व्यस्त रहने के अतिरिक्त बलबन के उद्दण्ड तथा असह्य व्यवहार के कारण तुर्कों में बराबर दलबन्दी व परस्पर संघर्ष चल रहा था। इसलिए वे इल्तुत्मिश की प्राप्त की हुई साम्राज्य की दृढ़ता तथा गौरव को बढ़ाना तो दूर उसे क़ायम भी न रख सके। इल्तुत्मिश के बाद वे सुलतानों को गद्दी पर चढ़ाने और गिराने में इतने व्यस्त रहे कि शासन के वास्तविक कार्य के लिए उनको अवकाश ही न था। नासिरुद्दीन के राज्यारोहण के बाद बलबन ने इस कार्य में अधिक कठोरता व तत्परता दिखलाई किन्तु उसके और सुलतान के बीच में आरम्भ से ही जो कुटिल संघर्ष चला, उसने इस सब कार्य को निरर्थक कर दिया। बलबन का सर्वोपरि मनोरथ राजसत्ता की प्राप्ति करना था जिसके लिए उसका निरन्तर प्रयत्न यह था कि तुर्की पक्ष के सब बड़े-बड़े अमीरों को किसी-न-किसी प्रकार नष्ट कर दे ताकि उसके उसकी संतान के मुकाबले पर राजगद्दी लेनेवाला कोई और न रह जाय। ऐसी परिस्थिति में यह असम्भव था कि वह साम्राज्य के अन्दर शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित कर सकता। इसके अतिरिक्त उसने सुलतान महमूद को भी कोई रचनात्मक कार्य नहीं करने दिया। परिणाम यह हुआ कि देश के अन्दर विद्रोहों की ज्वाला घटने के बजाय निरन्तर बढ़ती और फैलती गई।

**कतिपय विद्रोहों का विवरण**—विद्रोहियों में जेजाभुक्ति के चन्देल, रणथम्भौर के चौहान, उत्तरी बुन्देलखण्ड के व थानेश्वर के राजपूत सरदार एवं मेवात के मेव और भट्टी मुख्यतया उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन अभिलेखों से विदित हुआ है कि चन्देलों ने रेवा से झाँसी तक का प्रदेश अधिकृत कर लिया था। राजपूतों ने बुन्देलखण्ड के उत्तरी भाग अर्थात् महोबा व हमीरपुर आदि को फिर से ले लिया। इसी प्रकार एक नए सरदार, जिसका नाम व्याघ्र था, ने कालपी से चुनार तक और उसके बेटे कर्णदेव ने तौंस (तमसा नदी) तक की भूमि पर कब्जा कर लिया। मिनहाज के कथन से विदित होता है कि १२४७ में बलबन को कुछ हिन्दू सरदारों के विरुद्ध सेना ले जानी पड़ी थी जिनको वह दलकी व मलकी कहता है। किन्तु बलबन उनकी भूमि में लूटमार करने से अधिक और कुछ न कर सका।

ग्वालियर के निकट नरवर के शासक चाहड़देव ने इल्तुतमिश के मरते ही ग्वालियर से मालवा तक के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। समकालीन मुस्लिम लेखक उसको हिन्दुस्तान का सबसे महान राजा मानते हैं। इस वंश के राजा तेरहवीं सदी के अन्त तक तुर्की सुलतानों का मुकाबला करते रहे। रणथम्भौर के चौहान राजा जयसिंह ने मालवा के परमार शासक को पराजित करके ग्वालियर, मेवात और मालवा पर अधिकार कर लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली सुलतानों का आधिपत्य राजपूताना पर अत्यन्त निर्बल हो गया। उसी समय मेवाड़ के राजा ने भी अपनी शक्ति को बहुत बढ़ाया। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद लगभग समस्त राजपूताना तुर्कों के राज्य से निकल गया। इसी प्रकार मेवाती लोग जो बयाना के जाट व भट्टी सरदारों के वंशज थे, उत्तर में सिरमौर की पहाड़ी तक पहुँच गए। मेवातियों ने दिल्ली के सुलतानों के दाँत खट्टे कर दिए। यहाँ तक कि स्वयं बलबन के शासन-काल में उन्होंने राजधानी पर ही धावा मारना और लूटमार करना आरम्भ कर दिया। यह बात अत्यन्त सारगर्भित है कि बलबन को विवश होकर दिल्ली के निवासियों की रक्षा के लिए नगर के फाटक दिन में भी बंद रखने की आज्ञा देनी पड़ी क्योंकि मेवातियों का साहस इतना बढ़ गया था कि वे दिन में भी राजधानी के अन्दर घुस पड़ते थे और बेधड़क लूटमार करके चले जाते थे। आश्चर्य यह है कि वह बलबन जिसको आधुनिक लेखकों ने बड़ा योग्य तथा प्रबल शासक बतलाया है, अपनी राजधानी तक की रक्षा करने में असमर्थ रहा, साम्राज्य के अन्य भागों की रक्षा तो दूर। मेवाती लोग रणथम्भौर के चौहानों व अन्य राजपूतों से मिल गए थे और ऐसा जान पड़ता है कि तुर्की शासन के विरुद्ध उनका यह एक संगठित प्रहार था। जब बलबन और महमूद मुग़लों के हमले तथा कुत्लूखाँ आदि के विरोध का प्रतिकार करने में व्यस्त थे, उन दिनों मेवातियों ने हाँसी तथा समस्त हरियाना की भूमि को शिवालक की तलहटी तक खूब ही लूटा। ऐसा जान पड़ता है कि इस समय तुर्की सरकार का रक्षा-विभाग बिलकुल ही शक्तिहीन हो गया था। उनके विरुद्ध बलबन ने १२५९ में एक भारी सेना तैयार करके मेवात पर चढ़ाई की और उसको पूरी तरह नष्ट किया। मेवातियों के बहुत से घोड़े, मवेशी तथा सामान छीन लिए और जो लोग बन्दी बनाए गए थे उनको खुले आम हाथियों से रुँदवाया गया तथा बहुतों की जीते-जी खाल खिचवाई गई। किन्तु इतना भीषण हत्याकाण्ड करने पर भी मेवाती समस्या का समाधान बलबन न कर सका। थोड़े ही दिन बाद वे मानो अपने पूर्वजों की भस्मी से फिर जीवित हो उठे और उसी प्रकार निर्भयता तथा साहस के साथ राज-मार्गों पर हमले करके लूटमार करना आरम्भ कर दिया और हज़ारों मुसाफिरों को क़त्ल कर डाला। इसके विरुद्ध बलबन ने एक बार फिर अकस्मात आक्रमण करके उनके १२,००० स्त्री-पुरुष और बच्चों को काट डाला, उनके गढ़ों को मिस्मार कराया और उनका सामान लूट लिया। परन्तु इसी समय कटेहर (प्राचीन उत्तर पांचाल व आधुनिक रुहेलखण्ड) व अवध के हिन्दू सरदारों ने बलवा करके कन्नौज तक की भूमि पर अधिकार कर

लिया। मेवात के सदृश इस प्रदेश पर भी महमूद के शासन के आरम्भ से ही निरन्तर चढ़ाइयाँ करने की आवश्यकता रही थी। तिस पर भी वहाँ विद्रोह की आग तनिक भी न दबी।

उपर्युक्त घटनाओं के विवरण से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि बलबन अपनी समस्त शक्ति लगाकर भी देश में सुख-शान्ति व रक्षा स्थापित नहीं कर पाया। इसका कारण स्पष्टतया यह था कि वह शासन के सामान्य सिद्धान्तों को भी बिलकुल न समझता था। आधुनिक लेखकों ने बलबन की नीति को तानाशाही व खड्गशाही नीति कहा है। यहाँ तक उनका सिद्धान्त ठीक है किन्तु उनका यह कहना कि यह नीति सफल हुई और इसके द्वारा देश में सुख-शान्ति स्थापित हुए, सर्वथा भ्रान्ति में पड़ जाना है जैसा कि उपर्युक्त घटनाओं से प्रमाणित होता है। यह कहना सत्य होगा कि बलबन कोई योग्य शासक तथा दूरदर्शी नीतिज्ञ था। वह तो केवल भाले की नोंक पर बैठकर ही शासन करना चाहता था, जैसा प्रायः कहा गया है—बरछे व भाले के बल से किसी देश को जीता तो जा सकता है किन्तु उससे स्थायी शासन स्थापित नहीं किया जा सकता।

**हुलागू के संदेशवाहक (envoy) का आना**—मेवातियों के पहले हमलों के दौर से थोड़ी सी छुट्टी पाते ही बलबन ने फ़ारस के मुग़ल सम्राट की राजधानी तबरेज़ से आए हुए एक संदेशवाहक दूतमंडल का १२६० के आरम्भ में बड़ी शानो-शौकत व दबदबे के साथ स्वागत किया। इस अवसर पर अपनी सम्पत्ति व अनन्त सामग्री का प्रदर्शन करने के लिए उसने ग़रीब जनता से लूटा हुआ धन बड़ी बेदरदी से ख़र्च किया। तमाम मलिकों और अमीरों की सेनाएँ जिनकी संख्या २,००,००० पैदल व ५०,००० घुड़सवारों की थी, हौज रानी के सामने कतार बाँधकर खड़ी की गई। इस प्रदर्शन से आगन्तुक बड़े प्रभावित हुए। फिर वे नगर के अन्दर ले जाए गए जहाँ पर राजमहल के अन्दर उनका बड़े समारोह के साथ स्वागत किया गया। दूतों ने अपने सम्राट हुलागू की ओर से विश्वास दिलाया कि मुगलों के हमले बंद कर दिए जाएँगे किन्तु इसके तुरंत ही बाद मेवात में विद्रोह की अग्नि पुनः प्रज्वलित हो उठी थी जिसको ऊपर बता चुके हैं।

बलबन के इस वृत्तान्त के अन्त में मिनहाज केवल यह बतलाता है कि सुलतान महमूद को बलबन की लड़की के गर्भ से १६ सितम्बर १२५६ को एक पुत्र उत्पन्न हुआ किन्तु इसके अतिरिक्त एक शब्द भी उस बालक के सम्बन्ध में नहीं लिखता। रेवर्टी ( Major Raverty ) लिखता है कि यह बच्चा अल्पायु में ही मर गया था। मिनहाज का इस विषय में बिलकुल चुप रहना सन्देह से खाली नहीं है क्योंकि मिनहाज का विवरण सन् १२६० के आगे नहीं मिलता। थोड़े दिन के बाद के लेखक जिनको बलबन का कोई डर नहीं था, स्पष्ट लिखते हैं कि उसने सुलतान को विष दिलवाकर मार डाला था। मिनहाज का इतिहास अर्थात् तबकाते-नासरी १२६० में समाप्त हो जाता है। उसके आगे ६ वर्ष का अरसा ऐसा है जिसका

कोई हाल नहीं मिलता। ज़ियाउद्दीन बरनी अपनी तारीखे फ़ीरोजशाही को १२६६ में आरम्भ करते समय सुलतान महमूद की मृत्यु का हाल केवल दो शब्दों में कहकर छोड़ देता है और साथ ही यह भी विचित्र बात कहता है कि क्योंकि काज़ी मिनहाज़ ने उससे पूर्वकाल का इतिहास लिख दिया है अतएव उसे 'अर्थात् ज़िया बरनी को अब उसके बारे में लिखने की आवश्यकता नहीं है। ६ वर्ष के इस खाली समय के बारे में विद्वानों को यह संशय है कि शायद सुलतान महमूद की मृत्यु असाधारण परिस्थिति में होने के कारण और उससे पहले की घटनाएँ भी अकथनीय होने से किसी ने उसका हाल देना मुनासिब न समझा।

## बलबन सम्राट के रूप में

**बलबन का राज्यारोहण**—सुलतान महमूद की करुण मृत्यु को, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, सभी तत्कालीन लेखकों ने दबा देने का प्रयत्न किया है। खेद यह है कि आधुनिक लेखक भी सुलतान महमूद के वास्तविक चरित्र को उसके जीवनभर के दुष्कृत्यों के आधार पर न समझकर मिनहाज़ के सर्वथा मिथ्या चरित्र-चित्रण से ही भ्रान्ति में पड़कर उसको अत्यन्त विनम्र तथा सरल चरित्रवाला ही कहते चले जाते हैं। महमूद लगभग २० वर्ष तक गद्दी पर रहा किन्तु वास्तविक शासन करने का इस अन्तर में उसको बहुत ही कम अवसर मिला क्योंकि राजसत्ता तथा शक्ति पूर्णतया उसके नायबे ममलिकत बलबन ने हड़प ली थी। महमूद की मृत्यु के समय तक बलबन ने अपनी शक्ति को इतना दृढ़ तथा दुर्जय बना लिया था कि राजगद्दी खाली होते ही वह किसी की सहमति की प्रतीक्षा किए बिना ही उसका मालिक बन बैठा। वास्तविक बात यह है कि जैसा बरनी हमें बतलाता है, वह महमूद के जीवनकाल में ही राजा के समस्त चिन्ह व अलंकरण स्वयं प्रयुक्त करने लगा था। अतएव वह वस्तुतः तो बहुत समय से सुलतान के समान व्यवहार कर ही रहा था, अब उसको केवल सुलतान का मुकुट धारण कर लेना एक जाब्ते की बात थी। बलबन के इस प्रकार राजगद्दी पर बैठ जाने को वैधानिक कहना सर्वथा निराधार होगा क्योंकि किसी भी नियम अथवा परम्परा के अनुसार उसने यह कार्य नहीं किया था।

**बलबन की नीति**—बलबन की नीति का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। सुलतान बनने के बाद उसकी नीति अपने नग्न रूप में प्रदर्शित होने लगी। इस नीति का मुख्य उद्देश्य था न केवल अपने को एकाकी सुलतान बना लेना बल्कि राजगद्दी को अपने वंशधरों के लिए धरोहर बना जाना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने निश्चय किया कि तुर्की दल में जितने प्रभावशाली व बड़े-बड़े योग्य तुर्क हैं उनको नष्ट कर दिया जाए क्योंकि जब तक इनमें से कोई भी बना रहेगा तब तक उसके (अर्थात् बलबन के) वंशजों की स्थिति सुरक्षित न रहेगी। अपनी शक्ति व प्रतिष्ठा को उच्चतम स्तर पर पहुँचाने के लिए उसने यह दावा करना शुरू किया

कि वह तूरान के प्राचीन विख्यात बादशाह अफ़रासियाव का वंशज है, वह अपने दरबार में हर समय इस बात पर बहुत बलपूर्वक सबको समझाता था कि सुलतान एक अत्यन्त पवित्र तथा पूजनीय व्यक्ति है और उसके प्रति सब लोगों को बहुत आदर व सत्कार के भाव रखने चाहिए। उसने अपने बेटे बुग़राख़ाँ को जो बंगाल का शासक था, यही शिक्षा दी थी कि निरंकुशता राज्याधिकार का मौलिक गुण है। वह स्पष्ट रूप से कहा करता था कि राजा को सामान्य मनुष्य कोटि से ऊपर मानकर ही प्रजा के मन में इतना आदर तथा भय उत्पन्न हो सकता है जिससे वे सदैव उसकी आज्ञा पालन करते रहें। साथ ही वह यह भी समझता था कि निरंकुश शासन से प्रजा में सुलतान के प्रति प्रेम व वास्तविक आदर के भाव पैदा नहीं हो सकते। प्रत्युत इतनी घृणा उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है कि उसे प्रतिक्षण अपनी जान का भय बना रहता था। इसी कारण वह सदैव अपने साथ एक भारी अगरंक्षक सेना की टुकड़ी रखता था। अपने इन सिद्धान्तों की महत्ता वह अपने पुत्रों के मन पर बिठलाने की निरन्तर कोशिश करता रहता था। इसी उद्देश्य से उसने राजदरबार को इतना सुसज्जित व वैभवशाली बनाया जिसको देखकर सर्वसाधारण के मन में भय उत्पन्न हो। ज़ियाउद्दीन बरनी ने लिखा है कि वह अपने दरबारियों व अमीरों इत्यादि से अनिवार्य रूप से सिजदा व पायबोस (साष्टांग दण्डवत व चरण चुम्बन) की क्रिया करवाता था। इस प्रकार की क्रियाएँ उससे पहले किसी दिल्ली के सुलतान ने नहीं करवायी थीं। अपने व्यक्तिगत व्यवहार में भी उसने सुलतानोचित अभिमान को पूरी तरह निबाहने का प्रयत्न किया था। सब प्रकार के रंग-रासों को त्यागकर उसने अपने दरबारियों का मदिरापान आदि बन्द कर दिया। यहाँ तक कि सर्वसाधारण से बोलना भी वह अपनी शान को कम करना समझता था। दिल्ली का एक बड़ा धनी व्यापारी सुलतान के साथ केवल एक बार मुलाक़ात करने के बदले में अपनी सारी दौलत दे देने को तैयार था किन्तु बलबन ने उसे यह मौक़ा देने से इनकार कर दिया। उसका यही व्यवहार- अपने निजी नौकर-चाकरों के साथ था। दरबार में बड़े से बड़ा अमीर भी मुस्करा तक नहीं सकता था। उसके बड़े बेटे मुहम्मद की असामयिक मृत्यु से बलबन के दुःख का पारावार न था किन्तु तब भी वह दरबार में बराबर अपनी संजीदगी को बनाए रखता था, यद्यपि रात को जब वह अकेला होता तो फूट-फूटकर रोता था और इस प्रकार अपनी छाती में भरे हुए दुःख को हलका करता था। किन्तु इतना भारी दुःख पड़ने पर भी बलबन की सल्तनत को हड़पने की लिप्सा कम न हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के असीमित राज्याधिकार तथा राजा की श्रेष्ठता के सिद्धान्त एवं तद्जनित कृत्रिम वायुमण्डल के अन्दर दरबारियों तथा जनता के मनोभावों की कैसी दशा होगी और वे कितने असह्य आतंक व तनाव का अनुभव करते होंगे।

अपने असीमित अधिकार को पूर्णरूप से दृढ़ तथा सर्वथा एकाकी बनाने के उद्देश्य से उसने अपनी नीति का प्रदर्शन अत्यन्त क्रूरता तथा अन्याय से करना

शुरू किया। अपने वंश के लिए राजगद्दी पर अधिकार करने की लालसा में वह इतना अन्धा हो रहा था कि अपनी बिरादरी के तुर्कों की उन्नति को भी वह न देख सकता था क्योंकि उनका प्रभावशाली होना ही उसकी उद्देश्यपूर्ति में बाधक था। इसलिए उसने बड़े-बड़े तुर्क सरदारों को भी किसी न किसी बहाने से नष्ट करना शुरू किया। उस समय बदायूँ प्रांत का शासक मलिक बक़बाक था। वह चार हज़ार सेना का संचालक था। उसने अपने एक नौकर को मार डाला था जिसके बदले में सुलतान ने उसे कोड़ों से इतना पिटवाया कि वह मर गया। इसी प्रकार अवध के शासक हैबतखाँ को एक गुलाम के उसके हाथों मर जाने के कारण ५०० कोड़े लगवाए गए और फिर उसे उस गुलाम की माँ के सुपुर्द कर दिया गया। हैबत के मित्रों ने बड़ी याचनाएँ करके तथा २०,००० टंका देकर उसे मुक्त कराया किन्तु वह इस घोर निरादर से इतना लज्जित तथा अप्रतिभ हुआ कि घर से बाहर न निकलता था, और इसी शोक में थोड़े दिन बाद मर गया। इन्हीं दिनों स्वयं सुलतान के भतीजे शेरखाँ शकर की जो उत्तर-पश्चिम सीमा का रक्षक था, अकस्मात मृत्यु हो गई। इस पर सर्वसामान्य में गहरा संशय प्रचलित था कि उसको सुलतान ने ज़हर दिलवा दिया है। बलबन ने उसको कई बार राजधानी आने के लिए बुलाया था परन्तु इसी गहरी आशंका के कारण वह आने से बराबर इन्कार करता रहा था। इस प्रकार बलबन की यह पैशाचिक नीति इतनी पराकाष्ठा को पहुँच गई कि उसने अपने ध्येय को ही नष्ट कर दिया। इतना ही नहीं, इस नीति का परिणाम यह हुआ कि उत्तर-पश्चिम की रक्षा की व्यवस्था भी अत्यन्त निर्बल हो गई क्योंकि जितने सुयोग्य सैनिक थे वे या तो किसी न किसी बहाने से मार डाले गए अथवा भाग गए। इसी कारण जब १२८५ में मुग़लों का बड़ा भारी आक्रमण हुआ तो सुलतान को उनके विरुद्ध अपने परम प्रिय बड़े बेटे मुहम्मद को भेजना पड़ा जहाँ वह मारा गया और उसके बाद तुर्कों में कोई योग्य सैनिक उस कार्य के करने को न रह गया। इसका अंतिम परिणाम अनिवार्य रूप से यही हुआ कि बलबन के मरने के थोड़े ही दिन बाद राजसत्ता शम्सी व इलबारी तुर्कों के हाथ से निकल कर खल्जी वंश के अधिकार में चली गई।

**तुर्की दल के प्रति बलबन की नीति का सिंहावलोकन**—हम देख चुके हैं कि दिल्ली के दास वंशीय तुर्क सुलतानों में अपनी जाति का बड़ा गहरा अभिमान तथा अहंकार था। उनके शासन का मूलमंत्र था विजित जाति के ऊपर अपनी कुलीन बिरादरी का शासन बनाए रखना तथा अपनी ही छोटी-सी बिरादरी के हितार्थ साम्राज्य का हर प्रकार से प्रयोग करना। उसी उद्देश्य के आधार पर उनकी समस्त नीति निर्धारित होती थी। किन्तु बलबन ताज़िक जाति पर अभिमान करनेवाले इन तुर्कों से भी एक क़दम आगे बढ़ गया। वह केवल अपने परिवार को ही सर्वोच्च व सर्वश्रेष्ठ तथा समस्त सत्ता का अधिकारी मानता था। इसी स्वार्थ में अंधा होकर

उसने उस तुर्की दल को भी नष्ट कर डाला जिनकी शक्ति तथा ऐक्य के आधार पर तुर्की सत्ता क़ायम रह सकती थी।

**बलबन की आन्तरिक नीति**—बलबन के पूर्वगामियों की समस्याओं का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। इल्तुत्मिश के योग्य शासन के बाद साम्राज्य में स्थिरता आ गई थी। तुर्की अमीरों के परस्पर वैमनस्य तथा बाहरी हमलों की समस्या को बड़ी सराहनीय नीति तथा बुद्धिमत्ता से इल्तुत्मिश ने सम्भाला था और साम्राज्य के अंदर पर्याप्त शांति व सुरक्षा स्थापित कर दी थी। बलबन ने उसके सुकार्य को अपनी स्वार्थान्धता तथा क्रूरता से सर्वथा नष्ट कर दिया। हम देखते हैं कि बलबन के सुलतान होने के आरम्भ से ही निरन्तर विद्रोह होते रहे। साम्राज्य में स्थान-स्थान पर हिन्दुस्तानी सरदार उसकी डण्डाशाही के विरुद्ध खड़े होगए। इन घटनाओं का होना इस कारण अनोखा जान पड़ता अगर सुलतान की नीति से उसका यश व प्रजा की श्रद्धा बढ़ती। इसके विपरीत अपने मंत्रित्वकाल में ही उसकी संकीर्ण नीति के कारण किसी वर्ग में भी उसके प्रति श्रद्धा व विश्वास न रह गया था। तब उसके सुलतान बनने पर साम्राज्य में शांति कैसे रह सकती थी। इल्तुत्मिश ने धीरे-धीरे अपने शासन-कार्यों को प्रजा के हितार्थ संचालित करने की प्रथा स्थापित की थी और इस प्रकार राजा व प्रजा में परस्पर समझौता व विश्वास के भाव उत्पन्न होने लगे थे। यद्यपि यह मानना होगा कि किसी भी मुसलमान राजा की मेल-मिलाप की नीति से तुर्की राज्य के मौलिक सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। इस सिद्धांत के अनुसार मुसलमानों के अतिरिक्त किसी अन्य जाति को और विशेषकर मूर्तिपूजक हिन्दुओं को सीधे-सादे तरीक़े पर इस्लामी शासन की छत्रछाया में रहने का कोई अधिकार नहीं था, जब तक कि वे इसके लिए जज़िए आदि के रूप में इसका मूल्य न चुकाएँ। बलबन की इस प्रकार की आंतरिक नीति का यह प्रभाव पड़ा कि बाहरी हमलों और आंतरिक विद्रोहों से राजधानी की रक्षा करने में व्यस्त रहने के कारण वह साम्राज्य के दूरवाले प्रांतों को भली-भाँति अपने नियंत्रण में न रख पाया। ऐसी अवस्था में नए प्रदेशों को जीतकर साम्राज्य का विस्तार करना तो असम्भव ही था। जब एक बार उसके अमीरों ने बलबन से प्रश्न किया कि वह अपने पूर्व के सुलतानों की भाँति दूर देशों पर चढ़ाई करने क्यों नहीं जाता है तो उसने जो उत्तर दिया वह बड़ा सारगर्भित है और उससे बलबन के राज्यादर्श तथा उसकी तत्सम्बन्धी कल्पना पर पूरा प्रकाश पड़ता है। उसने कहा कि मुझसे पहले सुलतानों के काल में मुग़लों के हमलों की समस्या इतनी गहन न थी अतएव वे निःशंक होकर हिन्दुओं के अन्यान्य प्रदेशों को जीतने के लिए और उनकी धन-सम्पत्ति को लूटने के लिए चढ़ाई कर सकते थे। यदि मुझको मुसलमानों (अर्थात् तुर्कों) की रक्षा करने की चिन्ता न होती तो मैं हिन्दुस्तान के राजाओं पर निरंतर चढ़ाई करता और उनको कभी चैन से न बैठने देता। बलबन के इस कथन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो वह स्वयं स्वीकार करता है

कि मुग़लों की समस्या को वह अच्छी तरह हल न कर पाया था। दूसरे, उसकी राज्य-कल्पना एवं राजा के कर्त्तव्यों का सिद्धांत केवल मुसलमानों की रक्षा तथा पोषण करना था न कि समस्त प्रजा का।

**बलबन के काल में राजनीतिक अशान्ति**—बलबन की निरंकुश नीति का परिणाम यह होता था कि जितना विद्रोहों को दबाने का अत्यन्त निर्दयता के साथ वह प्रयत्न करता था उनकी आग उतनी ही अधिक भड़कती थी। ऊपर बताया जा चुका है कि इस समय मेवातियों का विद्रोह इतना बल पकड़ गया था कि वे दिल्ली तक के अन्दर घुसकर लूट-मार करते और वापस लौट जाते थे। राजधानी की रक्षा करने के लिए सुलतान ने निरुपाय होकर दिल्ली के फाटकों को दिन में भी बंद रखना जारी किया। मेवातियों का यह विद्रोह तथा प्रतिक्रिया केवल किसी लुटेरों के गिरोह की कार्यवाही नहीं थी। प्रत्युत वह बलबन की नीति के विरुद्ध जो सर्व-व्यापी द्रोह फैल रहा था उसीका एक अंग था। इससे सिद्ध होता है कि बलबन का शासन अत्यन्त अव्यवस्थित था। सन् १२४७ में कन्नौज में एक हिन्दुओं का विद्रोह हुआ, १२४६ में मेवात में और फिर १२५० में दोआब तथा १२५४ में कटेहर में। १२५८ में अवध तथा कड़ा के इक़्तादार (शासक) और दोआब के हिन्दू तथा मेवात के मेव सबके सबने बलवा कर दिया और मेवातियों ने सुलतान की सेना के बहुत से ऊँट पकड़ लिए थे, अतएव सुलतान बनते ही सबसे आवश्यक समस्या उसके सामने हिन्दू प्रतिकार तथा बलवों को दबाने की थी। किन्तु वह इतना मदान्ध था कि ऐसे कटु अनुभवों से भी उसने कोई शिक्षा न ली और अपनी तानाशाही तथा मारकाट की नीति को और भी कठोर बना दिया। उसके थोड़े समय बाद आनेवाले लेखक वस्साफ़ ने स्पष्ट लिखा है कि बलबन ने राजकोष पर पूरी तरह अधिकार करके सेना को भी अपने एकाकी संचालन में ले लिया। उसको अपने ऊपर इतना विश्वास था कि अपने राजत्वकाल में वह समस्त संसार को डण्डे के बल से अपना आज्ञाकारी बना डालेगा और वे सब उसके साम्राज्य के अन्तर्गत आजाएँगे किन्तु उस मृत्यु ने जो इस प्रकार के सब दम्भियों की विवशता को प्रत्यक्ष कर देती है, जल्दी ही उसको आ पकड़ा और उसकी समस्त कुटिल योजनाओं का अन्त कर दिया। वस्साफ़ के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि इस युग के निष्पक्ष इतिहास-लेखक भी बलबन की त्रुटियों तथा क्रूरताओं को खूब समझते थे और यह भी जानते थे कि इन्हीं अवगुणों से उसने न केवल तुर्कों की शक्ति को ही नष्ट किया अपितु अपने वंश को भी। ४० वर्ष वस्तुतः राज्य करने के बाद भी उसने साम्राज्य को ऐसी परिस्थिति में छोड़ा जिसमें सुख-शान्ति का नितान्त अभाव था और तुर्की दल के प्रायः नष्ट हो जाने के कारण राजसत्ता एक अन्य वंश के हाथ में चले जाने में कोई कठिनाई न हुई। उसने अपनी इस नीति से इस्लाम मत को भी कोई लाभ न पहुँचाया और न ही सर्वसाधारण की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति के लिए कोई कार्य किया।

**बलबन के समय के विद्रोह**—बलबन के शासन के अन्तिम दिनों में लखनौती के इक़्तादार तुग़रिल ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा कर दी। तुग़रिल शायद बलबन के गुलामों में से ही था। वह बड़ा महत्वाकांक्षी तथा वीर सैनिक था और बंगाल का शासक बनने के बाद उसने आस-पास के हिन्दू राज्यों पर बराबर चढ़ाइयाँ करके बहुत-सा धन तथा वैभव प्राप्त कर लिया था। इस कारण वह अपनी शक्ति पर इतना भरोसा करने लगा कि अन्त में उसने दिल्ली सुलतान को राज-कर तथा लूटमार का पाँचवाँ भाग (खम्स) भेजना बन्द कर दिया और अपना नाम सुलतान मुग़ीसुद्दीन रखकर अपने को पूर्ण स्वाधीन राजा होने की घोषणा कर दी और बड़े खुले दिल से जनता के गण्य-मान्य लोगों को बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त करके उनकी सहानुभूति अपनी ओर कर ली। उसको यह भी सन्तोष था कि बूढ़ा सुलतान बलबन अपनी अन्य समस्याओं में उलझे रहने के कारण उसका कुछ न बिगाड़ सकेगा। किन्तु इस बात में वह बलबन के चरित्र को न समझ पाया था। विद्रोह की सूचना पाते ही उसने अवध के गवर्नर अमीनखाँ को तुग़रिल का दमन करने के लिए भेजा, किन्तु गोगड़ा के तट पर तुग़रिल ने उसको पूरी तरह परास्त किया। बची-खुची सेना को लौटते समय मार्ग में अवध के हिन्दुओं ने बहुत हानि पहुँचाई। पराजित सैनिक अमीनखाँ को बलबन ने प्राणदण्ड दिया। इसी प्रकार तिरमिती नामक सैनिक के संचालन में अगले वर्ष जो सेना बलबन ने भेजी उसे भी तुग़रिल ने पूरी तरह हराया। कुछ लेखकों के अनुसार एक तीसरी सेना भी तुग़रिल से पराजित हुई। इस प्रकार निरन्तर अपनी सेना का पराभव देखकर बलबन के क्रोध का पारावार न रहा। यद्यपि वह ८० वर्ष का बूढ़ा था और मुग़लों का भय बराबर बना हुआ था तथापि उसने चौथी बार स्वयं चढ़ाई करने का निश्चय किया और यह शपथ खाई कि विद्रोही का सर काटकर लाए बिना राजधानी को वापस न लौटूँगा। अपने साथ वह अपने दूसरे बेटे बुग़राखाँ को लेता गया। दिल्ली को उसने फ़खरुद्दीन कोतवाल के संरक्षण में छोड़ा। अवध पहुँचकर उसने अपनी चारों तरफ़ से बुलाई हुई दो लाख सेना का निरीक्षण किया और फिर आगे बढ़ा। सुलतान के दृढ़ संकल्प तथा इतने भारी सैन्य बल की सूचना पाकर तुग़रिल की हिम्मत टूट गई और वह अपने कोष को इकट्ठा करके अपने साथियों सहित लखनौती को छोड़कर बंगाल के दक्षिण-पूर्व की तरफ भाग गया। शायद यह प्रदेश सुन्दर बन रहा हो क्योंकि वहाँ की भूमि नमी व दलदल से भरी हुई थी और तुग़रिल को आशा थी कि दिल्ली की सेना उस वायुमण्डल को सहन न कर सकेगी। बलबन इस बात से हताश न हुआ और बहुत तेज़ी से आगे बढ़कर उसने लखनौती पर अधिकार कर लिया। लखनौती में मलिक हुसामुद्दीन को छोड़कर और दिल्ली की सूचना लेते रहने का आदेश देकर वह तुग़रिल का पीछा करते हुए आगे बढ़ा। जब वह पूर्वी बंगाल में सुनारगाँव में पहुँचा तो वहाँ के राजा से उसने बड़ी युक्ति के साथ सहायता प्राप्त की और तुग़रिल की तलाश में आगे बढ़ा। यद्यपि वह अपने प्रयास में असफल

रहा किन्तु संयोग से उसकी सेना की एक टुकड़ी वहाँ पहुँच गई जहाँ तुग़रिल अपनी सेना के साथ पड़ा हुआ था और उसपर अकस्मात हमला करके उन्होंने तुग़रिल का सर काटकर सुलतान के पास पहुँचा दिया। इस प्रकार दैवयोग से सफल होकर बलबन लखनौती वापस लौटा और वहाँ उसने अपनी नृशंसता का नग्न रूप पूरी तरह प्रदर्शित किया। लखनौती के बाज़ार में एक छोर से दूसरे छोर तक उसने सूलिएँ गड़वा दीं और उन सबको जिन पर तनिक भी संशय तुग़रिल का साथ देने का था, उन सूलियों पर लटकवा दिया। जो लोग पहली चढ़ाई में सुलतान की सेना को छोड़कर तुग़रिल की तरफ़ चले आए थे उनको दिल्ली ले जाकर इसी प्रकार का दण्ड देने के लिए बेड़ियों में बाँधकर रखा गया किन्तु वहाँ पहुँचकर लश्कर के क़ाज़ी की याचना पर उन्हें क्षमा कर दिया गया।

वापस लौटने से पहले उसने अपने बेटे बुग़राखाँ को बंगाल का शासक नियुक्त किया और उसके सामने सूलियों पर लटकी हुई हज़ारों लाशों को दिखला कर उसे आगाह किया कि यदि तुमने विद्रोह का विचार भी किया तो तुम्हारा परिणाम भी ऐसा ही होगा। फिर उसने बुग़राखाँ को शासक के कर्तव्यों की शिक्षा दी और ३ साल राजधानी से अनुपस्थित रहने के बाद बड़े अभिमान के साथ वापस लौटा। इस समय उसका बड़ा बेटा मुहम्मद जो लाहौर, मुल्तान और दीपालपुर का शासक था, अपनी सिन्ध की चढ़ाइयों का बहुत-सा लूट का माल लेकर बाप से मिलने के लिए आया।

**उत्तर-पश्चिम की रक्षा**—अपने शासन के आरम्भ में ही बलबन ने झेलम के किनारे नमक की पहाड़ी के अन्दर बसनेवाले विद्रोही फिरकों पर चढ़ाई करके उनको पूरी तरह नष्ट करने का प्रयत्न किया था। वे लोग अक्सर सल्तनत के सीमा-वर्ती ज़िलों पर हमला करके लूटमार करते थे और मुग़लों से वे मिले हुए थे। इनको वे अपनी भूमि में से आने देते थे और उनका मार्गदर्शन भी करते थे। सुलतान महमूद के शासनकाल में यद्यपि वस्तुतः बलबन का ही शासन था, इन फिरकों के भय से लाहौर लगभग खाली कर दिया गया था अर्थात् सल्तनत की सीमा लाहौर से भी पीछे हट गई थी। यदि बलबन ने अपने स्वार्थ में अन्धा न होकर सुलतान महमूद तथा अन्य तुर्कों की सहानुभूति व सहयोग को अपने साथ बनाए रखा होता तो यह सल्तनत इतनी अवनत न होती। जो आधुनिक लेखक बलबन की नीति की सराहना करते हैं उनका मत सर्वथा निराधार प्रतीत होगा। उसकी नीति से सल्तनत की अत्यन्त हानि हुई और उत्तर-पश्चिम सीमा की रक्षा की व्यवस्था बड़ी निर्बल हो गई। अपने राजत्व काल में बलबन ने लाहौर को फिर से अधिकृत करके उसका निर्माण किया और मुल्तान व दीपालपुर के साथ उसे मिलाकर सीमा प्रान्त बनाया। इसी समय इस प्रान्त का शासन अपने बेटे मुहम्मद को सुपुर्द किया और मुग़लों का सामना करने के लिए लगभग २०,००० सेना उसके पास रखी। किन्तु मुग़लों के एक हमले के विरुद्ध लड़ते हुए राजकुमार मुहम्मद १२८५ में मारा गया। इस

घटना से बलबन का सारा किया-कराया काम नष्ट हो गया। एक लेखक ने लिखा है कि राजकुमार की मृत्यु इस कारण हुई कि वह लड़ाई से पहले ही दिन शराब के नशे में मुल्तान के संत सदरुद्दीन से लड़ बैठा था और उसको मार डालने की चेष्टा की थी।

**दास वंश की अवनति**—मुहम्मद की मृत्यु से वूढ़े बलबन को इतना दुःख हुआ कि उसका स्वास्थ्य बिलकुल खराब हो गया और वह बीमार रहने लगा। वह भलीभाँति समझता था कि उसके बाद सल्तनत की दुर्दशा हो जाएगी। इसीलिए उसने अपने दूसरे बेटे बुग़राखाँ को बुलाकर अपनी मृत्युशय्या के पास ही रखा। बुग़राखाँ सल्तनत के भार को संभालने से डरता था और भोग-विलास का सुगम जीवन व्यतीत करना चाहता था। थोड़े दिन बाद वह अपने सूबे बंगाल को चला गया। इसी बीच में सुलतान की दशा बहुत बिगड़ गई। जब उसने देखा कि बुग़राखाँ राजगद्दी पर बैठने के लिए किसी प्रकार तैयार नहीं है तो विवश होकर उसने अपने अल्पवयस्क पोते, मृत राजकुमार मुहम्मद के बेटे, कैखुसरो को अपना उत्तराधिकारी नामांकित किया। राजकुमार के अनुभवहीन तथा अल्पायु होने के कारण बलबन ने अपने विश्वस्त मित्रों से प्रार्थना की कि उसकी हर प्रकार से रक्षा तथा परामर्श आदि से सहायता करें। इस घटना के कुछ ही दिन बाद १२८७ में यह नृशंस व स्वार्थी सुलतान दिल्ली सल्तनत तथा तुर्की दल को जर्जर करके परलोक सिधारा।

**बलबन के कार्य का सिंहावलोकन**—जिया बरनी का यह कहना है कि बलबन की मृत्यु से समस्त अमीरों को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने ४० दिन तक ज़मीन पर सो कर शोक मनाया, सर्वथा कपोल-कल्पित है। सल्तनत में मिनहाज जैसे एक दो चापलूसों को छोड़कर एक भी मनुष्य ऐसा न था जो इस भयानक सुलतान के आतंक से घबराया हुआ न हो। उसका जनता का प्रिय होना सर्वथा असम्भव था। आधुनिक लेखकों का यह मत भी माननीय नहीं है कि उसने ऐबक और इल्तुत्मिश के कार्य को आगे बढ़ाया और साम्राज्य को सुदृढ़ करके उसकी शासन-व्यवस्था को समुन्नत किया तथा अराजकता व विद्रोह आदि के संकटों से सल्तनत को सुरक्षित बनाया। उसने केवल एक निजी स्वार्थ के लिए सारे जीवन भर सघर्ष किया अर्थात् राजगद्दी को अपने व अपने वंशजों की धरोहर बनाने के लिए। इस प्रकार राजसत्ता को एक ही वंश में केन्द्रित करने के प्रयास में बलबन ने इस्लामी, राजनीतिक नियमों का पूरी तरह उल्लंघन किया। कुछ आधुनिक लेखकों ने भी इतना तो स्वीकार किया है कि एक बात में बलबन ने राजनीतिक दूरदर्शिता का शोचनीय अभाव प्रदर्शित किया, अर्थात् उसने सल्तनत को पूर्ण रूप से तुर्कों की ही मिल्कियत बनाया और हिन्दुस्तानी मुसलमानों तक के प्रति, उनको नीच जाति का मानकर अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया। एक बार उसने अपने दरबारियों को अमरोहे में एक हिन्दुस्तानी मुसलमान को केवल एक

लेखक के छोटे से पद पर नियुक्त कर देने के कारण बहुत ही धिक्कारा। इस मत के सम्बन्ध में इतना ही और समझ लेना चाहिए कि उसने सल्तनत को तुर्की दल की नहीं प्रत्युत अपने वंश की पूर्णरूप से मिल्कियत बनाने का प्रयास किया। कहा जाता है कि सल्तनत की तुर्की दल की विशेष धरोहर की नीति को इल्तुत्मिश ने ही प्रचलित किया था। सम्भव है कि इल्तुत्मिश के समय में ऐसी परिस्थिति थी कि जिसके कारण सल्तनत की रक्षा का भार विशेष रूप से तुर्की दल के सहयोग से ही सम्भाला जा सकता हो। किन्तु बलबन के समय तक परिस्थिति बहुत-कुछ बदल चुकी थी और यदि वह पुरानी संकीर्ण जातिवाद की नीति को छोड़-कर हिन्दुस्तानी मुसलमानों का सहयोग भी प्राप्त करता तो मुस्लिम राजसत्ता अधिक स्थायी नींव पर आधारित हो गई होती। कारण कि हिन्दुस्तानी मुस्लिम प्रायः अपनें आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में अपने भाई-बन्द हिन्दुओं के अब भी अधिक निकट थे और दैनिक जीवन में उनका परस्पर सम्पर्क अटूट था। इस प्रकार हिन्दुस्तानी मुसलमानों को अपना-कर तुर्की सुलतान अपनी हिन्दू प्रजा के भी अधिक निकट आ सकते थे तथा उनका सहयोग प्राप्त कर सकते थे। परन्तु बलबन की नीति ने तुर्की दल को नष्ट करके एक नए सम्मिश्रित दल के शक्तिशाली बनकर आगे आने के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा कर दी। ख़ल्जी वंश के सुलतानों के राजगद्दी प्राप्त करने के समय हिन्दुस्तानी मुसलमानों को भी शासन के ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त करना तथा महत्वपूर्ण कामों का भार उनपर रखने की नीति आरम्भ की गई। इस प्रकार ख़ल्जी शासन-व्यवस्था का निर्माण केवल तुर्की अथवा किसी बाहरी बिरादरी के लोगों से ही नहीं हुआ था प्रत्युत उसमें तुर्क, अफ़गान तथा हिन्दुस्तानी सभी सम्मिलित थे।

## ऐबक, इल्तुत्मिश व बलबन के चरित्र : एक तुलनात्मक दृष्टि

दास वंश के सुलतानों में ऐबक, इल्तुत्मिश व बलबन के व्यक्तित्व राजनीतिक दृष्टि से सर्वोपरि महत्व रखते हैं। इन तीनों सुलतानों के कार्य तथा चरित्र का सविस्तार विवेचन यथास्थान किया जा चुका है। उसको दृष्टि में रखते हुए इनकी तुलना तथा उनके कार्य का मूल्यांकन सुगमता से किया जा सकता है। ऐबक का कार्य एक प्रकार से इन सबमें बहुमूल्य था क्योंकि उसको अत्यन्त विपरीत परिस्थिति का मुकाबला करते हुए एक सर्वथा अजनबी देश में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करके उसको सुदृढ़ बनाना पड़ा। इस कार्य में ऐबक ने यथोचित सफलता प्राप्त की और वह एक सुनिश्चित साम्राज्य की धरोहर अपने उत्तराधिकारियों को दे गया, जिसकी नींव उसके अयोग्य बेटे आरामशाह के राज्यकाल में भी न हिली। जैसा हम देख चुके हैं, राजनीति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी ऐबक ने सराहनीय कार्य किए और

के कर्त्तव्य समझे जाते थे अर्थात् मूर्तिपूजकों के देवालयों आदि को यथासम्भव नष्ट-भ्रष्ट करना।

ऐबक के मुकाबले पर इल्तुत्मिश का कार्य एक दृष्टि से अधिक जटिल था। ऐबक ने देश को जीतकर तलवार के बल पर एक राजसत्ता क़ायम कर दी थी। परन्तु उसको सुव्यवस्थित करने, उसकी शासन-संस्थाओं में फिर से जीवन-संचार करने का रचनात्मक कार्य विजय के ध्वंसात्मक कार्य से अधिक कठिन था। जैसा कि उसके चरित्र के विवरण में बतला चुके हैं। इल्तुत्मिश ने इस कार्य को यथोचित चतुराई व दूरदर्शिता के साथ सम्पन्न किया और जहाँ तक उसके ऐतिहासिक आधारों से पता चलता है, उसने इस कार्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। इल्तुत्मिश ने तुर्की सत्ता की नींव को मज़बूत करने के लिए विजेता तुर्की दल को सुसंगठित किया। इसमें उसका उद्देश्य यह था कि समस्त तुर्क, जिनकी संख्या उसकी हिन्दुस्तानी प्रजा के मुक़ाबले में बहुत ही थोड़ी थी, एकता के सूत्र में बँधे रहें और तुर्की सत्ता को परस्पर के वैमनस्य व प्रतिस्पर्धा के कारण दुर्बल न होने दें। इल्तुत्मिश ने कभी यह प्रयत्न नहीं किया कि व अन्य सब तुर्कों को नष्ट करके केवल अपने वंशजों के लिए सल्तनत को चिरस्थायी बना दे। हम देख चुके हैं कि इल्तुत्मिश अपनी दैनिक नीति में भी निरर्थक असहिष्णुता का प्रदर्शन नहीं करता था। उसका निजी जीवन गहरे धार्मिक रंग में रंगा हुआ था। सूफियों व दरवेशों की संगति में उसका काफ़ी समय बीतता था। तथापि मुसलमान होने के नाते हिन्दू देवस्थानों का नष्ट करना तो उसको भी प्रिय था। उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस साम्राज्य की नींव ऐबक ने बड़ी योग्यता के साथ रखी थी उसके भवन को सुचारु रूप से खड़ा करने में इल्तुत्मिश ने भी उतनी ही योग्यता से कार्य किया और उसमें वह बहुत सफल भी हुआ।

किन्तु तुर्की दल को एकता के सूत्र में बाँधने का इल्तुत्मिश का स्वप्न पूरा न हुआ। उसके मरते ही दो परस्पर-विरोधी दल मुख्य-मुख्य तुर्कों के बन गए। प्रत्येक का यह प्रयत्न था कि यदि राजसिंहासन नहीं तो कम-से-कम राजसत्ता के ऊपर उसका पूरा-पूरा नियंत्रण व प्रभाव स्थापित हो जाय, अर्थात् शासन की वास्तविक शक्ति उसके हाथ में रहे। इन दलों के संघर्ष ने तुर्की सल्तनत के अन्दर एक अत्यन्त संकटमय परिस्थिति को जन्म दिया जिसकी आँधी में इल्तुत्मिश के कई नवयुवक वंशज विलीन हो गए। बलबन अपने संकीर्ण स्वार्थ से अन्धा हो जाने के कारण सल्तनत के इस संकट को न समझ पाया। केवल पाशविक बल व नृशंसता की नीति को राजसत्ता का पूर्ण आधार मानकर उसने इल्तुत्मिश के रचनात्मक कार्य को और अधिक सुदृढ़ करने के विपरीत उसको नष्ट कर डाला। तुर्कीवर्ग को अपने चातुर्य से एकता-सूत्र में बाँधने के स्थान पर उनके समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया और बहुतों को नष्ट कर भी डाला। साथ ही प्रजा के प्रति भी उसने मानुषिक अथवा रचनात्मक कार्य करने का विचार तक नहीं किया। सीमान्त रक्षा-नीति को भी बलबन की तुर्क-विरोधी नीति से बहुत धक्का लगा और इसी कारण

सल्तनत की शक्ति व सत्ता खल्जी वंश के हाथों में चली गई। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐबक व इल्तुतमिश आदि अपने पूर्वजों के रचनात्मक कार्य को सर्वथा नष्ट कर देने का श्रेय बलबन को प्राप्त हुआ। जिन आधुनिक लेखकों ने मिनहाज के पक्षपातपूर्ण विवरण को बिना सोचे-समझे नक़ल करके बलबन को बड़ा योग्य तथा सबसे महान शासक बतलाया है, पर उनका यह मत नितान्त निराधार है। ऐबक व इल्तुतमिश हर प्रकार से बलबन से कहीं अधिक महान व योग्य थे।

**दास वंश का अन्त : कैकुबाद व कैखुसरू का राज्य**—बलबन के मरते ही बचे-खुचे तुर्की अमीरों ने उसकी अन्तिम प्रार्थना को ठुकरा करके खुसरो को मुल्तान का शासक बनाकर भेज दिया जहाँ उसका पिता मुहम्मद अपने मरने से पहले नियुक्त किया गया था। इन तुर्कों में दिल्ली का कोतवाल फ़खरुद्दीन बहुत प्रभावशाली था और कदाचित राजकुमार मुहम्मद से उसका वैमनस्य था। जिन तुर्की अमीरों ने इस शासन का विरोध किया उनको उसने बंदी करके देश से बाहर भिजवा दिया और बुग़राखाँ के बेटे कैकुबाद को सुलतान मुइज़ुद्दीन के नाम से गद्दी पर बिठलाया।

मुइज़ुद्दीन इस समय १८ वर्ष का नवयुवक था और अपने दादा बलबन के नियंत्रण में उसका लालन-पालन तथा शिक्षा हुई थी। और उसको बड़े कठोर संयम में रहना पड़ा था। राजगद्दी पर बैठने से एकाएक उसको इतनी स्वाधीनता तथा शक्ति व अधिकार प्राप्त हो गए कि जिनकी वह स्वप्न में भी आशा न कर सकता था। अपनी युवावस्था की उमंगें व तृष्णाएँ पूरी करने के लिए अब उसे कोई कमी न थी और कोई रोकनेवाला न था। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में उसका दरबार मसख़रों, गायकों व नाचनेवालों आदि से भर गया और हर प्रकार के विलासी मनुष्य उसके हर समय के साथी बन गए। बरनी ने लिखा है कि नर्तकियाँ देश के चारों कोनों से दिल्ली आने लगीं और शहर के बाज़ारों में शराब आदि की बिक्री बहुत बढ़ गई। कैकुबाद ने किलोखरी के स्थान पर अपने लिए एक नया महल जमुना के किनारे बनवाया। दरबारियों को भी अपने-अपने महल नहीं बनवाने पड़े। कुछ ही दिनों में उस स्थान पर एक नया नगर उस जगह पर जगमगाने लगा। बरनी के इस कथन में बहुत-कुछ सत्य जान पड़ता है कि कैकुबाद के तीन वर्ष के शासन-काल में लोगों को आनन्द-मंगल मनाने तथा भोग-विलास के नए-नए तरीक़े निकालने के सिवा और कोई काम न था।

सुलतान के इस प्रकार के जीवन का अनिवार्य परिणाम जो होना था सो हुआ। कुटिल व कपटी दरबारियों ने इस अवसर से अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दलबंदी शुरू की। कैकुबाद ने गद्दी पर बैठकर मंत्रिमंडल का निर्माण इस प्रकार किया था : वज़ीर हसन बसरी जिसको कोतवाल फ़खरुद्दीन ने कैकुबाद के विरुद्ध होने के कारण निकाल भगाया था, के स्थान पर ख्वाज़ा खतीर नायब वज़ीर को वज़ीर के पद पर नियुक्त किया। अन्य तुर्की अमीरों को अमीरे हाज़िबेदर, सरे

जानदार व नायबे वकीलेदर आदि के ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया गया। इनमें सबसे महत्वाकांक्षी व कुटिल फ़ख़रुद्दीन कोतवाल का दामाद मलिक निज़ामुद्दीन था जिसको राजधानी का दादबक अर्थात् न्यायाधीश नियुक्त किया गया। निज़ामुद्दीन ने तुरन्त सुलतान के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध बना लिया और उसका सबसे बड़ा विश्वासपात्र बन गया और यद्यपि वह केवल न्याय-विभाग में ही था, बहुत ही जल्दी उसने अपना प्रभाव इतना बढ़ा लिया कि वस्तुतः नायबे ममलिकत का कार्य करने लगा और राज्य के सब विभागों पर उसका नियंत्रण हो गया। बरनी के अनुसार निज़ामुद्दीन बड़ा तीव्रबुद्धि तथा योग्य शासक था और कैकुबाद के राजत्वकाल में उसीने राज-व्यवस्था को क़ायम रखा और सुलतान के हरम अर्थात् रनिवास का प्रबन्ध अपनी स्त्री के द्वारा करवाया। उसका श्वसुर फ़ख़रुद्दीन कोतवाल इतना प्रभावशाली था कि सब दरबारी इन दोनों की चापलूसी करने में ही अपनी भलाई समझते थे।

**निज़ामुद्दीन का सुलतान बनने का प्रयत्न**—जिस प्रकार पहले भी इख़्तियार-उद्दीन ऐतिगीन व इज्ज़ुद्दीन बलबन ने सुल्तान बनने की कोशिश की थी, उसी प्रकार दादबक निज़ामुद्दीन ने अपने अद्वितीय प्रभाव व प्राबल्य से लाभ उठाकर सुलतान बनने का निर्णय कर लिया। उसके श्वसुर फ़ख़रुद्दीन कोतवाल ने उसको यह समझाया कि वह ऐसा दुस्साहस न करे क्योंकि वह बादशाही खानदान का नहीं है। बरनी भी उसकी इस चेष्टा की निन्दा करता है और खेद प्रकट करता है कि इतने योग्य राज-मन्त्री को ऐसा दुर्विचार उत्पन्न हुआ। किन्तु वास्तविक रूप से देखा जाय तो निज़ामुद्दीन की यह चेष्टा वैधानिक रूप से किसी प्रकार भी अनुचित नहीं थी। दिल्ली सल्तनत की गद्दी किसी राजवंश की परम्परागत अथवा विधानतः धरोहर नहीं बन गई थी। उसके मूल में कोई सिद्धान्त अथवा नियम नहीं था। इस्लामी विधान यदि कोई था भी तो उसकी तुर्की सुलतान सर्वथा अवहेलना करते थे। उनके राज्यारोहण सर्वथा इस्लामी विधान के विपरीत होते थे। अतएव तलवार अथवा दलबंदी व कुटिल नीति की शक्ति ही राजसिंहासन प्राप्त करने का नियम अथवा साधन तुर्की सल्तनत में प्रचलित हो गया था। इस दृष्टि से निज़ामुद्दीन के प्रयास को अनुचित व अवैधानिक नहीं कहा जा सकता। निज़ामुद्दीन ने फ़ख़रुद्दीन की सलाह की परवाह न करके अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दत्तचित्त होकर कार्य करना शुरू कर दिया। उसने धीरे-धीरे अपने समस्त विरोधियों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया। कैख़ुसरो जिसको कि मुल्तान भेज दिया गया था, उसके रास्ते में बाधक हो सकता था। उसको मुल्तान से कैकुबाद की आज्ञानुसार बुलवाया गया और जब वह रोहतक पहुँचा तो उसका वध कर दिया गया। वज़ीर ख़्वाजा ख़तीर का भी, जिसे अपने पद से हटा दिया गया था, और भी निरादर किया गया। अमीरे हाजिब व सरे जानदार आदि उच्च पदों पर उसने अपने विश्वसनीय लोगों को नियुक्त किया और पुराने प्रभावशाली तुर्कों को अलग कर दिया। बरनी के अनुसार सुलतान कैकुबाद इस प्रकार निज़ामुद्दीन की बीवी

के प्रभाव में इतना जकड़ गया कि सर्वसाधारण में खुले आम राजवंश के बदल जाने की चर्चा होने लगी।

**निज़ामुद्दीन की असफलता व बुग़राखाँ और कैकुबाद की मुलाकात**—निज़ामुद्दीन ने राजसिंहासन पर कब्ज़ा कर लेने की पूरी तैयारी कर ली थी किन्तु भाग्य ने उसका साथ न दिया। युवक सुलतान के बाप बंगाल के शासक बुग़राखाँ को जब यह पता चला कि कैकुबाद भोग-विलास में डूबा हुआ है और वज़ीर इसका लाभ उठाना चाहता है तो उसने कैकुबाद से सरयू नदी के किनारे मुलाक़ात की और उसे बहुत समझाया तथा सचेत किया। उस समय तो वह बड़ा प्रभावित हुआ, परन्तु राजधानी लौटते ही फिर सब भूल गया और भोग-विलास में निमग्न हो गया।

निज़ामुद्दीन का प्रयास अब भी जारी था। वह बलबन की नीति का अनुकरण करके तुर्की सरदारों को नष्ट करता जा रहा था। अब कैकुबाद को एकाएक अपने पिता का परामर्श याद आया और उसने निज़ामुद्दीन को अपने से दूर करने के विचार से मुल्तान चले जाने की आज्ञा दी। निज़ामुद्दीन इस आज्ञा का पालन करने में आनाकानी करने लगा। इस अवसर से लाभ उठाकर उसके शत्रुओं ने उसे ज़हर दिलवाकर मार डाला। निज़ामुद्दीन की मृत्यु से कैकुबाद की एक शकर से तो छुट्टी हुई किन्तु साथ ही कोई योग्य राजनीतिज्ञ व शासक उसके पास न रह गया। न ही उसने अपने पिता की भली सलाह को याद रखा। वह मदिरा-पान तथा भोग-विलास इतना अधिक करने लगा कि उसे अर्धांग मार गया। उसकी इस दयनीय एवं निःशक्त अवस्था में रहे-सहे तुर्क सरदार आकर शासन-संचालन का प्रयत्न करने लगे। मलिक ऐतिमर व मलिक सुरखा अमीरे हाजिब व बारबक बन गए। तुज़की के स्थान पर कैकुबाद ने सामाना के सैनिक शासक मलिक फ़ीरोज़ खल्जी को सेनापति नियुक्त किया। फ़ीरोज़ एक वृद्ध तथा अनुभवी सैनिक था और अपनी जाति के सैनिकों पर उसका बड़ा प्रभाव था। खल्जियों की काफ़ी बड़ी संख्या सल्तनत के विभिन्न स्थानों पर जमी हुई थी। परन्तु तुर्की दल के नेता लोग उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने उसको पदच्युत करवाने का यत्न किया। उन्होंने सब खल्जी सरदारों को क़त्ल करने की तैयारी की। यह देखकर कि सुलतान कैकुबाद के रोगी होने के कारण उससे वे अपने कार्य को पूरा न करा सकते थे, उन्होंने सुलतान को गद्दी से ज़बरदस्ती उतारकर उसके तीनसाला शिशु-पुत्र कैकाऊस को महल से लाकर शम्सुद्दीन के खिताब से गद्दी पर बिठला दिया और अपने दल में से एक को उसका संरक्षक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार सारी शक्ति अपने हाथ में लेकर उन लोगों ने अपनी उस योजना को दरबार से स्वीकृत करा लिया। सुरखा ने फ़ीरोज खल्जी को क़त्ल करने का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया किन्तु फ़ीरोज़ के एक सम्बन्धी अहमद चप ने उसे इस षड्यन्त्र की खबर दे दी। फ़ीरोज ने तुरन्त राजधानी से थोड़ी दूर ग़यासपुर जाकर इस संकट से अपनी रक्षा करने के लिए अपने सब साथियों को एकत्रित कर लिया। ग़यासपुर पहुँचने के अगले ही दिन बालक सुलतान के दरबार से उसके पास तुरन्त

हाज़िर होने का फ़रमान पहुँचा। वह इस चाल को समझ गया और जाने में उसने देर कर दी। इतने में कच्छन स्वयं एक और अविलम्ब आज्ञा लेकर पहुँच गया। फ़ीरोज़ उस समय कन्नौज की सेना का निरीक्षण कर रहा था। उसने कच्छन से प्रार्थना की कि उसे वह कार्य समाप्त कर लेने दे। कच्छन को तनिक भी संशय न था कि फ़ीरोज़ उसके वास्तविक मन्तव्य को जानता है। अतएव वह अपने डेरे में पहुँचकर आराम करने लगा। ज्योंही फ़ीरोज़ ने उसको निःशंक आराम करते देखा, उसने अपने एक सैनिक द्वारा उसका सर कटवा डाला। इस घटना ने छिपे रहस्य का परदा फ़ाश कर दिया और दोनों दल संघर्ष के लिए तैयार हो गए। फ़ीरोज़ ने राजधानी पर धावा बोल दिया और तुर्कों को परास्त व नष्ट करके बालक सुलतान को अपने संरक्षण में ले लिया और उसकी तरफ़ से शासन करने लगा। जब तुर्कों के सब अमीर मारे गए तब फ़ीरोज़ किलोखरी के राजमहल में गया और बालक सुलतान को कारागार में डालकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। सुलतान थोड़े दिन बाद कारागार में ही मर गया।

मलिक छज्जू को उसने नायबे ममलिकत बनाया किन्तु मलिक छज्जू ने जो बलबन का भतीजा था, ख़ल्जियों के द्वारा कोई पद प्राप्त करने में अपनी मानहानि समझी और कड़ा-मानिकपुर का शासक रहना ही पसन्द किया। फ़ख़रुद्दीन कोतवाल ने भी, जो पद उसको दिया गया, स्वीकार न किया। अतएव विवश होकर फ़ीरोज़ को स्वयं राजप्रतिनिधि बनना पड़ा। इसी समय कैकुबाद का अन्त अत्यन्त शोचनीय अवस्था में हुआ। जिस समय वह भूखा-प्यासा अपने बिस्तर पर निश्चेष्ट पड़ा हुआ था, एक ख़ल्जी सिपाही उसके कमरे में घुस गया और उसको उसी के बिस्तरे में लपेटकर ठोकर मारकर जमुना में फेंक दिया। कहना न होगा कि बलबन के नृशंस और क्रूर कृत्यों का फल उसकी सन्तान को भोगना पड़ा।

इस प्रकार दास वंश की सल्तनत का अन्त हुआ और फ़ीरोज़ ख़ल्जी ने सुलतान जलालुद्दीन फ़ीरोज़ के नाम से १२९० के मार्च महीने में किलोखरी के राजमहल के अन्दर अपने को बादशाह घोषित किया। फ़ीरोज़ ख़ल्जी को किसी प्रकार से राज्य-अपहरण करनेवाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, तुर्की सल्तनत में उत्तराधिकार का कोई नियम अथवा परम्परा स्थायी रूप से प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। किन्तु दिल्ली में अब भी तुर्की दल के काफ़ी प्रभावशाली मनुष्य मौजूद थे, अतएव फ़ीरोज़ को बहुत सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता पड़ी। उनके विरोध के कारण वह कुछ दिन तक किलोखरी में ही ठहरा रहा और जब उसके शील स्वभाव से प्रभावित होकर तुर्की तथा अन्य विरोधी दल के लोग ख़ल्जी सुलतान के अधिकार को स्वीकार करने पर उद्यत हो गए तब कोतवाल फ़ख़रुद्दीन, जो अब तक जीवित था, के आमंत्रित करने पर फ़ीरोज़ दिल्ली पहुँचकर सिंहासन आरूढ़ हुआ। इस घटना से तुर्की दल का आतंक सदा के लिए विलीन हो गया।

# चौथा प्रकरण

# सल्तनत का चरमोत्कर्ष : खल्जी वंश

## (१२६०-१३२० तक)

नौ

## दक्षिण भारत के हिन्दू राज्य

**खल्जी** राज्य की स्थापना : राजनीतिक क्रान्ति—खल्जी वंश की सत्ता स्थापित होने से दिल्ली साम्राज्य में राजनीतिक तथा वंशीय क्रान्ति हो गई। यद्यपि खल्जी लोग तुर्क जाति के ही थे किन्तु वे बहुत काल से अफ़गानों के देश में रहने के कारण अफ़ग़ान ही समझे जाते थे और तुर्क लोग उनको भी अपने से बहुत नीचा मानते थे। शायद अफ़ग़ान देश में रहने के कारण उनके व्यवहार में कुछ उस प्रकार की बातें भी आ गई हों। इसके अतिरिक्त खल्जी जाति के लोगों के भाव, जो तुर्कों के आधिपत्य में सरकारी नौकरियाँ करते चले आए थे, हिन्दुस्तानियों के प्रति वैसे न थे जैसे तुर्कों के थे। इसके प्रतिकूल खल्जियों को तुर्कों पर विश्वास न था। इसीलिए तुर्की दल के विरुद्ध जलालुद्दीन खल्जी को बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ा और उसके लिए आवश्यक हो गया कि तुर्कों के रहे-सहे बल को नष्ट करे। ऊपर कहा जा चुका है कि तुर्की दल के मुख्य नेता कच्छन और सुरखा का वध करने के बाद ही जलालुद्दीन फ़ीरोज़ सुरक्षित रूप से दिल्ली के सिंहासन पर बैठ सका। फ़ीरोज़ के दरबार में मौलिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था क्योंकि तुर्की वंश को तो बलबन ने प्रायः नष्ट कर दिया था और खल्जी लोग हिन्दुस्तानियों से काफ़ी मिल-जुल गए थे। इसके अतिरिक्त उच्च पदाधिकारियों व सैनिकों में शुद्ध तुर्क वंश का अभिमान रखनेवाले शायद ही कोई बचे हों। अतएव खल्जी सत्ता के साथ-साथ खल्जी व हिन्दुस्तानी मुसलमान सैनिकों का प्रभुत्व प्रतिष्ठित हुआ। इस दृष्टि से खल्जी शासनमंडल तुर्कों की तरह विदेशी शासनमण्डल नहीं था प्रत्युत हिन्दुस्तानी अथवा देशी शासनमण्डल था। इससे ऐसा समझ लेना कि शासनमण्डल की आन्तरिक रचना में परिवर्तन हो जाने से सर्वसामान्य की दशा किसी प्रकार सुधरी हो अथवा प्रजा के प्रति राजा व शासन की नीति में कुछ परिवर्तन हुआ हो, बड़ी भूल होगी।

प्रजा के प्रति राज्य के आदर्श व उद्देश्य तथा शासन के सिद्धान्त ठीक वैसे ही बने रहे और यदि उनमें नवीन परिस्थिति के अनुसार कोई परिवर्तन सुलतान को करना पड़ा भी तो वह केवल शासन की नीति को और अधिक कठोर तथा निरंकुश बनाने का ही था। अलाउद्दीन खल्जी का पूरा शासन उपर्युक्त कथन का जीता-जागता उदाहरण है जिसकी चर्चा आगे चलकर की जाएगी।

**जलालुद्दीन फ़ीरोजशाह खल्जी (१२९०-१२९६)**—१२९० के जून मास में सुलतान जलालुद्दीन फ़ीरोज़शाह खल्जी की उपाधि धारण करके जलालुद्दीन फ़ीरोज किलोखरी के राजमहल के अन्दर मुइज़ुद्दीन के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। राजमहल को उसने हर प्रकार से सुसज्जित व अलंकृत किया और एक विशाल उपवन जमुना के किनारे लगवाया। राजधानी के अमीरों ने सुलतान की आज्ञा के अनुसार बड़े-बड़े भवन बनवाए और नए-नए बाजार भी वहाँ पर बहुत जल्दी बन गए। सुलतान ने साम्राज्य की नवीन व्यवस्था करने के लिए एक बड़ा भारी दरबार किया और उपर्युक्त राजनीतिक क्रान्ति के समय जिन-जिन लोगों ने उसका साथ दिया था उनको समुचित इनाम-इकराम दिए। अपने तीनों बेटों को क्रमशः खानखाना, अरकलीखाँ तथा क़द्रखाँ के खिताबों से अलंकृत किया और जागीरें दीं। अपने चचा मलिक हुसैन को ताजुल्मुल्क का खिताब दिया तथा अपने दो भतीजों—अलाउद्दीन व मुइज़ुद्दीन अल्मासबेग को क्रमशः अमीरे तुज़क व आखोरबेग नियुक्त किया। मलिक खामोश को आरिज़े ममालिक (युद्ध मन्त्री) नियुक्त किया और युगरीशखाँ का खिताब दिया। ख्वाज़ा खतीर को फिर से वज़ीर के ओहदे पर बहाल किया। बूढ़ा मलिक-उल-उमरा फ़खरुद्दीन दिल्ली का कोतवाल बना रहा। मलिक अहमद चप नायब बारबक बनाया गया। मलिक खुर्रम वकीलेदर और मलिक नासिरुद्दीन गोहरामी हाजिबे खास नियुक्त हुए। दादबक का पद मलिक फ़खरुद्दीन कूची को दिया गया। इसके अतिरिक्त अमीरे शिकार, शहनाए पील, आखोरबेगी आदि विभिन्न बड़े-बड़े पद अन्य अमीरों को प्रदान किए गए। इस प्रकार केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सुव्यवस्था करने से जलालुद्दीन ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाया और अपने विनम्र तथा कृपालु व्यवहार से सब लोगों के हृदय में अपने प्रति श्रद्धा तथा विश्वास के भाव बहुत ही जल्दी पैदा कर लिए। किलोखरी की राजधानी फिर से बड़ी शानदार बन गई और दिल्ली के लोगों ने भी शनैः शनैः फ़ीरोज़ को सुलतान अंगीकर कर लिया।

इस प्रकार किलोखरी में अपनी स्थिति को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करके जलालुद्दीन फ़ीरोज़ एक दिन घोड़े पर सवार होकर दिल्ली गया और बलबन के कुश्के सुर्ख में प्रवेश करके जब वह उसके सिंहासन के सामने पहुँचा तो अपने स्वामी बलबन के परिवार के विनाश की याद करके खूब रोया। उसके सम्बन्धी मलिक अहमद चप ने उसकी इस निर्बलता पर भर्त्सना की और उसे कहा कि अब तो तुम सुलतान हो, तुम्हें इस प्रकार की निर्बलता का प्रदर्शन करना उचित नहीं है तो फ़ीरोज़ ने उत्तर दिया, "तुम जानते हो कि मेरे पूर्वजों में से कोई सुलतान नहीं था

और यह सिंहासन मेरे स्वामी बलबन का है अतएव उस पर आरूढ़ होना मुझको अच्छा नहीं लगता ।" यह कहकर वह सिंहासन पर न बैठकर, अन्य उपस्थित अमीरों के बीच में ही बैठ गया और फूट-फूटकर रोया। इस दृश्य से सब उपस्थित लोगों के हृदय में जलालुद्दीन की सहृदयता तथा उदारता के लिए श्रद्धा उत्पन्न हुई किन्तु बहुतों ने यह भी कहा कि साम्राज्य के किसी शासक को इतना कातर भाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिए। वास्तविक बात यह थी कि वृद्धावस्था के कारण जलालुदीन का हृदय अत्यन्त कोमल व करुण हो गया था। अतएव ज़िया बरनी के अनुसार वह किसी अपराधी को दण्ड देने से भी हिचकता था। यदि कोई अमीर या दरबारी अपराध या विद्रोह करता तो वह सबको बुलाकर उनके सामने खूब रोता और फिर उनकी मदिरा आदि से आवभगत करके उनको खुश करता। एक बार जब बहुत से लुटेरे व डाकू पकड़कर लाए गए तो उसने उनको केवल दूर देश में भेजकर छुड़वा दिया। फिर उसने दो अमीरों को, जिन्होंने उसके सुलतान बनने से पहले उससे दुर्व्यवहार किया था, न केवल क्षमा कर दिया अपितु उन्हें बहुत कुछ पारितोषक दिया। इसी प्रकार उसने अनेक बार ऐसे कार्य किए जो उसके उच्च पद को शोभा न देते थे तथा नीति के विरुद्ध थे। बरनी के अनुसार वह राजसत्ता को एक प्रकार का छल और उसके वैभव को क्षणभंगुर समझता था। सल्तनत के जंजाल से बचने के लिए एक मलिक के पद पर रहकर ही वह अधिक सुखी होता। इस प्रकार के भावों से प्रेरित होने के कारण सल्तनत के उच्चतम पद पर आसीन होकर भी उसके अन्दर अहंकार नहीं आया था। वह सबके प्रति अत्यन्त क्षमा-शीलता तथा प्रीति के भाव रखता था और अपने दरबारियों से मित्रवत् व्यवहार करता था। इस अनोखे बरताव के कारण बहुत से लोग उस पर हँसते थे। किन्तु इससे भी अधिक भयानक परिणाम उसकी दयालु नीति का यह हुआ कि राजद्रोही योजनाएँ अपना सर उठाने लगीं। इतनी नम्र व दयालु प्रवृत्ति का होने पर भी यह सुलतान हिन्दू बलवाइयों तथा अन्य विद्रोहियों के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार करने में न हिचकता था।

**मलिक छज्जू का विद्रोह**—जलालुद्दीन के तख़्त पर बैठने के दो-तीन महीने बाद ही बलबन के सम्बन्धी मलिक छज्जू कुश्लीख़ाँ ने, जो कड़ा का शासक था, विद्रोह कर दिया और राजगद्दी को छीनने की तैयारी की। अवध का शासक अमीर-अली, सरे जानदार, और कई खल्जी अमीर भी उससे जा मिले क्योंकि कुछ लोग अब भी बलबन का सम्बन्धी होने के नाते मलिक छज्जू को राजगद्दी का अधिकारी मानते थे। ऐसी आशातीत परिस्थिति से प्रोत्साहित होकर मलिक छज्जू ने अपने को मुग़ीसुद्दीन की उपाधि के साथ सुलतान घोषित कर दिया और अपने सिक्के चला दिए तथा खुतबे में अपना नाम पढ़वाया और एक बड़ी सेना एकत्रित करके दिल्ली पर धावा बोल दिया। इस भयानक संकट से जलालुद्दीन की आँखें खुलीं। उसने राजधानी को अपने बड़े बेटे ख़ानख़ाना के सुपुर्द किया और स्वयं विद्रोह को दबाने

के लिए सेना लेकर अपने दूसरे बेटे अरकलीखाँ के साथ आगे बढ़ा। अरकलीखाँ बड़ा वीर तथा दक्ष सेनानी था। उसने मलिक छज्जू को दो-बार पूरी तरह पराजित किया। उसकी सेना तितर बितर हो गई और अन्त में मलिक छज्जू पकड़ा गया। लौटते समय अरकलीखाँ ने कोयल (अलीगढ़) के राजा बैरमदेव को, जिसने मलिक छज्जू की सहायता की थी, क़त्ल किया। जलालुद्दीन ने गंगा को पार करके कटेहर (रुहेलखण्ड) के बलवाई हिन्दुओं को अत्यन्त क्रूरता के साथ नष्ट किया। वापसी में बदायूँ के स्थान पर अरकलीखाँ और सुलतान मिले। अपने बेटे की महत्वपूर्ण विजय से प्रसन्न होकर सुलतान ने उसको मुल्तान का शासक नियुक्त किया। वहीं पर उसने बाग़ियों को दण्ड देने के लिए दरबार किया किन्तु जब उसने मलिक छज्जू, मलिक अमीरअली सर जानदार तथा अन्य कई मलिकों को बेड़ियाँ पहने हुए दरबार में आते देखा तो वह काँप गया। उसने तुरन्त उनकी बेड़ियाँ खुलवा दीं और स्वयं स्नान करके नए वस्त्र धारण किए। इस अत्यन्त उदार तथा दयापूर्ण व्यवहार से विरोधियों के सर लज्जा से झुक गए। किन्तु इस पर जलालुद्दीन ने अत्यन्त नीति-विरुद्ध कार्य किया। उसने विद्रोहियों को सान्त्वना दी और यह कहा कि उन्होंने पहले राजवंश के एक मनुष्य की सहायता करके कोई बुराई नहीं की किन्तु उचित ही कार्य किया है। यह कहकर उसने उनका प्रतिष्ठित अतिथियों के समान आदर किया। सुलतान के इस विचित्र कार्य से उसके दरबारी अत्यन्त चकित हुए और अहमद चप ने एक बार फिर उसे सावधान किया कि उसका व्यवहार सुचारु शासन के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत था। उससे अन्य लोगों को भी विद्रोह करने का प्रोत्साहन मिलेगा। किन्तु बूढ़े सुलतान ने उत्तर दिया, 'मैं जानता हूँ कि पहले राजा विद्रोहियों के साथ किस प्रकार बरताव करते थे। किन्तु मैं एक बूढ़ा मुसलमान हूँ और अपने मुसलमान भाइयों का ख़ून बहाना नहीं चाहता।" मलिक छज्जू को उसने मुल्तान भेज दिया और उसके आराम से रहन-सहन का सब-कुछ प्रबन्ध किया और कड़ा का शासक अलाउद्दीन को बनाया। यह सब व्यवस्था करके सुलतान राजधानी लौटा।

**जलालुद्दीन फ़ीरोज़ की शासन-नीति तथा घटनाएँ**—जलालुद्दीन यथासम्भव किसी को दुख देना नहीं चाहता था। चोरों, डाकुओं तक को वह उनसे यह वचन लेकर कि वे फिर ऐसा न करेंगे, क्षमा कर देता था। और कभी-कभी उनको नावों द्वारा बंगाल भिजवा देता था ताकि दिल्ली की जनता उनके आतंक से बच जाए। उसकी इस नीति का परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े अमीरों को एक बार फिर उससे राजगद्दी छीन लेने का उत्साह हुआ और एक मधुशाला में इन लोगों ने निश्चय किया कि सुलतान को क़त्ल करके मलिक ताजुद्दीन कूची को सुलतान बना दिया जाए। जलालुद्दीन को जब इस बात की सूचना मिली तो उसने उन सबको बुला भेजा और अपनी तलवार उनके सामने फेंककर बोला कि यदि किसी की हिम्मत हो तो उस तलवार को उठाकर उसके सामने आए। सुलतान के इस व्यवहार से वे

सब किंकर्त्तव्यविमूढ़ रह गए और उनमें से एक ने कहा कि ऐसे पितृवत् सुलतान के विरुद्ध वे कैसे ऐसी दुष्टता का विचार कर सकते थे। इस बात से जलालुद्दीन का क्रोध शान्त हो गया और उसने उन सबको क्षमा कर दिया।

**सीदी मौला का षड्यंत्र**—इसी समय सुलतान के विरुद्ध पूरे सुसंगठित रूप से एक षड्यन्त्र तैयार किया गया। इसका नेता फ़ारस का एक दरवेश सीदी मौला नामक था जो पहले फ़रीदुद्दीन गंजेशकर के मठ में रहा था। वह दिल्ली आकर एक स्थान पर अत्यन्त संयम तथा सादगी का जीवन व्यतीत करता था और यद्यपि उसकी आय का कोई स्रोत किसी को मालूम न था, वह अपने मठ में बड़ी उदारता से व्यय करता था। हज़ारों आदमी प्रतिदिन उसके लंगर में भोजन करते थे। समकालीन इतिहासों से पता चलता है कि ३०० मन चीनी, १००-२०० मन सब्ज़ी तथा हज़ारों मन आटा व मांस रोज़ उसके यहाँ खर्च होता था। किन्तु किसी को यह पता न था कि इतना धन उसके पास कहाँ से आता था। इसके अतिरिक्त उसकी मित्रता बड़े-बड़े अमीरों से थी। वह बलबन के राजत्व काल में दिल्ली आया था परन्तु उस समय उसके लिए खुले तौर पर इतना व्यय करना सम्भव न था। बलबन के मरते ही मुइज़ुद्दीन की निर्बलता के कारण सीदी मौला ने बहुत से लोगों को आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। इनमें गरीब, अमीर, श्रेष्ठ व सामान्य कोटि के मनुष्य सभी उसकी सेवा-भक्ति करने आते थे। जलालुद्दीन का बड़ा बेटा खानखाना भी उसका चेला बन गया था और इस प्रकार अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि सीदी मौला के मठ का बहुत कुछ व्यय वही संभालता था। खल्जियों के विरोधी तुर्की अमीर भी उसके मठ में आने लगे। यहाँ तक कि बहुत ही जल्दी उसके अनुयायियों की संख्या १०,००० हो गई तथा अन्य कई उच्च पदाधिकारी भी सीदी मौला के कुटिल प्रपंच में सम्मिलित हो गए। एक दिन इन सबने मिलकर निश्चय किया कि खुल्लमखुल्ला बलवा करके जामा-मस्जिद में नमाज़ के समय जलालुद्दीन का वध कर दिया जाय। और सीदी को खलीफ़ा घोषित कर दिया जाय। यह भी निश्चय किया गया कि बलबन के वंशजों को फिर से जागीरें दी जाएँ और उच्च पदों पर नियुक्त किया जाय। परन्तु श्रोताओं में से एक ने जाकर सुलतान को इसकी सूचना दे दी। **इस अवसर पर जलालुद्दीन ने अपनी सामान्य निर्बलता का परिचय न दिया।** समस्त षड्यंत्री पकड़कर बेड़ियों में बाँधकर बादशाह के सामने लाए गए। किन्तु किसी ने भी भेद नहीं बतलाया। जब सुलतान हर प्रकार के प्रयत्न करके हार गया तो उसने क़ाज़ी जलाल काशानी आदि अमीरों को जो षड्यंत्र में सम्मिलित थे, दूर-दूर भेज दिया। इसके बाद सीदी मौला को सुलतान के सामने लाया गया और उसके उद्धत व्यवहार करने पर उसको अरकलीखाँ ने हाथी के पैरों तले रुँदवाकर मरवा डाला। यद्यपि सीदी मौला को बहुत से लोग संत मानते थे तथापि उसका वास्तविक ध्येय तुर्की वंश की पुनःस्थापना करना था, ऐसा निश्चय रूप से जान पड़ता है।

तुर्कियों के विरोध की अग्नि अभी तक बुझी नहीं थी। जलालुद्दीन ने इस षड्यंत्र के नेता सीदी मौला को उपयुक्त दण्ड देकर उस षड्यन्त्र का अन्त कर दिया।

**रणथम्भौर पर चढ़ाई (१२९१)**—सीदी मौला के विद्रोह को इस प्रकार नष्ट करके जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ने रणथम्भौर के किले पर चढ़ाई की। उसका बड़ा बेटा ख़ानख़ाना इस समय मर चुका था। किलोखरी में अरकलीख़ाँ को छोड़कर जलालुद्दीन राजपूताना के मार्ग से रिवाड़ी व नारनौल होता हुआ रणथम्भौर के निकट पहुँचा। सेना की एक टुकड़ी समीपवर्ती प्रदेश की परिस्थिति की जानकारी करने के लिए आगे भेजी गई और बाकी सेना ने झाँई के चारों ओर खूब लूट-खसोट की तथा सैकड़ों का विषभरे तीरों से वध किया। जान पड़ता है कि यह नगर रणथम्भौर के निकट एक प्रकार की सैनिक चौकी थी। एक भारी सेना ने पहले झाँई पर आक्रमण किया किन्तु बड़ी मार-काट के बाद हिन्दू सेना पराजित होकर पीछे हटी। जलालुद्दीन झाँई पर अधिकार करके वहाँ के राजा के महल में पहुँचा और उसके मंदिरों व भवनों की नक्क़ाशी तथा चित्रकला को देखकर चकित रह गया। तथापि इस्लाम की शिक्षा के अनुसार उसने इन सबको नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और वहाँ की बड़ी-बड़ी मूर्तियों को तुड़वाकर दिल्ली लाकर जामा मस्जिद के दरवाज़ों में बिछवा दिया। झाँई से उसने एक और सेना चम्बल व कुअरी नदियों के पार मंदिरों को विध्वंस करने व लूटने आदि को भेजी।

झाँई से आगे बढ़कर जब सुलतान रणथम्भौर पहुँचा और उस भयानक दुर्ग का निरीक्षण उसने किया तो उसका साहस बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गया और उसने अपने मलिकों से साफ़-साफ़ कह दिया कि उस दुर्ग को अधिकृत करने के प्रयास में हज़ारों मुसलमानों की जानें चली जाएँगी। अहमद चप आदि अमीरों ने उसे बहुत-कुछ समझाया कि इस प्रकार हिम्मत हारकर अपने सैनिक ध्येय से पीछे हट जाने का बहुत ही बुरा प्रभाव सुलतान के महत्व पर पड़ेगा और उसके आतंक को बहुत धक्का पहुँचेगा। किन्तु जलालुद्दीन ने उनकी एक न सुनी और वापस लौट आया।

**मंगोल आक्रमण तथा अन्य घटनाएँ**—रणथम्भौर से लौटने के बाद हलाकूख़ाँ के पोते अब्दुल्ला के नेतृत्व में मुग़लों की कोई डेढ़ लाख सेना ने भारत पर चढ़ाई कर दी। सुलतान ने तुरन्त तैयारी करके मुग़लों को सिन्ध के किनारे जा रोका और छोटी-मोटी कई लड़ाइयों के बाद उनको पूरी तरह हराया। हज़ारों मुग़ल मारे गए और बहुत से पकड़ लिए गए। इसके बाद दोनों सेनापतियों ने संधि कर ली और बहुत से मुग़ल नेता ने जो चंगेज़ख़ाँ के वंशज थे, मुसलमान बन गए। इसी समय से लगभग ४,००० नौमुस्लिम मुग़ल दिल्ली के निकट बस गए। उनके इस उपनिवेश का नाम मुग़लपुरा पड़ा। इस घटना के बाद उत्तर-पश्चिमी सीमा की रक्षा के उद्देश से सुलतान ने लाहौर, मुल्तान व सिन्ध के सूबों पर अरकलीख़ाँ को नियुक्त किया। इन्हीं दिनों

इस दयालु सुलतान ने मेवात के कई स्थानों व झाँई पर हमले करके लूट-मार की और हिन्दू पवित्र स्थानों को विध्वंस किया। जलालुद्दीन के इन कृत्यों से सिद्ध होता है कि दिल्ली सुलतानों की नीति एक सदी शासन करने के बाद भी रचनात्मक नहीं हो पायी थी। हिन्दू जनता को लूटमार करना ही वे अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। ठीक इसी समय अलाउद्दीन ने मालवे में भिलसा और तदनन्तर दक्षिण में देवगिरि पर चढ़ाई करके उन स्थानों को नष्ट किया था। इसकी चर्चा आगे की जाएगी। जलालुद्दीन फ़ीरोज़ ने भी, जो बड़ा दयालु तथा नम्र हृदय सुलतान बतलाया जाता है, अलाउद्दीन को इन अमानुषिक कामों से रोकने की चेष्टा न की।

**अलाउद्दीन ख़ल्जी का प्रारम्भिक जीवन**—अलाउद्दीन सुलतान जलालुद्दीन का भतीजा और दामाद था। उसे पढ़ने-लिखने में कोई रुचि न थी। इसलिए वह आजीवन जाहिल ही रहा। उसके चार भाइयों में से एक अल्मासबेग था। वह भी सुलतान का दामाद था। अलाउद्दीन की बीवी से उसकी ज़रा भी न पटती थी क्योंकि वह उसे दुराचार से रोकती थी। उसने अपने बाप को अलाउद्दीन के गद्दी हड़पने के इरादों से आगाह भी किया था। पर फ़ीरोज़ ने उसकी एक न सुनी और अलाउद्दीन को दिल्ली से दूर **'कड़ा'** का सूबेदार बनाकर भेज दिया। इससे अलाउद्दीन को अपना छल पूरा करने का अच्छा अवसर मिल गया।

**अलाउद्दीन का अपनी शक्ति को बढ़ाना : भिलसा (विदिशा) पर आक्रमण**—१२९२ में अलाउद्दीन ने सुलतान से आज्ञा लेकर मालवे के उत्तर में भिलसा (प्राचीन विदिशा) नगर पर आक्रमण कर दिया। बताया जा चुका है कि सुलतान जलालुद्दीन स्वयं इन दिनों दिल्ली के आस-पास इसी प्रकार लूटमार कर रहा था। अतएव अलाउद्दीन को इस कार्य से रोकने के बजाय वह बहुत खुश हुआ। भिलसा आधुनिक भोपाल नगर के निकट बेतवा नदी के तट पर स्थित उज्जैन जानेवाले राजपथ पर था। अलाउद्दीन को मार्ग में किसी ने नहीं रोका। उसके अकस्मात् आक्रमण से भिलसा के निवासी अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होंने अपनी देवमूर्तियों की रक्षा करने के लिए उनको बेतवा की रेती में दबा दिया, किन्तु अलाउद्दीन ने उन सबको निकलवाकर अपवित्र किया तथा शहर भर के मंदिरों को विध्वंस करके और अनन्त सामग्री लूट-खसोटकर वह दिल्ली लौटा। जलालुद्दीन उसके इस पराक्रम से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। अलाउद्दीन एक बहुत बड़ी प्रतिमा अपने साथ लाया था। उसको जलालुद्दीन ने बदायूँ-द्वार की देहल में बिछवा दिया ताकि वह मुसलमानों के पैरों से रुँदती रहे। फिर उसने अलाउद्दीन को आरिज़े ममालिक के पद से सुशोभित किया और कड़ा के इक़ता (प्रांत) के साथ अवध भी जोड़ दिया।

भिलसा में ही अलाउद्दीन को देवगिरि तथा दक्षिण देश के अनन्त धन-दौलत की सूचना मिली थी। भिलसा के अनुभव से अलाउद्दीन को दक्षिण पर छापा

मारकर लूटमार करने की उत्तेजना हुई। उसने एक नई सेना तैयार करके चंदेरी पर आक्रमण करने की सुलतान से आज्ञा ले ली।

**देवगिरि पर आक्रमण**—हम देख चुके हैं कि अलाउद्दीन ने सुलतान जलालुद्दीन से चंदेरी पर हमला करने की आज्ञा ली थी किन्तु उसका वास्तविक ध्येय देवगिरि पर आक्रमण करने का था। उसने लगभग ८,००० सेना तैयार करके १२९६ के आरम्भ में कड़ा से देवगिरि की तरफ कूच बोल दिया। कड़ा का शासन मलिक अलाउलमुल्क के सुपुर्द किया और उसको आदेश दिया कि उसकी (अलाउद्दीन) सेना के सफ़र के बारे में झूठी ख़बरें सुलतान को भेजता रहे। चंदेरी तक तो वह खुले तौर से चला गया परन्तु उसके बाद वह गुप्त रूप से आगे बढ़ा और उसने अपने सफ़र का पता किसी को न चलने दिया। बड़ी सावधानी व तीव्रता के साथ विंध्य-मेखला को तथा नदियों को पार करता हुआ वह देवगिरि के उत्तरी छोर पर इलीचपुर नगर तक पहुँच गया। इलीचपुर में अपनी थकी-माँदी सेना को दो दिन का आराम देकर बड़ी तेज़ी से वह लजौरा की घाटी पर जा पहुँचा जो देवगिरि से लगभग १२ मील पच्छिम में है। इस समय अलाउद्दीन ने यह अफ़वाह उड़ा दी कि वह दिल्ली सुलतान से लड़कर तिलंगाना के राजा के पास शरण लेने जा रहा है।

लजौरा घाटी के वीर शासक कान्हा और दो युद्ध-कौशल निपुण वीरांगनाओं ने आक्रान्ता की सेना के दाँत खट्टे कर दिए। पर अन्त में शत्रु की बहुत बड़ी सेना के कारण उन्हें दबना पड़ा। अलाउद्दीन की विजय तो हो गई किन्तु उन स्त्रियों के साहस तथा पराक्रम को देखकर वह घबरा उठा और उसने अपने सैनिकों से कहा कि यदि यहाँ की स्त्रियों का यह हाल है तो न जाने यहाँ के पुरुष-सैनिक कैसे होंगे। इसके प्रतिकूल जब देवगिरि के राजा को इस अज्ञात सैनिक के अकस्मात् आक्रमण का पता चला तो वह बहुत भयभीत हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि उसका पुत्र सिंहनदेव (शंकरदेव) राज्य की सर्वोत्तम सेना के साथ किसी दक्षिण प्रदेश पर चढ़ाई करने गया हुआ था। अलाउद्दीन को कदाचित् सिंहना के देवगिरि से दूर जाने की सूचना भी मिल चुकी थी। रामदेव उस अकस्मात् हमले से बिलकुल घबरा उठा और अपनी रही-सही सेना के साथ किले के अन्दर चला गया। देवगिरि का किला एक चिकनी ढालू चट्टान की चोटी पर स्थित था और सर्वथा दुर्जेय था। इसके अतिरिक्त उसके चारों ओर बड़ी अभेद्य दीवार व गुम्बद थे और ५० फुट गहरी खाई थी। फिरिश्ता के कथन से विदित होता है कि यादव राजा अपनी शक्ति के मद में इस खाई को पानी से भरे रखने की आवश्यकता न समझते थे। वह सूखी पड़ी थी। राजा तो किले के अन्दर बन्द हो गया। पर तलहटी के नगर और उसके निवासियों की रक्षा की उसने कुछ चिंता न की। अलाउद्दीन ने निस्सहाय नगर-निवासियों को जी भरकर लूटा, मारा और राजा के अस्तबल से हजारों घोड़े और हाथी पकड़ लिए और यह अफ़वाह फैला दी कि उसके पीछे

सुलतान की बड़ी भारी सेना उसकी मदद के लिए आ रही है। रामदेव ने अपनी रक्षा का कोई अन्य उपाय न देखकर आक्रामक के पास सन्धि करने के लिए दूत भेजे साथ ही उसने उसको यह चेतावनी दी कि यदि सिंहना दक्षिण से वापस लौट आया तो वह आसानी से बचकर वापस न जा सकेगा। अलाउद्दीन ने भी संधि कर लेना ही नीतिसंगत समझा और क्षति-पूर्ति के लिए बहुत-सा धन लेकर वापस लौट जाने का वायदा किया।

अलाउद्दीन चलने की तैयारी कर ही रहा था कि उसके आक्रमण की सूचना पाकर सिंहना तुरन्त वापस लौट आया। रामदेव ने उसको परामर्श दिया कि आक्रामक से लड़ना उचित न होगा। किन्तु सिंहना उस आततायी को बिना युद्ध किए ही चला जाने देने पर राजी न हुआ। जब अलाउद्दीन ने यह देखा तो अपने सेनापति नसरतखाँ को एक हज़ार घुड़सवार के साथ किले को घेरे रखने के लिए छोड़कर सिंहना से लड़ने के लिए आगे बढ़ा। परन्तु सिंहना ने उसे ऐसा दबाया कि उसकी सेना भागने लगी। भाग्य से इसी समय नुसरतखाँ किले का घेरा उठाकर अपनी सेना के साथ अलाउद्दीन की सहायता के लिए चल पड़ा। इस सेना से उठी हुई धूल को दूर से देखकर देवगिरि की सेना यह समझी कि दिल्ली सुलतान अपनी बड़ी सेना के के साथ आ पहुँचा। इस भ्रांति में वह भयभीत होकर रणक्षेत्र से भाग पड़ी। अब तो अलाउद्दीन की चढ़ बनी। उसने फिर किले को जा घेरा और शहर के लोगों व व्यापारियों आदि की बड़ी निर्दयता के साथ मार-काट की। रामदेव ने अपने पड़ोसी हिन्दू राजाओं से सहायता माँगने का विचार किया किन्तु इसी समय उसे पता चला कि किले के अन्दर की खाने-पीने की सामग्री समाप्त हो चुकी है। अतएव उसे आक्रान्ता से संधि कर लेने पर विवश होना पड़ा। इस बार अलाउद्दीन ने संधि की अत्यन्त कठोर शर्तें लगाईं। सात मन मोती, दो मन हीरे-जवाहरात, छः सौ मन सोना, एक हज़ार मन चाँदी और चार हज़ार रेशमी कपड़े तथा अन्य बहुत-सा सामान देवगिरि के राजा से वसूल किया। बरनी लिखता है कि अलाउद्दीन दक्षिण से अनन्त दौलत लाया। निस्संदेह बरनी के इस कथन में बहुत अत्योक्ति है। हम देखेंगे कि अलाउद्दीन को विभिन्न शासन-योजनाओं के लिए विशेषकर सेना के व्यय के लिए बड़ा भारी भूमि-कर लगाना पड़ा था और हर प्रकार की यातनाओं से धन लूटना पड़ता था। इतने धन के अतिरिक्त रामदेव को वार्षिक राज-कर भी देने का वचन देना पड़ा और अपनी बेटी अलाउद्दीन को विवाह में देनी पड़ी। इस प्रकार लगभग एक महीने के अन्दर यह कार्य समाप्त करके अलाउद्दीन वापस लौटा।

देवगिरि के इस आक्रमण से यह अनिवार्य निष्कर्ष निकलता है कि अलाउद्दीन अद्वितीय साहसी, वीर व निःशंक सैनिक था। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भयानक से भयानक काम करने में न हिचकता था। भिलसा के अनुभव से उसका हौसला और भी बढ़ गया था और उसने देख लिया था कि कोई हिन्दू राजा अथवा

सामन्त उसका रास्ता रोकनेवाला नहीं है। तथापि आधुनिक लेखकों का यह मत कि अलाउद्दीन एक दक्ष व प्रतिभाशाली सेनानी भी था, मानने लायक नहीं है। यह बात देवगिरि की घटना से भी सिद्ध होती है। क्योंकि सिंहना की थकी-माँदी सेना के विरुद्ध भी वह न ठहर सका और यदि भाग्य ने उसका साथ न दिया होता तो वह दक्षिण से शायद ही ज़िन्दा वापस आ पाता।

**सुलतान जलालुद्दीन का वध**—इसी समय जलालुद्दीन अपनी सेना के साथ ग्वालियर पर चढ़ाई कर रहा था। यहाँ उसको अलाउद्दीन के देवगिरि पर आक्रमण करने तथा अनन्त धन बटोरकर लौटने का समाचार मिला। इस सूचना से वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने आनन्दोत्सव मनाया। परन्तु इस प्रकार सुलतान की बिना आज्ञा के देवगिरि पर चढ़ाई करने और इतना धन लूटकर लाने की सूचना से वह शंकित हुआ और उसने अपने मलिकों से गुप्त रूप से इस सम्बन्ध में परामर्श किया कि ऐसी परिस्थिति में उसको अलाउद्दीन के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। सुलतान के भांजे नायब बारबक मलिक अहमद चप ने एक बार फिर उसको बड़ी दूर-अंदेशी से सलाह दी। उसने कहा कि इतनी भारी सम्पत्ति प्राप्त करके प्रत्येक मनुष्य का सर फिर जाता है, अतएव यह आवश्यक है कि आगे बढ़कर चंदेरी के पास ही अलाउद्दीन को रोक लिया जाय। जब वह सुलतान की सेना को देखेगा तो विवश होकर उसे प्राय: सारा लूट का माल सुलतान को भेंट करना पड़ेगा। मलिक अहमद ने यह भी कहा कि अलाउद्दीन को कड़ा जाने देने के स्थान पर दिल्ली ले जाया जाय क्योंकि समस्त परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए उससे सच्ची स्वामिभक्ति की आशा करना भूल होगी। परन्तु बूढ़े सुलतान को अहमद की स्पष्टवादिता अच्छी न लगी। यह देखकर अन्य मलिकों ने भी सुलतान को अप्रसन्न करने के डर से साफ़ बात न कही। अहमद चप ने एक बार फिर सुलतान को समझाने का प्रयत्न किया किन्तु उसने कहा कि यह कैसे हो सकता है कि जिस अलाउद्दीन को मैंने अपनी गोद में बेटे की तरह प्यार से पाला है वह मेरे विरुद्ध जा सके। यह कहकर वह बहुत जल्दी दिल्ली लौटा और अलाउद्दीन बड़ी तीव्रगति से वापस कड़ा पहुँच गया। उसको यह शंका थी कि कहीं उसके कुटिल इरादों का भेद सुलतान को विदित न हो। अतएव कड़ा पहुँचते ही उसने जलालुद्दीन से एक पत्र द्वारा देवगिरि पर बिना उसकी आज्ञा के चढ़ाई करने की माफी माँगी और अपने सेवाभाव व सचाई का पूरी तरह विश्वास दिलाया। उसने सुलतान को यह भी वचन दिया कि यदि उसे क्षमा कर दिया जाएगा तो वह देवगिरि से लाया हुआ सारा सामान सुलतान की भेंट कर देगा।

जब अलाउद्दीन का पत्र सुलतान के पास पहुँचा तो दिल्ली के सभी प्रतिष्ठित लोगों को अलाउद्दीन के घातक इरादों का पता लग चुका था। किन्तु वे उस मूर्ख सुलतान के भय से कुछ कहना न चाहते थे। जलालुद्दीन ने अलाउद्दीन को अत्यन्त सांत्वना तथा प्रीतिभाव का उत्तर लिखा। जब पत्रवाहक अलाउद्दीन के शिविर

में पहुँचे तो वे उनकी सैनिक तैयारियों को देखकर सहम गए और सुलतान को उन्होंने अलाउद्दीन की इन भयानक तैयारियों की सूचना दी। तिस पर भी उस बूढ़े सुलतान पर कोई असर न हुआ। तब अलाउद्दीन नें अपने भाई अल्मासबेग के द्वारा सुलतान के पास संदेशा भेजा कि वह उससे मिलने को बड़ा उत्सुक है। पर उसे बड़ा भय है कि सुलतान उससे बहुत अप्रसन्न है। इस संदेसे को पाते ही फ़ीरोज़ दरबारियों समेत कड़ा को रवाना हो गया। अलाउद्दीन ने बड़ी चालाकी से अपनी सेना का शिविर दरिया के किनारे लगा रखा था। जलालुद्दीन के निकट आने पर अलाउद्दीन ने अल्मासबेग को उसके पास भेजा और यह कहा कि वह सुलतान के कोप से इतना भयभीत है कि वह चाहता है कि सुलतान अपने सब साथियों व अंगरक्षकों को पीछे छोड़कर अलाउद्दीन से अकेला मिले। उस मूढ़ सुलतान ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, यहाँ तक कि उसके कहने पर अपने साथियों के हथियार भी उतरवा दिए। जैसे ही सुलतान की नाव नदी के किनारे पहुँची तो उन्होंने देखा कि सारी सेना पूरी तरह अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित चारों ओर इस प्रकार खड़ी हुई है मानो युद्ध के लिए तैयार हो। जलालुद्दीन के सब साथी इस दृश्य को देखकर पूरी तरह समझ गए कि उनके साथ विश्वासघात किया गया है। उन्होंने अल्मासबेग से इस तैयारी का कारण पूछा और बहुत से प्रश्न किए। परन्तु उसने उन सब प्रश्नों का गोलमोल उत्तर देकर उनको शांत कर दिया क्योंकि सुलतान सर झुकाए कुरान के पाठ में निमग्न था और किसी प्रकार भी उसकी आँखें खोलना सम्भव नहीं था। नाव के किनारे पहुँचते ही अलाउद्दीन आगे बढ़कर सुलतान के चरणों में गिरा। उसने उसको उठाकर गले लगाया और दोनों में अत्यंत प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप होने लगा। इतने में ही अलाउद्दीन के एक विश्वस्त सैनिक नुसरतखाँ का संकेत पाते ही दो किराए के क़ातिलों ने सुलतान पर हमला किया और उसको ज़मीन पर गिराकर उसका सर काट कर अलाउद्दीन के हाथों में ला रखा। मलिक फ़ख़रुद्दीन के सिवा सुलतान के अन्य सब साथी भी वहीं मारे गए। यह घटना २० जुलाई, १२९६ को हुई।

●

# दक्षिण भारत की राजनीतिक प्रगति
## (१०००-१३०० तक)

### दक्षिण के चार मुख्य राज्य

**सामान्य रूपरेखा**—हम देख आए हैं कि चालुक्य साम्राज्य बारहवीं सदी के अन्त में और चोल तेरहवीं सदी के प्रथम चरण में नष्ट हो चुके थे। तदनंतर उन साम्राज्यों के स्थान पर चार राज्य स्थापित हुए। जिस प्रकार चोल, चालुक्य व राष्ट्र-कूट साम्राज्यों के परस्पर कलह व संघर्षों से पूर्वकाल का इतिहास रक्तरंजित रहा था, उसी प्रकार तेरहवीं सदी का इतिहास इन चार मुख्य राज्यों के परस्पर वैमनस्य तथा संघर्ष से परिपूरित रहा तथा अन्य छोटे-छोटे राज्य भी इन्हीं के साथ लड़ने-भिड़ने में अपना समय व्यतीत करते रहे। इस समय में देश की राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में कोई उल्लेखनीय उन्नति नहीं हुई। आन्तरिक व्यापार तथा व्यवसाय यथापूर्व चलता रहा। किन्तु साम्प्रदायिक साहित्य का समाज व संस्कृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिस प्रकार संकीर्ण साम्प्रदायिकता तथा पौराणिक अन्ध-विश्वासों के कारण उत्तरी भारत का बाहरी आक्रमणों के सामने पराभव हुआ और देश पराधीन हो गया उसी प्रकार दक्षिण के राजवंशों का भी इन्हीं कारणों से विनाश हुआ और दक्षिण पर भी तुर्की मुसलमान विजयी हुए। तेरहवीं शती के अन्त में इटली का यात्री मार्को-पोलो दक्षिण भारत में आया था। उसके विवरण से हमको तत्कालीन समाज की अवस्था का पता चलता है। उत्तरीय मुसलमानों के आक्रमणों से लगभग ५० वर्ष के भीतर दक्षिण के यह राज्य नष्ट हो गए और फिर इनके स्थान पर बहमनी व विजयनगर के साम्राज्य उदित हुए।

**पाण्ड्य-चोल संघर्ष**—सन् १२०५ में चोल महाराज कुलोतुंग तीसरे ने पाण्ड्य राजा जटावर्मन कुलशेखर को परास्त करके उसका पूरी तरह मान-मर्दन किया। अतएव कुलशेखर के भाई व उत्तराधिकारी मारवर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने चोल राजा से बदला लेने के लिए उसपर इतने वेग से चढ़ाई की कि बूढ़ा कुलोतुंग उससे अपनी रक्षा न कर सका। पाण्ड्य राजा ने तंजौर आदि नगरों को खूब लूट-खसोट कर चोल राजा तथा उसके युवराज को वहाँ से निकाल दिया और चोलों के

अभिषेकमण्डप में अपना राज्याभिषेक कराया। और फिर चिदाम्बरम् के शिवमंदिर में जाकर नटराज का पूजन किया। परन्तु जब वह वापस लौट रहा था तो होयसल राजा वल्लाल की सहायता से कुलोतुंग ने उसका मार्ग रोका। सुन्दर पाण्ड्य को विवश होकर कुलोतुंग तथा उसके बेटे को उनका राज्य वापस देना पड़ा। तथापि उन दोनों को सुन्दर पाण्ड्य का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। इस घटना से चोल साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया। कुलोतुंग तीसरे के बेटे गजराज तृतीय की अयोग्यता के कारण राज्य के अन्दर बड़ी अव्यवस्था फैल गई। गजराज ने अपनी निर्बलता को भूलकर सुन्दर पाण्ड्य को कर देना बन्द कर दिया और उस पर चढ़ाई कर दी। सुन्दर पाण्ड्य ने उसको पूरी तरह परास्त करके उसका बहुत सा धन छीन लिया और उसकी पटरानी को बन्दी बना लिया। इसके बाद सुन्दर पाण्ड्य ने अपना विजयाभिषेक मनाने के लिए गजराज पर एक बार फिर चढ़ाई की। गजराज ने होयसल नरसिंह द्वितीय की सेना से मिलकर सुन्दर पाण्ड्य का सामना करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे इसमें सफलता न हुई और उसे सुन्दर पाण्ड्य ने बन्दी बना लिया। नरसिंह होयसल ने पाण्ड्य राजा की शक्ति को बढ़ते देख उसको रोकने का विचार किया और एक बड़ी सेना लेकर श्रीरंगम् पर, जहाँ सुन्दर पाण्ड्य ठहरा हुआ था, जा चढ़ा। कावेरी के तट पर महेन्द्र मंगलम् स्थान के निकट उसने पाण्ड्य राजा को पूरी तरह परास्त किया। उसकी एक और सेना ने पाण्ड्य राजा के सहायक व मित्र कोपरनजिंगा को परास्त करके चिदाम्बरम पहुँचकर वहाँ बहुत लूट-मार की और दुर्ग का घेरा डाल दिया। इसके बाद कोपरनजिंगा ने राजराज चोल को मुक्त करने का निश्चय किया और सुन्दर पाण्ड्य को भी इस बात में सहमत होना पड़ा। इस प्रकार १२३१ में चोल राज्य नष्ट होने से बचा।

इस घटना का परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिए पाण्ड्य, चोल और होयसल राजाओं में परस्पर सन्धि हो गई और शान्ति बनी रही। परन्तु होयसल राजा अपनी शक्ति बढ़ाने लगे और चोल तथा पाण्ड्य दोनों के राज्यों में हस्तक्षेप करने लगे। किन्तु जब राजेन्द्र तृतीय १२४६ में चोल राजगद्दी पर आसीन हुआ तब उसने अपने राज्य को फिर से समुन्नत करने का प्रयत्न आरम्भ किया। वह राजराज से बहुत अधिक योग्य था और यदि होयसल राजा सोमेश्वर ने, जो नरसिंह द्वितीय का पुत्र था, पाण्ड्य राजा से एका करके राजेन्द्र का विरोध न किया होता तो वह चोल राज्य को फिर से शक्तिशाली बना लेता। सन् १२५१ में पाण्ड्य राजा जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य गद्दी पर बैठा। वह उस वंश के सर्वोत्तम तथा अत्यन्त योग्य योद्धाओं व राजनीतिज्ञों में से था। उसने अपने पड़ौसी राजाओं से कई बार लड़ाइयाँ की और पाण्ड्य भूमि को बहुत विस्तृत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजेन्द्र तृतीय और सोमेश्वर में बड़ी गहरी मित्रता व सन्धि हो गई। जटावर्मन सुन्दर पाण्ड्य ने राजेन्द्र चोल को परास्त किया और उसको अपना करद बना लिया और फिर लंका को जीतकर वहाँ के राजा से बहुत सा धन, सच्चे मोती व हाथी

आदि छीने। होयसल सोमेश्वर पर भी हमला करके उसने श्रीरंगम के निकट एक क़िले को छीन लिया और सन् १२६२ में होयसल राजा उसी स्थान पर लड़ते हुए मारा गया। फिर सुन्दर पाण्ड्य ने कोपरनजिगा पर भी आक्रमण करके उसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। अन्त में उसे अपना करद बनाया तथा होयसल के राज्य का बहुत सा भाग भी जीत लिया। उसने उत्तर की ओर चढ़ाई करके कांची पर अधिकार किया और उसके आगे बढ़कर काकतीय तेलुगु सेना को भी परास्त करके उनके शासकों को राजकर देने पर विवश किया। इस प्रकार चारों ओर रण-दुन्दुभी बजा कर और अपने साम्राज्य को विस्तृत करके जटावर्मन सुन्दर ने नेलौर के स्थान पर अपना वीराभिषेक समारोह किया। इसके उपरान्त १२६३ में सुन्दर पाण्ड्य के सेनापति जटावर्मन वीर पाण्ड्य ने लंका पर आक्रमण करके वहाँ के राजा को अपने अधीन किया। इन सब युद्धों में सुन्दर पाण्ड्य ने अपनी एकत्रित की हुई अनन्त धन-सामग्री से बड़े-बड़े देवस्थानों तथा मन्दिरों के निर्माण और श्रीरंगम व चिदाम्बरम के पवित्र नगरों को सुन्दर बनाने में लगाया।

इधर होयसल सोमेश्वर ने अपने राज्य को अपने दो बेटों को बाँट दिया था। बड़े बेटे नरसिंह तृतीय को उत्तरी भाग और छोटे बेटे रामनाथ को दक्षिण का तमिल प्रदेश। सोमेश्वर की मृत्यु के बाद रामनाथ ने सुन्दर पाण्ड्य राजा से कनानूर को छीन लिया और सुन्दर पाण्ड्य के मरने तक उस पर अधिकार बनाए रखा। उसने अपनी सहायता के लिए चोल राजेन्द्र तृतीय से सन्धि कर ली थी। किन्तु सुन्दर पाण्ड्य के १२६८ में मरने के बाद उसके प्रतापी पुत्र मारवर्मन कुलशेखर प्रथम ने इन दोनों पर आक्रमण करके उनकी शक्ति को १२७९ में छिन्न-भिन्न कर दिया। चोल वंश इसके बाद विलुप्त हो गया तथा उपर्युक्त दोनों राजाओं की भूमि पाण्ड्य साम्राज्य में मिला ली गई। १२८० में कुलशेखर के सेनापति आर्यचक्रवर्ती ने लंका पर आक्रमण करके उसको खूब लूटा और बहुत से धन-सामग्री के अतिरिक्त बुद्ध का अवशिष्ट दाँत भी वहाँ से ले आया। इस समय से लंका का राजा भुवनेकवाहु भी पाण्ड्य राजा के अधीन हो गया। उसके बाद पराक्रमवाहु तृतीय जो सन् १३०३ में लंका का राजा हुआ, स्वयं कुलशेखर के दरबार में उपस्थित हुआ और बुद्ध के दाँत को वापस लौटाने के लिए उसको राज़ी कर लिया। कुलशेखर के बाद जब पाण्ड्य साम्राज्य में घरेलू संग्राम आरम्भ हुआ तब लंका फिर से स्वतंत्र हो गई।

**होयसल वंश का शेष वृत्तान्त**—होयसल रामनाथ से पाण्ड्य कुलशेखर ने जब उसका तमिल प्रदेश छीन लिया तो उसने अपने बड़े भाई नरसिंह से झगड़ा करना शुरू किया। नरसिंह पर उसी समय यादव तथा काकतीय राजाओं ने हमला कर दिया था। इस संकट का लाभ उठाकर रामनाथ ने बंगलौर, कोलर और तमकूर के प्रदेश छीनकर उनका राजा बन बैठा। नरसिंह की मृत्यु १२९२ में हो गई। उसका बेटा वल्लाल तृतीय उसका स्थानापन्न हुआ। फिर ३ वर्ष बाद रामनाथ की मृत्यु हो

जाने पर सन् १३०० से पहले ही वल्लाल ने फिर से उन दोनों राज्यों को मिलाकर अपने अधिकार में कर लिया।

**यादव वंश का उत्कर्ष**—पीछे दक्षिण के चालुक्य वंश के ह्रास का वर्णन करते हुए संकेत किया जा चुका है कि चालुक्य राजा सोमेश्वर तृतीय (११२७-३८) और उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के शासन-काल में होयसल विष्णुवर्धन ने पश्चिम में अपने को स्वाधीन करके बनवासी आदि के प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उसी समय में चालुक्यों के अन्य करद सामन्त-गण, पूर्वीतट के काकतीय, उत्तर के कलचुरि आदि भी स्वतंत्र हो गए। इसी समय सोमेश्वर चतुर्थ चालुक्य के करद शासक भिल्लम यादव (११८७-९१) ने चालुक्य राज्य के उत्तरी प्रदेश पर अधिकार करके कल्याणी को छीन लिया और सोमेश्वर चतुर्थ तथा उसके सेनापति ब्रह्मा को वहाँ से भागकर बनवासी में जाना पड़ा। दक्षिण चालुक्य राजा की नष्टप्राय शक्ति से लाभ उठाकर होयसल वल्लाल द्वितीय उत्तर की ओर से बढ़ते हुए भिल्लम को रोकने के लिए तैयार था। कई छोटी-मोटी मुठभेड़ों के बाद ११९१ में इन दोनों में भारी युद्ध हुआ जिसमें भिल्लम मारा गया और बल्लाल ने उत्तर की ओर कृष्णा नदी तक अपना राज्य फैला दिया। कृष्णा के उत्तर की भूमि यादवों के अधिकार में बनी रही। इस प्रकार चालुक्य साम्राज्य का अन्त हुआ और उसका कुछ पूर्वी भाग काकतीय वंश के हाथ भी आया।

अब इन नवोदित वंशों में परस्पर संघर्ष शुरू हुआ। भिल्लम यादव के बेटे जैतुगी ने काकतीय रुद्र का संहार करके उसके भतीजे गणपति को क़ैद कर लिया (११९६ ई०)। रुद्र का अधिकारी उसका छोटा भाई महादेव तीन वर्ष शासन करके मर गया। तब जैतुगी ने गणपति को मुक्त करके काकतीय गद्दी पर आसीन कर दिया। (११९९)। जैतुगी का बेटा सिंघना १२१० में गद्दी पर बैठा और ६ वर्ष तक निरन्तर संग्राम करके होसयल वल्लाल द्वितीय से वह सब प्रदेश छीन लिया जो उसने सोमेश्वर चतुर्थ चालुक्य और भिल्लम से लड़ाई करके ले लिया था।

सिंघना ने १२४७ तक राज्य किया। उसके समय में यादव राज्य की सीमा अपने पूरे विस्तार को पहुँच गई। उसने १२३१ तथा १२३७ के अंतिम दिनों में गुजरात पर भी दो बार आक्रमण किया और वल्लाल द्वितीय पर हमला करके उसके राज्य के कुछ प्रदेश भी अधिकृत कर लिए। वल्लाल के उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय को सागर तथा बलारी प्रदेश भी सिंघना को देना पड़ा। नरसिंह के उत्तराधिकारी सोमेश्वर ने अपनी खोई हुई भूमि को वापस लेने की इच्छा से पंडरपुर तक चढ़ाई कि किन्तु सिंघना के सेनापति ने उसको परास्त करके पीछे हटाया और आगे बढ़ता हुआ कावेरी तक पहुँच गया। परन्तु सिंघना ने काकतीय गणपति तथा मालवे के नरेशों से व्यर्थ युद्ध किया। सिंघना विद्वानों का भी बड़ा आश्रयदाता था। उसके दरबार में प्रसिद्ध ज्योतिषी चांगदेव था जो जगत-विख्यात

ज्योतिषशास्त्र के पंडित भास्कराचार्य का पोता तथा जैतुगी के प्रमुख पंडित लक्ष्मीधर का बेटा था। सिंघना ने अपने दादा के ग्रन्थ सिद्धान्त तथा अन्य रचनाओं के अध्यापनार्थ एक महाविद्यालय की स्थापना की थी।

सिंघना का बेटा उसके जीवनकाल में ही मर चुका था। अतएव उसका पोता कृष्ण उसके बाद राजा हुआ, (१२४७-६०)। कृष्ण आन्ध्र (काकतीय) गणपति ने उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया। वह धार्मिक कृत्यों तथा साहित्य व संस्कृति की वृद्धि में अधिक रुचि रखता था। वह यज्ञादि धर्मकार्य करता और पंडितों का सत्कार करता था। उसके विद्वान मंत्री जल्हण ने 'सूक्ति मुक्तावलि' नामक संग्रह लिखा और अमलानन्द ने 'वेदान्त कल्पतरु' भी उसी के समय में रचा।

कृष्ण के उत्तराधिकारी उसके भाई महादेव (१२६०-७१) ने गणपति काकतीय की उत्तराधिकारिणी रानी रुद्राम्बा से युद्ध करके बहुत सा माल तथा हाथी आदि छीन लिए और कोंकण के शासक को भी परास्त किया। प्रसिद्ध विद्वान हेमाद्रि उसका श्री करणाधिप (मंत्री) था। हेमाद्रि स्वयं बड़ा प्रचुर लेखक था और पंडितों का प्रतिपालक। बहुत से लेखक उसके आश्रय में रहते थे और उसने इतने मन्दिर बनवाए कि एक वास्तुशैली उसके नाम से प्रचलित हो गई। महादेव के बाद उसके अग्रज कृष्ण का बेटा रामचन्द्र यादव राजा हुआ। उसने मालवा तथा काकतीय राजाओं से निरर्थक युद्ध किए। सन् १२७६ में उसके विख्यात सेनापति तिक्कम ने होयसल राज्य पर आक्रमण करके उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर घेरा डाला और बहुत कुछ लूट-खसोट करके वापस लौट आया। इस प्रकार होयसल तथा अन्य पड़ोसी राजाओं से रामचन्द्र का निरन्तर वैमनस्य तथा संघर्ष जारी रहा। इसी बीच में उत्तर से मुस्लिम आक्रमण शुरू हुए। रामचन्द्र के समय में भी हेमाद्रि यादव राज्य का मन्त्री था। उसी के समय में वह धार्मिक प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी जिसका आदि सन्त ज्ञानेश्वर था जिसने गोदावरी के तट पर १२९० में गीता की प्रसिद्ध टीका ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त की।

**काकतीय वंश का उत्कर्ष**—आन्ध्र देश के काकतीय राजाओं में गणपति बड़ा प्रतापी हुआ। उसने राज भी ११९९ से १२६२ ई० तक के लम्बे काल तक किया। जब आन्ध्र देश से चोल सत्ता लगभग ११८६ में विलुप्त हो गई और वहाँ अराजकता फैल गई, तब गणपति ने उसको १२०९ में हड़प लिया और उसकी उपजाऊ भूमि तथा लोहे और हीरे की खानों से पूरा-पूरा लाभ उठाया, एवं उसके बन्दरगाहों का भी प्रयोग किया। नैलोर के तैलुगु चोल राजाओं को उसका प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। उसने चोल कुलोतुंग तृतीय तथा कलिंग के भीम तृतीय के साथ युद्ध किए। कलिंग पर इस समय बंगाल के मुसलमान राजाओं ने आक्रमण शुरू कर दिए थे। गणपति ने कड़ापा और कुर्नूल आदि स्थानों के कायस्थ शासकों को भी अधिकृत किया। सन् १२४० के लगभग उसने अपनी एकमात्र पुत्री

रुदाम्बा को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके उसका रुद्रदेव महाराज नाम रखा। विदेशों से मैत्री के सम्बन्ध जोड़ने तथा आर्थिक उन्नति के उद्देश्य से उसने यह घोषणा कर दी कि मोतुपल्ली में आकर व्यापार करने वाले समस्त विदेशी व्यापारी सुरक्षित रहेंगे। गणपति के बाद रुद्राम्बा के शासनकाल में कोपरनजिंगा व अन्य सामन्तों ने विद्रोह आरम्भ किया किन्तु उनको शान्त कर दिया गया। रुद्राम्बा के बाद उसकी लड़की के पुत्र प्रतापरुद्रदेव ने गद्दी पर बैठने से पहले ही यादवों से युद्ध करके बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। १२८० में रुद्राम्बा ने उसको युवराज नियुक्त किया। प्रतापरुद्रदेव द्वितीय अपनी नानी के बाद १२९५ में राजसिंहासन पर बैठा और १३२६ तक राज किया। अपने शासन के आरम्भ में ही उसने यादवों से रायचूर तथा अदोनी के प्रान्त छीन लिए और उन पर अपना शासन स्थापित कर दिया। प्रतापरुद्र जितना प्रतापी सैनिक था, उतना ही योग्य शासक भी था। उसने अपने राज्य की शासन-व्यवस्था को सुधारा और उसको ७७ नायक उपप्रान्तों में विभक्त किया। इन विभागों के शासक केवल पद्मनायक जाति में से ही नियुक्त किए जाते थे। आगे चलकर इन्हीं नायकों में से कापय नायक सरीखे वीर हुए जिन्होंने मुसलमानों के हमलों को रोकने में बड़ा सराहनीय शौर्य दिखलाया। इसी नायक-प्रथा को भविष्य में विजयनगर के महाराजाओं ने अपनाया और उसका विस्तार किया।

ग्यारह

# अलाउद्दीन का राज्यारोहण और उसके शासन का प्रथम खण्ड

## (१)

**अलाउद्दीन** का राजगद्दी पर बैठना—अपने चचा जलालुद्दीन का इतनी निष्ठुरता और विश्वासघात से वध करके अलाउद्दीन ने तुरन्त अपने को सुलतान घोषित कर दिया। जलालुद्दीन के कटे हुए और खून से टपकते हुए सर को एक भाले की नोक पर रखकर कड़ा और मानिकपुर के बाज़ारों में घुमाया गया। साथ ही अलाउद्दीन के पदाधिकारी हाथियों पर चढ़कर उसके सुलतान बनने की घोषणा करते जाते थे। इस घोर पातक से जो घृणा जनता के हृदय में उत्पन्न हुई उसको शान्त करने के लिए अलाउद्दीन ने कड़ा में ही अपने अमीरों को बड़े ऊंचे-ऊंचे पद तथा ख़िताब देने आरम्भ किए। अपने भाई अल्मासबेग को उलुग़ख़ाँ का, मलिक हिज़बुद्दीन को ज़फ़रखाँ का, मलिक शजर को अल्पखाँ का और मलिक नुसरत जलेसरी को नसरतखाँ का ख़िताब दिया। अन्य पदाधिकारियों को भी उसने इसी प्रकार खुश किया और तुरन्त दिल्ली की तरफ रवाना हुआ। रास्ते में जनता को खुश करने के लिए वह रुपयों की बौछार करता जाता था। जब वह बदायूँ के पास पहुँचा तो उसकी सेना में ५६,००० पैदल थे। यहाँ पर उसने अपनी सेना के दो टुकड़े किए। ये सेनाएँ दो रास्तों से चलीं ताकि राजधानी को दो तरफ़ से घेर लें।

दिल्ली में फ़ीरोज़ की बेवा मलिका ने अपने अयोग्य छोटे बेटे को तख़्त पर बिठा दिया था, जिससे नाराज़ होकर बड़ा बेटा अरकलीखाँ सुलतान से दिल्ली की रक्षा करने न आया। मालिका-ए-जहांन की मूर्खता तथा अरकलीखाँ के न आने के कारण दिल्ली पर कब्ज़ा करना बहुत आसान हो गया, क्योंकि वे अमीर तथा वज़ीर आदि जिनको मलिक ने अलाउद्दीन के विरुद्ध भेजा था, उससे आ मिले। उनके इस विश्वासघात तथा निर्लज्जतापूर्ण व्यवहार के उपलक्ष में अलाउद्दीन ने उनको बड़े-बड़े इनाम दिए।

जब मलिका-ए-जहान ने देखा कि लगभग समस्त जलाली अमीरों ने उसका

साथ छोड़कर अलाउद्दीन से मेल कर लिया तब घबड़ाकर उसने अरकलीखाँ से राजधानी की रक्षा करने की याचना की पर उसने इनकार कर दिया। अलाउद्दीन के भाग्य ने यहाँ भी उसका साथ दिया। अरकलीखाँ ही उसे पछाड़ सकता था। उसके न आने से दिल्ली पर अधिकार कर लेने में अलाउद्दीन को कोई कठिनाई न हुई। उसके विरोधी जान बचाकर भाग गए।

**अलाउद्दीन का दिल्ली में प्रवेश**— मलिका-ए-जहान और उसके पुत्र रुक्नुद्दीन के भागने के दूसरे ही दिन अलाउद्दीन ने राजसी ठाट-बाट से राजधानी में प्रवेश किया और ग़यासुद्दीन बलबन के लाल महल में निवास किया। शहर के गण्य-मान्य अमीर व प्रतिष्ठित लोग तथा किलेदार फाटकों की चाबी लेकर उसके सामने आए और उसे सुलतान अंगीकार किया। उसने अबूमुज़फ़्फ़र सुलतान अलाउद्दुनियावद्दीन मुहम्मदशाह खल्ज़ी की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम का खुतबा पढ़वाया तथा सिक्का चलाया। इसके बाद उसने दिल खोलकर लोगों को उपहार बाँटे तथा बहुत दिन तक मदिरा पान, नाच-गाने आदि भोग-विलास में व्यस्त रहा। दिल्ली के बाज़ारों में शामियाने लगाए गए और शराब, शर्बत तथा पान इत्यादि मुफ़्त बाँटे गए। सेना को ६ महीने का वेतन इनाम के तौर पर दिया गया और शेख़ तथा मुसलमान औलियों को इनाम-इकराम दिए गए।

जलाली पदाधिकारियों को उसने ऊँचे-ऊँचे पद देकर अपनी तरफ़ मिला लिया। कुछ पुराने और कुछ नए प्रतिष्ठित लोगों को चुनकर उसने अपना मन्त्रिमण्डल नियुक्त किया। जलालुद्दीन के समय के मुख्य मन्त्री ख्वाजा ख़तीर (ख्वाजा जहान) को अपने पुराने पद पर रहने दिया। काज़ी सदरुद्दीन आरिफ़ को काज़ि-ए-ममालिक (न्यायाधीश) बनाया। मलिक उमदतुलमुल्क को दीवाने इन्शा का अध्यक्ष बनाया और उसके बेटों हमीदुद्दीन व इज्जुद्दीन को भी ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त किया। सैयद अजल शेखुलइस्लाम और ख़तीब के पदों पर पिछले मलिकों को ही स्थायी रखा गया। नुसरतखाँ को, जो नायबुलमुल्क था, कोतवाल का पद दिया गया, और मलिक फ़खरुद्दीन कूची को दादबके हज़रत नियुक्त किया गया। ज़फ़र खाँ आरिज़े ममालिक, मलिक अबाची जलाली आखुरबेग और मलिक हिरनमार नायब बारबक नियुक्त हुए। इस प्रकार सुलतान अलाउद्दीन का दरबार बरनी के अनुसार जलाली तथा अलाई अमीरों के संयुक्त मंत्रिमण्डल से सुशोभित हुआ। बरनी के चाचा अलाउलमुल्क को कड़ा व अवध का इक़तादार बनाया गया और मलिक जूना क़दीम को नायब वकीलेदर का पद प्रदान किया गया। बरनी के पिता मुईदुलमुल्क को बरन की ख्वाजगी मिली तथा अन्य योग्य व कार्यकुशल प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उच्च पद तथा अक़तायें (सूबे) दिए गए। इस तरह उसने अपने प्रति घृणा और विरोध की आग को शान्त किया।

**जलालुद्दीन के वंश का विनाश**—दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ होते ही अलाउद्दीन ने जलालुद्दीन के पुत्रों तथा उसके अन्य साथियों का अन्त करने के लिए

जफ़रखाँ और उलूखाँ को मुल्तान भेजा। दो महीने के बाद फ़ीरोज़ के पुत्रों ने अपनी जानबख़्शी की याचना की और उन्हें इस वायदे पर दिल्ली की तरफ़ रवाना किया गया। परन्तु अलाउद्दीन ने नुसरतखाँ को दिल्ली से भेजकर उनको रास्ते में ही रोका और वहाँ जलालुद्दीन के दोनों बेटों, अहमद चप तथा अन्य साथी व सम्बन्धियों को अन्धा कर दिया गया और उनकी स्त्रियाँ व सब माल-असबाब हड़प लिया गया। फिर उन लोगों को हाँसी के किले में बन्द कर दिया गया। और अरकलीखाँ के सभी पुत्रों की हत्या कर दी गई। अरकली की माता तथा अहमद चप और उनके साथियों को दिल्ली लाकर कारागार में डाल दिया गया।

**जलाली अमीरों का विनाश**—राजगद्दी पर बैठने के दूसरे वर्ष अलाउद्दीन ने नुसरतखाँ को वज़ीर के पद पर नियुक्त किया और अलाउलमुल्क को उसके सब साजोसामान के साथ कड़ा से बुलाकर दिल्ली का कोतवाल बनाया। मन्त्रि-मण्डल में यह परिवर्तन इसलिए किया गया कि अब सुलतान जलाली अमीरों को नष्ट करना चाहता था। नुसरतखाँ ने जलाली मलिकों और अमीरों के धन-सम्पत्ति को अत्यन्त निष्ठुरता के साथ खसोटा और राजकोष में जमा किया। उन सब जलाली अमीरों को जो कि अपने स्वामी जलालुद्दीन से विश्वासघात करके उसके निर्दयी हत्यारे भतीजे अलाउद्दीन से आकर मिल गए थे तथा बहुत से इनाम-इकराम पा चुके थे उनके पकड़े जाने की बारी आई। कुछ को कारागारों में बन्द कर दिया गया, कुछ को अन्धा कर दिया गया और कुछ मार डाले गए, तथा उनकी समस्त धन-सम्पत्ति, घर-बार सब कुछ ज़ब्त कर लिया गया। उनके घरों पर सरकारी अधिकार कर लिया गया और उनकी जागीरें व इक़ता इत्यादि वापस ले ली गईं। उनकी सेनाओं को भी अलाई अमीरों के अधिकार में दे दिया गया। यहाँ तक कि उनके बाल-बच्चों के भरण-पोषण के लिए भी कुछ न छोड़ा गया। इन कुल अमीरों में से केवल वे तीन अमीर बचे जिन्होंने जलालुद्दीन तथा उसके पुत्रों से विश्वासघात न किया था। बाकी सब जलाली अमीरों को समूल नष्ट कर दिया गया। इसी वर्ष नुसरतखाँ ने इन लोगों से लूटी हुई एक करोड़ की सम्पत्ति राज-कोष में जमा की।

**अलाउद्दीन के गद्दी पर बैठने के समय देश की परिस्थिति**—बलबन की रक्तपात नीति के दुष्परिणाम का दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है। दक्षिण की तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक स्थिति की चर्चा भी पिछले अध्याय में हो चुकी है। बलबन की खड्ग-नीति से वे सब कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ जिनको शान्त तथा समाधान किए बिना साम्राज्य की नींव दृढ़ नहीं हो सकती थी, पहले से और भी अधिक जटिल हो गईं। अलाउद्दीन खल्जी की अनर्गल राजनीतिक तृष्णाओं ने इन समस्याओं को इतना भयानक बना दिया कि राज्य की सत्ता ही संकट में पड़ गई, यद्यपि ऊपरी तौर से राजधानी में बड़ी शानोशौक़त तथा जाहव जलाल दीख पड़ता था। इस संकटमय परिस्थिति के खास-खास पहलू इस प्रकार थे :

१—राज्य के संकीर्ण आदर्श व साम्प्रदायिक नीति के स्थान पर एक उदार नीति व आदर्श की स्थापना करना।

२—उत्तर-पश्चिम के देशों से आनेवाले आक्रामकों से साम्राज्य की रक्षा करना।

३—आन्तरिक विद्रोहों तथा अराजकता को शान्त करना और देश में सुरक्षा स्थापित करना।

४—साम्राज्य का विस्तार करना।

५—शासन को इस प्रकार सुव्यवस्थित करना जिससे जनता सुखी एवं समृद्ध हो, हर प्रकार की उन्नति करने के साधन जनता को उपलब्ध हों तथा सम्राट के प्रति प्रजा में विश्वास व प्रेम के भाव उत्पन्न हों।

इन समस्याओं के समाधान न होने का कारण, जैसा पीछे भी निर्देश किया जा चुका है, यह था कि दिल्ली के सुलतानों ने राजा तथा शासक के वास्तविक कर्त्तव्यों को कभी समझा ही नहीं क्योंकि उनकी नीति के दो मुख्य लक्ष्य थे। वे या तो केवल **मुस्लिम शासक** थे अर्थात् मुसलमानों के अतिरिक्त अपनी प्रजा के अन्य किसी वर्ग के प्रति उनका कोई रचनात्मक कर्त्तव्य नहीं था। अथवा वे एक वर्ग-विशेष के श्रेष्ठकुलीय राज्य (rule of oligarchy) के आदर्श का अनुकरण करते थे। अर्थात् उनका राज्य तुर्की वर्ग-विशेष के सुख-समृद्धि का साधन मात्र होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अतएव प्रजा का हितचिन्तन अथवा उनके भरण-पोषण व उन्नति की चिन्ता उनको नहीं थी। साथ ही इन सुलतानों के अन्य सैनिक नेता तथा प्रभावशाली अमीर सभी को बराबर राजा बन जाने की लालसा रहती थी जिसके कारण अवसर पाते ही ये लोग अपने ही सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र तथा विद्रोह करते रहते थे। इनके अतिरिक्त जो देशी सामन्त व सैनिक यहाँ-वहाँ बचे रह गए थे वे भी अवसर पाते ही अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते थे। दिल्ली सुलतान (शायद मुहम्मद तुग़लक को छोड़कर) इस समस्या का कोई समाधान न कर सके।

दूसरी समस्या बाहरी आक्रमणों की इस कारण अधिक भयानक हो गई थी कि मध्य एशिया में चंगेज़ख़ाँ के वंशज उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों पर शासन कर रहे थे और उनके बहुत से मुग़ल सैनिक अक्सर बड़े-बड़े गिरोहों के साथ हिन्दुस्तान में लूटमार करने के लिए उतर पड़ते थे। बलबन की सीमा-रक्षा की नीति भी कुछ हद तक कारगर हुई। अपने जीवन-काल में उसने मुग़लों के हमलों से देश को सुरक्षित रखा और उनको लाहौर के आगे घुसने न दिया। किन्तु खोखर जाति जो लाहौर के पश्चिम में आबाद थी और जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, अभी तक दिल्ली के सुलतानों की उतनी ही शत्रु बनी रही और बाहरी आक्रान्ताओं को सहायता देती रही। इसका समुचित प्रतिकार करने की कोई योजना अलाउद्दीन ने आठ-नौ वर्ष तक न की। इस विषय का सविस्तार वर्णन यथास्थान किया जाएगा।

तीसरा प्रश्न यह भी आवश्यक था कि साम्राज्य को यथाअवसर विस्तृत किया जाए जिससे राजकीय सेनाएँ ठाली न बैठें और महत्वाकांक्षी सैनिकों को भी अपनी लालसाओं को पूरा करने का अवसर मिलता रहे। परन्तु सबसे अधिक कारण साम्राज्य विस्तार करने की नीति का यह था कि सुलतान के मन में सारे भारतवर्ष ही नहीं किन्तु समस्त संसार को जीतकर प्राचीन यूनानी विजेता सिकन्दर महान् के समान अपने को जगत-सम्राट् कहलाने की लालसा उत्पन्न हो गई थी। वह इस उद्देश्य की पूर्ति के स्वप्न देखता था। किन्तु जब काजी अलाउल्-मुल्क ने उसको समझाया कि ऐसी परिस्थिति में जबकि साम्राज्य की नीवें भी अभी पक्की नहीं हुई हैं, अनेक संकट उसके सामने हैं तथा सारा हिन्दुस्तान भी विजित नहीं हो चुका है, संसार भर को जीतने का स्वप्न देखना निरी मूर्खता होगी। तब उसने हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों को जीतने के लिए सेनाएँ भेजनी प्रारम्भ कीं। अलाउद्दीन ने इस नीति का संचालन सुअवसर देखकर नहीं किया था। अतएव इसके परिणाम अत्यन्त भयानक तथा विनाशकारी हुए होते परन्तु दैव ने यहाँ भी उसकी रक्षा की। इस विषय का वर्णन भी आगे चलकर किया जाएगा। चौथी समस्या शासन को सुव्यवस्थित करने की थी। किसी भी प्रजा-हितैषी तथा सच्चे आदर्शों वाले राजा के लिए अपने राज्य को सुदृढ़ व सुरक्षित कर लेने के बाद पहला कर्त्तव्य यह होता है कि वह अपने शासन को इस प्रकार सुसंगठित व सुयोग्य बनाए कि प्रजा सुखी एवं समृद्ध हो तथा उसको उन्नति के साधन उपलब्ध हों। साम्राज्य का विस्तार करना तथा अन्य किसी ऐसे कार्य में संलग्न होना जिसमें प्रजा के सुख की अवहेलना करके तथा भारी-भारी करों द्वारा प्रजा को उसका खून चूसकर केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति की गई हो, किसी भी राज्य के लिए उचित आचार नहीं कहा जा सकता। परन्तु जैसा हम देखेंगे यह खल्जी सुलतान भी उनके पूर्वगामी तुर्क सुलतानों के समान ही प्रजाहित को राज्य का उद्देश्य न मानकर उसके प्रतिकूल केवल अपने भोग-विलास तथा आकांक्षाओं की पूर्ति करना ही राज्य का आदर्श समझता था।

आरम्भ में खल्जी सुलतान को साम्राज्य की रक्षा तथा विस्तार करने के लिए निम्नलिखित राजाओं व सामन्तों को विजित करना आवश्यक था। पंजाब के उत्तर-पश्चिम में खोखर तथा मुल्तान और सिन्ध पर अरकलीखाँ अभी तक स्वतन्त्र राज्य कर रहे थे। राजपूताना लगभग सारा ही स्वतन्त्र था। केवल दिल्ली के बहुत समीप का थोड़ा-सा पश्चिमी भाग सुलतान के अधिकार में था। राजपूताने के दक्षिण में गुजरात और मालवा भी स्वतन्त्र थे यद्यपि दिल्ली के सुलतान और स्वयं अलाउद्दीन इन प्रदेशों को कई बार लूट-खसोट चुके थे। पूर्व में बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा के प्रदेश भी स्वाधीन थे। बंगाल में बलबन के पुत्र नासिरुद्दीन बुगराखाँ के वंशज स्वतन्त्र राज्य कर रहे थे। गंगा-जमुना के दोआब में भी अभी तक शान्ति की स्थापना न हो पाई थी। उस प्रदेश के छोटे-बड़े सामन्त व सैनिक निरन्तर विद्रोह

करते रहते थे। दास वंश के ह्रास के पश्चात जौनपुर के पूर्वी प्रदेश भी लगभग स्वाधीन हो चुके थे। इनके दक्षिण में विन्ध्य पर्वतमाला के प्रदेश सभी अब तक तुर्की हमलों से बचे हुए थे। दक्षिण में देवगिरि के यादव भी अलाउद्दीन के लौट आने के बाद पूरी तरह स्वतन्त्र हो चुके थे। इन सब प्रदेशों को जीतकर साम्राज्य में मिलाने की भयानक समस्या खल्जी सुलतान के सामने थी ताकि वह अपनी साम्राज्य निर्माण की आकांक्षा को पूरा कर सके।

**अलाउद्दीन की मित्र-मण्डली**—जैसा हम देख चुके हैं, जलालुद्दीन फ़ीरोज़ की निर्बलता तथा अन्य त्रुटियों के कारण सल्तनत के बहुत से अमीर व सरदार समझते थे कि ऐसे दुर्बल हृदय तथा अन्धविश्वासी सुलतान के हाथ में सल्तनत का रहना अत्यन्त ख़तरनाक है। अतएव उसके ख़िलाफ़ साजिश करनेवालों में विशेषरूप से उसका भाई उलुग़ख़ाँ, नुसरतख़ाँ जलेसरी, ज़फ़रख़ाँ तथा अल्पख़ाँ शामिल थे इसके अतिरिक्त काज़ी अलाउलमुल्क अपने समय का सबसे बुद्धिमान व दूरदर्शी नीतिज्ञ था। इन सबने अलाउद्दीन को पग-पग पर सहायता दी तथा अनेक संकटों से उसकी रक्षा की। उलग़ख़ाँ और नुसरतख़ाँ ने उसको जलालुद्दीन के नष्ट करने तथा देवगिरि आदि की चढ़ाई में पूरी सहायता दी थी। ज़फ़रख़ाँ ने कड़ा में सैनिक व्यवस्था करने और उसके बाद अरकलीख़ाँ के नष्ट करने व मुग़लों को पीछे हटाने में बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया था। अल्पख़ाँ भी उसके इन सब कामों में सहायक हुआ था। किन्तु काज़ी अलाउलमुल्क का सहयोग एवं परामर्श एक प्रकार से इन सबसे अधिक मूल्यवान व लाभकारी था। जब-जब इस मूर्ख सुलतान के माथे में, इतनी बड़ी सल्तनत तथा अपार धन-दौलत उसके हाथों में भाग्यवश पड़ जाने के कारण, दुनिया भर को जीतने, इतना ही नहीं किन्तु एक नया मत प्रचलित करने के स्वप्न घुस जाते थे, तब तब काज़ी अलाउलमुल्क ही एक ऐसा कुशाग्र-बुद्धि नीतिज्ञ था जो उसे उसके मूर्खतापूर्ण, सम्भ्रान्त स्वप्नों से जागृत करके उसे वास्तविक राजनीतिक समस्याओं व वास्तविक तद्जनित संकटमय परिस्थिति को संभालने के उपाय सुझाता था।

**उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्या : मुगलों के आक्रमण**—अलाउद्दीन के सिंहासनारोहण के अगले वर्ष ही क़दर नामक मुग़ल एक लाख सेना के साथ सिन्धु नदी को पार करके देश को लूटती-खसोटता गाँवों को जलाता और मारकाट करता हुआ रावी को पार करके आगे बढ़ आया। तब उलुगख़ाँ तथा ज़फ़रख़ाँ ने जालन्धर के पास इनको रोका और दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। अन्त में मुग़ल पराजित हुए और २०,००० के करीब मारे गए। हज़ारों मर्द, स्त्री व बच्चों को कैद कर दिल्ली लाया गया और बड़ी निर्दयता से उनकी हत्या की गई। सुलतान ने इस विजय की बड़ी खुशियाँ मनाईं। इस विजय के बाद तुरन्त ही उसने उलुगख़ाँ व नुसरतख़ाँ को गुजरात को जीतने के लिए भेज दिया। इस घटना की चर्चा यथा-स्थान की जाएगी।

**सीविस्तान से मुग़लों का निकाला जाना**—सीविस्तान अथवा सहवान का प्रदेश मुल्तान के पश्चिम और सिन्धु के उत्तर में सिन्धु नदी के उस पार स्थित है। इसका मुख्य किला सीवी किरथर पर्वतश्रेणी के अन्दर बोलन के दर्रे के मुहाने पर स्थित है और उसके पहरेदार का काम करता है। इस दुर्ग पर १२९९ में सल्दी नामक मुग़ल ने अधिकार कर लिया था। सल्दी और उसके भाई ने मिलकर क़िले के चारों ओर की भूमि पर आक्रमण कर दिया और सीविस्थान को अधिकार में ले लिया।

**कुतलुग़ ख्वाजा का दिल्ली पर आक्रमण** (१२९९)—इस वर्ष के अन्तिम दिनों में मध्य एशिया के मुग़ल शाह दाऊद का बेटा कुतलुग़ ख्वाजा २० तुमन अर्थात् २ लाख सेना लेकर हिन्दुस्तान पर चढ़ आया। यह मुग़ल सेना सिन्धु को पार करके बड़ी तीव्र गति के साथ दिल्ली के निकट जा पहुँची। मुल्तान, सुनाम, सामाना आदि सैनिक चौकियों पर मुग़ल सेना को रोकने का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह असफल रहा। मुग़लों के भय से बहुत-सी आसपास की जनता दिल्ली भाग आई और राजधानी में इतनी भीड़ हो गई कि कहीं भी तिल रखने को जगह न रह गई। साथ ही मुग़लों ने बाहर से सामान लानेवाले व्यापारियों का राजधानी आना रोक दिया। वे बीच में ही उनका सब सामान लूट लेते थे। यह समय राजधानी तथा सल्तनत के लिए अत्यन्त संकट का था। काज़ी अलाउल्मुल्क की राय थी कि मुग़लों से लड़ने के बजाय उनकी खान-पान की सामग्री बन्द करके उन्हें थकाया जाए।

इस संकट में अलाउद्दीन ने अपने मन्त्रिमण्डल से परामर्श किया। उन सबसे उसने कहा कि ऐसी परिस्थिति में यह कैसे सम्भव है कि मुग़लों से युद्ध न किया जाए और मुँह छिपाकर बैठे रहा जाए। इस अवसर पर सुलतान ने अलाउल्मुल्क की सलाह न मानी और बड़े धैर्य व दलेरी के साथ आक्रान्ताओं से लड़ने को अपनी सेना के साथ मुग़ल सेना के सामने जा डटा। दोनों सेनाएँ दिल्ली के उत्तर की ओर किले के मैदान में आमने-सामने खड़ी हो गईं। उनके एक ओर जमुना थी और दूसरी ओर पहाड़ी व जंगल। अलाउद्दीन ने अपनी सेना को तुर्की-रण-नियमानुसार व्यवस्थित किया। दाहिने बाजू हिज़बुद्दीन ज़फ़रखाँ को रखा और उसके साथ कुछ अनुभवी हिन्दुस्तानी सामन्तों को खड़ा किया। बामपक्ष उलुग़खाँ के सुपुर्द किया गया और उसको आज्ञा दी गई कि जिस किसी ओर अपनी सेना को दबते हुए देखे तुरन्त उसकी सहायता करे। स्वयं सुलतान नुसरतखाँ के साथ १२,००० सेना का संचालन करते हुए बीच में ठहरा। शत्रु की भयानक मार से रक्षा करने के लिए प्रत्येक सेनादल के सामने बाईस-बाईस हाथियों की पंक्ति एक दीवार के समान खड़ी की गई। इस प्रकार अपनी समस्त सेना को रणक्षेत्र में स्थापित करके सुलतान ने उनको आज्ञा दी कि बिना उसका संकेत पाए कोई अपने स्थान से न हटे। मुग़लों ने भी अपनी सेना को, अपनी पद्धति के अनुसार स्थापित किया।

हिन्दुस्तानी सेना में ज़फ़रखाँ सबसे महान् तथा वीर योद्धा था। उसने

कुतलुग़ ख्वाजा को कुश्ती लड़ने की भी चुनौती दी थी। वह युद्ध करने के लिए इतना आतुर था कि उसने तुरन्त उन पर धावा बोल दिया और दोनों नेताओं में घमासान युद्ध होने लगा। उसके बेटे दलेरखाँ ने मुग़ल सेना पर इतना भयानक हमला किया कि उनका साहस भंग होने लगा और वे पीछे हटने लगे। थोड़ी ही देर में मुग़ल सेना छिन्न-भिन्न हो गई और भागने लगी। ज़फ़रखाँ की सेना ने उनका बड़े ज़ोर के साथ पीछा किया। मुग़ल सेना के एक दल ने सुलतान के केन्द्रीय पक्ष पर हमला किया किन्तु इसको भी हारकर पीछे हटना पड़ा और इस भगदड़ में बहुत से हिन्दुस्तानी, जिनको मुग़लों ने पहले कैद कर लिया था, छूटकर वापस आ गए।

**ज़फ़रखाँ की मृत्यु**—मुग़लों की इस प्रकार हार तो हुई किन्तु ज़फ़रखाँ लड़ते-लड़ते बहुत आगे बढ़ गया और शत्रु ने उसको चारों तरफ़ से घेर लिया। उसकी सर्वप्रियता तथा प्रतिष्ठा के कारण सुलतान तथा उलुग़खाँ दोनों ही उससे ईर्ष्या करते एवं भयभीत थे। उन्होंने न तो ज़फ़रखाँ को आगे बढ़ने से रोका और और न हीं उसके लिए सहायक सेना भेजी। ज़फ़रखाँ मुग़लों को काटता हुआ बहुत दूर तक आगे बढ़ गया और उसके पीछे मुग़ल सैनिक तरग़ी के संचालन में १०,००० सेना छिपी रह गई। ज़फ़रखाँ के लौटते समय इसी बड़ी सेना ने उसका रास्ता रोका। उसके साथ केवल १,००० घुड़सवार थे। इस संकट में उसने अपने साथी सेनापतियों से परामर्श करके मुग़लों से लड़ने का निश्चय किया। ज़फ़रखाँ और उसके साथी जी तोड़कर मुग़लों से लड़े और लगभग ५,००० मुग़लों को उन्होंने तलवार के घाट उतार दिया किन्तु सुलतान ने उनकी रक्षा के लिए कोई सहायक सेना न भेजी। समकालीन लेखक बरनी ने ज़फ़रखाँ की वीरता का बड़ा सजीव चित्रण इन शब्दों में किया है, "जब इस अद्वितीय सुविख्यात वीर का घोड़ा भी उसके नीचे कटकर मर गया तो उसने पैदल ही लड़ना शुरू किया। उसकी वीरता को देख कर मुग़ल सेनापति कुतलुग़ ख्वाजा भी उसकी प्रशंसा किए बिना न रह सका। उसने ज़फ़रखाँ को आमन्त्रित किया और कहा कि यदि तुम मेरी तरफ़ आ मिलो तो मैं तुम्हें अपने पिता के पास ले चलूँगा और वहाँ तुमको दिल्ली के सुलतान की अपेक्षा बहुत अधिक आदर-मान दिया जाएगा। परन्तु वीर ज़फ़रखाँ ने इस प्रलोभन को तुरन्त ठुकरा दिया और अन्त में अकेला लड़ते-लड़ते मुग़लों के हाथ मारा गया।"

**मुग़लों की वापसी**—ज़फ़रखाँ मारा तो गया पर उसकी वीरता की ऐसी धाक मुग़लों पर बैठी कि वे तुरन्त वापस लौट गए। परन्तु उसके पराक्रम की सराहना करना तो दूर अलाउद्दीन ने ज़फ़रखाँ पर यह दोषारोपण किया कि वह आज्ञा के विरुद्ध अपनी बेपरवाही से लड़ने के कारण ही मारा गया। समकालीन लेखकों के अनुसार वास्तविक बात यह थी कि सुलतान ज़फ़रखाँ की मृत्यु से अपने मन में प्रसन्न हुआ क्योंकि उसको ज़फ़रखाँ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा के कारण शंका होने लगी थी।

**तरग़ी का हमला (१३०३)**—ज़फ़रखाँ के अद्वितीय पराक्रम ने कुछ समय के

लिए उत्तर-पश्चिमी सीमा की समस्या का निराकरण तो कर दिया था किन्तु मुग़लों के हमलों से सीमा प्रदेश की रक्षा के आवश्यक साधन पूर्णरूप से निर्मित करने का विचार अलाउद्दीन के मस्तिष्क में अभी नहीं आया था । इसके विपरीत वह यह समझ बैठा कि मुग़ल हमलों से उसे छुटकारा मिल गया था । अतएव उसने राजपूताने को अधिकृत करने के लिए रणथम्भौर व चित्तौड़ आदि पर चढ़ाइयाँ कर दीं । इन कार्यों में लगभग ४ वर्ष व्यतीत हो गए । इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि इस ४ वर्ष के अवकाश में सुलतान ने सीमा प्रदेश तथा हमलावरों के मार्गों को सुदृढ़ तथा सैनिक रूप से सुरक्षित करने की ओर ध्यान न दिया । चित्तौड़ के लम्बे घेरे से वापस लौटे हुए सुलतान को थोड़े ही दिन हुए थे कि १३०३ के अन्तिम दिनों में १,२०,००० सेना के साथ मुग़ल सेनाध्यक्ष तरग़ी ने राजधानी को आ घेरा । यदि सुलतान ने सीमावर्ती भूमि तथा मार्गों को सम्यक् रूप से सुरक्षित कर दिया होता तो मुग़ल सेना देश में घुस न पाती । यह ठीक उसी प्रकार की भूल व उदासीनता थी जिसका प्रदर्शन राजपूत लोग सदैव करते आए थे । इस आक्रमण से राजधानी में बड़ी खलबली मच गई और समस्त जनता भय से काँप उठी । संकट की भयानकता इस कारण और भी अधिक हो गई थी कि चित्तौड़ के घेरे में सुलतान की सेना तथा युद्ध-सामग्री बहुत-कुछ नष्ट हो चुकी थी और जो कुछ थोड़ी-सी सेना लौटकर आई थी वह इतनी थकी-माँदी थी कि उसमें लड़ने का साहस बिलकुल न था । इसके अतिरिक्त इसी समय सुलतान ने हिन्दुस्तान की समस्त सेना फ़ख़रुद्दीन जूना के नेतृत्व में अरंगल (वरंगल) पर चढ़ाई करने के लिए भेजी जो वहाँ से पराजित व नष्टप्राय होकर लौटी । इस प्रकार तरग़ी के इस आक्रकण के समय राजधानी की रक्षा का कोई साधन न रह गया था ।

तरग़ी ने इस समय हमला इसलिए किया था कि उसे मालूम था कि दिल्ली सुलतान अपनी सेना के साथ बहुत दूर चढ़ाइयों पर गया हुआ है । अलाउद्दीन में एक ही गुण था, कि वह किसी परिस्थिति में भयभीत न होता था । इन भारी संकटों में भी वह न घबराया और सब प्रान्तों के सेनापतियों को तुरन्त अपनी फ़ौजें राजधानी की रक्षा के लिए लाने की आज्ञाएँ भेजी ।

सुलतान की सुरक्षा में इस बात से बड़ी सहायता मिली कि वह सीवी के दृढ़ दुर्ग के अन्दर था और मुग़ल सेना उसके बाहर खुले मैदान में । सीवी के पूर्व में जमुना नदी और दक्षिण-पश्चिम में दिल्ली का सुदृढ़ दुर्ग था और तीसरी ओर बड़ा घना वन था । अतएव मुग़ल सेना राजधानी पर केवल उत्तर की ओर से ही धावा कर सकती थी । अलाउद्दीन ने अपने शिविर के चारों ओर बड़ी गहरी खाई खुदवाई और उसको काठ के तख्तों की दीवार से घेर दिया । इस खाई के हरेक नाके पर उसने बड़े-बड़े हाथी और सशस्त्र घुड़सवार स्थापित कर दिए । सुलतान के इन उपायों के कारण मुग़ल सेना को उसके शिविर में घुसने का अवसर न मिला । इस प्रकार सुलतान की सेना मुग़लों से राजधानी की रक्षा करती रही । अलाउद्दीन को आशा थी कि मुल्तान,

सामाना आदि की ओर से सहायक सेना आ जाएँगी; पर उसकी यह आशा पूरी न हुई क्योंकि मुग़लों ने चारों ओर के रास्तों को रोक दिया था। परन्तु बेसूद घेरा डाले रखने और सीवी में न घुस सकने से मुग़ल सेना ऊब गई और पुरानी दिल्ली व आस-पास के गाँवों को लूट-खसोटकर वे वापस लौट गए।

**अलीबेग़, तरताक़ और तरग़ी का आक्रमण** (१३०५)—तरग़ी के आक्रमण के कटु अनुभव से अलाउद्दीन की आँखें खुलीं और उसे काज़ी अलाउलमुल्क का वह परामर्श, जो उसने सुलतान के बेलगाम इरादों को रोकने तथा कठोर समस्याओं को समझाने के लिए दिया था, याद आया क्योंकि उसने तब तक काज़ी के सत्परामर्श पर तनिक भी ध्यान न दिया था। अब उसने बाहरी हमलों से सल्तनत की रक्षा करने के महत्व तथा तात्कालिक अवस्था को अनुभव किया, अपने मन्त्रिमंडल से इस गहन समस्या पर विचार करके उसका समाधान करने के बारे में सलाह माँगी। मन्त्रिमण्डल ने पूरी तरह विचार करके एक योजना सुलतान को बतलाई। सुलतान ने उसे पूरी तरह कार्यान्वित करने का फ़ौरन इरादा कर लिया। इस योजना का विवरण यथास्थान दिया जाएगा।

अपने पिछले आक्रमण में असफल होने के कारण तरग़ी दिल्लीश्वर से बदला लेने तथा अपने मान-मर्दन के कलंक को धोने के लिए आतुर था। अतएव, जब अलीबेग़ और तरताक़ ने हिन्दुस्तान पर १३०५ में चढ़ाई की तो तरग़ी भी उनके साथ मिल गया। लगभग ५०,००० मुग़ल सिन्धु को पार करके बड़ी तेज़ी से सारे पंजाब तथा जमना, गंगा को लाँघकर दिल्ली से कोई ८० मील पूर्व की तरफ़ अमरोहा तक पहुँच गई। यह बात विचारणीय है कि सुलतान के उन सब साधनों तथा योजनाओं के बाद भी, जो इन मुग़ल हमलों को रोकने के लिए पूरी तरह से कार्यान्वित किए गए थे, साम्राज्य की सेना मुग़लों को देश के अन्दर घुसने से केवल रोकने में ही असमर्थ न रही किन्तु सारे पंजाब तथा गंगा-जमुना के दोआब को पार करके अमरोहा तक का लगभग ५०० मील का फ़ासला भी वे बेरोक-टोक तय कर सके। सुलतान को इस भयानक हमले की सूचना तब मिली जब वह अमरोहा तक जा पहुँचे। इस संकट से मलिक नायक और मलिक तुग़लक़ ने राज्य की रक्षा की। उन्होंने मुग़लों को पूरी तरह परास्त किया और उनके लगभग २०,००० घोड़े पकड़ लिए। दोनों मुग़ल सेनापति भी बंदी कर लिए गए और बेड़ियों में कसकर दिल्ली भेज दिए गए। सुलतान ने ८,००० अन्य मुग़ल कैदियों के साथ इनके सर कटवाए। अन्य मुग़लों के सरों को ईंटों की तरह चुनकर मीनारें बनवायी गईं। इस घटना से यह निष्कर्ष निकलता है कि कई लाख सेना आदि तथा अन्य हर प्रकार की सुरक्षा सामग्री के होते हुए भी सुलतान उसकी ऐसी व्यवस्था न कर सका कि बाहरी आक्रान्ता देश में एक क़दम भी घुस न पाते। इसके प्रतिकूल उनका ५०० मील से अधिक देश के अन्दर बेरोक-टोक घुस जाना इस सुलतान की सामरिक अनभिज्ञता को प्रमाणित करता है। इस प्रकार की अन्य घटनाओं के होते हुए उन लेखकों का सिद्धान्त जो अलाउद्दीन को एक प्रतिभा-

शाली सैनिक बतलाते हैं, सर्वथा निर्मूल जान पड़ता है।

**कुपक़, इक़बालमन्द आदि मुग़ल सरदारों के आक्रमण** (१३०६)— अलीबेग और तरताक़ के मारे जाने का बदला लेने के लिए १३०६ में कुपक़ तथा इक़बालमन्द नामी मुग़ल सरदारों ने सिन्धु को पार करके पंजाब पर आक्रमण कर दिया और एक बड़ी सेना के साथ गाँवों को जलाते-फूँकते तथा जनता को लूटते-खसोटते और हज़ारों को क़त्ल करते हुए रावी के तट तक पहुँच गए। उसी समय एक और मुग़ल सेना इक़बालमन्द के संचालन में दक्षिण की ओर नागौर तक जा पहुँची और उस प्रदेश में मार-काट करके तहलका मचा दिया। अलाउद्दीन ने मलिक नायब क़ाफ़ूर, मलिक तुग़लक तथा देवपालपुर के जागीरदार मलिक आलम आदि सेनानायकों को शत्रु-सेना को खदेड़ देने के लिए भेजा। क़ाफ़ूर ने अपनी सेना को खुश करने के लिए एक वर्ष का अगाऊ वेतन देने का वचन दिया। रावी के तट पर दोनों सेनाओं का युद्ध हुआ। क़ाफ़ूर और तुग़लकशाह की वीरता ने मुग़लों को एक बार फिर बुरी तरह परास्त किया और हज़ारों को उनके परिवारों समेत क़ैद कर लिया। सुलतान ने क़ैदियों को हाथियों से रुँदवा डाला और उनकी खोपड़ियों की मीनारें चिनवाईं।

**मुग़लों की हार के कारण**—तुर्की व ख़ल्जी सुलतानों के विरुद्ध मुग़ल सेनाओं का निरन्तर पराजित होना तत्कालीन इतिहास में बहुत अर्थपूर्ण है। इसका महत्व हमको अधिक स्पष्ट रूप से उस समय समझ में आता है जब हम तुर्कों की विजय तथा दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पूर्व की दो सदियों के अन्दर राजपूत राजाओं के पराभव पर ध्यान देते हैं। उन दो सदियों में दिल्ली तथा कन्नौज आदि के बड़े-बड़े सम्राट् तथा वीर योद्धा देश के उसी प्रकार विधाता व शासक थे जिस प्रकार उनको हटाकर तुर्की सुलतान उनके स्थानापन्न बन गए थे। इस प्रसंग में यह भी याद रखना चाहिए कि दिल्ली के सुलतानों की परिस्थिति इनके पूर्वगामी राजपूत राजाओं से किसी दृष्टि से भी अधिक दृढ़ नहीं थी। यदि यह कहा जाए कि दिल्ली के सुलतानों ने समस्त उत्तर भारत पर एक सत्ता स्थापित कर ली थी और इसके विपरीत किसी राजपूत राज्य के पास भी इतना विस्तृत राज्य नहीं था और वे आपस में बराबर लड़ते रहते थे, तो यह भी याद रखना चाहिए कि दिल्ली सल्तनत तेरहवीं सदी के अन्त तक किसी प्रकार भी सुव्यवस्थित व संगठित न हो पाई थी और विभिन्न प्रान्तों के शासक निरन्तर सुलतानों का विरोध करते रहते थे जिसके कारण इन सुलतानों का बहुत-सा धन व सामग्री तथा समय इन घरेलू झगड़ों के दमन करने में व्यतीत होता था। इसके अतिरिक्त हम देख चुके हैं कि देशी हिन्दू सामन्तों व छोटे-छोटे राजाओं तथा मेवाती आदि फ़िरक़ों का विरोध भी दिल्ली सुलतानों के लिए एक असाध्य रोग था। उनकी ये समस्याएँ सुलतानों को राज्य का संगठन करने तथा साम्राज्य का विस्तार करने में निरन्तर बाधक थीं। इस चित्र को दृष्टि में रखकर हम समझ सकेंगे कि दिल्ली सुलतानों के साधन तथा सैनिक शक्ति किसी प्रकार राजपूतों से अधिक नहीं थे।

दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि तुर्की हमलों की अपेक्षा मुग़लों के हमले कुछ अधिक ही भयानक थे, किसी प्रकार उनसे कम नहीं थे। जो आन्तरिक कठिनाइयाँ, पड़ोसियों के हमले अथवा घरेलू झगड़े राजपूतों को भुगतने पड़ते थे लगभग वैसे ही सुलतानों को भी सहने पड़ते थे। तथापि हिन्दू राजा अपने शताब्दियों से संस्थापित राज्यों की रक्षा न कर सके। इसके विपरीत दिल्ली सुलतान, जिनके राज्य की नींव अभी कच्ची ही थी, बाहरी आक्रमणों से अपनी सत्ता तथा साम्राज्य की रक्षा कर सके। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह परिणाम स्पष्ट निकलता है कि तत्कालीन हिन्दू राजा सैन्य-बल तथा रण-विद्या में नितान्त अयोग्य व क्षीण हो गए थे।

मुग़लों के पराभव पर विचार करने से उसके निम्न कारण प्रतीत होते हैं। चंगेज़ के बाद उसके वंशजों में उसका विस्तीर्ण साम्राज्य बँट गया था और वे परस्पर लड़ते रहते थे। अतएव वे कभी भी दृढ़ संकल्प करके भारत को जीतने के लिए सेना नहीं भेज पाते थे। केवल अवसर पाने पर वे प्रायः लूट-मार करने और अपने पशुओं के लिए दाना-पानी समेटने चले आते थे। दूसरे मुग़ल सैनिक घेरा डालने (सैनिक अवरोध) के काम में बहुत कच्चे थे। तीसरे, शायद उन लोगों की संख्या भी इतनी बड़ी न होती थी जितनी अत्योक्ति के साथ तत्कालीन लेखकों ने बतलाई है। एवं स्त्रियों तथा बच्चों आदि अपने परिवारों को साथ लाने के कारण उनकी युद्ध-शक्ति अवश्य ही बहुत निर्बल हो जाती थी। चौथे, अनेक बार यह भी देखा गया कि यदि मुग़ल सेना को दो-चार महीने हिन्दुस्तान के गरम मैदानों में ठहरना पड़ गया तो उनका सारा सन्तोष और धैर्य समाप्त हो जाता था क्योंकि वे लोग जो जीवन-भर स्नान करने का नाम न लेते थे और जिनके वस्त्र पशुओं की खाल के होते थे, कभी भी इस देश में रहने को तैयार न हो सकते थे जब तक कि वे अपनी दिनचर्या एवं स्वभाव आदि को मौलिक रूप से न बदलें। मुग़लों की बड़ी-बड़ी सेनाएँ कई बार कुछ महीने राजधानी के निकट तक लूटमार करके स्वयं ही वापस लौट गईं। यह घटना तत्कालीन लेखकों को भी आश्चर्यजनक जान पड़ी और उन्होंने इसके कारणों का बयान करने में केवल अपनी कल्पना से काम लिया। किसी ने लिखा कि दिल्ली की त्रस्त जनता की प्रार्थनाओं के कारण ईश्वर ने उनको लौट जाने की प्रेरणा दी और किसी ने सोचा कि निज़ामुद्दीन औलिया आदि सन्तों के आत्मिक बल के कारण उनको लौट जाना पड़ा। किन्तु उनके लौट जाने के वास्तविक कारण हमारे उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हैं।

## (२)

## सल्तनत का विस्तार तथा अलाउद्दीन की मदान्धता

**गुजरात व सोमनाथ पर चढ़ाई**—इस खंड में अलाउद्दीन के साम्राज्य विस्तार की संक्षेप से चर्चा की जाएगी। घरेलू उलझनों का निबटारा करने में उसे लगभग तीन बरस लग गए। इसके बाद १२९९ में उसने

अपने विश्वसनीय सेनानायकों उलुग़ख़ाँ और नुसरतख़ाँ को गुजरात पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। नुसरतख़ाँ दिल्ली से गया और उलुगख़ाँ जो सिन्ध में था, उस तरफ़ से चलकर नुसरतख़ाँ की सेना से मेवाड़ में आकर मिल गया। और फिर दोनों सेनाएँ मेवाड़ की भूमि में लूट-मार करती तथा कुछ स्थानों को अधिकार में लेती हुई गुजरात की ओर बढ़ीं। रास्ते में उन्होंने चित्तौड़ पर भी हमला करने की चेष्टा की, पर इसमें वे असफल रहीं। गुजरात की भूमि में प्रवेश करते ही तुर्की सेना ने निहत्थी जनता को बेदर्दी से लूटमार करना शुरू किया। अन्हिलवाड़ा का राजा कर्ण बघेल अन्य राजपूतों की तरह बिलकुल बेसुध बैठा भोग-विलास में निमग्न था। जिस प्रकार ऐसी परिस्थिति में लखनौती से लक्ष्मणसेन भागा था उसी प्रकार कर्ण भी अपनी जान बचाकर देवगिरि की तरफ भागा। उसकी पटरानी कमलादेवी तथा राजमहल की अन्य बहुतसी स्त्रियाँ और अनन्त धन-सम्पत्ति विजेताओं के हाथ में पड़ी। कमलादेवी को दिल्ली सुलतान के पास भेज दिया गया और फिर आक्रान्ताओं ने सोमनाथ के मन्दिर को जिसे सोलंकी राजा कुमारपाल ने बारहवीं सदी के मध्य में फिर से निर्माणित कर दिया था, जी भरकर लूटा और सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़े करके दिल्ली ले गया जहाँ उसको मुसलमानों के पैरों तले कुचलवाया गया। समस्त तत्कालीन लेखक समान रूप से बतलाते हैं कि उलुग़ख़ाँ व नुरसतख़ाँ ने इस अवसर पर गुजरात के सैंकड़ों नगरों, पवित्र स्थानों तथा मन्दिरों आदि को तहस-नहस किया, उनकी सम्पत्ति को लूटा और हज़ारों निस्सहाय मनुष्यों का वध किया। इस प्रकार लूट-मार करते हुए वे लोग सूरत की तरफ बढ़े और उसके आस-पास भी सैंकड़ों मठों, महलों व मन्दिरों को लूटा और तोड़ा ऐसामी तो यह भी कहता है कि दिल्ली की सेना केवल गुजरात देश को लूटकर सन्तुष्ट नहीं हुई। बहुत से सिपाहियों ने गुजरातियों के भूमि में दबे हुए खजानों को भी खोद-खोदकर निकाल डाला।

इसके बाद नुसरतख़ाँ ने खम्बात (Cambay) के समृद्ध बन्दरगाह को भी उसी तरह लूटा। वहाँ उसने एक व्यापारी से एक युवक 'काफ़ूर' को छीना जिसका मूल्य १,००० दीनार दिया गया था।

**जालौर के पास विद्रोह**—क्रूरता में तो इन सरदारों में कोई कम न था किन्तु नुसरतख़ाँ निरा नरपिशाच था। उसने वापसी में जालौर के पास कैम्प किया और लूट के माल को खम्स के बहाने से सैनिकों से इतनी कड़ाई से छीनना शुरू किया कि वे इस दुष्ट व्यवहार को सहन न कर सके। इन लोगों में विशेषकर नवमुस्लिम सैनिक थे जिनके साथ अत्यन्त पाशविक बरताव किया गया था। उन्होंने इन आततायी सरदारों पर हमला कर दिया और नुसरतख़ाँ के भाई (अमीर-हाजिब) तथा उलुग़ख़ाँ के भांजे को कत्ल कर दिया। नुसरतख़ाँ व उलुगख़ाँ बलवाइयों को न मिले। बड़ी कठिनता से इनको दमन किया गया। उनमें से कुछ भागकर रणथमौर के चौहान राजा हम्मीर के पास चले गए।

**जालौर के वीर शासक कान्हड़देव से युद्ध**—मारवाड़ के प्रसिद्ध जालौर राज्य का शासक इस समय कान्हड़देव चौहान था। १२९६ ई० में उसके पिता ने अपने जीवन-काल में ही राज-काज का भार उसे सौंप दिया था। गुजरात पर चढ़ाई करते समय ख़ल्जी सुलतान ने कान्हड़देव से आज्ञा माँगी थी कि वह उसकी सेना को जालौर के मार्ग से जाने दे, पर कान्हड़देव ने इन्कार कर दिया था। इस कारण दिल्ली की सेना को मेवाड़ के रास्ते से जाना पड़ा था। गुजरात व सोमनाथ एवं कठियावाड़ को नष्ट-भ्रष्ट करके विजयी सेना मारवाड़ के मार्ग से वापस आई। इस बार सैनिकों ने कान्हड़देव से आज्ञा न ली। ख़ल्जी सेना से जालौर की सेना का युद्ध वहाँ से लगभग २० मील साकराना गाँव के निकट हुआ। इसी समय नव-मुस्लिमों का भी विद्रोह हुआ जो चौहानों से मिल गए थे। उलुग़ख़ाँ व नुसरतख़ाँ बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भागे, पर उनके बहुत सिपाही मारे गए और हिन्दू बन्दियों को उनके पंजे से मुक्त कर दिया गया। साथ-साथ सोमनाथ की मूर्ति के पाँच टुकड़े जो ये लोग दिल्ली मुसलमानों के पैरों तले रौंदवाने को ले जारहे थे, उनसे छीन लिए गए। कान्हड़देव ने इन टुकड़ों को पाँच स्थानों पर पुनःस्थापित किया।

इस हार के बाद १३०५ तक ख़ल्जी सुलतान ने इस तरफ मुँह न मोड़ा। जब वह धार, चंदेरी, मांडू, उज्जैन तथा चित्तौड़ को नष्ट कर चुका तब उसने जालौर पर फिर चढ़ाई की। पहले दिल्ली सेना जालौर से लगभग ३० मील सिवाना पर पहुँची। पर वहाँ के सामन्त साँवलदेव ने उसे पूरी तरह परास्त किया। उसके कई सेनापति भी खेत रहे। सुलतान ने फिर कई बार सिवाना पर चढ़ाइयाँ कीं पर सब को परास्त होना पड़ा। तब (१३१०) सुलतान ने स्वयं एक भारी सेना के साथ सिवाना पर चढ़ाई की। पर साँवलदेव को वह परास्त न कर सका। तब उसने एक राजद्रोही की सहायता ली और राजपूतों को खुले मैदान में लड़ने पर विवश कर दिया। साँवलदेव अन्त में मारा गया। किले पर शत्रुओं का अधिकार हो गया।

इसके बाद अपने सेनापतियों को जालौर पर हमला करने और सारे प्रदेश को तबाह कर देने की आज्ञा देकर सुलतान दिल्ली लौट गया। कान्हड़देव ने अपने सब सामन्तों को एकत्रित करके दिल्ली की सेना को तितर-बितर कर दिया और उसमें भगदड़ मच गई। यदि इस समय चौहानों ने शत्रु-सेना का पीछा करके उसे पूरी तरह नष्ट कर दिया होता तो शायद सुलतान दुबारा हमला करने का साहस न करता। परन्तु जिस बेसमझी का ऊपर निर्देश किया जा चुका है, उससे ये राजपूत भी बरी न थे। शत्रु को केवल पछाड़कर चुप बैठ रहने में ये लोग अपने क्षात्रधर्म की पूर्ति समझते थे। उसे पूरी तरह नष्ट करने के महत्व को ये कभी न समझे। ठीक यही भूल पृथ्वीराज ने मुहम्मद ग़ूरी को एक बार परास्त करके, की थी।

कान्हड़देव के सैनिक तो अपनी इस विजय से इतने फूल गए कि उन्होंने अपने हथियार आदि सब उतारकर आराम करना व गाना-बजाना शुरू किया। इतने में मलिक नायब अपनी सेना लेकर आ पहुँचा और चौहान सेना पर टूट पड़ा। ४,०००

सैनिक तलवार के घाट उतार दिए गए क्योंकि वे निहत्थे थे। इसके बाद जालौर पर घेरा डाला गया। यह घेरा बहुत दिन तक चला। जब खल्जी सुलतान थक गया तो उसने एक दाहिया राजपूत को राजगद्दी का प्रलोभन देकर तोड़ लिया और वह एक गुप्त रास्ते से शत्रु-सेना को किले के अन्दर ले गया। अब कान्हड़देव के लिए कोई बचत का अवसर न रहा। राजपूत रानियों को जौहर की आग में भस्म करके, चौहान सैनिकों ने तुर्क सेना की भयानक मार-काट कर अन्त में लड़ते-लड़ते सब वीर-गति को प्राप्त हुए। इस प्रकार जालौर के इस वंश का अन्त हुआ। राजद्रोही बीका को अपने पाप का परिणाम मिल गया। स्वयं उसकी स्त्री ने उसका वध कर डाला।

**अलाउद्दीन की अभूतपूर्व हृदय-विदारक पैशाचिक नृशंसता**—विद्रोह से इस प्रकार मुक्ति पाकर उलुग़खाँ व नुसरतखाँ ने फिर सैनिकों को न छेड़ा और शांतिपूर्वक दिल्ली पहुँच गए। विद्रोह की सूचना दिल्ली पहुँचते ही सुलतान ने विद्रोहियों के स्त्री व बच्चों को बन्दी करके कारागार में डाल दिया था। परन्तु जब नुसरतखाँ दिल्ली पहुँचा तो उसे इन निरपराधियों को इतना ही दण्ड देने पर सन्तोष न हुआ। उसने अपने भाई के रक्त का बदला लेने के लिए विद्रोहियों की स्त्रियों पर खुले आम मेहतरों से बलात्कार कराया तथा उनके बच्चों को उन्हीं की माताओं के सामने कटवाया। इस बर्बरतापूर्ण व्यवहार को देखकर इतिहासलेखक बरनी भी काँप उठा और उसका मन घृणा से भर गया। यह नृशंसता उससे सही न गई। उसने दुःख भरे शब्दों में लिखा है कि "पुरुषों के अपराध के कारण उनके स्त्री-बच्चों को दण्डित करना और उनसे ऐसा नृशंस व्यवहार करना कभी न देखा गया था। यह कार्य पहले-पहले इस सुलतान के शासन-काल में ही किया गया। इस प्रकार के दण्ड व अत्याचारों की संसार का कोई भी धर्म आज्ञा नहीं देता है।"

**मालवा पर चढ़ाई (लगभग १३०३)**—इन हमलों का बरनी ने कोई उल्लेख नहीं किया है। अमीर खुसरो ने अपनी पुस्तक देवलरानी तथा खजायन-उल-फितूह में इनका विवरण दिया है। वह कहता है कि रणथम्भौर और चित्तौड़ जैसी शक्तिशाली रियासतों के संहार से अलाउद्दीन का आतंक राजपूताना पर बैठ गया परन्तु मालवा के राजा राय महलकदेव ने फिर भी उसका प्रभुत्व न माना और मुस्लिम आक्रांताओं का सामना करने के लिए उद्यत हुआ। मालवा पर मुसलमानों का हमला इल्तुतमिश के काल में पहले भी हो चुका था जबकि सन् १२३१-३२ में इल्तुतमिश ने भिलसा व उज्जैन को उजाड़ा था और महाकाल के प्राचीन प्रसिद्ध देवस्थान को विध्वंस किया था किन्तु यह हमला केवल लूट-खसोट के लिए ही था। इसके बाद मालवा के राजा फिर स्वाधीनता से शासन करते रहे।

अमीर खुसरू तथा अन्य लेखकों के अनुसार मालवा के राजा के पास चालीस हजार अश्वारोही तथा एक लाख पैदल सेना थी। कोका प्रधान जो एक बड़ा वीर सैनिक तथा राजनीतिज्ञ था, उस सेना का मुख्य संचालक था। अलाउद्दीन ने

आइनुलमुल्क मुलतानी को दस हज़ार अश्वारोही सेना के साथ, मालवा पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। उस राज्य में घुसकर इस सेना ने ऐसी मारकाट तथा लूटपाट मचाई कि सारी जनता काँप उठी और कोका प्रधान लड़ाई में मारा गया। अमीर खुसरू के लेखानुसार रणभूमि, जहाँ-जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, हिन्दुओं के रक्त से भर गई। कोका प्रधान का सर काटकर दिल्ली भेजा गया ताकि वहाँ राजमहल के मुख्य द्वार के सामने उसको घोड़ों के पैरों से कुचलवाया जाय। कोका के मरते ही राय महलक ने भागकर मांडु के किले में शरण ली। फिर आइनुलमुल्क ने मांडु को भी जीत लिया। लड़ाई में महलकदेव और इसका बेटा दोनों मारे गए। मांडु के किले पर मुसलमानों की विजय का कारण यह था कि एक देशद्रोही ने मुस्लिम सेनापति को अंधेरी रात में एक गुप्त मार्ग से अन्दर घुसा दिया। मांडु के पतन के अनन्तर उज्जैन, धारानगरी तथा चन्देरी आदि के शासकों को भी परास्त करके सुलतान का आधिपत्य मनवाया गया। समस्त देश का शासन आइनुलमुल्क मुल्तानी के सुपुर्द किया गया। इस आक्रमण के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है कि मालवा की सेना इतनी बड़ी हो और ऐसा चतुर सेनापति होते हुए भी उसको सुलतान के केवल दस हज़ार सैनिकों ने आसानी से परास्त कर दिया हो। जान पड़ता है कि इसमें मुसलमानी सेना की योग्यता को बढ़ा-चढ़ाकर दिखलाने के लिए अमीर खुसरो ने बहुत अतिशयोक्ति से काम लिया है। मालवा जैसी छोटी-सी रियासत में इतनी भारी सेना का होना भी अस्वाभाविक जान पड़ता है।

**अलाउद्दीन की बे-लगाम मदान्धता तथा विलक्षण योजनाएँ**—ध्यान रहे कि इसी समय मुग़ल सरदार सल्दी का सीविस्तान पर आक्रमण हुआ था जिसको ज़फ़रखाँ ने परास्त किया था। इन सफलताओं तथा विजयों ने इस मूढ़ सुलतान का सर फेर दिया। उसने अपने अहंकार का संतोष करने के लिए अत्यन्त विचित्र तथा असम्भव योजनाएँ बनाना शुरू किया। वह एक धर्म का प्रवर्तक बनने और साथ ही समस्त संसार को विजय करने के स्वप्न देखने लगा। उसने कहा कि मुहम्मद साहब के समान उसके भी चार मित्र हैं। फिर वह भी एक नया धर्म क्यों नहीं चला सकता। इस मूढ़ सुलतान की बुद्धि में नवी के समान चार मित्रों का होना ही एक नया मत चलाने के लिए पर्याप्त गुण था। दूसरे, उसने सिकन्दर महान के विश्व विजय की बात सुनी थी। तब उसने सोचा कि वह भी विश्व-विजयी होकर सिकन्दर सानी (दूसरा) क्यों न बने। अपनी इन लालबुझक्कड़ वाली योजनाओं के विषय में वह अपने दरबारियों तथा अमीरों से प्रायः चर्चा किया करता था। सिंहासनारूढ़ होने के तीन वर्ष के अवकाश में लगातार उसे सभी अवसरों पर विजय प्राप्त हुई थी। और इतनी असंख्य सम्पत्ति मिली थी कि उसकी कल्पनाएँ आसमान से बातें करने लगीं। और खुले तौर पर विश्व-विजय के लिए प्रस्थान करने की बातें करने लगा। पर कुछ किए बिना अपने इस पागलपन के

स्वप्न में ही उसने सिक्कों पर अपना नाम 'सिकन्दर सानी' अंकित करा डाला।

यद्यपि सुलतान की इन अनर्गल बातों को दरबार के सभी लोग निरी मूर्खता समझते थे तथापि उसके भय से कोई कुछ बोलने का साहस न करता था। प्रत्युत वे उसको और बढ़ावा देते थे। एक ऐसे अवसर पर जब सुलतान शराब के नशे में अपनी इन योजनाओं को बढ़-बढ़कर बयान कर रहा था, दिल्ली का कोतवाल काज़ी अलाउलमुल्क भी उपस्थित था।* इस अवसर पर सुलतान ने इन योजनाओं के विषय में उसकी राय माँगी। अलाउलमुल्क ने सबसे पहले तमाम शराबियों को बाहर निकलवाया। केवल चार मुख्य अमीरों को वहाँ रहने दिया। तब उसने बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि "जहाँ तक एक नए दीन की स्थापना का प्रश्न है, यह कार्य राजाओं अथवा राजनीतिज्ञों का नहीं है और आपको कदापि इस प्रकार की योजनाओं का विचार भी नहीं करना चाहिए। यह काम केवल ईश्वर का है और उसका संचालन उसके नबियों और रसूलों द्वारा ही किया जाता है। बादशाहों का काम राज-व्यवस्था तथा शासन आदि राजनीतिक कार्य करना है। अगर कहीं यह खबर सामान्य मुसलमान जनता तक पहुँच गई तो उनके अन्दर सुलतान के प्रति भारी विरोध उत्पन्न हो जाएगा। सम्भव है भारी उपद्रव खड़े हो जाएँ और साम्राज्य संकट में पड़ जाय। अतएव मैं एक परम राज-भक्त के नाते सुलतान से विनीत प्रार्थना करूँगा कि इस विचार को त्याग दें और खुशामदी लोगों के धोखे में न आएँ।" सुलतान ने अपनी भूल को समझ लिया और नए धर्म चलाने के विचार को त्याग दिया।

दूसरी योजना के विषय में अलाउलमुल्क ने कहा कि "बेशक बड़े-बड़े विजेताओं व सुलतानों की महत्वाकांक्षा ऐसी ही होती हैं। सुलतान की योजना भी सराहनीय है क्योंकि सुलतान के पास अत्यन्त धन-सम्पत्ति तथा लाव-लश्कर, हाथी-घोड़े आदि विद्यमान हैं। अतएव मैं सुलतान को दूसरी योजना पर कार्य करने से रोकना नहीं चाहता किन्तु अन्य देशों को जीतने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि दिल्ली की सल्तनत जो इतना रक्तपात तथा सम्पत्ति व्यय करके प्राप्त की गई है, उसकी देखभाल सुलतान के पीछे कौन करेगा। और यह किस प्रकार नि.संदेह विश्वास किया जा सकेगा कि सुलतान की अनुपस्थिति में कोई विद्रोह अथवा विरोध न कर बैठेगा। सिकन्दर के समान सुलतान के पास न कोई राजभक्त है और न अरस्तु जैसा बुद्धिमान गुरु है। इसके प्रतिकूल सुलतान की प्रजा, विशेषकर हिन्दू लोग उसके पीछे कदापि चुप न बैठेंगे इसलिए सबसे पहले सल्तनत को पूरी तरह सुरक्षित करना आवश्यक है।" सुलतान के सवाल करने पर कि फिर मेरी अनन्त सामग्री का क्या लाभ है, काजी ने उत्तर दिया कि सबसे पहले वह दो कार्य परमावश्यक

* अलाउलमुल्क इतना मोटा था कि आसानी से चल-फिर न सकता था। अतएव सुलतान ने उसे महीने में केवल एक बार हाज़री देने की अनुमति दे दी थी।

समझता है। पहले समस्त हिन्दुस्तान को अपने अधिकार में लाकर पूर्णरूप से राजभक्त बना लेना अर्थात् मुल्तान तथा लाहौर से पूर्व देशों तक और उत्तर से समस्त मालवा तथा राजस्थान आदि के प्रदेशों को इस प्रकार राजभक्त बनाया जाय कि उनमें विद्रोह होना असम्भव हो जाए। दूसरा महान कार्य यह है कि उत्तर-पश्चिम सीमा को मुगलों के भय से देश को पूरी तरह सुरक्षित कर दिया जाए। इस कार्य को करने के साधन ये हैं कि उत्तर-पश्चिमी सभी के नाकों और मार्गों पर विश्वासपात्र सैनिक नियुक्त किए जाएँ तथा उनको अच्छे अस्त्र-शस्त्रों से भरपूर कर दिया जाए और इस तरह मुग़ल आक्रमणों को सदा के लिए बन्द कर दिया जाए। अन्तिम याचना अलाउलमुल्क ने सुलतान से यह की कि ये सब कार्य तब ही पूरे हो सकते हैं जब सुलतान भोग-विलास व मदिरापन को त्यागकर शासनकाल में लग जाए।

अलाउलमुल्क के सद्परामर्श से सुलतान बहुत प्रभावित एवं प्रसन्न हुआ और उस मोटे काज़ी को बहुत से इनाम-इकराम देकर बड़े सम्मान के साथ बिदा किया। उन चारों अमीरों ने भी काज़ी के घर बहुत-सा धन, घोड़े आदि भेंट स्वरूप भेजे।

**रणथम्भौर पर आक्रमण : अलाउलमुल्क के परामर्श का महत्व**—सन् १३०१ में, काज़ी अलाउलमुल्क के परामर्श के बाद ही अलाउद्दीन ने रणम्भौर के किले को जीतने के लिए नुसरतखाँ व उलुगखाँ तथा अन्य सेना-संचालकों के साथ एक बड़ी सेना भेज दा। इस प्रसंग में दो विषय विचारणीय हैं। अलाउलमुल्क के उपर्युक्त वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि खल्जी शासन के छः-सात वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी फ़ीरोज़ व अलाउद्दीन कोई भी अपने शासन तथा नीति को ऐसा उत्तम तथा प्रजाहित-कारी न बना सका था जिससे जनता विशेषकर, हिन्दू जनता में, उनके प्रति विश्वास व राजभक्ति के भाव उत्पन्न होते और सल्तनत की नींव प्रजा की राजभक्ति पर आधारित हुई होती। इस संकटमय परिस्थिति को अलाउलमुल्क पूरी तरह जानता था और सुलतान का ध्यान उसने इस ओर आकृष्ट किया। किन्तु आश्चर्य यह है कि अलाउलमुल्क ने इस आंतरिक असंतोष तथा विद्रोह की समस्या का निराकरण अथवा चिकित्सा का एक ही उपाय बताया अर्थात् तलवार का बल, जिस पर चलकर उसने सीमा की रक्षा की समस्या का पूरी तरह विश्लेषण किया और उसको अन्त करने के उपायों को बड़े विस्तार से बतलाया। दूसरा सारपूर्ण विषय इस प्रसंग में यह है कि अलाउद्दीन ने अपने मित्र काज़ी के सीमा सम्बन्धी परामर्श को बड़े ध्यान से सुना किन्तु उस पर आचरण करना वह सर्वथा भूल गया। सीमा प्रदेश की रक्षा के लिए उसने कोई भी कार्य नहीं किया, प्रत्युत राजधानी से एक बड़ी सेना दूरस्थ रणथम्भौर को जीतने के लिए भेज दी। न ही उसने आंतरिक विद्रोहों अथवा असंतोष को शांत करने का कोई उपाय किया। रणथम्भौर का क़िला घेर लिया गया।

किले की दीवार के पास पाशेब व गरगच बनाए गए ।* परन्तु नुसरतखाँ मारा गया और इसका समाचार सुनकर अलाउद्दीन एक भारी सेना लेकर रणथम्भौर की तरफ़ स्वयं रवाना हुआ ।

**मार्ग में तिलपत के स्थान पर सुलतान पर हमला**—दिल्ली से चलकर अलाउद्दीन ने पहला पड़ाव तिलपत में किया। यहाँ वह कई दिन ठहरा और प्रतिदिन शिकार खेलने जाता था । एक दिन वह रात हो जाने के कारण केवल दस-बारह सिपाहियों के साथ एक गाँव में ठहर गया । उसकी सेना जंगली जानवरों को घेरने में व्यस्त थी । अगले दिन सुबह मैदान में जाकर वह एक मूढ़े पर बैठा। शिकार के घिरकर आ जाने की प्रतीक्षा कर रहा था। इतने में ही सुलतान के भीतजे अक़्तखाँ ने, जो वकीलेदर था, उस पर एकाएक कुछ सवारों के साथ तीरों की बौछार कर दी। इस संकट से अपने मोटे कपड़ों तथा मूढ़े की आड़ ले लेने के कारण वह बच तो गया पर घायल हो गया । सुलतान का सर काटने से उसके दासों ने उसे बचाया । अक़्तखाँ अधेड़ युवक था । उसने सुलतान को मरा समझ कर तुरन्त दिल्ली जा कर गद्दी पर बैठने का प्रयत्न किया परन्तु द्वारपाल ने उसे महल में घुसने न दिया ।

अलाउद्दीन अपने घावों के कारण बेहोश हो गया था और थोड़े से सवारों को छोड़कर शेष सब उसके पास से भाग गए थे । उसके साथियों ने उसके घावों की मरहम-पट्टी कर दी थी । होश आते ही वह तुरन्त शिविर पहुँचा ताकि सेना को विश्वास हो जाए कि वह ज़िन्दा है । अक़्तखाँ को पकड़वाकर उसका सर काट दिया गया ।

तब अलाउद्दीन ने राजसिंहासन पर बैठकर बड़े ठाट-बाट से दरबार किया । सब विद्रोही पकड़ लिए गए और लोहे के कोड़ों से मार-मार उनकी जान निकाल ली गई । उनके परिवार बन्दीघर में डाल दिए गए और उनका घरबार सब ज़ब्त कर लिया गया । इसके बाद सुलतान बहुत जल्दी कूच करता हुआ रण-थम्भौर पहुँचा । वहाँ भी अक़्तखाँ के सहायकों को दण्ड दिया गया । सुलतान के पहुँचने पर घेरा डालने वाली सेना का उत्साह दुगना हो गया और उसने बड़ी तेजी से कार्य करना आरम्भ किया । खाई को बालू भरे बोरों से भर दिया गया और किले तक हमला करने के लिए पाशेब व गरगच लगाए गए । किले के निवासियों ने भी

---

***पाशेब**—मिट्टी का मचान जो किले की दीवारों की ऊँचाई के बराबर बनाया जाता था । इस पर आग और पत्थर फेंकनेवाली कलें चढ़ाई जाती थीं, जिस प्रकार आजकल तोपों के ऊपर चढ़ाने के लिए बैटरी (Battery) बनाई जाती है ।

**गरगच**—एक प्रकार का चलता-फिरता मकान जिसको किले की दीवार के बराबर ऊँचा-नीचा किया जा सकता था । इसके ऊपर हमला करनेवालों की रक्षा के लिए छत भी होती थी । इसके ऊपर से किले पर हमला किया जाता था ।

अन्दर से पत्थर व आग फेंकना आरम्भ कर दिया। दोनों तरफ़ के सैकड़ों आदमी रोज़ आहत होने लगे।

**रणथम्भौर के किले का संक्षिप्त वर्णन**—रणथम्भौर का प्राचीन गढ़ राजस्थान में एक अत्यन्त दुर्जय तथा सुदृढ़ गढ़ है। यह ग्वालियर से लगभग १०० मील ठीक पश्चिम की ओर तथा जयपुर के ८० मील दक्षिण में एक भयानक १६०० फुट ऊँचे पहाड़ी चट्टान के शिखिर पर स्थित है। इस दुर्ग के चारों ओर अत्यन्त बीहड़ पहाड़ी व जंगल तथा भूमि बहुत ऊँची-नीची है और आजतक दुर्ग तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसके आस-पास का बन शेर, चीते आदि जंगली पशुओं से भरपूर है। दुर्ग के अन्दर शत्रु के घुसने को रोकने के लिए स्थान-स्थान पर बड़ी भारी भारी दीवारें बनी हुई हैं इसलिए यह दुर्ग बड़ा अजेय है।

अलाउद्दीन के हमले के समय रणथम्भौर पर दिल्ली व अजमेर के प्रसिद्ध महाराजा पृथ्वीराज चौहान का वंशज राजा हम्मीरदेव शासन कर रहा था। दिल्ली पर तुर्की सल्तनत स्थापित हो जाने के पश्चात् सुलतानों ने १३वीं सदी के अन्दर कई बार रणथम्भौर को विजय करने का निष्फल प्रयास किया था। ऊपर कहा जा चुका है कि १२९१ में जलालुद्दीन ख़ल्जी ने भी इस दुर्ग पर हमला किया था किन्तु इसको देखकर उसकी हिम्मत टूट गई और वह वापस लौट गया था। अलाउद्दीन अपने पूर्वजों की असफलता से हताश होनेवाला न था। रणथम्भौर पर आक्रमण करने का एक कारण यह भी कहा जाता है कि उसने चौहान राजा से उन बलवाइयों को, जिन्होंने नुसरतखाँ व उलुगखाँ के विरुद्ध नागौर में विद्रोह किया था और जिन्होंने रणथम्भौर के राजा के पास आकर शरण ली थी, वापस माँगा था और चौहान राजा ने इन शरणागतों को देने से इन्कार कर दिया था एवं सुलतान की चुनौती का बलपूर्वक उत्तर दिया था।

**हाजी मौला का विद्रोह**—हाजी मौला एक समय दिल्ली का शहना (अध्यक्ष) रहा था। परन्तु तत्कालीन कोतवाल के अत्याचारों से दिल्ली की जनता इतनी तंग हो रही थी कि अवसर पाते ही वे बलवा करने को तैयार थे। जब रणथम्भौर में सुलतान की सेना के संकट में फँसने की खबर पहुँची तो हाजी मौला ने पहले कोतवाल तिर्मिजी को मारा और फिर शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया। सीरी का कोतवाल बड़ी मुश्किल से अपनी जान बचा सका। हाजी मौला ने दिल्ली के बन्दियों को मुक्त किया, और एक सैयद को तख्त पर बिठा दिया। रणथम्भौर में इस विद्रोह की खबर मिलते ही सुलतान ने हमीदुद्दीन को उसे दबाने के लिए भेजा। हमीद ने जल्दी ही मामले को काबू में करके हाजी मौला तथा उसके साथियों का वध कर दिया।

**सुल्तान के भान्जों मलिक उमर तथा मंगूखाँ का विद्रोह**—मलिक उमर बदायूँ का और मंगूखाँ अवध का मुक्ती (शासक) था। रणथम्भौर के घेरे के दिनों में ही सुलतान को सूचना मिली कि उसके भान्जों, उमर तथा मंगूखाँ, ने उसकी अनुपस्थिति में एवं उसके रणथम्भौर के किले की कठिन घिराई में व्यस्त होने के

कारण सुअवसर समझकर विद्रोह कर दिया है। उन्होंने एक बड़ी सेना एकत्रित करनी शुरू कर दी थी। इन विद्रोहों का वास्तविक कारण स्पष्ट है। अलाउद्दीन के नृशंस अत्याचारों के कारण जनता में उसके प्रति अत्यन्त संशय व घृणा के भाव उत्पन्न हो गए थे। अतएव कोई भी मौका आते ही वे विद्रोह कर बैठते थे। अक़्तख़ाँ के विद्रोह से भी इन दोनों मलिकों को उत्तेजना मिली होगी।

सूचना पाते ही सुलतान ने अपने कुछ अनुभवी अमीरों को इस विद्रोह का दमन करने के लिए भेजा। विद्रोही मलिक अभी विशेष तैयारी न कर सके थे, अतः वे सरलता से गिरफ्तार कर लिए गए और बन्दी बनाकर सुलतान के पास रणथम्भौर भेज दिए गए, सुलतान ने अपने पाशविक स्वभाव के अनुकूल अपने दोनों भान्जों को अत्यन्त कठोर दण्ड दिलवाया। अपने सामने ही उनकी आँखें चाकू से खरबूजे की फाँक के समान निकलवा लीं, उनके घर-बार समूल नष्ट कर दिए गए तथा उनके सहायकों का भी बड़ी निर्दयता से अन्त किया गया।

**रणथम्भौर का पराभव**—इतने लगातार विद्रोहों के होने पर सुलतान को उनका कारण जानने का महत्व तथा आवश्यकता समझ में आई। रणथम्भौर के घेरे के दिनों में ही उसने इस संकटमय परिस्थिति पर विचार करने के लिए मुख्य-मुख्य सैनिकों की एक समिति आयोजित की। इसका विवरण आगे चलकर दिया जाता। रणथम्भौर का घेरा अत्यन्त कठिन समस्या प्रतीत हुई किन्तु अलाउद्दीन का दृढ़ साहस इस कठिनाई से विचलित नहीं हुआ। यद्यपि उसकी सेना को अत्यन्त कष्ट सहन करने पड़ रहे थे तथापि एक सिपाही भी इस डर से शिविर को छोड़ कर जाने का साहस नहीं करता था क्योंकि उसका तीन साल का वेतन रोक लिया जाता। जान पड़ता है कि सुलतान ने उनको तीन साल से वेतन नहीं दिया था। रणथम्भौर की भयानक तथा दुर्जय प्राचीरों के सामने वे हतोत्साह होने लगे और उनको अपना विनाश निकट दीखने लगा। तथापि अलाउद्दीन ऊपरी ढाढस बाँधे बड़ी दृढ़ता के साथ किले पर डटा रहा। सुलतान की सेना ने हर प्रकार के प्रयत्न किले की दीवारों पर पहुँचने के किए किन्तु किले के भीतर से आग तथा अन्य वस्तु फेंके जाने के कारण वे असफल रहे। अन्त में किले के अन्दर खाने-पीने का सामना समाप्त होने लगा और हम्मीर की सेना भूखों मरने लगी। इस संकट में हम्मीर ने विवश हो कर अपनी स्त्रियों को जौहर की अग्नि में भस्म कर दिया। और वह वीर अपने राजपूत योद्धाओं के साथ केसरिया बाना पहनकर दुर्ग के बाहर निकल कर शत्रु-सेना पर टूट पड़ा। मुहम्मदशाह तथा उसके अन्य साथी भी जो नागौर से हम्मीर की शरण में आए थे, अपने आश्रयदाता के साथ-साथ अन्त तक बड़ी वीरता से लड़े और अपनी कृतज्ञता का पूरा परिचय दिया। राजपूत योद्धा सब ही वीरगति को प्राप्त हुए, किन्तु अपने मरने से पहले उन्होंने सुलतान की सेना में भयंकर मारकाट की और रक्त की नदियाँ बहा दीं। हम्मीर भी इसी प्रकार लड़ते-लड़ते मारा गया। इस प्रकार ये राजपूत प्रशंसनीय वीरता के साथ अपनी मातृ-

भूमि और राज्य की स्वाधीनता के लिए मर मिटे।

रणथम्भौर के पराभव का एक कारण यह भी कहा जाता है कि हम्मीर के दो मन्त्रिगण, रणमल व रतनपाल देशद्रोही होकर अलाउद्दीन से जा मिले थे और उससे दुर्ग को जीतने के बाद अपनी प्राण-रक्षा का पूरा वचन ले लिया था। किन्तु किले को जीतने के बाद उसने इन राजद्रोहियों को आत्मदण्ड दिया क्योंकि उसने कहा कि ऐसे लोग जो अपने प्राचीन स्वामी के साथ विश्वासघात कर सकते थे, उनकी सच्चाई पर कभी भी भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके प्रतिकूल उसने मीर मुहम्मदशाह की, जो घायल हो गया था, किन्तु मरा नहीं था, बड़ी सराहना की और उसके घावों की चिकित्सा कराई तथा उसको अपनी सेना में भर्ती हो जाने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु उस वीर ने तिरस्कारपूर्ण शब्दों में सुलतान के आमन्त्रण से इन्कार कर दिया। इस पर अलाउद्दीन ने उसको हाथी के पैरों तले कुचलवा डाला। फिर भी इस बहादुर तथा सच्चे स्वामिभक्त मुग़ल सरदार की प्रशंसा सुलतान के मन में बनी रही और उसने उसको बड़ी प्रतिष्ठा के साथ दफ़न कराया।

रणथम्भौर के जीतने के बाद अलाउद्दीन ने मुसलमानी मर्यादा के अनुसार अपने साम्प्रदायिक जोश का परिचय दिया और किले के समस्त मन्दिरों को विध्वंस करा डाला तथा सारे नगर को खूब ही लूटा। अमीर खुसरो के अनुसार वह कुफ़ अर्थात् विधर्म का केन्द्र इस्लाम का निवास-स्थान बन गया। रणथम्भौर और झाईं के राज्य का शासक उलुग़ख़ाँ को नियुक्त करके सुलतान राजधानी को लौटा। उलुग़ख़ाँ अपने इस पद का थोड़े ही दिन सुख उठा पाया। छः महीने बाद वह दिल्ली के लिए रवाना हुआ और अकस्मात् मार्ग में उसकी मृत्यु हो गई। कुछ लेखकों का कहना है कि सुलतान ने उसे विष दिलवा दिया क्योंकि वह अपने भाई के मरने पर स्वयं गद्दीनशीन होने का स्वप्न देख रहा था।

**विद्रोहों के कारणों पर विचार**—ऊपर कहा जा चुका है कि रणथम्भौर के घेरे के दौरान में निरन्तर कई भयानक विद्रोहों के होने से अलाउद्दीन की आँखें खुलीं और उसका अपनी अटल शक्ति होने का मद ठंडा पड़ गया। उसी समय अलाउद्दीन ने अपने सेनानायकों से एकान्त में परामर्श किया और इस बात का प्रण किया कि विद्रोहों के कारणों का पता लगते ही उनका अन्त कर दिया जाएगा। इस गम्भीर समस्या पर पूरी तरह विचार करने के बाद उसके सेनानायकों ने विद्रोहों के चार कारण बताए। प्रथम, बादशाह का प्रजा के बारे में उदासीन तथा अनजान होना, दूसरा, मदिरा पान करके उन गोष्ठियों में सम्मिलित होना जहाँ लोगों को परस्पर गुट बनाने का अवसर मिल जाता है और फिर वे उपद्रव खड़ा कर देते हैं। तीसरे, मलिकों और अमीरों का एक-दूसरे से मेल-मिलाप, नातेदारी व आना-जाना, जिसके कारण वे एक-दूसरे का संरक्षण व सहायता प्राप्त करते हैं। चौथा, लोगों के पास पर्याप्त मात्रा में धन-सम्पत्ति का होना जिससे उनको इतना अवकाश मिल जाता है कि वे विद्रोह तथा षड्यन्त्रों का विचार कर सकें। यदि उनके पास केवल खाने-भर

के लिए सामान हो तो वे अपने जीविकार्जन में इतने व्यस्त रहेंगे कि उनको उपद्रव करने का विचार ही न आएगा। इस परामर्श को सुलतान ने सर्वांश स्वीकार करके उसको कार्यान्वित करने का संकल्प कर लिया। बरनी के अनुसार उसने ग़रीब-अमीर सबकी सम्पत्ति छीन ली और उनके पास केवल खाने-भर को छोड़ दिया।

बरनी के इस कथन में काफ़ी अत्योक्ति जान पड़ती है क्योंकि राज्य के उच्च पदाधिकारियों, मलिकों आदि, जिनकी सहायता व सहयोग के ऊपर सुलतान का अस्तित्व निर्भर था, उनको इस प्रकार नंगा कर देना किसी भी सुलतान के लिए हितकर अथवा सम्भव नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त यह समझ नहीं आता कि अमीरों व मलिकों आदि प्रतिष्ठित लोगों ने किस प्रकार अपनी ही सम्पत्ति को छिनवा देने का परामर्श दिया होगा।

प्रजा के कामों की पूरी जानकारी रखना तथा अमीरों आदि के मेल-मिलाप तथा घनिष्ठ मैत्री आदि को रोकने के लिए एक गुप्तचर विभाग का आयोजन किया। गुप्तचरों की बहुत बड़ी संख्या उसने स्थान-स्थान पर फैला दी। सामान्य जनता से लेकर उच्चतम पदाधिकारीवर्ग तक की एक-एक बात सुलतान को मालूम होने लगी। यहाँ तक कि गुप्तचरों के डर से लोगबाग अपने घरों के अन्दर भी खुलकर बात करने में डरते थे और चुपके-चुपके कानाफूसी अथवा इशारों से ही काम चलाते थे।

विद्रोह रोकने का तीसरा कारण अर्थात् मदिरा पान दूर करने के लिए सुलतान ने शराब बनाना, बेचना तथा पीना आदि सभी की मनाही कर दी थी। मदिरा पान करनेवालों, जुआरियों तथा शराब व ताड़ी बनानेवालों को शहर से निकलवा दिया। इसके अतिरिक्त उसने भण्डार के समस्त शराब के बर्तनों को निकलवाकर दिल्ली के बदायूँ-द्वार के बाहर तुड़वा डाला। इन बर्तनों के टुकड़ों के ऊँचे-ऊँचे ढेर लग गए और इतनी शराब उँडेली गई कि मैदान में एक दलदल सी बन गई। मदिरा-पान की महफिलें भी बन्द कर दी गईं। भले लोगों ने तो सुलतान के कोप के भय से मदिरा पान त्याग दिया। किन्तु बहुतों ने चोरा-चोरी शराब बनाना जारी रखा। अत्यन्त कठोर दण्ड दिए जाने पर भी चोरी से शराब बनाने, बेचने तथा पीनेवालों की संख्या बढ़ती ही गई। इस पर सुलतान ने बदायूँ-द्वार के बाहर कुएँ खुदवा कर उनमें इन अपराधियों को जिन्दा फिकवाना शुरू किया। फिर भी शराबखोरी जारी रही। सुलतान को विवश होकर आज्ञा देनी पड़ी कि यदि कोई घर के अन्दर चुपके से शराब बनाए और पिए तो गुप्तचर लोग उसको न पकड़ें।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि शराब के प्रयोग को हर प्रकार से रोकने का यत्न केवल राजधानी तथा उसके आसपास के गाँवों में ही किया गया था। दिल्ली से दस मील बाहर भी इसकी मनाही नहीं थी। इस प्रतिबन्ध से सारे साम्राज्य में तो दूर राजधानी के समीपस्थ प्रदेशों में भी किस प्रकार विद्रोहों की अग्नि शान्त हुई होगी, यह समीचीन नहीं जान पड़ता। विद्रोहों की समस्या केवल राजधानी के अन्तर्गत ही परिमित न थी। अतएव यह परिणाम निकालना असंगत न होगा कि न तो

सुलतान को और न ही उसके मन्त्रिमण्डल को राजधानी के बाहर साम्राज्य की समस्याओं का समाधान करने की सूझ-बूझ थी।

अन्तिम योजना, जो अलाउद्दीन ने विद्रोहों के कारणों का उन्मूलन करने के हेतु की वह यह थी कि समस्त मलिकों, अमीरों तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के परस्पर आने-जाने, एकत्रित होने, दावतें आदि करने को बन्द कर दिया। उनमें वैवाहिक सम्बन्ध भी बिना सुलतान की आज्ञा के नहीं किए जा सकते थे ; न वे अपने यहाँ किसी को आमन्त्रित कर सकते थे। समस्त अमीर गुप्तचरों के भय से काँपते रहते थे। बरनी ने इस घटना का वृत्तान्त भी बड़ी अत्योक्ति के साथ दिया है। स्वयं अपने सहायक दरबारियों तथा मन्त्रिमण्डल के ऊपर इतना असह्य व्यवहार कोई भी सुलतान किस प्रकार कर सकता था, यह विश्वास करने योग्य बात नहीं है।

इन आज्ञाओं के बाद सुलतान ने खूतों (ज़मींदारों) तथा बलाहरों के लिए भूमि-कर अदा करने के ऐसे नियम बनाए कि दोनों वर्ग एकसमान उनका पालन करें और धनी लोगों के अन्याय के कारण दरिद्र तथा निर्बल ग्रामीण जनता को उनके स्थान पर खिराज़ न देना पड़े। हिन्दू ज़मींदारों के पास इतना धन न बचे कि वे घोड़ों पर सवार हो सकें, हथियार बाँध सकें, अच्छे वस्त्र पहन सकें तथा किसी प्रकार से आराम का जीवन व्यतीत कर सकें। इतिहास-लेखक ने यह भी कह डाला है कि हिन्दू लोग इतने धन-हीन कर दिए गए थे कि उनकी स्त्रियों को पड़ोसी मुसलमानों के घरों में नौकरी करके पेट पालना पड़ता था। बरनी के इन शब्दों में भी हमें बहुत कुछ अतिशयोक्ति जान पड़ती है। इनमें उसने अपने उद्गार तथा स्वप्नों को व्यक्त किया है, न कि वास्तविक घटना को। तथापि ग्रामीण जनता पर शासन की कठोरता कुछ कम न होगी ऐसा निश्चय जान पड़ता है।

**आन्तरिक संकट के समाधान का मूल्यांकन**—सुलतान अलाउद्दीन ने आन्तरिक विद्रोहों की अग्नि को दमन करने के लिए जो उपर्युक्त उपाय किए उनके मर्म पर विचार करना सुलतान की आन्तरिक नीति की सफलता तथा असफलता को समझने के लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध में पहली बात ध्यान देने योग्य यह है कि अलाउद्दीन के शासन के पूरे छः-सात वर्ष तक प्रजा एवं उसके अपने सम्बन्धियों के विद्रोह निरन्तर होते रहे और इतने लम्बे समय में भी सुलतान कोई ऐसी योजना लागू न कर पाया जिससे जनता में उसके प्रति विश्वास एवं श्रद्धा के भाव उत्पन्न होते और विद्रोहों की अग्नि शान्त हो जाती। स्पष्ट है कि सुलतान इस समस्या के मर्म को त्रण-मात्र भी न समझ सका। उसके पूर्वगामी बलबन सरीखे सुलतानों ने भी विद्रोहों की समस्या का समाधान बुद्धिमानी व मानवता के आधार पर नहीं किया था। किन्तु अलाउद्दीन जो एक साधारण बुद्धि का सिपाही था, अपनी सफलता से इतना मदान्ध हो गया था कि छः वर्ष तक आन्तरिक संकट की गम्भीरता को भी न समझ सका। जब तक उसकी स्वयं जान पर न आ बनी तब तक उसके कान पर जूँ तक न रेंगी और वह एक नए धर्म की स्थापना करने, सिकन्दर के समान समूचे संसार का

विजेता बनने आदि शेखचिल्ली वाली योजनाओं के स्वप्न देखता रहा। और जब परिस्थिति के अत्यन्त भयानक हो जाने पर उसे जाग आई तो उसने अपने सैनिक मन्त्रिमण्डल से उसका इलाज पूछा। जो इलाज इस मन्त्रिमण्डल ने सुझाया उससे भी यह विदित होता है कि यह मन्त्रिमण्डल भी कोरे सैनिकों का ही था। उनमें कोई व्यक्ति काज़ी अलाउलमुल्क जैसा दूरदर्शी तथा गम्भीर राजनीतिज्ञ न था। मन्त्रिमंडल के सुझाव केवल मदिरा पान के बन्द करने के अतिरिक्त कोई ऐसे नहीं थे जिनको रचनात्मक अथवा जनता के अन्दर श्रद्धा व शान्ति स्थापित करने के लायक समझा जा सके। तथापि इतने संकीर्ण व अदूरदर्शी सुझावों को बिना रोक-टोक अलाउद्दीन ने सोलहों आने स्वीकार करके उसको राज्य पर लागू कर डाला। इससे उसकी राजनीतिक निर्बुद्धिता का भी पता चलता है। जो लोग इस सुलतान को एक नए राजनीतिक सिद्धान्त का प्रवर्तक होने का श्रेय देते हैं उनके लिए उसकी उपर्युक्त कृति विचारणीय है।

**ग्रामीण जनता पर नये कर**—उपर्युक्त नीति का स्पष्ट उद्देश था ग्रामीण जनता को, और विशेषकर ज़मींदारवर्ग (खूत) को भारी-भारी कर लगा कर निर्धन कर देना। कहने की आवश्यकता नहीं कि शायद यह नियम सभी ज़मींदारों पर बिना किसी भेद-भाव के लागू किया गया था न कि केवल हिन्दुओं पर; जैसा बरनी का कथन है। इस नीति के अनुसार किसानों से पैदावार का ५० फ़ी सदी भूमिकरों के रूप में वसूल किया गया और ज़मीन की नाप करना शुरू किया गया। इस नियम को खूतों और बलाहरों पर एकसमान लागू किया गया ताकि उन वर्गों में परस्पर कोई भेद न रह जाए। भूमि कर ५० प्रतिशत के ऊपर दूध देनेवाले मवेशियों पर और प्रत्येक घर पर, अलग कर लगाए। भ्रष्टाचारी सरकारी नौकरों पर बड़ी सख्ती की गई। उपर्युक्त नियमों का उद्देश्य गाँवों के शक्तिशाली मुकद्दमों व ज़मींदारों आदि के बल को नष्ट करना था, ऐसा जान पड़ता है। किन्तु भूमिकर की मात्रा को उपज का आधा कर देना और उसके अतिरिक्त चराई तथा गृह-कर आदि भी लगाना किसी प्रकार से सर्वसाधारण के आर्थिक जीवन को सुखी व सम्पन्न करने का उपाय नहीं माना जा सकता। इन नियमों के लागू करने से सर उठाने वाले हिन्दू रईसों व ज़मींदारों की कमर तो तोड़ ही दी गई, पर इससे कहीं ज्यादा दरिद्र किसान का चूरा कर दिया गया। कई आधुनिक लेखकों ने अलाउद्दीन की इस नीति के आधार पर उसके समाजवादी (socialist) होने तथा पूंजी-पतियों (खूतों) को नष्ट करके उनके अत्याचार से कृषकवर्ग की रक्षा करने एवं उनको आर्थिक रूप से खूतों के समान बना देने आदि बातों का श्रेय दिया है और अलाउद्दीन को विश्व-इतिहास के सबसे पहले समाजवादी एवं श्रमजीवीवर्ग के संपोषक सम्राट् होने का श्रेय प्रदान किया है। यह सिद्धान्त सर्वथा निराधार है। इतना अवश्य जान पड़ता है कि सुलतान ने ज़मीदारों को समाप्त कर दिया था। उद्देश इस नीति का यही था कि कोई इतना सुसम्पन्न न रह जाय जो उपद्रव

करने का विचार भी कर सके। दूसरे शब्दों में, इसका उद्देश यह था कि अराजकता तथा राजद्रोह की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोका जाए। बरनी के कथन से यह जान पड़ता है कि सुलतान यह चाहता था कि जमींदार लोग, जो सरकारी कर वसूल करने के बदले में गरीब किसानों से ही अपना कमीशन वसूल करते थे, उसका बोझ किसानों पर न डालें। पर वास्तविकता यह थी कि जब किसानों पर भी ५० फ़ी सदी से ऊपर कर लगा दिया गया तब उनमें और कुछ देने की शक्ति ही कहाँ रह गई। इस प्रकार जहाँ जमींदारों को शासन ने नष्ट किया वहाँ किसानों की आर्थिक दशा सुधारना तो दूर, उनको भी नष्ट करके छोड़ा। अतएव उपर्युक्त विद्वानों ने जो अलाउद्दीन के समाजवादी एवं परोपकारी सुलतान होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह एक निर्मूल कल्पनामात्र है। इस प्रसंग में यह भी याद रखना आवश्यक है कि यह पहला तुर्क बादशाह था जिसने भूमि-कर की वसूलियाबी के लिए प्राचीन हिन्दू युग के भूमिमापन (measurement system) विधान को लागू किया और कर की मात्रा को ५० प्रतिशत तक पहुँचाया, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। हिन्दू युग में प्रायः $\frac{१}{१०}$ से $\frac{१}{६}$ तक तथा कहीं-कहीं विशेष परिस्थियों में $\frac{१}{४}$ से अधिक भूमि-कर नहीं लिया जाता था। खल्जी सुलतान से पहले मुस्लिम सुलतानों ने भी सम्भवतः $\frac{१}{३}$ से अधिक भूमि-कर वसूल नहीं किया था। भूमि-कर की यह अधिक से अधिक मात्रा थी जो मुसलमानी शरियत के अनुसार वसूल की जा सकती थी। यह भी निस्संदेह है कि शराबखोरी आदि को बन्द करने से जो आर्थिक हानि राज-काज को हुई उसकी पूर्ति करने के लिए सुलतान ने ग़रीब कृषकवर्ग को पीसा। उपर्युक्त करों के अतिरिक्त करही नाम का एक और कर भी ग्रामीण जनता पर लगाया गया। यह कितना था, यह मालूम नहीं।

**भूमिकर आदि वसूल करने की व्यवस्था**—भूमि की नपाई तथा करों के ठीक-ठीक वसूल करने के लिए अलाउद्दीन ने शरफ़क़ाई नामक नायब वजीरे मुमालिक को नियुक्त किया। शरफ़क़ाई ने लाहौर व देवपालपुर से बदायूं, कोयल, कटेहर (आधुनिक रुहेलखण्ड) व राजपूताने की तरफ नागौर आदि तक समस्त खेतों की नपाई करवा के प्रति बिस्वा पैदावार के अनुसार भूमिकर वसूल किया और सभी गाँवों से चराई आदि अन्य कर भी वसूल किए। बरनी कहता है कि यह सब कर इतनी कठोरता से लिए गए कि चौधरियों, खूतों तथा मुकद्दमों का भोग-विलास, हथियार बाँधना, उत्तम भोजन-वस्त्र आदि सब बन्द हो गया और अपनी दरिद्रता के कारण वे विरोध तथा विद्रोह करना ही भूल गए। शासन का आतंक उनपर इतना बैठ गया कि एक साधारण सरकारी चपरासी बीसियों खूतों व चौधरियों आदि को खिराज (भूमिकर) अदा करने लिए रस्सी में बाँधकर खूब ही पीटता था और वे चूं न कर पाते थे। बरनी का कहना है कि धनाभाव के फलस्वरूप विद्रोह बन्द हो गए, यहाँ तक कि खूतों की स्त्रियों को मुसलमानों

के घरों में मज़दूरी करके पेट पालन करना पड़ता था।

किसानों तथा सामान्य प्रजा को इतनी दरिद्र तथा बेबसी की दशा में पहुँचा-कर खल्जी सुलतान ने सरकारी कर्मचारियों पर भी इतनी सख्ती से अनुशासन करना आरम्भ किया कि वे न तो किसीसे एक पैसा घूस ले सकते थे और न ही सरकारी आमदनी की एक कौड़ी बचाकर रख सकते थे। वही इतिहास-कार फिर बतलाता है कि इस सख्ती का परिणाम यह हुआ कि राज्य की सेवा करना लोग बुखार से भी अधिक बुरा समझने लगे थे और सरकारी नौकरों के साथ अन्य लोग विवाह सम्बन्ध करना तक बुरा समझते थे। जब कोई सरकारी नौकरी करता तो अपने प्राणों से हाथ धो लेता था। बरनी के इस कथन में भी कुछ अत्योक्ति भले ही हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि जनता पर ऐसी कठोरता का व्यवहार अवश्य हुआ जिससे राज्य-शासन के प्रति प्रजा में ऐसी घृणा व भय के भाव व्याप्त हो गए कि उनको सुलतान की मानवता पर तनिक भी आस्था न रही।

बरनी सुलतान की इन कार्यवाहियों का कारण यह बतलाता है कि वह निपट मूर्ख तथा निरक्षर था और विद्वानों की संगत से बहुत दूर था। उसने बाद-शाह बनते समय यह समझ लिया था कि बादशाह के कर्त्तव्यों का शरियत से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव अपने शासन में शरियत की परवाह न करके वह मनमाना कार्य करता था। इसलिए समझदार व बुद्धिमान लोग उससे दूर रहते थे।

**क़ाज़ी मुग़ीसुद्दीन से वार्तालाप**—इन्हीं दिनों जब हर प्रकार के कर बड़ी कठोरता से वसूल करने की नीति लागू की गई, अलाउद्दीन के चित्त में इस नीति के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुईं। सम्भव है कि यह शंकाएँ उस हा-हाकार को देखकर उत्तेजित हुई हों जो उसकी निर्दय नीति के कारण जनता में फैल गया था। अपनी इन शंकाओं का समाधान करने के लिए उसने काज़ी मुग़ीसुद्दीन को विशेष रूप से बुलाया और उससे कहा कि आज मैं तुझसे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न करूँगा। तू उसका सच-सच और स्पष्ट उत्तर देना। काज़ी ने कहा कि जान पड़ता है कि मेरा अन्तिम समय आगया है क्योंकि यदि दीनी (धार्मिक) प्रश्नों पर मैंने शरियत के अनुसार सच्चाई से उत्तर दिया तो सुलतान क्रोधित होकर मेरी गरदन उतरवा लेगा। परन्तु बादशाह ने उसे आश्वासन दिया कि वह ऐसा न करेगा और स्पष्ट उत्तर देने के लिए आदेश दिया।

पहला प्रश्न अलाउद्दीन ने यह पूछा कि खिराज देनेवाले हिन्दुओं के बारे में शरह की क्या आज्ञा है। काज़ी ने उत्तर दिया कि हिन्दू खिराजगुज़ार हैं। उनके लिए शरह की आज्ञा है कि जब सरकारी कर्मचारी उनसे चाँदी माँगें तो वह बड़े विनीत भाव से सोना दें। यदि वसूल करनेवाला उसके मुँह में

थूकना चाहे तो वह बे-हिचक अपना मुँह खोल दे और वसूल करनेवाले की आज्ञा का पालन करता रहे। इतनी कठोरता से कर वसूल करने का उद्देश यह है कि **जिम्मी** अपनी अत्यन्त दीन-हीन दशा को अनुभव करे और इस प्रकार इस्लाम मत का मान ऊँचा हो। हिन्दू इस्लाम धर्म के सबसे बड़े शत्रु हैं इसलिए उनको अपमानित करना अत्यन्त आवश्यक है। इस्लाम के प्रवर्तक ने तो आदेश दिया है कि उनकी हत्या कर दी जाए, उनकी धन-सम्पत्ति लूट ली जाए और उनको बन्दी बना लिया जाए, अन्यथा उनको इस्लाम स्वीकार कराया जाए। इमामे आज़म (अबू हनीफ़ा जो इस्लामी कानून के सबसे बड़े टीकाकार माने जाते हैं) के अतिरिक्त और किसी ने भी हिन्दुओं से जज़िया वसूल करके उनको जीवित रहने देने की आज्ञा नहीं दी है। अन्य सभी ने यही आदेश दिया है कि या तो उन्हें इस्लाम स्वीकार करने पर विवश किया जाए या उनकी हत्या कर दी जाए। सुलतान ने काज़ी मुग़ीस का यह उत्तर सुनकर उसकी बुद्धिमानी की सराहना की किन्तु उसे बतलाया कि उसे मालूम हुआ है कि गाँवों के ख़ूत तथा मुकद्दम ज़मींदार व चौधरी आदि धनवान लोग बड़ी शानोशौक़त के साथ विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और ख़ूती (अर्थात् भूमिकर वसूल करने का काम) का पारिश्रमिक किसानों से वसूल करने के अतिरिक्त अपना ख़िराज, जज़िया, करही और चराई वग़ैरह भी अपने पास से नहीं देते। वे महफिलें करते और शराब पीते हैं, उनमें से बहुत से इतने उद्दण्ड हो गए हैं कि बुलाने पर हाज़िर भी नहीं होते और न ख़िराज वसूल करनेवालों की परवाह ही करते हैं। मुझे इस पर बड़ा क्रोध आया और मैंने इन उद्दण्ड लोगों का दमन करने के उपाय किए और तू भी यही कहता है कि शरह का आदेश भी यही है कि हिन्दुओं को पूरी तरह कुचलकर रखा जाय।

दूसरा प्रश्न अलाउद्दीन ने यह पूछा कि यदि कारकुन चोरी, रिश्वत अथवा ग़बन करें तो उनके विषय में शरह की क्या आज्ञा है? काज़ी ने उत्तर दिया कि इस बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा। शासक जिस प्रकार उचित समझे जुर्माना या क़ैद आदि के दण्ड दे सकता है किन्तु हाथ काटने की आज्ञा नहीं दी गई है। सुलतान ने कहा कि मैंने आदेश दिया है कि सरकारी कर वसूल करनेवालों पर जो कुछ वाजिब हो उसे मार-पीट व कड़े से कड़े दण्ड देकर वसूल किया जाए। परन्तु साथ ही इन कर्मचारियों को इतना वेतन दिया जाए कि वे सम्मानपूर्वक तथा आराम से रह सकें। यदि इस पर भी वे चोरी या ग़बन करें तो उन्हें कड़े दण्ड दिए जाएँ। इन आदेशों का परिणाम यह हुआ है कि चोरी व घूस आदि बहुत कम हो गई है।

तीसरी बात बादशाह ने यह पूछी कि जो सम्पत्ति मैंने सुलतान बनने से पहले बेहद खून बहाकर देवगिरि से प्राप्त की थी वह मेरी निजी है अथवा मुस्लिम जनता के कोष की। काज़ी ने कहा कि उसमें सिर्फ़ $\frac{1}{5}$ सुलतान की है। इस पर सुलतान ने क्रोध में भरकर कहा, "काजी, तू मेरी तलवार से नहीं डरता और यह

कहने का साहस करता है कि मेरे अन्तःपुर में जो व्यय होता है वह इस्लामी क़ानून के विरुद्ध है"। काज़ी ने उत्तर दिया कि "अन्नदाता, मैं तो अपनी पगड़ी को अपना कफ़न समझकर आया हूँ। आपने मुझे शरह (इस्लामी कानून) के अनुसार उत्तर देने की आज्ञा दी है और मैं उसका पालन कर रहा हूँ। यदि आप मुझसे यह पूछें कि राजनैतिक दृष्टि से अन्तःपुर में कितना खर्च करना चाहिए तो मैं कहूँगा कि बादशाह के रौब-दौब को बढ़ाने के लिए इससे हज़ार गुना ख़र्च करना चाहिए।"

अन्त में अलाउद्दीन ने काज़ी मुग़ीस से कहा कि तू जो मेरे कामों को शरह के विरुद्ध बताता है तो यह बता कि मैंने जो यह आज्ञा दी है कि उन सब सवारों से जो निरीक्षण के समय उपस्थित नहीं होते हैं, तीन साल का वेतन वसूल कर लिया जाए, शराब पीने व बेचनेवालों को भी कुओं में डलवा देता हूँ, दूसरे की स्त्री को भगानेवाले को कड़ा दण्ड देता हूँ, विद्रोहियों को भी अपमानित व दण्डित करता हूँ और उनके स्त्री व बच्चों को भी नष्ट करता हूँ, राजकर बड़ी कठोरता व निर्दयता से वसूल करता हूँ, यहाँ तक कि एक जीतल भी किसी पर बाकी नहीं रह सकता, अपराधियों को कैद में कटघरे में रखता हूँ, इत्यादि, तो क्या तू यह कहेगा कि यह सब शरह के विरुद्ध है ? यह सुनकर बेचारा काज़ी उठ खड़ा हुआ और कुछ पीछे हटकर अपना सर धरती पर रखकर बोला कि चाहे अन्नदाता मेरे टुकड़े-टुकड़े करवा डालें किन्तु शरह तो वही है जो मैंने कहा है। यह सुनकर सुलतान कुछ न बोला और अन्तःपुर में चला गया। काज़ी ने घर लौटकर बहुत दान-पुण्य किया और अगले दिन स्नान करके तथा अपने सम्बन्धियों से अन्तिम बिदाई लेकर मरने के लिए तैयार होकर दरबार में हाज़िर हुआ। परन्तु सुलतान ने उसका बड़ा सम्मान किया और एक हज़ार टंके तथा वस्त्र इनाम में देकर अपने शासन-कार्यों का समर्थन यह कहकर किया कि मैं सर्वथा निरक्षर व जाहिल हूँ, मुझे शरह का बिलकुल भी ज्ञान नहीं है। तथापि मैं जो कुछ भी करता हूँ वह राज्य की भलाई तथा अभिवृद्धि के लिए करता हूँ तथा अपराधियों को कड़े दण्ड देता हूँ। ग़बन करनेवाले अमीरों, आमिलों व लेखकों के शरीर में मैंने कीलें डलवा दी हैं। किन्तु इस पर भी लोग चोरी करना नहीं छोड़ते। जब यह लोग अपने अपराधों से बाज नहीं आते तो मैं इन्हें कैसे क्षमा कर दूँ। यदि मेरे यह कार्य शरह के विरुद्ध हैं तो पता नहीं कि क़यामत में मुझे खुदा क्या दण्ड देगा, किन्तु राज्य की भलाई के लिए जो कुछ उचित समझता हूँ वह करता हूँ।*

---

*सुलतान अलाउद्दीन के इस कथन के आधार पर कतिपय आधुनिक लेखकों ने एक नवीन शासन-सिद्धान्त (Theory of Government) का आविष्कार करने का श्रेय इस जाहिल सुलतान के सिर पर मढ़ डाला है। यह विचार कितना सर्वथा निर्मूल है, इसको बतलाने की आवश्यकता नहीं। अलाउद्दीन के मन

**मौलाना शम्सुद्दीन के धार्मिक विचार**—जिस समय अलाउद्दीन ने काज़ी मुग़ीस से उपर्युक्त धार्मिक प्रश्न पूछे थे उन्हीं दिनों तुर्किस्तान से एक बड़ा मुहद्दिस (इस्लामी हदीसों का ज्ञाता) हदीसों की ४०० पुस्तकों के साथ मुल्तान पहुँचा। उसका विचार था कि दिल्ली आकर सुलतान को इस्लामी धर्म की शिक्षा का अनुकरण करने की प्रेरणा करे और हदीस के अनुसार इस्लाम मत का प्रचार करे, किन्तु जब उसने यह सुना कि बादशाह न तो नमाज़ पढ़ता है और न जुमे की नमाज़ में जाता है तो उसने हदीस की एक किताब के ऊपर कुछ लिखकर दिल्ली सुलतान के पास भेज दी और स्वयं थोड़े दिन ठहरकर मुल्तान ही से वापस लौट गया। साथ ही उसने एक फारसी की पुस्तक भी भेजी। अपनी टिप्पणी में उसने अलाउद्दीन के कुछ कार्यों की प्रशंसा की और कुछ को बहुत बुरा बतलाया। उसने लिखा कि सुलतान की यह बात अत्यन्त प्रशंसनीय है, कि एक धर्मनिष्ठ बादशाह के मानिन्द उसने हिन्दुओं को लज्जित व अपमानित किया है और उन्हें दरिद्र बनाया है, यहाँ तक कि हिन्दुओं की स्त्रियाँ मुसलमानों के घरों पर भीख माँगती हैं। उसने लिखा, कि 'प्रिय बादशाहे इस्लाम, तेरी यह धर्मनिष्ठा सराहनीय है। तू मुहम्मद के धर्म की खूब रक्षा कर रहा है। तेरे इसी आचरण से तेरे समस्त पाप जो अनन्त हैं, क्षमा कर दिए जाएँगे और तू क़यामत में स्वर्ग का भागी होगा।" उसने यह लिखा कि "मैंने सुना है कि तूने चीजों के भाव सस्ते कर दिए हैं और भ्रष्टाचार और व्यापारियों के झूठ और विश्वासघात को बन्द किया है, ये सब सराहनीय कार्य हैं।" *

---

में (जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है) कोई नया राजनीतिक सिद्धान्त प्रतिपादित करने की कल्पना भी नहीं थी, और न ही उसमें कोई ऐसी बात करने की लेश मात्र क्षमता अथवा बुद्धि थी। एक असाधारण भाग्यशाली सैनिक के समान अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार तथा अपने कुछ मित्रों व शुभचिन्तकों के परामर्श के अनुसार राज्य-कार्य करता था। जब शरह के एक ज्ञाता ने उसको बतलाया तो ऐसी परिस्थिति में वह यह कहने के सिवाय और क्या कह सकता था कि जो कुछ मैं करता हूँ चाहे वह शरह के अनुकूल हो अथवा नहीं, राज्य की भलाई के लिए करता हूँ। उसके इस कथन में एक नया राजनीतिक सिद्धान्त स्थापित करने की कोई बात नहीं है। यह सिर्फ आधुनिक लेखकों की कल्पना की उड़ान है।

* इन बातों से प्रमाणित होता है कि शम्सुद्दीन तुर्क अलाउद्दीन के चित्तौड़ के हमले के बाद सैनिक तथा आर्थिक योजनाओं के समय जब कि सुलतान ने दिल्ली के बाज़ार में सब वस्तुओं के भाव कानूनन घटा दिए थे, आया था। ज़िया बरनी का यह कथन कि शम्सुद्दीन इन्हीं दिनों आया था जब कि सुलतान ने काज़ी मुग़ीस से बातचीत की थी, ठीक नहीं है। उसके बाज़ार-भाव की बात को सुनने की बाबत लिखने पर बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि भाव सिर्फ़ राजधानी में ही घटाए गए थे। मुल्तान में सिर्फ़ उसकी खबर पहुँची थी।

शम्सुद्दीन ने सबसे बड़ा दोष अलाउद्दीन का यह बतलाया कि उसने अपने न्याय विभाग का काम हमीद मुल्तानी जैसे विश्वासघाती के सुपुर्द कर दिया है और शरह की आज्ञाओं का पालन कराने का कार्य अयोग्य व लालची लोगों को दे रखा है। एक और बुराई यह है कि सुलतान की राजधानी में हदीस के प्रतिकूल रिवायतों को माना जाता है और मस्जिदों में दुष्ट प्रकृति के मौलवी बुरे-बुरे फ़तवे देते हैं और छल-कपट से बेईमान काज़ी बराबर मुसलमानों के अधिकारों को नष्ट करते हैं। यह सब बातें ऐसी हैं जिनके कारण वह नगर जलकर मिट्टी का ढेर हो जाना चाहिए।

## चित्तौड़-विजय

चित्तौड़ का गुहिलोत वंश इस समय राजपूताने में शक्तिशाली होता जा रहा था। दिल्ली के सुलतानों का गुहिलोत रावल जैत्रसिंह से पहले-पहल संघर्ष लगभग १२२६ में हुआ। इसमें इल्तुत्मिश पूरी तरह परास्त हुआ। उसके बाद अलाउद्दीन के समय तक चित्तौड़ के राज्य को किसी तुर्क सुलतान ने न छेड़ा। रणथम्भौर से लौटकर दिल्ली में अपने कठोर दमन व कड़े शासन की धूम मचा कर सुलतान ने राजस्थान के प्रसिद्ध गढ़ चित्तौड़ पर आक्रमण करने की तैयारी की। उसके दो मुख्य सैनिक तथा मित्र उलुगख़ाँ व नुसरतखाँ मर चुके थे। सुलतान ने एक भारी सेना के साथ स्वयं चित्तौड़ की तरफ प्रस्थान किया। ज़िया बरनी तथा अन्य किसी समकालीन लेखक ने अलाउद्दीन की चढ़ाई में किसी कठिनाई का ज़िक्र नहीं किया है। इससे यह अनुमान करना कि मार्ग में सुलतान को किसीने नहीं रोका, अनुचित न होगा। जनवरी सन् १३०३ में सुलतान ने चित्तौड़ के क़िले का घेरा जा डाला। दो महीने तक शाही सेना बराबर हमले करती रही किन्तु सफल नहीं हुई। सुलतान ने हर प्रकार की योजनाएँ व यत्न किए। अन्त में रावल रत्नसिंह को किले के अन्दर की भोजन आदि की सामग्री समाप्त होने के कारण सुलतान से समझौते की याचना करनी पड़ी। इस सम्बन्ध में रानी पद्मिनी सम्बन्धी घटना विचारणीय है। इसका पूरा वर्णन बड़े रोचक व हृदयविदारक शब्दों में अकबर के समकालीन मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत काव्य में किया है। जायसी के वृत्तान्त में काव्योचित कल्पना का अंश अवश्य है, तथापि यह मानना भी असंगत जान पड़ता है कि जायसी ने बिना कुछ आंशिक ऐतिहासिक आधार के ही इतना बड़ा आख्यान केवल कल्पना से ही गढ़ डाला। अमीर खुसरो के विवरण में भी इसका कुछ संकेत मिलता है। और खुसरो के लिए इस प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं को अपने विवरण में स्थान न देना कोई नई बात नहीं है। ज़िया बरनी ने तो इस घटना को केवल दो पक्तियों में निर्देश करके छोड़ दिया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि चित्तौड़ में सुलतान को अपने लक्ष्य में सफलता न मिली। फ़िरिश्ता ने भी पद्मिनी की घटना

का वर्णन नहीं किया है। परन्तु इन सब विवरणों के विचार करने से यह परिणाम सम्भाव्य जान पड़ता है कि जब अलाउद्दीन ने पद्मिनी को लेने के लिए आग्रह किया और रत्नसिंह ने किले की सामग्री समाप्त हो जाने के कारण रक्षा का और कोई उपाय न देखा तो उसने पद्मिनी के साथ सारी राजपूत देवियों को जौहर की अग्नि में भस्म करके किले के द्वार खोल दिए। इसी कारण अलाउद्दीन ने खीझकर तीस हज़ार राजपूतों को कटवा डाला। इन्हीं के साथ रावल रत्नसिंह भी वीरगति को प्राप्त हुआ। इस युद्ध में राणा लक्ष्मणसिंह सिसोदिया भी अपने सात पुत्रों सहित लड़ता हुआ मारा गया। इस प्रकार कोई साढ़े छः महीने के निरन्तर संघर्ष के बाद चित्तौड़गढ़ अलाउद्दीन के कब्जे में आगया। अमीर खुसरो के अनुसार बादशाह ने मेवाड़ के शासक को नष्ट करके वहाँ की किसान प्रजा को खुश करने का प्रयत्न किया। चित्तौड़ का नाम ख़िज़्राबाद रखा, और अपने बेटे ख़िज्रखाँ को उसका शासक नियुक्त करके दिल्ली वापस लौटा।

**अरंगल (आधुनिक वरंगल या तिलंगाना) पर पहली लड़ाई**—जिस वर्ष सुलतान ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की उसी वर्ष उसने मलिक फ़ख्रउद्दीन जूना, दादबके हजरत (सर्वोच्च न्यायाधीश) तथा नुसरतखाँ के भतीजे मलिक छज्जू को, जो कड़ा का गवर्नर था, एक बहुत बड़ी सेना के साथ अरंगल पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। परन्तु अरंगल पहुँचने के समय भारी बरसात हो जाने के कारण सुलतान की सेना को कोई सफलता प्राप्त न हुई। जाड़े के मौसम तक ठहरकर और अपना सब माल व असबाब खो कर बची-खुची सेना वापस लौटी। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलाउद्दीन ने उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने का, जिसकी अत्यन्त आवश्यकता उसको काज़ी अलाउलमुल्क ने सुझाई थी, कोई विशेष आयोजन नहीं किया था। इसके प्रतिकूल उसने हिन्दुस्तान की सारी सेना अरंगल भेज दी थी, और दिल्ली की सेना को स्वयं चित्तौड़ ले गया था। इस प्रकार न तो उसने सीमा प्रदेश की रक्षा करने की आवश्यकता को समझा और न ही राजधानी की सुरक्षा की ही कोई व्यवस्था की। वह उसको बिलकुल असहाय एवं अरक्षित दशा में छोड़कर इतनी दूर चला गया। इन दोनों चढ़ाइयों से साम्राज्य की सैनिक शक्ति प्रायः नष्ट हो गई। जब सुलतान चित्तौड़ से दिल्ली लौटा उसकी सेना को वर्षा ऋतु के कारण भारी नुकसान उठाना पड़ा और वह थकी-माँदी दिल्ली पहुँची। अरंगल की चढ़ाई, जिसके सम्बन्ध में बरनी ने केवल उसकी असफलता का निर्देश करके **वस्तुस्थिति** को दबाने का यत्न किया है, सुलतान की सेना के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। श्री वेंकट रमणैया ने दक्षिण भारत के एक तत्कालीन इतिहास के आधार पर सिद्ध किया है कि उस समय अरंगल के राजा प्रतापरुद्र ने उप्परपल्ली (जो हैदराबाद के करीमनगर जिले में है) के निकट एक मुसलमानी सेना को पूरी तरह परास्त किया था। सन् १८१६ में वरंगल के किले में संवत् १३६२ (लगभग सन् १३०४) का एक शिलालेख मिला था जिसमें प्रतापरुद्र

देव की इस विजय का उल्लेख है। अलाउद्दीन के दिल्ली लौटते ही जो मुग़लों का अत्यन्त भयानक आक्रमण तरग़ी के संचालन में हुआ और जिससे साम्राज्य तथा राजधानी को भारी संकट का सामना करना पड़ा, उसका विवरण पिछले अध्याय में दिया जा चुका है ।

बारह

# साम्राज्य विस्तार की नीति का त्याग और सल्तनत की रक्षा की योजनाएँ

## ( १ )

**मुग़ल हमलों से रक्षा की योजना व सैनिक सुधार**—मुग़लों के आखिरी हमले की चोट इतनी भारी थी कि उसने अलाउद्दीन को भी उसकी असावधानी की निन्द्रा से जगा दिया। अब उसने काज़ी अलाउद्दीन के इस सद्परामर्श का अनुकरण करने की आवश्यकता समझी जो कई वर्ष पहले उसे दिया गया था। साम्राज्य विस्तार करने की लालसा को स्थगित करके सुलतान ने अपने मन्त्रिमण्डल से एक बार फिर परामर्श किया और मुग़लों के हमलों से राज्य की रक्षा करने के उपायों पर सलाह माँगी। आन्तरिक विद्रोहों के सम्बन्ध में वह अपने मन्त्रियों से पहले ही परामर्श कर चुका था और उनके सुझावों को कार्य-रूप दे चुका था। अब मुग़लों के हमलों को रोकने के लिए उसके विश्वसनीय मन्त्रियों ने पूरी तरह विचार करके जो सुझाव सुलतान को दिए उन पर उसने तुरन्त अमल करना शुरू कर दिया। सबसे पहले उसने नए शहर सीरी को किलाबन्दी आदि से पूरी तरह दृढ़ कर लिया। दूसरे, आक्रान्ताओं के आने के रास्तों के सब किलों की मरम्मत कराई, जहाँ आवश्यकता थी नए किले बनवाए और उनमें सेना की पूरी व्यवस्था की तथा युद्ध-कुशल सैनिक व कोतवाल नियुक्त किए। दूसरे, उसने मन्त्रिपरिषद् के आदेशानुसार सेना की संख्या पाँच लाख से भी अधिक कर दी और उत्तर-पश्चिम के किलों को अस्त्र-शस्त्र व खान-पान की सामग्री से भरपूर किया। परन्तु सुलतान ने अपने खज़ाने व राज्य की आय का व्योरा लेकर हिसाब लगाया कि इतनी बड़ी फौज के अच्छे प्रकार से भरण-पोषण करने का व्यय चलाने के लिए राज्य की आमदनी को बढ़ाना परम आवश्यक होगा। परन्तु प्रजा पर पहले ही इतने कर लगाए जा चुके थे कि उनको बढ़ाना असम्भव था। तब फिर मन्त्रियों के परामर्श से ही उसने यह तरकीब चालू की कि सैनिकों की तनख्वाह इतनी कम की जाए जिसका भार सरकारी खजाना संभाल सके। उसने सेना में यकस्पा व दो अस्पा मुरत्तब (अर्थात् एक और दो घोड़ेवाले सैनिक जो नियमानुसार व्यवस्थित रूप से भर्ती किए गए हों) नियुक्त किए। इनके वेतन के बारे में सुलतान ने निश्चय किया

कि एक घोड़े वाले सवार अर्थात् यकस्पा को २३४ टंका (१५६+७८) दिए जाएँ और दो अस्पा को २३४-७८ टंके। उसका अभिप्राय यह था कि प्रत्येक सैनिक का वेतन १५६ टंके हो और प्रत्येक प्रमाणित घोड़े के व्यय के लिए ७८ टंका दिया जाए।* साथ ही उसने यह भी आदेश दिया कि यकस्पा व दो अस्पा मुरत्तब अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार अस्त्र-शस्त्र व सैनिक सामान भी तैयार रखें। इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि सुलतान ने सरकारी खजाने में रुपए की कमी के कारण, सैनिकों के वेतन मामूल से बहुत कम निश्चित किए थे और ये वेतन सरकारी आज्ञा के अनुसार अस्त्र-शस्त्रादि मुहैया करने के लिए बिलकुल ना काफी थे। इसी परिस्थिति ने सुलतान को नई आर्थिक योजना बनाने पर विवश किया था। इस विषय की विवेचना आगे की जाएगी।

उपर्युक्त उपायों के अलावा सुलतान ने उत्तर-पश्चिम के सामरिक नाकों व किलों पर योग्य सेनापतियों को नियुक्त किया और उनको आवश्यक युद्ध के सामान से भरपूर किया। सैनिकों के भरती करने, उनके निरीक्षण, प्रशिक्षण आदि को व्यवस्थित किया। इस प्रकार सेना को पूरी तरह बढ़ाया व संभाला गया। किन्तु हम आगे चलकर बतलाएँगे कि इतनी बड़ी सेना का प्रयोग करने में सुलतान ने कोई योग्यता न दिखलाई।

**अलाउद्दीन की आर्थिक नीति और वस्तुओं के भाव घटाना**—उपर्युक्त सैन्य-व्यवस्था के प्रसंग में निर्देश किया जा चुका है कि सुलतान ने अपने मन्त्रिमण्डल से से यह प्रश्न किया कि इतनी बड़ी सेना का भरण-पोषण करने के लिए क्या उपाय किए जाएँ? इस प्रश्न पर परस्पर सलाह-मशवरा तथा गहरा विचार करके सर्व-सम्मति से उसके मंत्रियों ने यह निवेदन किया कि इतनी बड़ी सेना को सुव्यवस्थित तथा शिक्षित सफलतापूर्वक रखने के लिए आवश्यक है कि सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र, घोड़े आदि सब सामान ही नहीं किन्तु उनके परिवार की समस्त आवश्यक सामग्री भी इतनी सस्ती कर दी जाए कि अपने थोड़े वेतन के अन्दर ही वे सब-कुछ खरीद सकें। ऐसा करने से ही बहुत बड़ी सेना एक थोड़े से व्यय से ही भर्ती हो जाएगी और मुग़लों के आक्रमण रुक जाएँगे। तब सुलतान ने मंत्रियों से प्रश्न किया कि बिना

*समकालीन लेखक ज़िया बरनी ने इस विषय का उल्लेख करने में भी उसी प्रकार की भ्रान्ति पैदा करदी है जैसी कि उसने भूमिकर आदि अन्य राजनीतिक संस्थाओं के बयान करने में की है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि बरनी भी लगभग सभी तत्कालीन मौलवियों की भाँति शासन-सम्बन्धी संस्थाओं को कुछ नहीं समझता था। उसकी उलझी हुई भाषा का परिणाम यह हुआ कि लगभग सभी आधुनिक विद्वान् अलाउद्दीन की नवीन सैनिक व्यवस्था को समझने में भ्रांति में पड़ गए। किन्तु बरनी के शब्दों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से असली अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

हत्या, अत्याचार आदि उपायों का व्यवहार किए किस प्रकार चीज़ों के भाव सस्ते किए जाएँ ? उत्तर मिला कि सबसे पहले, जो सबसे अधिक आवश्यकता की वस्तु है, उसका भाव सस्ता करने के लिए नियम बनाए जाएँ। सुलतान ने इस परामर्श को पूरी तरह मानकर तुरन्त अनाज सस्ता करने के लिए नियम बनाए। इस प्रसंग में यह याद रहे कि अनाज आदि अन्य वस्तुओं के सस्ता करने तथा उन नियमों को पालन कराने के लिए जितनी सरकारी आज्ञाएँ निकाली गईं उन सबका मुख्य उद्देश सेना को कम-से-कम खर्च पर एक बहुत बड़ी संख्या में भर्ती करके बनाए रखने का था। याद रहे कि इस नीति के मूल में लेशमात्र भी उद्देश सुलतान अथवा उसके मंत्रि-मंडल के मन में प्रजा को सुखी बनाने अथवा किसी प्रकार जनता की वास्तविक आर्थिक उन्नति करने का नहीं था। इस प्रकार की सद्भावना उनको स्वप्न में भी प्रेरित नहीं करती थी। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होगा कि अनेक आधुनिक लेखक जो इस आर्थिक योजना को आर्थिक सुधारों का नाम देकर यह कहते आए हैं कि सभी वस्तुओं के भाव सस्ते हो जाने से सर्वसामान्य को बड़ा लाभ हुआ और सुख मिला, उनका यह मत कितना भ्रान्त तथा अशुद्ध है।

ऊपर कह आए हैं कि अलाउद्दीन की आर्थिक व्यवस्था का एकमात्र उद्देश यह था कि सब आवश्यक वस्तुओं के भाव घटाकर इतने कम कर दिए जाएँ कि सैनिक लोग उस थोड़े से वेतन के अन्दर ही, जो बादशाह ने उनको देने का निश्चय किया था, अपने अस्त्र-शस्त्र व घोड़े आदि एवं गृहस्थ पालन के लिए सभी चीज़ें आसानी से खरीद सकें। इस नीति को निर्धारित कर लेने से यह आवश्यक हो गया कि साधारण प्रचलित भावों को उसी अनुपात से घटा दिया जाय जिस मात्रा में सैनिकों का वेतन कम कर दिया गया था ताकि उनके घटे हुए वेतन का मूल्य उतना ही बना रहे जितना साधारण परिस्थिति में उनको देना पड़ता। उदाहरण के लिए मानो बादशाह ने हिसाब लगाया कि १०० रुपये में एक सैनिक दो घोड़ों के साथ वह सब साजो-सामान आसानी से रख सकता है जो सरकारी नियमों के अनुसार उनके लिए आवश्यक है, किन्तु सरकारी खज़ाने की जमा तथा प्रचलित आय कम होने कारण सैनिक के वेतन को घटाकर ७५ रुपये करना पड़ा, इसलिए साथ ही चीज़ों के भाव इतने घटा दिए गए कि ७५ रुपये में वह सब सामान जुटा सके जो पहले भावों के रहते हुए उसे १०० रुपये में मिलता। अब हम भाव घटाने के हेतु जो अधिनियम बनाए गए, उनका संक्षेप में वर्णन करेंगे।

यह नियम चार प्रकार के थे। पहली तीन नियमावली चीज़ों के भाव निश्चित करने के लिए बनायी गईं और चौथी अकाल के समय में वस्तुओं की बिक्री पर रोक लगाने के लिए। पहली नियमावली के द्वारा खाने की सब वस्तुओं के भाव निश्चित किए गए। दूसरी नियमावली से समस्त कपड़े आदि पहनने की वस्तुओं के भाव और तीसरी के द्वारा बाँदियों, नौकर-चाकरों, स्त्री व पुरुष दोनों प्रकार के गुलामों तथा मवेशियों, घोड़ों आदि के एवं अन्य बहुत से सौदागरी के भावों के नियम निश्चित

किए गए और इन्हीं के द्वारा तत्सम्बन्धी अन्य समस्याओं का समाधान किया गया। चौथी नियमावली इन आज्ञाओं के पालन कराने और प्रजा को किसी-न-किसी प्रकार इन भावों को स्वीकार कराने के उद्देश से बनायी गई। इन सब नियमों को संक्षेप में इस प्रकार समझाया जा सकता है—(१) भावों का निर्णय करना, (२) सामान के मिलने में कोई कठिनाई न हो ऐसा प्रबन्ध करना। इसकी पूर्ति के लिए गंगा-जमुना के दोआब तथा दिल्ली के आस-पास के प्रदेश के समस्त सामान को दिल्ली लाने का हुक्म दिया गया। लोगों को सामान जमा करने की मनाही कर दी गई। सौदागरों को हुक्म दिया गया कि गाँवों से लेकर सामान दिल्ली पहुँचाएँ और अनाज सरकारी कोठों में जमा किया जाए। साथ ही इस प्रकार की व्यवस्था की गई जिसके कारण लोगों से भय तथा आतंक के दबाव से इन आज्ञाओं का पालन कराया जाए। तीसरी नियमावली का उद्देश था कि सरकार द्वारा निश्चित किए हुए भाव अकाल के समय में भी बढ़ने न पाएँ। साथ ही ज़िया बरनी बतलाता है कि इस दौरान में अकाल बहुत पड़े। चौथी नियमावली इस उद्देश से बनाई गई कि अमीर लोग ज़रूरत से ज़्यादा बहुमूल्य वस्तुएँ न खरीदें और बाहर जाकर चौगने भावों पर उनको न बेचें, जैसा कि बरनी स्वयं कहता है।

मुख्यतया सेना के आराम के लिए भावों को कम करने की इस युक्ति का आश्रय बादशाह को इसलिए लेना पड़ा कि प्रजा पर प्रत्यक्ष कर (direct taxes) इतने लगा दिए गए थे कि उनसे अधिक देना प्रजा की शक्ति से बाहर था और शरा के अनुसार भी उनसे अधिक कर नहीं लगाए जा सकते थे। भाव किस मात्रा में घटाए गए इस बारे में बरनी तथा अन्य इतिहासज्ञों ने कुछ नहीं लिखा है किन्तु स्वयं सुलतान के इस कथन से कि यदि इतनी भारी सेना को साधारण वेतन दिए गए तो बहुत ही जल्दी सरकारी कोष का दिवाला निकल जाएगा, यह सिद्ध होता है कि चीज़ों के भाव बहुत काफ़ी घटाए गए थे। उसीके शब्दों में सरकार का उद्देश था सब वस्तुओं को अत्यन्त सस्ता बना देना। साथ ही यह बात भी निर्विवाद है कि इन भावों से जनता सन्तुष्ट नहीं थी और इस ज़बरदस्ती की नीति ने दिल्ली तथा उसके चारों ओर सैकड़ों कोस तक जहाँ-जहाँ से सामान एकत्रित करके दिल्ली लाया जाता था, आर्थिक जीवन को इतना अव्यवस्थित तथा अस्त-व्यस्त बना दिया था कि बादशाह को अपने कृत्रिम भावों को प्रचलित रखने के लिए अत्यन्त कठोर व निर्दयी साधनों से काम लेना पड़ता था। वास्तविक बात यह थी कि बाज़ारों के निर्ख स्वाभाविक रूप से बराबर अपने सामान्य स्तर पर आ जाने की चेष्टा करते रहते थे।*

---

*अलाउद्दीन की इस आर्थिक योजना को बहुत से आधुनिक लेखकों ने बड़ा अद्भुत तथा सर्वप्रजाहितकारी कार्य बतलाया है और यह मत प्रकट किया है कि अलाउद्दीन ने अनुपम प्रतिभा से इस महान् तथा अत्यन्त कठिन कार्य को समस्त साम्राज्य में इतनी सफलता के साथ सम्पन्न किया कि आधुनिक काल में ब्रिटिश

सरकार द्वारा निश्चित अनाजों की दर बरनी ने इस प्रकार दी है गेहूँ—७½ जीतल, जौ ४ जीतल, धान, ५ जीतल, उड़द, ५ जीतल, चना ५ जीतल मोठ, ३ जीतल प्रति मन ।* भाव को बराबर रखने के लिए यह नियम बनाया गया कि दिल्ली के आस-पास १०० कोस तक सरकारी कर्मचारी किसी किसान को १० मन से अधिक अनाज एकत्रित न करने दे । सरकारी कारकुनों व जिले के अफसरों को आदेश दिया गया कि वे अनाज खलिहान से ही इकट्ठा करवाकर दिल्ली भिजवाने का प्रबन्ध करें । इसके अतिरिक्त मण्डियों पर पूरा नियन्त्रण रखने के लिए शहना व बरीद नियुक्त किए गए । शहना मंडी का सर्वोच्च निरीक्षक व प्रबन्धकर्ता था तथा बरीद मण्डी के बारे में हर बात की सूचना सुलतान को पहुँचाता था । अनाज-मण्डी में सुलतान ने अपने विश्वासपात्र, अनुभवी मलिक कूबल उलुगखाँ को शहना नियुक्त किया और उसके अनुभवी मित्रों में से एक को उसका नायक बनाया तथा विश्वासपात्र बरीद भी नियुक्त किए । तीसरा नियम अनाज को सस्ता रखने के लिए यह बनाया गया कि तमाम दोआब तथा खालसे के गाँवों से भूमि-कर अनाज के रूप में वसूल करके राजधानी के कोठारों में भर दिया जाए । उसी प्रकार शहरे नो ( किलोखरी ) के अधीन गाँवों से ढूंढ़कर भूमि-कर ५० प्रतिशत अनाज के रूप में एकत्रित करके सरकारी गोदामों में जमा किया जाए । उन गोदामों से आवश्यकता अनुसार दिल्ली के व्यापारियों को अनाज बेचा जाता था और वे राजधानी की मण्डी में नई सरकारी सेना तथा अन्य प्रजा को घटे हुए भावों पर बेचते थे । ध्यान रहे कि सरकार की तरफ से इन व्यापारियों को एक निश्चित कमीशन दिया जाता था । चौथा नियम इस सम्बन्ध में यह बनाया गया कि राज्य के समस्त प्रदेशों के व्यापारी पूरी तरह शहनाए-मन्डी के अधिकार में रख दिए गए । उसको इन लोगों को हर प्रकार के कठोर से कठोर दण्ड देकर यहाँ तक कि

---

सरकार भी अपनी भाव-निर्धारण तथा राशन-नीति को न कर पायी । यह मत कितना निराधार तथा भ्रान्त है, इसे प्रत्येक विचारशील मनुष्य आसानी से समझ सकता है । इससम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि अलाउद्दीन का भाव-नियन्त्रण केवल दिल्ली शहर के अन्दर ही सीमित था, उसके बाहर कहीं भी निर्धारित सस्ते भावों पर वस्तुएँ नहीं मिल सकती थीं । दिल्ली के आस-पास के प्रदेश पर इस योजना का यह प्रभाव पड़ा कि वहाँ के सभी दस्तकारों व सौदागरों से उनका सामान ठोक-पीटकर दिल्ली के घटे हुए भावों से भी कम दामों पर वसूल कर लिया जाता था ।

*जीतल ताँबे का सिक्का था । एक चाँदी का टंका ५० जीतल की कीमत का होता था । 'मन' उस समय का लगभग आज के १२ सेर या २७½ पौंड का होता था । २४ तोले का एक सेर और ४० सेर का एक मन । इस हिसाब से उस समय का मन आज के १२ सेर का हुआ ।—'क्रानिकल्स' पृ० १५८-५९

उनके स्त्री-बच्चों को भी बन्दी बनाकर, उनसे हर प्रकार माल व असबाब तथा मवेशी आदि लाने पर मजबूर करने का अधिकार दिया जाए। पाँचवाँ नियम चोर-बाज़ार ( Black market) रोकने के लिए बनाया गया क्योंकि सरकार के द्वारा सब प्रकार की सामग्री राजधानी के चारों ओर सैकड़ों कोस के प्रदेशों से खिचकर सरकारी गोदामों में पहुँच जाती थी। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि इन सब प्रदेशों में हर सामान का भाव तिगुना-चौगुना हो गया जिसके कारण दिल्ली के लोगों को यह प्रलोभन होना स्वाभाविक ही था कि वहाँ से सस्ते दाम पर माल चोरी से ले-जाकर देहात में चौगुने दाम पर बेचें। इस घटना का स्पष्ट उल्लेख बरनी ने किया है। इसी चोरबाज़ार को रोकने के लिए बादशाह ने हर प्रकार के उपाय किए। सरकारी कर्मचारी व कारकुनों आदि को यह भी आदेश दिया था कि देहात में चोरबाज़ार में सामान बेचने के लिए किसीको कुछ इकट्ठा न करने दें। इन सब नियमों का पालन घोर निर्दयता के साथ कराया जाता था। अन्त में इन सब नियमों का पूर्णरूप से पालन कराने के लिए बरीद तथा अन्य गुप्त-चरों का इतना विस्तृत जाल बिछाया गया कि छोटी से छोटी घटना की सूचना सुलतान को पहुँचती रहती थी। सुलतान इस कार्य के लिए अक्सर कुछ लड़कों को पैसे देकर बाजार से चीजें लाने के लिए भेजता था और यदि किसी व्यापारी ने भाव से कम सामान दिया अथवा कम तोला तो उसके शरीर से उतना ही मांस काट लिया जाता था। इसी प्रकार के कठोर नियम दूसरी वस्तुओं की मण्डियों पर भी लागू किए गए। राजधानी के चारों ओर के सैकड़ों मील के गाँवों व कस्बों की आर्थिक दशा कितनी शोचनीय तथा प्रजा के लिए घातक हो गई थी इसका अनुमान उपर्युक्त विवरण से सहज ही में किया जा सकता है। आश्चर्य यह है कि अनेक आधुनिक लेखकों ने यह लिख मारा है कि अनाज व कपड़े समस्त चीज़ों के सस्ते हो जाने से साम्राज्य भर की प्रजा को बड़ा सुख मिला जिसके कारण वे सुलतान के बड़े भक्त हो गए।* हम बतला चुके हैं कि केवल दिल्ली तथा उसके आसपास की छावनियों के अन्दर ही चीज़ों के भाव घटाने का उल्लेख बरनी ने किया है। आवश्यकता भी ऐसा ही करने की थी। संभव है कि अन्य छावनियों में भी जहाँ-तहाँ सेनाएँ बँटी हुई थीं, इसी प्रकार भाव घटाए गए हों यद्यपि इसका कोई संकेत बरनी अथवा अन्य किसी लेखक ने नहीं किया है। समस्त साम्राज्य में दिल्ली के चारों ओर के देहात में समस्त जनता के लिए इन भावों का घटा देना आर्थिक दृष्टि से सर्वथा असम्भव था। देहात की वास्तविक दशा यह थी कि वहाँ के कृषकों, कारीगरों व अन्य व्यापारियों से उनका माल राजधानी के घटे हुए भावों से काफी कम दामों पर वसूल किया जाता था ताकि राजधानी तक पहुँचाने और गोदामों में रखने आदि की छीज तथा दुकानदारों का लाभ, यह सब जोड़ कर भी

*इस प्रसंग में देखो, डाक्टर ईश्वरीप्रसाद-कृत पाठ्य-पुस्तकें।

सामान निर्धारित भाव पर बेचा जा सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि राज्य की ओर से भावों को सस्ता करने के लिए कोई सहायता (subsidy) मिल ही नहीं सकती थी क्योंकि राजकोष में व्यय से अधिक धन होता तो इस विचित्र आर्थिक योजना की आवश्यकता ही नहीं होती।

अब संक्षेप में उन सब साधनों पर विचार किया जाए जो इस आर्थिक योजना को सफल करने के उद्देश से लागू किए गए। चीज़ों का भाव नियत करने के बाद उनका पूरी तरह से पालन करवाने के लिए पहली आवश्यकता यह थी कि राजधानी की बहुत बढ़ी हुई सेना की माँग की पूर्ति की जाए। इसके लिए एक प्रकार का पूर्ति विभाग बनाया गया। यह काम दिल्ली के चारों ओर लगभग १०० मील के दायरे में समस्त स्थानीय राजकर्मचारियों को सौंपा गया। इसके नियम इतने कड़े बनाए गए कि सरकारी अफसर तथा प्रजा दोनों ही को अपने कार्य में कोताही करने अथवा किसी प्रकार की बेईमानी करने पर निष्पक्ष रूप से दण्ड दिए जाते थे। किसानों और व्यापारियों को कोई सामान दबाकर रखने की सख्त मनाही कर दी गई। इसी उद्देश से उन प्रदेशों का भूमि-कर बहुत कुछ अनाज की शक्ल में उगाहने का नियम बनाया गया। यदि कोई चोरी से ऊँचे दामों पर माल बेचता हुआ पाया जाता तो वहाँ के अफ़सर को उसका उत्तरदायी ठहराया जाता था और दण्ड दिया जाता था। स्थानीय अफसरों (शहनाओं व कारकुनों) से यह इकरार लिखवा लिया जाता था कि वे किसानों से व्यापारियों को अनाज नियत दरों पर दिलवा देंगे। इन उपायों से दिल्ली के बाज़ारों में काफी अनाज तथा अन्य सामान का पहुँचना बिलकुल निश्चित हो गया। इसके अतिरिक्त व्यापारियों तथा सामान ले जानेवाले कारकुनों को भी इस काम में निश्चित रूप से लगा दिया गया। दूर-दूर के व्यापारियों तथा सामान ढोनेवालों को कठोर दण्ड तथा अपमान का भय देकर दिल्ली में जमुना के किनारे बसने के लिए वाध्य किया गया ताकि शहना उनके ऊपर नियन्त्रण रख सके। इकट्ठे किए हुए अनाज व अन्य सामान को गोदामों में भरकर रखने का प्रयत्न किया गया। इस प्रसंग में बरनी शहरे नौ के अतिरिक्त एक और स्थान अर्थात झाईं का उल्लेख करता है जहाँ पर अनाज के गोदाम भरे गए थे। यह झाईं शायद उस समय बहुत बड़ी अनाज-मण्डी राजधानी के समीप रही हो परन्तु अब इसका कोई चिन्ह बाक़ी नहीं है। मंडियों के निरीक्षक अर्थात् शहना तथा बरीद की नियुक्त का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

तेल, चीनी, अनाज के अतिरिक्त कपड़े, आदि अन्य वस्तुओं के भाव भी निश्चित कर दिए गए और उनको लागू करने के लिए पांच अधिनियम बनाए गए। इन वस्तुओं के विक्रय के लिए सराय अदल के नाम से एक नया बाज़ार बदायूँ दरवाज़े के अन्दर खोला गया। दूसरे नियम के अनुसार इन सब वस्तुओं के भावों की सारिणी बना दी गई। तीसरे नियम से व्यापारियों, विशेषकर मुल्तानी सौदागरों, को बुलाकर दिल्ली में बसाया गया। इसका नाम सराय अदल

रखा गया। चौथा नियम इन सौदागरों को सरकार की तरफ से अगाऊ धन देने के लिए बनाया गया ताकि वे आवश्यक सामान इकट्ठा कर सकें। ध्यान रहे कि इस प्रकार की आसानी अनाज के सौदागरों को नहीं दी गई थी। पाँचवाँ नियम अमीर लोगों को बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदने के लिए आज्ञापत्र (Permits) देने के लिए बनाया गया था। इन नियमों के अनुसार व्यापारियों को अपने सब सामान कठोर दण्ड के भय से सराय अदल में लाकर बेचने पड़ते थे। इस बाज़ार का अफसर दीवाने रियासत कहलाता था। उसको आज्ञा दी गई थी कि हिन्दू व मुस्लिम सभी व्यापारियों के नामों का एक रजिस्टर तैयार करे और इसमें इकरारनामे लिखवा ले कि वे अपना सब सामान सराये अदल में लाकर सरकार द्वारा नियत भावों पर बेचें चाहे कितनी ही दूर से यह सामान उनको लाने पड़ें। जिस प्रकार अनाज के इकट्ठा करने तथा व्यापारियों को दिलवा देने का प्रबन्ध बादशाह ने स्वयं किया था, उसके प्रतिकूल सराय अदल के व्यापारियों को सामान दिलवाने की कोई व्यवस्था राज्य की ओर से नहीं की गई। यह अनुमान करना कठिन है कि दूर-दूर से सामान ले जानेवाले व्यापारियों को किस प्रकार इतने सस्ते दामों पर ये सामान मिलते होंगे ताकि वे सराय अदल में सामान बेचकर कुछ नफा उठा सकते। क्या यह सम्भव था कि दूर-दूर के व्यापारियों को भी बादशाह बहुत सस्ते दामों पर अपना सामान बेचने के लिए बाध्य कर सकता? इस समस्या पर विचार करने से एक ही परिणाम निकाला जा सकता है कि मुल्तानी व्यापारियों को जो वस्तुतः अपने व्यापार के द्वारा बड़े धनवान थे, भारी हानि सहनी पड़ी होगी। साम्राज्य में थोड़े दिनों बाद जो अव्यवस्था फैली वह इसी परिणाम को सिद्ध करती है।

सेना को घोड़ों की सबसे अधिक आवश्यकता थी, जो प्रायः मध्य एशिया तथा फारस आदि देशों से मँगाए जाते थे। इनके दलाल व बेचनेवाले भी विशेषकर मुल्तान के थे और वे घोड़ों के व्यापार से बहुत लाभ उठाते थे। इन सब दलालों आदि का दिल्ली के बाज़ार में घोड़ों का क्रय-विक्रय करना बिलकुल बन्द कर दिया गया। बरनी स्वयं लिखता है कि इन नियमों के लागू करने से घोड़ों के व्यापारी बिलकुल नष्ट हो गए। घोड़ों के व्यापारियों को दूर-दूर किलों में बन्दी कर दिया गया। इस आर्थिक योजना का उस प्रदेश की सामान्य आर्थिक परिस्थिति पर बहुत ही घातक प्रभाव हुआ होगा, यह निर्विवाद है।

अन्त में उपर्युक्त नियम पालन कराने के उद्देश से भी कुछ अधिनियम बनाए गए। इसके लिए अर्थ-विभाग के अन्तर्गत बहुत से निरीक्षक आदि नियुक्त किए गए और उनका प्रधान अधिकारी याकूब नामी एक ऐसे मनुष्य को बनाया गया जो अपनी निर्दयता, क्रोध तथा दुर्व्यवहार आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध था। उसको नाज़िर के पद से उठाकर दीवाने रियासत नियुक्त किया गया और उसके नीचे बहुसंख्यक कर्मचारियों के साथ एक शहना नियुक्त किया गया। इन लोगों के नौकरी के लिए गुणों में ईमानदारी के अतिरिक्त निर्दयता, बदमिज़ाजी व बदज़बानी आदि

भी अत्यन्त आवश्यक गुण थे । इन शहनाओं को बाज़ार के भावों की सूचियाँ दे दी गई थीं और वे लोग किसी व्यापारी के सामान में तनिक सी भी कमी होने पर उसको अत्यन्त निर्दयता से कोड़े लगाते तथा अन्य प्रकार से उसके साथ दुर्व्यवहार करते थे ।

**अलाउद्दीन की आर्थिक योजना की सफलता व विफलता की समीक्षा**—खल्जी सुलतान की आर्थिक योजना और भावों की नियन्त्रण-व्यवस्था का विवरण देने के बाद यह आवश्यक है हम उस योजना की सफलता और असफलता व लाभालाभ का अनुमान करने का प्रयास करें । इस प्रसंग में तीन मुख्य पहलुओं पर विचार किया जा सकता है, (१) भाव-निर्धारण किस हद तक सफलता के साथ संचालित किया जा सका, (२) उन प्रदेशों की सामान्य प्रजा पर इस योजना का क्या प्रभाव पड़ा और समस्त साम्राज्य की आर्थिक स्थिति पर क्या असर हुआ, (३) यथासंभव यह जानने का प्रयत्न करना कि चीज़ों के मूल्य में कितना परिवर्तन हुआ । पहले प्रश्न के विषय में बरनी के विवरण से विदित होता है कि अपनी योजना को सफलीभूत करने के लिए सुलतान ने कोई बात उठा न रखी । यह भी जान पड़ता है कि वह इस बात को भली-भाँति समझता था कि उसकी योजना सर्वथा कृत्रिम है अतएव उसको डन्डे के ज़ोर से ही लागू किया जा सकता है । इस धारणा से उसने अत्यन्त निर्दयी तथा कठोर राजकर्मचारियों का इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए जाल बिछा दिया और कुछ दिन के लिए अपनी योजना को सफल कर दिखाया ।

परन्तु इसी के साथ दूसरा प्रश्न अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है क्योंकि किसी राजकीय योजना की सफलता अथवा विफलता का मापदण्ड प्रजा के लाभालाभ व सुख-दुःख के अनुसार ही हो सकता है । शासन-सम्बन्धी योजनाओं की सफलता प्रजा तथा देश से निरपेक्ष होकर शून्य में अस्तित्व नहीं रख सकती । यदि इस आर्थिक योजना की सफलता का परीक्षण इस प्रकार से किया जाए तब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पहले तो इस योजना के मूल में सामान्य प्रजा के हित का स्वप्न में भी विचार नहीं किया गया था । दूसरे, जैसा ऊपर दिखलाया जा चुका है, कम से कम राजधानी के चारों ओर सैंकड़ों कोस तक की जनता को केवल राजधानी के सुख-चैन के हेतु अत्यन्त नृशंसता के साथ पीस डाला गया था । जनता के आर्थिक दृष्टि से चार मुख्य वर्ग थे :(१)किसान लोग, (२) दस्तकार, शिल्पी व मज़दूर आदि (३) छोटे-बड़े व्यापारी व सौदागर, (४)सरकारी वेतनभोगी कर्मचारीगण । इन वर्गों में से किसानों की दशा तो अकथनीय हो गई, यह निर्विवाद है । अत्यन्त भारी कमर तोड़नेवाला करों का भार तो पहले ही उन पर लादा जा चुका था । इसी कारण सरकारी आय बढ़ाने के लिए अधिक कर लगाना सम्भव न समझा गया । अतएव परोक्ष-विधि (Indirect taxation) से उन गरीब किसानों को चूसने का नया उपाय निकाला गया अर्थात् अपनी पैदावार का पचास-साठ प्रतिशत भूमिकर आदि के रूप में दे देने

के बाद अपने न्यूनतम खाने भर के लिए रखकर बाकी सब राजधानी में संचालित भावों की अपेक्षा भी बहुत ही सस्ते दामों पर सरकार को दे देना पड़ता था। लगभग ऐसी ही दशा दस्तकारों, विभिन्न वस्तुओं के बनानेवालों व मजदूरों आदि की थी क्योंकि इन सब वर्गों के लोग आवश्यक वस्तुओं के बनाने व बेचने में लगे हुए थे और उनको भी अपना सामान उसी अनुपात से बहुत सस्ता बेचना पड़ता था। व्यापारियों की दशा का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद है कि हर प्रकार का सामान यहाँ तक कि मवेशी, गाय, बकरी, घोड़ा आदि सभी खिंचकर राजधानी पहुँचने लगा था। जो चोरी-छिपके से बचा उसका मूल्य स्वाभाविक ही दुगुना, चौगुना हो गया था। अतएव राजधानी के बाहर की प्रजा इस दुधारी तलवार से मारी गयी। एक ओर अपना सब सामान सरकार को बहुत ही सस्ते भाव पर देना और दूसरी ओर अपनी आवश्यकता की चीजें चोर-बाज़ार में चौगुने दाम पर खरीदना।

अब रहा वेतनभोगी वर्ग। लाभ केवल इसी वर्ग को हुआ क्योंकि उनके वेतन में कमी न हुई और भाव दिल्ली में सस्ते हो गए। सेना को आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। उनके वेतन में जितनी कमी की गई उसकी पूर्ति चीज़ों के भाव घटाकर कर दी गई। हानि-लाभ बराबर हुए। इस सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि दिल्ली निवासी जनता को अत्यन्त परिमित मात्रा में सामान सस्ते दामों पर मिल जाता था किन्तु इतना नहीं कि वे उसका शतांश भी बचा सकें अथवा बाहर भेज सकें।

तीसरा प्रश्न यह है कि राजधानी में भाव कितनी मात्रा में घटाए गए, इसका कोई उल्लेख बरनी ने नहीं किया। कतिपय संकेतों के आधार पर मोटे तौर से यह अनुमान किया जा सकता है कि गेहूँ का सामान्य भाव कम-से-कम १० जीतल प्रति मन अवश्य रहा होगा जिसको घटाकर अलाउद्दीन ने ७½ जीतल प्रति मन कर दिया। किन्तु जिस भाव पर देहात के लोगों से अनाज तथा अन्य वस्तुएँ वसूल की जाती थीं वह ५ जीतल फ़ी मन गेहूँ से अधिक न होगा। और इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के भाव भी रहे होंगे। इसके प्रतिकूल देहात के और अन्य स्थानों के खुले बाज़ारों में दिल्ली के बाज़ार के शासन द्वारा निश्चित किए हुए भावों से चौगुने-पँचगुने हो गए थे, इसका स्पष्ट उल्लेख बरनी ने किया है और ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

## ( २ )

## खल्जी साम्राज्य का दक्षिण भारत पर फैलना

**दक्षिण भारत की तत्कालीन परिस्थिति**—दक्षिण भारत के हिन्दू राज्यों का सविस्तार विवरण पहले दिया जा चुका है। यहाँ संक्षेप में यह बतला देना काफी होगा कि चौदहवीं शती के शुरू में जब दिल्ली सुलतान ने फिर से चढ़ाइयाँ

शुरू कीं, उस समय प्रदेश के राज्यों की दशा कैसी थी और उनके परस्पर कैसे संबंध थे। इस समय दक्षिण में चार बड़े-बड़े शक्तिशाली राज्य थे। देवगिरि का राज्य विंध्य पर्वत के दक्षिण में महाराष्ट्र प्रदेश पर फैला हुआ था। तिलंगाना के दक्षिण-पश्चिम में होयसल वंश का राज्य पश्चिम तट पर फैला हुआ था जिसकी राजधानी कावेरी नदी के तट पर द्वारसमुद्र थी। भारत के दूर दक्षिण प्रदेश में पाण्ड्य वंश का प्रतापी व शक्तिमान राज्य स्थापित था जिसको मुस्लिम लेखक मआबर देश के नाम से जानते थे।

देवगिरि के यादव वंश का वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है। १३वीं शती में सिंहना तथा रामचन्द्र इस वंश के दो योग्य शासकों के राजत्वकाल में राज्य की बहुत उन्नति हुई। रामचन्द्र ने २५ वर्ष तक सफलता से शासन किया था और उसके चतुर तथा प्रकाण्ड पण्डित मंत्री हेमांड पंत की योग्यता से देश के सुख-सम्पत्ति की अत्यन्त उन्नति हुई और राज्य का विस्तार भी हुआ। जिस समय अलाउद्दीन का पहला हमला अकस्मात देवगिरि पर हुआ उस समय समस्त राज्य धन-धान्य से भरपूर था। उसकी अगणित सम्पत्ति का समाचार अलाउद्दीन को भिलसा के आक्रमण के समय विदित हुआ था।

तिलंगाना का राज्य गणपति के समय से समुन्नत हुआ था। गणपति ने सन् १२०० से १२६०-६१ तक के अपने दीर्घकालीन शासनकाल में बड़ी योग्यता से राज्य की शक्ति तथा सम्पत्ति का विस्तार किया था। उसके बाद उसकी योग्य पत्नी रुद्राम्बादेवी ने भी ३० वर्ष तक बड़ी योग्यता से शासन किया। उसी के राज्यकाल में वेनिस का सुविख्यात यात्री मार्कोपोलो दक्षिण भारत में भ्रमण कर रहा था। उसने रानी रुद्राम्बा की न्यायप्रियता आदि की बड़ी प्रशंसा की है। रानी रुद्राम्बा ने १२९२ तक राज्य किया। जब उसका नाती प्रतापरुद्रदेव युवा हो गया तब उसको राजकाज सौंपकर स्वयं गद्दी त्याग दी। प्रतापरुद्रदेव के समय तिलंगाना पर मलिक काफ़ूर की चढ़ाई हुई।

द्वारसमुद्र का होयसल वंश चोल साम्राज्य के पतन के समय से शक्तिशाली हुआ था। इनका सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजाओं से निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। एक अभिलेख के अनुसार नरसिंह द्वितीय (१२२४-३४) के काल में होयसल साम्राज्य पूर्वी तट से दक्षिण-पश्चिम की ओर कोयम्बटूर (कोयममुत्तूर) तक और दक्षिण में कावेरी के तट तक तथा उत्तर में कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। नरसिंह द्वितीय के पुत्र सोमेश्वर के समय में द्वारसमुद्र राज्य का और भी विस्तार हुआ परन्तु सोमेश्वर के बाद वीर रामनाथ तथा नरसिंह तृतीय में राजगद्दी के लिए परस्पर संघर्ष हुआ और राज्य दो टुकड़ों में बँट गया। परन्तु १२९२ में बल्लाल तृतीय ने फिर से होयसल साम्राज्य के टुकड़ों को एकत्रित कर लिया।

पाण्ड्य राज्य को १२वीं शती में घरेलू झगड़े के कारण बहुत हानि हुई थी किन्तु १३वीं शती में पाण्ड्य वंश ने अपने राजाओं की योग्यता के कारण फिर

से उन्नति की ओर खोई हुई शक्ति तथा प्रताप को वापस लिया। जटावर्मन सुन्दर-पाण्ड्य जिसने १२७४ तक राज्य किया, बड़ा नामी योद्धा तथा रणवीर हुआ। उसने सम्पूर्ण चोल साम्राज्य पर अधिकार कर लिया और मलाबार देश के शासक को भी परास्त किया। उसने उत्तर के होयसल राजा सोमेश्वर से युद्ध किए, परन्तु उसके वंशजों के समय में विस्तृत पाण्ड्य साम्राज्य कई टुकड़ों में बँट गया। पांड्य राजा मारवर्मन कुलशेखर (जिसको मुस्लिम लेखक कालेस देवर कहते हैं) इस वंश का महान शासक था। उसने लगभग १२६८ में शासन करना आरम्भ किया और १३१० तक राज्य किया। इसी वर्ष पाण्ड्य राज्य पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ। उसके शासनकाल में ही मार्कोपोलो कायाल नामक बन्दरगाह पर पहुँचा था। उसने पाण्ड्य देश की सम्पत्ति और उन्नति के विषय में बड़े विस्तार से लिखा है। उसके कथन से जान पड़ता है कि इस पाण्ड्य राजा ने मदुरा को अपनी राजधानी बनाया था और लंका पर चढ़ाई करके वहाँ के राजा पराक्रमबाहु को भी परास्त किया था। चीन आदि देशों से भी उसका नैतिक पत्र-व्यवहार चलता था। कुल-शेखर के दो पुत्र थे। एक औरस पुत्र सुन्दरपाण्ड्य और दूसरा बाँदी पुत्र वीरपांड्य। इन दोनों में राज्य के लिए परस्पर संघर्ष हुआ। कुलशेखर, वीरपांड्य को अधिक चाहता था। सुन्दरपांड्य ने १३१० में अपने पिता का वध कर दिया किन्तु वह लड़ाई में वीरपांड्य से हारकर दिल्ली सुलतान से सहायता की याचना करने गया। मुस्लिम लेखकों के अनुसार मदुरा (मदुराई) पर काफ़ूर की चढ़ाई का यही कारण था। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मुसलमानी हमलों के समय दक्षिण भारत की राजनीतिक दशा वहाँ के राज्यों के परस्पर कलह तथा निरन्तर झगड़ों के कारण अत्यन्त शोचनीय व निर्बल हो चुकी थी।

**दक्षिण की आर्थिक सम्पन्नता**—मार्कोपोलो आदि बाहरी लेखकों के विवरण से दक्षिण की विपुल सम्पत्ति पर काफी प्रकाश पड़ता है। दक्षिण उस समय तक विदेशी आक्रान्ताओं की लूटमार से सुरक्षित रहा था और हज़ारों वर्ष से उस देश के राजा तथा प्रजा सभी यथायोग्य अपना धन एकत्रित करते चले आए थे जिसको देखकर विदेशी यात्री चकाचौंध हो गया। उसने राजाओं के बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण तथा जवाहरात आदि के बारे में बड़े विस्तार से लिखा है। उसने यह भी बतलाया है कि किस प्रकार बड़े-बड़े अनमोल मोती मआबर देश में एकत्रित किए जाते हैं। राजा की आज्ञा थी कि वहाँ के मोती विदेश न भेजे जाएँ। पांड्य तथा अन्य सभी राजाओं ने देवालयों तथा मन्दिरों के निर्माण पर अत्यन्त धन व्यय किया था और इसी प्रकार वे विदेशी घोड़ों को खरीदने में व्यय करते थे। उनका व्यवहार विदेशी व्यापारियों तथा यात्रियों के साथ बहुत अच्छा होता था। **मसालिक उल अबसार** के लेखक **उमरी** ने भी भारत की अतुल सम्पत्ति का उल्लेख किया है। वह कहता है कि विदेशियों का सोना हज़ारों वर्षों से हिन्दुस्तान में आता रहा है और बाहर कभी नहीं गया। बरनी व अमीर खुसरो आदि लेखकों से विदित

होता है कि अलाउद्दीन और मलिक काफ़ूर दक्षिण से अतुल धन-सम्पत्ति लूटकर दिल्ली लाए थे और उसी प्रकार उसके बाद मुहम्मद तुग़लक को भी बेतोल लूट का माल दक्षिण से मिला था। केवल एक मन्दिर का रुपया दो सौ हाथियों व हज़ारों बैलों पर लादकर लाया गया था। इतनी अनन्त लूट के बाद भी बहमनी और विजयनगर साम्राज्यों के पास अनन्त कोष मौजूद थे। इनका उल्लेख अरबी यात्री अब्दुल रज्ज़ाक ने किया है। अब्दुल रज्ज़ाक १४वीं शती में विजयनगर साम्राज्य में भ्रमण करने आया था। उसने लिखा है कि एक ओर समस्त देश खेती-बाड़ी से हरा-भरा है और दूसरी ओर राजा के तहख़ाने सोने के ठोस पाँसों से भरे पड़े हैं। नगर के छोटे-बड़े सभी निवासी सोने-चाँदी तथा रत्नजटित आभूषण पहनते हैं। फिरिश्ता भी इसका समर्थन करते हुए कहता है कि दक्षिण में गरीब-से-गरीब लोग भी सोने के आभूषण पहनते हैं और सोने-चाँदी के बर्तनों में भोजन करते हैं।

**देवगिरि की दूसरी चढ़ाई (१३०७)**—पिछले अध्याय में कह आए हैं कि चित्तौड़ पर चढ़ाई करते समय अलाउद्दीन ने मलिक फ़खरुद्दीन जूना को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण-पूर्वी तट के प्रसिद्ध राज्य वरंगल पर आक्रमण करने के लिए भेजा था। इस अवसर पर काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के एक नायक ने वरंगल के निकट उप्परपल्ली गाँव के पास मलिक फ़खरुद्दीन की सेना को बुरी तरह पछाड़ा था और मुस्लिम सेनापति जान बचाकर वापस भागा था। इस दुर्घटना का बदला लेने का अवसर अलाउद्दीन को कई वर्ष बाद मिला। चित्तौड़ में इसकी सेना को बहुत भारी हानि हुई थी तथा उसी समय मुग़लों के बड़े भयानक आक्रमण दिल्ली पर हुए। इन कठिनाइयों में उलझे रहने के कारण सुलतान को साम्राज्य विस्तार का विचार कुछ काल के लिए स्थगित कर देना पड़ा।

**रामदेव यादव का चरित्र**—बरनी के अनुसार देवगिरि के राजा रामदेव यादव ने कई वर्षों से राजकर न भेजा था किन्तु ऐसामी **फ़ुतूह उस्सलातीन** में लिखता है कि रामदेव के बेटे भिल्लम (संगम) ने विद्रोह कर दिया था और रामदेव को विवश होकर इस विद्रोह में सम्मिलित होना पड़ा था। भिल्लम ने रामदेव को भी बन्दी कर लिया था। अतएव रामदेव ने सुलतान के पास गुप्त रूप से खबर भेजी कि इस विद्रोह को दमन करने के लिए सेना भेजे। इसका कारण यह था कि सुलतान ने रामदेव के साथ बड़ी उदारता का बरताव किया था। परन्तु रामदेव की इस कार्रवाई का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि अपने पड़ोसियों से तो उसकी शत्रुता थी और अकेले उसमें दिल्ली सुलतान का मुकाबला करने की शक्ति न थी। साफ़ ज़ाहिर है कि रामदेव में यह क्षमता भी न थी कि अपने समकालीन नरेशों को मिलाकर एक संयुक्त संघ बना ले। अतएव एक कायर की भाँति वह अपने बेटे के विरुद्ध शिकायत करने से भी न हिचका। इस प्रसंग में रामदेव के सैनिक-चरित्र का मूल्यांकन करने के लिए दो बातों पर विचार करना ठीक होगा। उसे मालूम था कि काकतीय राजा की सेना ने थोड़े ही दिन पहले सुलतान की सेना को पूरी

तरह परास्त किया था और साथ ही उसके बेटे संगम की धारणा थी कि अलाउद्दीन की पहली चढ़ाई की सफलता का कारण उसकी वीरता नहीं किन्तु कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ और आकस्मिक घटनाएँ थीं। इसलिए उसे सुलतान के शौर्य अथवा सैन्य-बल से भयभीत होने का कोई कारण नहीं था। अभाव था उसमें राजनीतिक बुद्धि और दूरदर्शिता का।

देवगिरि पर चढ़ाई करने का शायद एक कारण यह भी था कि गुजरात के राजा कर्ण ने १२९९ में नुसरतखाँ तथा उलुग़खाँ के आक्रमण होने पर अपनी दो कन्याओं के साथ भागकर रामदेव के राज्य में शरण पाई थी। उसकी पटरानी कमलादेवी पकड़कर सुलतान के महल में भेज दी गई थी। कर्ण की बेटियों में से एक मर चुकी थी और दूसरी देवलदेवी को देखने के लिए उसकी माँ कमलादेवी व्याकुल थी। अतः अलाउद्दीन ने अपने एक सैनिक को आज्ञा दी कि वह देवलदेवी को ढूँढकर दिल्ली पहुँचाए। यह सैनिक जिसका नाम शायद अल्पखाँ था, गुजरात होता हुआ भागते हुए राजा कर्ण की तलाश में निकला। और सौभाग्य से उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ कर्ण भागता हुआ देवगिरि की ओर जा रहा था। अल्पखाँ ने उस पर हमला किया। कर्ण हारकर अपना सब सामान छोड़कर देवगिरि की ओर भागा। मुस्लिम सेना उसका पीछा कर रही थी। इस अवसर पर कुछ सैनिक जो एलोरा के गुहा मन्दिर को देखने गए थे अकस्मात उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ कर्ण ठहरा हुआ था। उन्होंने देवल रानी को तुरन्त पकड़कर अपने सेनापति के पास भिजवा दिया और वह वहाँ से दिल्ली भेज दी गई।

यह कार्य सम्पन्न करके अल्पखाँ मलिक नायब काफ़ूर की सेना से जा मिला। मलिक काफ़ूर दिल्ली से सारे प्रदेश को लूटता-खसोटता और मार-काट करता हुआ देवगिरि पहुँच गया था। संगम ने काफ़ूर से युद्ध किया पर रामदेव के देशद्रोह के कारण वह हार गया और अपने कुछ सैनिकों के साथ बचकर निकल गया। बाक़ी सैनिकों को काफ़ूर ने तलवार के घाट उतार दिया। रामदेव ने विजेता से सन्धि कर ली और मलिक काफ़ूर उसे सपरिवार अपने साथ लेकर दिल्ली लौटा। अलाउद्दीन ने रामदेव का बड़ी उदारता से सत्कार किया। वह राजधानी में छः महीने ठहरा और सुलतान से रायरायान की उपाधि प्राप्त करके देवगिरि वापस लौटा। सुलतान ने उसको एक लाख सोने के टंके भी भेंट में दिए। सन् १३०८ के अन्त में रामदेव, अपने राज्य में वापस पहुँच गया। अलाउद्दीन के इतने दयालु व उदार व्यवहार से रामदेव इतना आभारी हुआ कि, आजीवन वह राजकीय कर सुलतान को भेजता रहा और उसकी आज्ञा का पालन करता रहा। अलाउद्दीन की यह नीति अत्यन्त दूरदर्शी तथा सराहनीय थी। देवगिरि के राज्य के इस प्रकार मित्र बन जाने से सुलतान को दक्षिण भारत के अन्य राज्यों पर आक्रमण करने का एक ऐसा सुन्दर सैनिक आधार प्राप्त हो गया कि जहाँ से वह सुगमता से सुदूर दक्षिण की ओर बढ़ सकता था। इतना ही नहीं रामदेव ने अन्य हिन्दू राज्यों पर

चढ़ाई करने में दिल्ली सुलतान को हर प्रकार की सहायता भी दी।

**वरंगल की दूसरी चढ़ाई (१३०९-१०)**—जिन दिनों खल्जी सुलतान ने मलिक नायब को दक्षिण प्रदेश पर अधिकार करने के लिए नियुक्त कर रखा था उन्हीं दिनों वह मालवा तथा जोधपुर आदि पर स्वयं चढ़ाइयाँ कर रहा था जिनका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। देवगिरि से विजयपताका फहराते हुए मलिक नायक दिल्ली पहुँचा और लगभग एक वर्ष तक तैयारी करने के बाद वह फिर सन् १३०९ के अन्तिम दिनों में दक्षिण की ओर चल पड़ा और मार्ग में बिना किसी रुकावट के देवगिरि पहुँच गया। जब वह देवगिरि के निकट पहुँचा रामदेव बहुत से उपहार लेकर बड़े समारोह के साथ उसका स्वागत करने आया और जब तक सुलतान की सेना देवगिरि ठहरी, बड़ी सावधानी से उसके खान-पान तथा आराम का प्रबन्ध करता रहा।

परन्तु मलिक काफ़ूर थोड़े ही दिन ठहरकर आगे बढ़ा और सरवर (सीरपुर) के किले को जीत कर उसीके दुर्गपाल के भाई को उसका अधिकार सौंपा। उसने सुलतान का आज्ञाकारी होने का वचन दिया। इस विजय के बाद काफ़ूर वरंगल की तरफ बढ़ा। सरवर से भागे हुए सैनिकों ने प्रतापरुद्रदेव को मुसलमानों के हमले की खबर दे दी थी। प्रतापरुद्रदेव का राज्य तथा सैन्य-बल बहुत बड़ा था। उसकी सेना में सौ हाथी, नौ लाख धनुर्धारी पैदल सेना तथा बीस हजार घुड़सवार थे। उसने शत्रु की सेना को रोकने के लिए सभी आवश्यक उपाय किए। अपने सामन्तों व सैनिकों को आज्ञा दी कि अपने-अपने किलों की मरम्मत कराएँ। सेना के मार्ग के चारों ओर के प्रवेश को नष्ट कर दिया गया था ताकि शत्रु को किसी प्रकार की सामग्री न मिल सके। परन्तु युद्ध-नीति में कदाचित् प्रतापरुद्र-देव ने एक मौलिक भूल की। उसने अपने मुख्य-मुख्य दुर्गपालों को राजधानी की रक्षा करने के लिए केन्द्र में समेट लिया। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि शत्रु-सेना को मार्ग में आवश्यक सामग्री की कमी के कारण कुछ कठिनाई उठानी पड़ी किन्तु कहीं भी उसका रास्ता न रोका गया और अपने ध्येय तक पहुँचने में उसको बड़ी आसानी हो गई। मलिक काफ़ूर ने बड़ी तेजी से चलकर **हानमकोंडा** की पहाड़ी पर अपना शिविर जमा दिया। शिविर के चारों ओर लकड़ी का घेरा खड़ा कर दिया गया। वरंगल के दो किले थे, एक अन्दर और दूसरा बाहर। बाहरी किला मिट्टी का बना हुआ था और उसमें ७७ गुम्बज थे जिनमें से प्रत्येक के ऊपर एक-एक नायक उसकी रक्षा करता था। अन्दर के पक्के किले में राजा तथा समस्त राज्य के बड़े-बड़े सामन्त आदि बन्द थे। बाहरी किले के अन्दर सेना थी। मलिक काफ़ूर ने जनवरी सन् १३१० के बीच में वरंगल का घेरा शुरू किया और यद्यपि हिन्दुओं ने कई बार बड़े भयानक धावे मुसलमान सेना पर किए किन्तु अन्त में दो-तीन महीने के अविचल घेरे के बाद मलिक काफ़ूर की जीत हुई। हिन्दुओं ने मुस्लिम सेना को काफी क्षति पहुँचाई और उनकी डाक के साधनों को नष्ट कर दिया। यहाँ तक कि

४० दिन तक सुलतान को मलिक काफ़ूर की सेना की कोई सूचना नहीं मिली। तिस पर भी काफ़ूर ने बड़े साहस से घेरा जारी रखा और छोटी-छोटी टुकड़ियाँ भेजकर चारों ओर के प्रदेशों में मारकाट तथा अग्निकांड कराने आरम्भ किए। बाहरी किले के गिर जाने से प्रतापरुद्रदेव की सेना भीतरी किले में चली गई। वहाँ इतनी भीड़ हो गई कि किसीके रहने के लिए जगह न थी। अन्त में हताश होकर प्रतापरुद्रदेव ने मलिक नायब के पास सन्धि करने के लिए ब्राह्मण तथा अपने दूत भेजे। उसे अपना समस्त कोष, हाथी, घोड़े समर्पण करने तथा राजकीय कर देने, सुलतान की सेना में उपस्थित होने का वचन देना पड़ा। मलिक नायब ने अपने सेना-संचालकों के परामर्श के अनुसार सन्धि की शर्तें मान लीं। और अनन्त धन व हाथी आदि लेकर वह दिल्ली लौटा। सुलतान उसके इस अद्वितीय पराक्रम से अत्यन्त प्रमुदित हुआ और बड़े समारोह से एक शानदार मंडप के अन्दर उसका स्वागत किया और विशेष वस्त्र आदि देकर उसे समादृत किया तथा अन्य सैनिकों को भी इनाम-इकराम बाँटे।

तत्कालीन लेखकों से विदित होता है कि प्रतापरुद्रदेव सन्धि की शर्तों को बराबर पूरा करता रहा और हर वर्ष हाथी तथा अन्य सामान भेजता रहा। जान पड़ता है कि प्रतापरुद्रदेव के दो उच्च कर्मचारी राजकीय कर लेकर दिल्ली गए थे। उनके राजधानी में रहने के समय की एक रोचक घटना एक दक्षिणी ग्रन्थ में इस प्रकार उल्लिखित है। दक्षिण के लोग तलवार चलाने में अत्यन्त दक्ष माने जाते थे। अतएव इन लोगों को एक द्वन्द्व-युद्ध करके दिखाना पड़ा जिसके लिए शाहीमहल के खुले आँगन में एक विशेष दरबार किया गया। सुलतान और मलिक काफ़ूर इस युद्ध के निर्णायक बने। और उन दोनों ने एक मत से तिलंगे मायली को विजयी ठहराया।

**द्वारसमुद्र और मग्राबर की चढ़ाइयाँ**—वरंगल से लौटकर मलिक काफ़ूर ने सुलतान को दक्षिण के अन्य राजाओं के अनन्त धन-वैभव की सूचना दी। उसके दिल्ली लौटने के थोड़े ही दिन बाद सुलतान ने उसे मग्राबर आदि प्रदेशों पर चढ़ाई करने की तथा वहाँ इस्लाम मत फैलाने की आज्ञा दी। तदनुसार सन् १३१० के नवम्बर मास में मलिक काफ़ूर फिर एक भारी सेना लेकर मग्राबर की तरफ चल पड़ा। मग्राबर और द्वारसमुद्र के राज्य भारतीय प्रायद्वीप के सुदूर दक्षिण प्रदेश में स्थित थे, इनका वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है।

पाण्डव साम्राज्य का सैन्य-बल बहुत भारी था। स्थल सेना के अतिरिक्त उसके पास एक भारी जलसेना भी थी। उत्तरी पड़ोसी काकतीय राजाओं से उनका निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। परन्तु कुलशेखर प्रथम के बाद पाण्ड्य वंश का ह्रास होने लगा। उसके औरस तथा बाँदी-पुत्र सुन्दरपाण्ड्य व वीरपाण्ड्य के परस्पर वैमनस्य का वृत्तान्त पाण्ड्य वंश के विवरण में दिया जा चुका है। जिस

समय भाइयों के इन झगड़ों के कारण मग्राबर का राज्य अव्यवस्थित हो गया उस समय मलिक काफ़ूर का आक्रमण हुआ।

**काफ़ूर की चढ़ाई (१३१० ई०)**—लगभग ढाई महीने के सफ़र के बाद काफ़ूर देवगिरि पहुँचा और उसको चढ़ाइयों की पीठस्थली (base of operations) बनाया। रामदेव ने अपने धन-धान्य से उसकी पूरी सहायता की। हर प्रकार की सामग्री दिल्ली सेना को उपलब्ध की तथा अपने सैनिकों के द्वारा सुलतान की सेना का मार्ग-प्रदर्शन कराया। बरनी तथा अन्य मुस्लिम लेखकों के अनुसार रामदेव उस समय मर चुका था और उसके बेटे ने सुलतान की सेना की सहायता की थी। रामदेव के काफ़ूर की सहायता करने का एक कारण यह भी था कि होयसल वल्लाल तृतीय ने कई बार यादव राज्य पर आक्रमण किए थे और उसको बहुत क्षति पहुँचाई थी।

देवगिरि में कुछ समय ठहरने के बाद फरवरी सन् १३११ के आरम्भ में काफ़ूर होयसल राज्य के अन्दर पहुँचा और उसने अपने गुप्तचरों को चारों ओर भेजा। इन गुप्तचरों के साथ एक-एक द्विभाषिया रहता था और उसकी सहायता से लोग हर प्रकार की खबरें काफ़ूर को भेजते थे और तब वह अपनी सेना का उपयुक्त रूप से संचालन करता था। वल्लाल होयसल के प्रदेश से काफ़ूर को सूचना मिली कि पाण्ड्य राज्य के अन्दर घरेलू झगड़े होने के कारण होयसल वल्लाल सेना लेकर पाण्ड्य राज्य के शहरों को लूटने के लिए चला गया है। उसने इस बात की चिन्ता नहीं की कि उसके पीछे अपने राज्य को शत्रुओं के आक्रमण से कौन बचाएगा। साथ ही वह पाण्ड्य राजा से अपने वह प्रदेश वापस ले लेना चाहता था जो उसके पूर्वजों के समय में पाण्ड्य राजाओं ने छीन लिए थे। अपने इस उद्देश की धुन में वह मुसलमानी आक्रमण के महत्त्व को भूल गया। मलिक नायब ने यह सूचना पाते ही फ़ौरन उस पर चढ़ाई शुरू करदी और मार्ग में आबादियों को लूटता तथा जनता में मारकाट करता हुआ दो सप्ताह में द्वारसमुद्र जा पहुँचा। कुछ सामन्तों ने उसका रास्ता रोकना चाहा किन्तु सब बेसूद।

जब वल्लाल को इस आक्रमण की सूचना मिली तो उसने पाण्ड्य राजा से सहायता की याचना की और वीर पाण्ड्य ने बड़ी उदारता से उसकी सहायता के लिए एक सेना भेजी। कुछ समय तक अपने नगर की रक्षा का प्रयास करने के बाद वल्लाल ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया कि दिल्ली सुलतान की शक्ति का मुकाबला करना असम्भव है और उससे संघर्ष करने का परिणाम अपने देश तथा प्रजा को विनष्ट कराने की चुनौती देना होगा। मुसलमान आततायी देश को बरबाद कर देंगे और मन्दिरों तथा तीर्थस्थानों को भी न छोड़ेंगे। अतएव उसने निश्चय किया कि मुसलमानों से सन्धि करके और अपने समस्त धन-दौलत को समर्पण करके भी अपनी प्रजा की रक्षा तथा सुख-शान्ति को कायम रखना बहतर है। इसलिए उसने मलिक नायब से सन्धि करने की याचना की यद्यपि उसके सामंतों

ने इस प्रकार शत्रु से हार मान लेने का विरोध किया, पर वल्लाल ने उनकी एक न सुनी। उसके सामने रामदेव तथा काकतीय राजा के उदाहरण उपस्थित थे। अन्त में उसके सामंतों व सैनिकों को वल्लाल की बात माननी पड़ी परन्तु संधि की बातचीत आरम्भ करने से पहले उसने अपने एक सेनानायक को मुस्लिम सेना की वास्तविक शक्ति की जानकारी करने के लिए भेजा और जब उसने आकर यह बतलाया कि शत्रु की सेना वस्तुत: बहुत ही भयानक है तब वल्लाल ने संधि की शर्तें निश्चय करने के लिए अपने दूत देवनायक को मलिक काफ़ूर के पास भेजा। मलिक काफ़ूर ने उसका समुचित सत्कार किया और उसको वे शर्तें बतलायीं जिनके द्वारा सुलतान के आदेशानुसार हिन्दू राजाओं को अभयदान दिया जा सकता था। वल्लाल ने सुलतान की सब शर्तें स्वीकार कर लीं और जिम्मी बनकर अपनी सब सम्पत्ति तथा हाथी, घोड़े आदि समर्पण करने को तैयार हो गया। अमीर खुसरू के अनुसार बल्लाल ने अपनी सच्चाई के प्रमाण-स्वरूप अपने राज्य का थोड़ा-सा भाग भी सुलतान को दे दिया। कुछ लेखकों ने यह भी कहा है कि मलिक नायब की इस विजय से इस्लाम दक्षिण प्रदेश में पूरी तरह स्थापित हो गया और मलिक काफ़ूर ने द्वारसमुद्र में एक मस्जिद भी बनवाई किन्तु यह बात कल्पित जान पड़ती है क्योंकि वह द्वारसमुद्र में केवल दो सप्ताह ठहरा था।

**मआबर पर हमला**—होयसल राजा से छुट्टी पाकर मलिक नायब ने मआबर पर चढ़ाई करने की तैयारी आरम्भ की। मआबर का मार्ग पहाड़ी तथा बहुत कठिन था। उस मार्ग से वल्लाल पूरी तरह परिचित था। अतएव उसने वल्लाल को अपनी सेना का पथ-प्रदर्शन करने के लिए विवश किया। पाँच दिन की कड़ी यात्रा के अनन्तर मुसलमानी सेना अकस्मात् मआबर की सीमा पर पहुँच गयी। मलिक काफ़ूर की यात्रा में कुछ अड़चन इस कारण पड़ी कि उसके एक सैनिक ने विद्रोह करके मलिक काफ़ूर को मार डालने का साहस किया किन्तु वह सफल न हुआ।

मआबर के शासक पाण्ड्य राजा भी घरेलू झगड़ों के जंजाल में जकड़े हुए थे। जब उन्होंने देखा कि वे न तो मुस्लिम सेना का सफलता से विरोध कर सकेंगे और न ही उनके दुर्ग मुस्लिम गोलाबारी से उनकी रक्षा कर सकेंगे तो उन्होंने एक नए प्रकार की युक्ति से काम लिया। किलों को छोड़कर वे खुले प्रदेश में जगह-जगह ऐसे स्थानों पर बिखर गए जहाँ से वे अपने को बचाकर शत्रु पर छापे मारकर तुरन्त वापस लौट आएँ अर्थात् उन्होंने छापामार युक्ति (guerilla warfare) का आश्रय लिया। मलिक काफ़ूर ने इसके जवाब में समस्त प्रदेश का बड़ी निर्दयता से संहार करना शुरू किया तथापि वह पाण्ड्य राजाओं को आत्म-समर्पण करने पर विवश न कर पाया।

कुछ समय तक मलिक नायब अपनी सेना के साथ निहत्थी जनता का संहार करता तथा गाँवों को नृशंसता के साथ विध्वंस करता हुआ समुद्र-तट तक पहुँच

गया। इस समय पाण्ड्य राजा ने राजधानी की रक्षा करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ, जिसमें मुस्लिम घुड़सवार भी थे, बड़ी दृढ़ता से मुकाबला किया। एक दिन शाम तक के घोर युद्ध के बाद दोनों सेनाएँ, अलग हट गयीं। रात के अँधेरे में वीर पाण्ड्य अपना सब धन-दौलत समेटकर तथा अपनी सेना के साथ बचकर निकल गया। उसके मुस्लिम सैनिक मलिक नायब से जा मिले। मलिक नायब ने वीर पाण्ड्य का पीछा किया किन्तु भारी बरसात हो जाने के कारण उसकी सेना बड़ी मुसीबत में पड़ गई, और उसे अपने शिविर में लौटना पड़ा। इस विपरीत परिस्थिति में हिन्दू रावतों ने मुसलमानों पर हमला कर दिया और ऐसा घोर युद्ध किया कि पानी के साथ मृतकों का खून मिलकर बहने लगा। यह देखकर काफ़ूर ने अपनी सेना के साथ वीरपाण्ड्य का फिर पीछा करना शुरू किया। सारी भूमि बरसात के पानी से भरपूर थी तिस पर भी काफ़ूर आगे बढ़ता ही गया। वीर पाण्ड्य कन्नानूर (Kannanur) में जा छिपा था। जब काफ़ूर वहाँ पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि वीर पाण्ड्य फिर बचकर निकल गया था। इस प्रकार स्थान-स्थान पर मलिक नायब पाण्ड्य राजा का पीछा करता रहा। मार्ग में उसने पाण्ड्यों के सोने के मन्दिरों को, जो कन्नानूर के निकट स्थित थे, नष्ट किया और उनकी सब सम्पत्ति को लूटा तथा मूर्तियों को तोड़ा व भ्रष्ट किया। तत्कालीन लेखक का कहना है कि उस प्रदेश में मलिक काफ़ूर ने एक भी देवालय नहीं छोड़ा और उनकी बुनियादों तक को उखड़वाकर फिकवा दिया। वह फिर अपने शिविर में वापस आया और फिर से तैयारी करके सुन्दरपाण्ड्य के कोष पर छापा मारने के विचार से मदुरा पर चढ़ाई की। सुन्दरपाण्ड्य को इस आक्रमण की सूचना मिल गई थी और वह अपने परिवार और आवश्यक सामान को लेकर दूर चला गया था। मलिक नायब ने मदुरा पहुँचकर जब यह देखा कि उसका शिकार फिर बचकर निकल गया है तो वह क्रोध से पागल हो गया। उसने सारे शहर को रौंद डाला और मदुरा के मन्दिर को जलाकर भस्म कर दिया। परन्तु वहाँ ठहर न पाया क्योंकि अपने शिविर से इतने दूर प्रदेश में रहना उसके लिए खतरे से खाली नहीं था। उधर राजाओं ने अपने परस्पर के वैमनस्य को भूलकर एक अनुभवी सेनानायक विक्रम पाण्ड्य के नेतृत्व में एका कर लिया था और शत्रु से युद्ध करने की तैयारी कर रहे थे। विक्रम, पाण्ड्य वंश का एक साहसी राजकुमार था। किन्तु विक्रम की यह योजना असफल रही, कारण कि उसका बड़ा भाई कुलशेखर पाण्ड्य उसको सर्वोच्च अधिकार तथा नेतृत्व देने को तैयार न हुआ। परिणाम यह हुआ कि इनमें फिर परस्पर युद्ध छिड़ गया। कुछ समय तक इस कलह के कारण, जिनमें विक्रम को निस्तेज तथा निष्क्रिय हो जाना पड़ा, पाण्ड्य राजा शत्रु-सेना से देश को न बचा सके। इसी समय कुलशेखर का वध हो गया। तब विक्रम को पाण्ड्य सेना का संचालक बनने का अवसर मिल गया और उसने मुसलमान सेना को परास्त किया और उनके घुड़सवारों को काट डाला। मलिक काफ़ूर की इस हार को

बस्साफ़ ने भी स्वीकार किया है। मलिक काफ़ूर अब थक चुका था। उसने दिल्ली वापस लौटना ही श्रेयस्कर समझा। अतएव वह उस अनन्त लूट के माल को लेकर, और अपनी जान बचाकर दिल्ली वापस लौट गया।
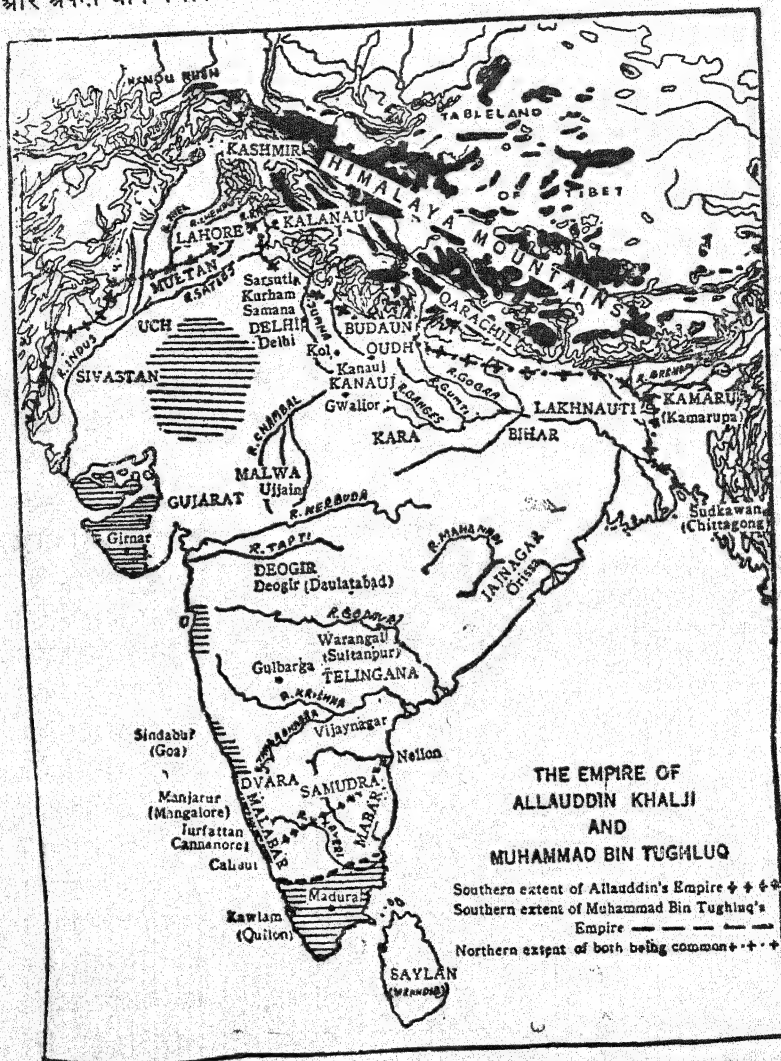
मलिक काफ़ूर की मग्रावर की चढ़ाई के बारे में मुसलमान लेखकों ने बड़ी अत्योक्ति से काम लिया है। उन्होंने यह दर्शाया है कि उसने समस्त मग्राबर (चोलमण्डल) को रामेश्वर से लगाकर उत्तर तक जीत लिया था और वहाँ मस्जिद भी बनवाई थी तथा मदुरा में मुस्लिम राज्य स्थापित कर दिया था। किन्तु उनका यह कथन सर्वथा निराधार है। वास्तव में मलिक काफ़ूर मदुरा के आगे कभी भी

न बढ़ पाया। मलिक काफ़ूर ने सुदूर दक्षिण प्रदेश की जनता का वर्णनातीत विध्वंस व बरबादी अवश्य की, पर वह पाण्ड्य राजा पर विजय प्राप्त न कर सका।

**देवगिरि पर विजय तथा उसका समामेलन** (annexation)—काफ़ूर के दिल्ली लौटने पर एक वर्ष तक अलाउद्दीन ने उसको किसी और चढ़ाई के लिए नहीं भेजा। पर जब रामदेव का उत्तराधिकारी संगम विद्रोही हो गया तो उसने तुरंत मलिक नायब को संगम को दमन करके देवगिरि राज्य को साम्राज्य में सम्मिलित कर लेने के लिए भेजा। काफ़ूर के आने की सूचना पाकर संगम दक्षिण की ओर भाग गया। और मलिक काफ़ूर ने आगे बढ़कर देवगिरि पर अधिकार कर अपना शासन स्थापित किया। बड़ी बुद्धिमत्ता से उसने जनता को रक्षा का आश्वासन दिया। न किसी को मारा और न बन्दी किया। सारे राज्य में उसने अभय घोषणा करवा दी। उसकी इस नीति से जनता में ढाढस तथा विश्वास उत्पन्न हुए और उनका भय जाता रहा। इस प्रकार शान्ति स्थापित करके काफ़ूर ने शासन-व्यवस्था को हर प्रकार से ठीक किया। जनता की सम्पन्नता का आधार खेती है, यह वह खूब समझता था। अतः उसने किसानों को हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया और देश की आर्थिक दशा को सुधारा परन्तु धार्मिक अत्याचार में इसने भी कसर न की। सब हिन्दू देवालयों को ध्वस्त कर उनके स्थानों पर मस्जिदें बनवाईं। देवगिरि में एक जामा मस्जिद भी बनवाई। उसके प्रयत्न से देवगिरि मुस्लिम शक्ति का दक्षिण में एक बड़ा केन्द्र बन गई तथापि समस्त सिउण देश (देवगिरि राज्य) पर उसका अधिकार नहीं हुआ।

**अलाउद्दीन की दक्षिण नीति का मूल्यांकन : उसकी विजय के कारण**—दक्षिण राज्यों पर ख़ल्जी सुलतान की विजयों के कारण उपर्युक्त विवरण से भली-भाँति समझे जा सकते हैं। उस युग के उत्तरी हिन्दू राज्यों के सदृश दक्षिण के हिन्दू राज्य भी निरन्तर आपस में संघर्ष व संग्राम करते रहते थे। उनमें इतनी राजनीतिक दूरदर्शिता न रह गयी थी कि अपने हित तथा रक्षा के लिए भी वे किसी बाहरी शत्रु के विरुद्ध एका करके अपनी तथा देश भर की रक्षा करते। उनके क्षात्रधर्म की कल्पना तथा आदर्श इतने संकुचित हो गए थे कि वे एक उच्च राष्ट्रीय आदर्श को समझ ही न सकते थे। अतएव शत्रु के विरुद्ध एकता से लड़ना तो दूर वे उसको अपने ही पड़ौसी राजाओं के विरुद्ध सहायता देते थे। साथ ही यह भी निश्चय जान पड़ता है कि दिल्ली सुलतान की सेना सैनिक सुधारों के बाद सैन्य-बल तथा युद्ध कला में इन राजाओं की सेनाओं से अधिक योग्य तथा उत्तम कोटि की हो गई थी। इटली के प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने हिन्दू सेनाओं की अयोग्यता का उल्लेख किया है। वह कहता है कि "हिन्दू सैनिक लगभग नंगे और केवल एक ढाल व भाला लेकर रण-क्षेत्र में पहुँच जाते हैं और वे बड़े कट्टर होते हैं। उनका भोजन केवल चावल आदि होता है और वे युद्ध करने की अपेक्षा नियमपूर्वक स्नान करना तथा छूत-छात आदि धर्म का पालन करना अधिक आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार के सैनिक कैसे

मुसलमानी सेना का मुकाबला कर सकते थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

दक्षिण विजय के सम्बन्ध में अलाउद्दीन खल्जी की नीति बड़ी सराहनीय तथा राजनीतिक दृष्टि से दूरदर्शी थी । उसने भली-भाँति समझ लिया था कि सुदूर दक्षिण को साम्राज्य में मिलाकर उस पर नियन्त्रण रखना संभव न होगा । अतएव उसने मलिक काफ़ूर को आदेश दिया था कि जो शासक व सामंत सुलतान का प्रभुत्व स्वीकार करके संधि करना चाहें उनके प्रति वह सद्व्यवहार करे और उनसे मैत्री के सम्बन्ध स्थापित करें । इस नीति का बहुत अच्छा परिणाम हुआ जैसा हमने देखा, देवगिरि का राजा दिल्ली सुलतान का दृढ़ मित्र व सहायक हो गया और उसीकी सहायता से वरंगल तथा द्वारसमुद्र के राजाओं को भी दिल्ली की सेना परास्त कर सकी । फिर इन दोनों राज्यों के शासकों के साथ भी सद्व्यवहार तथा मित्र-भाव से सुलतान के प्रतिनिधि ने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए । मआबर की चढ़ाई में भी वीर वल्लाल होयसल ने बराबर मलिक काफ़ूर का पथ-प्रदर्शन किया तथा उसे हर प्रकार की सहायता दी । अन्त में अलाउद्दीन ने देवगिरि को साम्राज्य में मिलाने की नीति तभी चलाई जब वहाँ का राजा विद्रोही हो गया और देवगिरि को सैनिक आधार के रूप में प्रयोग करना सम्भव न रहा ।

( ३ )

## अलाउद्दीन के अन्तिम दिन और उसका चरित्र

**अन्तिम वर्ष की घटनाएँ**—अपने शासन-काल के पहले पन्द्रह-सोलह वर्ष में अलाउद्दीन ने एक विस्तीर्ण साम्राज्य की आकांक्षा को पूरा करने के लिए कोई अच्छा-बुरा उपाय उठा न रखा । साथ ही यद्यपि शराब आदि पीने व अन्य दुराचारों से वह औरों को रोकने के लिए नियम बनाता और बड़े कठोर दण्ड देता था किन्तु जैसा तत्कालीन सभी शासक करते थे उसी प्रकार अलाउद्दीन भी उन सदाचारों के नियमों का अपने ऊपर लागू करना आवश्यक न समझता था । उसका निजी जीवन अत्यन्त पतित व दुराचारपूर्ण था । उसने अपने चारों ओर बहुत से चापलूसों तथा पिट्ठुओं को खड़ा कर लिया था । उसके पुराने परामर्शदाता व सच्चे मित्र सब मर-खप चुके थे । इनमें बहुत से अयोग्य मनुष्य थे जो अपने स्वार्थ के लिए सुलतान को सल्तनत के शुभचिन्तकों के विरुद्ध बहकाते रहते थे । परन्तु इन लोगों में मलिक काफ़ूर बड़ा योग्य तथा चतुर सैनिक निकला और वह सुलतान का सर्वप्रिय मित्र व परामर्शदाता बन गया था यहाँ तक कि दक्षिण की विजय के उपरान्त मलिक काफ़ूर की शक्ति व आतंक इतना बढ़ गया था कि वह सुलतान को हटाकर स्वयं बादशाह बनने की सोचने लगा । मलिक काफ़ूर के इतना बलशाली हो जाने से अन्य दरबारी शंकित हो गए । इन दिनों अलाउद्दीन का स्वास्थ्य भी बड़ी तेजी से गिर रहा था । इन सब कारणों से उसका मन बड़ा शंकातुर हो गया ।

सर्वसामान्य तो उसके आततायी शासन से संतप्त थे ही, सामन्त व जागीरदारों की जागीरें छिन जाने से वे भी दुखी हो गए। ये लोग स्वाभाविक ही सुलतान के इस कार्य को अत्यन्त अन्यायपूर्ण समझते थे। बादशाही सेना के नौ-मुस्लिम सैनिक तथा सर्वसाधारण जनता सभी सुलतान की अनेक योजनाओं के दुष्परिणामों से अत्यन्त कष्ट सहन करते-करते ऊब गए थे। वे सुलतान को क़त्ल कर देने का अवसर ढूँढ़ते थे, पर सफल न हुए। सुलतान ने क्रोध में सब मुग़लों को उनके स्त्रियों और बच्चों सहित कटवा डाला। लगभग ३० हजार मुग़ल तलवार के घाट उतार दिए गए। इसी प्रकार अत्यन्त हृदय-विदारक क्रूरता से नौ-मुस्लिमों तथा उनके परिवारों को नष्ट किया गया। इन घटनाओं का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि शासन की जड़ें हिल गईं और अब सुलतान का वह आतंक जिसके बल पर साम्राज्य का भवन खड़ा हुआ था, उसको बचा न सका।

काफ़ूर ने दक्षिण से लौटकर यह देखा कि सुलतान का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका है और मलिका-ए-जहान के भाई अल्पखाँ का प्रभाव बहुत बढ़ गया है। इन लोगों ने सुलतान के साथ उदासीनता का व्यवहार करना शुरू कर दिया था। इसकी सुलतान ने काफ़ूर से शिकायत की। काफ़ूर के लिए यह स्वर्ण अवसर था। उसने सुलतान को इन सबके विरुद्ध पूरी तरह शंकित कर दिया। अलाउद्दीन ने मलिक काफ़ूर के इस आरोप का विश्वास नहीं किया कि अल्पखाँ जैसा राजभक्त उसके साथ विश्वासघात कर सकता है तो भी काफ़ूर ने एक दिन मलिक कमालुद्दीन गुर्ग के साथ मिलकर उसको कत्ल कर डाला। बादशाह इस समय जीवन के अन्तिम साँस ले रहा था। राजकुमार ख़िज्र खाँ अपने पिता के स्वस्थ हो जाने के लिए प्रार्थना करता था। परन्तु मलिक काफ़ूर ने अवसर पाकर ख़िज्रखाँ के विरुद्ध भी सुलतान को शंकित करा दिया और अन्त में उसे और देवलदेवी को ग्वालियर के दुर्ग में बन्दी करा दिया। इस प्रकार काफ़ूर ने अपने रास्ते से सब रुकावटें दूर कर दीं। अलाउद्दीन के मृतप्राय होने की खबर पहुँचने पर गुजरात, चित्तौड़ व अन्य प्रदेशों में विद्रोह शुरू हो गए। देवगिरि में भी रामदेव का जमाई हरपालदेव स्वतन्त्र हो बैठा। इस प्रकार अपने कुकर्मों के फलस्वरूप राज्य को अस्त-व्यस्त और जनता को संतप्त छोडकर यह नृशंस सुलतान जनवरी १३१६ में परलोक सिधारा।

**अलाउद्दीन का चरित्र**—ख़ल्जी वंश में, जिसका राजत्वकाल केवल ३० साल था, अलाउद्दीन ख़ल्जी ही सबसे प्रसिद्ध बादशाह हुआ। यद्यपि उसमें अन्य ख़ल्जी सुलतानों की अपेक्षा कोई विशेष उल्लेखनीय गुण न थे, जैसा हम अभी बतलाएँगे, एक सैनिक के रूप में उसका चचा जलालुद्दीन ख़ल्जी अलाउद्दीन से कहीं अधिक योग्य तथा सफल रणवीर था। अपनी सैनिक योग्यता का परिचय उसने अपनी युवावस्था में दिया था। उसका बड़ा लड़का अरकलीखाँ अपने समय का बहुत दक्ष सैनिक था। किन्तु पग-पग पर भाग्य इनके विरुद्ध रहा और अलाउद्दीन अयोग्य होते हुए भी नियति का प्यारा बना रहा। अलाउद्दीन बिलकुल अनपढ़ और

ज़ाहिल था और अपने बहुत से कार्यों तथा योजनाओं में उसने अपनी तुच्छ बुद्धि का परिचय दिया था। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण यह है कि केवल इतना सुन लेने से कि मुहम्मद के चार मित्र थे, जिनके सहयोग से उसने एक नए मत की स्थापना की थी, अलाउद्दीन ने भी यह निश्चय कर लिया कि उसके पास भी चार सहयोगी मित्र हैं, वह भी एक नया मत स्थापित कर सकेगा और मुहम्मद सरीखा नबी अथवा धर्मप्रवर्तक बन जाएगा। इसी प्रकार प्राचीन मकदूनी विजेता सिकन्दर महान् के विजयों की कहानी सुनकर उसके मन में भी यह दुस्साहस करने की सूझी कि एक नया मत चलाने के साथ-साथ वह एक विश्व-विजेता भी बन जाए। इसलिए ज़िया बरनी ने उसे महज़ ज़ाहिल तथा बदमस्त बतलाया है। उस्मानिया यूनीवर्सिटी द्वारा प्रकाशित 'तारीख़े हिन्द बराए इण्टरमीडिएट' जिल्द दोयम के लेखक श्री हाशमी इस सुलतान के चरित्र को इन शब्दों में बयान करते हैं, "हुकूमते अलाई की वक़त कहीं ज्यादा बढ़ गई और खुद बादशाह के दिल में अपनी इक़बालमन्दी देखकर नाज़ व ग़रूर के जज़बात पैदा होने लगे। वह महज़ अनपढ़ सिपाहीज़ादा था और अगर इतनी बड़ी सल्तनत और वैभव पाकर खुशी में आपे से बाहर हो गया तो कुछ हैरत की बात न थी। अरबाबे दवल (सरकारी दरबार के सदस्य) के खुदगरज़ खुशामदी ऐसे मौकों की ताक में रहते हैं। उन्होंने और बढ़ावे देने शुरू किए और अलाउद्दीन को नशे की तरंग में दूर-दूर की सूझने लगी। चुनांचे कभी तो वह एक नया दीन जारी करने का मन्सूबा बाँधता और कभी सिकन्दर आज़म की तरह सारी दुनिया को फ़तह करने की तदबीरें सोचता था।" लेखक ने इन शब्दों में इस सुलतान के चरित्र का वास्तविक चित्रण कर दिया है। फिर अपने शासन के पूर्वार्ध में आन्तरिक एवं बाह्य संकटों तथा विद्रोहों की समस्याओं का प्रतिकार करने के लिए जिस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने मन्त्रिमण्डल के अनोखे सुझावों को अक्षरशः मानकर कार्यान्वित किया और जिसके परिणामस्वरूप ख़ल्जी सत्ता की जड़ें हिल गईं तथा जनता को अकथनीय कष्ट भोगने पड़े, यह सब बातें भी उसकी राजनीतिक मूढ़ता तथा शासन की अयोग्यता को प्रमाणित करती हैं। इसी प्रकार काज़ी अलाउल्मुल्क, (जो कि ख़िल्जी साम्राज्य में एक ही दूरदर्शी नीतिज्ञ व गम्भीर पुरुष था) के परामर्शों से भी अलाउद्दीन की आँखें न खुलना और उसकी बतलायी हुई सीमान्त नीति की अवहेलना करना जिसके कारण वह स्वयं मुग़लों के हाथों साम्राज्य को खो बैठा होता, यह घटना भी उसकी मौलिक मदान्धता एवं राजनीतिक समस्याओं के अज्ञान की द्योतक है। यह सब घटनाएँ निर्विवाद प्रमाणित करती हैं कि इस सुलतान की सैनिक सफलताएँ, साम्राज्य विस्तार और लूट-खसोट के द्वारा अनन्त धन-सम्पत्ति का संग्रह उसकी योग्यता का फल नहीं प्रत्युत सौभाग्यवश एक अनुकूल परिस्थिति व सुसंयोग का परिणाम था।

यदि प्रजा-हितकारी होना एक अच्छे राजा का आवश्यक गुण माना जाए तो इस कसौटी से यह सुलतान अत्यन्त निष्कृष्ट कोटि का शासक साबित होगा। उसने

जितनी नयी-नयी योजनाएँ बनाईं उन सबका उद्देश्य बादशाह तथा उसके मुट्ठी-भर अधिकारी-मण्डल के भोग-विलास तथा स्वार्थ को पूरा करना था। अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर उसने सैनिक तथा आर्थिक योजनाओं एवं कमर-तोड़ करों के द्वारा ग़रीब, असहाय जनता को इतना पीस डाला कि जब थोड़े दिन बाद ग़यास तुग़लक ने सल्तनत की बागडोर सम्भाली तो उसे ग्रामीण जनता की अत्यन्त शोचनीय दशा को सुधारने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ा। शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए अलाउद्दीन के समय में काफ़ी प्रयास किया गया था। यह निर्विवाद है कि उसकी आर्थिक योजना तथा सेना की सुव्यवस्था का उद्देश शासक वर्ग की शक्ति को सुसंगठित करना था। भूमिमापन अथवा सैनिक विभाग में जो कुछ सुधार या बिगाड़ किए वे सुलतान के मन्त्रिमण्डल के परामर्श को अक्षरशः कार्यान्वित करने का परिणाम था। इस परिस्थिति में यह मानना ही युक्तिसंगत जान पड़ता है कि शासन-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने का श्रेय सुलतान और उसके मन्त्रिमण्डल को सामूहिक रूप से दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से कुछ आधुनिक लेखकों का अलाउद्दीन को एक प्रतिभाशाली शासक बतलाना सर्वथा निराधार है।

**अलाउद्दीन एक सैनिक के रूप में**—अलाउद्दीन की सैनिक योग्यता के बारे में प्रायः सभी आधुनिक लेखक बड़ी भ्रान्ति में पड़ गए हैं। उसको एक अत्यन्त प्रतिभाशाली सेनानी कहा गया है। किन्तु उसके शासन-काल की सैनिक घटनाओं पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें सैनिक प्रतिभा तो दूर एक सामान्य सेनानी के गुण भी विद्यमान नहीं थे। केवल एक राजपूतों सरीखा गुण उसके अन्दर था। अपनी अपरिमित लालसाओं को पूरा करने के लिए भयानक से भयानक संकट में भी वह भयभीत न होता था और एक निर्द्वन्द्व वीर के समान अपने आपको झोंक देता था। उसके भिलसा तथा देवगिरि के हमले इसी गुण का परिचय देते हैं, न कि उसके दूरदर्शी व अनुभवी सैनिक होने का। उसकी सफल यात्राओं का कारण तत्कालीन हिन्दू राजाओं की नितान्त निर्बलता थी न कि उसकी सैनिक दक्षता। भिलसा पर छापा मारने के समय उस निःसहाय नगर का कोई रक्षक ही न था। देवगिरि के मूढ़ यादवराजा की अपनी सीमा के प्रति अक्षम्य उदासीनता तथा अनभिज्ञता का विवेचन यथास्थान किया जा चुका है। यह भी बतलाया जा चुका है कि शंकरदेव ने दक्षिण से वापस लौटने पर, यद्यपि उसकी सेना संख्या में बहुत थोड़ी थी, ख़ल्जी सेना को पछाड़ ही दिया था और अलाउद्दीन भाग निकलने का विचार कर रहा था कि फिर भाग्य ने उसका साथ दिया। नुसरतख़ाँ के आ जाने से युद्ध का पाँसा बिलकुल पलट गया। बादशाह बनने के बाद गुजरात आदि की चढ़ाइयाँ तथा मुग़लों के भयानक हमलों से राज्य की रक्षा ज़फ़रख़ाँ तथा नुसरतख़ाँ आदि कुशल सेनापतियों के द्वारा हुई। सुलतान कभी भी इन रणक्षेत्रों में मौजूद न था। इस प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि उत्तर-पश्चिम सीमा की रक्षा की समस्या जिस पर इल्तुतमिश व बलबन सरीखे सुलतानों ने अपनी सारी

शक्ति लगा दी थी, जलालुद्दीन ख़ल्जी के समय में और भी अधिक भयानक हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में किसी भी भारतीय शासक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि वह सबसे पहले मुग़लों के आक्रमणों को रोकने और पीछे हटाने की पूरी तरह व्यवस्था करता। ऐसा ही सभी मुसलमानों ने किया भी था। केवल यह सुलतान ही ऐसा था कि जिसने इस भीषण समस्या के प्रति उसी प्रकार की उपेक्षा तथा अनभिज्ञता दिखलाई जैसा कि भारत के हिन्दू (राजपूत) नरेश करते चले आए थे। परन्तु सबसे बड़े अचम्भे की बात तो यह है कि अलाउल्मुल्क के इस समस्या की सविस्तार व्याख्या करने तथा उसके प्रतिकार के लिए आवश्यक उपाय बतलाने और उनको तुरन्त कार्यान्वित करने का परामर्श देने पर भी इस सुलतान ने पूरे आठ वर्ष तक इस सत्परामर्श की परवाह न की, जब तक कि उसको चित्तौड़ से लौटने के बाद तरग़ी आदि के भयानक हमलों की चोट ने न जगाया। उपर्युक्त उदाहरणों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि एक बेधड़क तथा निर्भीक साधारण सैनिक होने के अतिरिक्त इस सुलतान के अन्दर सैनिक कला का ज्ञान लेशमात्र भी न था। सैनिक दूरदर्शिता, युद्ध-नीति तथा रण-कौशल आदि के असाधारण गुणों का परिचय उसने किसी अवसर पर नहीं दिया। इसका और भी प्रमाण चित्तौड़ की चढ़ाई तथा उसी समय के मुग़लों के दिल्ली को घेर लेने के उपरान्त जो सैनिक व्यवस्था मन्त्रिमण्डल के परामर्श से की गई उसके भावी कृत्यों में भी मिलता है। हमें विदित है कि किस प्रकार दिल्ली के चारों ओर के प्रान्तों को लूट-खसोटकर कई लाख सेनाए कत्रित की गईं। साथ ही सीमा प्रदेश के क़िलों व अन्य सैनिक भागों को भी हर प्रकार से युद्ध-सामग्री से भर दिया गया। तिस पर भी अलीबेग़ तरताक़ और तरग़ी नामक मुग़ल सरदार एक बड़ी सेना के साथ १३०५ में सारे पंजाब को चीरते हुए दिल्ली के उत्तर-पश्चिम लगभग ८० मील, अमरोहे तक पहुँच गए। तब अनुभवी सेनानी गाज़ी मलिक ने उनको रोका और युद्ध में परास्त करके पीछे हटाया। यदि केवल मुग़लों के हमलों को रोकने के एकमात्र उद्देश से इतनी भारी सैनिक तैयारी करने के बाद भी सुलतान उस सामग्री का प्रयोग इतना भी न कर सका कि मुग़लों को सीमा पर ही रोकता; इतना ही नहीं उनको देश के अन्दर छः-सात सौ मील घुस आने पर भी उनको किसी ने न रोका, तो क्या यह घटना इस बात को निर्विवाद सिद्ध नहीं करती है कि चाहे जितनी बड़ी सैनिक सामग्री किसी देश के पास हो वह तब तक निरर्थक है जब तक उसका उचित प्रयोग करनेवाला कोई न हो। यही परिस्थिति इस समय थी, अर्थात् ख़ल्जी सुलतान अपने विशाल सैनिक संगठन का यथायोग्य प्रयोग करने की क्षमता नहीं रखता था।

इसी प्रसंग में आधुनिक लेखकों के इस मत पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि 'अलाउद्दीन पहला ही महान साम्राज्यवादी था।' यह गुण अथवा लालसा इस सुलतान की ही कोई विशेषता न थी। तुर्की विजेता सभी साम्राज्यवादी थे, परन्तु जब तक समस्त उत्तर-भारत पर दिल्ली सुलतान का अधिकार न हुआ था तब तक यह कैसे सम्भव था कि वे गुजरात व दक्षिण भारत पर चढ़ाइयाँ करते। ख़ल्जी

सुलतान का साम्राज्यवाद तुर्कों की शुरू से चली आई नीति का ही एक चरण था। वह कोई नई बात न थी।

**अलाउद्दीन की धार्मिक नीति**—इस सुलतान की धार्मिक नीति के बारे में भी आधुनिक लेखकों ने इतनी ही भ्रान्त बातें कहीं हैं जितनी उसके अन्य गुणों के विषय में। कहा गया है कि सुलतान की शासन-नीति धार्मिक पक्षपात से किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुई थी। पहले तो यह देखना है कि क्या इस सुलतान ने अपने पूर्व-गामियों की नीति में कोई परिवर्तन किया था? इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अमुस्लिम (काफ़िर) जनता पर उसी प्रकार के जज़िया आदि कर, तथा अन्य क्षेत्रों में उसी प्रकार का तिरस्कारपूर्ण व्यवहार इस काल में भी बराबर होता रहा जैसा लगभग सभी मुस्लिम बादशाह करते आए थे। हाँ, खल्जी शासन-नीति में यह परिवर्तन अवश्य हुआ था कि हिन्दुस्तानी नौ-मुस्लिमों को भी राज्य के उच्च पदों से वंचित नहीं रखा जाता था। इस नीति की पूरी व्याख्या यथास्थान की जा चुकी है। काज़ी मुग़ीस की बातचीत के दौरान में निरुत्तर होकर सुलतान का कह बैठना कि 'मैं नहीं जानता कि शरियत क्या कहती है परन्तु जो राज्य की भलाई के लिए मुझे उचित जान पड़ता है वही करता हूँ, और राजविद्रोहियों तथा नियम भंग करने वालों को कठोर-से-कठोर दण्ड देता हूँ।' इस कथन पर कुछ आधुनिक लेखकों ने कल्पना के घोड़े दौड़ाकर कैसे विचित्र भवन खड़े किए हैं, और किस प्रकार एक नवीन असाम्प्रदायिक (secular) राज्य-सिद्धान्त का श्रेय इस निरक्षर सुलतान के सर पर मढ़ा है, इस मत का नितान्त खोखलापन भी यथास्थान दिखलाया जा चुका है। रही हिन्दुओं के पवित्र स्थानों के नष्ट-भ्रष्ट करने की बात, सो उसके समय की किसी चढ़ाई में विजित प्रदेशों के देवस्थानों व मन्दिरों को नष्ट न किया गया हो ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। नुसरतखाँ से मलिक काफ़ूर तक उसके सभी सैनिकों ने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनाने में कभी चूक नहीं की।

अलाउद्दीन के निजी चरित्र का चित्र इतना पतित एवं कलुषित और इतना अमानुषिक है कि तुर्की सुलतानों में भी उसका उदाहरण शायद कठिनाई से मिलेगा। अपने परम उपकारक चचा जलालुद्दीन के साथ उसका व्यवहार तथा अपने विद्रोहियों की स्त्रियों व अबोध बच्चों को जिस पाशविक तथा निर्लज्ज तरीके से इस सुलतान ने कटवाया, इसको देखकर उसके समकालीन कट्टर-से-कट्टर मुसलमानों के हृदय भी भय और घृणा से काँप उठे थे। अपने उपकारियों के प्रति किसी प्रकार की कृतज्ञता के भाव का लेशमात्र भी अंश इस सुलतान में न था। अपने सहोदर उलुग़खाँ तथा राजभक्त वीर ज़फ़रखाँ की दुःखमय मृत्यु इस सुलतान की घृणित कृतघ्नता का ज्वलन्त प्रमाण है। हर प्रकार के भोग-विलास तथा निजी चरित्र में भी वह कितना पतित था, यह भी तत्कालीन लेखकों से ही भलीभाँति विदित होता है।

जिस प्रकार सुलतान संसार-भर का विजेता बनना चाहता था, उसी प्रकार वह

बहुत बड़े-बड़े भवन निर्माण कराकर भी अद्वितीय बनना चाहता था। इसका प्रमाण हमको उसके वस्तु-स्मारकों में मिलता है।

**अलाउद्दीन और अकबर**—कई आधुनिक लेखकों ने अलाउद्दीन और अकबर की तुलना इस बात में करने का विलक्षण प्रयास किया है, कि अकबर ने भी अलाउद्दीन के समान एक नया धर्म चलाने का प्रयास किया था। यह तुलना इतनी हास्यास्पद एवं अनर्गल है कि यदि विन्सेंट स्मिथ महोदय से लगाकर अन्य बहुत से गण्य-मान्य लेखक भी इसी भ्रान्ति के शिकार न हो गए होते तो हम इस प्रश्न पर विचार करना ही अनावश्यक समझते। पहले तो अकबर के अन्य सम्प्रदायों या मतों के समान एक नया धर्म चलाने की बात ही सर्वथा निराधार है। जो लोग दीने इलाही से एक नए सम्प्रदाय का आशय निकालते हैं उन्होंने अकबर और उसके सामाजिक कृत्यों को समझा ही नहीं। किन्तु यहाँ इस प्रश्न पर बहस करने का अवसर नहीं है। अतएव यदि मान भी लिया जाय कि अकबर ने अन्य प्रचलित सम्प्रदायों के समान ही एक नया मत स्थापित करने का प्रयास किया था तो भी खल्जी सुलतान के नया मत चलाने की परिस्थिति, उसका उद्देश एवं किस बात से उसको यह दुस्साहस करने की प्रेरणा हुई—इन सब बातों की तुलना यदि अकबर के जीवन भर विश्व-धर्मों को अध्ययन करने, उसकी संसार की पहेली को सुलझाने की साधना और संकीर्ण साम्प्रदायिक झगड़ों से ऊपर उठकर एक सार्वभौम धर्म की खोज आदि उत्कृष्ट प्रयासों से की जाए तो यह कहाँ तक बुद्धिसंगत होगा, इसे कोई भी समझदार मनुष्य देख सकता है! क्या इन दो व्यक्तियों की तुलना करना एक शेखचिल्ली की तुलना एक महान् प्रतिभाशाली मनुष्य से करने के समान न होगा? खल्जी सुलतान को जिन कारणों से एक नया धर्मप्रवर्तक बनने की प्रेरणा हुई इस बात से उसकी निपट जहालत का परिचय मिलता है और अकबर का यह प्रयास चाहे वह किन्हीं कारणों से सफल न हो पाया हो, उसके व्यापक धार्मिक ज्ञान, अनुपम साधना तथा उच्च आदर्श का द्योतक है।

**शासन की समस्याएँ**—जैसा ऊपर कहा गया है, दिल्ली सुलतानों की शक्ति तथा अधिकार विधानतः किसी प्रकार से नियन्त्रित अथवा बाधित नहीं थे किन्तु क्रियात्यक क्षेत्र की परिस्थिति से ऐसी अनेक जटिल समस्याएँ तथा संकट उत्पन्न होते थे जिनके कारण बादशाह शासन में सर्वथा मनमानी नीति नहीं चला सकता था। सबसे बड़ी और मौलिक समस्या का कारण यह था कि प्रायः सभी मुसलमान बादशाहों की तरह खल्जी सुलतान भी एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करते थे किन्तु इस्लाम मत की सेवा तथा प्रचार करने के उद्देश का ढकोसला बनाए रखते थे। इस्लाम का पालन अन्य धर्मों के अनुयायियों के प्रति संकीर्ण नीति के प्रयोग में अधिक होता था। उनके निजी जीवन या राजकाज में इस्लाम के सिद्धान्तों की वह कुछ परवाह न करते थे। परन्तु भारत जैसे देश में जहाँ की जनता में अमुस्लिम प्रजा की संख्या शासकवर्ग मुसलमानों की संख्या से बहुत ही अधिक थी, मुस्लिम शासकों को एक कठिन समस्या का सामना करना पड़ता।

वे न तो सारी जनता को मुसलमान बना सकते थे, और न उन्हें क़त्ल कर सकते थे। दूसरे, इस्लामी राज्य की सेना में अमुस्लिम सैनिक भर्ती करना नियमविरुद्ध था, किन्तु इस नियम का पालन भी असम्भव था। सुलतानों की सेना में प्रायः हिन्दुओं की तथा नौ-मुस्लिमों की संख्या बहुत अधिक होती थी। इन लोगों के ऊपर जज़िया व ख़िराज आदि के नियमों को कड़ाई से लागू करना कहाँ तक सम्भव अथवा उचित था, यह भी विचारणीय समस्या थी। इसी परिस्थिति के कारण सामान्य प्रजा पर भी जज़िया का नियम लागू करके उनको मुस्लिम राज्य में रहने का विशेष अधिकार (privilege) बेचा जाता था यद्यपि ऐसा करना इस्लाम के मौलिक नियम के विरुद्ध था। एक और कठिन समस्या शासन-व्यवस्था तथा संगठन व संचालन की थी। इसके अन्तर्गत दो मुख्य कठिनाइयाँ भारत के मुस्लिम शासकों के सामने आईं। पहले तो ये लोग इस देश की दैनिक शासन-प्रणाली तथा उसकी अनेक छोटी-बड़ी समस्याओं से परिचित ही न थे और विशेषकर भूमिकर तथा आर्थिक विभाग की समस्याओं को समझना और गुत्थियों को सुलझाना उनके बूते का न था। दूसरे, छोटे-छोटे स्थानीय पदों के लिए उनके पास पर्याप्त मुस्लिम कर्मचारी नहीं थे। ऐसी परिस्थिति में काफ़िर हिन्दू कर्मचारियों के द्वारा शासन चलाने पर उनको विवश होना पड़ा। इस प्रसंग में संक्षेप से इस समस्या पर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा कि क्या कारण था कि एक विदेशी तथा विधर्मी व असहिष्णु वर्ग के मुट्ठी भर लोगों को इतनी बहुसंख्यक हिन्दू जाति ने, अपने ऊपर अत्याचारपूर्ण शासन करने दिया? यह समस्या अत्यन्त गहन तथा मौलिक है और इसके वास्तविक रूप व कारणों को जानने पर ही मध्यकालीन राजनीतिक तथा राष्ट्रीय परिस्थिति एवं उसके गुण-दोष, उसकी शक्ति व दुर्बलता का समुचित रूप से ग्रहण होना निर्भर है। इस प्रश्न की विस्तृत व्याख्या का यहाँ अवसर नहीं। केवल सूत्र-रूप से यह बतला देना पर्याप्त होगा कि हर्षोत्तर राजपूत युग में हमारे देश के शासकों की प्रवृत्ति तथा उनके राजकीय आदर्श व कार्य प्रायः इतने संकुचित हो गए थे कि जनता के प्रति जो उनके कर्त्तव्य थे उन सबका भार उन्होंने जनता के कन्धों पर ही छोड़ दिया था। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस युग में राजनीतिक दृष्टि से भारतीय जनता अनाथ हो गई थी। उस युग के क्षत्रिय राष्ट्र अथवा राज्य की रक्षा करना एक वर्ग-विशेष अर्थात् क्षत्रिय वंशों का ही एकांगी कर्त्तव्य समझते थे। सामुहिक रूप से राष्ट्रीय व राजनीतिक स्तर पर सामान्य जनता का शासकवर्ग से कोई सम्पर्क न रहा। परिणाम यह हुआ कि स्थानीय पंचायतों आदि संस्थाओं द्वारा उन्होंने अपने संकुचित क्षेत्र की दैनिक घरेलू आवश्यकताओं को तो पूरा कर लिया किन्तु राष्ट्रीय व सार्वदेशिक संकटों का सामना करने का कोई साधन उनके पास न रहा। उनकी दृष्टि तथा कार्यक्षेत्र अपने तुच्छ ग्रामीण दायरों के अन्दर बन्दी हो गए। यही कारण था कि इस प्रकार बिखरी हुई भारतीय

जनता, जिसको उल्लसित व प्रोत्साहित करनेवाला न कोई महामन्त्र था और न कोई उच्च राष्ट्रीय आदर्श और न कोई नेता, अपने अत्याचारी मुट्ठी-भर शासकों के सामने एक निस्साहय व निर्जीव वर्ग की भाँति पद-दलित होती रही।

**अलाउद्दीन और उसके उच्च दरबारी**—खल्जी सुलतान और उसके अमीरों के परस्पर सम्बन्ध का आधार और उनकी समस्याएँ दास वंश के सुलतानों व अमीरों के परस्पर सम्बन्धों और समस्याओं से बहुत भिन्न थीं। अलाउद्दीन का विरोध करनेवाले या तो बचे-खुचे दास वंशीय तुर्क थे और या उसके अपने सम्बन्धी, जिस प्रकार दास-युग में कई परिवारों के नेता बादशाह बनने की आकांक्षा रखते और उसकी चेष्टा करते रहते थे, इस प्रकार की चेष्टा करनेवाला कोई परिवार खल्जी काल में न था। तथापि यह स्पष्ट है कि अमीरों तथा दरबारियों में बहुत से विद्रोही थे जो अवसर पाने पर सुलतान के विरुद्ध उठने को तत्पर रहते थे। गाँवों के खूत अर्थात् ज़मींदारों व मुकद्दमों में भी सुलतान के प्रति श्रद्धा व भक्ति-भाव का सर्वथा अभाव था। हम देख चुके हैं कि सुलतान बलबन ने राज्य को केवल अपने वंशजों की बपौती बनाने के हेतु अन्य बड़े-बड़े तुर्क-परिवारों को नष्ट करने का किस प्रकार प्रयास किया था। अलाउद्दीन के सामने समस्या का रूप भिन्न था। किन्तु उसने भी उसको सुलझाने तथा शान्त करने के लिए जो उपाय किए उनको किसी परिस्थिति में भी बुद्धिमत्ता पर निर्भर नहीं कहा जा सकता। यदि समकालीन लेखक बरनी तथा अन्य लेखकों के वृत्तान्त को पूर्णतया सत्य माना जाए तो यह समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि सुलतान ने किस प्रकार अपने उन सब उपायों को लागू किया होगा जिनकी शिक्षा उसके मन्त्रिमन्डल ने उसे दी थी। इन उपायों का उल्लेख यथास्थान पिछले अध्याय में किया जा चुका है और यह भी बतलाया जा चुका है कि बड़े-बड़े अमीरों व अन्य परिवारों पर जितने प्रतिबन्ध तथा रुकावटें आदि लगाई गईं उनसे कहाँ तक उनके अन्दर सन्तोष व शान्ति उत्पन्न हो सकती थी? इतना ही नहीं, क्या यह सम्भव भी था कि उन्हीं लोगों के ऊपर, जिन पर सुलतान अपनी रक्षा आदि का भरोसा कर सकता था, वह इतने कड़े बन्धन लगा सकता अथवा उनका धन-दौलत छीन उन्हें इतना दरिद्र बना सकता, जैसा कि बरनी के कथन से प्रतीत होता है। प्रो० हबीब के समर्थक शायद इस प्रश्न का उत्तर यह देंगे कि पूँजीपति का दमन करके खल्जी सुलतान ने श्रमजीवीवर्ग को उठाया और वही वर्ग सुलतान का आधार व सहायक बना। परन्तु यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि जिस आर्थिक योजना के आधार पर प्रो० हबीब ने यह विलक्षण सिद्धान्त निर्धारित किया है (इस सिद्धान्त के औचित्य-अनौचित्य के प्रश्न को छोड़कर) वह आर्थिक योजना इन राजनीतिक उपायों के समय से बहुत बाद में लागू की गई थी। ऊपर की विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज़िया बरनी के कथन में बहुत अतिश्योक्ति है और जो आधुनिक लेखक आँख मूँदकर उसके कथन को दुहराते चले जाते हैं वे बहुत भूल करते हैं। सुलतान ने विद्रोही वर्ग का दमन बड़ी कठोरता से किया

था इसमें सन्देह नहीं, किन्तु लगभग सभी अमीरों व मंत्रियों आदि का भी धन छीन लिया हो यह मानना बुद्धिसंगत नहीं जान पड़ता। पूरी तरह विदित है कि अलाउद्दीन की शक्ति तथा प्राबल्य के स्थायी रहने का श्रेय आरम्भ से ही उसके कई सच्चे सहायकों तथा परामर्शदाताओं पर था। और इन योग्य सैनिकों व सहायकों का लाभ उसको लगभग अन्त तक प्राप्त रहा।

**राज्य के कर्मचारीवर्ग**—कहा जा चुका है कि खल्जी सल्तनत का सर्वोच्च अधिकारी सुलतान था। अन्य तुर्की सुलतानों के समान केन्द्रीय शासन के लिए एक मंत्रिमंडल था जिसकी नियुक्ति, कार्य-संचालन तथा पदच्युत करना आदि सभी सुलतान के अधिकार में पूर्णतया थे। इस दृष्टि से विधानतः सुलतान ही राज्य में सर्वशक्तिमान था। उसका विरोध करने का अधिकार राज्य के अन्दर किसी बड़े से बड़े व्यक्ति अथवा अधिकारी को नहीं था। परन्तु वस्तुतः कोई बादशाह भी इतना सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता था कि उसको अपने मंत्रिमंडल तथा राज्य के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों के परामर्श तथा सहयोग पर निर्भर होने की आवश्यकता न हो। खल्जी सल्तनत का मुख्य मंत्री वज़ीर होता था। वह अपने सब कामों के लिए केवल सुलतान के प्रति उत्तरदायी था। विशेषज्ञः वह सामान्य (civil) शासन-व्यवस्था तथा प्रान्तीय शासन-कार्य की देख-रेख करता था। उसका दूसरा मुख्य कार्य अर्थ-विभाग था। साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों से राज्य-कर वसूल करने के लिए वह आमिल तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता था और उनके द्वारा कर वसूल करके शाही ख़ज़ाने में जमा करता था। सैनिक विभाग में भी वह प्रायः शाही सेनाओं का संचालन करता था। कभी-कभी वज़ीर का पद योग्य सैनिकों को दिया जाता था। अलाउद्दीन ने पहले ख्वाजा खतीर को वज़ीर के पद पर नियुक्त किया। किन्तु १२९७ में उसने नुसरतख़ाँ जलेसरी को वज़ीर बनाया क्योंकि वह बड़ा बेधड़क और निर्दयी सैनिक था। अपनी सैनिक योग्यता के अतिरिक्त वह जनता से बड़ी नृशंसता के साथ रुपया इकठ्ठा करने के लिए भी प्रसिद्ध था। कुछ समय के लिये नुसरतख़ाँ से भी अधिक **कुख्यात** वज़ीर सैयदख़ाँ रहा। परन्तु जब से मलिक काफ़ूर को गुजरात तथा दक्षिण की चढ़ाइयों का काम सुपुर्द किया गया तब से, अर्थात् लगभग १३०८ से उसके नाम के साथ मलिक नायब सभी लेखक लगाते हैं। जान पड़ता है कि यह सर्वोच्च पदवी एक खिताब के तौर पर मलिक काफ़ूर को विशेष रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए प्रदान की गईथी। मलिक काफ़ूर सुलतान का इतना प्रिय और विश्वासपात्र बन गया था कि वह सुलतान की तरफ से सब कुछ कर सकता था।

मंत्रिमंडल का दूसरा सदस्य काज़ी-उल-कुज़ात अर्थात् सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। तीसरा मीर अर्ज़ जिसके द्वारा सुलतान के पास सब प्रकार की अर्जियाँ तथा प्रार्थनाएँ आदि पहुँचती थीं। चौथे, मीर दाद न्याय-विभाग का वज़ीर था जिसके द्वारा सरकारी बड़े-बड़े पदाधिकारियों के विरुद्ध शिकायतें तथा अभियोग मुख्य न्यायाधीश की कचहरी में पहुँचाए जाते थे, और उनका निर्णय होता था।

कृषि-विभाग का भी एक व्यवस्थापक था जिसको अमीरे-कोही कहते थे। वित्त-विभाग में वज़ीर की सहायता के लिए एक दीवाने-अशरफ़ अर्थात् (accountant general) और एक मुस्तौफी अर्थात् (auditor general) होते थे। वित्त-विभाग के समस्त काम-काज तथा राज्य के आय-व्यय का ठीक-ठीक हिसाब रखना आदि सबके लिए ये अधिकारी वज़ीर के प्रति उत्तरदायी थे। सैनिक मंत्री आरिज़े-मुमालिक होता था और राजकीय सेना के वेतन देने आदि का विभाग बख्शी-ए-फौज़ के सुपुर्द था। राज्य के सैनिक व असैनिक (civil) विभागों में कोई विभाजन नहीं था। **वस्तुतः राज्य का रूप ही सैनिक था।** अर्थात् शासन-संचालक समुदाय, सुलतान, उसका मंत्रिमंडल तथा अन्य उच्च कर्मचारीगण सभी सैन्य बल के आधार पर साम्राज्य का शासन निज स्वार्थ की पूर्ति के लिए करते थे। जनता की सेवा करना शासन का उद्देश है, यह आदर्श इनकी कल्पना से बहुत दूर था।

**प्रान्तीय शासन**—प्रान्तीय शासन-व्यवस्था केन्द्रीय व्यवस्था के प्रतिरूप होती थी। साम्राज्य प्रान्तों में विभाजित था। इनके शासक मुक़ती इक़्तादार, वाली, नाज़िम आदि विभिन्न नामों से पुकारे जाते थे। प्रान्तों के नाम भी विलायत, इक़्ता, सूबा आदि थे। ये विभिन्न नाम किन विशेषताओं को संकेत करते थे, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। तथापि अधिकतर प्रान्तों के शासक मुक़ती कहलाते थे। मुक़ती के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में वाली की अपेक्षा अधिक वर्णन मिलता है। मुक़ती का पद इक़्तादार से भी भिन्न था। इक़्तादार वे सामन्त होते थे जिनको छोटी-बड़ी जागीरें दी जाती थीं और उनके बदले में उनको जागीरदारी के कर्त्तव्य पालन करने पड़ते थे। इक़्तादार एक प्रकार की सामन्त-प्रथा (feudal system) के अंग थे।

इसके प्रतिकूल मुक़ती सुलतान की ओर से विभिन्न सूबों के शासक के पदों पर नियुक्त किए जाते थे। वे नौकरशाही के अंग थे। अतएव उनको कोई जागीरें नहीं दी जाती थीं। जान पड़ता है कि उनके वेतन भी राजकीय कोष से दिए जाते थे। किसी भूमि से सम्बन्धित न होने के कारण उनको अन्य राजकर्मचारियों के समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदला जाता था। ये लोग छोटे-छोटे-से पद से उठकर प्रान्ताधीश बन सकते थे। मुक़ती का कर्तव्य था कि वह एक सेना अपने साथ रखे ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह सेना बादशाह की सेवा के लिए भेजी जा सके। इसके अतिरिक्त राजकीय कर लगाना व उगाहना और प्रान्तीय शासन-सम्बन्धी व्यय करने के बाद शेष धन शाही खज़ाने में भेजना भी उसके कर्त्तव्यों में से था। मुस्तौफी उसके आय-व्यय की जांच हमेशा करता था।

ज़िया बरनी के अनुसार केन्द्रीय प्रदेश के अतिरिक्त ख़ल्जी साम्राज्य में ११ सूबे थे। गुजरात, मुल्तान तथा सीविस्तान, देवपालपुर, सामाना व सुनाम, धार व उज्जैन, झाईं, चित्तौड़, चंदेरी व ईरिज, बदायूं व कोल (अलीगढ़), अवध तथा कड़ा। प्रान्ताधीश को अपने क्षेत्र के अन्दर लगभग वे सब अधिकार थे जो केन्द्र में

बादशाह को थे। वह शासन-संचालन, तथा न्याय-कार्य सभी विभागों का अधिकारी था। मुक़ती का वास्तविक अधिकार व बल बादशाह के बल व शक्ति के घटने-बढ़ने के अनुकूल बदलता रहता था। निर्बल तथा अयोग्य सन्तानों के समय में प्रान्तीय शासक प्रायः हर प्रकार से स्वतन्त्र थे।

**सेना-विभाग**—ऊपर बतलाया जा चुका है कि सुलतानी शासन का वास्तविक रूप सैनिक था। सेना के निर्माण, संरक्षण तथा अभिवृद्धि पर ही साम्राज्य की समस्त आर्थिक शक्ति का व्यय किया जाता था। खल्जी सुलतान ने जैसा हम देख चुके हैं, सेना की विशेष रूप से अभिवृद्धि तथा सुधार किया था। सेना के मुख्यतया दो अंग होते थे अर्थात् घुड़सवार तथा पैदल। हस्ती दल भी सेना का एक मुख्य अंग था। एक प्रकार के बारूद तथा गोले आदि से भी काम लिया जाता था जिसको उस समय के अग्नेयास्त्र कह सकते हैं। अलाउद्दीन ने प्रत्येक सैनिक का हुलिया तथा पूरा विवरण और घोड़ों को दाग़ देने का नियम संचालित किया था ताकि सैनिक लोग किसी प्रकार का धोखा न दे सकें और राज्य नियमानुकूल घोड़े तथा अस्त्र-शस्त्र रखें। सन् १३०४ के बाद जब अलाउद्दीन ने सेना-सुधार किया, उसकी घुड़सवार सेना की संख्या लगभग ५ लाख थी। प्रत्येक घोड़ा रखने वाले सैनिक का वेतन २३४ टंका प्रति वर्ष था और दो या तीन घोड़े रखने वाले के लिए फी घोड़ा ७८ टंका और दिया जाता था।

**वित्त-विभाग**—अलाउद्दीन खल्जी ने वित्त-विभाग पर विशेष ध्यान न दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि उसके शासन के पहले चार-पांच वर्षों के अन्दर ही इतने अधिक आन्तरिक विद्रोह हुए कि सुलतान को अपनी स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल जान पड़ी। साथ ही मुग़लों के आक्रमण भी इतने हुए कि साम्राज्य एक भयानक संकट में पड़ गया। इन संकटों से अपनी रक्षा करने के लिए जो उपाय सुलतान ने किए उनमें आन्तरिक समस्या के प्रति यह सिद्धान्त भी था कि सम्पन्नता जनता के अन्दर विद्रोह की भावनाएँ उत्तेजित करती है।

अतएव उसने निश्चय किया कि न केवल ग्रामीण मुकद्दमों की ज़मीनें वरन बड़े-बड़े ख़ान व मलिकों की जागीरें भी छीन ली जाएँ। ज़िया बरनी के अनुसार ख़ल्जी सुलतान से पहले बलबन ने अपने अमीरों की शक्ति नष्ट करने के अभिप्राय से उनकी सब जागीरें छीन ली थीं। अलाउद्दीन ख़ल्जी ने भी इस नीति का पालन किया और रणथम्भौर से लौटने पर इस नियम को बड़ी कड़ाई के साथ छोटे-बड़े ज़मींदारों, व्यापारियों व अमीरों आदि सभी पर लगाया। कर वसूली करने का कार्य केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। बरनी कहता है कि ये सब ज़मीनें ख़ालसा यानी शाही ज़मीनें बनाई गईं। इसके अतिरिक्त राजकर्मचारियों को आदेश दिया गया कि वे जनता से हर प्रकार के अत्याचार व निर्दयता से किसी न किसी बहाने से रुपया निचोड़ने का प्रयास करें ताकि किसी के पास भी फालतू पैसा न रह जाए। इन आज्ञाओं का इतनी कठोरता के साथ पालन किया गया कि थोड़े समय में ही

मुल्तानी व्यापारियों तथा अमीरों के घरों में दरिद्रता छागई। सब प्रकार के वज़ीफ़े व जागीरें आदि छीन ली गयीं। बरनी कहता है कि ऐसी दशा में किसी को भी विद्रोह करने का विचार न आता था।

ऊपर कहे नियमों के अलावा अन्य नियम भी इस उद्देश से बनाए गए कि मुकद्दम, खूत व बलाहर अर्थात् जमींदार व किसान, सब लोग इतने निर्धन हो जाएँ कि विद्रोह करने का विचार भी न कर सकें। ज़मींदारों के विरुद्ध उसने अधिक कड़ाई से काम लिया क्योंकि वे बहुत उद्दण्ड होते जाते थे और बलाहरों से भूमि-कर वसूल करने की आढ़त (commission) भी वसूल करते थे और सरकार को किसी प्रकार का कर न देते थे। इसलिए बादशाह ने अपने सलाहकारों के सुझाव पर यह निश्चय किया कि उनके भूमि कर उगाहने आदि के सब अधिकार छीनकर ज़मींदारों, मुकद्दमों आदि को किसानों के समान ही बना दिया जाए ताकि वे किसी प्रकार के विशेषाधिकारों का लाभ न उठा सकें, और अपने करों का भार गरीब किसानों पर न लाद सकें। हिन्दू ज़मींदारों को हुक्म दिया गया कि वे न घोड़ों पर चढ़ें, न अच्छे वस्त्र पहनें और न ही किसी प्रकार का भोग-विलास करें। इन नियमों का मुख्य उद्देश था मुसलमान व हिन्दू ज़मींदारों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना। सुलतान को मालूम हुआ कि गाँव के हिन्दू धनी व जमींदार लोग बड़ी बे-परवाही से पान चबाते हैं और बहुमूल्य सफेद वस्त्र पहनकर मुसलमानों से बड़ी स्वतन्त्रता से मिलते-जुलते हैं। इससे जान पड़ता है कि गाँव में हिन्दू जमींदारों का प्राबल्य था और वे किसी से नहीं दबते थे। सुलतान इसको पसन्द नहीं करता था। दूसरी तरफ़ इससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दू व मुस्लिम जनता गाँव में परस्पर मेल-जोल से रहती थी और उनमें किसी प्रकार के साम्प्रदायिक झगड़े न थे।

**भूमि-कर में वृद्धि तथा अन्य करों का लगाना**—इसी समय सुलतान ने भूमि-कर को बढ़ाकर उपज का ५० प्रतिशत कर दिया और उसके निर्णय करने व वसूल करने के नियम बनाए।* अलाउद्दीन खल्जी पहला मुस्लिम बादशाह था जिसने भूमि नापने की प्रथा, जो हिन्दू शासन में प्रचलित थी, तुर्की विजय के बाद छुट गई थी। बरनी ने खल्जी सुलतान के भूमि नापने के नियमों का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है। भूमि-कर के अतिरिक्त सुलतान ने चराई तथा हर घर पर भी कर लगाया। इनके अतिरिक्त बरनी 'करही' नाम के एक और कर का उल्लेख करता है जिसके बारे में कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता।

---

* यहाँ पर सबसे पहले हमें भूमि-कर की मात्रा का उल्लेख मिलता है। इससे पहले सल्तनत काल में किसी ने यह उल्लेख नहीं किया है कि भूमि-कर कितना वसूल किया जाता था। परन्तु उसको बढ़ाकर ५० प्रतिशत किया जाना तथा भविष्य में सामान्य भूमि-कर का प्राय: उपज का $\frac{1}{3}$ होना यह सिद्ध करता है कि तुर्की सुलतान उपज का $\frac{1}{3}$ लेते रहे होंगे।

**जज़िया**—भूमि के साथ सम्बन्धित ग्रामीण प्रजा पर जितने करों का ऊपर उल्लेख किया गया उनके अतिरिक्त मुस्लिम तथा अमुस्लिम प्रजा से और भी कर वसूल किए जाते थे। इनमें से मुख्यतया जज़िया उल्लेखनीय है। जज़िया को एक प्रकार का साम्प्रदायिक कर कहना उचित होगा। क्योंकि वह सभी अमुस्लिम जातियों पर और विशेषकर हिन्दुओं पर लगाया जाता था। मुस्लिम वैधानिकों के अनुसार इसके दो उद्देश थे। एक तो यह कि हिन्दू लोग मुस्लिम राज्य की रक्षा के लिए सेना में भर्ती नहीं किए जा सकते थे क्योंकि वे काफ़िर थे और उसकी रक्षा करने का भरोसा उन पर नहीं किया जा सकता था। अतएव अपने सैनिक कर्त्तव्य के बदले में धन राज्य को देना उनका कर्त्तव्य था। इस रूप में हम जज़िया को एक प्रकार का युद्ध-दण्ड कह सकते हैं। परन्तु जज़िया का मौलिक उद्देश यह था कि उसके द्वारा हिन्दुओं आदि विधर्मियों का इतना निरादर व अपमान किया जाए कि वे अपनी हीन अवस्था से तंग आ जाएँ। अपमान केवल जज़िया लगाकर सामान्य रूप से वसूल करने में ही नहीं था बल्कि उसके वसूल करने के तरीके में, क्योंकि ज़िम्मी अर्थात् जज़िया देने वाले को स्वयं कचहरी में जाकर जज़िया देना आवश्यक था और वहाँ पर उसको गर्दन पकड़कर बड़े ज़ोर के साथ खींचा व घसीटा जाता था और उसके तमाचे लगाकर सरकारी अफ़सर कहता था ओ ज़िम्मी, तू ईश्वर के धर्म का विरोधी है इसलिए जज़िया दे और ज़िम्मी को बड़े विनम्र भाव से यह सब अपमान सहकर जज़िया देना पड़ता था। जज़िया स्त्रियों, बच्चों तथा अपाहजों पर नहीं लगाया जाता था। जज़िया वसूल करने का जो तरीका अभी बताया गया है, उसको काज़ी व मुल्ला आदि मुस्लिम धर्म का आवश्यक अंग मानते थे। किन्तु वास्तविक रूप से बराबर इसी प्रकार से जज़िया वसूल किया जाता रहा हो ऐसा सम्भव नहीं जान पड़ता। जज़िया की मात्रा निर्णय करने के लिए ज़िम्मियों को धनी, मध्यवर्ग, दरिद्र इन तीनों वर्गों में विभक्त किया जाता था। प्रथम वर्ग से ४०, दूसरे से २०, तीसरे से १० टंका सालाना लिया जाता था। अलाउद्दीन खल्ज़ी के समय में जज़िया भी राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत था। जज़िया देने वाले को जिम्मी इसलिए कहा जाता था कि उसका बादशाह से एक प्रकार का परस्पर समझौता होता था जिसके द्वारा वह मूल देकर मुस्लिम राज्य के अन्दर रहने का अधिकार खरीदता था। इस प्रकार जज़िया साधारण करों की कोटि में नहीं आता था। वह एक प्रकार का व्यक्ति कर(Poll tax) था। जज़िया अथवा अन्य करों से कितना धन वसूल होता था, इसका कोई उल्लेख तत्कालीन लेखकों ने नहीं किया है। परन्तु तुर्की सुलतान हिन्दुओं को इस्लाम मत स्वीकार करने के लिए इस कारण मजबूर नहीं करते थे कि हिन्दुओं से जज़िया के द्वारा राज्य को बहुत काफी आय होती थी।

**ज़कात**—दूसरा साम्प्रदायिक कर मुसलमानों से लिया जाता था। इसको ज़कात कहते थे। ज़कात का अर्थ है धर्मार्थ दान देना। प्रत्येक धनवान मुसलमान का कर्त्तव्य था कि वह अपने दरिद्री मुस्लिम भाइयों के पालन-पोषण के लिए अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग उनको दे। उसका यह कर्त्तव्य ईश्वर के प्रति समझा जाता था और इस कारण इमाम को अधिकार था कि वह प्रत्येक सम्पन्न मुसलमान से ज़कात वसूल करे। ज़कात एक निश्चित न्यूनतम रूप से ऊपर सम्पत्ति पर ही लागू किया जाता था। सामान्य रूप से सम्पत्ति का चालीसवाँ हिस्सा ज़कात में दिया जाता था। ज़कात वसूल करने में कड़ाई से काम नहीं लिया जाता था। और देने वाला बड़ी आसानी से अपने को बचा सकता था। आगे चलकर हिन्दुस्तान में ज़कात हिन्दू मुसलमान दोनों से चुंगी, आयात कर तथा चराई कर आदि के रूप में वसूल किया जाने लगा। इस्लामी कानून के अनुसार मुसलमानों से आयात कर हिन्दुओं की अपेक्षा आधा लिया जाता था। अर्थात् मुसलमानों से ५ प्रतिशत और हिन्दुओं से १० प्रतिशत।

**राजकीय-कर विभाग के कर्मचारी**—अलाउद्दीन के समय में कर-विभाग का संचालन करने के लिए शर्फ़ कायनी नामक एक नायब वज़ीर नियुक्त किया गया और उसने बड़ी तत्परता से समस्त राजकीय नियमों के अनुसार राज्य भर से कर वसूल करने का प्रयत्न किया। दिल्ली के दोनों तरफ के दोआबों में व राजपूताने में उसने भूमि नापने की प्रथा भी चालू की। किन्तु साम्राज्य के अन्य प्रदेशों में कदाचित यह नियम पूरी तरह लागू नहीं किए जा सके। शर्फ़ कायनी ने कर-विभाग की त्रुटियों व भ्रष्टाचार को हटाने का पूरा प्रयत्न किया। उसी ने बहुत बड़ी-बड़ी ज़मीदारियों को वापस लेकर शाही जायदाद में मिलाया। जो निचले दर्जे के कर्मचारी बेईमानी करते थे और गरीब किसानों पर अत्याचार करते थे, उनका दमन करने के लिए उसने सुलतान के द्वारा उन सबकी जाँच-पड़ताल कराने के लिए एक नया विभाग स्थापित कराया। इस विभाग का नाम था दीवाने मुस्तखरज। इस विभाग ने वे सब रकमें वसूल कीं जो कर वसूल करने वाले कर्मचारियों पर बाकी थीं और भ्रष्ट पटवारियों तथा अन्य कर्मचारियों को कड़ी सजाएँ दीं। निचले दर्जे के कर्मचारियों को घूस लेने से रोकने के लिए उनके वेतन बढ़ाए गए ताकि वह आराम से रह सकें। भ्रष्ट कर्मचारियों को इतने कड़े दण्ड दिए गए कि उच्च कर-विभाग के अधिकारियों को जनता बड़ी घृणा तथा भय से देखती थी। बरनी ने इन कड़ी सज़ाओं का अत्यन्त अत्योक्ति से उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु उसमें जो आंशिक सत्य है उससे भी यह अनुमान करना उचित जान पड़ता है कि शासन की बुराइयों को दूर करने के लिए कदाचित इतने अमानुषिक व्यवहार की आवश्यकता नहीं थी।

यह सब सख्तियाँ सुलतान ने अपनी आय बढ़ाने के अभिप्राय से ही की थीं। उसने खूत प्रथा अर्थात् जमींदारी को हटाया नहीं जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वानों

मत है । उसने केवल उन सब उचित व अनुचित आर्थिक लाभों को उनसे छीन लिया जिनके कारण जमींदार वर्ग अत्यन्त सम्पन्न तथा शक्तिशाली बना हुआ था । साथ ही उसके कमर-तोड़ करों ने किसानवर्ग को भी पीस डाला तथा व्यापारियों, दलालों व अन्य व्यावसायिकों को भी इसी प्रकार निर्धन बनाया । यद्यपि शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए अलाउद्दीन ने अपनी बुद्धि के अनुसार काफी प्रयत्न किया किन्तु इन सब प्रयासों का एकमात्र आधार पाशविक बल तथा अत्याचार थे न कि कोई ऐसे उपाय कि जिनसे प्रजा की सुख-सम्पत्ति में वृद्धि होती और सुलतान के प्रति उनमें श्रद्धा व विश्वास के भाव उत्पन्न होते ।

**न्याय-व्यवस्था**—मुस्लिम विधान के अनुसार ख़लीफ़ा या उसका स्थानापन्न मुस्लिम बादशाह अन्य शासन-विभागों के समान न्याय-विभाग का भी सर्वोच्च अधिकारी होता था । उसका कर्तव्य था कुरान तथा मुस्लिम विधान के अनुकूल न्याय करना तथा अपराधियों को उपयुक्त दण्ड देना । सुलतान के ऊपर कोई वैधानिक शक्ति उसके शासन को नियन्त्रित करनेवाली नहीं थी । केवल उलमाए दीन अर्थात् मुस्लिम धर्म के पण्डितों को यह अधिकार था कि यदि सुलतान का कोई कार्य शरह के विरुद्ध हो तो वे उसका प्रतिरोध कर सकते थे किन्तु वस्तुतः ये लोग बादशाहों के इतने दास बन गए थे कि उनके बुरे से बुरे कार्य का भी विरोध करने का साहस उनको नहीं था, इसलिए न्याय-विभाग में भी सुलतान और उसके नीचे अन्य कर्मचारी खूब मनमानी करते थे ।

राज्य में सुलतान ही सर्वोच्च न्यायाधीश था और यथासम्भव हर प्रकार की अपील सुलतान की कचहरी तक पहुँचाई जा सकती थी । किन्तु इससे यह समझ लेना ठीक न होगा कि साम्राज्य में तो क्या दिल्ली की सामान्य जनता की भी पहुँच सुलतान तक हो सकती थी । जिन आधुनिक लेखकों ने यह लिखा है कि प्रजा के प्रत्येक मनुष्य को सुलतान तक पहुँचने की आसानी थी उनका यह कथन वास्तविक अवस्था के बिलकुल प्रतिकूल है । न्याय करने के लिए बलबन सरीखे नृशंस सुलतानों का घन्टे बाँधकर ज़ंजीर लटकाना ताकि प्रजा का कोई भी आदमी उसको हिलाकर सुलतान तक अपनी फरियाद पहुँचा सके, एक ढकोसला मात्र था । सुलतान के नीचे न्याय-विभाग का सर्वोच्च न्यायाधीश **सद्रे जहान व क़ाज़ी-उल कुज़ात** कहलाता था । वास्तव में इस पद में दो परस्पर सम्बन्धित विभाग सम्मिलित थे । सद्रे जहान का मुख्य कार्य था राजकीय धर्म-विभाग का संचालन । इसमें दरिद्र, विद्वानों, धार्मिक संस्थाओं, मस्जिदों, मदरसों, यतीमों, बेवाओं तथा अन्य सुपात्रों को राज्य की ओर से सहायता देना मुख्य कार्य था । साथ ही मुसलमानों के दैनिक आचार-व्यवहार तथा धार्मिक चर्याओं का निरीक्षण तथा पालन कराने की व्यस्था करना भी सद्र का कर्त्तव्य था । मुख्य क़ाज़ी के रूप में सद्र का कार्य था न्याय करना तथा निकाह आदि विभिन्न मुसलमानी संस्कारों को उसी प्रकार कराना जिस प्रकार हिन्दू पण्डित हिन्दुओं के संस्कारों को कराते हैं । मुख्य क़ाज़ी के नीचे आवश्यकतानुसार एक या अधिक

काज़ी तथा **मीर अदल** होते थे। विधान के जटिल प्रश्नों की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण के लिए न्यायालयों के साथ मुफ़्ती होते थे जो विधान के अधिकारी विद्वानवर्ग में से नियुक्त किए जाते थे। न्याय-विभाग में दो और भी उच्च न्यायाधीश होते थे, एक **दाद बके हजरत** जो मुख्यतया राजधानी के लिए होता था और दूसरा **काजि-ए-लश्कर** जो सेना का न्यायाधीश होता था। एक और अफसर **मीर दाद** कहलाता था जिसके कर्त्तव्यों तथा अधिकारों के बारे में निश्चय रूप से कुछ कहना कठिन है। मिनहाज़ के अनुसार मीर दाद (अमीरे दाद) सुलतान की अनुपस्थिति में दीवाने मज़ालिस (फौज़दारी न्यायालय) के प्रमुख का कार्य करता था। बादशाह की उपस्थिति में वह फौजदारी न्यायालय के फ़ैसलों तथा अन्य प्रशासन सम्बन्धी मामलों का संचालन करता था। इस पद के लिए भी बड़े योग्य तथा सुचरित्र मनुष्यों को नियुक्त करने का प्रयत्न किया जाता था और उसको हर प्रकार के प्रलोभनों से बचाने के लिए बहुत बड़ा वेतन दिया जाता था। **मीर दाद** के नीचे भी प्रान्तों आदि में उस विभाग के कर्मचारी कार्य करते थे। **मीर दाद** का एक कार्य यह भी था कि वह काजी के निर्णय को कार्यान्वित करे और अपराधियों को दण्ड दे। यदि उसे ऐसा प्रतीत हो कि किसी मामले में उचित न्याय नहीं हुआ है तो वह निर्णय को कार्यान्वित करने में देरी कर सकता था और काजी के द्वारा उस मामले पर दुबारा विचार करा सकता था। आदाबुलमुल्क के आधार पर कुरेशी ने यह भी लिखा है कि **अमीरे दाद** का कर्तव्य यह भी था कि सार्वजनिक भवनों अर्थात् मस्जिदों, पुलों, शहरपनाह आदि को सुरक्षित रखे।

**न्याय का आदर्श तथा वास्तविकता**—यहाँ पर संक्षेप में यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि मुस्लिम विधान के अनुसार न्याय का कितना बड़ा महत्व था। एक लेखक के अनुसार हजरत मुहम्मद ने एक बार कहा था कि न्याय करने में यदि एक पल भी व्यय किया जाए तो वह सत्तर वर्ष तक ईश्वर-भक्ति करने से भी उत्तम है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ वज़ीर निज़ामुलमुल्क ने अपने सियासतनामे में लिखा है कि,कोई राज्य अविश्वास के होते हुए भी कायम रह सकता है किन्तु अन्याय के आधार पर ठहर नहीं सकता। न्याय का आदर्श तो अवश्य अत्युत्तम था किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसका पालन अंश मात्र ही होता था। सुलतान लोग स्वयं अपने निजी स्वार्थ के अनुकूल न्याय करते थे जैसा कि विशेषरूप से हम बलबन के सम्बन्ध में देख चुके हैं। इसी प्रकार अलाउद्दीन खल्जी भी अपने न्याय कार्यों में किसी इस्लामी आदर्श अथवा विधान की परवाह नहीं करता था। काज़ियों के चरित्र के बारे में बरनी स्वयं कहता है कि वे बड़े भ्रष्टाचारी थे और अमीर खुसरू मतलाए अनवार में बरनी का समर्थन करते हुए लिखता है कि काज़ी लोग कानून से अनभिज्ञ थे। बरनी कहता है कि बहुत से काज़ी सुलतान की शरियत के विरुद्ध इच्छाओं को पूरा करने के लिए कुरान के वचनों में बुरी तरह खींचतान करते थे। बरनी स्वयं एक काज़ी घराने का था और खुसरू भी बड़ा धार्मिक पुरुष था। अतएव इन लोगों का

न्यायशासन सम्बन्धी प्रमाण निर्विवाद सिद्ध करता है कि न्याय-विभाग का कार्य बहुत हद तक पतित तथा भ्रष्ट था।

**न्याय के अन्य उपाय**—न्याय-विभाग के विशेष कर्मचारियों के अतिरिक्त सामान्यतः छोटे-मोटे मामलों तथा अर्थ-विभाग के झगड़ों का निर्णय प्रान्तीय मुक़्ती व दीवान तथा पुलिस के कर्मचारी भी करते थे। अमुस्लिम प्रजा के मुक़द्दमों का फ़ैसला प्रायः ग्राम तथा बिरादरी की पंचायतों द्वारा हो जाता था। अतएव हिन्दुओं के बहुत ही कम झगड़े शासकवर्ग की कचहरियों में आते थे। राजपूत युग में ग्राम आदि स्थानीय पंचायतों ने जो विस्तृत शासन-कार्य प्रजा के हितार्थ करने आरम्भ कर दिए थे वे तुर्की सल्तनत में भी जारी रहे; कारण कि ग्रामीण प्रजा के प्रति सुलतानों की उपेक्षा उनके पूर्वगामी राजपूत राजाओं से कुछ न कुछ अधिक ही थी। यदि कोई मामला हिन्दू और मुसलमान के बीच होता था तो उसका निर्णय मुस्लिम विधान के अनुसार किया जाता था। फौज़दारी के मामलों में सर्वथा मुस्लिम विधान तथा काज़ियों की स्वतन्त्र बुद्धि के अनुसार निर्णय किए जाते थे।

**अलाउद्दीन के काज़ी**—अलाउद्दीन ने पहले सद्रे जहान सद्रुद्दीन को मुख्य काज़ी नियुक्त किया। सद्रुद्दीन अपने दीर्घ अनुभव तथा विवेक के लिए प्रसिद्ध था। उसके बाद काज़ी जलालुद्दीन नायब काज़ी नियुक्त किया गया और बयाना निवासी मौलाना ज़ियाउद्दीन को, जो पहले से काज़िए लश्कर था, सद्रे जहान तथा मुख्य काज़ी बनाया गया। फिर ज़ियाउद्दीन के बाद सुलतान के अन्तिम दिनों में हमीदुद्दीन मुल्तानी मुख्य काज़ी हुआ। इसके बारे में ज़िया बरनी अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण शब्दों में कहता है कि वह सर्वथा अयोग्य मनुष्य था और उसको इतना ऊँचा पद इसलिए दिया गया कि उसने बादशाह के हरम में बड़ी सेवा की थी। प्रान्तीय काज़ियों में सैयद ताजुद्दीन तथा उसके भतीजे सैयद रुक्नुद्दीन के नाम प्रसिद्ध हैं।

**मुहतसिब**—न्याय तथा पुलिस के विभागों से सम्बन्धित **मुहतसिब** का विभाग भी होता था। मुहतसिब का मुख्य कर्त्तव्य था हर प्रकार के नियम-विरुद्ध कामों तथा दुराचारों को रोकना और सामान्य रूप से जनता के आचार-व्यवहार का निरीक्षण करते रहना। उसको अधिकार था कि यदि मुसलमान लोग अपने दैनिक चर्या अर्थात् नमाज़ आदि पढ़ने में उदासीनता दिखाते हों तो उनको तुरन्त दण्ड दे। नगर की सफाई, बाजारों की नाप-तोल आदि का निरीक्षण करने का भी मुहतसिब को अधिकार था। अलाउद्दीन खल्जी ने मदिरा पान, जुआ तथा अन्य सामाजिक दुराचारों को रोकने का कार्य हिस्बा अर्थात् मुहतसिब के विभाग के द्वारा ही किया था।

**दण्ड**—अन्य तुर्की सुलतानों की भाँति अलाउद्दीन खल्जी भी अपने सब विरोधियों को दण्ड देने में बड़ी नृशंसता का प्रदर्शन करता था। राज्य का ऊँचे से ऊँचा अधिकारी भी उसी निर्दयता से दण्डित किया जा सकता था जिस प्रकार एक साधारण मनुष्य। परन्तु यह नीति उसी समय बरती जाती थी जब कि किसी मनुष्य

पर सुलतान के विरोध का सन्देह हो जाए अथवा उसका नष्ट करना सुलतान की स्वार्थ-पूर्ति के लिए आवश्यक हो। इसी नीति के कारण बलबन ने अपने कई अमीरों व सूबेदारों को मरवाया और अलाउद्दीन ने अपने सबसे योग्य सैनिक ज़फ़रखाँ को मुगलों के हाथों फँसाकर नष्ट करवाया और उस पर बड़ी खुशियाँ मनाईं। इन सुलतानों के इस प्रकार के कार्यों को न्याय का आदर्श कहकर बहुत से लेखकों ने उनकी बड़ी सराहना की है। किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके यह कार्य न्याय के आदर्श से प्रेरित नहीं हुए थे किन्तु कोरे स्वार्थ से।

दण्ड देने में अलाउद्दीन ने कभी भी शरियत के नियमों की परवाह नहीं की। किसी भी अपराध पर एक हज़ार कोड़े लगवाना, सर कटवा देना, हाथ-पैर काट डालना, अपराधियों को बेड़ियों में जकड़ देना, आग में जीते-जी जलवा देना, अपराधियों की हड्डियों को चूर-चूर करवा देना तथा उसको काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े कर देना इत्यादि सभी प्रकार के दण्ड बेरोक-टोक दिए जाते थे। अपराधियों से अपराध मनवाने के लिए बड़ी-बड़ी यातनाएँ दी जाती थीं। परन्तु खल्जी सुलतान ने गुजरात की चढ़ाई के विद्रोहियों के स्त्री व बच्चों को जिस अपूर्व पाशविकता व निर्दयता से सजाएँ दी थीं उनको बरनी जैसा कट्टर मुस्लिम भी सहन न कर सका। शराब पीने और चोरी से नगर में शराब लानेवालों को उसने अन्धे कुओं में मरवाकर दण्ड देने की एक नई नीति निकाली जिसका उदाहरण कठनाई से मिलेगा। व्यभिचारियों का पत्थर मारकर वध किया जाता था और अक्सर शत्रुओं को काटकर नगर के द्वार पर लटका दिया जाता था अथवा सूली पर लटकाकर घुमाया जाता था। कम तोलनेवाले दुकानदारों के शरीर में से उतना ही मांस काट लिया जाता था।

**जेल**—जान पड़ता है कि उस समय कोई विशेष कारागार नहीं थे। इसका एक कारण कदाचित यह भी था कि सामान्य अपराधियों को जेल में रखने की आवश्यकता ही न पड़ती थी। उनका हिसाब तुरन्त कर दिया जाता था अर्थात् फ़ैसला होते ही उनको दण्ड दे दिया जाता था। जब कभी बड़े अपराधियों तथा अमीरों आदि को कारागार में रखने की आवश्यकता होती थी तो उनको कुछ क़िलों में बन्द कर दिया जाता था। यह लोग ऐसे तहखानों में बन्द किए जाते थे जहाँ अन्धकार में विषैले जीव-जन्तुओं से वे शायद ही कभी बचकर निकलते हों।

**पुलिस तथा गुप्तचर**—हम देख चुके हैं कि अलाउद्दीन के राज्य की परिस्थिति इस प्रकार की थी कि उसको एक असाधारण पुलिस तथा गुप्तचर विभाग का निर्माण करना पड़ा था। पुलिस का सर्वोच्च अधिकारी राजधानी का कोतवाल होता था। इस पद का इतना ही महत्व तथा प्रतिष्ठा थी जितनी एक बड़े से बड़े वज़ीर की। कोई-कोई कोतवाल तो अपनी योग्यता के कारण बहुत ही प्रभावशाली हुए। अलाउद्दीन के कोतवालों में काज़ी अलाउल्मुल्क का नाम सबसे प्रसिद्ध है। निःसंदेह वह इतना योग्य व दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था कि उसने खल्जी सुलतान को

आन्तरिक तथा बाह्य संकटों से साम्राज्य की रक्षा करने के लिए जो परामर्श व आदेश दिया था वह उसकी बुद्धिमत्ता को प्रमाणित करता है। राजधानी तथा अन्य केन्द्रिय स्थानों को छोड़कर देहात की रक्षा के लिए राज्य की ओर से पुलिस का क्या प्रबन्ध था, इस विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

गुप्तचर विभाग को अलाउद्दीन ने पूरी तरह परिपक्व किया था और छोटे-बड़े गुप्तचर बहुत बड़ी संख्या में नियुक्त किए थे जिनके द्वारा उसको अमीरों के घरों तक की एक-एक मिनट तक की सूचना मिल जाती थी। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

**डाक**—तत्कालीन लेखकों के थोड़े-बहुत संकेतों से पता चलता है कि खल्जी सुलतान के समय में भी शासन-सम्बन्धी सूचनाओं के भेजने के लिए डाक का प्रबन्ध था। दक्षिण की चढ़ाइयों की दिन-दिन की परिस्थिति की सूचना सुलतान को मिलती रहती थी। किन्तु यह स्पष्ट है कि इसके लिए विशेष आयोजन किया जाता होगा। सामान्य जनता की सुविधा के लिए राज्य की ओर से किसी प्रकार की डाक-व्यवस्था नहीं थी।

●

# पाँचवाँ प्रकरण

# संक्रमण (transition) युग : खल्जी वंश का अस्त, तुगलकों का अभ्युत्थान

तेरह

## खल्जी वंश का अन्त

### मलिक काफ़ूर का अल्पकालीन शासन

**हम** कह आए हैं कि काफ़ूर के ऊपर अन्तिम दिनों में अलाउद्दीन का इतना अन्धविश्वास हो गया था कि उसके बहकाने से उसने अपने बेटे खिज्र खाँ को उसकी पत्नी देवलदेवी के साथ जेल में डाल दिया। सुलतान के मरते ही काफ़ूर ने उसके एक पाँच बरस के बालक को, जिसे उसने सुलतान से नामांकित करवा लिया था, गद्दी पर बिठाकर उसकी माँ से शादी कर ली और स्वयं शासन करने लगा। खिज्रखाँ और उसके भाई शादीखाँ की उसने आँखें निकलवा लीं। इनकी माँ को उसने बन्दीकर दिया और सुलतान के चौथे बेटे मुबारकखाँ को सीरी में ही नज़रबन्द कर दिया। तब उसकी आँखें निकलवाने के लिए भी आदमी भेजे। परन्तु उसके अत्याचारों से सब अधिकारीवर्ग व सैनिक इतने बिगड़ उठे कि उसके साथियों ने ही उसको क़त्ल कर दिया और तुरन्त मुबारक को गद्दी पर आसीन कर दिया। काफ़ूर का शासन केवल ३५ दिन क़ायम रहा।

**सुलतान मुबारकशाह खल्जी (१३१६-२०)**—मुबारक इस समय केवल अठारह बरस का था। परन्तु उसने शुरू में बड़ी संजीदगी व योग्गता से कार्य सँभाला। पहले उसने मंत्रिमंडल का फिर से निर्माण किया और योग्य तथा विश्वसनीय अमीरों को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया। परन्तु उसने एक कार्य ऐसा किया जिससे सब अमीरों को आश्चर्य हुआ। उसने गुजरात के एक गुलाम, हसन को विशेषरूप से सम्मानित किया। उसे अपना वज़ीर बनाया, काफ़ूर की जागीर उसे दे दी और खुसरूखाँ के खिताब से उसे अलंकृत किया।

**मुबारक का शासन**—शुरू में मुबारक बड़ा प्रजापालक व दयालु था। विगत शासन के अत्याचारों को देखकर उसका मन बड़ा दयार्द्र हो गया था। गद्दी

पर बैठते ही उसने हजारों निरपराध कैदियों को छोड़ दिया और निर्वासितों को वापस बुलाया। इसके अतिरिक्त उसने सब आवश्यक उपाय पिछले शासन के अन्यायों से दलित जनता को फिर से सुखी-सम्पन्न बनाने के किए। राजनियमों, दण्डविधान आदि की कठोरता को कम किया और आर्थिक दशा को सुधारा तथा व्यापारियों को स्थिरता प्रदान की।

**विद्रोहों का दमन**—मलिक काफ़ूर के राजत्वकाल में गुजरात के अमीरों ने विद्रोह कर दिया था। मुबारक ने तुग़लक़शाह को उनके विरुद्ध भेजकर उनको परास्त कराया, तब सुलतान ने अपने श्वसुर ज़फ़रखाँ को गुजरात का सूबेदार बनाकर भेजा। उसने प्रान्त का शासन बड़ी उत्तमता से किया। परन्तु सुलतान को उस पर राजद्रोह का संदेह हो गया और उसे बड़ी निर्दयता से मरवाया गया। फिर खुसरू के एक सम्बन्धी को सूबेदार बनाकर गुजरात भेजा गया परन्तु जब उसने भी षड्यन्त्र रचना शुरू किया तो उसे हटा दिया गया। फिर एक शरीफ़ व योग्य अमीर वहीदुद्दीन को शासक बनाकर भेजा गया। उसने बड़ा उत्तम शासन किया।

**देवगिरि**—अलाउद्दीन के मरने पर देवगिरि का राजा हरपाल स्वतन्त्र बन बैठा था। दक्षिण के विद्रोहियों का दमन करने के लिए वह खुसरूखाँ को साथ लेकर स्वयं गया। हरपालदेव और उसके मन्त्री राघव को उसने पकड़कर उनकी जीते-जी खाल खिचवाई और राजा के पंजर को देवगिरि के द्वार पर लटका दिया। इसके बाद उसने सारे मराठा प्रदेश पर अधिकार करके गुलबर्गा आदि कई स्थानों पर सैनिक चौकियाँ बिठलाईं। महाराष्ट्र प्रदेश को कई टुकड़ों में बाँटकर उनके शासक नियुक्त किए। इनको आन्तरिक शासन का पूरा अधिकार दिया और कर वसूल करके भेजने का ज़िम्मेदार बनाया।

**अन्य विद्रोह**—मुबारक देवगिरि से लौटकर भोग-विलास में निमग्न हो हो गया। उसने जो अपने प्रेम-पात्रों व मित्रों को मन्त्रिपद दिए थे उससे अन्य अमीरों व सम्बन्धियों में उसके खिलाफ़ बड़ा असन्तोष था। सुलतान ने इसको रोकने या शान्त करने का कोई उपाय न किया। यह रोग बढ़ता गया और एक गहरे विद्रोह के रूप में फूट निकला। इसका नेता सुलतान का एक सम्बन्धी ही था। इसकी ख़बर पाते ही मुबारक ने उस विद्रोही और उसके साथियों को मरवा डाला और उसके परिवार को भूखा-नंगा करके बाहर निकाल दिया। अब मुबारक इतना हृदयहीन हो गया कि उसने अपने अन्धे भाई की प्रेमिका देवलदेवी को छीनकर अपने महल में बुलवाया और खिज्र को मरवा डाला।

**तिलंगाना का** विद्रोह भी इसी समय हुआ। राजा प्रतापरुद्रदेव ने राज-कर भेजना बन्द कर दिया था। मुबारक ने उसका फिर से दमन करने के लिए खुसरूखाँ को भेजा। इस प्रयास में खुसरू की पूरी विजय हुई। प्रतापरुद्रदेव को हार मानकर अनन्त धन-दौलत के अलावा १०० हाथी और १२०० घोड़े देने पड़े

श्रौर राजकर बराबर देते रहने का वचन देना पड़ा। तब खुसरू दिल्ली वापस लौटा।

**देवगिरि व मश्राबर पर चढ़ाई**—देवगिरि के शासक यकलखी ने श्रपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसका दमन करने के लिए खुसरू को भेजा गया। देवगिरि के विद्रोहियों को बन्दी बनाकर उसने दिल्ली भेज दिया श्रौर स्वयं श्रागे बढ़कर पांड्यराज पर श्राक्रमण कर दिया। वहाँ फिर घरेलू कलह शुरू हो गया था। इससे खुसरू को मदुरा पर श्रधिकार करने में श्रासानी हुई। कुछ समकालीन लेखकों के श्रनुसार ख़ुसरूखाँ दक्षिण प्रदेशों पर श्रधिकार करके स्वाधीन राज्य स्थापित कर लेने की योजना बना रहा था। इसकी सूचना सुलतान को पहुँच गई श्रौर खुसरू के विरोधियों ने उसे खूब भड़काया। इसकी खबर पाते ही खुसरू दिल्ली लौट श्राया। उसे देखते ही सुलतान का सारा क्रोध शान्त हो गया। श्रौर उसने खुसरू का बड़ा श्रादर-सत्कार किया। इतना ही नहीं, जिन्होंने खुसरू की शिकायत की थी उनको सुलतान ने श्रत्यन्त कठोर दण्ड दिए। इस पर बहुत से दरबारियों ने श्रपने पद त्याग दिए। श्रब किसी को खुसरू के विरुद्ध शिकायत करने का साहस न रहा। इतना ही नहीं, बहुत से श्रमीर खुसरू से मिल गए। इस मौके का लाभ उठाकर खुसरू ने सुलतान की मरज़ी से, जो उस पर श्रासक्त था, श्रपने कई हजार गुजराती जवानों को बुलवा लिया श्रौर उन्हें श्रपनी रक्षा के बहाने से राजमहल के पास रखवा दिया। एक दिन श्रवसर पाकर खुसरू का एक साथी जहारिया द्वारपालों को क़त्ल करता हुश्रा सुलतान के कमरे में घुस श्राया। सुलतान ने भागना चाहा तो खुसरू ने उसके बालों को पकड़कर उसे गिरा दिया श्रौर ज़हारिया ने उसका सर काट कर नीचे फेंक दिया। यह घटना १३२० ई० में हुई।

**नसीरुद्दीन खुसरूशाह**—इस प्रकार मुबारक खल्जी का काम तमाम कर खुसरू बादशाह बन बैठा। श्रपनी सहायता के लिए उसने गुजरात से बहुत से सैनिक बुलवा लिए थे। श्रब उसने मुसलमानों के श्रत्याचारों का बदला लेना शुरू किया। मलिक काफ़ूर श्रौर खुसरू दोनों ही गुजराती थे। दोनों के साथ ही सुलतानों ने बड़े घृणित व्यवहार किए थे। इन दोनों के विद्रोह में हमें एक हिन्दू प्रतिरोध की साफ़ झलक प्रतीत होती है। खुसरू ने मुसलमानों के पवित्र स्थानों, मस्जिदों श्रादि को उसी प्रकार ध्वस्त किया जिस प्रकार मुसलमान हिन्दू मन्दिरों को तोड़ते श्रौर श्रपवित्र करते थे। उसने इतने उतावलेपन से काम करना शुरू किया कि सारे मुसलमान नेता व सैनिक उसके शत्रु हो गए। उनका सर्वोच्च सैनिक ग़ाजी तुग़लक था। उसने खुसरू को पराजित किया श्रौर मार डाला। तब सब श्रमीरों की स्वीकृति से वह स्वयं गद्दी पर बैठा। इस प्रकार खल्जी सल्तनत का श्रन्त श्रौर तुग़लक़ वंश की स्थापना हुई।

खुसरूशाह को समकालीन मुस्लिम लेखकों ने एक नीच कुल का मनुष्य बतलाया है श्रौर उसका बड़े तिरस्कार के शब्दों में उल्लेख किया है। इसीसे सभी पाठ्य-पुस्तकों के रचयिता उसे नीच कुलोत्पन्न लिखते चले श्राते हैं। परन्तु ध्यान रहे

कि यह बात सिद्ध हो चुकी है कि खुसरू एक क्षत्रिय पहलवान जाति का था। यह भी ध्यान देने का विषय है कि सब ही लेखक लकीर को फ़क़ीर के समान उसे राज्य का अनधिकारी अपहरण करनेवाला कहकर धिक्कारपूर्ण शब्दों में बयान करते हैं। पर विचारने का विषय यह है कि उस युग में जब राजगद्दी का नियम केवल था 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' तो किसी को अपहरणकर्त्ता कहना कहाँ तक न्याय है। बलबन, अलाउद्दीन खल्जी आदि क्या इसी श्रेणी में नहीं आते हैं। वस्तुतः खुसरू उस युग के अन्य सुलतानों की अपेक्षा किसी दृष्टि से भी अपहरण करने वाला नहीं माना जा सकता। यदि खुसरू इस पातक का भागी था तो दिल्ली के सभी नामी सुलतान इसी वर्ग में रखे जाने चाहिएँ। इनका भी कोई वैधानिक अधिकार बादशाह बनने का नहीं था। अगर खुसरू सफल हो गया होता तो न जाने सल्तनत की वहीं अन्त्येष्टि हो जाती और वह अपना वंश स्थापित कर, एक नए साम्राज्य की नींव डाल देता।

चौदह

# ग़यासुद्दीन तुग़लक का शासन

**ग़यासुद्दीन का राज्यारोहण**—खुसरूखाँ को पराजित व नष्ट करके ग़ाज़ी मलिक ग़यासुद्दीन राज-दरबार के समस्त मलिकों, अमीरों तथा समस्त प्रतिष्ठित और गण्य-मान्य व्यक्तियों को अपने साथ लेकर सीरी पहुँचा और कुशके-हज़ार सुतून में विराजमान हुआ। सब लोगों ने मिलकर ग़ाज़ी मलिक से प्रार्थना की कि वह सल्तनत की बागडोर सम्भाले और खल्जी परिवार व अन्य मुसलमानों के हत्यारों से बदला लेने तथा इस्लाम धर्म की रक्षा करने के उपलक्ष्य में सिंहासन पर विराजमान हो। ग़यास तुग़लक ने पूछा कि क्या खल्जी परिवार का कोई सदस्य जीवित है ? उत्तर में उसे बतलाया गया कि कोई भी बाकी नहीं है। एकत्रित अमीरों ने कहा कि 'राज्य में फैली हुई अराजकता तथा उपद्रवों को दमन करने के लिए आवश्यक है कि तुम्हीं इस भार को सम्भालो। तुम्हारे ही बाहुबल तथा शौर्य से हिन्दुस्तान मुग़लों के आक्रमणों से सुरक्षित हुआ है और उनके मार्ग बन्द हुए हैं। तुम्हारी ही राजभक्ति के कारण खल्जी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने से बचा है। तुम्हारे सिवा और कोई भी व्यक्ति इस समय बादशाह होने के योग्य नहीं दिखाई देता।' इस प्रकार समस्त दरबारियों की सहमति से सुलतान ग़यासुद्दीन तुग़लकशाह राजसिंहासन पर विराजमान हुआ। ज़िया बरनी बराबर यह बात दोहराता जाता है कि ग़ाज़ी मलिक के सुलतान बनने से इस्लाम में नयी जान आ गयी और हिन्दुओं तथा काफ़िरों का दमन किया गया। उसके इस कथन का संकेत खुसरूशाह तथा उसके साथियों व सहायकों की ओर प्रतीत होता है।

**ग़यासुद्दीन की शासन-नीति**—ग़यासुद्दीन तुग़लक के बादशाह बनने से एक ऐसे राजवंश का आरम्भ हुआ जो शुद्ध तुर्की वंश नहीं था। यूँ तो अलाउद्दीन खल्जी ने भी गुजरात की रानी कमलादेवी आदि हिन्दू स्त्रियों से विवाह किए थे किन्तु तुग़लकशाह से पहले कोई ऐसा मुसलमान बादशाह दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा था जो मिश्रित रक्त से उत्पन्न हुआ हो। तुग़लकशाह की माता पंजाब के एक जाट घराने की थी। आरम्भ में उसका परिवार अत्यन्त साधारण कोटि का था। उसका पिता बलबन का एक तुर्की दास था। तुग़लकशाह ने एक सामान्य सैनिक के रूप में जीवन आरम्भ किया और अपनी निजी योग्यता के बल पर वह खल्जी काल में पंजाब

के सूबेदार के पद पर १३०५ में नियुक्त हुआ। उस समय मुग़लों के भय से उत्तर-पश्चिम की रक्षा की समस्या इतनी गहन थी कि पंजाब प्रान्त की सूबेदारी एक योग्य सैनिक को ही सुपुर्द की जा सकती थी। ग़यास तुग़लक के समकालीन सैनिकों में उसका स्थान सबसे ऊँचा था। हम देख चुके हैं कि १३०५ के मुग़लों के भयानक आक्रमण से, जब कि वे उत्तर पंजाब को चीरते हुए, अमरोहे तक घुस गए थे, ग़यास तुग़लक ने ही सल्तनत की रक्षा की थी और मुग़लों को पछाड़कर देश के बाहर निकाला था। पंजाब में उसका केन्द्र दीपालपुर में था। कहा जाता है कि उसने मुग़ल आक्रान्ताओं से लगभग ३० बार लड़ाइयाँ कीं और उनको हराया। स्वाभाविक ही था कि ऐसा वीर विशेषरूप से उस अव्यवस्थित परिस्थिति में, जो ख़ल्जी युग के अन्तिम दिनों में पैदा हो गई थी, अत्यन्त शक्तिशाली हो गया।

किन्तु तुग़लकशाह निरा सैनिक ही नहीं था। जैसा बादशाह बनने पर उसने अपनी नीति से परिचय दिया, वह एक योग्य शासक भी था। यदि वह धार्मिक कट्टरता से अपनी शासन-नीति को सर्वथा मुक्त रख सकता तो निस्सन्देह वह मध्य काल के वैसे ही सुविख्यात शासकों में गिना जाता जैसा उसके लगभग दो सौ बीस वर्ष बाद शेरशाह सूरी हुआ। ग़यास तुग़लक की नीति तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल ही निर्धारित हुई। जो दुर्वस्था दास वंश के अन्तिम दिनों में जलालुद्दीन ख़ल्जी के गद्दीनशीन होने के समय थी वैसी ही अव्यवस्था तथा प्रजा की दुर्गति तुग़लक़शाह के बादशाह बनने के समय थी। ख़ल्जी सुलतान भी लगभग उतना ही बूढ़ा था जितना कि तुग़लक़शाह। किन्तु तुग़लक़शाह अपने पूर्वगामी से बहुत अधिक योग्य सिद्ध हुआ।* सबसे पहले उसको ख़ल्जी परिवार के बचे-खुचे लोगों के आराम से रहने-सहने का प्रबन्ध करना था। ख़ल्जी परिवार की अविवाहित लड़कियों के उसने विवाह करा दिए और अलाउद्दीन के अन्तःपुर की स्त्रियों के रहन-सहन का सम्मानपूर्वक आयोजन किया। तुर्की मलिकों व अमीरों के प्रति उसने बड़ी चतुराई व दूरदर्शिता का व्यवहार किया। केवल उन अमीरों को छोड़कर, जिन्होंने कुत्बुद्दीन मुबारकशाह की विधवा का निकाह ख़ुसरूशाह से कराया था, शेष सबको उसने अपना विश्वासपात्र बनाया और अपने सद्व्यवहार से उनके हृदयों में सन्तोष तथा श्रद्धा के

---

*इन दोनों के चरित्रों में एक प्रकार से ज़मीन-आसमान का भेद था। ग़यास बूढ़ा होने पर भी बड़ा पराक्रमी, कर्मनिष्ठ तथा प्रजा-पालक और साथ ही एक शूरवीर, युद्ध-कुशल सैनिक था। जलाल में बूढ़ा होने के कारण सैनिक गुण भी न रहे थे। ग़यास ने शासन को सुदृढ़ करने और ख़ल्जी शासन के कष्टों से बिलखती हुई प्रजा को सुखी व सम्पन्न बनाने का यथाशक्ति प्रयास किया। जलाल ख़ल्जी को इन कर्त्तव्यों का ध्यान ही न था। इन दोनों को एक दैवी घटना ने एक प्रकार की समानता प्रदान कर दी थी। दोनों के ही उत्तराधिकारी उनके शासन-काल से ऊबकर राजगद्दी के लिए इतने उतावले हुए कि उन्होंने इन निरपराध सुलतानों की हत्या कर डाली।

भाव उत्पन्न किए। पिछले तुर्की सुलतानों की यह प्रथा थी कि दूसरों की शिकायत करने पर वे बड़े से बड़े अमीरों की हत्या करा देते थे। इस संशय की नीति को उसने बन्द किया और परस्पर विश्वास के आधार पर शासन की नींव रखी। उसने सब अमीरों तथा अन्य कर्मचारियों को उनकी योग्यता के अनुसार इनाम, वेतन व पद आदि प्रदान किए।

प्रजा को सन्तुष्ट व सम्पन्न रखने, कृषि को प्रोत्साहन देने, न्याय-व्यवस्था को उचित प्रकार से स्थापित करने, विद्वानों तथा प्रतिष्ठित सज्जनों का यथेच्छ सम्मान करने तथा हर वर्ग के वास्तविक अधिकारों की रक्षा करने के मौलिक सिद्धान्तों पर ग़यास तुग़लक़ ने अपनी शासन-नीति का निर्माण किया।

**ग़यासुद्दीन की मुख्य समस्याएँ**—ऊपर कहा जा चुका है कि ग़यासुद्दीन बहुत अनुकूल परिस्थिति में राजसिंहासन पर बैठा था। अपने लम्बे अनुभव तथा सैनिक योग्यता के अतिरिक्त उसको लगभग सभी तुर्की अमीरों व नेताओं का सहयोग प्राप्त था। सभी उसकी सहायता करने के लिए उद्यत थे। मुस्लिम जनता को भी उससे सुप्रबन्ध तथा प्रजा-हित की आशाएँ थीं और वे भी उसके कामों में सहयोग देने को तैयार थे। धार्मिक क्षेत्र में संकीर्ण तथा असहनशील प्रवृत्ति रखने के कारण मुस्लिम मुल्लाओं तथा उलमा का भी सहयोग उसको प्राप्त था। अतएव साम्राज्य की दुर्दशा को सुधारने तथा राजसत्ता को दृढ़ करने में उसे विशेष कठिनाई न हुई और न ही किसी विरोधी दल का सामना करना पड़ा।

साम्राज्य की सबसे पहली समस्या यह थी कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति अलाउद्दीन खल्जी के बाद प्रायः नष्ट हो जाने के कारण साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। सुदूर दक्षिण, बंगाल आदि प्रान्त प्रायः स्वतंत्र हो बैठे थे। अन्य प्रान्तों के शासक भी केन्द्रीय सत्ता की अवहेलना करने लगे थे। उत्तर-पश्चिम प्रदेश में खोखरों का विरोध किसी प्रकार भी शान्त नहीं हुआ था। इस प्रकार बादशाह के सामने सबसे आवश्यक समस्या यह थी कि इन बिखरते हुए टुकड़ों को फिर से केन्द्रीय सत्ता के अधीन सुसम्बद्ध किया जाए और उनके शासकों को राजकर अदा करने तथा सुलतान का आज्ञाकारी बनने पर विवश किया जाए। दूसरी समस्या आर्थिक दुर्दशा का सुधार करने की थी जो एक प्रकार से पहली समस्या से भी गहन व कठिन थी। अलाउद्दीन के शासन के घातक परिणामों का विस्तृत उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। किसानों, दस्तकारों व व्यापारियों आदि सभी अर्थोत्पादक वर्गों को फिर से अपने-अपने व्यवसाय में स्थापित करने की आवश्यकता थी। उनकी आर्थिक हीनता के कारण सरकारी कोष भी खाली हो चुका था और जो कुछ रह गया था उसको अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों ने बर्बाद कर दिया था। ग़यास तुग़लक़ भली-भाँति समझता था कि राजकोष की सम्पन्नता व्यावसायिक वर्ग की सम्पन्नता पर निर्भर है। इस मौलिक सिद्धान्त को अलाउद्दीन खल्जी ने कभी नहीं समझा था। बहुत से किसान, व्यापारी

तथा दस्तकार अपने पेशों को छोड़ बैठे थे और सुलतान के भय से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए भाग गए थे। इन सबको वापस बुलाकर आश्वासन देने व अपने-अपने पेशे को आरंभ करने का प्रोत्साहन देने की आवश्यकता थी। तीसरी समस्या यह थी कि मुबारकशाह तथा खुसरूशाह ने बहुत सा धन अपने संगी-साथियों व सूफ़ियों आदि को बाँट दिया था, जिसके वे अधिकारी नहीं थे। ग़यास तुग़लक़ ने इस धन को वापस लेना आवश्यक समझा। चौथी समस्या थी योग्य अमीरों आदि को समुचित पदों पर नियुक्त करने की ताकि शासन सुव्यस्थित हो, और यथाशक्ति न्यायपूर्वक शासन का कार्य-संचालन होता रहे। पाँचवीं समस्या कर-विभाग में ऐसे सुधार करने की थी जिससे परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए न तो किसानों पर अनुचित बोझ पड़े और न ही राजकोष को किसी प्रकार की आर्थिक हानि हो। अन्तिम समस्या अथवा राजनीतिक आवश्यकता साम्राज्य का विस्तार करने की थी अर्थात् तुर्कों के साम्राज्यवाद के उद्देश को पूरा करना और इस हेतु दूर दक्षिण प्रदेशों को जीतना तथा साम्राज्य में मिलाना।

**मंत्रिमंडल तथा उच्च राजकीय पदाधिकारियों की नियुक्ति**—ग़यास तुग़लक ने आरम्भ में अपने नन्त्रिमण्डल को सुव्यवस्थित करके शासन-कार्य आरम्भ किया। जो कुछ सुधार वह करना चाहता था उनको यथोचित रूप से कार्यान्वित करने के लिए योग्य पदाधिकारियों का होना परमावश्यक था। उसने अपने पुत्र मुहम्मद को उलुगखाँ की उपाधि प्रदान की और अपना उत्तराधिकारी बनाया। अन्य चार बेटों को भी बहरामखाँ, ज़फ़रखाँ, महमूदखाँ और नुसरतखाँ की पदवियाँ क्रमशः प्रदान कीं। अमीर बहराम ऐबा को कश्लूखाँ की उपाधि देकर मुल्तान व सिंध प्रदेश का शासक नियुक्त किया। अपने भतीजे मलिक असदुद्दीन को नायब बारबक और अपने भान्जे मलिक बहाउद्दीन को अर्जे ममालिक का पद तथा सामाने की अक़्ता प्रदान की। अपने दामाद मलिक शादी को दीवाने वज़ारत का कार्य सुपुर्द किया। तातारखाँ को ततार मलिक की पदवी प्रदान की और जफ़राबाद का अक़्तादार बनाया। कुतलुग़खाँ के पिता मलिक बुरहानुद्दीन को आलिम मलिक की पदवी प्रदान की और दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया। मलिक अलीहैदर को नायब वकीलेदर, कुतलुग खाँ को देवगिरि का नायब वज़ीर, क़ाज़ी कमालुद्दीन को सद्रे जहाँ, काज़ी समाउद्दीन को दिल्ली का काज़ी तथा मलिक ताजुद्दीन को गुजरात का वाली व नायबे अर्ज़ नियुक्त किया। इस प्रकार सुयोग्य तथा विश्वसनीय पदाधिकारियों को नियुक्त करने से साम्राज्य के सुसंठन की समस्या बहुत हद तक स्वयं ही हल हो गई। इन योग्य कर्मचारियों ने अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में राज-व्यवस्था तथा शासन को हर प्रकार से दृढ़ व व्यवस्थित बनाया। इसके बाद उसने ख़राज या भूमिकर विभाग को सुधारा।*

*'ख़राज' आरम्भ में उन सब करों के अर्थ में प्रयुक्त होता था जो अमुस्लिम विजित जातियों से वसूल किए जाते थे। किन्तु कालान्तर में यह शब्द विशेष रूप से भूमिकर के लिए ही प्रयोग किया जाने लगा था।

**भूमिकर विभाग में सुधार**—सबसे पहले उसने जितने अनुचित रूप से बढ़ाए हुए कर बलपूर्वक वसूल किए जाते थे, उनको बन्द किया। दूसरे, उस प्रचलित प्रथा को, जिसमें भूमि नापकर उसके अनुसार पैदावार के होने या न होने, दोनों ही दशाओं में कर वसूल कर लिया जाता था, हटाकर उसके स्थान पर वास्तविक पैदावार के आधार पर बँटवारे का नियम बनाया अर्थात् मापन-प्रथा के स्थान पर फिर से बटाई का नियम जारी किया और जो अक़्तादार आदि पदाधिकारी कर की मात्रा को बहुत अधिक बढ़ाने के हक़ में थे, उनसे परामर्श लेना बन्द कर दिया। दीवाने वज़ारत को उसने आदेश दिया कि अक़्ताओं तथा विलायतों पर नौ या दस फी सदी से अधिक कर कहीं भी न बढ़ाया जाए।* दूसरा आदेश उसने यह दिया कि शासकवर्ग हर वर्ष खेती की उन्नति का प्रयत्न करते रहें और ख़राज में धीरे-धीरे इस प्रकार बढ़ोतरी करें कि किसान बरबाद न हो जाए। इसके प्रतिकूल इस प्रकार ख़राज वसूल किया जाए कि किसानों को अपने व्यवसाय में प्रोत्साहन मिले। हिन्दू किसानों के सम्बन्ध में उसने यह आदेश दिया कि उनसे ख़राज इस प्रकार वसूल किया जाए कि वे लोग आवश्यकता से अधिक सम्पन्न न हो जाएँ ताकि वे विद्रोह करने का साहस न कर सकें और न ही उनसे इतना कर वसूल किया जाए कि दरिद्रता के कारण वे खेती ही करना छोड़ दें। सुलतान ने सरकारी कर्मचारियों को यह भी आदेश दिया कि प्रान्तीय शासक लोग इस बात की पूरी तरह पूछताछ करते रहें कि खूत (गाँवों के भूमिकर वसूल करने वाले) तथा मुक़द्दम (मुखिया) शाही ख़राज के अतिरिक्त और कोई कर वसूल न करने पाएँ। ग़यास तुग़लक़ यह भलीभाँति समझता था कि ग्राम के कर वसूल करनेवाले खूतों आदि को उनके कार्य का पारिश्रमिक मिलना आवश्यक है। अतएव उसने यह आदेश दिया कि इन लोगों को उनके निजी खेतों का भूमिकर तथा चराई अदा करने पर विवश न किया जाए और इसको उनके पारिश्रमिक रूप छोड़ दिया जाए अर्थात् उसने अलाउद्दीन की खूतों व मुक़द्दमों से उनकी सेवाओं के पारिश्रमिक बंद करके उनको सामान्य किसानों की दशा में पहुँचा देनेवाली नीति को भी अनुचित समझा और

*इस सम्बन्ध में बरनी के शब्द बहुत संदिग्ध तथा अस्पष्ट हैं। किन्तु कतिपय लेखकों का यह मत कि ग़यास तुग़लक़ ने भूमिकर की मात्रा केवल पैदावार का $\frac{१}{१०}$ अथवा $\frac{१}{११}$ कर दी थी, सर्वथा निर्मूल है। वास्तविक बात यह थी कि विभिन्न अक़्ताओं की वसूलयाबी पूर्वकालीन अव्यवस्था के कारण बहुत कम हो गयी थी। उसमें वृद्धि करने की आवश्यकता थी। किन्तु इस भय से कि कहीं प्रान्तीय शासक आय बढ़ाने के बहाने से भूमिकर बेरोक-टोक न बढ़ा दें, बादशाह ने उनकी अन्याय प्रवृत्ति को रोकने के लिए यह सीमा निर्धारित कर दी कि किसी अक़्ता की आय में $\frac{१}{१०}$ अथवा $\frac{१}{११}$ से अधिक बढ़ाकर कर वसूल न किया जाए। यह बात रामपुर की हस्तलिखित प्रति से स्पष्ट हो जाती है जिसमें इसका उल्लेख अधिक स्पष्ट शब्दों में मिलता है।

उसके स्थान पर उनको उनकी सेवाओं के पारिश्रमिक तथा सुविधाएँ देकर फिर से सम्पन्न तथा संतुष्ट करने का प्रयास किया। इन सब आदेशों के साथ ग़यास तुग़लक़ ने अपने प्रान्त के शासकों को सामान्य रूप से यह परामर्श दिया कि यदि वे चाहते हैं कि उनको दीवाने वज़ारत में हाज़िर होकर अन्य आमिलों के समान अपनी आय का हिसाब-किताब देने तथा वसूलयाबी को राजकोष में जमा करने पर विवश न होना पड़े तो वे अपना शासन ईमानदारी, न्याय तथा निर्लोभ होकर करें और एक कौड़ी भी किसी से अधिक वसूल न करने दें। कारकुनों के साथ सहृदयता का व्यवहार करें। सेना के साथ भी इसी प्रकार न्यायपूर्वक बर्ताव करें और उनके वेतन में से कटौती न करें। उसका कहना था कि यदि कोई अमीन अपने सेवक के वेतन में से कुछ खा जाता है तो इससे कहीं अधिक अच्छा है कि वह धूल खाए। उसने ऐसे भी नियम बनाए कि यदि अमीर तथा मलिक, जो विभिन्न सूबों के अक़्तादार थे, यदि वे ख़राज में से लगभग पाँच प्रतिशत अपने लिए रख लें और इसी प्रकार कारकुनान व मुतसर्रिफ (जो गाँवों से कर वसूल करते हैं) अपने वेतन के अतिरिक्त एक हज़ार में से पाँच या दस अपने लिए बचा लें तो उस रकम को छोड़ देना उचित है और उसके वसूल करने में कोई ज़ोर-ज़बर न करना चाहिए। उसने इस नियम के पालन करने का आदेश दीवाने वज़ारत को दे दिया था। ग़यास की इस नीति का यह उद्देश था कि मुक़्तों व वालियों (प्रान्तीय शासकों) के उचित आदर-सम्मान व आतंक की पूरी तरह रक्षा की जाए। किन्तु इसके साथ ही साथ उनका चरित्र व व्यवहार भी यथोचित निर्लेप तथा ऊँचा रहे। तीसरी मुख्य बात इस विभाग को व्यवस्थित करने में तुग़लक़शाह ने यह की कि कर वसूल करने की आसानी के लिए उसने प्रान्तीय शासकों को एक निश्चित रकम भूमिकर के रूप में वसूल करके राजकीय कोष में अदा करने का ज़िम्मेवार कर दिया। यह अनुमान करना उचित जान पड़ता है कि विभिन्न प्रान्तों के ऊपर जो रक़म वाजिब ठहराई गई होगी वह सुलतान की न्यायपूर्ण नीति के अनुसार उचित से अधिक न होगी। इसीलिए उसने अर्थमंत्री को यह आदेश दिया कि यदि किसी प्रान्त में पैदावार में कुछ वृद्धि भी हो तो भी दलालों आदि की शिकायतों पर ध्यान न दिया जाए और भूमिकर की माँग में $\frac{१}{१०}$ या $\frac{१}{१०}$ से अधिक बढ़ोतरी न की जाए। इस व्यवस्था को कुछ विद्वानों ने ठेके (farming) का नाम दिया है। परन्तु इस शब्द से यह भ्रान्ति हो सकती है कि प्रान्तीय शासकों को अधिकार दे दिया गया था कि वे किसानों से जितना चाहें वसूल करलें और केवल निश्चित रकम राजकोष को दें। यह स्पष्ट है कि सुलतान ने इस प्रकार का अधिकार स्थानीय शासकों को नहीं दिया था। यदि वह ऐसा करता तो किसानों को फिर से सुखी व सम्पन्न बनाने का उसका उद्देश ही निष्फल हो जाता। इस प्रकार ग़यासुद्दीन ने भूमिकर के सम्बन्ध में एक ऐसी न्यायपूर्ण व लाभकारी नीति का संचालन किया जिसका उद्देश ख़ल्जी काल की अव्यवस्था व अन्याय के फलस्वरूप ग्रामीण जनता की हीन अवस्था को

दूर करके उनको फिर से सुखी बनाना था अर्थात् खेती-बाड़ी में वृद्धि करके राजा व प्रजा दोनों का ही श्रेय सिद्ध करना था। अपने अल्पकालीन शासन-काल में ग़यास तुग़लक़ इस नीति के उद्देश की पूर्ति में कहाँ तक सफल हुआ इसका अनुमान करना कठिन है।

**खुसरू खाँ द्वारा लुटाए हुए धन की वापसी**—राजकीय कोष में आवश्यक धनराशि प्राप्त करने के अभिप्राय से तुग़लक़शाह ने लगभग दो वर्ष तक उस सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो खुसरू खाँ ने सहायता व सहानुभूति प्राप्त करने के लिए लुटा दी थी और वह भी जिसे अराजकता के समय लोगों ने लूट लिया था। इस लूट के कारण राजकोष खाली हो गया था। अतएव सुलतान ने इस सम्पत्ति को लौटाने के हेतु बड़ी कठोरता से काम लिया। तुग़लकशाह ने अपने दीवान के द्वारा उन सब लोगों से जिनके पास राजकोष का धन इस प्रकार पहुँचा था, वसूल करने में हर प्रकार की कोशिश की। यह लोग तीन वर्गों के थे। पहले वे जो धर्मनिष्ठ तथा ईश्वर से भय माननेवाले थे। उन्होंने उपर्युक्त धन बिना हील-हुज्जत लौटा दिया। दूसरे वे जो लोभी थे और हर प्रकार के हथकण्डों के द्वारा धन वापस करने से बच जाना चाहते थे। उनके साथ अत्यन्त कठोरता का बरताव किया गया और किसी को भी क्षमा न किया गया। तीसरे वर्ग के लोग लालची व लुटेरे आदि थे जिनको दुराचार से भय न लगता था। उन्हें अपमानित होने तथा कष्ट सहने का भी डर न था। वे सुलतान को बुरा-भला भी कहते थे। इनकी संख्या बहुत बड़ी थी। इनके विषय में आदेश दिया गया कि इनसे कठोरता, निष्ठुरता, मारपीट एवं बन्दीगृह में डालकर धन वसूल किया जाए।

**तुग़लक़शाह का मध्य मार्ग**—तुग़लक़शाह के बारे में बरनी ने बड़े विस्तार से यह समझाने का प्रयत्न किया है कि उसकी शासन-नीति एक बीच के मार्ग पर अवलम्बित थी। वह निरा आदर्शवादी नहीं था प्रत्युत उसमें एक योग्य कार्य-कुशल शासक के गुण थे। और वह राज्य के प्रत्येक विभाग को एक क्रियात्मक दृष्टि से ही उन्नत करने की चेष्टा करता था। यह बात प्रायः सत्य जान पड़ती है कि ग़यास तुग़लक़ का बेटा मुहम्मद तुग़लक़ जितना आदर्शवादी तथा नई-नई योजनाओं के परीक्षण में रुचि रखनेवाला था, उसके प्रतिकूल उतना ही ग़यास तुग़लक यथार्थवादी तथा वास्तविक समस्याओं को एक क्रियाशील कुशल शासक के सदृश हल करने वाला था। जिया बरनी के सामने यह दो प्रतिकूल चित्र थे और वह अपने अन्य साथियों के समान मुहम्मद तुग़लक़ की नई योजनाओं से सर्वथा हतबुद्धि होकर उनको बहुत ही भयानक क्रांति के रूप में देखता था। दूसरी ओर ग़यास तुग़लक की धर्मपरायणता व कट्टरपन और शासन में क्रियाकुशल नीति उसे अत्युत्तम व सराहनीय दीख पड़ती थी। अतएव वह तुग़लक़शाह की दान करने की नीति को बड़े विस्तार से लिखता है जिसका सारांश यह है कि तुग़लक़शाह केवल सुपात्रों को ही दान देता था और शरियत के विरुद्ध कोई काम न करता था। वह फराऊन

सरीखे निरंकुश बादशाहों के समान अनुचित रूप से लाखों न बाँटता था ताकि धन का दुरुपयोग न हो। वह बहुत-सा धन थोड़े से लोगों को देने के बजाय थोड़ा-थोड़ा धन बहुत से लोगों को बाँटता था ताकि न पानेवाले पानेवालों से ईर्ष्या न करने लगें। प्रत्येक सुअवसर पर वह समस्त गण्य-मान्य व्यक्तियों, विद्वानों, धार्मिक नेताओं, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को उनकी आवश्यकतानुसार दान देता था।

**अन्य सुधार**—देश की कृषि, व्यवसाय तथा व्यापार की उन्नति के लिए उसने आने-जाने के साधन सड़कों आदि को बहुत उन्नत किया। सड़कें साफ़ करवा कर किले, पुल आदि बनवाए और टूटे-फूटे भवनों की मरम्मत कराई। आवश्यकतानुसार नहरें भी बनवाना शुरू कीं। विशेषरूप से उसने डाक के प्रबन्ध को फिर से उत्तम बनाया। डाक पैदल दौड़नेवाले लोगों तथा घुड़सवारों के द्वारा भेजी जाती थी और थोड़े-थोड़े फासलों पर चौकियाँ थीं जहाँ दौड़नेवाले बदल दिए जाते थे। इस प्रकार १२ घंटे में १०० मील तक डाक पहुँच जाती थी।

ग़यास तुग़लक़ ने न्याय-विभाग में भी सुधार किए क्योंकि पिछले अराजकता के काल में न्याय-विभाग का कार्य भी अव्यवस्थित हो गया था। दण्ड-विधान की कठोरता को उसने कुछ नरम किया। सरकारी ऋण वसूल करने के लिए शारीरिक यंत्रणाओं का प्रयोग बन्द कर दिया यद्यपि इस प्रकार के दण्ड चोरों तथा भूमिकर न देनेवालों और सरकारी धन के अपहरणकर्त्ताओं को दिए जाते रहे। तथापि ग़यास तुग़लक की संकीर्ण धार्मिक नीति के कारण उसके रचनात्मक शासन का सद्प्रभाव बहुत हद तक नष्ट हो गया होगा ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा क्योंकि अलाउद्दीन खल्जी के समान उसने भी हिन्दुओं को यथासम्भव निर्धन बनाने की नीति का ही अनुकरण किया।

**सेना में सुधार**—सेना-विभाग में भी ग़यास तुग़लक ने इसी प्रकार सुधार किए। बरनी का कहना है कि वह अपनी सेना के प्रति वैसा ही प्रेम तथा वात्सल्य का भाव रखता था जैसा माता-पिता अपने बच्चों के साथ रखते हैं। वह उनके वेतन के हिसाब का बराबर निरीक्षण करता था ताकि कोई अमीर अथवा अन्य अधिकारी उनके वेतन में से एक कौड़ी भी कम न कर सके और सेना मंत्रालय (दीवाने अर्ज़ ममालिक) में कोई उनसे किसी प्रकार की घूस आदि की आशा न करे। वह सिपाहियों तथा उनके परिवारों की कठिनाइयों तथा कष्टों को भली-भाँति समझता था और उन्हें सुखी रखने का पूरा प्रयत्न करता था। राजगद्दी पर बैठने के उपरांत उसने ख्वाजा हाजी सिराजुलमुल्क को नायब अर्ज़े ममालिक अर्थात् सेना मंत्रालय का उपमंत्री नियुक्त किया और उसके प्रबन्ध का उत्तरदायित्व उस पर रखा। जिस प्रकार अलाई राज्य-काल में हुलिया (सैनिकों का शारीरिक ब्यौरा), धनुषविद्या की परीक्षा, घोड़ों के दाग़ आदि के सम्बन्ध नियम बनाए गए थे, उसी प्रकार ग़यास तुग़लक़ ने भी नियम प्रसारित किए। उसने यह आदेश दिया कि युद्ध से मुँह छिपानेवालों को अत्यन्त कठोर दण्ड दिए जाएँ।

खुसरू खाँ ने जिन सैनिकों को उनसे सहायता प्राप्त करने के लिए बहुत-सा धन बाँट दिया था उसमें से तुग़लक़शाह ने एक साल का वेतन कटवा लिया। बाकी के लिए उसने आज्ञा दी कि वह पेशगी के रूप में समझा जाए और उनके वेतनों से धीरे-धीरे वसूल कर लिया जाए। लूट में प्राप्त हुई सम्पत्ति को उसने फौरन वापस ले लिया। एक आवश्यक सुधार तुग़लक़शाह ने यह किया कि सेना को अपनी देख-रेख में नकद वेतन देने की प्रथा प्रचलित की जिसमें वह कभी कमी न होने देता था। ख़ल्जी काल में जो कुछ धन-सम्पत्ति अथवा भूमि आदि लापरवाही से लुटा दी गयी थी उस सबको भी सुलतान ने वापस ले लिया।

**तुग़लक़शाह का साम्राज्यवाद**—अपने पूर्वजों के सदृश तुग़लक़शाह भी पूर्ण-रूप से साम्राज्यवादी था और जिन दक्षिण प्रदेशों पर ख़ल्जी काल में आक्रमण किए जा चुके थे उनको पूरी तरह जीतकर दिल्ली साम्राज्य में संयुक्त कर लेना उसकी विस्तार-नीति का परम उद्देश था। तुग़लक़शाह की दक्षिण-नीति व चढ़ाइयों का वृत्तांत फ़िरिश्ता ने विस्तार से दिया है। उसके कथन से साफ सिद्ध होता है कि दक्षिण के राजाओं ने दिल्ली सुलतान के आधिपत्य के जुए को उतार फेंका था और राजकर भी देना बन्द कर दिया था। ऐसा भी जान पड़ता है कि उन्होंने मुसलमानों को उन स्थानों से निकाल दिया था जिन पर वे अपना अधिकार स्थापित कर चुके थे। इन स्थानों में भद्रकोट विशेष उल्लेखनीय है। १३१८ में प्रतापरुद्र काकतीय ने खुसरू खाँ को भद्रकोट नामक गढ़, जो मराठा देश की सीमा पर स्थित था, एक संधि के द्वारा दे दिया था परन्तु दिल्ली की दुर्दशा का समाचार पाते ही उसने तुरन्त उस गढ़ पर फिर अधिकार करके उसकी मुस्लिम सेना को मार भगाया था। इसी प्रकार मराठा देश के अन्य स्थानों में भी दिल्ली सुलतान के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी थी। तुग़लकशाह ने खुसरू द्वारा नियुक्त दक्षिण के सूबेदार आइनुल्मुल्क को हटाकर उसके स्थान पर अपने पुत्र महमूदखाँ को भेजा क्योंकि सम्भवतः वह खुसरू के नियुक्त किए हुए पदाधिकारी पर भरोसा नहीं कर सकता था, ना ही उसने यह उचित समझा कि दक्षिण जैसे दूरवर्ती प्रदेश में किसी ऐसे राज्य को रहने दिया जाए जो केवल राजकर अदा करने के अतिरिक्त सर्वथा स्वतन्त्र हो। अतएव ग़यास तुग़लक ने दक्षिण-नीति को मौलिक रूप से परिवर्तित करके निश्चय किया कि दक्षिण का सारा प्रदेश जीतकर साम्राज्य में मिला लिया जाए।

**वरंगल (तिलंगाना) पर चढ़ाई**—उत्तरी भारत की शासन-व्यवस्था को ठीक करके और अपनी सत्ता पूरी तरह स्थापित करके १३२१ में सुलतान गयासुद्दीन ने दक्षिण पर चढ़ाई करने के हेतु बदायूं, अवध, कड़ा, दालमऊ, चंदेरी आदि स्थानों से एक बड़ी सेना एकत्रित करके अपने बड़े बेटे उलुग़खाँ के संचालन में तिलंगाना पर चढ़ाई करके मआबर (चोलमंडल तट) तक का प्रदेश विजित करने के लिए भेजी। उसकी सहायता के लिए और कई अनुभवी सैनिक उसके साथ भेजे। दो महीने की यात्रा करके यह सेना देवगिरि पहुँची। वहाँ मराठा देश

में स्थित बादशाही सेना भी उससे आकर मिल गई। इस सेना ने प्रतापरुद्र को पछाड़ा और वह पीछे हटता हुआ अपनी राजधानी तक पहुँच गया। वहाँ पर प्रताप-रुद्र ने बड़ी दृढ़ता से बादशाही सेना का मुकाबला किया। इसी समय मुसलमानों की एक सेना ने अबूरिजा के संचालन में कोटगिरि के क़िले का घेरा डाला। संभव है कि इसी प्रकार अन्य क़िलों पर भी आक्रमण किया गया हो। वरंगल का घेरा आठ महीने तक चलता रहा किन्तु तब भी सुलतान की सेना को कोई सफलता प्राप्त न हुई। युद्ध की सामग्री एकत्रित करने के लिए उलुग़ख़ाँ ने अपने कुछ अमीरों को आदेश दिया कि वे तिलंग प्रदेश को विध्वंस करके इस्लामी सेना के लिए आवश्यक सामग्री तथा खान-पान आदि की वस्तुएँ लूट कर लाएँ। इस सेना की लूट-मार से उलुग़ख़ाँ के शिविर में भोजन-सामग्री काफी मात्रा में पहुँचने लगी जिससे वह घेरे के काम को बड़ी तत्परता से कर सके। इस घटना के सम्बन्ध में मुख्यतया चार लेखकों के वृत्तान्त मिलते हैं जिनमें परस्पर बहुत भेद है। ज़िया बरनी कहता है कि मुहम्मद तुग़लक़ की हार इस अवसर पर उसके दो साथियों अर्थात् कवि उबैद और शेख़ज़ादा दमश्की के कपटपूर्ण व्यवहार के कारण हुई। जब प्रतापरुद्रदेव ने हार मानकर संधि की बातचीत शुरू कर दी थी और यह बातचीत कोई एक मास तक चलती रही, मुसलमानी सेना की हिम्मत टूट गयी क्योंकि डाक-व्यवस्था में कुछ रुकावट हो जाने के कारण दिल्ली से उनको कोई ख़बर न मिल सकी थी। सबके मन में बड़ी बेचैनी व आशंका पैदा हो गई थी। इस परिस्थिति में उबैद और दमश्की ने सुलतान के मरने की झूठी ख़बर उड़ा दी और साथ ही कुछ बड़े-बड़े मलिकों को यह कह दिया कि उलुग़ख़ाँ उनको क़त्ल करना चाहता है क्योंकि शायद वे उसके बादशाह बनने में रुकावट डालेंगे। यह सूचना पाकर वे लोग शिविर से भाग निकले और सेना में बड़ी खलबली मच गई। इसका फ़ायदा उठाकर हिन्दू सेना मुसलमानों पर टूट पड़ी और उलुग़ख़ाँ को अपनी रक्षा के लिए देवगिरि तक पीछे हटना पड़ा। परन्तु तारीखे मुबारक-शाही के लेखक याहिया-बिन-अहमद के अनुसार उबैद और दमश्की का उद्देश उलुग़ख़ाँ की सेना में केवल विद्रोह कराना ही नहीं था वरन उसको क़त्ल भी कर डालना था। अफरीका का यात्री इब्नबतूता, जो इस घटना के कई वर्ष बाद भारतवर्ष आया था, लिखता है कि उबैद को उलुग़ख़ाँ ने स्वयं सुलतान की मौत की ख़बर फैलाने के लिए आदेश दिया था क्योंकि उसे आशा थी कि यह ख़बर पाते ही सेना उसको बादशाह स्वीकार कर लेगी। परन्तु उसकी यह युक्ति उल्टी पड़ी। सुलतान की मौत की ख़बर पाकर सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और उलुग़ख़ाँ को मार डालना चाहा। परन्तु मलिक तीमूर की सहायता से वह बचकर दिल्ली पहुँचा। ग़यास तुग़लक़ ने उसको क्षमा कर दिया और फिर बहुत सा धन तथा सेना देकर वापस भेजा। यह वृत्तान्त भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता क्योंकि तुग़लकशाह जैसा अनुभवी तथा कठोर सेनानी कभी भी इस प्रकार की भूल नहीं

कर सकता था। चौथा विवरण ऐसामी का है जो दक्षिण का रहनेवाला था और इस कारण उसको वास्तविक घटनाओं के जानने का अधिक अवसर था। वह कहता है कि उलुग़ख़ाँ ने वरंगल प्रदेश में घुसते ही चारों ओर लूटमार आरम्भ कर दी किन्तु छः महीने तक उसकी सेना को वरंगल के किले के लेने में कोई सफलता प्राप्त न हुई। इससे सुलतान शंकित हो गया और उसने उलुग़ख़ाँ को बड़े आग्रह-पूर्ण पत्रों में डाँटकर लिखा कि उसकी असफलता का कारण उसकी उदासीनता है। उलुग़ख़ाँ ने सुलतान के क्रोध से डर कर अपने ज्योतिषी उबैद से पूछा कि कब तक वरंगल उसके अधिकार में आएगा? उबैद ने उलुग़ख़ाँ को बतलाया कि कौन से दिन क़िला उसके अधिकार में आएगा। परन्तु जब अन्तिम समय तक क़िले के विजित होने का कोई चिह्न न दीख पड़ा तो उसने अपनी जान बचाने के विचार से सेना में उपद्रव उठाने का प्रयत्न किया। उसने सेना के सर्वोच्च नेताओं तीमूर व तिग़ीन से चुपके से कह दिया कि दिल्ली में सुलतान की मृत्यु हो गई है और उलुग़-ख़ाँ इस सूचना को इसलिए छिपाए हुए है कि वह उनको मार डालना चाहता है। इस खबर से भयभीत होकर तीमूर व तिग़ीन व अन्य बहुत से सैनिक उलुग़ख़ाँ को छोड़कर वापस लौटने पर आमादा हो गए। इनके विद्रोह के कारण शिविर में ऐसी खलबली मची कि उलुग़ख़ाँ ने बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाई।

इन विभिन्न वृत्तांतों में कौनसा प्रामाणिक और सत्य माना जाए, यह निश्चय करना बहुत कठिन है। यद्यपि जैसा कहा जा चुका है, ऐसामी घटनास्थल के निकट था और इस कारण उसको सच्ची घटना जानने का अधिक अवसर था। जो हो, यह निश्चय जान पड़ता है कि उबैद की साज़िश और झूठी खबरें उड़ाने के कारण ही उलुग़ख़ाँ को वरंगल का घेरा उठाने पर विवश होना पड़ा।

उलुग़ख़ाँ जब अपनी थोड़ी सी सेना के साथ देवगिरि की तरफ भाग रहा था तो प्रतापरुद्रदेव ने क़िले से निकलकर उसका पीछा किया और उसकी सेना का सामान लूट लिया। उलुग़ख़ाँ बड़ी कठिनाई से बचकर देवगिरि पहुँचा। प्रताप-रुद्रदेव की सेना ने उलुग़ख़ाँ की भागती हुई सेना में से बहुतों को कत्ल कर डाला। देवगिरि के मार्ग में उलुग़ख़ाँ ने विद्रोही सैनिकों को जा पकड़ा और उनसे समझौता करके इस प्रकार पीछे हटने की योजना बनायी कि दोनों सेनाएँ हिन्दुओं के प्रहारों से बच जाएँ। जब वह कोटगीर के क़िले तक पहुँचा तो मजीर अबू रिजा, जो उस क़िले का घेरा डाले हुए था, उसकी सहायता के लिए आ गया और इस प्रकार सुरक्षित होकर वह देवगिरि लौटा। साथ ही मजीर ने विद्रोहियों को पकड़ने की चेष्टा की। इस काम में देवगिरि के ज़मींदारों ने अपनी-अपनी सेना के साथ मजीर की बहुत सहायता की। जब इन विद्रोहियों ने देखा कि अब उनके बचने की कोई सूरत नहीं है तब उन्होंने भागने की कोशिश की किन्तु फिर भी उनमें से बहुत से मारे गए और बहुत से बंदी कर लिए गए। तिग़ीन और तीमूर भी मार डाले गए। उबैद वगैरह कैदी बनाकर उलुग़ख़ाँ के पास देवगिरि भेज दिए गए।

पूछ-ताछ करने के बाद जो लोग इस षड्यंत्र के ज़िम्मेवार सिद्ध हुए उनको बड़ी सावधानी के साथ दिल्ली भेज दिया गया। सुलतान ग़यासुद्दीन ने शहरे सीरी के चौक में उनको अपने सामने बुलवाया। फ़िरिश्ता कहता है कि उन लोगों को ज़िन्दा ज़मीन में गड़वा दिया गया। किन्तु इब्नबतूता व बरनी के अनुसार उबैद व उसके साथियों को जीते-जी सूली पर चढ़वा दिया गया। ऐसामी के अनुसार विद्रोहियों को इतने भयावह दण्ड दिए गए कि बहुत दिन तक दिल्ली के लोग उनको भूल न सके।

इस अवसर पर ग़यास तुग़लक़ ने भी विद्रोहियों के परिवार तथा सम्बन्धियों के साथ वैसा ही बरताव किया जैसा गुजरात की चढ़ाई के समय विद्रोहियों के परिवारों से अलाउद्दीन ख़लजी ने किया था। विद्रोहियों को अत्यन्त कठोर यातनाओं से क़त्ल करके सुलतान का क्रोध शान्त न हुआ। उसका पूरा आतंक उनके सम्बन्धियों पर भी उतरा। यह निरपराधी जहाँ-जहाँ रहते थे, अपने घरों से ज़बरदस्ती दिल्ली बुलवाए गए और हाथियों के पाँवों तले कुचलवाए गए तथा अन्य प्रकार के हृदयविदारक दण्ड देकर मार डाले गए। सुलतान का इस विद्रोह को इतने भयानक तथा निर्दय ढंग से दमन करने का उद्देश यह था कि भविष्य में फिर कोई राजविद्रोह करने का नाम लेने की भी हिम्मत न करे। किन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि मौलिक रूप से इन सुलतानों के चरित्रों में कोई भिन्नता नहीं थी। ग़यास, बलबन, अलाउद्दीन ख़ल्जी, ग़यास तुग़लक़ एवं उसका पुत्र मुहम्मद तुग़लक सभी एक थैली के चट्टे-बट्टे थे। अवसर आने पर इनमें से कोई भी ऐसा न था जो अत्यन्त निकृष्ट नृशंसता तथा हृदयहीनता का व्यवहार अपनी निहत्थी व निरपराध प्रजा पर भी करने से हिचकिचाए।

**तिलंगाना की दूसरी चढ़ाई**—तिलंगाना की पहली चढ़ाई की असफलता ने सुलतान को निरुत्साह नहीं किया। प्रत्युत उसका संकल्प और भी दृढ़ हो गया। कुछ तत्कालीन लेखकों के अनुसार उलुग़ख़ाँ ने दिल्ली आकर अपनी असफलता के कारण सुलतान को बतलाए और सुलतान ने संतुष्ट होकर उसे फिर से एक बड़ी सेना के साथ तिलंगाना को जीतने के लिए भेजा। ऐसामी के अनुसार उलुग़ख़ाँ नई सहायक सेना के पहुँचने तक देवगिरि में ही चार महीने तक ठहरा रहा। इस सूचना से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उत्तरी भारत के हिन्दू नरेशों के समान ही दक्षिण के हिन्दू राजा भी कितने प्रमादी तथा विवेकहीन हो गए थे कि वे उलुग़ख़ाँ के चार महीने तक इस प्रकार देवगिरि में पड़े रहने पर भी उसको चारों ओर से घेरकर नष्ट न कर सके। जैसे ग़ज़नी के तुर्की आक्रमणों के समय उत्तरी भारत के राजपूत शासक अपने-अपने स्थानों पर सोते रहते थे, ठीक उसी प्रकार के राजनीतिक व्यवहार का प्रदर्शन दक्षिण के नृपतियों ने किया। इन लोगों की राजनीतिक अदूरदर्शिता व शिथिलता की समानता केवल आकस्मिक नहीं समझी जा सकती।

वह एक मौलिक रोग की ओर निर्देश करता है जिसके जाल में समस्त हिन्दू जाति उस समय ग्रसित हो चुकी थी ।

ज्योंही दिल्ली से सहायक सेना देवगिरि पहुँची, उलुग़ख़ाँ ने तिलंगाना की तरफ़ कूच कर दिया और बीदर के किले को, जो उस राज्य की सीमा पर था, अधिकार में करके मार्ग में अन्य किलों को लेता हुआ आगे बढ़ा । और इन क़िलों में अपनी सेना छोड़ता गया । फिर उसने बोधन के किले का घेरा डालकर अन्त में उसके हिन्दू शासक तथा जनता को मुसलमान बनाया और आगे बढ़कर वरंगल पहुँचा । जान पड़ता है कि इस सारे अवकाश में वरंगल का राजा निस्तेज होकर बैठा रहा और उसने उलुग़ख़ाँ के हाथों से अपने देश के किलों आदि की रक्षा करने की कोई योजना अथवा चेष्टा नहीं की । ना ही दक्षिण के अन्य किसी हिन्दू राजा ने यह सोचा कि सब एकत्र होकर इस बढ़ती हुई बाढ़ को, जो उन सभी को डुबा देनेवाली थी, रोकें ।

वरंगल के दूसरे घेरे के बारे में समकालीन लेखकों ने संक्षेप से यह उल्लेख किया है कि उलुग़ख़ाँ ने लगभग पाँच महीने के घेरे के बाद वरंगल के दोनों किलों को अधिकृत कर लिया । इसका मुख्य कारण प्रतापरुद्रदेव की अत्यन्त राजनीतिक मूर्खता थी । उलुग़ख़ाँ के लौटते ही उसने समझ लिया कि मुसलमान उसके देश पर फिर कभी आक्रमण न कर सकेंगे । अपनी विजय के उपलक्ष में उसने भारी सहभोज किया और किले के अनाज तथा अन्य खाने-पीने की चीजों के कोठारों को बेच डाला । इतना ही नहीं उसने अपनी प्रजा को आदेश दिया कि युद्ध की तैयारी छोड़कर खेती-बाड़ी के काम में लग जाएँ । इससे सिद्ध होता है कि राजा को मुसलमानों के हमले की तनिक भी शंका न रह गयी थी । यह कितनी गहरी भूल थी यह इस बात से स्पष्ट है कि उलुग़ख़ाँ देवगिरि में ठहरा हुआ दिल्ली की नयी सेना की प्रतीक्षा कर रहा था ।

जब प्रतापरुद्रदेव पर उलुग़ख़ाँ दुबारा अकस्मात् चढ़ आया तो वह इतना निश्चिन्त था कि अपनी सुरक्षा के लिए किसी प्रकार भी तैयार न था । इस संकट में उसने और कोई चारा न देखकर अपने को किले में बन्द कर लिया और यद्यपि कई महीने तक वह शत्रु का मुकाबला करता रहा, अन्त में खाने-पीने का सामान समाप्त हो जाने के कारण उसे हार माननी पड़ी । उसने उलुग़ख़ाँ से अपनी रक्षा का वचन लेकर उसको किला सौंप दिया । मुसलमानों ने किले के अन्दर घुसकर बड़ी निर्दयता से निहत्थी जनता को लूटा और बड़े-बड़े भवनों व मंदिरों को विध्वंस कर दिया । उलुग़ख़ाँ ने बहुत ही जल्दी रुद्रदेव व उसके साथी सम्बन्धियों को दिल्ली भिजवा दिया किन्तु वह दिल्ली पहुँचने से पहले ही परलोक सिधारा । जान पड़ता है कि उसने मानहानि से बचने के लिए आत्महत्या करली ।

**काकतीय राज्य पर अधिकार करना**—प्रतापरुद्रदेव के परास्त होने और मारे जाने पर भी समस्त काकतीय राज्य मुसलमानों के अधिकार में न आया । ऐसामी के

कथन से यह जान पड़ता है कि आन्ध्र देश के दक्षिण-पश्चिम के ज़िले अन्य तेलुगु शासकों के अधिकार में थे। एक कनाड़ी इतिहास के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तपुर तथा बलारी आदि के प्रदेश उलुग़ख़ाँ के आक्रमण के बाद में जीते गए होंगे। इसी प्रकार समुद्र-तट के प्रदेश बंगाल की खाड़ी तक मुहम्मद तुग़लक़ के काल में अधिकृत किए गए जान पड़ते हैं। मुहम्मद तुग़लक के प्रान्तीय शासक सालार अलवी का १३२४ में राजमन्द्री नगर में स्थापित होना यह संकेत करता है कि वह प्रदेश ग़यास तुग़लक़ के समय में नहीं जीता गया था। सालार अलवी ने अपने शासन में उदार नीति का अनुकरण किया जान पड़ता है। उसने स्थानीय हिन्दू सामन्तों के साथ मित्रता का व्यवहार करके उनको अपना सहायक बना लिया। प्रतापरुद्र के दरबार के कुछ हिन्दू पदाधिकारियों को उसने अपने-अपने स्थानों पर राज्य करने दिया; केवल इस शर्त पर कि वे उसको वार्षिक राजकर देते रहें। इसके अतिरिक्त उसने काकतीय राज्य के कई मंत्रियों को भी अपना मित्र बनाया और उनसे बहुत उत्तम बरताव किया। उसकी इस नीति का परिणाम यह हुआ कि उसके आस-पास के सरदार व सामन्तगण सबने उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया और राजकर देना भी मान लिया।

## मआबर की विजय

कुछ आधुनिक लेखकों ने मआबर शब्द का अर्थ 'मलाबार' समझ लिया है। परन्तु यह सर्वथा भ्रान्त है। मआबर अरबी का शब्द है जिसका अर्थ है घाट अथवा किसी जलाशय का वह किनारा जहाँ से उसके पार जाने के लिए नावें इत्यादि चलती हैं। मुसलमान लेखक चोलमण्डल (आधुनिक कोरोमंडल तट) को मआबर कहते थे। यह तटवर्ती प्रदेश मलिक काफ़ूर व ख़ुसरु द्वारा लूटा जा चुका था किन्तु अभी तक स्वतंत्र था। एक लेखक के अनुसार सन् १३२१ में उलुग़ख़ाँ को उसके पिता ने मआबर पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी थी। जान पड़ता है कि उलुग़ख़ाँ यह कार्य १३२३ में वरंगल को अधिकृत करने के बाद ही कर पाया। पाण्ड्य राज्य के विवरण से पता चलता है कि मआबर की जीत लगभग १३२३ ही में हुई थी। उस समय मदुरा में पराक्रमदेव राज्य कर रहा था। मुस्लिम आक्रामक ने उस राजा को बन्दी करके दिल्ली पहुँचा दिया और उसके देश पर अधिकार कर लिया। पाण्ड्य लेखों से भी इस कथन की पुष्टि होती है। इनके अनुसार पराक्रमदेव का राज्य टिनेवेली, मदुरा, रामनद, तंजौर तथा पुडूकोटा पर था। पुडूकोटा राज्य के सन् १३३२ के एक शिलालेख से विदित होता है कि उस समय समस्त मआबर प्रदेश पर मुस्लिम राज्य स्थापित हो चुका था।

**जाजनगर पर चढ़ाई**—सन् १३२४ के अन्दर उलुग़ख़ाँ ने वरंगल से जाजनगर अर्थात् उड़ीसा पर चढ़ाई कर दी। वरंगल से चलकर उसने गोदावरी के तटस्थ राजमन्द्री पर अधिकार किया और वहाँ एक मस्जिद बनवायी। यहाँ से वह उत्तर-

पूर्व की ओर बिना रोकटोक उड़ीसा तक पहुँच गया। स्थानीय राजा गजपति वीर भानुदेव द्वितीय ने उसको पीछे हटाने का प्रयत्न किया। उसने तुरन्त तलवार और भालों से सुसज्जित चालीस हज़ार पैदल सेना, पाँच सौ घुड़सवार और हाथियों की एक टुकड़ी एकत्रित करके अपने एक सामन्त को आक्रामक का विरोध करने के लिए अपनी सीमा पर भेजा। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ परन्तु हिन्दुओं की हार हुई, बहुत से मारे गए और बाकी भाग निकले। उलुग़ख़ाँ की सेना ने हिन्दू शिविर को जी भर कर लूटा और उनके हाथियों को पकड़कर दिल्ली भिजवा दिया। इसके बाद वह तुरन्त वरंगल लौट आया। बरनी आदि लेखक इस विषय में कुछ नहीं बतलाते कि उलुग़ख़ाँ इतनी बड़ी सफलता मिलने पर भी क्यों तुरत वापस लौट आया। जान पड़ता है कि इस चढ़ाई का उद्देश केवल उड़ीसा के प्रसिद्ध हाथियों को दिल्ली सेना के लिए पकड़ना ही था न कि उस प्रान्त पर अधिकार करना। इस घटना के बाद सुलतान ने उलुग़ख़ाँ को शासन-कार्य संभालने के लिए दिल्ली बुला भेजा क्योंकि वह स्वयं बंगाल पर चढ़ाई करने जाना चाहता था।

**लखनौती (गौड़), सुनारगाँव व सतगाँव पर चढ़ाई**—वरंगल और जाजनगर की विजय से बहुत-सा धन, कई सौ हाथी और अन्य सामग्री तुग़लक़शाह को प्राप्त हुई। इसी समय उत्तर-पश्चिम सीमा पर मुग़लों का एक आक्रमण हुआ किन्तु बादशाह की सेना ने उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया और उनके सरदारों को बंदी बनाकर दिल्ली भेज दिया। सुलतान ग़यासुद्दीन राजधानी को पुरानी दिल्ली से तुग़लक़ाबाद में ले गया था। इस विशाल दुर्ग के अन्दर सब बड़े-बड़े अमीर, मलिक तथा उच्च पदाधिकारी एवं अन्य प्रतिष्ठित लोग भी अपने परिवारों-सहित जा बसे थे। उसी समय लखनौती के कुछ अमीर वहाँ के शासकों के अत्याचार से तंग आकर सुलतान के पास फ़रियाद लेकर पहुँचे। तुग़लक़शाह ने तुरत लखनौती पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। उलुग़ख़ाँ (मुहम्मद) को फौरन वरंगल से बुलाकर अपना नायब नियुक्त किया और केन्द्रीय शासन का पूर्ण अधिकार उसे सौंपकर स्वयं सेना लेकर लखनौती की ओर चल पड़ा। बड़ी-बड़ी नदियों तथा पूर्वी प्रदेश के दलदल व कीचड़ से भरे मार्गों को अत्यन्त सावधानी से पार करके वह तिरहूत पहुँचा। उसका वैभव व दबदबा इतना बड़ा था कि लखनौती के सुलतान नासरुद्दीन ने तुरन्त उसके सामने आकर अपनी दासता का विश्वास दिलाया। उस प्रदेश के अन्य छोटे-बड़े शासक भी बिना युद्ध किए उसकी सेवा में आ गए। जफ़राबाद की अक़्ता का शासक तातारखाँ सेना के साथ, बादशाह की आज्ञानुसार आगे बढ़ा और सुनारगाँव (ढाका) के शासक को पकड़कर सुलतान की सेवा में लाया। बहुत-सी लूटमार द्वारा प्राप्त हुई धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त वहाँ के सैकड़ों हाथी भी सुलतान के अधिकार में आ गए। तुग़लक़शाह ने लखनौती के शासक नासरुद्दीन का समुचित आदर किया और उसका प्रान्त उसे वापस कर दिया। इसके अतिरिक्त सुनारगाँव व सतगाँव पर भी पूरी तरह अधिकार करके तुग़लक़शाह राजधानी की ओर वापस लौटा। पूर्वी प्रदेशों की

विजय की सूचना पहुँचने पर राजधानी में बड़े समारोह हुए और खुशियाँ मनायी गईं। लौटते समय बादशाह सेना को पीछे छोड़कर बहुत तीव्रगति से राजधानी लौट आया।

**ग़यासुद्दीन तुग़लक़शाह की मृत्यु**—जब सुलतान राजधानी के निकट पहुँचा तो उसके पुत्र जूनाख़ाँ ने तुग़लक़ाबाद से तीन-चार कोस पर अफ़ग़ानपुर के निकट अपने पिता के स्वागत के लिए एक छोटा सा काठ का महल बनवाया और उसको बड़े ठाट-बाट से सुसज्जित किया। सुलतान तुग़लक़शाह सायंकाल के समय उस महल में आकर उतरा और सुलतान मुहम्मद अपने समस्त दरबारियों को लेकर उसका स्वागत करने के लिए वहाँ पहुँचा। रात्रि के समय जब वह अमीरों के साथ भोजन समाप्त कर चुका, अन्य अमीर हाथ-मुँह धोने के लिए बाहर निकल आए। सुलतान वहीं बैठा रह गया। उसी समय उसके स्वागत के लिए बड़े-बड़े हाथियों की एक टुकड़ी उस महल के सामने दौड़ाई गई और इनमें से कुछ महल के बाहर निकले हुए शहतीरों से टकरा गए जिसके कारण उसकी छत टूट पड़ी और सुलतान, उसका छोटा लड़का तथा दो-चार अमीर जो उसके अन्दर थे, सब दबकर मर गए। ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनको निकालने में कोई जल्दी न की गयी। कतिपय आधुनिक लेखकों ने बहुत सा समय तथा तर्क यह सिद्ध करने पर खर्च किया है कि यह घटना आकस्मिक थी और मुहम्मद तुग़लक़ का इसमें कोई हाथ नहीं था। दूसरी ओर ऐसे प्रमाण भी काफ़ी हैं जिनसे इस मत की बहुत पुष्टि होती कि मुहम्मद तुग़लक़ ने जान-बूझकर बूढ़े सुलतान को मारने के लिए उसके स्वागत का यह अनोखा स्वाँग रचा था। तथापि यह प्रश्न विवादग्रस्त ही रहेगा। इतिहास के मौलिक प्रवाह अथवा महती समस्याओं पर ऐसी छोटी-छोटी अनेक घटनाओं का इतना महत्व कदापि नहीं हैं जैसा कि डा० मेहदी हुसैन ने उसे प्रदान किया है। हाँ, इस प्रकार के तुच्छ प्रश्न कुछ लोगों को अपनी तार्किक बुद्धि को पैनाने का और अपने मन का संतोष करने का अवसर प्रदान करते हैं।

●

पन्द्रह

# सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ : साम्राज्य के नवीन संगठन का प्रयत्न

## (१)

## पूर्वार्द्ध

**मुहम्मद तुग़लक़ के इतिहास के स्रोत**—मुहम्मद तुग़लक़ के राजत्वकाल का विवरण बरनी के अतिरिक्त ऐसामी, तांजीर (उत्तर अफ्रीका) का निवासी इब्न-बतूता, मसालिकुल-अबसार फी ममालकुल अमसार का लेखक शहाबुद्दीन अलउमरी तथा मुग़लकालीन लेखक बदायूंनी व फ़िरिश्ता के ग्रन्थों में पाया जाता है। ज़िया बरनी ने मुहम्मद तुग़लक के राज्यकाल का उल्लेख कालक्रम के अनुसार नहीं किया है। उसने अपने वृत्तान्त को विभिन्न विषयों में बाँटा है अर्थात् सुलतान के चरित्र की समीक्षा, प्रारंभिक शासन-व्यवस्था, उसकी नवीन योजनाएँ, राज्य के विद्रोह तथा अशान्ति आदि। अतएव मुहम्मद तुग़लक के राजत्व काल का क्रमानुसार बयान करना बहुत कठिन है। इसके लिए हमें बाद के लेखकों का आश्रय लेना पड़ता है। बरनी की इस नवीन शैली का क्या कारण था और अन्य इतिहासकारों के विवरण की समीक्षा इस अध्याय के अन्त में की जाएगी।

**सुलतान मुहम्मद तुग़लक़ का चरित्र**—पिता के मरते ही उलुग़ख़ाँ ने सुलतान मुहम्मद-बिन-तुग़लक़ की उपाधि धारण कर ली और तुग़लक़ाबाद से चलकर वह दिल्ली आया और वहाँ के राजमहल में पुराने सुलतान के सिंहासन पर आसीन हुआ। उसकी आज्ञा से इस अवसर पर दिल्ली में बड़ी खुशियाँ मनायी गई। सारा नगर खूब सजाया गया और बहुत सा धन गरीबों को लुटाया गया। बरनी कहता है कि जिस समय सुलतान मुहम्मद अपने हाथी पर सवार होकर बदायूँ-द्वार में दाखिल हुआ, राजधानी के अमीर तथा विशिष्ट व्यक्ति हाथियों पर बैठकर सोने-चाँदी के टंकों से भरे हुए थालों में से मुट्ठियाँ भर-भर कर गलियों और बाजारों में फेंकते हुए निकले। नगर के स्त्री-पुरुष, छोटे बड़े सभी निवासी सुलतान मुहम्मद के लिए बड़े उच्च स्वर में प्रार्थना कर रहे थे। दिल्ली एक सुसज्जित उपवन के समान धन-धान्य तथा उल्लास से भरपूर होकर जगमगा उठी।

मुहम्मद तुग़लक भारतवर्ष के मुस्लिम बादशाहों में एक प्रकार से अनुपम गुणोंवाला व्यक्ति था। उसकी अद्वितीय बुद्धि, विद्वत्ता तथा नई-नई योजनाओं में गहरी रुचि होने के कारण उसके समकालीन सभी लोग बड़े आश्चर्यचकित थे। बरनी भी इस सुलतान की विलक्षण योजनाओं व कृत्यों को समझ न पाता था। अतएव उसका अत्यन्त आभारी तथा उसके गुणों की प्रशंसा करनेवाला होते हुए भी बरनी मुहम्मद तुग़लक के शरियत के विरुद्ध कार्यों से क्षुब्ध हो गया था। वह उसके विरोधाभासी गुणों से अपने धार्मिक विश्वासों को सर्वथा विपरीत पाता था।

बरनी के अतिरिक्त मुहम्मद तुग़लक के चरित्र का वर्णन इब्नबतूता व मसालिक* के कर्त्ता उमरी ने विशेषरूप से किया है। यह सब लेखक इस बात में सहमत हैं कि यह सुलतान अत्यन्त दानशील था, और साथ ही नृशंसता व निर्दयता में उसका कोई सानी न था। सभी लेखक यह भी कहते हैं कि वह अपने समय का अद्वितीय बहुमुखी विद्वान था। इन सब गुणों के साथ-साथ वह अपने पूर्वजों की भाँति बड़ा महत्त्वाकांक्षी व साम्राज्यवादी था किन्तु उसके चरित्र की अद्वितीय विशेषता यह थी कि वह शासन-सम्बन्धी नीति तथा कार्यों में नित नए आविष्कार करने में बहुत रुचि रखता था। स्वयं हर विषय का पंडित होने तथा तीक्ष्ण बुद्धि होने के कारण वह किसी दूसरे का परामर्श न सुनता था और जो कोई नई योजना उसे उचित जान पड़ती थी उसको तुरंत कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता था। उसकी दानशीलता, उदारता, वक्तृताशक्ति, सुलेख तथा सुन्दर रचनाओं की योग्यता, दर्शनशास्त्र, गणित, चिकित्सा शास्त्र, साहित्य, शरियत, इतिहास आदि अनेक विषयों के विस्तृत ज्ञान के सम्बन्ध में जिया बरनी अपनी अत्योक्ति की शैली का पूरी तरह प्रदर्शन करता है। इन सब गुणों में वह इस सुलतान को प्राचीन ईरान, तूरान व यूनान आदि देशों के सर्वोच्च विद्वानों, दार्शनिकों, वक्ताओं, तार्किकों तथा दानशील व्यक्तियों से बहुत अधिक महान् बतलाता है। अन्य उपर्युक्त लेखक भी उसकी अद्वितीय विद्वत्ता की मुक्त कण्ठ से सराहना करते हैं। मसालिक का लेखक कहता है कि उसे सुलतान के दरबार में रहनेवाले एक यात्री ने बतलाया कि वक्तृता में वह सुलतान अत्यन्त निपुण है, कुरान आदि मज़हबी पुस्तकें उसे कंठस्थ हैं, तर्क-बुद्धि में भी वह प्रसिद्ध है, बड़ा सुन्दर लेख लिखता है, धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन भी पूरे संयम से करता है, वह अल्पाहारी है और बड़े उच्च चरित्र का है। गायन तथा कविता में भी उसको वैसी ही रुचि है। प्रसिद्ध विद्वानों से वह जटिल विषयों पर बहस करता है और विशेषरूप से फ़ारसी के कवियों की आलोचना करता है। इसी लेखक के अनुसार वह इतिहास का बड़ा विद्वान था और उसके महत्व पर अक्सर विचार-विनिमय करता था। उसकी ज्ञानगोष्ठी

---

*"मसालिक अल अबसार फ़ी ममालिक अल अमसार"--रचयिता, इब्न फ़ज़लल्लाह, शहाबुद्दीन अल उमरी। देखो हिन्दी, अनुवाद डा० रिज़वी कृत।

(मजलिस) में सदैव बड़े-बड़े विद्वान उपस्थित रहते थे और प्रत्येक रात्रि को किसी न किसी विषय पर वाद-विवाद होता था।

इन गुणों के अतिरिक्त ये सभी लेखक यह भी बतलाते हैं कि वह मदिरा पान आदि धर्म-विरुद्ध कामों को बड़ी कठोरता के साथ बन्द करता था। ऐसे शरियत के विरुद्ध कर्म करने के मामले में वह बड़े से बड़े व्यक्ति की भी रियायत नहीं करता था। उसकी दानशीलता की मात्रा जितनी ये लेखक बतलाते हैं उस पर विश्वास करना अत्यन्त कठिन है। वे कहते हैं कि किसी-किसी दिन उसके दान की मात्रा पचास लाख टंके तक पहुँच जाती थी और प्रतिदिन वह दो लाख टंके दान किया करता था। उसने चालीस हज़ार दरिद्रों को प्रतिदिन पालन करने का दायित्व अपने ऊपर ले रखा था। विदेशियों के प्रति तो उसकी उदारता इससे भी अधिक थी। उसने एक विदेशी व्यापारी को खम्बात का नगर अक़्ता में प्रदान कर दिया था। इसके अतिरिक्त उसने उसको अत्यन्त बहुमूल्य रेशमी कपड़े, डेरे आदि अनेक वस्तुएँ भी भेंट की थीं। इसी प्रकार वह अन्य विदेशी अतिथियों का सत्कार करता था।

उपर्युक्त गुणों के प्रतिकूल इस सुलतान की निर्दयता तथा अमानुषिक हत्याओं का उल्लेख करते हुए इब्नबतूता कहता है कि सुलतान के महल के तीन द्वार हैं। प्रथम द्वार के बाहर चबूतरों पर जल्लाद बैठे रहते हैं। जब सुलतान किसी की हत्या का आदेश देता है तो इस द्वार के सामने ही उसकी हत्या की जाती है और उसकी लाश तीन दिन तक वहीं पड़ी रहती है। अन्य स्थानों पर इन्हीं लेखकों से हमें विदित होता है कि अपने विरोधियों को दण्ड देने में इस सुलतान ने भी अपने पूर्वजों की नृशंसता का पूरा-पूरा अनुकरण किया। उसकी विद्वत्ता तथा विस्तृत ज्ञान से उसके चरित्र के इस पहलू पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह सुलतान अद्वितीय मेधावी, तीक्ष्ण बुद्धि तथा उच्चकोटि का विद्वान् था किन्तु उसकी सांसारिक लालसाएँ अर्थात् साम्राज्य आदि की आकांक्षा भी उतनी ही प्रबल तथा अपरिमित थी जितने उसके अन्य गुण बतलाए गए हैं। अन्य लगभग सभी मुस्लिम सुलतानों के प्रतिकूल उसमें एक बड़ा सराहनीय तथा अद्वितीय गुण यह था कि वह उन निकृष्ट घृणित इन्द्रिय-लोलुपता के दोषों से सर्वथा मुक्त था जिनकी कालिमा से विशेषकर अलाउद्दीन व मुबारकशाह खल्जी के जीवन कलुषित थे। मुहम्मद मदिरा पान भी न करता था और नशाबन्दी करने के लिए उसने आज्ञाएँ निकाली थीं। सेना को इन दोषों से बरी रखने के लिए उसका आदेश था कि सेना के आसपास कोई औरत न रहने पाए। परन्तु उच्च स्तर की कला का उसे शौक था। उत्तम प्रकार के नृत्य व गायन-वादन वह बड़े आनन्द से सुनता था। साथ ही उसमें शासन के विभिन्न अंगों में नयी-नयी योजनाएँ प्रयुक्त करने की इच्छा ही नहीं क्षमता भी पर्याप्त मात्रा में थी। इस क्षेत्र में उसके विस्तृत इतिहास के ज्ञान से उसको बहुत प्रेरणा मिलती थी। उदाहरणार्थ, उसे मालूम था कि चीन व खुरासान में एक प्रकार की संकेत मुद्रा का प्रयोग किया गया था। इसके लिए अवसर पाकर अथवा

निकालकर तुग़लक़ सुलतान ने भी इस अनोखी योजना को प्रचलित कर डाला। इन सब गुणों के होते हुए एक शासक के रूप में उसकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि वह यह न समझ पाता था कि उसके समकालीन अन्य लोग, विशेषकर शरियत के ठेकेदार कट्टरपंथी मुल्ला लोग उसकी नवीन योजनाओं को समझने में असमर्थ ही नहीं थे किन्तु उनसे भयभीत भी हो जाते थे। सर्वसाधारण भी उसकी योजनाओं के महत्त्व को न समझ पाता था और न ही उनके कार्यान्वित करने में उसे किसी का सहयोग प्राप्त होता था। ऐसी परिस्थिति में सुलतान असन्तोष व क्रोध में आकर आपे से बाहर हो जाता था और उसकी निर्दयता का बाँध जनता पर टूट पड़ता था। वह केवल आदर्शवादी था न कि एक कार्यकुशल शासक। इस दृष्टि से वह अपने पिता ग़यास तुग़लक़ के सर्वथा विपरीत था।

ज़िया बरनी सुलतान मुहम्मद के स्वतन्त्र विचारों तथा शरियत के विरुद्ध कार्यों पर बड़ा खेद प्रकट करता है और इसका कारण यह बतलाता है कि मुहम्मद युवावस्था से ही स्वतन्त्र विचार करनेवाले विद्वानों, मन्तकियों, तार्किकों, फ़लसफ़ियों आदि की संगत में बहुत रहा था। ज़िया बरनी कहता है कि इन दुष्टों ने जो कि **मनक़ूलात** (बुद्धि व तर्क से सिद्ध होनेवाली बातें) में विश्वास रखते थे और उन्हीं के अनुसार कर्म करते थे तथा उन्हीं का प्रचार करते थे, सुलतान मुहम्मद के हृदय में मनक़ूलात अर्थात् परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध अविश्वास उत्पन्न कर दिए थे और ईश्वर-कृत धार्मिक पुस्तकों की ओर से उसे उदासीन बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि वह किसी ऐसी बात पर विश्वास न करता था जो तर्क से सिद्ध न हो सकती हो। यदि वह इस नवीनता से प्रभावित न होता और रसूल व नबियों की बातों पर विश्वास रखता तो वह किसी मुसलमान की कदापि हत्या न करता। बरनी की राय में दार्शनिकों की बातों ने ही उसको कठोर हृदय बना दिया था क्योंकि क़ुरान व हदीस आदि पर जिनके द्वारा मनुष्य में नम्रता, दीनता आदि गुण उत्पन्न होते हैं, उसको तनिक भी आस्था न थी। अतएव मुसलमानों की हत्या करने से उसे भय न लगता था। वह अनेक जालिमों, सय्यदों, सूफ़ियों, क़लन्दरों आदि की हत्या निस्संकोच करा देता था। बरनी का यह कथन कि 'कोई दिन ऐसा न जाता था जब कि सुलतान के महल के सामने अनेक मुसलमानों के रक्त की नदी न बहती हो,' अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है, किन्तु उसकी इन शिकायतों का सारांश यह है कि मुहम्मद अपने विस्तृत ज्ञान तथा पाण्डित्य के कारण इतना स्वतन्त्र विचारोंवाला हो गया था कि वह अन्धविश्वासी मुल्लाओं का तनिक भी आदर-सम्मान न करता था। इस बात के काफ़ी प्रमाण मिलते हैं कि मुहम्मद तुग़लक़ बहुत से जैन व हिन्दू विद्वानों तथा साधुओं को अपने दरबार में बुलाकर उनसे धार्मिक व दार्शनिक समस्याओं पर चर्चा करता था, और उनका बड़ा आदर-सत्कार करता था। ज़िया बरनी का यह भी विश्वास है कि अन्य बहुत से लोगों के समान सुलतान की सब धर्म-विरुद्ध बातों का

समर्थन करने के कारण ही उसकी ऐसी दुर्दशा हुई थी और उसे यह भी डर था कि क़यामत में उसको भारी कष्ट भोगने पड़ेंगे।

**मुहम्मद तुग़लक़ के समय की राजनीतिक घटनाएँ**—फुतूहुस्सुलातीन का लेखक ऐसामी जो मुहम्मद का समकालीन था, लिखता है कि अपने पिता को दफ़न करने के बाद तीन दिन तक का शोक मनाकर मुहम्मद तुग़लक़ सोने के सिंहासन पर आसीन हुआ और अपनी उपाधि अबुलमुजाहिद रखी। प्रजा को अपनी ओर करने के लिए उसने आबाल-वृद्ध सभी को अपनी सहृदयता तथा वात्सल्य का विश्वास दिलाया और बहुत-सा धन भी लुटाया। प्रभावशाली अमीरों को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त किया और सूबों के शासक भी नियुक्त किए। अपने चचेरे भाई मलिक फ़ीरोज़ को उसने नायब बारबक (master of ceremonies) (अमीरे हाजिब) नियुक्त किया और कुतलुग़खाँ को वकीलेदर (controller of the household) बनाया। बेदाद खल्जी (क़द्रखाँ) को लखनौती का गवर्नर, कुतलुग़खाँ के बेटे अलपखाँ गुजरात का, यहियाबन्दत को सतगाँव का, बुरहान के बेटे कियामुद्दीन को दक्षिण का और बहराम ऐबा को मुल्तान का गवर्नर तथा अन्तपाल (warden of the frontiers) नियुक्त किया। हामिद कमाली को रियाज़उल्मुल्क का खिताब दिया और 'मुस्तौफ़ी' (auditor) के पद पर नियुक्त किया। कमालुद्दीन को क़ाज़ी-उल-कुज़ात बनाया। इनके अलावा, वज़ीर, दादबक, मुशरिफ़, आदि पदों पर अन्य अमीरों को नियुक्त किया गया।

मुहम्मद तुग़लक़ के शासन को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है : पहला १३२५-१३४२ तक और दूसरा १३४२-१३५१ तक।

## शासनकाल का पहला भाग

**पेशावर पर आक्रमण**—ऐसामी के अनुसार मुहम्मद तुग़लक ने अपने शासन के प्रारम्भ में ही मुग़लों के आक्रमण से उत्तर-पश्चिम की सीमा की रक्षा करने के लिए पेशावर पर चढ़ाई की। ऊपर बतला चुके हैं कि दिल्ली सल्तनत की उत्तर-पश्चिम सीमा प्रायः लाहौर तक थी उसके परे झेलम, चिनाब तथा सिन्धु की घाटी पर खोखर जाति का अधिकार था। वे लोग दिल्ली सुलतानों के घोर शत्रु थे और मुग़लों से मित्रता रखते थे। यह समस्या सुलतानों के लिए सदा से अत्यन्त जटिल बनी हुई थी। अतएव मुहम्मद ने सीमा प्रान्त के सरदारों व उनकी सेना को पूरा एक साल का वेतन दिया और युद्ध के नए अस्त्र-शस्त्र देकर उन्हें मुग़लों पर आक्रमण करने के लिए तैयार किया। मुहम्मद इस सेना के साथ स्वयं पेशावर तक पहुँचा और मुगलों को पीछे हटाकर वहाँ अपने नाम का खुतवा पढ़वाया। इस प्रकार दिल्ली साम्राज्य की सीमा को भारत की प्राकृतिक उत्तर-पश्चिम सीमा तक पहुँचाकर मुहम्मद वापस लौटा।

**वित्त-विभाग का सुव्यवस्थित करना**—ग़यास तुग़लक के भूमिकर बन्दोबस्त

से साम्राज्य के सामान्य व्यय तथा आवश्यकताओं के लिए एक बँधी हुई आमदनी राजकोष में आने लगी थी। परन्तु जैसा हम देख चुके हैं, यह आय मुहम्मद तुग़लक़ की असामान्य योजनाओं और ख़ैरात आदि के लिए काफ़ी न थी। उसने साम्राज्य के कुल सूबों के ख़राज़ का ब्यौरा अपने महल कूशके हज़ार सतून में निश्चित कराया। इस काम को पूरा करने के लिए उसके महल में एक बड़ा दफ़्तर क़ायम किया गया जो कई वर्ष तक काम करता रहा। प्रत्येक सूबे की आय निश्चित की गयी और उसके सूबेदार को उसका ज़िम्मेवार ठहराया गया। इस व्यवस्था के विषय में मोरलैण्ड आदि विद्वानों का यह मत है कि अपनी आय को पूरी तरह निश्चित करने के अभिप्राय: से मुहम्मद तुग़लक़ ने एक प्रकार से हर सूबेदार को उसके राजकर का ठेका दे दिया था किन्तु साथ ही वह यह भी मानते हैं कि प्रत्येक सूबेदार को हर वर्ष साम्राज्य के दीवाने वज़ारत (अर्थ-विभाग) में अपनी आय-व्यय का पूरा-पूरा लेखा भेजना पड़ता था और एक-एक पाई का हिसाब देना पड़ता था। इस बात से ऐसा प्रतीत होता है कि तुग़लक़ सुलतान की भूमिकर व्यवस्था को पूरी तरह ठेका (farming) नहीं कहा जा सकता क्योंकि सूबेदारों को अपने सूबों से मनमाना भूमि-कर उगाहने का अधिकार नहीं दिया गया था। पर एक अंश में इस व्यवस्था को ठेका कहा जा सकता है क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार से प्रत्येक सूबे के ऊपर एक निश्चित रक़म आरोपित कर दी गयी और उसकी पूरी वसूलयाबी का अधिकार दीवाने वज़ारत को दे दिया गया। भूमिकर को पूरी तरह केन्द्रित करने की इस नीति के विषय में बरनी लिखता है कि "दूर-से-दूर के सूबों के ख़राज का लेखा भी दीवाने वज़ारत में उसी तरह जाँचा जाता था जिस तरह राजधानी के पास के और दोआबे के गाँवों आदि का। और जाँच के उपरान्त दूर के प्रदेशों के नायबों, वालियों आदि पदाधि-कारियों से उसी प्रकार एक-एक पाई वसूल की जाती थी जिस प्रकार दिल्ली के हवाली अर्थात् आस-पास के गाँवों से।" बरनी जहाँ इस व्यवस्था की प्रशंसा करता है और यह बतलाता है कि "इस व्यवस्था के फलस्वरूप दिल्ली धन-धान्य से भरपूर हो गयी और नगर में हज़ारों राजकर्मचारियों व प्रतिष्ठित लोगों के हर वक़्त मौजूद रहने से एक विचित्र रौनक़ पैदा हो गयी," वहाँ यह भी कहता है कि 'सुलतान की यह योजना थोड़े ही वर्ष तक चल पायी।' वह यह नहीं बतलाता कि इस योजना का अन्तिम परिणाम क्या हुआ। किन्तु उसने दो सूबों अर्थात् दक्षिण के **बीदर** और दोआब के **कड़ा** का उदाहरण दिया है जिससे यह सिद्ध होता है कि कई प्रान्तों के सूबेदारों ने शायद अपनी आय का अनुमान किए बिना ही इतनी बड़ी रक़म राजकोष को देने का ठेका ले लिया था कि वे उसका एक अंश भी वसूल न कर पाए। यह स्पष्ट है कि इन सूबेदारों को शासन का कोई अनुभव न था अतएव जब वे निश्चित भूमिकर न चुका सके तो बाग़ी हो गए।

**दोआब में भूमि-कर बढ़ाना**—भूमि-कर विभाग की व्यवस्था के अन्दर सबसे अधिक आवश्यक काम जो सुलतान ने किया वह था कर में बढ़ोतरी करना। यह वृद्धि

कितनी की गई थी इस पर बहुत मतभेद है और होने की गुंजाइश भी है। कारण कि समकालीन लेखक ज़ियाउद्दीन बरनी ने जो सदा ही भूमि-कर आदि के मामलों को बयान करने में भ्रान्ति पैदा कर देता है, इस सम्बन्ध में कहा है कि सुलतान के मन में इस समय यह विचार आया कि दोआब का भूमिकर १० गुना व २० गुना कर दिया जाए। बरनी यह भी कहता है इस कर के साथ-साथ कुछ और भी कड़े अबवाब (अतिरिक्त कर) जारी कर दिए गए, और कुछ नए कर भी जारी किए जिनके कारण प्रजा की कमर टूट गई। फिर उन अबवाबों को इस कड़ाई से वसूल किया गया कि निस्सहाय प्रजा पूरी तरह नष्ट हो गई। जिनके पास कुछ धन-सम्पत्ति थी वह बाग़ी हो गए। खेती बरबाद हो गई।

इस दुर्घटना की खबर जब अन्य दूर-दूर की विलायतों (सूबों) में पहुँची तो उन्होंने भी इस भय से कि उनके साथ भी कहीं ऐसा ही बरताव न किया जाए, विद्रोह कर दिया और अपनी खेती-बाड़ी को छोड़कर जंगलों में घुस गए। दोआब की प्रजा के विनाश व खेती की कमी, तथा अन्य स्थान से अनाज न पहुँचने के कारण दिल्ली में अकाल पड़ गया। इसी समय दुर्भाग्यवश कई बरस तक वर्षा न हुई। परिणाम यह हुआ कि कई हज़ार मनुष्य अकाल में भूखों मर गए, हज़ारों परिवार नष्ट हो गए।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि बरनी का यह कथन कि भूमि-कर १० व २० गुना बढ़ा दिया गया, कहाँ तक मानने योग्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कर को १० या २० गुना एकदम बढ़ा देना किसी प्रकार भी सम्भव न था। इसलिए इतना तो निश्चय है कि बरनी के इस कथन में या तो बहुत अतिशयोक्ति है और या पिछले अनुकरण करनेवालों ने भूल से शब्दों को इस प्रकार बदल दिया जिससे ऐसा असम्भव अर्थ निकलने लगा। इस विषय में बरनी के बाद के लेखकों के कथन भी एकसमान नहीं हैं। फ़िरिश्ता व हाजी दबीर के अनुसार कर तिगुना या चौगुना कर दिया गया था, तारीखे मुबारकशाही, बदायूंनी आदि का मत है कि वह दुगना कर दिया गया था। एक सुझाव यह दिया गया है कि बरनी का कथन तो केवल आलंकारिक है (मोरलैण्ड एग्रेरियन सिस्टम, पृष्ठ ४८, नोट), इसे अक्षरशः (literal) नहीं मानना चाहिए। इन सब बातों पर विचार करने से यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि कर का १० या २० गुना बढ़ाना तो असम्भव था। अतएव या तो पिछले प्रतिलेखकों ने भूल की है अथवा बरनी यह दिखलाने के जोश में कि कर बढ़ाने से जनता पर कितनी मुसीबत आ गई, यह कह गया कि वह १० या २० गुना बढ़ा दिया गया, पर साथ यह भी निश्चय है कि यह कर-बढ़ोतरी चाहे जितनी हो, इतनी अधिक अवश्य थी, और ऐसे अनुपयुक्त समय में की गई कि उससे ग्रामीण जनता को अत्यन्त कष्ट हुआ और उनके घरबार बरबाद हो गए। दूसरे यह भी सत्य जान पड़ता है कि जब जनता कर न दे सकने के भय से अपने घरों और खेतों को छोड़कर भागने लगी तो उन्हें कठोरतम सज़ाएँ दी गईं।

एक और आधुनिक विद्वान डा० मेहदी हुसैन का यह मत है कि योजना उस समय की गई थी जब खुरासान पर आक्रमण करने के उद्देश से बनाई गई सेना को विसर्जित कर दिया गया तो उनके कारण किसानों की तादाद बहुत बढ़ गई थी और ये लोग थे जिन्होंने बढ़े हुए करों को देने से इनकार किया। और जब उन्हें दबाया गया तो उन्होंने कर वसूल करनेवाले अफसरों को मार डाला। तब सुलतान ने इस विद्रोह को दमन करने के लिए उन स्थानों के हिन्दू ज़मींदारों व नेताओं को ऐसे कठोर दण्ड दिए जिससे दूसरों को शिक्षा हो। उसने अमीराने सादा (सौ सौ सिपाहियों के अफसर) को बाग़ियों को सज़ा देने के लिए भेजा, पर उन्होंने इनको भी मार भगाया और इस भय से कि इन कार्रवाइयों का बदला बड़ा भयानक लिया जाएगा, वे लोग जंगलों में भाग गए और खेतों को जला डाला।

डा० मेहदी हुसैन का यह विचार उनकी कल्पना मात्र है। परन्तु यदि इसमें कुछ तथ्य भी हो तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सुलतान ने बड़े कुसमय अपनी इस योजना को प्रचलित करना चाहा और जब जनता ने उसका विरोध किया तो उनको भयानक दण्ड व यातनाएँ दीं।

दोआबे में भूमिकर बढ़ाने और उसके घातक परिणामों का काण्ड अभी समाप्त भी न हुआ था कि इस उतावले बादशाह को एक और वृहद योजना को प्रचलित करने की सूझी और तुरत उसकी कार्रवाई शुरू कर दी गई। यह योजना थी राजधानी को दिल्ली से देवगिरि उठा ले जाने की। १३२८ में प्रायः सारी दिल्ली एक अनाथ नगर की तरह रह गई। राजधानी के महत्व का इस प्रकार लगभग समाप्त हो जाना अवश्य ही दोआब के व्यापार आदि समस्त आर्थिक जीवन के लिए और भी विनाशकारी हुआ होगा। दिल्ली के बाज़ार में ही हर प्रकार की उपज व दस्तकारी की चीज़ों की बिक्री होती थी जो अब बहुत घट गई होगी। निस्सन्देह इससे आस-पास के किसानों व दस्तकारों को भारी क्षति पहुँची होगी। जब कई वर्ष बाद सुलतान देवगिरि से वापस लौटा, और राजधानी को फिर दिल्ली वापस लाया तो दोआब की दुर्दशा अकथनीय थी। किसानों ने बेहद सरकारी भूमिकर से कुपित होकर अनाज के कोठों को जला डाला था और मवेशियों को दूर भेज दिया था। बादशाह ने उनके इस कार्य को राजविद्रोह समझा और उन्हें अत्यन्त कठोर दण्ड दिए। दोआब को इस प्रकार रूँदी हुई दशा में छोड़कर सुलतान दुबारा देवगिरि चला गया और जब १३३७ के लगभग वहाँ से अपने समस्त राज-दरबार व लाव-लश्कर के साथ वापस लौटा तो उसने देखा कि दोआबे की खेती-बाड़ी आदि तथा व्यवसाय नष्टप्राय हो चुका है। तब उसने खेती को फिर से जारी कराने के उद्देश से किसानों को तक़ावी आदि बाँटा किन्तु दुर्भाग्य से अनावृष्टि के कारण यह प्रयास असफल रहा। अन्त में सुलतान ने अपनी बहुत सी सेना तथा नगरवासियों के साथ कन्नौज के निकट जाकर गंगा के किनारे पड़ाव डाला क्योंकि वहाँ पर उसकी सेना तथा दिल्ली निवासियों के लिए खाने-पीने का सामान आसानी से मिल सकता था।

**दोआब की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न**—कन्नौज के पास के पड़ाव का नाम सरगद्वारी रखा गया। यहाँ पर सुलतान ने दोआब की दशा को सुधारने के उद्देश से एक विशेष मंत्रालय (विभाग) की स्थापना की। सारी भूमि को टुकड़ों में बाँटा गया और जो राजकर्मचारी इस कार्य के लिए नियुक्त किए गए उनको विशेष आदेश दिया गया कि खेती की हर प्रकार से उन्नति करें और गेहूँ, गन्ना, अंगूर आदि उत्तम प्रकार के उगाने पर विशेष बल दें। सुलतान की यह योजना भी अन्य योजनाओं की भाँति उत्तम थी। किन्तु यह भी दुर्भाग्यवश उसके कर्मचारियों की अयोग्यता तथा दुष्टता के कारण सर्वथा असफल हुई। सुलतान ने लगभग सौ कर्मचारी इस कार्य के लिए नियुक्त किए और सत्तर लाख के करीब रुपया व्यय किया परन्तु इसमें से बहुत-सा सरकारी अफसरों ने गबन कर लिया। बरनी अपने अत्योक्तिपूर्ण ढंग से लिखता है कि उस रुपए में से १/१०, १/१०० हिस्से का भी सद्‌उपयोग न हुआ। परिस्थिति किसी प्रकार से न बदली और दोआब को इसी दुर्दशा में छोड़ कर १३४५ में सुलतान को विद्रोहों के कारण दक्षिण जाना पड़ा जहाँ से वह फिर न लौटा।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि दोआबे की बरबादी का कारण केवल अकाल ही नहीं था जो अवश्य कुछ दिन तक इस प्रदेश को सताता रहा, किन्तु इस बरबादी का बहुत कुछ दायित्व राजकर्मचारियों तथा शासन की त्रुटियों पर भी था जिसके कारण कृषक-वर्ग तितर-बितर हो गए थे और उनको फिर से समेटना अत्यन्त दुष्कर था।

कृषि-विभाग के उन्नत करने के सम्बन्ध में मुहम्मद तुगलक ने अपनी दूसरी योजना में जिसको उसने सरगद्वारी से आरम्भ किया था, एक नयी बात शुरू की थी अर्थात् पूर्वकाल में खेती को उन्नत करने के उपाय केवल खेती की मात्रा को बढ़ाने तक ही सीमित रहते थे किन्तु अब सुलतान ने उत्तम-उत्तम प्रकार के अनाजों तथा फलों की खेती पर विशेष ध्यान दिया।

**जागीर-प्रथा**—साम्राज्य के उच्च कर्मचारियों, विशेषकर सैनिकों को जागीर देने की प्रथा का भी उल्लेख इस सुलतान के समय में मिलता है। इस विषय पर मसालिकुल अबसार के लेखक ने प्रकाश डाला है। सैनिकों को अपने निजी वेतन के लिए गाँव आदि जागीर में मिलते थे जिनकी आय अक्सर अनुमानित भूमिकर से बहुत अधिक होती थी। जान पड़ता है कि इन लोगों को अपनी जागीरों से कर वसूल करने में बहुत कुछ स्वतंत्रता थी। इस जागीर-प्रथा की विशेषता यह थी कि उनकी सेना के वेतन के लिए उन्हें जागीर नहीं दी जाती थी जैसा कि आगे चलकर मुगल शासन-काल में प्रचलन हुआ। उनकी जागीरें केवल उनके निजी वेतन के लिए दी जाती थीं।

## कतिपय विद्रोहों का वर्णन

**बहाउद्दीन गरशास्प का विद्रोह**—राजगद्दी पर बैठने के दो वर्ष तक सुलतान मुहम्मद बड़े शान्त वातावरण में शासन करता रहा। परन्तु इसके बाद साम्राज्य की शान्ति भंग होने लगी। सबसे पहले दक्षिण में बहाउद्दीन गरशास्प ने, जो ग़यासुद्दीन तुग़लक़शाह की बहन का लड़का था, विद्रोह का झंडा उठाया। गरशास्प प्रसिद्ध योद्धा था और उसने तुग़लक़शाह के शासनकाल में साम्राज्य की बहुमूल्य सेवा की थी। १३२४ के मुग़लों के आक्रमण के समय भी उसने बड़ी वीरता का परिचय दिया था जिससे प्रसन्न होकर बादशाह ने उसको गरशास्प की उपाधि से अलंकृत किया और उसे साम्राज्य के दक्षिण सीमा प्रान्त का सूबेदार नियुक्त किया।

गरशास्प के विद्रोह का कोई संतोषजनक कारण तत्कालीन लेखकों ने नहीं बतलाया है। ऐसामी के अनुसार सुलतान मुहम्मद के व्यवहार में परिवर्तन हो जाने के कारण गरशास्प ने विद्रोह किया था। एक दक्षिण का हिन्दू लेखक कहता है कि दरबार के अमीरों की ईर्ष्यापूर्ण कार्यवाहियाँ इसका कारण थीं। सम्भव है कि वह इसलिए असंतुष्ट हो गया हो कि सुलतान मुहम्मद ने उसे कोई अधिक ऊँचा पद नहीं दिया। एक बात अवश्य है कि इस प्रकार विद्रोहों के अनेक उदाहरण गरशास्प के सामने थे और राजधानी से इतने दूर एक सम्पन्न व धन-धान्य से भरपूर सूबे का शासक होना एक महत्वाकांक्षी सैनिक के लिए स्वतंत्र हो जाने का पर्याप्त प्रलो-भन बन सकता था। जो हो, गरशास्प ने सुलतान से युद्ध करने की पूरी-पूरी तैयारी की। बहुत सा धन जमा किया और दक्षिण के शक्तिशाली सामंतों को अपनी ओर मिला लिया। अपनी पराजय की संभावना भी उसके मन में थी। अतएव उसने अपने परिवार की रक्षा के लिए काम्पली के हिन्दू राजा से मित्रता कर ली थी। यह सब व्यवस्था करके गरशास्प ने स्वतंत्रता घोषित कर दी और अपने निकटवर्ती सामंतों से भूमिकर आदि वसूल करना शुरू कर दिया।

जब सुलतान को इस घटना की सूचना मिली उसने तुरंत गुजरात के सूबेदार मलिकज़ादा अहमद आयाज़ को आदेश भेजा कि एक सेना लेकर गरशास्प को दमन करे। आयाज़ कई अनुभवी योद्धाओं के साथ काफ़ी सेना लेकर दक्षिण को रवाना हुआ। इसकी सूचना पाकर गरशास्प आयाज़ की सेना को गोदावरी पार करने से रोकने के लिए नदी के उत्तर की ओर पहुँच गया। किन्तु इधर आयाज़ ने देवगिरि पर कब्ज़ा कर लिया। वहाँ देवगिरि का शासक अबूरिजा उससे मिल गया। दोनों की संयुक्त सेना विद्रोहियों की तरफ़ चल पड़ी। गरशास्प ने शाही सेना पर बड़े ज़ोर से आक्रमण किया और उसके केन्द्रीय टुकड़े को छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर वह शाही सेना के बाएँ बाज़ू की तरफ़ मुड़ा और उस हिस्से को भी पीछे ढकेल दिया। तब दोनों सेनाओं में घमासान मारकाट होने लगी। दो घंटे तक इस प्रकार रक्तपात होता रहा। किन्तु अन्त में शाही सेना की जीत हुई क्योंकि जब लड़ाई पूरे

तन्त पर पहुँची तो गरशास्प का मुख्य सहायक खिज्र बहराम उसको छोड़कर शत्रु से जा मिला। इस घटना से गरशास्प का साहस टूट गया और वह तुरन्त अपनी शेष सेना के साथ नदी को पार करके अपने मित्र सागर के शासक की तरफ़ भागा। शाही सेना ने बड़ी तीव्रगति से उसका पीछा किया परन्तु गरशास्प सागर से भागकर काम्पली के राजा की शरण में गया। और फिर अपने परिवार को लेकर दक्षिण की ओर चला गया।

**काम्पली पर चढ़ाई**—काम्पली एक छोटा-सा राज्य था जिसके अन्दर आधुनिक रायचूर, धारवाड़, बलारी तथा इनके आस-पास की भूमि सम्मिलित थी। काम्पली और दिल्ली के देवगिरि सूबे के बीच की सीमा कृष्णा नदी बनाती थी। पहले समय में काम्पली के राजा देवगिरि के यादवों के अधीनस्थ मित्र थे किन्तु जब से यादव राज्य पर दिल्ली सुलतान का अधिकार हुआ, काम्पली के शासक उनके विरोधी बने रहो और बराबर मुसलमान शासकों का विरोध करते रहे। अपने पड़ौसी हिन्दू राजाओं के निरंतर विरोध तथा वैमनस्य के कारण काम्पली के शासक मुसलमानों को दक्षिण से निकालने के लिए अपनी समस्त शक्ति को कभी भी समेट न सके। वरंगल और द्वारसमुद्र के मूर्ख हिन्दू राजा परस्पर एका करने के प्रतिकूल काम्पली पर बराबर चढ़ाई करते रहते थे। तिस पर भी काम्पली के शासक ने बड़ी योग्यता तथा वीरता के साथ आस-पास के सामंतों को अपने साथ मिलाकर अपने राज्य की सत्ता को बहुत बढ़ा लिया था।

दिल्ली सुलतानों का प्रभुत्व काम्पली के राजा ने कभी भी स्वीकार नहीं किया था और जब सुलतान के कर्मचारी राज-कर माँगने के लिए भेजे गए तो उसने उनको मारपीट कर वापस भगा दिया। उसने मुस्लिम सेना से बचकर भागी हुई तिलंगी सेना को भी उसी प्रकार अपनी शरण में लिया जिस प्रकार बहाउद्दीन गरशास्प को। इसी कारण सुलतान ने काम्पली पर आक्रमण करने का निश्चय किया और स्वयं एक भारी सेना लेकर देवगिरि पहुँच गया। वहाँ से उसने मलिकज़ादा आयाज़ को अपने पास बुला लिया और अन्य सैनिकों के अधीन एक सेना काम्पली पर चढ़ाई करने को भेजी। सुलतान को इस प्रकार तीन बार काम्पली के विरुद्ध चढ़ाई करनी पड़ी। पहली दो चढ़ाइयों के सम्बन्ध में मुस्लिम लेखक बहुत संक्षेप से केवल इतना कहते हैं कि दिल्ली सेनाओं को पराजित होकर वापस लौटना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि दो बार सुलतान की सेना की बुरी तरह हार हुई जैसा कि दो कनाड़ी भाषा के तत्कालीन ग्रन्थों से प्रमाणित होता है। इन ग्रन्थों में जो इन चढ़ाइयों का विवरण है उसका सारांश इस प्रकार है :

**पहली चढ़ाई**—जैसा कह चुके हैं, सुलतान ने देवगिरि पहुँचते ही मलिक रुक्नुद्दीन के संचालन में एक सेना काम्पली के विरुद्ध भेजी। रुक्नुद्दीन ने कृष्णा नदी को पार करके मार्ग में समस्त किलों को तोड़ा और फिर काम्पली राज्य के केन्द्रीय गढ़ कुम्मट पर पहुँचा। काम्पली राजा ने जो अपनी राजधानी को आनेगुंडी

में ले गया था, शाही सेना की चढ़ाई की सूचना पाते ही तुरन्त अपनी रक्षा-समिति से परामर्श करके अपने मंत्री तथा बहाउद्दीन गरशास्प और अपने दो बेटों को एक बड़ी सेना के साथ शाही सेना के विरुद्ध भेजा। दो तीन-दिन तक कई बार दोनों सेनाएँ परस्पर बड़े प्रबल आक्रमण करती रहीं। अन्त में मुस्लिम सेना को पराजित होकर भागना पड़ा और काम्पिल सेना को बहुत सा लूट का माल हाथ लगा।

**दक्षिण पर दूसरी चढ़ाई**—बादशाही सेना की हार से उसके गौरव को बड़ी क्षति पहुँची और हिन्दू जनता का यह भय कि मुस्लिम सेना अजेय है, जाता रहा। मुस्लिम शक्ति को भी यह विदित हुआ कि दक्षिण के हिन्दू भी काफ़ी शक्तिशाली हैं और उनको दमन करना आसान नहीं है। किन्तु इस परिस्थिति से सुलतान हतोत्साह नहीं हुआ। रुक्नुद्दीन के लौटते ही उसने फिर एक नयी सेना हर प्रकार से सुसज्जित करके क़ुत्बुलमुल्क के संचालन में काम्पिल के विरुद्ध भेजी। उधर काम्पिल के राजा ने इस चढ़ाई की सूचना पाते ही अपने मंत्री बाईकप्पा तथा अन्य सरदारों से परामर्श करके अपने राज्य की रक्षा करने की तैयारी की। हौस दुर्ग और कूमट के क़िलों को पूरी तरह युद्ध की सामग्री से भर दिया गया। बहुत-सा जलता हुआ रेत व चूना आदि शत्रुओं पर फेंकने के लिए इकट्ठा किया गया। उसी रात को कुत्बुलमुल्क ने कूमट के दुर्ग पर बड़े ज़ोर का हमला किया। दोनों सेनाओं में बड़ी घमासान लड़ाई हुई। हिन्दू सेनापति बाईकप्पा ने बड़ी युक्ति के साथ अपनी सेना की एक टुकड़ी मुसलमानों के शिविर में पहुँचा दी और उसमें खलबली मच गयी। मुस्लिम सेना इस हमले से बहुत भयभीत हुई किन्तु उन्होंने अभी हिम्मत न छोड़ी और अगले दिन किले पर तीन तरफ़ से आक्रमण किया। किन्तु अन्दर की सेना का संचालन स्वयं राजा कर रहा था और उसने मुस्लिम सेना को पीछे धकेल दिया। रात हो जाने पर युद्ध बन्द हो गया। तीसरे दिन क़ुत्बुल्मुल्क की सेना के मध्य भाग पर काम्पिल राजा के बेटे रामनाथ ने इतने ज़ोर का आक्रमण किया कि वे रणक्षेत्र छोड़कर भाग निकले। रामनाथ की सेना के बहुत से सेनापति या तो मारे गए और या बन्दी कर लिए गए। कुछ थोड़ों ने क़ुत्बुलमुल्क के साथ भाग कर जान बचाई।

**तीसरी चढ़ाई**—सुलतान को इस दूसरी हार से बहुत ही नीचा देखना पड़ा। उसने अपने विश्वसनीय मित्र मलिकज़ादा ख़्वाजा-ए-जहान की अध्यक्षता में फिर एक बड़ी सेना काम्पिल के विरुद्ध भेजी। उस समय बारिश न होने के कारण पानी की बहुत कमी हो गयी थी और बड़ी गर्मी थी। अतएव मलिकज़ादा कृष्णा नदी को पार करके बरसात तक वहीं ठहरा रहा। जब बरसात के पानी से मार्ग के ताल-तलैया सब भर गए तब उसने आगे बढ़कर कूमट के दुर्ग का घेरा डाला। यह घेरा लगभग दो महीने तक चलता रहा। इस अवसर पर गरशास्प ने मुसलमानी सेना पर दो-तीन बार हमला किया किन्तु उसे पीछे हटना पड़ा। जब हिन्दू

सेना थक गयी तो मलिकज़ादा ने एक साथ हमला करके क़िले के एक फाटक पर कब्ज़ा कर लिया और अन्दर घुस गया। काम्पिल राजा ने यह देखकर कि बचने की कोई सूरत नहीं है, गरशास्प को अपने साथ लिया और अपनी सेना के साथ कूमट को छोड़कर हौस दुर्ग में जा पहुँचा। वह युद्ध के लिए तैयारी कर ही रहा था कि मलिकज़ादा कूमट पर अधिकार करके आगे बढ़ा और हौस दुर्ग पहुँच गया। काम्पिल राजा ने एक महीने तक बड़ी वीरता से शत्रुओं का मुक़ाबला किया परन्तु अन्त में खाने की सामग्री की कमी के कारण उसे हार माननी पड़ी। मुसलमानी सेना ने किले पर कब्ज़ा कर लिया। काम्पिल राजा ने अपने मित्र गरशास्प को द्वारसमुद्र के राजा वल्लाल तृतीय की रक्षा में उसके परिवार-सहित भिजवा दिया और तब शत्रु से अन्तिम युद्ध करने का दृढ़ संकल्प किया। यह विचारकर कि उसका अन्त निकट आ गया है, शत्रु से भिड़ने के पहले उसने अपनी स्त्रियों, बेटियों आदि को अग्नि में भस्म कर दिया। इस प्रकार अपने कुल परिवार को अग्नि के अर्पण करके काम्पिल राजा ने शस्त्र धारण किए और किले के दरवाज़े खोलकर अपनी सेना के साथ शत्रुओं पर टूट पड़ा और भयानक मार-काट की। परन्तु अन्त में लड़ते-लड़ते सैकड़ों घावों से निर्बल होकर यह योद्धा अपने बहुत से सैनिकों के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ। मलिकज़ादा ने उसका सर कटवाकर उसमें भुस भरवाया और सुलतान के पास भेज दिया। मुसलमानों ने किले पर अधिकार करके हज़ारों हिन्दुओं को क़त्ल किया और शहर को लूटा। इसी अवसर पर उन्होंने राजा के ग्यारह बेटों तथा विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों को, जो काम्पिल के उच्च पदाधिकारी थे, कैद करके दिल्ली भेज दिया। हौस दुर्ग के किले में एक सेना रखी गई ताकि वह उस प्रदेश पर अधिकार बनाए रखे।

**होयसल राज्य पर चढ़ाई**—मलिकज़ादा ने हौस दुर्ग से होयसल राज्य पर इसलिए चढ़ाई की कि वहाँ बहाउद्दीन गरशास्प भागकर वल्लाल राजा की शरण में था। वल्लाल राजा ने मलिक काफ़ूर के आक्रमण के थोड़े ही दिन बाद दिल्ली सुलतान का आधिपत्य हटाकर राज-कर भेजना बन्द कर दिया था। इस अवकाश में उसने काम्पिल को भी जीतने का विचार किया था। उसकी विशेष इच्छा यह थी कि होयसल राज्य का वह भाग जो सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजाओं के अधिकार में था, वापस ले ले। इस उद्देश से उसने १३१६ में पाण्ड्य राजाओं से युद्ध छेड़ दिया। जब वह इस प्रकार अपने आसपास के राजाओं से लड़ने में व्यस्त था, उसी बीच में तुग़लक़ सुलतान की सेना ने द्वारसमुद्र की सेना पर आक्रमण कर दिया। इस आपत्ति से अपनी रक्षा करने की आशा से उसने गरशास्प को बन्दी करके मलिकज़ादा के अर्पण कर दिया और दिल्ली सुलतान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। इस प्रकार विजय प्राप्त करके मलिकज़ादा गरशास्प को अपने साथ लिए हुए देवगिरि वापस लौटा।

**दक्षिण प्रान्तों की शासन-व्यवस्था**—मुहम्मद तुग़लक़ ने अपने साम्राज्य के दक्षिण प्रदेश को पाँच प्रान्तों में विभक्त किया अर्थात् देवगिरि, तिलंग, मग्राबर, द्वारसमुद्र तथा काम्पिल। इन प्रान्तों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने जाजनगर का भी उल्लेख किया है किन्तु जाजनगर को दिल्ली सुलतान ने अधिकृत नहीं किया था उस पर केवल एक बार आक्रमण करके वह लौट आया था। दिल्ली साम्राज्य के इस दक्षिण प्रदेश में विन्ध्य पर्वत से लगभग मदुरा तक की समस्त भूमि सम्मिलित थी। पूर्व से पश्चिम तक उसमें प्रायः दोनों समुद्र तटों के बीच का भाग सम्मिलित था।

इन प्रान्तों में से देवगिरि की दक्षिण सीमा कृष्णा नदी थी और उत्तरी सीमा विन्ध्य पर्वत-श्रेणी। लाचूरा और सगुन की घाटी दिल्ली के मार्ग पर देवगिरि राज्य की सीमा पर स्थित थीं। देवगिरि के दक्षिण में कम्पिल राज्य था और कृष्णा नदी इन दोनों के बीच की सीमा थी। काम्पिल के दक्षिण-पश्चिम और पश्चिम में होयसल प्रान्त था। जान पड़ता है कि जब मुहम्मद तुग़लक़ ने विजयनगर के संस्थापक को काम्पिल का शासक नियुक्त किया तो उस राज्य में लगभग अपने दक्षिण के अन्य विजित देश भी सम्मिलित कर दिए। जैसा यथास्थान कहा जाएगा, विजय नगर के संस्थापक हरिहर और बुक्का भाइयों ने १३३६ में अपने को स्वाधीन करके अपना अधिकार पूर्व समुद्र तट तक फैला दिया था। तिलंग प्रान्त दक्षिण प्रायद्वीप का पूर्वी अर्द्ध भाग था। सागर, गुलबर्गा और कल्याण से वह बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था। मग्राबर के अन्दर तमिल प्रदेश के समस्त समुद्र तट के जिले शामिल थे : मग्राबर के अन्दर जो भाग तिलंग देश में था, काम्पिल प्रान्त में जोड़ दिया गया था तथा नीलगिरि और उसके निकटवर्ती हिस्से होयसल प्रान्त में मिला दिए गए थे।

**दक्षिण पर मुस्लिम शासन का प्रभाव**—दक्षिण प्रदेश पर देवगिरि के अतिरिक्त, जिसको बहुत पहले से दिल्ली सुलतान अपने अधिकार में कर चुके थे, अन्य प्रान्तों पर मुस्लिम सत्ता बहुत ही थोड़े दिन कायम रही। अतएव देवगिरि राज्य पर इस्लाम का प्रभाव अन्य प्रदेशों से बहुत अधिक हुआ। देवगिरि को दिल्ली सुलतानों ने हर प्रकार से दक्षिण में इस्लाम का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। उस नगर में कई मस्जिदें बनवाईं, बहुत से मुस्लिम सूफियों व धार्मिक उपदेशकों को वहाँ ले जाकर बसाया। मुहम्मद तुग़लक दिल्ली से राजधानी उठाकर देवगिरि ले गया। उसके साथ हजारों गण्य-मान्य पुरुष, सरदार तथा राजकीय कर्मचारी गए। हिन्दुस्तान के दूर-दूर भागों से बहुत से उत्साही मुसलमान देवगिरि की ओर आकर्षित हुए और वहाँ जाकर स्थायी रूप से बस गए। इस प्रकार थोड़े समय में देवगिरि इस्लाम का गढ़ बन गया।

इतना ही नहीं, विजेताओं ने जनता को मुसलमान बनाने का भी पूरा यत्न किया। मलिक काफ़ूर ने सैकड़ों हिन्दू-मन्दिरों को ध्वस्त करके उनके स्थान पर

मस्जिदें बनवाईं ; कुत्बुद्दीन मुबारकशाह ने शासन-व्यवस्था को भी नया रूप दिया और दक्षिण को इक्ताओं को बाँट दिया। तुगलक काल में भी यही नीति प्रचलित रही जिसका परिणाम यह हुआ कि इस थोड़े से अवकाश में दक्षिण में मुस्लिम आबादी इतनी बढ़ गयी कि वहाँ के हिन्दू उससे भयभीत होने लगे।

**राजधानी परिवर्तन**—राजसिंहासन पर बैठने के एक वर्ष बाद ही सुलतान ने राजधानी को दिल्ली से देवगिरि ले जाने का निश्चय कर लिया और उसका नाम दौलताबाद रखा। तब उसने अपने सब मंत्रियों व अमीरों तथा सेना आदि को दौलताबाद प्रस्थान करने की आज्ञा दी। शहर के सैयद, सूफ़ी, आलिम तथा प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध लोगों को भी दौलतबाद बुला लिया गया। दिल्ली के मुख्य-मुख्य वर्गों के सभी लोगों को दौलताबाद जाना पड़ा। इन सब लोगों को सुलतान ने खूब इनाम-इक़राम दिए। परन्तु इसी वर्ष के अन्त में किश्लूखाँ ने विद्रोह किया। इसको दमन करके सुलतान मुहम्मद फिर दिल्ली लौटा और शहर के आस-पास के कस्बों के रहने वालों को भी काफ़िले बना-बनाकर दौलताबाद भेजा और उनके घरों को स्वयं मोल ले लिया ताकि उस रुपये से वे लोग दौलताबाद में अपने घर बनवा सकें। इस प्रकार उसने अपनी नयी राजधानी को अच्छे-अच्छे घरानों से अलंकृत करने का पूरा प्रयत्न किया। बरनी और अन्य लेखकों का कहना है कि इस राजधानी-परिवर्तन का दिल्ली पर इतना विनाशकारी प्रभाव हुआ कि वहाँ के भवनों व आस-पास के कस्बों में कोई कुत्ता-बिल्ली तक भी न छोड़ा गया। इस कथन में अत्योक्ति अवश्य है, पर इसका अभिप्राय यही है कि राजधानी के सभी गण्य-मान्य वर्गों के चले जाने से वहाँ के कारबार व आर्थिक जीवन का सर्वथा नष्ट हो जाना अनिवार्य था। कुछ आधुनिक लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि राजधानी का परिवर्तन दो बार किया गया था। पहली बार में केवल सरकारी दफ़्तर व राजदरबारी आदि ही ले जाए गए थे, बाकी शहर को किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि राजधानी का लगभग सारा ही आर्थिक जीवन एवं सम्पन्नता राजदरबार, राजकीय कर्मचारी तथा सेना के रहने पर ही सर्वथा निर्भर होता है। अतएव इन सबके साथ-साथ शेष व्यापारी, मज़दूर आदि वर्गों का जाना भी अनिवार्य था जो उन्हीं के भरोसे पर अपनी आजीविका चला सकते थे। उपर्युक्त लेखकों का यह मत भी निराधार है कि पहले राजधानी परिवर्तन से नगर को कोई हानि नहीं हुई थी और जब जनता ने सुलतान के इस कार्य का विरोध किया तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने दिल्ली के सब लोगों को देवगिरि जाने पर विवश किया और शहर को बिलकुल खाली छोड़ दिया। बरनी आदि लेखकों से विदित होता है कि सुलतान ने प्रजा के लिए इस लम्बी यात्रा को आराम से तय करने के हेतु हर प्रकार का प्रबन्ध किया और उनको इनाम-इकराम बाटें किन्तु तब भी बहुत से बूढ़े, बच्चे आदि जो यात्रा के कष्टों को सहन न कर सके, मार्ग में ही मर गए और जो देवगिरि पहुँचे वे न तो उस नए स्थान में अच्छी तरह स्थापित हो सके और न ही अपनें

वतन की याद को भूल सके। इस कारण भी जनता को बहुत कष्ट हुए। अन्त में अपनी इस योजना की असफलता को पूरी तरह देखकर सुलतान ने प्रजा को दिल्ली वापस लौटने की आज्ञा दी। इस वापसी यात्रा में उनको और भी अधिक कष्ट सहन करने पड़े। इब्नबतूता ने तो यहाँ तक लिखा है कि मुझे एक विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि सुलतान ने एक रात को अपने राजमहल की छत पर चढ़कर चारों ओर देखा तो उसे कहीं से भी धुआँ उठता हुआ या दीपक जलता हुआ न दीखा। इस पर सुलतान को बहुत संतोष हुआ। तब उसने अन्य नगरों की प्रजा को आज्ञा दी कि दिल्ली में आकर बसें। फल यह हुआ कि वे शहर तो उजड़ गए किन्तु दिल्ली आबाद न हुई।

**राजधानी-परिवर्तन के कारणों की विवेचना**—राजधानी-परिवर्तन का कारण बरनी के अनुसार यह था कि साम्राज्य के सुदूर दक्षिण तक फैल जाने से दिल्ली उसका केन्द्र न रह गई थी और गुजरात, लखनौती, सतगाँव, सुनारगाँव, तिलंग, मआबर, द्वारसमुद्र और काम्पिल, दौलताबाद से लगभग समान दूरी पर थे। इस कथन को आधुनिक लेखकों ने भी यथार्थ मान लिया है। परन्तु जब हम यह स्मरण करते हैं कि मुहम्मद तुग़लक़ के समय में सलतनत की पश्चिम सीमा लाहौर के काफ़ी आगे बढ़ गयी थी और पश्चिमी सीमा का छोर मुलतान से लगभग पाँच सौ मील दूर सीबी के किले तक पहुँचता था, तब तुरन्त यह समझ में आ जाता है कि दौलताबाद किसी प्रकार से भी साम्राज्य का केन्द्र नहीं था। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि विन्ध्य-मेखला उत्तर व दक्षिण भारत के बीच में एक ऐसी दुर्भेद्य दीवार थी जिसके कारण अति प्राचीन काल से भारतवर्ष के इन दो भागों का इतिहास बहुत हद तक एक-दूसरे से भिन्न रहा था। किसी स्थान का केवल फासला कम होना ही उसको सुगम्य नहीं बना देता। इस दृष्टि से दौलताबाद उत्तरी भारत के निकटतम स्थानों से भी उतना सुगम्य नहीं था जितने दक्षिण के प्रान्त जो उसके चारों ओर स्थित थे। इसके अतिरिक्त तनिक ध्यान देने से ही यह समझ में आ जाएगा कि उत्तर के बहुत से स्थानों का फ़ासला भी दौलताबाद से बहुत ही अधिक था। बरनी को वास्तविक राजनीतिक कारणों आदि का कोई ज्ञान नहीं था। यह प्रायः निश्चय रूप से ही कहा जा सकता है कि बरनी ने राजधानी के परिवर्तन का उपर्युक्त कारण केवल कल्पना से ही लिख दिया है। इसमें लेशमात्र भी तथ्य नहीं है।

सबसे आश्चर्य की बात यह है कि प्रायः सभी आधुनिक लेखकों ने अपनी कल्पना से अन्य कई बड़े विलक्षण कारण इस राजधानी-परिवर्तन के लिख डाले हैं। इनके बतलाए हुए कारण संक्षेप से इस प्रकार हैं :—(१) दिल्ली उत्तर-पश्चिम सीमा के अत्यन्त निकट थी और उसको मुग़लों के हमलों का निरन्तर भय बना रहता था। (२) एक महानुभाव का यह भी कहना है कि राजस्थान के वीर राजपूत राजा भी पूरी तरह विजित नहीं हुए थे और वे भी बराबर दिल्ली पर आँख

लगाए रहते थे। अतएव दिल्ली को उनके हमलों का भी भय बराबर बना रहता था। (३) उत्तरी भारत की शासन-व्यवस्था तथा शान्ति-स्थापना पूर्ण रूप से हो चुकी थी किन्तु दक्षिण प्रदेश को सुव्यवस्थित करना अभी बाक़ी था। शायद सुलतान को यह भी लालच हुआ हो कि दक्षिण की अनन्त दौलत का पूरी तरह से प्रयोग वहीं पहुँचकर हो सकेगा।

उपर्युक्त कारणों में पहला कारण तो लालबुझक्कड़ वाली सूझ से अधिक महत्व नहीं रखता। साधारण समझ की बात है कि यदि किसी राजधानी अथवा केन्द्रीय स्थान को बाहरी तथा अन्दरूनी शत्रुओं के हमलों का भय हो तो कोई बुद्धिमान राजा उसको छोड़कर और अपनी जान बचा कर दूर न भाग जाएगा।* यदि कोई शासक ऐसी परिस्थिति में अपने दरबारियों व सेनासहित किसी दूर देश में चला जाए यो उसका केवल एक ही परिणाम हो सकता है कि शत्रु बेरोक टोक उसकी छोड़ी हुई राजधानी को ही नहीं प्रत्युत समस्त प्रदेश को भी उससे छीन ले। और वह इतना दूर होने के कारण उनके आक्रमणों को बिलकुल न रोक सके। हमारे उपर्युक्त लेखक यह भूल जाते हैं कि केवल मात्र राजधानी को सुरक्षित रखना ही किसी राजा का उद्देश नहीं हो सकता। राजधानी तो समस्त राज्य की शक्ति का वह केन्द्र होता है जिसके द्वारा साम्राज्य भर की रक्षा की व्यवस्था की जाती है। इस प्रसंग में यह भी याद रखना उपयुक्त होगा कि इस समय मुग़लों के आक्रमण पश्चिम व मध्य एशियाई राजनीतिक परिस्थिति के कारण बन्द हो चुके थे। ना ही कोई राजपूत अथवा गुजरात का हिन्दू राजा ऐसा था जो उत्तर भारत को फिर से जीतने का साहस कर सकता। चित्तौड़ के सिसोदियों का उत्कर्ष बहुत बाद में हुआ था। यदि कोई भी बाहरी या देशी राजा इस योग्य होता तो ऐसे सुनहरी अवसर को, जब कि सुलतान दिल्ली ही नहीं, समस्त उत्तर भारत को खाली छोड़कर दूर चला गया था, हाथ से न जाने देता और अवश्य उत्तर भारत पर अधिकार कर लेता। इस व्याख्या से पाठक समझ सकेंगे कि बाहरी व अन्दरूनी हमलों के भय से राजधानी-परिवर्तन करने की कल्पना कितनी निर्मूल है। इसके प्रतिकूल वास्तविक बात यह थी कि आन्तरिक सुव्यवस्था एवं उत्तर-पश्चिमी समुन्नत सामरिक परिस्थिति के कारण उत्तार भारत की सुरक्षा को कोई विशेष आशंका नहीं थी। इसीसे सुलतान ने निश्चिन्त होकर राजधानी का परिवर्तन कर डाला। यदि राजधानी को किसी प्रकार का भी बाहरी अथवा आन्तरिक भय होता तो बजाए इतने दूर भाग जाने के सुलतान के लिए केन्द्र में ही रहकर इन ख़तरों से राजधानी व देश की रक्षा करना अनिवार्य हो जाता। ठीक इसी कारण

---

*देखो डा० मेहदी हुसैन कृत 'तुग़लक डाइनेस्टी' (१९६३), पृष्ठ ३५६, जहाँ यह बतलाया गया है कि मु० तुग़लक की मुग़लों से मैत्री थी और उसे उत्तर-पश्चिम से हमलों का कोई भय न था।

बलबन राजधानी को छोड़कर केवल एक-दो अवसर के अतिरिक्त कभी भी दूर प्रदेशों में नहीं गया और अलाउद्दीन ख़ल्जी ने जब उत्तर-पश्चिमी हमलों की अवहेलना करके चित्तौड़ आदि पर हमले किए तो अपने सिंहासन तक को ख़तरे में डाल दिया। अतएव उत्तर-पश्चिमी हमलों के कारण किसी भी सुलतान का दूर चले जाना केवल अपनी कायरता व राजनीतिक मूढ़ता का ही फल हो सकता था। वास्तविक कारण इस परिवर्तन के दो थे। पहला यह कि ख़ल्जी काल में दक्षिण प्रदेशों को पूरी तरह विजित करके उनको साम्राज्य में मिला लिया गया था किन्तु उत्तर भारत के सदृश उस प्रदेश की शासन-व्यवस्था न हो पाई थी। अतएव समस्त साम्राज्य में यथासम्भव एक समान शासन-व्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यक था कि सुलतान स्वयं दक्षिण क्षेत्र में जाकर रहे। दूसरे मुहम्मद तुग़लक़ की यह भी आकांक्षा थी कि दक्षिण प्रदेश में मुस्लिम संस्कृति तथा इस्लाम धर्म का प्रचार किया जाए। इसी कारण वह देश के समस्त हिस्सों से बड़े-बड़े विद्वानों व धर्माधिकारियों को भी अपने साथ ले गया। दक्षिण का शासन-केन्द्र अथवा राजधानी बनने के लिए देवगिरि अत्यन्त उपयुक्त स्थान था। परन्तु दुर्भाग्यवश दिल्ली की जनता सुलतान की इस योजना से सहानुभूति न रख सकती थी क्योंकि निश्चय ही इसके लागू करने से उनकी बहुत हानि होती थी और अपना प्यारा वतन छोड़ना पड़ता था। साथ ही कुछ आकस्मिक घटनाएँ भी ऐसी हुईं जिन्होंने इस सद्भावजनित योजना को एक भयानक दुर्घटना का रूप दे दिया। इसी सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने की बात है कि शायद सुलतान ने दिल्ली को पूरी तरह खाली नहीं किया था। मसालिक के अनुसार साम्राज्य की दोनों राजधानियाँ साथ-साथ बनी रहीं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि दिल्ली से बराबर सिक्के ढलते रहे। इसी समय जब मुल्तान में बहराम ऐबा ने विद्रोह किया तो सुलतान ने तुरंत देवगिरि से दिल्ली आकर शहर में सेना एकत्रित की और मुल्तान पर चढ़ाई कर दी। इससे स्पष्ट है कि यदि दिल्ली बिलकुल नष्ट हो गई होती तो किस प्रकार सुलतान वहाँ आकर सेना एकत्रित कर सकता था। अतएव राजधानी-परिवर्तन करने के तरीक़े में चाहे सुलतान से ग़लती अवश्य हुई हो, उसके उद्देश में कोई निराधार कल्पना नहीं थी।

**किश्लूख़ाँ का विद्रोह**—बहराम ऐबा उपनाम किश्लूख़ाँ मुल्तान तथा सिन्ध का गवर्नर था और ग़यासुद्दीन तुग़लक़ का बड़ा कृपापात्र तथा स्वामिभक्त था। सुलतान के राजधानी-परिवर्तन के समय इतने दूर चले जाने से किश्लूख़ाँ को स्वाधीन शासक बन जाने का अवसर मिला, और उसने सुलतान के राजदूत का, जो उसके पास यह आज्ञा लेकर गया था कि अन्य प्रान्तीय शासकों की तरह वह भी दौलताबाद में अपना मकान बनाए, बड़ा अपमान किया और उसकी हत्या कर दी। सुलतान इस विद्रोह की सूचना पाते ही दिल्ली वापस लौटा और एक बड़ी सेना एकत्रित करके मुल्तान पर चढ़ाई की। सुलतान के एक सैनिक इमादुद्दीन

को किश्लूखाँ ने हराया और मार डाला। पर अन्त में सुलतान की सेना ने उसको पराजित किया और उसका सर काटकर मुल्तान के फाटक पर लटका दिया। अपनी आदत के अनुसार सुलतान ने इस विद्रोह का बदला लेने के लिए मुल्तान की समस्त जनता का वध कर देने की आज्ञा दे दी। इससे नगरवासी अत्यन्त भयभीत हुए और शेख़ रुक्नुद्दीन को सुलतान के पास भेजा कि वह इस आपत्ति से उनकी रक्षा करे और सुलतान से उनको क्षमा करने की विनती करे। शेख़ रुक्नुद्दीन अपने उद्देश में सफल हुआ और इस प्रकार मुल्तान की जनता नष्ट होने से बची। मुहम्मद अपने मंत्री ख्वाजा जहान को मुल्तान का शासक नियुक्त करके वापस लौटा।

**ताँबे की मुद्रा (संकेत-मुद्रा)**—सुलतान की नयी योजनाओं में एक प्रकार से सबसे विलक्षण संकेत मुद्रा-प्रणाली का प्रचलन करना था। पुराने लेखकों का यह विचार कि मुहम्मद तुग़लक की यह योजना भी उसकी अन्य निराधार अथवा काल्पनिक योजनाओं में से एक थी, सर्वथा अमान्य है। वास्तव में संकेत-मुद्रा संचालित करने की प्रेरणा उसको चीन व खुरासान की संकेत-मुद्रा प्रणाली से हुई थी। जगतविख्यात योद्धा व विजेता चंगेज़खाँ मुग़ल के पोते कुबलईखाँ ने (१२६०-१२६४) सारे चीन को विजित करके अपना विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था। इसी समय उसने वहाँ एक प्रकार के काग़ज़ की संकेत-मुद्रा चलायी थी जो चाऊ के नाम से पुकारी जाती थी। शायद इसी का अनुकरण करके ख़ुरासान में भी इसी प्रकार चमड़े की संकेत-मुद्रा प्रचलित की गई थी। सुलतान को विदेशी व्यापारियों से मालूम हुआ था कि चीन में हर प्रकार के लेन-देन व क्रय-विक्रय के लिए चाऊ का प्रयोग होता था। चाऊ एक काग़ज़ का टुकड़ा होता था जिस पर बादशाह के नाम आदि की मुहर छपी होती थी।

अब प्रश्न यह है कि सुलतान मुहम्मद को अपने साम्राज्य में संकेत-मुद्रा के चलाने की आवश्यकता क्यों पड़ी। इस सम्बन्ध में ज़िया बरनी के अनुसार बादशाह के अनन्त दान-दक्षिणा तथा अन्य योजनाओं पर बहुत-सा धन व्यय करने के कारण राजकोष में बहुत कमी हो गयी थी। एक विद्वान का यह भी सुझाव है कि उस समय यूरोप के रईसों में चाँदी के सामान की इतनी माँग थी कि इस धात की अन्य देशों में बहुत ही कमी हो गयी थी। अतएव हिन्दुस्तान में भी चाँदी के स्थान पर किसी अन्य धात के सिक्कों का बनवाना आवश्यक हो गया था। इस धारणा में बहुत-कुछ तथ्य जान पड़ता है क्योंकि कुछ अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि बादशाह के कोष में धन की तो कमी नहीं थीं किन्तु चाँदी की कमी अवश्य हो गई जान पड़ती है। यह ठीक है कि यह सुलतान बड़ी बेपरवाही से धन का अपव्यय करता था। दोआब में अकाल पड़ जाने से भी सुलतान के कोष को क्षति पहुँची होगी। किन्तु यह क्षति बहुत हद तक दक्षिण की जीत और वहाँ से प्राप्त धन से पूरी हो गयी होगी। दूसरे जब संकेत-मुद्रा के विफल हो जाने पर सुलतान ने समस्त

संकेत-मुद्राओं को वापस लेकर उनके मूल्य के बदले में सोने के सिक्के चुका दिए तब यह कैसे माना जा सकता है कि राजकीय कोष धन से खाली हो गया था।

उपरोक्त समीक्षा से सिद्ध होता है कि ताँबे की संकेत-मुद्रा के चालू करने में कोई अदूरदर्शिता अथवा राजनीतिक भूल नहीं थी। यदि जैसा कि निश्चय जान पड़ता है, देश में चाँदी की बहुत कमी हो गयी थी तो अवश्य ही संकेत-मुद्रा से देश की आर्थिक स्थति सुधर सकती थी तथा व्यापार में इस कमी से पड़ने वाली बाधाओं का निराकरण हो सकता था और विभिन्न प्रांतों के परस्पर आयात-निर्यात में बहुत आसानी हो सकती थी क्योंकि अर्थ-सम्बन्धी यह नियम सभी जानते हैं कि मुद्राओं के बाहुल्य से व्यापार तथा विनिमय की बहुत बढ़ोतरी होती है।

संकेत-मुद्रा चलाने में वास्तविक भूल यह थी कि सुलतान ने यह न समझा कि एक ऐसी नयी तथा विचित्र योजना के महत्व तथा लाभ को सामान्य जनता कभी भी न समझ पाएगी। उसने यह भी न सोचा कि यदि संकेत-मुद्राओं को ढलवाने का अधिकार सर्व-सामान्य को दिया गया तो सभी उसका लाभ उठाने के लिए संकेत-मुद्राओं का दुरुपयोग करने लगेंगे। अतएव इस योजना की सफलता के लिए संकेत-मुद्रा बनाने का अधिकार केवल सरकार को ही होना चाहिए। सुलतान ने सर्व-सामान्य की सद्बुद्धि व सद्भावों पर भरोसा किया कि वे इस योजना के लाभों को अच्छी तरह समझकर इसका सदुपयोग करेंगे। किन्तु न ऐसा होना था न हुआ। ज़िया बरनी के अनुसार तमाम हिन्दुओं के घर टकसाल बन गए। जान पड़ता है कि प्रायः हिन्दू लोग ही उस समय अधिक तादाद में व्यापारी तथा दस्तकार आदि होंगे। शायद इसीलिए अधिकतर हिन्दुओं ने ही संकेत-मुद्रा का दुरुपयोग किया होगा। परन्तु मुसलमानों अथवा अन्य किसी को भी संकेत-मुद्रा बनाने की रुकावट नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि लगभग तीन साल प्रचलित रहने के बाद ताँबे के सांकेतिक सिक्के इतनी अधिक संख्या में बाजारों में तथा हर स्थान पर प्रचलित हो गए कि उनका कुछ भी मूल्य न रह गया और व्यापार में अत्यन्त अव्यवस्था हो गयी। अन्त में जब सुलतान ने अपनी इस योजना को भी असफल होते देखा तब उसने घोषणा करदी कि जिस किसी के पास ताँबे के सिक्के हों वे उन्हें सरकारी खज़ाने में जमा कर दें और उनके बदले में सोने के सिक्के ले लें। ज़िया बरनी का यह कहना कि ताँबे के सिक्कों के बदले में चाँदी के सिक्के भी दिए गए थे, ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि चाँदी की कमी के कारण ही संकेत-मुद्रा चलायी गयी थी। इसका प्रमाण यह भी है कि मुहम्मद तुग़लक़ के चाँदी के सिक्कों से सोने के सिक्के बहुत अधिक मात्रा में आज भी मिलते हैं, विशेषकर सन् ७३३ हिजरी अर्थात् सन् १३३२ ई० के बाद में तो चाँदी के सिक्के प्रायः बने ही नहीं थे। इससे यह परिणाम निकलता है कि चाँदी के सिक्कों के स्थान पर जितने ताँबे अथवा अन्य खोटी धातुओं के सिक्के चल चुके थे उन सबके अंकित मूल्य के बराबर सोने के सिक्के बादशाह ने सरकारी खजाने से बँटवा दिए। निस्सन्देह इससे राजकोष को भारी क्षति पहुँची

होगी। तथापि सुलतान की अन्य योजनाओं से अनुमान होता है कि फिर भी कोष में धन की इतनी कमी नहीं हुई कि बादशाह की अन्य योजनाएँ बन्द हो जाएँ। सारांश यह है कि संकेत-मुद्रा प्रणाली सुलतान मुहम्मद की बुद्धिमत्ता तथा विस्तृत ज्ञान और नए-नए राजनीतिक प्रयोग करने की आकांक्षा का परिचय देती है न कि उसकी निराधार कल्पनाओं का।

मुहम्मद तुग़लक़ को एक आधुनिक विद्वान्, एडवर्ड टॉमस, ने मुद्रा-शास्त्रियों का नरेश (prince of moneyers) कहा है। उसकी यह प्रशंसा अनुचित नहीं है क्योंकि सांकेतिक मुद्रा के अतिरिक्त सुलतान ने अपनी मुद्राओं में बहुत ही सुधार किए और उनको हर प्रकार से उत्तम बनाया। पहले तो उसने टकसालों की तादाद बहुत बढ़ायी। दिल्ली व दौलताबाद के अतिरिक्त धार, लखनौती, सतगाँव, सुलतानपुर, तिलंगाना और तुग़लक़पुर अर्थात् तिरहूत में भी टकसालें खुलवायीं। दूसरे सिक्कों के ढलवाने में बहुत सुधार किया और कई प्रकार के छोटे-बड़े नए सिक्के भी चलाए जिनसे व्यापार व विनिमय में बहुत आसानी हुई।

**मध्य एशियाई नीति**—फिरिश्ता आदि बाद के लेखकों ने मध्य एशिया के चग़ताई सुलतान तरमाशीरीन के आक्रमण का उल्लेख किया है किन्तु समकालीन इतिहास-लेखक बरनी व इब्नबतूता ने इस घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है। मध्य एशिया की तत्कालीन परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए भी यही ठीक जान पड़ता है कि इस प्रकार का आक्रमण उस समय असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य था। वास्तविक घटना यह थी कि उस समय ख़ुरासान की आन्तरिक परिस्थिति बड़ी दुर्बल थी। इससे लाभ उठाकर तरमाशीरीन और मिस्र के बादशाह ने मिलकर ख़ुरासान पर चढ़ाई करने का विचार किया। ख़ुरासान का बादशाह उस समय हुलागू का वंशज अबू सईद नामक एक अत्यन्त दुराचारी नवयुवक था। वह अपने मंत्री अमीर चौबान की युवती कन्या से उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करना चाहता था। जब कन्या के पिता ने इसका विरोध किया तो अबू सईद ने उसका वध करा दिया। इससे सारे देश में बड़ी अव्यवस्था व असंतोष फैल गया। मुहम्मद तुग़लक़ ने भी ख़ुरासान की अव्यवस्था से लाभ उठाने के लिए तरमाशीरीन तथा मिस्र के साथ गुट बना लिया। तीनों ने तीन ओर से ख़ुरासान पर आक्रमण करके उस देश को हड़प कर जाने का संकल्प किया। इसी उद्देश से सुलतान ने एक बहुत बड़ी सेना भर्ती करना शुरू कर दिया। इस सेना को एक वर्ष का वेतन अगाऊ दे दिया गया। परन्तु दुर्भाग्यवश यह योजना भी निष्फल रही। चीन के बादशाह ने तरमाशीरीन की शक्ति को अधिक बढ़ जाने से रोकने के लिए उसके देश पर आक्रमण करने की तैयारी करना शुरू कर दिया। इसी बीच में तरमाशीरीन के राज्य में घरेलू विद्रोह हुआ और उसे सिंहासन से उतार दिया गया। यह देखकर मिस्र के राजा ने भी अबू सईद से मैत्री कर ली और इन दोनों की ओर से ख़ुरासान को कोई भय न रह गया। इस प्रकार इस गुट के टूट जाने से दिल्ली सुलतान के

लिए खुरासान पर अकेले हमला करना अत्यन्त दुष्कर हो गया। उसके लिए इतने दूर तथा अनजाने पहाड़ी प्रदेशों को पार करके इतनी बड़ी सेना को ले जाना बहुत ही कठिन जान पड़ा। अतएव सुलतान को यह योजना भी छोड़नी पड़ी और सेना पर राजकोष का बहुत अधिक धन व्यर्थ नष्ट हुआ।

सुलतान की इस योजना की तत्कालीन बरनी आदि तथा आधुनिक लेखकों ने भी कड़ी आलोचना की है। इस आलोचना में काफ़ी सचाई जान पड़ती है क्योंकि दोआब में अकाल पड़ने तथा अन्य योजनाओं के असफल होने आदि से केन्द्रीय प्रदेश में अत्यन्त असंतोष व अव्यवस्था फैली हुई थी। ऐसी परिस्थिति में इतने दूर तथा दुर्गम देश को जीतने का विचार करना भी कदाचित उचित न था। जो सेना इस कार्य के लिए भर्ती की गयी वह भी केवल भाड़े की सेना थी। इसके अतिरिक्त मिस्र व मध्य एशियाई शासकों पर भरोसा करना भी उचित नहीं था। इस दृष्टि से इस योजना को सुलतान की महत्त्वाकांक्षा का ही परिणाम कहा जा सकता है जिसकी सफलता-विफलता पर शायद उसने यथोचित विचार नहीं किया था।

**क़राचील पर आक्रमण**—इस आक्रमण के उद्देश तथा आक्रान्त प्रदेश आदि के सम्बन्ध में सभी लेखकों के भिन्न-भिन्न उल्लेख तथा मत हैं। इन्हीं के कारण आधुनिक लेखक भी बड़े भ्रम में पड़ गए हैं। बरनी ने इस स्थान का नाम क़राजिल लिखा है। इब्नबतूता ने क़राचील तथा फ़िरिश्ता व तबक़ाते अक़बरी आदि में हिमाचल लिखा है। बदायूँनी ने हिमाचल व क़राचील को एक ही बताया है। होदीवाला व अन्य अन्वेषकों का विचार है कि यह कुमायूँ का प्राचीन नाम कूर्माचल है और गढ़वाल तथा कुमायूँ का प्रदेश उसके अन्तर्गत है। फ़िरिश्ता के इस लेख से कि सुलतान ने चीन तथा हिमाचल के विजय की आयोजना की थी बहुत से आधुनिक लेखक इस भ्रम में पड़ गए कि सुलतान ने अपने पागलपन में तिब्बत और चीन को भी जीतने की योजना बनाई थी। वास्तव में सुलतान के लिए ऐसे दुस्साध्य-कार्य को करने का विचार करना भी असंभव था। उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में जाने के मार्ग काफ़ी अच्छे थे किन्तु तिब्बत और चीन तक सेनाएँ ले जाने का कोई सुगम मार्ग आज तक भी नहीं बन पाया है। तुग़लक़ सुलतान अवश्य ही इस प्रदेश के भूगोल से परिचित था। अतएव यह विचार सर्वथा निराधार है कि सुलतान ने तिब्बत व व चीन को जीतने की योजना बनायी थी। यह चढ़ाई अवश्य ही कूर्माचल (आधुनिक नैनीताल व अलमोड़ा आदि) प्रदेश पर की गयी थी।

इस चढ़ाई का उद्देश भी निश्चित नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि उस प्रदेश के किसी विद्रोही सरदार को दबाने लिए तथा उस भू-भाग पर दिल्ली साम्राज्य की सत्ता स्थापित करने के लिए यह चढ़ाई की गयी होगी। ज़िया बरनी के लेख से प्रतीत होता है कि क़राजिल प्रदेश मध्य एशिया के मार्ग का कोई प्रदेश होगा। वह कहता है कि जब मावरा-उन-नहर की चढ़ाई के लिए सेना तैयार की

जा रही थी तब सुलतान ने सोचा कि क़राजिल पर्वत को भी, जो हिन्दुस्तान से चीन के मार्ग में था, फ़तह कर लिया जाए। बरनी चीन और मध्य एशिया को एक ही समझता है क्योंकि वह आगे चलकर कहता है कि क़राजिल के जीत लेने से सेना के लिए घोड़ों के मिलने में आसानी होगी और उसके मार्ग में रुकावट न होगी। स्पष्ट है कि ज़िया बरनी को भूगोल का कुछ भी ज्ञान नहीं था क्योंकि उत्तर-पश्चिम पर्वत-खण्ड के अतिरिक्त इस मार्ग में और कोई पहाड़ी प्रदेश नहीं था और यह उस प्रदेश के विवरण से सर्वथा भिन्न था जिस पर आक्रमण किया गया था। बरनी कहता है कि सुलतान के आदेश के अनुसार समस्त सेना ने क़राजिल की ओर प्रस्थान किया और उस पर्वत-प्रदेश के अन्दर घुसकर कई स्थानों पर पड़ाव डाल दिए। जान पड़ता है कि इस सेना ने अपने वापस लौटने के लिए मार्ग को सुरक्षित रखने का कोई प्रबन्ध नहीं किया। स्थानीय प्रजा ने इससे लाभ उठाकर वापसी के सब नाक़ों पर अधिकार कर लिया और शाही सेना का राजधानी से सम्बन्ध पूरी तरह काट दिया। साथ ही वर्षा के कारण खाने-पीने की सामग्री आदि का पहुँचना भी अत्यन्त कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त सुलतान की सेना उस पहाड़ी प्रदेश के दुर्गम मार्गों से भी परिचित नहीं थी। अतएव यह सेना अत्यन्त संकट में पड़ गयी। शत्रु-सेना ने उसका मार्ग रोककर उस पर आक्रमण कर दिया और उसे लगभग समूचा नष्ट कर दिया। बरनी के अनुसार इतनी बड़ी सुव्यवस्थित तथा चुनी हुई सेना में से केवल दस सवार वापस लौटे। इस घटना से सुलतान की सेना तथा उसके प्रभाव को बड़ी क्षति पहुँची।

## (२)

## शासन का उत्तरार्द्ध

### तुग़लक़ सत्ता का ह्रास तथा साम्राज्य का विच्छेद

**भिन्न-भिन्न प्रदेशों में विद्रोह**—गरशास्प व मलिक बहराम ऐबा के विद्रोहों का जो मुहम्मद के शासन के आरम्भिक काल में ही हुए थे, उल्लेख किया जा चुका है। किन्तु उन विद्रोहों को सुलतान ने पूरी तरह कुचल दिया था और लगभग १५ वर्ष तक उसके भाग्य का नक्षत्र दिनोंदिन ऊपर चढ़ रहा था। सन् १३३५ के लगभग तक सुलतान मुहम्मद का साम्राज्य व सत्ता अपने पूर्ण क्षितिज को प्राप्त हो गए थे। किन्तु वह बहुत ही अल्पस्थायी हुई। अनेक कारणों से, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा, तुग़लक़ साम्राज्य का अपकर्ष तथा विच्छेद १३३५ के बाद ही आरम्भ हो गया था। यह विच्छेद मुख्यतया दक्षिण के देशभक्त सामन्तों की प्रतिक्रिया के कारण आरम्भ हुआ। इनकी सफलता में उत्तर प्रदेश के विद्रोहों ने भी काफ़ी सहायता की। पहले इन विद्रोहों का संक्षिप्त उल्लेख कर देना उचित होगा।

**दोआब का विद्रोह**—बरनी के अनुसार जब मुहम्मद मुल्तान से विजय प्राप्त करके लौटा, देवगिरि जाने के बजाए अपने समस्त मलिकों, अमीरों तथा सेना सहित

दो वर्ष तक दिल्ली में ही ठहरा रहा। इस अवकाश में भूमि-कर तथा अन्य करों की अधिकता के कारण दोआब की हिन्दू प्रजा अर्थात् किसान लोग नष्ट हो गए। वे इतने हताश हुए कि अपने मवेशियों को जंगलों में निकाल देते थे और खलिहानों में पैदावार को जला डालते थे। इस पर सुलतान ने उनको अपनी सेना के द्वारा अत्यन्त भयानक सज़ाएँ दीं और दोआब लगभग नष्ट हो गया। बरनी के निवास्थान बरन के ज़िले पर सुलतान का क्रोध बड़े भयानक रूप में उतरा। बादशाह के हुक्म से समस्त बरन प्रदेश विध्वंस तथा नष्ट कर दिया गया और बहुत से किसानों के सर कटवाकर ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर लटका दिए गए।

**बंगाल में विद्रोह**—लगभग इसी समय बंगाल के शासक बहरामख़ाँ की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी फ़ख़रुद्दीन ने विद्रोह कर दिया और शाही सेना तथा पदाधिकारियों के ऊपर अत्यन्त अत्याचार किया। इस प्रकार लखनौती, सुनारगाँव तथा सतगाँव हाथ से निकल गए। फ़ख़रा (फ़ख़रुद्दीन) और अन्य विद्रोहियों ने उन प्रदेशों पर अधिकार जमा लिया और इसके बाद वे फिर विजित न किए जा सके।

**कन्नौज से दलमऊ तक का दमन**—उन्हीं दिनों मुहम्मद को कन्नौज से दलमऊ तक के प्रदेश को दमन करने के लिए चढ़ाई करनी पड़ी। सुलतान इन विद्रोहों के कारण इतना कुपित हो गया था कि उसने इस प्रदेश की प्रजा को अत्यन्त कड़े दण्ड दिए। हज़ारों निहत्थे बेगुनाहों का वध कर डाला। यहाँ तक कि लोगों को जंगलों में से भी पकड़-पकड़कर क़त्ल करवाया। इस प्रकार दोआब के निकटवर्ती ज़िलों का विध्वंस करके सुलतान ने अपनी क्रोधाग्नि को शान्त किया।

**मआबर का विद्रोह (१३३४-३५) और मदुरा का स्वतन्त्र राज्य बनना**—जिस समय मुहम्मद कन्नौज के आसपास के प्रदेशों का दमन करने में लगा था उसी समय इब्राहीम ख़रीतेदार (फ़रमानों को भेजनेवाला अधिकारी) के पिता सय्यद अहसानशाह ने मआबर अर्थात् दक्षिण के पूर्वी तट पर विद्रोह कर दिया। इस प्रान्त की राजधानी दक्षिण के प्रसिद्ध नगर मदुरा में थी। वहाँ के अमीरों की हत्या करके उसने देश पर अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर दिया। इसकी सूचना पाकर सुलतान ने इब्राहीम ख़रीतेदार व उसके सम्बन्धियों को कारागार में डाल दिया और स्वयं सय्यद अहसान को दमन करने के लिए देवगिरि की ओर चल पड़ा। परन्तु उस समय परिस्थिति अत्यन्त संकटमय थी। दिल्ली के चारों ओर अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ गया था और अनाज का मूल्य बढ़ गया था। प्रजा में भारी असन्तोष तथा विद्रोह की आग भड़की हुई थी। तथापि सुलतान किसी प्रकार देवगिरि पहुँचा और वहाँ के उच्च वर्ग के लोगों से अत्यन्त कड़ाई के साथ कर वसूल करने शुरू किए। कुछ समय बाद सुलतान ने अहमद आयाज़ को दिल्ली भेज दिया और स्वयं वरंगल पहुँचा। वहाँ पर सुलतान की सेना में मरी फैल गई और वह स्वयं भी बहुत बीमार

हो गया। इन सब संकटों के कारण उसे तुरन्त वापस लौटना पड़ा और मग्राबर का प्रदेश स्वतन्त्र हो गया।

**ग्राइनुलमुल्क का विद्रोह (१३४०-४१)**—इन्हीं दिनों दिल्ली के ग्रासपास के प्रदेश की फ़सल के नष्ट हो जाने से कन्नौज के पास सरगद्वारी नामक एक नौ-ग्राबादी स्थापित करने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस ग्रवसर पर ग्रवध के शासक ग्राइनुल्मुल्क ग्रौर उसके भाइयों ने सुलतान की बड़ी सहायता की थी। परन्तु सुलतान के उतावलेपन के कारण इस राजभक्त ग्रमीर को भी विद्रोही बनना पड़ा। दक्षिण में कुछ विद्रोहों की सूचना पाकर मुहम्मद ने फ़ौरन ग्राइनुल्मुल्क को सपरिवार वहाँ जाने की ग्राज्ञा दे दी। ग्राइनुल्मुल्क को इस ग्रकस्मात् ग्राज्ञा से बड़ा विस्मय हुग्रा। कुछ ग्रसन्तुष्ट लोगों के बहकाने से ग्राइनुल्मुल्क को बादशाह के ऊपर संशय हो गया। उसने ग्रपनी रक्षा करने के लिए खुले ग्राम विद्रोह कर दिया ग्रौर सुलतान के सामान को जो उसके सुपुर्द था, ग्रपने ग्रधिकार में कर लिया। मुहम्मद भी ग्राइनुलमुल्क के इस कार्य से ग्रत्यन्त ग्राश्चर्यचकित हुग्रा। दोनों में घोर युद्ध हुग्रा पर ग्रन्त में ग्राइनुल्मुल्क की हार हुई ग्रौर वह पकड़कर सुलतान के पास लाया गया। उसके साथियों को तो बड़ी निर्दयता से क़त्ल करवा दिया गया किन्तु उसे सुलतान ने क्षमा करके शाही बाग़ों का निरीक्षक नियुक्त कर दिया।

**मुल्तान व सिन्ध तथा उत्तर भारत के ग्रन्य विद्रोह**—ग्राइनुल्मुल्क के विद्रोह के बाद मुल्तान ग्रौर सिन्ध में शाहू ग्रफ़ग़ान ने वहाँ के नायब बेहज़ाद की हत्या करके उस प्रदेश पर ग्रधिकार जमा लिया। सुलतान इस विद्रोह का दमन करने के लिए जब मुल्तान के निकट पहुँचा तो उसके ग्राने की सूचना पाकर शाहू ग्रफ़ग़ान ने बादशाह की ग्रधीनता स्वीकार कर ली। सुलतान मार्ग से ही वापस लौट ग्राया।

किन्तु इस ग्रभागे बादशाह को शान्ति से बैठने का एक दिन भी ग्रवसर न मिला। इन्हीं दिनों समस्त उत्तारीय पंजाब में दिल्ली से लगभग पेशावर तक विद्रोह खड़े हो गए। वहाँ के लोगों ने ख़राज देना बन्द कर दिया था ग्रौर लूट-मार किया करते थे। बादशाह ने इन सब विद्रोहियों का दमन किया ग्रौर उनके दलों को छिन्न-भिन्न कर दिया। उनके बहुत से मुक़द्दम व सरदार पकड़कर दिल्ली लाए गए ग्रौर मुसलमान बनाए गए तथा उनकी भूमि उनसे छीन ली गयी। इस प्रकार कुछ समय के लिए सुलतान ने उत्तर भारत में शान्ति स्थापित की।

**दक्षिण के ग्रन्य विद्रोह : विजयनगर**—सुलतान मुहम्मद के शासन के उत्तरार्द्ध के ग्रारम्भ से ही दक्षिण में हिन्दू व मुसलमान नेताग्रों के विद्रोह ग्रारम्भ हो गए थे। सन् १३३५ में मग्राबर में एक स्वतन्त्र मुसलमान राज्य स्थापित हो गया। १३३६ में संगम के पाँच बेटों ने जिनमें हरिहर ग्रौर बुक्का दो नाम प्रसिद्ध हैं, दिल्ली सम्राट की ग्रधीनता को सफलतापूर्वक हटाकर एक स्वाधीन हिन्दू राज्य की नींव डाली जिसमें थोड़े ही समय में कृष्णा के दक्षिण का समस्त प्रदेश सम्मिलित कर लिया गया। इस साम्राज्य की राजधानी जगत्-प्रसिद्ध नगरी **विजयनगर** हुई।

इसके थोड़े दिन बाद १३४६-४७ में दक्षिण के कुछ सैनिकों ने विद्रोह करके अलाउद्दीन हसन बाहमानशाह के नेतृत्व में बाहमनी राज्य स्थापित कर दिया। इस राज्य की राजधानी गुलबर्गा को बनाया। दक्षिण के इस स्वाधीनता आन्दोलन का पूरा वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

**बाहमनी राज्य की स्थापना**—इस प्रकार सुदूर दक्षिण का लगभग सारा प्रदेश साम्राज्य से पृथक हो गया और केवल गुजरात व देवगिरि सुलतान के आधिपत्य में रह गए। वह अपनी योजनाओं की असफलता तथा अनेक दैवी दुर्घटनाओं के निरन्तर होने से इतना व्यथित तथा चिड़चिड़ा हो गया था कि इस दुरवस्था को संभालने व जनता में विश्वास के भाव उत्पन्न करने की क्षमता उसमें न रह गयी थी। वह बड़ा संदेही हो गया था। देवगिरि का शासक कुतलुग़खाँ बहुत योग्य तथा सर्वप्रिय था। सुलतान ने अनायास उसको हटाकर उसके स्थान पर उसके भाई को नियुक्त किया जिसके कारण समस्त प्रजा में अत्यन्त असंतोष फैला। राजकार्य में भी बड़ी अव्यवस्था फैल गयी क्योंकि देवगिरि का नया अत्याचारी शासक राजकर्मचारियों पर नियंत्रण नहीं रख सकता था। इसी ससय सुलतान के प्रिय अज़ीज़ खम्मार ने, जिसे मालवा और धार का मुक़्ती बना दिया गया था, वहाँ के बहुत से प्रतिष्ठित 'सादा अमीरों' (शताश्वपति) को क़त्ल करवा डाला। अज़ीज़ के इस बरबरतापूर्ण कार्य से दक्षिण के सभी अमीर अत्यन्त भयभीत हो गए और उन्होंने अपनी रक्षा के हेतु खुले तौर पर विरोध करना निश्चय कर लिया। यह विद्रोह जल्दी ही सुदूर दक्षिण तक फैल गया। उसको दबाने के लिए सुलतान गुजरात के भड़ौच नगर (भृगुकच्छ) में पहुँचा और देवगिरि के नए शासक निज़ामुद्दीन आलिमुल्मुल्क को आदेश भेजा कि दक्षिण के सब विदेशी सामन्तों व अमीरों को बादशाह के पास तुरन्त भेज दे। रायचूर, मुद्गल, गुलबर्गा, बीजापुर, बरार व बीदर आदि स्थानों के अमीर बादशाह की आज्ञा के अनुसार गुजरात की ओर चल पड़े। किन्तु मार्ग में उनको सन्देह हुआ कि बादशाह उनको नष्ट करना चाहता है। अतएव वे तुरत शाहीरक्षक सेना पर टूट पड़े और उनमें से बहुतों का वध करके वे दौलताबाद लौट आए और उसके शासक निज़ामुद्दीन को बन्दी कर लिया। देवगिरि के राज्य तथा राजकीय कोष पर अधिकार करके उन्होंने अपने में से एक सैनिक मलिक इस्माईल मख को अपना नेता बनाया और स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इसकी सूचना पाकर सुलतान दौलताबाद पहुँचा और विद्रोहियों को परास्त किया। इस परिस्थिति में मलिक इस्माईलखाँ तो देवगिरि के गढ़ में बन्द हो गया और हसन गंगू गुलबर्गा की ओर चला गया। सुलतान ने दौलताबाद का घेरा डाला तथा अन्य विद्रोहियों को पकड़ने के लिए सेना भेजी। जल्दी ही दौलताबाद पर उसने अधिकार कर लिया किन्तु दुर्भाग्यवश इसी समय तग़ी ने गुजरात में विद्रोह कर दिया और सुलतान को उधर भागना पड़ा। उसकी पीठ फिरते ही दक्षिण के अमीरों ने अपनी खोई हुई भूमि फिर से वापस ले ली और शाही सेनापति एमादुल्मुल्क को

परास्त करके अलाउद्दीन हसन गंगू ने दौलताबाद फिर से छीन लिया। इस्माइल मख को उन्होंने अपना बादशाह चुना किन्तु वह बहुत बूढ़ा था अतः उसने स्वयं नवयुवक सुयोग्य योद्धा अलाउद्दीन हसन के लिए अपना स्थान छोड़ दिया। इस प्रकार अगस्त १३४७ में हसन ने स्वतंत्र बाहमनी राज्य की स्थापना की और अलाउद्दीन हसन अबुल मुज़फ़्फ़र बाहमान शाह की उपाधि धारण की।

**सुलतान की मृत्यु**—गुजरात के विद्रोह की सूचना पाकर दक्षिण को छोड़कर सुलतान वहाँ पहुँचा और विद्रोहियों को पकड़ने के लिए स्थान-स्थान पर घूमता रहा। परन्तु उसका सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। तो भी समुद्र-तट का प्रदेश उसने अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ एक बड़ी सेना के साथ सिन्ध के नगर ठट्टा की तरफ रवाना हुआ। परन्तु जब ठट्टा का सफ़र कोई तीन-चार दिन का रह गया था, सुलतान बीमार हुआ और उसी स्थान पर २० मार्च १३५१ को उसकी मृत्यु हो गयी।

**सुलतान की दक्षिण नीति का सिंहावलोकन**—खल्जी काल में दक्षिण खण्ड के सभी हिन्दू राजाओं को दिल्ली सुलतान के सामने झुकना पड़ा था। किन्तु इतने दूर तथा विस्तीर्ण प्रदेश को साम्राज्य में संयुक्त करके उस पर सीधा शासन स्थापित करना सुगम न था। अतएव अलाउद्दीन खल्जी ने यथासम्भव दक्षिण के हिन्दू राजाओं से केवल अपना आधिपत्य स्वीकार कराके और उनसे राजकर देने का वचन लेकर छोड़ दिया था। जब तुग़लक सुलतान दिल्ली साम्राज्य के स्वामी बने तो उन्होंने आवश्यक समझा कि समस्त साम्राज्य को सर्वांग रूप से सुसंगठित तथा सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि दक्षिण के विभिन्न राज्यों को भी अन्य प्रान्तों की भाँति साम्राज्य में मिला लिया जाए और उन पर भी एकसमान शासन-व्यवस्था क़ायम की जाए। इस नीति का अनुकरण आरम्भ से ही तुग़लक़ सम्राटों ने किया था और इसमें वे काफ़ी हद तक सफल हुए। राजधानी-परिवर्तन भी इसी उद्देश की पूर्ति का एक कारण था, किन्तु मुहम्मद तुग़लक़ ने राजनीतिक नियंत्रण तथा संगठन करने पर ही संतोष न किया। उसका यह भी प्रयास था कि दक्षिण में मुसलमानी साहित्य, संस्कृति तथा इस्लाम धर्म का प्रचार भी किया जाए और वहाँ की जनता में मुसलमानों की संख्या इतनी काफ़ी बढा दी जाय जिससे मुसलमानी राजसत्ता की नींव पूरी तरह दृढ़ हो जाए। जैसा कि हम यथास्थान बतलाएँगे, दक्षिण के हिन्दू नेताओं का विद्रोह, जिसके द्वारा उन्होंने बहुत ही जल्दी दिल्ली साम्राज्य के अधिकार को छिन्न-भिन्न करके हिन्दू साम्राज्य की फिर से स्थापना की, मुसलमानों के इस सांस्कृतिक व धार्मिक साम्राज्य स्थापित करने से दुस्साहस के विरुद्ध मुख्य रूप से हुआ। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उनके लिए राजनीतिक जुए को फेंक देना आवश्यक ही था। यही कारण था कि इस हिन्दू प्रतिरोध के पीछे दक्षिण के राजनीतिक नेता ही नहीं किन्तु बड़े-बड़े विद्वान एवं धार्मिक नेता थे।

**मुहम्मद तुग़लक़ और इस्लाम धर्म के नेता**—बतला चुके हैं कि मुहम्मद तुग़लक़ अपनी अनुपम विद्वत्ता के कारण इस्लामी शरियत के अधिकारियों व धार्मिक नेताओं की अधिक परवाह न करता था। शुरू में उसने अपने राजनीतिक कार्य तथा शासन-संचालन में कट्टरपंथी नीति को छोड़कर बुद्धिवाद से काम लिया। स्वाभाविक ही था कि धर्म के ठेकेदार इस्लामी उलमा तथा मुल्ला वर्ग उससे अत्यन्त रुष्ट हो गए। उसकी नयी-नयी योजनाओं को भी यह अन्धविश्वासी तथा परम्पराओं के दास शरियत के विरुद्ध समझते थे। वे प्रत्येक नई बात को बड़ी शंका की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि सुलतान यथासम्भव प्रत्येक आवश्यक प्रश्न पर इस्लामी धर्माधिकारियों से परामर्श करता था तथापि उनकी बात वह उसी हद तक मानता था जहाँ तक वह बुद्धिसंगत हो और उसको संतुष्ट कर सके । यदि क़ाज़ियों के फ़ैसले दोषपूर्ण पाता था तो उनको रद्द कर देने में वह तनिक भी न हिचकता था। वह यह भी नहीं मानता था कि न्याय-विभाग के अधिकारी केवल धार्मिक पंडित ही हों। अन्य वर्गों में से भी वह इस विभाग के संचालकों को नियुक्त कर देता था। यदि उलमा व काज़ी आदि वर्ग में से कोई किसी प्रकार का नियम भंग करता था तो सुलतान उसको कड़ी से कड़ी सज़ा देने से न चूकता था। शेख व सय्यद आदि किसी वर्ग का भी ऐसे अवसर पर लिहाज़ नहीं किया जाता था। मुहम्मद वास्तव में धर्म के ठेकेदारों के आतंक व प्रभाव को तोड़कर हर प्रकार से प्रजा को यह दिखलाना चाहता था कि राज्य में सर्वोपरि शक्ति बादशाह की है न कि मुल्लाओं की क्योंकि बादशाह ईश्वर का सांसारिक प्रतिबिम्ब है। उसकी यह नीति बहुत हद तक सफल हुई और मुल्लाओं का आतंक तथा उनका राजनीति में हस्तक्षेप प्रायः नष्ट हो गया। किन्तु इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि समस्त मुल्ला वर्ग सुलतान के विरुद्ध हो गया।

सुलतान ने अपने सर्वोच्च पद तथा उसके अनुपम महत्व का स्पष्ट परिचय जनता को देने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न किया। अपने सिक्कों पर उसने यह लेख अंकित कराया : "सुलतान की आज्ञा पालन करना ही ईश्वर की आज्ञा पालन करना है, ईश्वर सुलतान का समर्थक है ; सुलतान ईश्वर की परछाईं है ; सुलतान का पद भगवान विशिष्ट मनुष्य को ही प्रदान करता है" इत्यादि। उसने ख़िलाफ़त का नाम लेना भी त्याग दिया जिसका अभिप्राय यह था कि स्वयं सुलतान ही ख़लीफ़ा है, उससे ऊपर सिवाय ईश्वर के और कोई सांसारिक शक्ति नहीं है। अपने इस दावे को सार्थक करने के हेतु मुहम्मद ने अपूर्व उदारता, दानशीलता तथा न्यायप्रियता का परिचय दिया। किन्तु साथ ही अपने चिड़चिड़े मिज़ाज व उतावलेपन के कारण अक्सर वह इतनी निर्दयता व क्रूरता के कार्य कर बैठता था जिसके कारण प्रजा उसके उच्च गुणों को तो भूल जाती थी और उसके निर्दयतापूर्ण कार्यों का ही प्रभाव उनके मन पर रह जाता था। इसके अतिरिक्त मुल्ला वर्ग ने भी सुलतान को बदनाम करने में कसर न छोड़ी। ज़िया बरनी ने जिस प्रकार इस सुलतान की

योग्यता की सराहना करते हुए भी उसके कार्यों तथा योजनाओं का चित्रण किया है उससे सिद्ध हो जाता है कि मुल्ला वर्ग इस सुलतान के कामों को किस दृष्टि से देखता था ।

**मिस्र के ख़लीफ़ा द्वारा प्रमाणित होना**—जब सुलतान ने देखा कि वह मुसलमानों में भी बहुत अप्रिय होता जा रहा है और उसका विरोध जनता में बढ़ता जा रहा है तो उसने मुल्ला वर्ग को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया । अपने शासन के उत्तरार्द्ध में उसने ख़िलाफ़त के प्रति भी बड़ी अपूर्व श्रद्धा का प्रदर्शन किया ताकि मुस्लिम जनता उसे मुस्लिम धर्म का सच्चा अनुयायी समझने में संदेह न करें । इस ओर वह यहाँ तक बढ़ा कि उसने मिस्र के सर्वथा निःशक्त ख़लीफ़ा से बड़े विनय-पूर्वक याचना की कि वह यह प्रमाणित कर दे कि मुहम्मदशाह इस्लामी कानून की दृष्टि से वास्तविक बादशाह है । नये सिक्कों पर सुलतान के बजाय ख़लीफ़ा का नाम लिखवाया, यहाँ तक कि समस्त राजकीय विज्ञप्तियाँ तथा आज्ञाएँ सुलतान के स्थान पर ख़लीफ़ा के नाम से निकलनी शुरू हुईं । १३४० में सुलतान ने मिस्र के ख़लीफ़ा को अत्यन्त मूल्यवान उपहार भेजे । तथापि सुलतान के प्रति जनता में विश्वास व श्रद्धा उत्पन्न न हो सकी ।

**तुग़लक साम्राज्य का विस्तार और उसके प्रान्त**—तुग़लक़ साम्राज्य ग़यास-तुग़लक़ के समय में ही बहुत विस्तीर्ण हो चुका था । परन्तु डा० मेहदी हुसैन का यह कहना है कि काश्मीर, अफ़ग़ानिस्तान व बलोचिस्तान को छोड़कर, लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष सुलतान के साम्राज्य में सम्मिलित था, सर्वथा निराधार है । यदि मसालिक में दिए हुए सूबों को बिलकुल ठीक मान लिया जाय तो भी साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा लाहौर और कलानूर* अर्थात् रावी नदी के पूर्वी तट तक ही रह जाती है ।

'मसालिक' में तुग़लक़ साम्राज्य के २३ सूबों के नाम गिनाए गए हैं :—(१) दिल्ली, (२) देवगिरि, (३) मुल्तान, (४) कोहराम, (५) सामाना, (६) सीवि-स्तान ( पश्चिमी सिंघ का हिस्सा ), (७) उच्च, (८) हाँसी, (९) सरसुती, (सिरसा), (१०) कलानूर (जिला गुरदासपुर, पंजाब) (११) लाहौर, (१२) बदायूँ

* आगा मेहदी हुसैन साहब ने कलानूर को गुजरात (पंजाब) के जिले में पहुँचा दिया है जो झेलम नदी के किनारें पर है। (देखो 'तुग़लक़ डाइनेस्टी' पृ० २०६, फु० नो० ५)—वास्तव में कलानूर दो हैं, एक रोहतक से कोई १० मील पश्चिम में और दूसरा ज़िला गुरदासपुर में, उस शहर से कोई १५ मील पश्चिम और रावी से लगभग आठ मील पूरब में है। यदि इस कलानूर को भी 'मसालिक' का कलानूर मान जाय तो भी पश्चिमी सीमा रावी तक ही रह जाती है। दक्षिण-पश्चिम में सल्तनत अवश्य मुल्तान और उच्च तक रही होगी किन्तु उत्तर में सल्तनत किसी समय भी रावी से आगे न बढ़ पाई थी। इसी से शेरशाह को झेलम तक अपना अधिकार स्थापित करने में अनथक प्रयत्न करना पड़ा था।

(१३) अवध, (१४) कन्नौज, (१५) कड़ा, (१६) बिहार, (१७) लखनौती, (१८) मालवा, (१९) गुजरात, (२०) जाजनगर (उड़ीसा), (२१) तिलंगाना, (२२) मग्राबर, (२३) द्वारसमुद्र (मैसूर)। यह सूची मसालिक की उस हस्तलिपि से ली गई है जो इस समय अलक़ाहिरा (मिस्र) के दारुल्कुत्ब में सुरक्षित है। दूसरी हस्तलिपियों में इस सूची के सभी सूबे मिलते हैं किन्तु नं० (९) सरसुती के बाद उनके क्रम में भेद है। ज़िया बरनी की सूची में गुजरात, मालवा, मरहठ (देवगिरि), तिलंग, काम्पिल, द्वारसमुद्र, मग्राबर, लखनौती, सतगाँव, सुनारगाँव और तिरहूत हैं। उसने इन सूबों के नाम इसलिए दिए हैं कि मुहम्मद ने इन सूबों को फिर से अपने अधीन किया था। उत्तर के सूबों के नाम इस कारण शायद नहीं दिए कि वे साम्राज्य में पहले से ही शामिल थे। काम्पिल, सुनारगाँव व सतगाँव भी 'मसालिक' में नहीं हैं।

दूसरी समस्या इस सम्बन्ध में यह है कि हमारे मित्र आगा साहब ने हाँसी, कोहराम, सरसुती और सामाना को अलग-अलग प्रान्तों का केन्द्र मान लिया है। किन्तु ये सब इतने पास-पास हैं कि इनका विभिन्न प्रान्तों का केन्द्र होना सम्भव नहीं है। यदि इनमें से हाँसी को केन्द्र मानकर देखा जाए तो हम देखेंगे कि सरसुती (सिरसा) ६० मील उत्तर-पश्चिम में है, और गोहराम व सामाना जो बहुत ही पास-पास हैं, हाँसी के ८५ मील पश्चिमी उत्तर में हैं, और गोहराम तो सामाना से केवल २० मील पर है। इसी प्रकार कड़ा, अवध व कन्नौज एक-दूसरे के २०० मील के अन्दर हैं। उच्च मुल्तान से कुल ६५ मील के लगभग है। इन फ़ासलों को दृष्टि में रखते हुए यही परिणाम निकाला जा सकता है कि 'मसालिक' के लेखक **उमरी** को जिन यात्रियों से यह सूचना मिली थी उन्होंने अपनी याद से यह सब बतलाया होगा। इसीसे इसको पूरी तरह ठीक मानना उचित न होगा। उमरी यदि भारत के भूगोल से परिचित होता तो इनको महत्वपूर्ण शहरों की सूची में रखता न कि प्रान्तों के केन्द्रों की सूची में।

•

## छठा प्रकरण

# दिल्ली सल्तनत का पतन और विच्छेद

सोलह

## फ़ीरोज़शाह तुग़लक (१३५१-१३८८) और उसके उत्तराधिकारी

### साम्राज्य का ह्रास और विच्छेद

**राजनैतिक स्थिति**—फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ अगस्त सन् १३५१ में गद्दी पर बैठा।* वह ग़यासउद्दीन तुग़लक़ के छोटे भाई रजब का लड़का था। उसकी माता अबोहर के भट्टी राजपूत सरदार रणमल की लड़की थी जिसके पिता को रजब और ग़यास ने उसका राज्य तबाह कर डालने की धमकी दी थी। तब उसने कहा कि प्रजा और राज्य की रक्षा के लिए मैं प्रसन्नता से मुसलमान के साथ शादी करके

*जब मार्च १३५१ में मुहम्मद तुग़लक़ की सिन्ध में विद्रोहियों के विरुद्ध लड़ते-लड़ते मृत्यु हुई उस समय परिस्थिति अत्यन्त निर्बल व गहन थी। सुलतान की सेना के बहुत से नेता विद्रोहियों से जा मिले थे। इस परिस्थिति को संभालने के विचार से सुलतान के अमीरों तथा अन्य नेताओं ने उसके चचेरे भाई कमालुद्दीन फ़ीरोज़ को तख्त पर बिठाने का निश्चय किया। परन्तु खुदाबन्दज़ादा (मुहम्मद की बहन) ने इसका विरोध किया और अपने बेटे दावर मलिक को सुलतान बनाने की चेष्टा की। परन्तु अमीरों ने उसकी एक न सुनी। उसने फ़ीरोज़ का वध करने की भी कोशिश की। इस पर उसे जीवन भर कारागार में रहना पड़ा।

पर दिल्ली में एक और समस्या खड़ी हो गई थी। वजीर ख्वाजा जहान ने एक लड़के को मुहम्मद का बेटा कहकर सुलतान घोषित कर दिया था। यह लड़का मुहम्मद का औरस पुत्र वास्तव में था, यह अनिश्चित है। पर अमीरों ने ख्वाजा जहान को बाग़ी करार दिया और मरवा डाला। जब फ़ीरोज़ दिल्ली पहुँचा तो मुस्लिम जनता ने उसका बड़ी खुशी से अभिवादन किया। उसके सब विरोधियों को नष्ट कर दिया गया।

आत्म-समर्पण करने को तैयार हूँ। एक ऐसी राजपूत माता का पुत्र फ़ीरोज़ अत्यन्त संकीर्ण-हृदय तथा धर्मान्ध मुसलमान था। उसमें न तो मुहम्मद तुग़लक़ जैसी बुद्धि थी और न विद्वत्ता। वह एक अत्यन्त साधारण कोटि का शासक था। दूरदर्शिता का भी उसमें नितान्त अभाव था। उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय देश की जो स्थिति थी वह मुहम्मद के राज्य के वर्णन में भलीभाँति बतला दी गई है। साम्राज्य का विस्तार आधे से भी कम रह गया था। सारा दक्षिण, गुजरात, सिंध तथा बंगाल आदि स्वतन्त्र हो गए थे। पूरा उत्तरी भारत भी साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। जो कुछ था, उसका शासन भी अस्त-व्यस्त हो चुका था। मुहम्मद की अनीतियों और दैव के प्रकोप दोनों ने मानो जनता के विरुद्ध एका कर लिया था। मुहम्मद के प्रजापालन के कार्य तो कभी सफल न हुए ; हाँ, उसके क्रोध की ज्वाला से भस्मसात् हुई जनता रह गई। दिल्ली के आस-पास का बहुत सा देश उजड़ गया था। एक काम अवश्य अनुकरणीय तथा अत्यन्त श्रेयस्कर हुआ था। मुहम्मद ने शासन में उदार नीति को चालू किया था। अतएव फ़ीरोज़ का कर्त्तव्य था कि एक योग्य शासक के समान वह मुख्यतया इन बातों को पूरा करे : (१) जनता के दुःखों का निवारण करके उनको फिर से सुख-शान्ति प्रदान करे; (२) शासन को सुसंघटित करे और मुहम्मद की एक मात्र अपूर्व देन (शासन में उदार नीति) को नष्ट न होने दे, प्रत्युत उसे पूर्णरूप से परिपक्व करके एक राष्ट्रीय शासन का सूत्रपात करे, एवं उसके अन्य लाभकारी संशोधनों को भी नष्ट न होने दे। और (३) साम्राज्य के खोए हुए भागों को फिर से जीते। ये सारे कार्य अत्यन्त कठिन एवं कष्टसाध्य थे और फ़ीरोज़ तुग़लक़ जैसे साधारण कोटि के शासक की शक्ति के सर्वथा बाहर थे।

**मन्त्रिमण्डल का निर्माण**—कियामुल्मुल्क खाँजहाँ तिलंगानी को फ़ीरोज़ ने नायब वज़ीर नियुक्त किया। उसकी योग्यता व सच्चे सेवाभाव से प्रभावित होकर वज़ीर ख़्वाजा जहान ने प्रायः सारा शासन का काम उसी पर छोड़ दिया। सुलतान का भाई इब्राहीम **बारबक** (न्यायाधीश) बनाया गया। दूसरे भाई कुत्बुद्दीन को **अमीरुलउमरा** की उपाधि दी गई। सैफ़ुद्दीन तिर्मिजी **अमीरे शिकार** और एक मन चढ़े गुलाम बशीर को **सरलश्कर** (सेनापति) नियुक्त किया। कई अन्य गुलामों को अन्य पदों पर नियुक्त किया। इस प्रकार नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण करके फ़ीरोज ने शासन आरम्भ किया।

**शासन-व्यवस्था को ठीक करना**—फ़ीरोज़ तुग़लक के शासन-काल को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहला कोई २० वर्ष का अवकाश (१३५८-१३७१ तक) और दूसरा १७ बरस के लगभग (१३७१ से सुलतान के मरने तक का)।

जहाँ तक सामान्य शासन का सम्बन्ध है, तत्कालीन लेखकों (विशेषकर शम्सेसिराज अफ़ीफ़) के बयान के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि शुरू में प्रजा की सुख-शान्ति में काफी उन्नति हुई। इस सम्बन्ध में यह न भूल जाना चाहिए कि फ़ीरोज़ की प्रवृति मुहम्मद तुग़लक़ के सर्वथा विरुद्ध थी। उसमें उदारता के भावों

का लेषमात्र न था। साम्प्रदायिक कट्टरता में उसका सानी शायद ही कोई सुलतान हुआ हो। अतएव जो कुछ कार्य उसने देश और प्रजा की उन्नति के हितार्थ किए उनका कितना लाभ हिन्दू जनता को मिला होगा, इसका अनुमान करना बहुत कठिन है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बाग, नहर, आदि लोकहित-कारी आयोजनों का लाभ हिन्दू प्रजा को अवश्य प्राप्त हुआ होगा, कारण कि गाँवों में तब भी हिन्दुओं की ही अधिक आबादी थी।

इस सुलतान के शासन-कार्य का बयान करते समय हमें उपर्युक्त बातों को अवश्य दृष्टि में रखना चाहिए। इतना तो विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आरम्भ में फ़ीरोज़ ने शासन-कार्य बड़े जोश व योग्यता के साथ किया। इसका श्रेय उसके योग्य, अनुभवी मन्त्री, मलिक मक़बूल को देना चाहिए, जो सौभाग्य से फ़ीरोज़ की सहायता के लिए मौजूद था।*

मलिक मक़बूल के परामर्श से सुलतान फ़ीरोज़ ने कई बड़े सराहनीय कार्य किए। २० बरस तक इस बुद्धिमान वज़ीर के परामर्श व पथ-प्रदर्शन का सौभाग्य इस सुलतान को प्राप्त रहा। सबसे पहले मक़बूल ने वह सब कर्जा जो किसानों को खेती की वृद्धि करने के लिए बाँटा गया था और जिसकी तादाद दो करोड़ तक थी, माफ़ करवाया।

पीड़ित जनता को संतुष्ट करने और अपने भाई मुहम्मद के पापों को क्षमा कराने के लिए फ़ीरोज़ ने उन सब लोगों को, जिनके सम्बन्धी निरापराध मारे गए थे या जिनको किसी अन्य प्रकार से ऐसा ही कष्ट पहुँचा था, उनको हरजाना देकर उनसे इस बात के हस्ताक्षर ले लिए कि वे सन्तुष्ट हो गए। सब काग़ज़ात एक सन्दूक में बन्द करके उसने मुहम्मद की क़ब्र के पास सरहाने की तरफ़ रखवा दिए जिससे वह ईश्वर के दण्ड से बच जाए। फिर उसने एक योग्य अमीर ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैद को **भूमि-कर की जाँच-पड़ताल** करने के लिए नियुक्त किया। उसने सारे राज्य का भ्रमण करके छः बरस में पूरी रिपोर्ट तैयार करके पेश की इस रिपोर्ट के आधार पर ६ करोड़ ७५ लाख भूमिकर समूचे साम्राज्य से वसूल करना तय किया गया। फ़ीरोज़ ने मालगुजारी की शरह को कम किया, इससे किसानों को कर अदा करने में आसानी हो गई। परन्तु यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि भूमिकर की मात्रा कितनी रखी गई। सूबेदारों से जो सालाना भेंट

---

*मलिक मक़बूल तिलंग देश का एक हिन्दू था जिसका पहला नाम कन्नू था। तिलंगाना के राजा का वह बड़ा प्रिय सेवक था। वह बड़ा अनुभवी, तीव्रबुद्धि, नीतिज्ञ और विद्वान था; विशेषकर वह गणित का पण्डित था। वह सुलतान मुहम्मद के दरबार में नौकर हो गया था और मुसलमान हो गया था। मुहम्मद ने ही उसका नाम मक़बूल रखा था और उसे अपना नायब वजीर नियुक्त किया था। उसे क़िवामुल्क का खिताब और मुल्तान की इक़्ता भी दी गई थी।

ली जाती थी, उसे भी फ़ीरोज़ ने बन्द कर दिया (यद्यपि पीछे से उसी के राज्य में यह प्रथा फिर शुरू हो गई), क्योंकि इसका भार भी अन्त को किसानों पर ही पड़ता था। अफ़ीफ़ ने उसकी प्रशंसा करने में बहुत अत्युक्ति से काम लिया है, तथापि यह सत्य ही जान पड़ता है कि शीघ्र ही गाँवों की दशा काफी सुधर गई। खेती और उपज में बढ़ोतरी हुई। दिल्ली के आस-पास फलों के १,२०० बाग लगाए गए जिनसे सरकार को १,८०,००० टंका की सालाना आमदनी होती थी। इसी प्रकार खेती-बाड़ी अच्छी होने से तथा अन्य उपायों से आय बढ़ी और लगभग ७ करोड़ टंका हो गई। सन् १३७५ में फ़ीरोज़ ने कोई २५ प्रकार के कर एकदम मन्सूख़ कर दिए। इससे सरकार को आय की काफी हानि हुई, परन्तु चीज़ें बहुत सस्ती हो गईं। ८ जीतल की एक मन दाल और ४ जीतल का एक मन जौ बिकता था। उसके इन करों को हटा देने का कारण यह भी था कि वह शरियत में प्रतिपादित चार करों * के सिवा और कोई कर न लेना चाहता था। भूमिकर लगाने में सुलतान ने नाप आदि के नियम को छोड़कर फिर से बटाई का नियम लागू किया और सैनिकों को वेतन जागीरों के रूप में देने शुरू किए।

इन उपायों के अतिरिक्त खेती के लिए फ़ीरोज़ ने पाँच नहरें बनवाईं जिनके चिह्न अब तक विद्यमान हैं। इनका विवरण आगे किया जाएगा।

शासन को सुदृढ़ करने और साम्राज्य के खोए हुए प्रान्तों को फिर से विजय करने में फ़ीरोज़ को इतनी सफलता न हुई। सौभाग्य से उसके शासन-काल में मुग़लों का कोई हमला न हुआ और वह एक बड़ी भारी समस्या से बच गया। दक्षिण के सूबों को तो उसने छेड़ने का विचार ही न किया। हाँ, बंगाल पर सबसे पहले चढ़ाई की। सन् १३५३-५४ में बंगाल के सूबेदार शम्सुद्दीन (हाज़ी इलियास-शाह) पर चढ़ाई की। वह इकंदला के क़िले में बन्द हो गया। जब फ़ीरोज़ अपनी सेना को थोड़ी दूर हटा ले गया, तब शम्सुद्दीन निकल आया। दोनों दलों में युद्ध हुआ और शम्सुद्दीन फिर भागकर क़िले में घुस गया। फ़ीरोज़ ने घेरा डाला, परन्तु औरतों और बच्चों के रोने-पीटने की आवाज़ सुनकर उसे दया आ गई और उसने शम्सुद्दीन से सुलह कर ली। दिल्ली लौट कर सन् १३५६ में उसने अपनी नई दिल्ली (फ़ीरोज़ाबाद) और फिर हिसार फ़ीरोज़ा† बसाया। सन् १३५९ में फ़ीरोज़ ने बंगाल पर फिर चढ़ाई कर दी। कारण यह था कि इलियास के लड़के सिकन्दरशाह ने पूर्वी बंगाल पर भी अधिकार कर लिया था। उसका दावेदार

* चार कर ये हैं— ख़िराज, ज़कात, जज़िया और ख़म्स।

† हिसार का नाम पहले अग्रोहा था। उस स्थान पर फ़ीरोज़ ने नया शहर बनाकर शायद नया नाम रखा। जौनपुर भी एक प्राचीन नगर के स्थान पर बनाया गया। हिन्दू परम्परा के अनुसार इसका नाम जमदग्नि ऋषि के नाम पर जमनपुर था।

पहले शासक का एक दामाद, जफ़रखाँ था जिसने भागकर फ़ीरोज़ से फ़रियाद की थी। फ़ीरोज़ ने चढ़ाई की और रास्ते में ज़फ़राबाद के पास एक पुराने शहर के स्थान पर नया शहर बसाया जिसका नाम जौनपुर पड़ा। शायद उसने उसका पुराना नाम जमनपुर बदलकर जौनपुर कर दिया हो। बंगाल पहुँचकर फ़ीरोज़ ने सिकन्दरशाह से फिर सुलह कर ली और ज़फ़रखाँ को दिल्ली में एक वज़ीर का पद दे दिया।

बंगाल से लौटते समय सुलतान ने जाजनगर (उड़ीसा) के राय पर हमला किया और उससे बहुत से हाथी इत्यादि सालाना खिराज भेजने का वादा कराया। साथ ही उसने जगन्नाथ का मन्दिर तोड़ा और मूर्तियों को समुद्र में फिकवा दिया। इस अवकाश में बहुत काल तक उसका कुछ पता न रहा। दरबार में उसकी कोई सूचना न आई। परन्तु योग्य मन्त्री मक़बूल ने शान्ति क़ायम रखी और शासन कार्य में गड़बड़ न होने दी।

सन् १३६०-६१ में उसने नगरकोट पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई का मुख्य उद्देश ज्वालामुखी देवी के मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट करना था, परन्तु छः महीने के घेरे के बाद दोनों दल थक गए। राय ने क्षमा माँग ली और फ़ीरोज़ उसे माफ़ करके लौट आया।

सन् १३७१-७२ में सुलतान ने ठट्टा पर चढ़ाई की। इसके लिए उसने बड़ी भारी तैयारी की। ९०,००० घुड़सवार, बहुत से पैदल और ४८० हाथी लेकर वह दिल्ली से रवाना हुआ। ५,००० नावों का एक बेड़ा भी भेजा गया। सिंध के सरदार ने भी बड़ी तैयारी की, परन्तु अन्त को उसे युद्ध में पीछे हटना पड़ा। सुलतान की फौज को अकाल, मरी, पानी की कमी आदि से बहुत कष्ट हुआ था और बहुत से लोग मर गए थे; इसलिए फ़ीरोज़ भी गुजरात में आकर फिर से तैयारी करना चाहता था। परन्तु एक विश्वास-घातक पथ प्रदर्शक ने सारी सेना को कच्छ के दलदल में फँसा दिया। सारी सेना महीने भर तक रास्ता न पा सकी। इस बार फिर दिल्ली तक कोई खबर न पहुँची और स्वामिभक्त मक़बूल ने फिर अपनी चतुराई से शासन को संभाले रखा। बड़ी कठिनता से सेना गुजरात पहुँची। वहाँ पहुँचकर सुलतान ने सेना को सुसंगठित किया। सबको घोड़े आदि आवश्यक सामग्री दिलवाई। तैयारी करने के बाद सिंध पर फिर हमला किया, और लड़ाई कई महीने तक चली। सुलतान ने एमादुल्मुल्क को भेजकर दिल्ली से कुमक मंगवायी। अन्त को जाम ने हार मानी। उसे सुलतान दिल्ली ले आया और पेन्शन दे दी।

**फ़ीरोज़ का शासन-कार्य**—हम देख चुके हैं कि फ़ीरोज़ ने सार्वजनिक हित के काम शुरू ही से बड़ी तत्परता से किए और प्रजा को सुखी बनाया। परन्तु वह पक्का मुसलमान और उदार राष्ट्रीय नीति के सिद्धान्तों से बिलकुल अनभिज्ञ था। इसलिए उसने शासन के सिद्धान्तों को फिर संकुचित करके उसमें धर्मान्धता को

प्रधानता दे दी। उसने ब्राह्मणों पर जज़िया लगाया और एक ब्राह्मण को सिर्फ़ इस अपराध पर जीता जलवा दिया कि वह खुले आम पूजा-पाठ करता था। वह सब काम धर्म के ठेकेदारों से पूछ कर करता था। चार शरई करों के अतिरिक्त नहरों पर भी उसने तब तक कोई कर नहीं लिया, जब तक मुल्लाओं से स्वीकृति नहीं ले ली।

उसने सारे राज्य को जागीरों में बाँट दिया। प्रत्येक सूबा एक जागीर के रूप में हो गया। फिर वह छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त किया गया। इस प्रथा को फिर से प्रचलित करके फ़ीरोज़ ने साम्राज्य की शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया। सेना में भी उसने इसी प्रकार बहुत अदूरदर्शिता से काम लिया। स्थायी सेना को फिर से जागीरें दी गईं और अस्थायी सेना को कोष से तनख़ाएँ मिलती रहीं। किसी बूढ़े आदमी को निकाला नहीं जाता था। बूढ़े अफ़सरों को पेन्शन मिलती रहती थी, और उनके पुत्र, चाहे योग्य हों या नहीं, उनके पद पर नियुक्त कर दिए जाते थे। इस नीति में उदारता और कृपालुता तो अवश्य थी, परन्तु सैनिक शक्ति इससे नष्ट हो गई।

न्याय-विभाग में फिर उसने क़ाज़ियों और मुफ़्तियों को सर्वोच्च स्थान दिया। मुफ़्ती क़ानून की तशरीह (व्याख्या) करता था और क़ाज़ी फ़ैसला सुनाता था। फ़ौजदारी के अपराधों के लिए बड़े कठोर दण्ड थे, परन्तु फ़ीरोज़ ने यातनाओं की प्रथा हटा दी।

उसने ग़रीबों की सहायता के लिए भी एक विभाग खोला था। शहरों के कोतवालों को आज्ञा हुई कि सब दरिद्रों की सूची बनाएँ। ऐसे सब लोगों को योग्यतानुसार या तो राज-प्रासाद में या कारख़ानों में नौकरियाँ दिलाईं। जिन्होंने किसी अमीर का ग़ुलाम बनना पसन्द किया, उनको वहाँ भेज दिया। ग़रीब मुसलमानों को उनकी लड़कियों की शादी करने में सहायता देने के लिए एक 'दीवाने ख़ैरात' (दान-कार्यालय) खोला। इसके अतिरिक्त दिल्ली में उसने एक बड़ा दारुलशिफ़ा या औषधालय भी खोला। इसमें मरीज़ों को खाना-कपड़ा भी दिया जाता था। यात्रियों के लिए भी उसने बहुत से सुभीते किए थे।

फ़ीरोज़ को ग़ुलामों से बड़ी दिलचस्पी थी। अतः सूबेदार बराबर उसके पास ग़ुलाम भेजते रहते थे। इनकी तादाद दिल्ली तथा सूबों में मिलाकर १,८०,००० तक पहुँच गई थी। इनको पढ़ना-लिखना और दस्तकारी के काम सीखने पड़ते थे।

टकसाल की व्यवस्था उसके समय में बिलकुल बिगड़ गई। मुहम्मद तुग़लक़ के सब सुधार उसकी नरम नीति ने नष्ट कर दिए। उसका कोई सिक्का ऐसा नहीं मिलता जिसमें मिलावट या धोखा न हो। कारण यह कि टकसाल के कर्मचारियों पर कोई नियन्त्रण ही न था। उसने जनता की सुविधा के लिए केवल एक परिवर्त्तन किया। सामान उन दिनों बहुत सस्ता था। इस कारण छोटी खरीद-बिक्री के लिए आधा (अद्धा जीतल) और पैकाह (दांग) (चौथाई जीतल) नामक सिक्के बनवाए।

साहित्य को भी फ़ीरोज़ ने बहुत प्रोत्साहन दिया। मुसलमान विद्वानों की

वह अपने 'अंगूरी महल' में बड़ी आव-भगत करता था। इतिहास में उसकी विशेष रुचि थी। ज़ियाउद्दीन बरनी और शम्स-ए-सिराज अफ़ीफ़ उसके दरबारी इतिहास-लेखक थे। उसने अन्य विषयों के ग्रन्थ भी लिखवाए। उसने बहुत से मक़तब और मठ बनवाए थे जिनमें विद्वान लोग रहते और अध्ययन में अपना जीवन लगाते थे। मौलाना जलालुद्दीन रूमी उसके समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् था जो उसके महा-विद्यालय में मुस्लिम फ़िक्क: (धर्मशास्त्र) की व्याख्या करता था। काँगड़ा के मन्दिर में उसे १३०० संस्कृत के ग्रन्थ मिले थे जिनमें से उसने कई का फ़ारसी में अनुवाद कराया था।

**लोककल्याण के कार्य**—फ़ीरोज़ तुग़लक़ अपने सार्वजनिक व लोकहित के कामों के लिए बहुत सुविख्यात है। उसने बहुत से बाँध, मस्जिदें, मदरसे, सराएँ, महल, शिफ़ाख़ाने, हम्माम, पुल, कुएँ व नहरें व झीलें आदि बनवाए थे। फ़िरिश्ता की सूची कि उसने २०० शहर, १०० कारवाँ, सराय आदि अनेक जनहित कार्यों का निर्माण किया था, काल्पनिक जान पड़ती है। तब भी इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि ऊपर कही गई सब ही इमारतों, शहरों, नहरों आदि को कई स्थानों पर उसने बनवाया था।

**नहरें और बांध व झीलें**—फ़ीरोज़ के लोककल्याण के कामों में सबसे अधिक उल्लेखनीय उसकी नहरें और कृत्रिम झीलें हैं। उसकी निर्माण कराई हुई पाँच नहरों का उल्लेख समकालीन लेखकों ने किया है। इनमें सबसे बड़ी क़रीब १५० मील लम्बी थी। १३६२ में फ़ीरोज़शाह इस नहर को परगने ख़िज्राबाद के पास जमुना से काटकर परगना सफ़ीदूँ तक जहाँ उसकी शिकारगाह थी, लाया था। यहाँ से यह हिसार फ़ीरोज़ा तक पहुँचाई गई थी। फ़ीरोज़ के बाद किसी ने उसकी ख़बर न ली और वह बन्द हो गई। अकबर के आदेशानुसार शिहाबुद्दीन ख़ाँ ने इसे साफ़ कराकर चालू किया। थोड़े दिन बाद वह फिर रुक गई। १३३८-३९ में शाह-जहाँ ने इसे फिर साफ़ कराया और सफ़ीदूँ से दिल्ली तक लाया। दूसरी नहर घग्गर नदी से हिसार तक लाई गई थी। तीसरी घग्गर के पानी को सतलज तक लाती और बीच के मैदान को सींचती थी। यह १०० मील के करीब लम्बी थी। चौथी सतलज से निकाली गई और जमना नहर में मिलाकर हिसार तक पहुँचाई गई। पाँचवीं नहर सरस्वती और मरकंडा नदी के बीच में बनाई गई थी।

ऊपर के कथन से विदित होता है कि ये सब नहरें सतलज और जमना नदियों के बीच के उस प्रदेश को पानी पहुँचाने और सींचने के हेतु बनाई गई थीं जिसे आजकल हरियाना कहते हैं। यह प्रदेश राजस्थान की मरुभूमि के पास है और बहुत सूखा व निर्जल है, परन्तु यहीं पर हिसार-फ़ीरोज़ा नाम का नगर बसाने की वजह यह थी कि इसी स्थान पर वह गाँव था जहाँ की एक गूजर लड़की से सुलतान ने शादी की थी। इस प्रकार फ़ीरोज़ की माता ही नहीं उसकी मलिका (रानी) भी एक हिन्दू गूजर घराने की बेटी थी। इसीसे उसका पुत्र फ़तेह ख़ाँ उत्पन्न हुआ था। फ़तेह ख़ाँ

के नाम पर भी हिसार से कोई ५० मील उत्तर में फ़ीरोज़ ने फ़तेहाबाद नगर आबाद किया।

उसके तीसरे शहर अर्थात् फ़ीरोज़ाबाद (दिल्ली) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह शहर बहुत विस्तीर्ण हो गया था और सुलतान ने इसको समृद्ध करने में कोई कसर न छोड़ी थी। सैकड़ों फलदार बाग़ों के अलावा उसने यहाँ पर कई बड़े-बड़े बाँध दिल्ली की पहाड़ी के कई हिस्सों में बनवाए जिनके सहारे पहाड़ी की ढालू तरफ़ के पानी को रोककर झीलें बन गईं। साथ ही उसने अलाउद्दीन खल्जी के बनवाए हुए हौज को भी फिर से साफ़ करवाया और पानी से भरवाया। हरियाने में अपनी कुल नहरें बनवाने का कारण निस्सन्देह यह था कि वहाँ पर उसने दो शहर आबाद किए थे और हिसार-फ़ीरोज़ा के महत्व को बढ़ाने के लिए हाँसी के स्थान पर उसे शिक़ का केन्द्र बनाया। ये सब जनहितकारी कार्य उसने इसलिए किए कि उसकी माँ और बीवी दोनों वहाँ की थीं। हम देखते हैं कि सुलतान ने सल्तनत के किसी और प्रदेश में कोई नहर, झील या बाँध नहीं बनवाया। यदि दो-चार बाँध बनवाए भी हों तो उनका कोई उल्लेख इतिहासकार ने नहीं किया है। फ़िरिश्ता आदि बाद के लेखकों ने लिखा है कि उसने बहुत से कुएँ भी सिंचाई के लिए बनवाए थे। यह सम्भव है, परन्तु ये सब कहाँ-कहाँ बने थे, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। इतना तो निर्विवाद है कि फ़ीरोज़ की नहरें हरियाने और सरहिन्द तक ही परिमित थीं। यदि सुलतान को राज्य के अन्य प्रदेशों की सिंचाई की भी थोड़ी चिन्ता होती तो वह इस प्रकार की व्यवस्था अन्य स्थानों के लिए भी करता। अतएव यह मानना होगा कि फ़ीरोज़ के जनहितकारी कार्यों का महत्व उतना कदापि नहीं था जितना कि बहुधा लेखकों ने उसे प्रदान कर दिया है। ऊपर लिखे तीन-चार शहरों के अतिरिक्त उसने मध्य प्रदेश में (आधुनिक उत्तर प्रदेश) भी कुछ शहर बसाए थे। इनके लिए नहरों आदि की तो शायद आवश्यकता न समझी गई होगी, सम्भव है कुएँ आदि बनवाए गए हों।

साथ ही यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि सड़कें बनवाने या पुराने मार्गों की मरम्मत कराने का इस सुलतान के बारे में किसी इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया। यह भी मानने योग्य है कि उसने कई सराएँ बनवाई होंगी। इनके अतिरिक्त दिल्ली में एक उच्च शिक्षा का मदरसा जिसमें इस्लामी फ़िक़ाह इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी और कुछ शिफ़ाखाने बनवाए थे। सामान्य मुस्लिम जनता के हितार्थ अथवा हिन्दुओं के किसी वर्ग के लिए भी उसने कोई पाठशाला आदि खोली हो यह नितान्त असम्भव है।

फ़ीरोज़ अपने ग्रन्थ फ़ुतूहाते-फ़ीरोज़शाही में स्वयं लिखता है कि "मैंने अल्लाह की महरबानी से अनेक मस्जिदें, मदरसे और खानक़ाहें बनवाईं ताकि आलिम व शेख लोग इनके अन्दर खुदा को याद किया करें और इन संस्थाओं के निर्माता अर्थात्

सुलतान की बहबूदी के लिए दुआ किया करें।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि लोक-हित के कार्यों से फ़ीरोज़ का क्या अभिप्राय था। और वे सर्वसामान्य के लिए कितने लाभ-कारी हो सकते थे।

**पुरानी इमारतों की मरम्मत**—फ़ुतूहाते फ़ीरोज़शाही से हमें विदित होता है कि फ़ीरोज़ ने बहुत-सी पुरानी इमारतों की मरम्मत कराने का सराहनीय कार्य भी किया था। उसके कथनानुसार उसने पुरानी दिल्ली की जामा मस्जिद (कुवतुल इस्लाम मस्जिद), कुत्बमीनार, मुइज्जुद्दीन साम के मक़बरे, हौज़े शम्सी, हौज़े अलाई, शम्सुद्दीन के मदरसे, मुइज्जुदीन बहराम, रुक्नुद्दीन, जलालुद्दीन ख़ल्जी आदि की अनेक इमारतों व तालाबों की मरम्मत कराई और जहाँ-जहाँ आवश्यक था, खानक़ाहें आदि भी बनवाईं। इस सम्बन्ध में यह विचार करने की बात है कि फ़ीरोज़, कुत्ब तथा उसके पास की इमारतों आदि को मुहम्मद ग़ूरी का बनाया हुआ बतलाता है और उसकी क़ब्र की भी मरम्मत करने का दावा करता है। इसमें किस प्रकार भ्रान्ति हुई, यह रहस्य स्पष्ट नहीं है।

उपर्युक्त इमारतों के अलावा फ़ीरोज़ ने लिखा है कि उसने निम्नांकित इमारतों की मरम्मत कराई : अलाउद्दीन व कुत्बुद्दीन मुबारक ख़ल्जी एवं अलाउद्दीन के अन्य बेटों की क़ब्रों की, निज़ामुद्दीन औलिया के मज़ार की, मलिक ताजुल्मुक काफ़ूरी (मलिक काफ़ूर); दारुल अमान जिसमें सुलतान के गुरुजन गड़े थे, व जहाँपनाह की दीवार की, और दिल्ली के उन सब क़िलों की जिन्हें पहले सुलतानों ने बनवाया था। साथ ही उसने मदरसों वग़ैरह के पालन-पोषण के लिए जो जागीरें थीं उनको बनाए रखा।

**फ़ीरोज़ तुग़लक की धार्मिक नीति**—धार्मिक नीति के सम्बन्ध में फ़ीरोज़ तुग़लक़ की संकीर्णता व धर्मान्धता की दूसरी मिसाल मुसलमान बादशाहों में भी कठिनता से मिलेगी, उसने मुहम्मद तुग़लक़ की उदार-नीति को सर्वथा उलटाकर दिया। वह बहुत पढ़ा-लिखा नहीं था। उसकी गिनती विद्वानों में किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती थी। तिस पर उसकी बुद्धि भी अत्यन्त संकुचित थी। जो बरताव स्वयं अपने कथनानुसार उसने हिन्दुओं और अन्य सम्प्रदायों के माननेवालों के साथ किया था उससे प्रमाणित होता है कि सुन्नी मुसलमानों को छोड़कर बाक़ी सब लोग कितने संतप्त तथा अरक्षित अवस्था में रहते होंगे। अपने फ़ुतूहात में यह सुलतान बड़े अभिमान के साथ बयान करता है कि "उसने काफ़िरों का दमन करने में कभी कोताही नहीं की। कई मौकों पर यह पता चलते ही कि हिन्दू लोग मेलों में जाते और वहाँ पर मन्दिरों में पूजा करते हैं, फ़ीरोज़ ने या तो अपने आदमी भेजकर या स्वयं जाकर उनके मन्दिरों को मिस्मार कराया और उनके नेताओं को पकड़वा कर उन सबको कत्ल करवाया तथा बाक़ी लोगों को भी कड़े दण्ड दिए। जब उसे

यह मालूम होता कि किसी पुराने मन्दिर की मरम्मत की गई है या कोई नया मन्दिर बनाया गया है तो उसने फ़ौरन उन्हें तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिद बनवा दी।

उसके कथन से यह स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय हिन्दू व मुसलमान दोनों जातियों के अन्दर बहुत से स्वतन्त्र विचारों वाले सम्प्रदाय पैदा हो गए। इनमें मुसलमानों के अन्दर ही एक ऐसा फिरका था जिस पर **शाक्तों और तान्त्रिकों** का पूरा प्रभाव पड़ा था। ये लोग गुप्त-रीति से ठीक उसी प्रकार के दुराचार व व्यभिचार करते थे जो तान्त्रिकों में प्रचलित थे। शियाओं के बारे में सुलतान लिखता है कि "ये लोग भी बड़े दुराचारी थे। इनके नेताओं को उसने क़त्ल करवा दिया और बाकियों की खुले आम बेहुरमती की और उन्हें कड़ी सज़ाएँ दीं और उनकी पुस्तकों को जलवा दिया।"

इतिहासकार अफ़ीफ़ लिखता है कि "उसके एक मुख़बिर ने ख़बर दी कि पुरानी दिल्ली में एक ब्राह्मण खुले आम मूर्ति पूजा करता है और उसके घर अन्य हिन्दू लोग भी एकत्रित होकर पूजा करते हैं।" उसे यह भी सूचना दी गई कि उस 'दुष्ट काफ़िर' ने एक मुसलमान स्त्री को हिन्दू बना लिया है। उस 'ज़ुन्नारदार' (ब्राह्मण) ने एक लकड़ी की मूर्ति पूजा के लिए बनवाई हुई थी। इन बातों की सूचना पाते ही सुलतान ने उसे उस मूर्ति समेत बुलवा भेजा। मुस्लिम धर्माधिकारियों (आलिमों आदि) ने फ़तवा दिया कि या तो वह ब्राह्मण इस्लाम स्वीकार करे अन्यथा उसे जीता जला दिया जाए।" उसके मुसलमान होने से इन्कार करने पर उसके हाथ-पैर बाँधकर लकड़ी के एक ढेर पर रखा गया और जला कर भस्म कर दिया गया। फ़ीरोज़ ने जो दण्डों की कठोरता व यातनाओं को बन्द किया था वह नियम काफ़िरों पर लागू न था।

फ़ीरोज़ ने ब्राह्मणों से भी जज़िया वसूल करने की आज्ञा निकाली। ये लोग पहले कभी जज़िया न देते थे। ब्राह्मणों ने बादशाह के महल के सामने भूख-हड़ताल कर दी। तब अन्य हिन्दू लोगों ने उनके बदले जज़िया देने का भार अपने ऊपर लिया और इस प्रकार उनकी रक्षा की।

**अन्य धर्म वालों को मुसलमान बनाना**—इतना ही नहीं, इस सुलतान के जोश ने उसको इस बात पर भी मजबूर किया कि वह काफ़िरों को हर प्रकार के प्रलोभन देकर, जज़िया माफ़ करके, इनाम, इकराम व ओहदे देकर मुसलमान बनने के लिए आमन्त्रित करे। वह स्वयं कहता है कि "बहुत लोगों ने इस प्रकार इस्लाम ग्रहण करके धर्म-लाभ उठाया। इन सब कारनामों पर फ़ीरोज़ को दिली खुशी और गौरव ही नहीं था वरन उसे यह भी विश्वास था कि बिहिश्त में उसका स्थान बिलकुल निश्चय हो गया था।"

इस सुलतान की कट्टरता और अंध-विश्वास की ये हद हो गई थी कि उसने सोने-चाँदी के बर्तनों में खाना-पीना, स्त्रियों को मेले-तमाशे में परदे के बाहर निकलना, रेशम के कपड़ों पर एवं घरों की दीवारों आदि पर तसवीरें बनाना आदि

सबकी बन्दी कर दी, क्योंकि ये सब काम 'शरा' के विरुद्ध थे। उसने लड़ाई की लूट के माल के बारे में आज्ञा दी कि शरा के अनुसार उसका केवल $\frac{1}{5}$ हिस्सा सरकारी ख़ज़ाने में जाए, बाकी $\frac{4}{5}$ मुसलमानों को बाँट दिया जाए। उससे पहले सुलतानों ने $\frac{4}{5}$ अपने लिए और $\frac{1}{5}$ मुसलमानी सेना के लिए बाँटने की प्रथा जारी कर दी थी। फ़ीरोज़ ने वे सब कर भी हटा दिए जिनको वह शरा के विरुद्ध समझता था। इस मूढ़ सुलतान ने अपने इन सब कारनामों के बारे में यह न सोचा कि जो समस्याएँ उसके सामने आई थीं उनका गुमान भी नबी या हदीस कर्त्ताओं को न हो सकता था।

इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि दिल्ली और उसके आस-पास के प्रदेश में तो सुलतान की यह नीति लागू की जाती थी परन्तु अन्य सूबों में इसका कैसा प्रभाव पड़ता था इसके बारे में अनुमान ही किया जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि जहाँ कहीं मुल्ला वर्ग का प्राबल्य रहा होगा और स्थानीय शासक, मुक़ती, वाली आदि धर्मान्ध रहे होंगे वहाँ भी हिन्दुओं की दशा वैसी ही शोचनीय तथा उनका जीवन दुखमय रहा होगा जैसा राजधानी और उसके आस-पास में था।

यह भी जानना आवश्यक है कि जब कहीं हिन्दुओं ने विद्रोह किया तो सुलतान ने उनका अत्यन्त निर्दयता से दमन किया जिसका ज्वलन्त उदाहरण कटेहर के हिन्दुओं का विद्रोह है। इसके प्रतिकूल बंगाल के मुसलमान विद्रोहियों को उसने सिर्फ़ इसलिए नहीं दबाया कि वह मुसलमानों का रक्तपात करना न चाहता था। निस्सन्देह सुलतान की इतनी कठोर व अमानुषिक धर्मान्धता का फल यह हुआ होगा कि जनसाधारण में उसके प्रति श्रद्धा और आदर के भाव नष्टप्राय हो गए होंगे। उसके राज्य के पतन का यह भी अवश्य एक बड़ा कारण था।

**साम्राज्य के विच्छेद व विनाश के कारण**—मुहम्मद तुग़लक़ के राज्य के अन्तिम दिनों में उसकी कठोर व अविश्वास की नीति के कारण जो उपद्रव हुए उनका पूरा वर्णन किया जा चुका है। दूसरे, सुदूर दक्षिण को नियन्त्रण में रखने की दुस्साध्यता के कारण वहाँ के महत्वाकांक्षी हिन्दू नेताओं को भी साम्राज्य के एक बड़े हिस्से पर स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का अवसर मिल गया था। विजयनगर का साम्राज्य १३३६ में ही कायम हो चुका था, पर मुहम्मद भी उसका कुछ न बिगाड़ सका था। अतएव जब फ़ीरोज़ तख़्त पर बैठा दिल्ली साम्राज्य सुकड़कर केवल उत्तर भारत के अन्दर परिमित हो गया। यहाँ भी बंगाल, सिंध आदि प्रदेशों में विद्रोह हुए किन्तु फ़ीरोज़ की उदासीनता तथा सामरिक मामलों से बचने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप साम्राज्य के उत्तरी प्रदेश भी अपने बन्धनों को तोड़ने लगे थे। बंगाल व सिन्ध तो लगभग स्वतन्त्र ही हो बैठे थे। यह भी उसकी धर्मान्धता-जनित कायरता का फल था।

यद्यपि सुलतान की इन निर्बलताओं के कारण साम्राज्य का विस्तार बहुत संकुचित होता जा रहा था तथापि उसके योग्य मन्त्री खाँजहाँ मक़बूल के सुप्रबन्ध के कारण शासन सुचारु रूप से चलता रहा। १३७० में खाँजहाँ की मृत्यु हो गई।

सुलतान ने उसके पुत्र को खाँजहाँ द्वितीय का ख़िताब प्रदान करके उसे वज़ीर बना दिया। पर इस वज़ीर में अपने पिता की क्षमता व अनुभव न था। इसके अतिरिक्त सुलतान बूढ़ा होता जा रहा था और उसकी नीति व कार्यप्रणाली हानिकारक होती जा रही थी।

**दासों की भरमार**—हम बतला चुके हैं कि इस सुलतान को दासों को इकट्ठा करने का बड़ा बहम था। तत्कालीन लेखकों के अनुसार उसने राज्य के कोने-कोने से गुलाम एकत्रित करके उन्हें दिल्ली में बसा दिया था। इनकी संख्या १,८०,००० तक पहुँच गई बतलाई जाती है। इनको सुलतान ने योग्यतानुसार सेवाएँ भी सुपुर्द की थीं। इनके लिए उसने बहुत से राजकीय कारखाने खोले जिनमें दासों को काम में लगाया गया। इन्हीं में से बहुत से सेना में भी लिए गए। ये लोग प्राय: बड़े आनन्द व विलास का जीवन व्यतीत करते थे। सुलतान इन पर बहुत भरोसा करता था और शासन के काम में स्वयं कोई मेहनत न करता था। परिणाम यह हुआ कि राज्य-कार्यकर्ताओं में हर प्रकार की बेइमानी व दुराचार बढ़ता गया।

फिर बुढ़ापे में सुलतान को एक ऐसा धक्का लगा जिससे उसकी रही-सही कार्यशक्ति नष्ट हो गई। १३७४ में उसका युवक पुत्र फ़तह खाँ मर गया। इससे फ़िरोज को भारी शोक हुआ। उसकी शक्ति शिथिल हो गई। प्रान्तीय शासकों पर केन्द्रीय सरकार का शासन नगण्य हो गया। वज़ीर खाँजहाँ सुलतान पर पूरी तरह हावी हो गया और राजगद्दी को हड़पने की चेष्टा करने लगा। उसने शाहज़ादे मुहम्मद का अन्त करने की कोशिश की परन्तु उसका षड्यन्त्र खुल गया और उसे जान बचाकर भागना पड़ा। तब फ़ीरोज़ ने मुहम्मद की सहायता से शासन-संचालन करना शुरू किया और उसे सुलतान की पदवी भी प्रदान कर दी। १३८७ के अगस्त मास में शाहज़ादा मुहम्मद नसीरुद्दीन मुहम्मदशाह कहलाने लगा। खाँजहाँ का वध कर दिया गया। पर मुहम्मद बड़ा विलासी था। उसने अपने शुभचिन्तक अमीरों से झगड़ा कर लिया और उन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उन्होंने ८० बरस के बूढ़े सुलतान को फिर से सुलतान बना दिया और मुहम्मद को भागना पड़ा। विद्रोहियों के आग्रह पर सुलतान ने अपने विगत बेटे फतह खाँ के पुत्र ग़यासुद्दीन को गद्दी पर बिठला दिया। थोड़े ही दिन बाद फ़ीरोज़ की मृत्यु हो गई (१३८८)। उसके जीवन-काल में ही प्रान्तों के शासक स्वतन्त्र हो बैठे थे। उसके मरते ही सल्तनत का अन्त हो गया। राजधानी में प्रतिस्पर्द्धियों में राजगद्दी के लिए संघर्ष आरम्भ हो गए। सूबों पर शासन करने की किसी को न शक्ति रही न समय।

**फ़ीरोज तुग़लक़ का चरित्र**—फ़ीरोज तुग़लक की शासन-नीति, धार्मिक विश्वास और तज्जनित उसके कारनामे, उसकी रचनात्मक कार्यों में अभिरुचि, ये तीन पहलू उसके जीवन के उसके चरित्र को पूरी तरह प्रदर्शित कर देते हैं। जहाँ मुहम्मद तुग़लक़ की आवश्यकता से अधिक कर्मठता, व आतंक के कारण साम्राज्य

का विच्छेद आरम्भ हो गया था, वहाँ उसके उलटा फ़ीरोज़ की निर्बलता, निरुत्साह तथा अकर्मण्यता के कारण साम्राज्य का शरीर जर्जर होने लगा और अन्त में पाश-पाश होकर बिखर गया। राजनीतिक रूप से इस सुलतान के अन्दर न तो साम्राज्य के खोए हुए अंगों को वापस लेने की इच्छा थी और ना ही रहे-सहे राज्य पर बल-पूर्वक शासन करने की क्षमता। वह शासन के अनथक श्रम से बचकर आराम का जीवन व्यतीत करना चाहता था और उसको साम्राज्य की आमदनी से अनेक शहर, मस्जिद, मक़बरे आदि बनवाने व बाग़ लगवाने में अधिक रुचि थी। ये काम अच्छे थे यदि इन पर अपना कुल ध्यान, पैसा व समय व्यय करने के बजाय वह शासन को सुव्यवस्थित करने पर भी लगा देता। शासन में सुविधा पैदा करने के हेतु उसने 'पैमाइश' (भूमि नापने के नियम) को हटाकर फिर से बटाई आदि की सरल प्रथा जारी की और अपने सेवकों व पदाधिकारियों व दरबारियों को जागीरें देने की प्रथा भी शुरू कर दी। उसका दूसरा प्रेम था इस्लाम मत। इसकी सेवा, रक्षा तथा प्रसार के लिए उसने आजीवन कोर-क़सर न की। इसका पूरा वर्णन पहले किया जा चुका है।

शासन-संचालन के लिए उसमें अच्छे सुयोग्य और विश्वासपात्र मन्त्रियों को चुनने की क्षमता थी। इसी कारण इस सुलतान की अपने राज्य की तरफ़ गहरी उदासीनता होते हुए वह भी लगभग ४० बरस तक राज्य कर सका। उसके वात्सल्य और नरम बरतावे के कारण उसके दास तथा अन्य सेवक उसका आदर करते थे। इसीलिए उसके मरते ही सल्तनत छिन्न-भिन्न हो गई।

निजी चरित्र फ़िरोज़ का ऐसा न था जिसे इस्लाम की शिक्षाओं के अनुकूल कहा जा सके। वह शराबखोरी आदि व्यसनों से बरी न था। इन दुर्व्यसनों के कारण उसे कई बार आलिमों ने धिक्कारा भी था।

## फ़ीरोज़ तुग़लक़ के उत्तराधिकारी

फ़ीरोज़ के बाद उसका पोता मुहम्मदशाह (द्वितीय) तख्त पर बैठा और उसने अपना नाम ग़यासुद्दीन तुग़लक़ द्वितीय रखा। परन्तु बहुत ही जल्दी उसका वध हुआ और ज़फ़र खाँ नामक एक अमीर का लड़का अबू बक्र गद्दी पर बैठा। इसके विरुद्ध फ़ीरोज़ के छोटे लड़के शाहज़ादा मुहम्मद ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अमीर व दरबारी लोग दोनों पक्षों में बँट गए। बहादुर नाहर नामक एक मेवाती अमीर ने, जो मुसलमान हो गया था, अबू बक्र का पक्ष लिया। कई बार दोनों दलों में युद्ध हुए जिनमें मुहम्मद हारा; परन्तु एक मौक़ा पाकर सन् १३९० में वह अमीरों की सहायता से, अबू बक्र की अनुपस्थिति में, दिल्ली में घुस गया और तख्त पर अधिकार करके नासिरुद्दीन मुहम्मद के नाम से सुलतान होने की घोषणा कर दी। फिर उसने अबू बक्र और बहादुर नाहर को हराया और अबू बक्र को मेरठ के किले में कैद कर दिया और नाहर को क्षमा कर दिया। सन् १३९४ में नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गई और उसका लड़का हुमायूँ भी उसके दो-चार

दिन बाद ही मर गया। अब मुहम्मद का सबसे छोटा लड़का महमूद बादशाह हुआ। उसने अपना नाम नासिरुद्दीन महमूद तुग़लक़ रखा। इस समय साम्राज्य में चारों ओर विद्रोह हो रहे थे। प्रायः सरदार और जागीरदार अपनी-अपनी जागीरों से स्वतन्त्र हो बैठे थे। जौनपुर, मालवा, गुजरात, आदि सूबों के शासक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर रहे थे। इसी समय फ़ीरोजाबाद के अमीरों ने फ़ीरोज़ के एक पोते नुसरत को आगे रखकर महमूद का विरोध करना शुरू किया। अब अवस्था यह थी कि महमूद तो दिल्ली में सुलतान होने का दावा कर कर रहा था और नसरत उससे १० मील के फासले पर फ़ीरोजाबाद में सुलतान बना हुआ बैठा था। दोनों पक्षों के समर्थकों में मल्लू इक़बाल, मुक़र्रब खाँ और बहादुर नाहर, ये तीन सबसे प्रबल अमीर थे। कई वर्ष तक घरेलू लड़ाई चलती रही। ये आपस के झगड़े चल ही रहे थे कि तीमूर अपनी भारी सेना लेकर आ पहुँचा।

**तीमूर का आक्रमण (१३९८)**—तीमूर समरक़न्द का अमीर और एक तुर्की परिवार का था। वह संसार के बड़े विजेताओं में से एक था। ३३ बरस की अवस्था में वह चग़ताई फिरक़े का नेता हो गया था और उसने फ़ारस, अफ़गानिस्तान, मेसोपोटामिया आदि पश्चिमी एशिया के समस्त देश जीत डाले थे। हिन्दुस्तान में आने के लिए उसे बहाने भी मिल गए, यद्यपि उसे बहानों की आवश्यकता कभी नहीं होती थी। देश-देशान्तर पर चढ़ाई करना उसका पेशा-सा ही था। भारत पर चढ़ाई करने का बहाना उसे यह मिल गया कि यहाँ के बादशाह मूर्ति-पूजा का अन्त नहीं करते थे।

तीमूर ने सन् १३९६ में ही अपने पोते पीर मुहम्मद को आगे भेज दिया था। उसने उच्च और मुलतान को अधिकृत कर लिया था। पीर मुहम्मद ने देपालपुर में मुसाफ़िर काबुली को शासक बना दिया था परन्तु जनता ने उसे मार डाला। तीमूर के आने की खबर सुनकर देपालपुर के लोग डर के मारे भागकर भटनेर के क़िले में जा छिपे, परन्तु तीमूर के सैनिकों ने क़िले को नष्ट किया, और जनता को मार-काटकर उनका असबाब लूट लिया।

तीमूर हिन्दूकुश होता हुआ पहले भटनेर, फिर सरसुती और तब वहाँ से कैथल पहुँचा। वहाँ उसने दिल्ली पर हमला करने की तैयारी करनी शुरू की। फिर वह गाँवों को जलाता, लूट-मार करता, औरतों, बच्चों और मर्दों को पकड़ता हुआ अम्बाले और मेरठ के रास्ते से दिल्ली के पास पहुँचा और शहर से कोई १० मील के फ़ासले पर लोनी के किले के निकट उसने पड़ाव डाला। उसकी छावनी में इस समय १ लाख हिन्दू क़ैदी थे। इनको उसने बलवे के डर से एक साथ ही कत्ल करा डाला। तब उसने अपनी सेना को युद्ध के लिए तैयार किया। सुलतान महमूद और मल्लू इक़बाल ने एक बड़ी सेना इकट्ठी करके उसका मुकाबला किया और वे वीरता से लड़े, परन्तु अन्त को उनकी हार हुई। तब तीमूर ने दिल्ली को खूब लूटा,

हज़ारों नगरनिवासियों को तलवार के घाट उतारा और हज़ारों को पकड़कर समरकन्द ले गया। वहाँ उनकी सहायता से उसने अपने प्यारे नगर में बड़े-बड़े प्रासाद और समरकन्द की विख्यात मस्जिद बनवाई। दिल्ली में एक पक्ष ठहरने के बाद तीमूर मेरठ होता हुआ हरद्वार पहुँचा। वहाँ हिन्दुओं से बड़ा घमासान
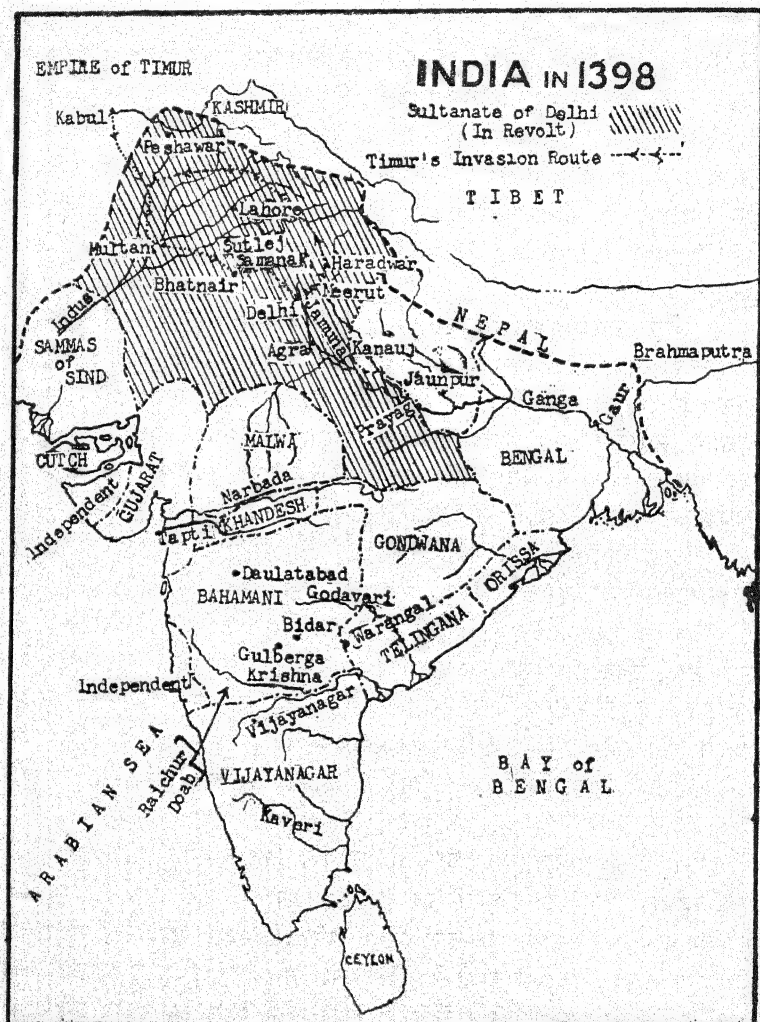
युद्ध हुआ। हरद्वार को लूटकर उसने सिरमूर पहाड़ी (शिवलोक) के राज्य पर हमला किया और वहाँ के लोगों को बलात् मुसलमान बनाया। इसके बाद वह मुलतान के सूबेदार खिज्र खाँ को लाहौर, देपालपुर और मुलतान का जागीरदार बनाकर वापस लौट गया।

तीमूर का आक्रमण सल्तनत के ह्रास का परिणाम ही था। परन्तु उसकी लूट-मार और कत्ल से देश की अवस्था और भी बिगड़ गई। उस समय कोई शक्ति ऐसी न रही जो शान्ति या सुरक्षित दशा स्थापित कर सकती। दिल्ली में नाम को महमूद सुलतान था, परन्तु अधिकार मल्लू इक़बाल का था। उसके अनुचित आधिपत्य से तंग आकर महमूद ने जौनपुर से सहायता माँगी, पर विफल रहा। तब वह दिल्ली छोड़कर कन्नौज चला गया। इक़बाल ने ग्वालियर और इटावा के हिन्दू सरदारों को दमन करने का यत्न किया और फिर खिज्र खाँ पर चढ़ाई की जिसमें वह सन् १४०५ में मारा गया। उसके मरने के बाद महमूद दिल्ली लौटा, परन्तु उसके पतित चरित्र के कारण उसकी शक्ति न बढ़ सकी और वह सन् १४१२ में मर गया। इसके बाद अमीरों ने दौलत खाँ को अपना नेता चुना। परन्तु खिज्र खाँ ने मुल्तान से आकर उसे पराजित किया और तब वह सल्तनत की गद्दी पर आरूढ़ हुआ।

सत्रह

# सल्तनत का सन्ध्याकाल : पुनरुद्धार का निष्फल प्रयास

## सैयद वंश

**चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में देश की स्थिति**—ख़िज्र खाँ के गद्दीनशीन होने के समय देश की अवस्था ऐसी थी कि राज्य के पुनरुत्थान के लिए किसी बड़े भारी प्रतिभाशाली राजनीतिज्ञ, शूरवीर एवं योग्य शासक की आवश्यकता थी। सैयदों को ऐसी विकट और असाध्य समस्या का सामना करना पड़ा जिसको हल करना उनकी सामान्य योग्यता के बाहर था। दिल्लीश्वर का आतंक केवल ५०, ६० वर्ष पहले इस विशाल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैला हुआ था, उसका वास्तविक आधिपत्य अब दिल्ली से ५० मील पर भी नहीं रह गया था। इस पतित, हतशक्ति एवं विघटित ढाँचे को, जिसका आत्मिक प्रभाव बिलकुल मिट गया था, फिर से सशक्त और सजीव बनाने का काम एक नए साम्राज्य की स्थापना से भी कठिन था।

ख़िज्र खाँ सन् १४१४ से १४२१ तक दिल्ली के डाँवाडोल तख्त पर रहा। वह अपने को सुलतान कहता हुआ भी घबराता था और केवल तीमूर के राज-प्रतिनिधि के नाम से ही राज्य करता रहा। उसका सारा समय कटेहर, बदायूँ, कन्नौज, सकीट, इटावा आदि स्थानों के हिन्दू सरदारों के बलवों को दमन करने के यत्न में व्यतीत हुआ। दिल्ली के पास मेवाती स्वतन्त्र हो गए और सीमा पर खोखरों ने लाहौर तक लूट-मार करनी शुरू कर दी। दोआब के सरदारों ने थोड़े समय के लिए ख़िराज देना शुरू कर दिया, पर फिर वही दशा हो गई।

सन् १४२१ में दिल्ली में ख़िज्र खाँ की मृत्यु हो गई। ख़िज्र खाँ बड़े शील-स्वभाव का मनुष्य था। वह व्यर्थ रक्तपात करना नहीं चाहता था। शायद वह शासन में कुछ सुधार भी करता, परन्तु परिस्थिति इतनी खराब थी कि उसे किसी प्रकार के सुधार करने का अवसर ही न मिला।

ख़िज्र खाँ का उत्तराधिकारी उसका लड़का मुबारक हुआ। उसको भी वही दृश्य देखना पड़ा। फिर विद्रोह हुए। सबसे प्रबल विद्रोह पंजाब में जसरक खोखर और पौलाद के हुए। मुबारक ने इनको बड़ी कठिनाई से दमन किया।

फिर जब उसने शासन में कुछ सुधार करना चाहा, तब उसके अमीर बिगड़ गए और उन्होंने धोखे से उसको मार डाला (१४३४)। उसके एक समकालीन लेखक ने उसकी प्रशंसा इन संक्षिप्त शब्दों में की है—"बड़ा दयालु एवं उदार तथा सद्गुणों से भरपूर बादशाह।" उसके बाद उसका भतीजा मुहम्मद अत्यन्त अशक्त और अयोग्य शासक साबित हुआ। उसके समय में जौनपुर के शासक इब्राहीम ने दिल्ली के कई परगने अपहरण कर लिए। ग्वालियर आदि के हिन्दू सरदारों ने खिराज देना बन्द कर दिया। मालवे के शासक ने चढ़ाई कर दी थी, परन्तु वह निजी आवश्यकता के कारण लौट गया। लाहौर के सूबेदार बहलोल ने इस समय उसकी सहायता की। इस समय सल्तनत का अधिकार दिल्ली और उसके निकट के कुछ देहातों तक ही परिमित था। मुहम्मद के बाद चौथा सैयद सुलतान, जो सन् १४४५ में गद्दी पर बैठा, बिलकुल ही निकम्मा था। वह शासन-कार्यों को झंझट समझता था। इससे छुटकारा पाने के हेतु वह सन् १४४७ में अपनी निजी जागीर बदायूँ में जा बसा और शासन का सब काम बहलोल को सौंप गया। थोड़े दिन बाद बहलोल ने उसका नाम खुतबे में से हटाकर अपने को स्वतन्त्र बना लिया। निर्जीव आलमशाह सन् १४७८ तक बदायूँ में जिन्दा रहा।

## लोदी वंश

**लोदी-अफ़ग़ानों का उद्गम**—अफ़ग़ानों के विभिन्न फिरके तुर्की विजय के आरम्भ से ही हिन्दुस्तान के कुछ स्थानों में उपनिवेश बनाकर रहते थे और घोड़ों आदि का व्यापार करते थे। बहलोल लोदी का चाचा इस्लामखाँ मुबारकशाह शाह सैयद और उसके भतीजे सुलतान मुहम्मद सैयद के समय में सरहिन्द का सूबेदार था। मरते समय उसने अपने दामाद व भतीजे बहलोल को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया।

सु० मुहम्मद की अयोग्यता और कमज़ोरी का लाभ उठाकर बहलोल ने धीरे-धीरे समूचे पंजाब पर अधिकार जमा लिया। इसके बाद राजनीतिक घटनाएँ ऐसी हुईं जिनसे बहलोल को दिल्ली सल्तनत के तख्त पर क़ब्ज़ा करने का अवसर प्राप्त हो गया।

बहलोल ने बड़ी सावधानी से काम करना शुरू किया। अफ़ग़ान लोगों को सन्तुष्ट रखना बहुत कठिन था। कारण यह कि वे अपनी बिरादरी के सब परिवारों को बराबर समझते थे और यह कभी सहन न कर सकते थे कि उनमें से कोई सुलतान होकर अपने को उनसे ऊँचा मानने लगे। इसलिए उनको सन्तुष्ट रखने के विचार से बहलोल ने बनावटी नम्रता से काम लिया। वह स्वयं अफ़ग़ान अमीरों के घर मिलने जाता और उनसे बड़े विनीत भाव से व्यवहार करता था। कभी उनसे ऊँचे आसन पर न बैठता था। इस प्रकार अपनी बिरादरी के मुख्य लोगों को संतुष्ट करके बहलोल ने उन लोगों को नष्ट किया, जिनसे उसे आशंका थी। सन् १४५१

में मुल्तान के सूबेदार को एक दल ने निकाल दिया। बहलोल उसे पुनः स्थापित करने को रवाना हुआ; परन्तु सरहिन्द में ही उसे खबर मिली कि जौनपुर का शासक महमूद दिल्ली पर चढ़ आया है। अतएव वह तुरन्त वापस लौटा और महमूद भी वापस लौट गया। बहलोल की इस विजय से उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया। फिर उसने ग्वालियर, इटावा, सकीट, भौगाँव, चँदवर इत्यादि के सरदारों को दिल्ली का प्रभुत्व मानने और राज-कर देने पर विवश किया।

इस समय दिल्ली के सुलतानों का सबसे भयानक शत्रु जौनपुर का शर्की शासक था, क्योंकि अन्य स्वतन्त्र राज्य दिल्ली से बहुत दूर थे। जौनपुर के सुलतान महमूद ने एक और आक्रमण किया, परन्तु सुलह कर ली। फिर उसके उत्तराधिकारी हुसेन ने दिल्ली पर कई आक्रमण किए, परन्तु अन्त को वह हारकर अपना राज्य भी हाथ से खो बैठा। बहलोल ने उसे निकालकर जौनपुर का राज्य अपने लड़के बारबक के सुपुर्द कर दिया। सन् १४८९ में उसकी मृत्यु हो गई।

बहलोल के बाद उत्तराधिकार का झगड़ा खड़ा हुआ, परन्तु उसका पुत्र निज़ाम खाँ गद्दी पर बैठने में सफल हुआ। उसने अपना नाम सिकन्दर लोदी रखा। इस समय सारा राज्य जागीरों में विभक्त था। सिकन्दर बहुत योग्य और बलशाली शासक था। उसने अफ़ग़ान सल्तनत को पुनरुज्जीवित करने का भरसक प्रयत्न किया। उत्तरी भारत का अधिक भाग उसने फिर से अधिकृत भी किया। साम्राज्य का दायरा फिर विस्तृत हुआ, परन्तु साम्राज्य की दृढ़ता को वापस लाने में वह सफल न हो सका। उसने लोदी सत्ता को स्थायी बनाने के लिए शासन को केन्द्रित करने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वास्तविक स्थिति उसके इतना विरुद्ध थी कि उसे सफलता मिलना असम्भव था।

सिकन्दर ने पहले-पहले रिवाड़ी के उद्दण्ड जागीरदार को निकालकर एक दूसरा शासक नियुक्त किया। फिर उसे अपने भाई बारबक से भुगतना पड़ा। वह सिकन्दर का आधिपत्य स्वीकार नहीं करता था। सिकन्दर ने उसे पराजित किया, परन्तु फिर बहाल कर दिया। पर वह आस-पास के सरदारों के विद्रोह को न दबा सका, इस कारण सिकन्दर ने उसे हटाकर ज़माल खाँ सारंगखानी को नारनौल से जौनपुर भेज दिया (१४९४)।

उत्तरी भारत में फिर बराबर बलवे होते रहे और सिकन्दर को भी अपना अधिक समय उन्हीं के दमन करने में लगाना पड़ा। विद्रोह के दो बड़े केन्द्र थे, एक कटेहर या रुहेलखण्ड और दूसरा इटावा और ग्वालियर के बीच का प्रदेश। कटेहर के विद्रोह को पूरी तरह से दमन करने के उद्देश से वह चार साल तक सम्भल में ठहरा और वहाँ उसने बड़ी निर्दयता से विद्रोहियों का संहार किया। फिर उसने उस प्रान्त के शासन को सुव्यवस्थित किया और हिन्दुओं के मन्दिर आदि नष्ट करके अपनी धर्मान्धता का परिचय दिया।

इटावा क्षेत्र की समस्या का निराकरण करने के लिए उसने सन् १५०४

में आगरा शहर बसाया। जिस प्रकार पंजाब के बाद दिल्ली पहला स्थान है, जहाँ से राजपूताना, दक्षिण तथा पूर्व जाने के रास्ते खुलते हैं, उसी प्रकार आगरा दक्षिण में वही भौगोलिक महत्त्व रखता है। जयपुर से लेकर ग्वालियर और बुन्देलखण्ड के प्रदेश को आधिपत्य में रखने के लिए आगरे के स्थान पर छावनी रखना आवश्यक था। उसके इस महत्व का सिकन्दर ने अनुभव किया। फिर इस केन्द्र से ग्वालियर, इटावा, बयाना, कोयल (अलीगढ़), धौलपुर आदि के सरदारों को दमन किया। सन् १५०६ में उसने नरवर पर घेरा डाला। भीषण युद्ध के बाद, जब किले में खाने-पीने की सामग्री समाप्त हो गई, तब हिन्दुओं ने हार मान ली। नरवर के बाद चँदेरी और नागौर को भी सन् १५१० में अधिकृत किया। सन् १५१७ में आगरे में उसकी मृत्यु हो गई।

**सिकन्दर का शासन**—शासन को केन्द्रित करने में तो सिकन्दर सफल न हुआ, परन्तु एक काम उसने किया। एक बड़ी हद तक अधिकार अपने हाथ में कर अफ़ग़ानों को एकाधिकार में रखा। तथापि वे यह सिद्धान्त न भूले कि हम बादशाह के बराबर ही हैं; वह केवल हम लोगों में बड़ा है। शासन के उस धर्मावस्थित सिद्धान्त (Theocracy) को, जिसे फ़ीरोज़ ने फिर से पूरा बल दिया था, सिकन्दर ने और भी सुदृढ़ किया। सम्भल के बोधन नाम के एक ब्राह्मण के ऐसा कहने पर कि हिन्दू धर्म उतना ही अच्छा है जितना मुसलमानी धर्म, उस पर उलमा की मजलिस के सामने अभियोग चलाया गया और उनके फतबे पर उसे कत्ल किया गया। हिन्दुओं के धर्म के विरुद्ध कई बड़ी संकीर्ण आज्ञाएँ दी गयीं। उनको दाढ़ी और सिर मुड़ाने से रोका गया। मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी गईं ताकि वे उनसे मांस तौलने के बाट बनाएँ। इस समय यूरोप में भी धार्मिक अत्याचार बड़े वेग से हो रहे थे।

परन्तु सिकन्दर ने शासन-व्यवस्था में कुछ सुधार अवश्य किए। सरकारी आय-व्यय विभाग के हिसाब की जाँच-पड़ताल का बड़ा अच्छा प्रबन्ध किया, क्योंकि उस समय बीच के अफ़सर बड़ा ग़बन और बेईमानी करते थे। ऐसा करनेवालों को कड़ी सजाएँ दीं। न्याय में भी बहुत कड़ाई की और सबके साथ समान व्यवहार करना शुरू किया। किसी बड़े आदमी को केवल उसकी हैसियत के कारण नहीं छोड़ा जाता था। गुप्तचर विभाग भी स्थापित किया गया और बाजारों के निरीक्षण का प्रबन्ध किया गया। गाँवों के लोगों की रक्षा के उपाय किए गए। खेती की वृद्धि और उन्नति का प्रबन्ध किया गया, तथा व्यापार वाणिज्य को भी प्रोत्साहन दिया गया। ग़रीब लोगों की हर साल एक सूची बनवाई जाती थी और उनको खाना बाँटा जाता था। दस्तकारियों की उन्नति के लिए कारखाने भी खुलवाए गए। इस प्रकार शासन-प्रबन्ध के भिन्न-भिन्न विभागों को सुधारने का तो सिकन्दर ने भरसक प्रयत्न किया, परन्तु वह उन मौलिक त्रुटियों को न दूर कर सका जिनके रहते हुए किसी राज्य का संघटित होना असम्भव होता है।

सिकन्दर कुछ कविता भी करता था। उसका तखल्लुस था 'गुलरुख़'। वह कवियों तथा विद्वानों को प्रोत्साहित करता तथा आश्रय देता था। उसकी आज्ञा से मियाँ भुवा नामक एक विद्वान् ने आयुर्वेद की एक संस्कृत पुस्तक का फारसी भाषा में अनुवाद किया था। इस पुस्तक का नाम है—तिब्बे-सिकन्दरी।

सिकन्दर के बाद उसका बेटा इब्राहीम गद्दीनशीन हुआ। इसको भी कभी शांति न मिली। परिस्थिति प्रतिकूल थी ही। इब्राहीम उतना चतुर न था। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही एक बाहरी विजेता ने उसका अन्त करके उसके साथ अफ़ग़ान साम्राज्य का भी अन्त कर दिया।

●

अठारह

# सल्तनत की शासन-प्रणाली

मुस्लिम राजसत्ता का आधार ईशसत्तात्मक (theocratic) है। उसका मूल सिद्धांत यह है कि राज्य का सर्वोच्च अधिष्ठाता अथवा सच्चा राजा स्वयं ईश्वर है और सांसारिक राजा केवल उसका प्रतिनिधि रूप है। उसका कर्त्तव्य और धर्म यही है कि वह ईश्वर की आज्ञा का पालन करे और इस उद्देश पूर्ति के लिए अपने राज्य की सारी शक्ति का प्रयोग करे। राज्य का उद्देश केवल एक है—धर्म को संसार भर में फैलाना। अतः राजा तथा उसके कर्मचारियों का मुख्य उद्देश धर्म-प्रचार ही है। इस उद्देश की पूर्ति के लिए दिन-रात प्रयत्न करते रहना ही प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है। इसी का नाम 'जहाद' है। इस सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म के विरोधी समस्त विचारों को नष्ट करना तथा उनके अनुयायियों को या तो मुसलमान बनाना और यदि वे न बनें तो उन्हें नष्ट करना प्रत्येक मुसलमान का कर्त्तव्य है।

इस्लाम की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप और कुफ्र है मूर्ति-पूजा, अर्थात् एक से अधिक ईश्वर या देवता मानना, अथवा ईश्वर के बराबर कोई और शक्ति भी मानना। इसलिए मूर्ति-पूजा को नष्ट करना और मूर्ति-पूजकों को किसी न किसी उपाय से मुसलमान बनाना मुसलमानों का परमधर्म समझा जाता है। मुस्लिम राज्य के अन्दर मूर्ति-पूजकों के लिए दो ही रास्ते हैं, या तो इस्लाम धर्म ग्रहण करना या मृत्यु।

इस्लाम धर्म अथवा राज्य का मूल सिद्धांत तो यह था; परन्तु जब अरब वालों ने अन्य देशों को जीतना शुरू किया, तब वे ऐसी जातियों के सम्पर्क में भी आए जिनकी सभ्यता और संस्कृति उनसे कहीं प्राचीन तथा उच्च थी। उन्होंने देखा कि इनको इस्लाम धर्म स्वीकार कराना किसी प्रकार के उपाय से भी सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उन्हें अपने धर्म के कट्टर आदेशों को ढीला करना पड़ा। सिंध के अरबी मुसलमान शासकों ने बड़ी नीति और चतुराई से काम लिया। उन्होंने धार्मिक असहिष्णुता की नीति से हर प्रकार की आशंका देखकर हिन्दुओं के धर्म पर प्रहार न किए। उनके देवस्थानों तया मन्दिरों को नहीं तोड़ा और शासन-कार्य में भी उनसे पूरी सहायता ली। इसी प्रकार की परिस्थिति के कारण मुस्लिम दण्ड-विधान के एक बड़े भारी पण्डित अबू हनीफ़ा ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार

की जिसके अनुसार इस्लाम धर्म ग्रहण न करनेवाले काफ़िरों के लिए एक दूसरा रास्ता भी बतलाया। इस नियम के अनुसार काफ़िर भी कुछ मूल्य देकर इस्लामी राज्य के अन्दर जीवित रहने का अधिकार खरीद सकते हैं। इसी मूल्य का नाम **जज़िया** है।

तुर्क सुलतानों के युग में, एक दो समझदार सुलतानों को छोड़कर, जिन्होंने कुछ-कुछ उदार नीति का प्रयोग किया, प्रायः सभी असहिष्णुता की नीति का पालन करते रहे। राजनैतिक परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के कारण उनको अपनी प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार करना पड़ता था, परन्तु विजित प्रदेशों अथवा अन्य प्रजा के साथ काम पड़ने पर वे पूर्णरूप से इस्लाम की शिक्षा का अनुकरण करने का यत्न करते रहे।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के तुर्क मुसलमान विजेताओं के सामने धर्म का यही आदर्श था, परन्तु उनका आदर्श और उद्देश केवल धर्म-प्रचार न रहकर कई प्रकार से मिश्रित हो गया था। जैसा कि हम ऊपर एक स्थान पर बतला चुके हैं, उनके आदर्श और उद्देश ही नहीं प्रत्युत उनकी कार्य-प्रणाली पर भी फ़ारस की गहरी छाप लग चुकी थी। इसके अतिरिक्त उनके कार्यक्रम पर एक और प्रभाव भी पड़ा था। यह था तुर्क जातीय चरित्र एवं रीति-रिवाज का। इस प्रकार दिल्ली की मुसलमान सल्तनत के राजनैतिक प्रवाह में तीन मुख्य धाराएँ सम्मिलित होकर उसकी नीति को प्रेरित कर रही थीं। ये तीन धाराएँ इस प्रकार थीं—(१) अरबी धर्म तथा राजनीति का उद्देश तथा कार्य-प्रणाली, (२) फ़ारस की सभ्यता जिसने अरबी विजेताओं के विचार तथा दृष्टि को अधिक विस्तृत तथा उदार बनाया, तथा शासन-प्रबन्ध के कार्य-क्षेत्र एवं पद्धति को बहुत विस्तृत किया। प्रजा की केवल रक्षा करना और उनसे कर उगाहना ही नहीं, बल्कि उसकी उन्नति के उपाय करने और राजा को प्रजा का सेवक मानने का आदर्श अरब वालों ने फ़ारस से ग्रहण किया। (३) तीसरा प्रभाव तुर्क जाति के चरित्र एवं रीति-रिवाज का था। तुर्क जाति की युयुत्सु प्रवृत्तियों को अपने नए धर्म के उद्देशों से बड़ी उत्तेजना मिली। उनकी वीरता, युद्ध-कौशल तथा अन्य सामरिक गुणों के सम्मिश्रण से मुस्लिम साम्राज्य तथा राजनीति ने एक नया ही रूप धारण कर लिया। भारतीय मुस्लिम शासन-पद्धति एक ऐसी मिश्रित संस्था थी जिसमें अरबी-फारसी पद्धति को अति प्राचीन तथा पूर्णतया स्थापित भारतीय संस्था के बीच में काम करना पड़ा और इसी कारण वह भारतीय संस्था से अत्यन्त प्रभावित हुई। इसका संचालन प्रायः तुर्कों के हाथ में था। इस परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि भारत में आकर मुस्लिम-शासन-पद्धति एवं राजनैतिक सिद्धान्तों में बड़े भारी परिवर्तन हो गए। उदाहरण के लिए सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उत्तराधिकार के सिद्धान्त में हुआ। इस्लाम धर्म के अनुसार खलीफ़ा अथवा बादशाह का पद निर्वाचनाधीन है, परन्तु तुर्क बादशाह इसकी अवहेलना करके राजगद्दी को वंशानुगत

बनाने का यत्न करते रहे। इसी प्रकार राजकीय करों और विधर्मियों के साथ सहिष्णुता की नीति इत्यादि अनेक बातों में बड़े परिवर्तन हो गए*।

अब हमें संक्षेप में यह देखना है कि भारतवर्ष में मुस्लिम शासन-पद्धति का वास्तविक ढाँचा कैसा था।

**केन्द्रीय सरकार**—पठान राज्य का सर्वोच्च सांसारिक अधिकारी सम्राट् था। सिद्धान्त रूप से वह राजनीति तथा धर्म दोनों क्षेत्रों का मुख्य अधिपति था। उसकी शक्ति तथा अधिकार किसी सांसारिक शक्ति के अधीन नहीं थे, केवल उन ईश्वरीय नियमों से, जो धर्म-ग्रन्थों में वर्णित थे, उसकी शक्ति तथा अधिकार परिमित होते थे। इनके भीतर वह सर्वेसर्वा था। धार्मिक नियमों के अनुसार वह अपने कृत्यों के लिए मुसलमान जन-साधारण के प्रति उत्तरदायी भी था, परन्तु वास्तव में कोई बादशाह इस नियम की परवाह नहीं करता था। उसके कार्यों पर कोई वैध रुकावट नहीं थी; पर हाँ, लोकमत और विद्रोह के भय का अवश्य कुछ अंकुश था।

पठान राज्य में आज-कल के समान कोई वैध सभा या समिति नहीं होती थी, परन्तु सम्राट् अपनी सहायता के लिए एक मन्त्रिपरिषद् ( मजलिसेआम ) अथवा मण्डल अवश्य नियुक्त करता था। मन्त्रिमण्डल हर प्रकार से सम्राट् के अधीन होता था। वही उसका कर्ता-धर्ता और हर्ता था। मन्त्रियों की कोई निश्चित संख्या नहीं थी। मन्त्रिमण्डल को केवल परामर्श देने अथवा बादशाह की आज्ञा पालन करने तथा उसकी नीति का अनुसरण करने के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार नहीं था। मन्त्रिमण्डल का एक प्रमुख या प्रधान अवश्य होता था जो सम्राट् की अनुपस्थिति में सभापति होता था तथा अन्य समस्त शासन का संचालन करता था। वह पठान साम्राज्य में वज़ीरेमालिक कहलाता था। मुख्य मन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के वास्तविक अधिकार, शक्ति तथा प्रभाव उनके और बादशाह के परस्पर सम्बन्ध तथा आपेक्षिक योग्यता और व्यक्तित्व पर निर्भर थे। ग़यास और मुहम्मद तुग़लक़ तथा बलबन के मन्त्री कभी अधिक प्राबल्य अथवा महत्व प्राप्त नहीं कर सकते थे, परन्तु उनके निर्बल वंशजों के मन्त्रीगण बड़े प्रभावशाली और कभी-कभी सर्वेसर्वा हो जाते थे। तथापि क्रियात्मक रूप से सम्राटों को अपने मन्त्रियों का बड़ा सम्मान करना पड़ता था। वे उनकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। उनके परामर्श का वे बड़ा आदर करते थे। उनके सत्परामर्श ही के कारण अलाउद्दीन ख़लजी जैसे सुलतानों को कई बातों में सफलता हुई और कई दुर्घटनाओं से उनकी रक्षा हुई। जब उसने अपनी शक्ति के मद में मन्त्रियों

* आदर्श और वास्तविक स्थिति में इस प्रकार का भेद देखकर एक लेखक ने कहा है—"The laws of faith never sufficed to curb the ambition of kings."

की अवहेलना करना शुरू कर दिया, तबसे उसका पतन शुरू हो गया। बलबन, गयासुद्दीन तुग़लक़ आदि शक्तिशाली सम्राट् भी अपने मन्त्रियों के परामर्श का बड़ा आदर करते थे।

**वज़ीरेममालिक**—राज्य में सम्राट् के बाद वजीरेममालिक का स्थान सर्वोपरि था। वज़ीर प्रायः बहुत शक्तिशाली होता था। वह राज्य के समस्त विभागों का निरीक्षण करता था। परन्तु उसका प्रभाव तथा शक्ति भी सम्राट् की रुचि पर आश्रित होती थी। राजकीय कोष, आय-व्यय, टकसाल तथा सार्वजनिक वास्तु आदि विभागों का प्रबन्ध प्रायः वज़ीरेममालिक के सुपुर्द होता था।

**अन्य मन्त्री**—अन्य मन्त्रियों का वर्ग इसके नीचे होता था। उनको किसी विभाग-विशेष के स्वतन्त्र संचालन का अधिकार नहीं दिया जाता था। वज़ीर की आज्ञा और परामर्श के बिना वे कोई कार्य नहीं कर सकते थे। इन मन्त्रियों में से मुख्य के नाम ये हैं—

(१) **दीवाने रिसालत**—बाह्य अथवा अन्तर्जातीय सम्बन्ध विभाग का मन्त्री।

(२) **दीवाने अर्ज़**—प्रार्थनापत्र आदि का निरीक्षण करनेवाला मन्त्री।

(३) **दीवाने इन्शा**—राजकीय पत्र-व्यवहार इत्यादि करनेवाला मन्त्री।

(४) **दीवाने वज़ारत**—राजकीय आय तथा कर वसूल करनेवाले विभाग का मन्त्री।

(५) मुगलों के समान राजप्रासाद तथा अन्तःपुर का भी एक पृथक् विभाग होता था, परन्तु इसके संचालक का नाम अप्राप्य है। इस विभाग के अन्तर्गत कई छोटे विभाग या शाखाएँ होती थीं। जैसे पाकशाला, जिसका अधिकारी चाश्नीगीर कहलाता था; इत्यादि। इसीमें शयनागार, हाथी-घोड़ों के अस्तबल, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र-विभाग भी सम्मिलित थे।

अस्त्र-शस्त्र, पोशाक, वर्दी इत्यादि बनाने के लिए बड़े-बड़े शाही कारखाने होते थे। इनके संचालन तथा प्रबन्ध के लिए अलग कर्मचारी होते थे। कारखानों का हिसाब रखने के लिए कोष-विभाग में एक पृथक् विभाग रहता था।

**सेना-विभाग**—मुस्लिम धर्म के अनुसार राजा ही सेनाध्यक्ष भी होता है। पठान सुलतान प्रायः स्वयं ही अपनी सेना का नेतृत्व करते थे। अपनी सहायता के लिए वे अन्य सैनिकों को भी ऊँचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त करते थे, परन्तु पठान राज्य में समस्त सेना का कोई स्थायी सेनापति नहीं होता था। प्रत्येक सूबेदार के पास एक सेना का होना भी आवश्यक था। सामान्य शासन-विभाग (civil) और सैनिक विभाग (military) में कोई भेद नहीं था। उत्तर-पश्चिमी सूबों के अध्यक्ष बड़े-बड़े सैनिक और योद्धा ही बनाए जाते थे।

सम्राट की स्थायी सेना प्रायः कम होती थी। अलाउद्दीन ख़ल्जी और मुहम्मद तुग़लक़ ने बड़ी-बड़ी स्थायी सेनाएँ तैयार की थीं, परन्तु उनके बाद फिर

पूर्ववत् दशा हो गई। स्थायी सेना के अतिरिक्त सूबेदारों और जागीरदारों को अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार सेना भेजनी पड़ती थी। इस प्रकार युद्ध के समय सेना की संख्या काफ़ी बड़ी हो जाती थी।

सेना के दो मुख्य अंग होते थे। अश्वारोही (घुड़सवार) और पदाति (पैदल)। हाथियों से मुख्यतया बार-बरदारी का काम लिया जाता था। क़िलों पर हमला करने और उनके दरवाज़ों इत्यादि को तोड़ने में भी हाथी काम करते थे। सड़कें उन दिनों काफी अच्छी नहीं होती थीं और नदियों पर पुल बहुत कम स्थानों पर थे। इस कारण बरसात में स्थल मार्गों से सेना का आवागमन बहुत कठिन हो जाता था। इन दिनों में दूरवाले प्रान्तों पर चढ़ाई करने के लिए जल-मार्गों (नदियों) के द्वारा नावों में सेना पहुँचाई जाती थी।

सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन का प्रबन्ध करने के लिए कोई विभाग उन दिनों नहीं होता था। अस्त्र-शस्त्र, घोड़े तथा वस्त्रादि सबको अपने-अपने लाने पड़ते थे। हर एक सूबेदार या जागीरदार अपनी-अपनी सेना को सब सामान देने का ज़िम्मेवार होता था। खाने-पीने का सामान प्रायः आक्रान्त देशों की लूट से इकट्ठा किया जाता था। सेना के साथ साथ रहने वाले बंजारे भी काफ़ी सामान देते थे।

सेना की एक समान शिक्षा, एक समान वस्त्र अथवा अन्य बातों के लिए कोई नियम नहीं था। ये सब बातें सेनापतियों की बुद्धि या इच्छा पर छोड़ दी जाती थीं। माँग आने पर सूबेदार तुरन्त बिना सिखाए हुए आदमियों को भरती करके सेना तैयार कर लेते थे। इसलिए बहुत से सिपाही और उनके घोड़े बिलकुल अयोग्य और युद्ध-कौशल से अनभिज्ञ होते थे। इस प्रकार सेना की सफलता या विफलता प्रायः उसके नेता की योग्यता तथा युद्ध-कौशल पर निर्भर होती थी।

**न्याय-विभाग**—न्याय-विभाग का प्रमुख भी सम्राट ही होता था। राष्ट्र में वही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। उसके नीचे **सदर काज़ी** होता था। सदर काज़ी सारी सल्तनत के न्याय-विभाग का निरीक्षण करता था। जो अभियोग सीधे उसके पास आते थे, उनका वह न्याय करता था और अपीलें भी सुनता था। प्रत्येक सूबे के केन्द्रीय स्थान में सूबे का एक काज़ी होता था। दिल्ली, बदायूँ, ग्वालियर, अवध, मालवा, गुजरात, कड़ा, दक्खिन, बंगाल इत्यादि के लिए पृथक्-पृथक काज़ी नियुक्त किए जाते थे। सेना के लिए एक अलग काज़ी होता था।

इन कर्मचारियों के ठीक-ठीक कर्त्तव्य और अधिकार क्या थे, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। ना ही यह ठीक-ठीक कहा जा सकता है कि किस प्रकार के मुकदमे किस न्यायालय में जाते थे। न्याय करने की भी कोई निश्चित पद्धति नहीं थी। काग़ज़ी काम बहुत कम होता था। न्याय होने में बहुत देर न लगती थी। फ़ैसले मौखिक ही सुना दिए जाते थे और शायद उनका पालन भी तुरन्त ही करा दिया जाता था। कचहरियाँ रिश्वत आदि के दोषों से खाली नहीं हो सकती थीं, परन्तु जल्दी फ़ैसले होने का एक बड़ा लाभ था। लोगों को वैसे असीम कष्ट नहीं

उठाने पड़ते थे जैसे आजकल की न्याय-पद्धति के कारण, जिसमें समय की कोई हद ही नहीं है। आजकल छोटे-छोटे मामलों के तय होने में भी बरसों लग जाते हैं। बेचारे अभियुक्त दुःखी हो जाते हैं और उनका व्यय भी बहुत हो जाता है। आजकल के न्याय-विभाग के अत्यन्त सुस्ती से कार्य करने से जो अनेक बुराइयाँ निकलती हैं और प्रजा को जो कष्ट होते हैं, उनको आधुनिक लेखकों ने भी माना है।

दण्डविधान (क़ानून) का मुख्य स्रोत धर्म-पुस्तकें ही थीं। इनके अतिरिक्त स्थानीय रीति-रिवाज, प्रचलित सामाजिक नियमों और पद्धतियों इत्यादि का भी आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग किया जाता था। यदि दोनों पक्ष हिन्दू होते थे तो हिन्दू स्मृतियों के अनुसार फैसले किए जाते थे। परन्तु फौजदारी मामलों में हिन्दू मुसलमान सब का कुरान के विधान के अनुसार ही न्याय किया जाता था। गाँवों के अधिकांश झगड़े ग्राम-पंचायतों द्वारा तय कर दिए जाते थे।

**आय-व्यय**—आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर (मालगुजारी) था। हिन्दू काल में राजा लोग पैदावार का प्रायः $\frac{1}{6}$ भाग भूमि-कर के रूप में लेते थे। कभी-कभी वह उससे भी कम होता था, परन्तु अधिक कभी नहीं होता था। पठान सम्राटों ने सामान्यतया $\frac{1}{3}$ कर लेना आरम्भ किया, परन्तु कइयों ने उसे $\frac{1}{2}$ (५० फी सदी) तक बढ़ा दिया था। इसके अतिरिक्त और भी कई कर लिए जाते थे। (१) **जजिया** जो हिन्दुओं से उनके मुसलमान धर्म अंगीकार न करने पर दण्ड-स्वरूप लिया जाता था। (२) **खम्स**, अर्थात् लड़ाई की लूट का $\frac{1}{5}$ भाग। (३) **ज़कात** जो सम्पन्न मुसलमानों से दरिद्र मुसलमानों के पालनार्थ ली जाती थी। (४) **व्यापार** पर कर। (५) **खिराज** अर्थात् हिन्दू जागीरदारों से और (६) **उश्र**, मुस्लिम जागीरदारों से लिया जानेवाला कर जिसकी मात्रा पैदावार का $\frac{1}{10}$ होती थी।

**प्रान्तीय शासन**—साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त का एक सूबेदार होता था जिसका दरबार शाही दरबार का एक प्रतिरूप ही होता था। प्रान्तीय अधिकारीवर्ग के शासन-कार्य के समुचित निरीक्षण का कोई प्रबन्ध नहीं था। दूरस्थ प्रान्तों के सूबेदार तो प्रायः स्वतन्त्र राजाओं के समान ही व्यवहार करते थे। जब कोई सम्राट् अत्यन्त शक्तिशाली होता था, तब उसके भय से वे लोग कर तथा भेंट भेजते रहते थे। इसके सिवा सूबेदार लोग पूर्णतया स्वतन्त्र शासकों के समान होते थे। सूबेदारों के साथ-साथ जागीरदार भी होते थे। जागीरें वंश-परम्परा के अनुसार एक ही वंश में बनी रहती थीं। सूबेदार तथा जागीरदार दोनों का मुख्य कर्त्तव्य यह था कि आवश्यकता पड़ने पर सुलतान की सहायता के लिए सेना भेजें और स्वयं भी लड़ने को तैयार रहें।

नगरों के शासन का राज्य की ओर से प्रायः कम प्रबन्ध होता था। बड़े-बड़े शहरों में एक कोतवाल (city-magistrate) होता था जिसके बड़े विस्तृत अधिकार होते थे। कोतवाल नगर की रक्षा, सफ़ाई, बाजारों में क्रय-विक्रय की देख-रेख तथा आवश्यक शासन करता था। वह छोटे-छोटे झगड़ों का फ़ैसला भी

करता और अपराधियों को दण्ड भी दे सकता था। छोटे कस्बों और गाँवों में यह सब काम ग्राम-पंचायतें और जात-पंचायत करती थीं। भारतीय सामाजिक तथा राजनैतिक संगठन की इस प्राचीन तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था को मुसलमान शासकों ने नष्ट नहीं किया था।

**लोकहित के कार्य** (public works)—पठान सम्राट् प्रायः मस्जिदें, क़बरें तथा क़िले और बावडियाँ बनवाते थे। सड़कों पर मुसाफ़िरों के लिए सराएँ और कुएँ बनवाते, और उनके दोनों ओर फलदार वृक्ष भी लगवाते थे। इस क्षेत्र में सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य ग़यासउद्दीन और फ़ीरोज़ तुग़लक् ने किया था। फ़ीरोज को वास्तु-निर्माण का बड़ा शौक था। उसने फ़ीरोज़ाबाद, हिसार-फ़ीरोजा, जौनपुर आदि कई शहर बनवाए थे। ग़यासुद्दीन तुग़लक् ने डाक का अच्छा प्रबन्ध किया था और स्थान-स्थान पर डाक-चौकियाँ बनवाई थीं।

**शिक्षा**—उस समय कोई स्वतन्त्र शिक्षा-विभाग नहीं था। सामान्य शिक्षा का प्रबन्ध प्रजा अपने लिए स्वयं करती थी। हिन्दू पण्डित पाठशालाएँ चलाते थे जिनका निर्वाह दान के द्वारा होता था। मुसलमानों के मदरसे और मकतब मस्जिदों में होते थे। इनमें मुख्यतया कुरान की शिक्षा दी जाती थी। इनकी सहायता के लिए बादशाह लोग भूमि दान देते थे जिसकी आमदनी से उनका व्यय चलता था। बड़े-बड़े शहरों जैसे दिल्ली, बदायूँ आदि में उच्च शिक्षा के लिए महाविद्यालय और चिकित्सा के लिए शिफ़ाखाने भी बनवाए जाते थे।

**सिंहावलोकन**—उपर्युक्त वर्णन से विदित हो गया होगा कि पठान साम्राज्य की कोई निश्चित शासन-व्यवस्था नहीं थी। राजा की शक्ति को परिमित रखने का भी कोई उपाय नहीं था। प्रान्तीय शासन को सुसंगठित रखने के लिए कोई उपाय राजा के हाथ में नहीं था। सड़कों आदि के खराब होने के कारण दूरस्थ प्रान्त तो प्रायः स्वतन्त्र ही रहते थे। पठान शासन का विशेष प्रभाव शहरों पर ही देखने में आता था। वे देहातों में अपना कर वसूल करने के सिवा और कुछ न करते थे। शासन का आधार जनता की श्रद्धा और प्रेम पर नहीं वरन् केवल सैनिक बल पर था। पठान सुलतान तथा उनके साथी मुसलमान अपने को विदेशी मानते थे और हिन्दुस्तानियों को घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने यह कभी न समझा कि राज्य का आधार राष्ट्रीय अथवा जातीय एकता होनी चाहिए। इस सिद्धान्त को न समझ पाने के कारण ही पठान सल्तनत की बुनियाद कभी दृढ़ न हो सकी। उसकी निर्बलता का एक और भी कारण था। उनमें उत्तराधिकार का कोई सर्वमान्य नियम नहीं था। कुरान के सिद्धान्त का भी पालन करने के लिए कोई तैयार नहीं था। फलतः परस्पर मारकाट और झगड़े होते रहते थे। इससे राज्य की बहुत हानि होती थी।

उन्नीस

# पठान साम्राज्य का विच्छेद : स्वतन्त्र रियासतों की स्थापना

मुहम्मद तुग़लक़ के राज्य-काल के उत्तरार्ध में विशाल पठान साम्राज्य के टुकड़े होने शुरू हो गए। ५०—६० बरस के अन्दर दिल्लीश्वर का राज्य राजधानी के इर्द-गिर्द १०-२० मील से अधिक न रहा। इसके मौलिक कारणों पर हम यथास्थान विचार कर चुके हैं तथापि यहाँ उनका सारांश दे देना अनुचित न होगा।

पठान साम्राज्य के ह्रास और नाश के कारण उनकी अन्तरात्मा में ही निहित थे। जिस राज्य का मूल आधार प्रजा की अनुमति और सहयोग पर आश्रित न हो, वह स्थायी नहीं रह सकता। एक अंग्रेज़ विद्वान् ने कहा है कि हम भाले की नोक से और सब-कुछ कर सकते हैं, परन्तु उस पर बैठ नहीं सकते। सैन्य बल से किसी देश या जाति को जीता तो जा सकता है, परन्तु जीत लेना एक बात है, और उस पर एक स्थायी सुदृढ़ राज्य की स्थापना करना दूसरी बात है। दिल्ली के पठान सुलतानों ने सुव्यवस्थित और सुदृढ़ राज्य का यह मौलिक सिद्धान्त समझा ही नहीं कि जिस देश या जाति पर राज्य करना हो, राजा को उसी का एक अंग होकर रहना और बरतना चाहिए। वे सदैव इसके विपरीत ही चले। उन्होंने भारतीय प्रजा के आदेशों और आकांक्षाओं से सहयोग और सहानुभूति कभी न की, प्रत्युत उसके प्रति विद्वेष का भाव ही रखते रहे। भारतीय जनता को वे विदेशी भी जान पड़ते थे और विधर्मी भी। उनकी आँख सदा खैबर के उस पार लगी रहती थी। हिन्दुस्तानियों से वे विदेशियों की भाँति अलग ही रहना चाहते थे और उनके धर्म पर प्रहार करने का कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। इस नीति को छोड़कर कम से कम अपने राज्य की सीमा के अन्दर ग़यासउद्दीन और मुहम्मद तुग़लक़ ने एक उदार नीति का श्रीगणेश किया था, परन्तु दैव उनके प्रतिकूल था। ग़यास को कार्य करने का बहुत थोड़ा अवकाश मिला। मुहम्मद तुग़लक़ के शुभ संकल्पों को कुछ तो दैव के प्रकोप ने और कुछ उसके उतावलेपन ने नष्ट कर डाला। दिल्ली के सुलतानों में इन दो को छोड़कर और कोई शासक ऐसा न हुआ जिसने अपने विदेशी दृष्टिकोण या संकीर्ण धर्मान्धता को छोड़ा हो। मुहम्मद तुग़लक़ के काल में साम्राज्य चरम सीमा को प्राप्त हुआ। पंजाब से लगभग कन्याकुमारी तक और बंगाल से सिन्ध तक दिल्लीश्वर

का ही दौर-दौरा था। इतने विस्तृत साम्राज्य को सँभालने, तथा सुव्यवस्थित रूप से उसका शासन करने के लिए आवश्यक है कि ऐसे विश्वसनीय मन्त्रियों, प्रान्ताधिकारियों और सैनिकों का एक मण्डल हो जिन्हें केवल शासन-नीति के मौलिक सिद्धान्तों से युद्ध करके अपना कार्य करने के लिए पूरी स्वतन्त्रता से छोड़ दिया जाए और उन्हें अवसर दिया जाए कि वे अपने शासन को आदर्श और जनता को सुखी बनाकर दिखलाएँ। इस विकेन्द्रीकरण (decentralisation) की नीति का पालन एक इतने बड़े साम्राज्य के शासन की सफलता के लिए अत्यावश्यक था। परन्तु मुहम्मद की नीति इसके बिलकुल विपरीत थी। साम्राज्य जितना विस्तृत होता जाता था, उतनी ही उसके केन्द्रीकरण की नीति बढ़ती जाती थी उसके शक्कीपन और क्रोधी स्वभाव के कारण कोई बड़े से बड़ा राजकर्मचारी भी निःशंक नहीं रह सकता था। न वह किसी पर पूरा विश्वास ही करता था। स्वाभाविक ही था कि प्रजा उसके रौद्र रूप को ही देख पाती। उसके शुभ प्रस्ताव उनकी समझ के भी परे थे और उसके नृशंस कामों की काली चादर के नीचे ढँक जाते थे। उसके अनुगामियों ने अपने धर्म के अनुसार प्रजा-हित के चाहे जितने कार्य किए हों, परन्तु वे उन सिद्धान्तों को न समझते थे जिनके आधार पर एक स्थायी राजनैतिक भवन का निर्माण हो सकता था।

अब हम उन मुख्य-मुख्य राज्यों का संक्षिप्त वर्णन नीचे देते हैं जो इस साम्राज्य के नष्ट होने से प्रादुर्भूत हुए—

(१) उत्तर भारत में जौनपुर, बंगाल और काश्मीर

(२) मध्य भारत में मालवा, गुजरात, खानदेश, सिन्ध, और

(३) दक्षिण में बहमनी राज्य और विजयनगर साम्राज्य।

**जौनपुर**—आधुनिक जौनपुर की नींव सन् १३६० में बंगाल से लौटते समय सुलतान फ़ीरोज़ ने डाली थी। सन् १३७६ में जौनपुर और जफ़राबाद का एक बहुत बड़ा सूबा बनाया गया और मलिक बहरोज़ सुलतान को उसका शासक बनाया गया। बहरोज़ ने बहुत ही जल्दी विद्रोह को दमन करके शान्ति स्थापित की और सूबे को संगठित किया। सन् १३९४ में मलिक सरवर को सुलतान महमूद तुग़लक़ ने उस प्रान्त का शासक बनाया और मलिक-उश्शर्क की उपाधि से अलंकृत किया। उसने केवल अवध पर ही अपना अधिकार नहीं जमाया, बल्कि पूरब में बिहार और तिरहूत तक और पश्चिम में कोयल तक का प्रदेश भी अधिकृत किया तथा लखनौती और जाजनगर से कर वसूल किया। तीमूर के आक्रमण से फ़ायदा उठाकर उसने अपने को स्वतन्त्र बना लिया और अताबकेआज़म की उपाधि धारण की। जौनपुर को उसने अपनी राजधानी बनाया। सन् १३९९ में उसके बाद उसका दत्तक पुत्र करन-फाल (करनफूल), मुबाकरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने अपना सिक्का भी चलाया। तीमूर के लौट जाने के बाद सुलतान महमूद के वज़ीर मल्लू इक़बाल ने जौनपुर पर चढ़ाई की, परन्तु सुलह करके लौट आया। सन् १४०२ में मुबारक की

मृत्यु हो गई और उसका भाई इब्राहीमशाह गद्दी पर बैठा। उसने अपना नाम शम्सुद्दीन इब्राहीमशाह शर्की रखा। इब्राहीम बड़ा चतुर तथा गुणवान था। सुलतान महमूद तुग़लक़ ने मल्लू इक़बाल के विरुद्ध उससे सहायता माँगी थी, परन्तु उसने इनकार कर दिया। सन् १४०७ में इब्राहीम ने दिल्ली पर चढ़ाई की, परन्तु गुजरात के सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह के चढ़ आने के कारण उसे लौटना पड़ा। फिर मालवा के सुलतान होशंगशाह के साथ मिलकर उसने काल्पी पर चढ़ाई की, पर वहाँ से भी बिना कुछ लिये लौट आया।

सन् १४१४ से खिज्र खाँ सैयद के सुलतान हो जाने के बाद दिल्ली की तरफ़ से कोई आशंका न रही और उसने बड़ी शान्ति से राज्य किया। उसने शासन को व्यवस्थित किया। मुसलमान लेखक लिखते हैं कि वह उदार बादशाह था, परन्तु धर्म का पक्षपात उसमें भी कम न था। हिन्दुओं के सैकड़ों मन्दिरों को तोड़कर उनकी सामग्री से उसने **अतलदेवी** मस्जिद बनवाई। इस स्थान पर पहले अतल-देवी का मन्दिर था। तथापि वह बड़ा गुणग्राही और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में बड़े-बड़े विद्वान् तथा कलावन्त रहते थे। उसने जौनपुर को एक बड़ा प्रसिद्ध विद्यापीठ बना दिया था। दिल्ली निवासी क़ाज़ी शिहाबउद्दीन ने, जो अपने समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् था, उसी के दरबार में जाकर शरण ली थी। उसने शरहेहिन्दी और ईसार-उल-नह्व इत्यादि कई ग्रन्थ रचे थे।

इब्राहीम सन् १४३६ में मर गया और उसका लड़का महमूदशाह सुलतान हुआ। महमूद ने कई बार दिल्ली पर चढ़ाई की, परन्तु बहलोल लोदी ने उसे पीछे हटा दिया। वह भी बड़ा योग्य था। कला और साहित्य को उसने भी पर्याप्त प्रोत्साहित किया। महमूदशाह की मृत्यु सन् १४५७ में हुई। उसका लड़का मुहम्मद बड़ा क्रूर हुआ। उसने अपने एक भाई को बड़े धोखे से मरवा डाला और बाक़ी भाइयों को भी मरवाने की चेष्टा करने लगा, परन्तु उनको खबर हो गई। सब अमीर उससे अलग हो गए और वह बचकर भागना चाहता था कि उसके भाइयों ने उसे मरवा डाला। फिर उसका भाई हुसैन बादशाह हुआ। यह जौनपुर के स्वतन्त्र बादशाहों में अन्तिम हुआ। दिल्ली पर चढ़ाई करने पर बहलोल लोदी ने उसको पराजित किया और सन् १४७६ में अपने लड़के बारबक को जौनपुर का शासन सुपुर्द कर दिया। हुसैन भागकर बंगाल चला गया और फिर कभी उसने जौनपुर को वापस लेने की चेष्टा न की।

**जौनपुर की कला और साहित्य**—जौनपुर की बादशाहत केवल ८० वर्ष के क़रीब रही परन्तु इस अवकाश में वहाँ पर कला और साहित्य की काफी उन्नति हुई। इब्राहीम के काल में जौनपुर शीराज़ेहिन्द कहलाने लगा था। हुसैन संगीत का बड़ा प्रेमी था, परन्तु उसका सबसे अधिक स्थायी कार्य वास्तुकला के क्षेत्र में हुआ। शर्की बादशाहों ने कई बड़ी-बड़ी मस्जिदें तथा महल बनवाए। उनके महलों को तो लोदियों ने नष्ट कर दिया, परन्तु मस्जिदें अब तक बाक़ी हैं। इन मस्जिदों

की रचना-शैली बिलकुल निराली है। इनमें मीनारों के बजाए बीच के दरवाज़े के सामने दो बड़े भारी सूच्याकार (Pylon) बनाए गए हैं और उनको स्तम्भ रूप मान कर उनके बीच में एक बड़ी ऊँची मेहराब दी गई है। इस प्रकार की रचना और कहीं नहीं पाई जाती। पाइलनों के अत्यन्त भारी और सूच्याकार होने से ग़यास-उद्दीन तुग़लक़ के मक़बरे का आभास उनमें जान पड़ता है। और वे मिस्र के पिरामिडों की याद दिलाते हैं। इन पाइलनों की कई मंज़िलें हैं। और उनके अन्दर ज़ीना भी है। ये मस्जिदें बहुत सुन्दर खुदाई के काम से सुसज्जित हैं। इनके बनानेवाले प्रायः हिन्दू कारीगर थे।

**बंगाल**—इख़्तियारउद्दीन की विजय के बाद बंगाल में उसके वंशज राज्य करते रहे। यह सूबा प्रायः स्वतन्त्र ही रहता था। बलबन ने १३वीं सदी के अन्तिम भाग में इसे जीतकर अपने लड़के बुग़रा को उसका शासक बनाया तब से बलबनी वंश के बादशाह उस पर राज्य करते रहे। इसके बाद बंगाल के तीन विभाग हो गए थे। लक्ष्मणावती (लखनौती), सुवर्णग्राम (सुनारगाँव) और सप्तग्राम (सातगाँव या चटगाँव)। तुग़लक़शाह ने बंगाल पर फिर अधिकार दृढ़ कर लिया था, परन्तु मुहम्मद तुग़लक़ के काल में वह फिर स्वतन्त्र हो गया। सन् १३५६ में फ़ीरोज़ तुग़लक ने इलियासशाह को समस्त बंगाल का स्वतन्त्र शासक मान लिया। मुसलमान लेखकों के कथन से मालूम होता है कि इलियास बड़ा अच्छा शासक था। उसके राज्य में प्रजा सुखी थी और देश धन-धान्य से भरपूर था। इलियास के बेटे सिकन्दर ने सन् १३५८-८९ तक राज्य किया। उसका शासन भी अच्छा रहा। वह बहुत कलाप्रेमी था। उसने पाण्डुआ में अदीना मस्जिद बनवाई जो बंगाल के मुस्लिम वास्तु में सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। सैयद और लोदी वंश के काल में बंगाल के बादशाहों की शक्ति और भी बढ़ गई। इसके बाद हुसैन शाह (१४९३-१५१८) बड़ा प्रतापी हुआ। जौनपुर का अन्तिम राजा हुसैन उसी की शरण में जाकर रहा था। हुसैन का शासन भी बहुत उन्नतिशील तथा शान्तिमय रहा। नुसरतशाह (१५१८-३३) ने तिरहूत को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। जब बाबर ने बंगाल पर चढ़ाई की तब उसने सन्धि कर ली। बाबर की मृत्यु के बाद लोदी अफ़ग़ानों ने बिहार और बंगाल में फिर जोर पकड़ा और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फिर शेरशाह ने बंगाल को अधिकृत किया। उसके बाद बंगाल में करारानी वंश स्थापित हुआ। सन् १५७६ में सम्राट् अकबर ने इस वंश के अन्तिम बादशाह दाऊद को निकालकर बंगाल को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

बंगाल में कई शासक बड़े कला-प्रेमी तथा विद्याव्यसनी हुए। उन्होंने गौड़ में बहुत-सी इमारतें बनवाईं जो अब तक विद्यमान हैं। बंगाल की इमारतें ईंटों की बनी हुई हैं, कारण कि वहाँ पत्थर मिलता न था। अदीना मस्ज़िद के अतिरिक्त गौड़ में और भी कई इमारतें बनवाई गईं जो अत्यन्त सुन्दर हैं। ये इमारतें भी अधिकांश हिन्दू मन्दिरों के मसालों से बनवाई गई थीं।

**काश्मीर**—काश्मीर का राजनीतिक सम्बन्ध दिल्ली सल्तनत से कभी न हुआ। यह विस्तीर्ण घाटी प्राचीन काल से ही अपनी विलक्षण भौगोलिक परिस्थिति के कारण भारतीय साम्राज्यों से अलग ही रही। तथापि किसी-किसी साम्राज्य में काश्मीर को सम्मिलित होना पड़ा था, जैसे मौर्य, कुशन और हूण साम्राज्यों में। ईसा की ७वीं शती में करकोट वंश के राजाओं के समय से काश्मीर का सम्पर्क देश के अन्य प्रान्तों से होना प्रारम्भ हुआ। इस वंश के राजाओं ने तक्षशिला तक के प्रदेश पर अधिकार जमा लिया था। इस वंश का सबसे महान् और प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तपीड़ हुआ (७२४-७६० ई०)। उसने समस्त उत्तरी भारत पर दिग्विजय की। उसने चीन से मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया। उसने काश्मीर में मार्तण्ड मन्दिर इत्यादि अनेक बड़े-बड़े भवन बनवाए जिनके खण्डहर उनकी महानता के साक्षी हैं। ८वीं शती के अन्त में करकोट वंश का ह्रास आरम्भ हुआ और ९वीं शती के बीच में उसी वंश के एक सम्बन्धी अवन्तिवर्म्मन ने राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। उसका वंश उत्पल वंश कहलाता था। उत्पल वंशीय राजाओं के दरबार में बड़े-बड़े विद्वानों को आश्रय मिलता था। अवन्तिवर्म्मन, के दरबार का एक रत्न ध्वनिकारिका की ध्वन्यालोक नामक टीका का रचेता, आनन्दवर्द्धन था। बौद्ध महाकाव्य कक्कनभ्युदय का लेखक शिवस्वामिन, हरविजय नामक महाकाव्य का रचेता रत्नाकर और बालकृत कादम्बरी को पद्यात्मक करनेवाला अभिनन्द भी उसी के दरबार में थे। उसके बाद में अन्य राजाओं ने भी कला व साहित्य की वृद्धि करने में काफ़ी भाग लिया था। इस वंश के अन्तिम राजा संग्रामदेव को उसके मन्त्री पर्वगुप्त ने सं० ९४९ के लगभग गद्दी से हटाकर राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। इस वंश की दिद्दा नामक रानी बड़ी बलशाली हुई। वह बड़ी दुश्चरित्र भी थी परन्तु उसका शासन बड़ा योग्य एवं कड़ा था। दिद्दा ने अपने बेटे-पोतों को हटाकर और मरवाकर ९५८ से १००३ ई० तक शासन किया और कई विष्णु मन्दिर तथा अन्य प्रकार के भवन बनवाए।

दिद्दा के मरने पर लोहारा वंश का अधिकार काश्मीर पर स्थापित हुआ। लोहारा वंश का पहला राजा संग्राम राजा (१००३-१०२८) महमूद गज़नवी का समकालीन था। उसका मन्त्री तुङ्ग त्रिलोचनपाल साही की सहायता के लिए एक सेना लेकर गया परन्तु उसकी हार हुई और इस कारण उसको अपने पद से हटना पड़ा। सं० १०१५ और १०२१ में महमूद गज़नवी ने दो बार काश्मीर पर भी चढ़ाई करने का प्रयास किया परन्तु निष्फल हुआ। इस वंश का हर्ष नामक राजा (१०८९-११०१) अत्यन्त दुष्ट, अत्याचारी एवं योग्य भी था। उसकी मृत्यु के बाद काश्मीर का राज घरेलू लड़ाई, दुराचार, विश्वासघात एवं दुर्भिक्ष के गर्त में फँस गया। इसी वंश के राजा जयसिंह (११२८-११५५) के समय में कल्हण ने 'राज तरंगिणी' की रचना की थी। लोहारा वंश का ११७१ में अन्त हो गया। इसके बाद काश्मीर में सन् १३३९ तक हिन्दू राजाओं का राज्य बना रहा परन्तु उनमें कोई

प्रतापी या बलवान न हुआ। १३३९ ई० में रानी कोट देवी के एक मुसलमान नौकर शाहमीर ने, जो लगभग २५ वर्ष से दरबार में नौकरी करता था, रानी को गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। इस प्रकार काश्मीर पर मुसलमानी राज्य क़ायम हुआ।

काश्मीर के इतिहास की यह विशेषता है कि यद्यपि मध्य युग में राजनैतिक रूप से यह प्रदेश भारतवर्ष से प्रायः अलग ही रहा, परन्तु उसका प्रभाव देश की राज-नीति एवं सामाजिक जीवन पर काफ़ी पड़ा। इस राज्य की एक यह भी विशेषता रही कि उसके शासक प्रायः बड़े अत्याचारी हुए और उनके मन्त्री अथवा उनकी कई रानियाँ बड़ी दुराचारी थीं। प्रजा बड़ी निर्बल एवं निस्सहाय थी और कुलीन व ज़मींदार-गण उन पर कड़े कर लगाते थे। परन्तु ऐसी दशा सदैव ही नहीं रहती थी। काश्मीर में बड़े-बड़े प्रतापी, प्रजापालक एवं साहित्य व कलापोषक राजा भी हुए जिनके कारण काश्मीर के विद्वानों एवं कलाकारों ने कला व साहित्य के भण्डार को भरपूर किया।

**काश्मीर पर मुसलमानी राज्य**—शाहमीर ने शम्सुद्दीन के नाम से राज करना शुरू किया और १० बरस (१३३९-१३४९) तक योग्यता के साथ शासन किया। शम्सुद्दीन के वंशज बड़े क्रियाशील और योग्य हुए। काश्मीर की स्त्रियों का चरित्र प्रायः बहुत गिरा हुआ था। वे पतिव्रता नहीं होती थीं। इस सामाजिक दोष का सुधार करने के उद्देश्य से शम्सुद्दीन के बेटे अलाउद्दीन (१३५०-१३५९) ने यह क़ानून बनाया कि जो स्त्रियाँ पतिव्रता नहीं होंगी उनको पति की जायदाद पर कोई हक़ नहीं रहेगा। अलाउद्दीन के बाद उसका भाई शिहाबउद्दीन राजा हुआ (१३५९-७८)। उसने अपने राज का विस्तार करना शुरू किया और सिंध के शासक को पराजित किया।

इस वंश का बादशाह सिकन्दर (१३९४-१४१६) बड़ा कट्टर था। उसने हिन्दुओं पर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। उसने हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा। उसने उन बहुत से लोगों को काश्मीर से निकाल दिया जिन्होंने इस्लाम धर्म को ग्रहण करने से इनकार किया। इस प्रकार उसने काश्मीर की मुसलमानी आबादी को बहुत बढ़ाया। उसने सती प्रथा को भी रोका।

सिकन्दर का दूसरा बेटा जैनुलआब्दीन था। इसने (१४२०-७०) तक राज्य किया। इसकी नीति इतनी उदार थी कि उसे काश्मीर का 'अकबर' कहा जाता है। यह काश्मीर का सबसे महान् मुसलमान राजा था। वह धार्मिक व सामाजिक विचारों में अत्यन्त उदारचित्त था और निजी जीवन में अत्यन्त संयमी और सदाचारी। उसकी केवल एक ही रानी थी। उसने जजिया हटा दिया और जो हिन्दू उसके पिता सिकन्दर के काल में मुसलमान धर्म को ग्रहण न करने के कारण देश से निकाल दिए गए थे, उनको वापस बुलाया। हिन्दू मन्दिरों के निर्माण की फिर से उसने आज्ञा दी और गऊकुशी बन्द कर दी। वह अहिंसावादी था। शिकार खेलना उसने बन्द कर

दिया था। वह माँस खाना भी पसन्द नहीं करता था। धार्मिक उदारता की नीति का पूरी तरह पालन करने के उद्देश से वह सती प्रथा को भी नहीं रोकता था। जैनुलआब्दीन साहित्य, कला तथा ज्ञान का भी बड़ा संपोषक और संवर्द्धक था। वह विद्वानों और गुणीजनों का समुचित आदर करता और उनको प्रोत्साहित करता था। साहित्य, चित्रकला और संगीत की उसने काफ़ी उन्नति की थी। संस्कृत, अरबी एवं अन्य भाषाओं के बहुत से ग्रन्थों के उसने फ़ारसी भाषा में अनुवाद कराए थे। वह स्वयं भी बड़ा विद्वान था।

जनता की आर्थिक उन्नति के हेतु उसने क़ैदियों के द्वारा सिंचाई के साधनों का निर्माण कराया। उसने चीज़ों के भावों को भी व्यवस्थित किया और राजकीय मुद्रा का सुधार किया।

अपने समकालीन पड़ोसी शासकों से जैनुलआब्दीन का बड़ा मैत्री का सम्बन्ध था। दिल्ली, गुजरात और सिंध के सुलतानों से उसका अच्छा मेल था।

परन्तु एक ऐसे महान् आत्मा और उत्तम राजा के भी अन्तिम दिन दुःख से खाली न रहे। उसके बेटों में राजगद्दी के लिए परस्पर झगड़े शुरू हो गए। इसी कारण उसकी मृत्यु के बाद काश्मीर की अवनति शुरू हो गई। राजदरबार में मन्त्रियों में भी झगड़े शुरू हो गए। और इन लोगों ने राजा को तो बिलकुल अलग-सा कर दिया। सं० १५४१ से १५५१ तक बाबर बादशाह के चचेरे भाई और तारीखे-रशीदी के रचेता, मिर्ज़ा हैदर दौलत ने काश्मीर पर राज्य किया। उसके बाद फिर सल्तनत की वही दशा हो गई अर्थात् सुलतानों की निर्बलता एवं अयोग्यता और मन्त्रिमण्डल का उन पर हावी होना। अन्त को सं० १५६१ में चक फ़िरक़े के सेनापति, ग़ाजी खाँ चक ने शाहमीर के वंश का अन्त कर दिया। इस नए शासक के वंशज से सं० १५८६ में अकबर ने काश्मीर को जीत लिया।

## दिल्ली सल्तनत के समकालीन हिन्दू राज्य

१४वीं शती के पहले चरण में तुर्की सल्तनत समस्त देश पर फैल गई थी। तथापि देश के अनेक भागों में प्राचीन हिन्दू राजा व सामन्तगण अपने छोटे-छोटे राज्यों को सुरक्षित किए हुए बैठे थे। जब तब इन राजाओं को तुर्की सुलतानों का आधिपत्य स्वीकार करना और उनको कर देना पड़ता था।

**राजपूताने के राजवंश : चौहानवंश**—इन राजवंशों में राजपूताने के राजवंश मुख्य थे। हम ऊपर कह आए हैं कि महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों के समय में विग्रहराज चौहान (दूसरा) के वंशज साँभर में राज्य करते थे। कहा जाता है कि उसने अन्हिलवाड़ा के राजा मूलराज को पराजित किया था। उसी के समय से चौहानवंश का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसका वंशज पृथ्वीराज प्रथम लगभग ११०५ ई० में राजा हुआ। इसके पुत्र अजयदेव (अजयराज) ने '**अजयमेरु**' (अजमेर) नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया।

अजयदेव के बाद अनलदेव (आर्णोराज या आणा) राजा हुआ। उसने अजमेर की पहाड़ियों में बाँध बनवाकर अणासागर झील बनवाई। इसने अन्हिलवाड़ा के राजाओं से भी युद्ध किए। परन्तु उसका उत्तराधिकारी विग्रहदेव या विग्रहराज (बीसलदेव) चौथा, बड़ा प्रतापी हुआ। उसने अपने राज्य का विस्तार दिल्ली की तरफ़ किया और उस नगर को उसके तँवर वंशीय राजा से छीन लिया। तँवर राजा दिल्ली पर अति प्राचीन काल से राज करते थे। इन्हीं के एक पूर्वज ने दिल्ली का लालगढ़ बनवाकर उस नगर की बुनियाद सं० ६६३-४ में डाली थी। यह वही क़िला है जिसके अन्दर कुत्बमीनार है, और जिसकी खुदाई गत १० वर्षों में शुरू की गई है।

विग्रहराज के छोटे भाई सोमेश्वर के राजकाल और फिर पृथ्वीराज (तीसरे), जिसे मुस्लिम लेखक राय पिथौरा कहते हैं, के राज्यारम्भ का हम ऊपर बयान कर आए हैं। पृथ्वीराज ने सं० ११७७ से सं० ११९३ तक राज्य किया।

पृथ्वीराज निस्सन्देह समकालीन राजपूतों में सबसे महान्, बलवान और योद्धा था। परन्तु ऐसे समय में जब कि देश पर बाहरी हमलों के बादल मँडरा रहे थे, उसने उत्तरी और मध्य भारत के अन्य राजपूत योद्धाओं को नीचा दिखलाकर और उन पर आक्रमण करके, इस बात का पूरा परिचय दे दिया कि वह अपनी राजपूती शान के सामने देश की रक्षा की आवश्यकता को तनिक भी नहीं समझता था। उसने कन्नौज के गहरवाल राजा जयचन्द की बेटी संयोगिता को हरण करके जयचन्द के आत्म-सम्मान को इतनी गहरी चोट पहुँचाई कि वह दिल्लीपति का जानी दुश्मन हो गया। इतना ही नहीं ११८२ में उसने महोबे के राजा परमाल (परमर्दिदेव) को हराकर उसे भी अपना शत्रु बना लिया। यह आत्महत्या की नीति देश के लिए घातक साबित हुई। हिन्दू लेखकों का कहना है कि तरावड़ी की लड़ाई के अवसर पर जयचन्द ने पृथ्वीराज की कोई सहायता न दी।

पृथ्वीराज की हार और मारे जाने के बाद मुहम्मद-बिन-साम ने तुरन्त दिल्ली और अजमेर को अपने अधिकार में कर लिया और पृथ्वीराज के बेटे गोविन्दराज को जो अभी बालक ही था, अजमेर का शासक बना दिया। गोविन्दराज के बचपन के कारण उसके चचा हेमराज (हरिराज) ने उसे गद्दी से उतारकर उससे राज छीन लिया। गोविन्दराज भागकर रणथम्भौर के क़िले में जा रहा और वहाँ एक नए वंश की स्थापना की। उसके वंश का तीसरा राजा वीरनारायण बचपन में ही राजा हुआ और उसका चचा वाग्भट्ट उसका राज-प्रतिनिधि हुआ। वीरनारायण सुलतान शम्सुद्दीन इल्तुत्मिश का समकालीन था। अल्तमश ने सन् १२२५ में रणथम्भौर पर चढ़ाई की परन्तु हारकर वापस आया। फिर उसने वीरनारायण को धोखे से दिल्ली बुलवाकर ज़हर दे कर मार डाला और रणथम्भौर पर क़ब्ज़ा कर लिया। उधर मालवे के देशद्रोही पँवार राजा ने वीरनारायण के चचा वाग्भट्ट पर इस उद्देश से चढ़ाई कर दी कि अपने को दिल्ली के बादशाह का मित्र बना सके। परन्तु

वाग्भट्ट ने उसे हरा कर भगा दिया। इल्तुत्मिश की मृत्यु के बाद वाग्भट्ट ने रज़िया के हाकिम से रणथम्भौर को छीनकर फिर से उसे अपनी राजधानी बनाया।

सन् १२४६ में बलबन ने रणथम्भौर को लेने का प्रयत्न किया किन्तु विफल रहा। वाग्भट्ट के बाद उसका बेटा जयसिंह राजा हुआ। जयसिंह ने शीघ्र ही राज त्याग दिया और फिर १२८२ में उसका बेटा हम्मीरदेव राजा हुआ। इसने १३०१ तक राज किया।

हम्मीरदेव ने मालवे के राजा भोज (दूसरे) को दण्ड देने के लिए उस पर हमला किया, क्योंकि उसके पूर्वज ने इल्तुत्मिश को खुश करने के व्यर्थ प्रयास में रणथम्भौर पर हमला किया था। हम्मीर ने भोज को हराकर उज्जैन पर अधिकार जमाया और फिर वहाँ से उत्तर की ओर चलकर गहलौत राजा लक्ष्मणसिंह को अपना आधिपत्य मनवाने पर मजबूर किया। लौटते समय उसने अजमेर, पुष्कर, साँभर, खण्डेला आदि स्थानों को भी अधिकृत किया। पूरब की तरफ हम्मीर ने गढ़मंडला के गौड़ राजा को परास्त किया और उससे राजकर वसूल किया।

इन सब कामों से हम्मीर की ख्याति बहुत बढ़ी और दिल्ली के सुलतान जलालुद्दीन ख़ल्जी ने उसको दबाने के उद्देश से रणथम्भौर पर हमला किया, परन्तु असफल होकर वापस आया।

फिर अलाउद्दीन के समय में हम्मीर ने अलाउद्दीन को इस बात से नाराज़ कर लिया कि गुजरात की चढाई से लौटते समय जालौर में सुलतान के भाई उलूखाँ के विरुद्ध जिन नौमुस्लिम सैनिकों ने बलवा किया था, उनको हम्मीर ने अपने आश्रय में ले लिया। इन बलवाइयों का नेता एक नौमुस्लिम, मीर मुहम्मदशाह था। उलूखाँ ने बलवाइयों का पीछा किया और उनके दो सेनापतियों, अर्थात् भीम और धर्मसिंह को हराया। हम्मीर ने धर्मसिंह को अख़ता करवा डाला। इस पर धर्मसिंह और उसके भाई ने अलाउद्दीन से जाकर फ़रयाद की और सुलतान ने इस अत्याचार का बदला लेने के बहाने से रणथम्भौर पर चढ़ाई करने के लिए नुसरतखाँ और उलूखाँ को भेजा। परन्तु नुसरतखाँ तो मारा गया और उलू को हम्मीर ने मार भगाया। तब सुलतान स्वयं वहाँ पहुँचा। कई महीने के घेरे के बाद हम्मीर का मन्त्री रणमल दुश्मन से जा मिला और किले के गुप्त रास्ते घेरेवालों को मालूम हो गए। इस पर हम्मीर और मीर मुहम्मदशाह ने अपनी सब स्त्रियों को जौहर की आग में जला डाला। हम्मीर की रानी रंगदेवी ने भी इसी जौहर में अपने को भस्म कर दिया। हम्मीर के साथ, उसका भाई वीरम, और कई योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। राजद्रोही रणमल और उसके साथियों को भी अलाउद्दीन ने न छोड़ा। उनको भी मरवा डाला।

इस प्रकार हिन्दुस्तान से चौहान राज्य का अन्त हुआ। हम्मीर के प्रतापी जीवन एवं कार्यों का वर्णन कवि नयचंद ने अपने हम्मीर महाकाव्य में और १४वीं शती में कवि शारंगधर ने अपनी हिन्दी कविता में किया है। अलवर की रियासत

के उत्तर में निमराना राज के राजा अपने को पृथ्वीराज के वंशज कहते हैं।

**मेवाड़ राज्य**—मेवाड़ राज्य के गहलोत वंश का प्राचीन इतिहास हम ऊपर दूसरे अध्याय में दे आए हैं। १२वीं शती के मध्य में गहलोत वंश की दो शाखाएँ बन गईं। एक शाखा के लोग रावल कहलाते थे और दूसरी के राणा। पहली शाखा की राजधानी चित्रकूट (चित्तौड़) में थी और दूसरी शाखा की राजधानी सिसोदा। इसी कारण राणा वंश सिसोदिया वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस वंश का प्रवर्त्तक राहुप नाम का सरदार था। रावल शाखा का पहला प्रतापी नरेश चैत्रसिंह हुआ। इसने १२१३-५६ तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी उसका बेटा तेजसिंह हुआ, और फिर समरसिंह और उसके बाद रतनसिंह जो सन् १३०२-१३०३ तक शासक रहा, अन्तिम रावल हुआ। रतनसिंह से अलाउद्दीन खल्जी ने चित्तौड़ को सन् १३०३ में छीन लिया। रतनसिंह की रानी पद्मिनी की कहानी जनता में प्रसिद्ध है। आधुनिक इतिहासवेत्ता इस कहानी की सचवाई में सन्देह करते हैं। कहा जाता है कि पद्मिनी के अद्भुत रूप की चर्चा सुनकर दिल्लीश्वर अलाउद्दीन उस पर मोहित हो गया और इसी कारण उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और रावल रतनसिंह को धोखे से पकड़ ले गया। रानी पद्मिनी ने बड़ी चतुराई से अपने पति को सुलतान के पंजे से छुड़ाया। उसने सुलतान को पत्र लिखा कि मैं तुम्हारे पास अपनी आठ सौ सहेलियों के साथ आ रही हूँ, परन्तु अपने साथ आठ सौ सशस्त्र राजपूतों को डोलियों में छिपाकर सुलतान के शिविर में जा पहुँची। इन आठ सौ राजपूत वीरों ने सुलतान की अचेत सेना पर एक दम धावा करके रतनसिंह को छुड़ा लिया और वापस लौटे। चित्तौड़ में आकर सुलतान के हमले के भय से बचने के लिए रानी पद्मिनी अपनी समस्त सहचरियों के साथ जौहर की आग में जलकर भस्म हो गई।

इस घटना के बाद चित्तौड़ का गहलोत वंश नष्ट हो गया। फिर कुछ काल के पश्चात् सन् १३२६ के निकट सिसोदिया शाखा के महाराणा हम्मीर ने इस वंश का पुनरुत्थान किया और अपना राज्य स्थापित किया। महाराणा हम्मीर ने सन् १३६४ तक राज्य किया और चित्तौड़ को फिर से जीत लिया। उसके बाद राणा लाखा ने (सन् १३८२ से १३९७) चित्तौड़ के उन सब मन्दिरों और महलों को फिर से बनवाया जिन्हें अलाउद्दीन खल्जी ने मिस्मार कर दिया था। उसने अपनी प्रजा के सुख और उन्नति के लिए अनेक कार्य किए। खेती के लिए सिंचाई का सुप्रबन्ध किया। उसी के समय में मेवाड़ की भूमि में सीसे, जस्ते और चाँदी की खानों का पता लगाया गया। इनके कारण राजा और प्रजा की बहुत आर्थिक उन्नति हुई।

उसके बाद इस वंश का अत्यन्त प्रतापी एवं यशस्वी राणा कुम्भा हुआ (१४३३-६८) जो लाखा का पौत्र था। राणा कुम्भा केवल एक योद्धा ही नहीं था परन्तु बड़ा विद्वान एवं विद्याव्यसनी भी था। उसने अनेक मंदिर और बड़े-बड़े गढ़

मेवाड़ की पहाड़ियों के ऊपर बनवाए। इनमें रणपुर का जैन मंदिर वास्तु-कला का एक अत्युत्तम नमूना है और उसके बनाए हुए गढ़ों में कुम्भलगढ़ चित्तौड़गढ़ के समान ही प्रसिद्ध है। मालवे का खल्जी सुलतान महमूद प्रथम अपने वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक राणा कुम्भा का समकालीन था। राणा और महमूद के बीच निरन्तर युद्ध होते रहे और राणा ने महमूद को हराकर चित्तौड़गढ़ में एक जयस्तम्भ बनवाया। वास्तु-कला की दृष्टि से यह स्तम्भ अपनी गूढ़तम प्रतिभा और सौंदर्य का एक अद्भुत एवं अद्वितीय उदाहरण है। यह जय-स्तम्भ आज तक विद्यमान है।

राणा कुम्भा को उसके लड़के ऊदा ने क़त्ल कर दिया। इसी ऊदा के भाई भोजराज की स्त्री लोकप्रसिद्ध 'मीराबाई' थी जिसने अपने भक्तिरसमय गीतों से हिन्दी साहित्य को भरपूर किया और जनता को सच्ची भक्ति का मार्ग दिखलाया। मीराबाई ने प्रायः सन् १४७० में घरबार एवं सम्बन्धियों का मोह त्यागकर कृष्ण-भक्ति में अपने जीवन को अर्पण कर दिया था।

ऊदा के बाद इस वंश का महान व प्रतापी राणा संग्रामसिंह या साँगा हुआ जिसने सन् १५०८ से १५२९ तक राज्य किया। राणा साँगा ने सन् १५१७ में मालवे के खल्जी सुलतान महमूद द्वितीय को हराकर कैद कर लिया और फिर उसे छोड़ दिया। चित्तौड़ के राणा अपने को सूर्यवंशी मानते हैं और इस नाते से दिल्ली अर्थात् प्राचीन इन्द्रप्रस्थ को अपनी प्राचीन राजधानी समझते हैं। इसी कारण वे सुलतानों से दिल्ली को जीतकर वापस लेना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। यद्यपि उनका यह विश्वास सर्वथा भ्रान्ति-मूलक था, क्योंकि प्राचीन इन्द्रप्रस्थ चंद्र-वंशीय राजाओं की राजधानी थी न कि सूर्य वंशियों की। राणा संग्रामसिंह भी लोदी सुलतान इब्राहीम से दिल्ली को छीन लेना चाहता था। इस उद्देश से उसने काबुल के बादशाह बाबर से सहायता माँगी। अपने देश के किसी भी शासक के विरुद्ध एक विदेशी विजेता को इस प्रकार आमंत्रित करना राजनैतिक दृष्टि से भारी भूल थी। इसी राजनैतिक निर्बुद्धिता का परिणाम ऐसा विनाशकारी हुआ कि उस विदेशी शक्ति ने दोनों को ही नष्ट कर दिया। राणा संग्रामसिंह की मृत्यु के बाद सन् १५३४ में गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर हमला किया और उसको जीत लिया परन्तु हुमायूँ बादशाह के गुजरात पर चढ़ आने के कारण बहादुरशाह को भागना पड़ा, और चित्तौड़ फिर से स्वतंत्र हो गया। इस समय वहाँ पर राणा उदयसिंह राज्य कर रहा था।

**मारवाड़ राज्य**—मारवाड़ अथवा जोधपुर के राठौर राजा अपने को कन्नौज के गहरवालों के वंशज मानते हैं। आधुनिक ऐतिहासिक खोज से यह बात निश्चय रूप से प्रमाणित हो गई है कि कन्नौज में एक समय एक राष्ट्रकूट वंश राज्य करता था। अतएव यह सम्भव है कि जोधपुर के राठौर इसी वंश के हों। १३वीं और १४वीं शती में यह लोग साधारण कोटि के सामन्त थे। रणमल राठौर की लड़की (१४०८ से १४४४ तक) मेवाड़ के राणा लाखा को ब्याही थी। इस सम्बन्ध

से राठौरों की शक्ति एवं प्रभाव बढ़ गया, यहाँ तक कि इन लोगों ने मेवाड़ की गद्दी को ही हड़प करने का प्रयास किया, परन्तु वहाँ से निकाले गए। रणमल के चौबीस लड़के थे। इनमें सबसे जेठा जोधा था। उसने सन् १४५९ में जोधपुर बसाया। जोधा के बेटे सूरजमल ने (१४८८-१५१६) तक वीरता से अनेक तुर्की लुटेरे सरदारों का मुकाबला किया और बहुत-सी राजपूत अबलाओं को उनके चंगुल से बचाया। इसका पोता गंगासिंह (१५१६—३२) राणा साँगा के साथ, खनवाहा के युद्धक्षेत्र में बाबर के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया। राठौर वंश का मुग़ल काल में बहुत उत्थान हुआ जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

## मध्यभारत के राज्य

**मालवा**—सबसे पहले इल्तुत्मिश ने मालवे पर हमला किया था। परन्तु सन् १३१० में उसे खल्जी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। सन् १४०१ में सुलतान फ़ीरोज़ का जागीरदार दिलावर खाँ, ग़ूरी, जो मुहम्मद ग़ूरी का वंशज था, स्वतन्त्र हो गया। उसने धार को राजधानी बनाया। उसके लड़के अल्पखाँ ने दिलावर को सन् १४०६ में विष दे दिया और स्वयं होशंगशाह की उपाधि धारण करके सुलतान हुआ। होशंग ने माण्डू को राजधानी बनाया और वहाँ बहुत से महल बनवाए। मालवे की राजनैतिक स्थिति बहुत संकटमय थी। वहाँ भूमि बहुत उर्वरा और हरी-भरी थी। वह चारों ओर बड़े-बड़े राज्यों से घिरा हुआ था। पश्चिम में गुजरात, उत्तर में चित्तौड़ का सिसोदिया राज्य और दक्षिण में बहमनी राज्य था और इन सबसे मालवे के सुलतानों की लड़ाई होती रहती थी। सन् १४०७ में गुजरात के राजा मुज़फ़्फ़रखाँ ने उस पर हमला किया और उसे पकड़ ले गया। उसके स्थान पर वह अपने भाई नुसरतखाँ को मालवे का शासक बनाता गया। नुसरत के अत्याचारों के कारण सेना ने उसे निकाल दिया और होशंग के भाई को राजा चुन लिया। तब मुज़फ़्फ़र ने अपने मान की रक्षा के लिए अपने पौत्र अहमद खाँ को भेजकर माण्डू में बहाल करा दिया।

सन् १४३५ में होशंग की मृत्यु हुई। उसका लड़का ग़ज़नीखाँ अत्यन्त विलासी और अधम था। उसके वजीर महमूदखाँ खल्जी ने उसे कत्ल करके राज्य छीन लिया और सन् १४३६ से १४३९ तक राज्य किया। फ़िरिश्ता ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। उसके शासनकाल में मालवे की बड़ी उन्नति हुई। उसकी शक्ति बढ़ी और जनता सुखी हुई। महमूद खल्जी बड़ा गुणवान था। वह एक चतुर शासक, शूरवीर सैनिक, विजेता, न्यायप्रिय और उदारचरित मनुष्य था। वह बड़ा विद्वान भी था। उसने गुजरात, बहमनी राज्य तथा राजपूतों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं। उसने अपने राज्य को बहुत विस्तृत किया। दक्षिण में सतपुड़ा तक, पश्चिम में गुजरात की सीमा तक, पूरब में बुन्देलखण्ड तक और उत्तर में मेवाड़ तक अपना राज्य बढ़ाया। सिसोदिया वंश की प्रधानता का प्रवर्तक राणा कुम्भकरण (कुम्भा) उसका समकालीन

था। दोनों में कई बार बड़े युद्ध हुए। एक बार दोनों ने अपने-अपने को विजेता मान लिया और राणा कुम्भा ने चित्तौड़गढ़ में और महमूद ने माण्डू में अपना विजय-स्तम्भ बनवाया। माण्डू का स्तम्भ तो कभी का नष्ट हो गया, परन्तु राणा कुम्भा का विजय-स्तम्भ आज तक चित्तौड़गढ़ में विद्यमान है और दर्शकों को अपने निर्माता की महत्ता का स्मरण दिलाता है। सन् १४४० में गुजरात के बादशाह अहमदशाह प्रथम ने ग़ज़नीखाँ के लड़के मसऊदखाँ को तख़्त पर बैठाने के बहाने से मालवे पर हमला किया, परन्तु उसे पराजित होकर लौटना पड़ा। महमूदखाँ के बाद उसके लड़के ग़यासुद्दीन ने सन् १४६९ से १५०० तक राज्य किया। उसके लड़के नासिर ने उसे ज़हर दे दिया। यह बड़ा निर्दय और विचित्र प्रकृति का मनुष्य था। नमाज़ का बड़ा पक्का पाबन्द था, परन्तु साथ ही अत्यन्त विलासी और पतित भी था। कहते हैं कि उसके हरम में ८५,००० स्त्रियाँ थीं जिनसे वह दस्तकारी कराता था। सन् १५१० में वह झील में डूबकर मर गया। उसके बाद उसी वर्ष अलाउद्दीन शाह महमूद द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह मालवे का अन्तिम मुसलमान राजा था। उसकी निर्बलता के कारण उसके अमीर लोग अत्यन्त प्रबल और भयानक हो गए। उसने अपने पिता के हिन्दू वजीर वसन्तराय को उसके पद पर फिर से आरूढ़ कर दिया। इसको मुसलमान अमीर न सह सके। उन्होंने वसन्तराय को कत्ल कर दिया और बादशाह के ख़िलाफ़ बलवा कर दिया। तब उसने मालवे के एक छोटे से प्रान्त के शासक मेदिनीराय राजपूत को अपनी सहायता के लिए बुलाया और उसे वजीर बनाया। मेदिनीराय ने उसके शत्रुओं को तो दबाया, परन्तु स्वयं बादशाह पर हावी हो गया। तब इसने शंकरशाह से सहायता माँगी। उसने आकर मेदिनीराय को निकाला।

महमूद द्वितीय ने एक बार राणा साँगा से लड़ाई की, परन्तु पराजित हुआ। राणा साँगा ने उसे कैद कर लिया, परन्तु पीछे से मुक्त करके वापस भेज दिया। महमूद ने चित्तौड़ पर फिर चढ़ाई कर दी परन्तु उसे पीछे हटना पड़ा।

सन् १५३१ में गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने उस पर चढ़ाई करके उसे सपरिवार कत्ल कर दिया और मालवे का राज्य गुजरात में सम्मिलित कर लिया।

परन्तु १५३५ में हुमायूँ ने बहादुरशाह को मालवे से निकल दिया। इतने में हुमायूँ को उत्तर की ओर जाना पड़ा। उसके पीछे एक अमीर क़ादिरखाँ ने अन्य अमीरों को दबाकर अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया। इसका राज्य १५४२ में शेरशाह ने नष्ट किया और शुजाअतखाँ को मालवे का शासक बनाया। जब हुमायूँ १५५५ में फिर से दिल्ली का बादशाह हुआ, तब शुजाअतखाँ ने उसका आधिपत्य स्वीकार न किया। उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई और उसका लड़का बायज़ीद (बाजबहादुर) उसका स्थानापन्न हुआ। उसने गोंडवाना की रानी दुर्गावती पर आक्रमण किया जिसने उसको बुरी तरह हराकर अपने देश से भगा

दिया। १५६१ में अकबर की सेना ने मालवे को विजय कर लिया। बाजबहादुर और उसकी प्रेमिका रूपमती की कहानी प्रसिद्ध है।

मालवे के मुसलमान राजाओं ने माण्डू में बड़े-बड़े महल और मसजिदें बनवाईं इनको देखकर सम्राट जहाँगीर बड़ा प्रभावित हुआ था और उसने इनकी मरम्मत पर कई लाख रुपए व्यय किए थे। परन्तु मालवे का वास्तु दिल्ली की शैली की नकल ही है। उसके भग्नावशेष अब तक विद्यमान हैं।

**गुजरात**—गुजरात को पहले-पहले अलाउद्दीन खल्जी ने सन् १२९७ में जीत-कर दिल्ली की सल्तनत में सम्मिलित किया था। तभी से वह उसका एक प्रान्त रहा। तैमूर के हमले के बाद वहाँ का सूबेदार ज़फ़रखाँ स्वतन्त्र हो गया। उसके लड़के तातार ने उसे कैद कर दिया। इस अनुचित कार्रवाई पर अमीरों ने ततार को पकड़कर मार डाला और ज़फ़रखाँ को गद्दी पर बैठा दिया। उसने मुज़फ़्फ़रखाँ (प्रथम) के नाम से राज्य करना शुरू किया। उसकी मालवे के राजा होशंग पर चढ़ाई इत्यादि का वर्णन हम कर चुके हैं। सन् १४११ में मुज़फ़्फ़र के पोते अहमद ने उसे विष दे दिया और स्वयं बादशाह बन गया। अहमदशाह इस वंश का पहला प्रसिद्ध बादशाह था। उसने पहले ही साल प्राचीन नगर कर्णावती के स्थान पर साबरमती नदी के बाँए किनारे एक नया शहर बसाया। यही आधुनिक अहमदाबाद है। अहमदशाह बड़ा वीर और प्रतापी बादशाह था और साथ ही अपने धर्म का बड़ा पक्षपाती भी था। उसने जन्म भर हिन्दू धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न किया, मंदिरों को तोड़ा-फोड़ा पवित्र तीर्थस्थानों को अपवित्र किया एवं हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया। अपने राज्य का विस्तार करने के लिए वह इर्द-गिर्द के बादशाहों से बराबर लड़ता रहा। सन् १४१४ में उसने गिरिनार के राय मण्डलीक से जूनागढ़ छीना और सन् १४१५ में सिद्धपुर का मन्दिर तोड़ा। सन् १४२१ तक दो बार माण्डू पर हमले किए, परन्तु होशंग ने क्षमा माँग ली और सुलह कर ली। फिर तीन वर्ष तक शासन-संघटन में लगा रहा। सन् १४२४ में उसने ईडर के राव को पराजित किया और उसे मारकर उसकी जागीर उसके बेटे को दी जिसने कर देने का वादा किया। सन् १४३७ में उसने होशंग के पोते मसऊद को माण्डू की गद्दी पर बैठने के लिए महमूद खल्जी पर हमला किया। परन्तु सेना में बीमारी फैल जाने के कारण उसे लौटना पड़ा। सन् १४४१ में उसकी मृत्यु हो गई। शासन करने में वह बहुत न्यायप्रिय था। किसीको केवल उच्च कुलोत्पन्न होने के कारण या बिना योग्यता के पद नहीं देता था। न्याय करने में वह इतना पक्का था कि एक निरपराध मनुष्य का वध करने के कारण उसने अपने दामाद को सबके सामने फाँसी पर चढ़वा दिया था। उसके बाद मुहम्मदशाह जरबख्श ने सन् १४५१ तक राज्य किया। उसने चांपानेर के हिन्दू राजा को पराजित किया। उसके पुत्र कुत्बुद्दीन ने व्यर्थ कई बार चित्तौड़ पर चढ़ाई की। वह सन् १४५९ में मरा और राज्य में कुछ झगड़ों के बाद अहमद (प्रथम) का एक पोता महमूदशाह बेगड़ के नाम से गद्दी पर बैठा। यह

इस वंश का सबसे प्रसिद्ध तथा महान् राजा था। इसने ५२ बरस (१४५९-१५११) तक राज्य किया। यह बहुत ही असाधारण मनुष्य था। इसकी मूंछ ५ फुट से अधिक लम्बी थी जिसको वह पगड़ी के समान अपने सिर पर लपेट लेता था। दाढ़ी उसके घुटने तक जाती थी। भूख इसकी इतनी थी कि २० सेर अन्न रोज खाता था। इसके अलावा वह रात को पाँच सेर पके हुए चावलों का हलवा सा बनवाकर अपने पलंग के दोनों तरफ आधा-आधा रखवा लेता था, ताकि जिस तरफ आँखें खुल जाएँ उसी तरफ फौरन खाने लगे। सुबह वह एक कटोरा शहद, एक कटोरा मक्खन और १०० या १५० केलों का नाश्ता करता था।

**बेगड़ के शासन-काल की घटनाएँ**—सन् १४६१ में उसने महमूद खल्जी (मालवा) के दबाव से निज़ामशाह बहमनी को बचाया। सन् १४६७ में उसने सूरत (सोरठ, सौराष्ट्र) ले लिया और जूनागढ़ के राय को फिर से हराया। कच्छ को भी उसने अपने राज्यान्तर्गत कर लिया। समुद्रतट के राज्यों के समुद्री लुटेरों को उसने दमन किया। सन् १४८४ में उसने चाँपानेर के हिन्दू राव को मार कर उसका राज्य छीन लिया। इसी समय पुर्तगालियों का आगमन पश्चिमी किनारे पर शुरू हुआ था। उनके आने से अरबी व्यापारियों की बड़ी हानि हुई। उसने एक जलसेना तैयार की और तुर्किस्तान (टर्की) के सुलतान ने भी उससे संधि करके एक सेना भेजी परन्तु बड़े घोर युद्ध के बाद सन् १५०९ में मुसलमानों की हार हुई और एशियाई जातियों का समुद्री व्यापार बन्द हो गया। वह सन् १५११ में मर गया। वह बड़ा न्यायशील, शूरवीर और प्रतापी राजा था।

इसके बाद तीसरा प्रसिद्ध राजा बहादुरशाह (१५२६-३७) हुआ। इसने मालवे को अपने राज्य में मिला लिया था तथा चंदेरी, चित्तौड़ आदि पर हमले किए थे। १५३६ में उसे हुमायूं ने गुजरात से निकाल दिया। हुमायूँ के पतन के बाद गुजरात के सरदार और अमीर आधिपत्य के लिए लड़ते रहे। सन् १५७२ में अकबर ने उसे विजय कर लिया।

**खानदेश**—यह छोटा-सा राज्य ताप्ती नदी की घाटी में था। इसकी स्थिति भी बहुत महत्वपूर्ण थी। इसके उत्तर में विन्ध्याचल, दक्षिण में बहमनी राज्य, पूरब में बरार और पश्चिम में गुजरात था। यह देश दो नदियों के बीच में होने के कारण बहुत हरा-भरा था। इसकी भूमि बहुत उर्वरा थी। यहाँ खनिज पदार्थ (जैसे टीन इत्यादि) भी बहुत पैदा होते थे और इसके बन्दरगाहों के द्वारा समुद्री आयात-निर्यात का व्यापार होता था। इस राज्य का प्रवर्त्तक मलिक अहमद था जो मलिक राजा फारुकी के नाम से प्रसिद्ध है। पहले वह बहमनी राज्य में एक सरदार था। वहाँ सन् १६६५ में उसने विद्रोह किया और भाग कर ताप्ती के किनारे थालनेर में आकर बसा। यहाँ सन् १३८२ तक उसने इर्द-गिर्द के प्रदेशों को जीतकर स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। उसके लड़के नसीर ने हिन्दू सरदार आसा से आसीरगढ़ का किला छीन लिया। वह सन् १४३७ में मर गया। नसीर के

उत्तराधिकारियों ने सन् १५१० तक अपने राज्य का कोई विस्तार ही नहीं किया परन्तु वे शान्ति से राज्य करते रहे। इस अवकाश में देश के व्यापार और दस्तकारी आदि की बहुत उन्नति हुई। वहाँ के सोने-चाँदी के तार ( कलाबत्तू ) तथा बारीक मलमल प्रसिद्ध थी। परन्तु इसके बाद उसके शासक निर्बल और अयोग्य हुए। इस कारण राज्य में लड़ाई-झगड़े शुरू हो गए। सन् १६०१ में अकबर ने खानदेश को विजय करके मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

**सिन्ध**—अरबी राज्य का अन्त हो जाने के बाद से सिन्ध पर एक राजपूत वंश राज्य करता था। १३वीं सदी में उससे दिल्ली के दास वंशीय सुलतानों ने सिन्ध छीन लिया था। परन्तु सन् १३३६ में एक नए जाम वंशीय राजपूतों ने अपने देश को स्वतन्त्र किया। सन् १५२० में जाम को कन्धार के शासक ने पराजित करके भगा दिया। फिर थोड़े दिन बाद उसने मुल्तान को भी अधिकृत कर लिया। सन् १५९० में सिन्ध अकबर के साम्राज्य में आ गया। सिंध का छोटा-सा राज्य, बीच से एक बड़े बीहड़ रेगिस्तान के आ जाने के कारण, शेष हिन्दुस्तान से इतना पृथक्-सा था कि भारतीय राजनीति पर उसका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा।

बीस

# दक्षिण भारत के राज्य

## बहमनी वंश

**बहमनी** राज्य की स्थापना का वर्णन मुहम्मद तुग़लक के प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। इस वंश के प्रवर्त्तक हसन ने अपना नाम अबुलमुज़फ़्फ़र अलाउद्दीन हसन बाहमान शाह रखा। वह फ़ारस के प्राचीन बादशाह बाहमान शाह का वंशज होने का दावा करता था*।

दक्षिण के इन राज्यों की स्थापना की परिस्थिति समझने के लिए वहाँ की तत्कालीन राजनैतिक प्रगतियों को स्पष्टतया समझ लेना आवश्यक है। पहले तो यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि दक्षिण में दिल्ली की सल्तनत का संघटन अथवा आधिपत्य कभी दृढ़ नहीं हो सका था; और दूसरे, वहाँ के हिन्दू राज्य बिलकुल नष्ट नहीं हुए थे। दक्षिण की हिन्दू जनता में इस समय एक राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गई थी। वे स्वाधीनता के लिए सचेष्ट हो गए थे। तीसरे, दक्षिण की मुसलमान जनता में बड़ा भाग विदेशी अमीरों का था जो प्रायः फ़ारस के थे। ये लोग शिया थे और बड़े चतुर, सभ्य और बुद्धिमान होते थे। फलतः ये लोग स्वाधीन होने की आकांक्षा भी रखते थे और किसी प्रकार का अन्याय अथवा धार्मिक पक्षपात भी सहन न कर सकते थे। दिल्ली के सम्राट सुन्नी थे, इस कारण भी वे इन अमीरों को पसन्द न करते थे। मुहम्मद तुग़लक की नीति ने इनको स्वाधीन होने का जल्दी ही अवसर दे दिया।

दक्षिण की राजनीति में कुछ और भी ऐसी बातें थीं जिनका प्रभाव बराबर दक्षिण के राज्यों पर पड़ता रहा। बहमनी और विजयनगर दोनों राज्य शुरू ही

* फिरिश्ता के आधार पर पहले आधुनिक लेखकों ने यह मान लिया था कि हसन बचपन में गंगू नामक ब्राह्मण का नौकर या गुलाम था, और अपने स्वामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसने अपना नाम 'ब्राह्मनी' या 'बाहमनी' रखा था। परन्तु मेजर हेग ने सिद्ध किया है कि यह बात बिलकुल निराधार है। हसन ने कभी अपना नाम 'ब्राह्मन' नहीं रखा। उसके सिक्कों पर, एक मस्जिद के शिला-लेख पर, तथा अन्य पुस्तकों में भी राजकीय नाम बाहमान शाह है। इसी कारण उसके उत्तराधिकारी 'बहमनी' कहलाए।

से बराबर रायचूर-दोआब के लिए लड़ते रहे। विजयनगर राज्य के कारण बहमनी राज्य का दक्षिण की ओर तो विस्तार रुक ही गया, परन्तु इससे भी अधिक प्रभाव यह हुआ कि बहमनी शासक उत्तर की ओर भी अपना विस्तार न कर पाए। दोनों राज्य लगभग समान शक्ति के थे, इसलिए दोनों में बराबर संघर्ष होता रहा। दूसरी विशेष बात बहमनी राज्य में यह थी कि वहाँ के विदेशी मुसलमान अमीर लोग हर प्रकार से छोटे दर्जे के हिन्दुस्तानी मुसलमानों तथा हब्शी लोगों से (जो वहाँ आ बसे थे) सामान्यतया अधिक चतुर और बुद्धिमान होते थे। राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद इन्हीं लोगों को मिलते थे। परन्तु इनकी संख्या थोड़ी थी। देशी मुसलमान इनसे बहुत ईर्ष्या करते थे। कई बार इन बाहरी अमीरों को शत्रु-दल ने कत्ल कर डाला था। काले हब्शी लोग भी सुन्नी थे और हिन्दुस्तानियों के साथ मिल जाते थे। यही वैमनस्य इस राज्य के नाश का एक बड़ा कारण हुआ।

हसन बाहमानशाह ने सन् १३४७ में गुलबर्गा (कुलबर्गा) को राजधानी बनाया। उसका राज्य उस समय बरार ज़िले के अन्दर ही परिमित था। चारों ओर स्वाधीन हिन्दू राज्य विद्यमान थे। हसन ने सबसे पहले राज-विस्तार करना शुरू किया और आस-पास के कई क़िले अधिकृत कर लिए। तब उसने शासन को सुव्यवस्थित किया। अपने राज्य को चार 'तरफ़ों' या प्रान्तों में विभक्त किया। इनके मुख्य नगर थे गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर। गुलबर्गा प्रान्त की सीमा शुरू में पश्चिम में घाट के पहाड़ों तक और बाद में समुद्र तक पहुँच गई। दौलताबाद गुलबर्गा के उत्तर में था। उसकी उत्तरी सीमा पर खानदेश और बगलान के राज्य थे। दौलताबाद के उत्तर-पूरब में बरार था, और बीदर उसके नीचे तैलंगाना के भाग में स्थित था। सन् १३५८ में हसन की मृत्यु के बाद उसका लड़का मुहम्मद (प्रथम) गद्दी पर बैठा। सन् १३६१ में मिस्र के खलीफा ने उसको दक्षिण भारत का बादशाह स्वीकार किया। मुहम्मद ने शासनकार्य को बहुत ही नियमित तथा उन्नत किया। उसकी शासन-पद्धति इतनी अच्छी थी कि बहमनी राज्य के टुकड़े हो जाने पर भी उनमें प्रचलित रही। उसने केन्द्रीय सरकार में आठ मन्त्रियों को नियुक्त किया—(१) प्रधान मंत्री, (२) निरीक्षण मन्त्री, (३) अर्थ मंत्री, (४) परराष्ट्र मंत्री, (५) उप-अर्थ मंत्री, (६) पेशवा, प्रधान मंत्री का सहायक, (७) कोतवाल, अर्थात् पुलिस विभाग का अधिपति और (८) न्यायाधीश जो धर्म-विभाग का भी अधिकारी था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-बड़े अधिकारी नियुक्त किए गए। इनमें सरे नौबत या सेनाध्यक्ष का नाम उल्लेखनीय है। प्रांताधिकारी लोगों की शक्ति बहुत अधिक थी। वे अपने प्रांत में सर्व-शक्तिमान् से थे। सेना का संघटन करना, कर उगाहना, न्याय करना इत्यादि सभी काम उनके अधिकार में थे। मुहम्मद के समय में विजयनगर से युद्ध छिड़ गया, जो बराबर तब तक चलता रहा जब तक दोनों वंश विद्यमान रहे। तीसरे, सुलतान मुजाहिद (१३७५-७८) ने रायचूर-दोआब पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया। फिर

पाँचवें बादशाह मुहम्मद द्वितीय (१३७८-१३९७) के शासन-काल में बड़ी शांति रही। कोई लड़ाई नहीं हुई। साहित्य और कला की भी उन्नति हुई। सुलतान बहुत विद्याप्रेमी था और स्वयं कविता करता था। उसने फ़ारस के प्रसिद्ध कवि हाफ़िज को आमन्त्रित किया था, परन्तु वह समुद्र में तूफ़ान आने से डरकर शीराज़ लौट गया। इतना विद्याप्रेमी होते हुए भी अन्य सुलतानों की तरह वह धार्मिक पक्षपात से बरी नहीं था।

उसके बाद आठवें सुलतान ताजउद्दीन फ़ीरोज़ (१३९७-१४२२) के समय में विजयनगर के राय से फिर लड़ाई शुरू हुई। यह लड़ाई बराबर देवराय के काल तक जारी रही। जान पड़ता है कि इस संग्राम में विजयनगर को कई बार हारना पड़ा और बहमनी राज्य ने उसे बड़ी क्षति पहुँचाई। फ़िरिश्ता कहता है कि देवराय को अपनी लड़की बहमनी सुलतान को देनी पड़ी। यह बात उसकी सरासर गढ़ंत जान पड़ती है, क्योंकि बुरहानेमआसिर का समकालीन लेखक, जो फिरिश्ता से कहीं अधिक विश्वसनीय है, कहीं इसका ज़िक्र तक नहीं करता। न शिलालेखों में ही इसका कोई ज़िक्र पाया जाता है।

नवाँ सुलतान अहमद (१४२२-३५) था जिसने तिलंगाना के राजा को मार कर उसका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। दसवाँ बादशाह अलाउद्दीन अहमद (१४३५-५८) था। इसके समय में विजयनगर की फिर इतनी बुरी हार हुई कि राजा ने बहमनी सुलतान को कर देने का वचन दिया और उसका आधिपत्य स्वीकार किया। १२वें सुलतान निज़ाम के समय में विदेशी और हिन्दुस्तानी अमीरों में झगड़े शुरू हो गए। निज़ाम ने सन् १४६१ से १४६३ तक राज्य किया। १३वें बादशाह मुहम्मद तृतीय ने सन् १४६३ से १४८२ तक राज्य किया। ये बादशाह पतित और निर्बल होते जा रहे थे। प्रांतीय अमीर इतने प्रबल होते जा रहे थे कि बादशाह से कोई न दबता था। सल्तनत के टुकड़े होने में देर न थी। सौभाग्य से बहमनी सुलतानों को एक अत्यन्त चतुर नीतिज्ञ और सच्चा हितैषी राजमंत्री मिल गया था जिसने सल्तनत को खण्डित होने से बचा रखा था। इसका नाम महमूद गावान था और यह ईरानी (फ़ारसी) था। गावान ने शासन के प्रत्येक विभाग में सुधार किए और बड़ी योग्यता से उसका संचालन दो पीढ़ियों तक किया। उसने सेना की सब बुराइयों को दूर करके फिर से उसमें नियम-पालन और कार्य-कौशल इत्यादि गुणों को प्रोत्साहन दिया। परन्तु दक्षिणी अमीर उससे डाह करते थे। उन्होंने उसके विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा और एक बनावटी चिट्ठी के द्वारा बादशाह को यह विश्वास दिला दिया कि गावान, विजयनगर के राय से मिलकर उस (बादशाह) को नष्ट करके स्वयं सुलतान बनने की चेष्टा कर रहा है। बादशाह ने शराब के नशे में बिना कुछ सोचे-समझे गावान को कत्ल करा दिया। इस प्रकार उस समय का सर्वोत्कृष्ट मनुष्य, गावान ईर्ष्या के हाथों नष्ट हुआ। उसके साथ ही

बहमनी राज्य का सितारा भी डूब गया। उसका संघटन, दृढ़ता तथा व्यवस्था सब ढीले पड़ गए और शीघ्र ही सब सूबेदार स्वतन्त्र होने लगे। बहमनी राज्य के पाँच टुकड़े हो गए। इनका वर्णन करने से पहले महमूद गावान के चरित्र के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है।

गावान केवल अच्छा नीतिज्ञ और शासक ही न था, बल्कि उसका निजी जीवन भी अत्यन्त उत्तम था। वह बहुत सादा जीवन व्यतीत करता था। उसका चरित्र अत्यन्त पवित्र था। उस समय के अमीरों और सरदारों की सामान्य बुराइयाँ उसमें न थीं। वह बड़ा वीर, साहसी, उदार एवं न्यायशील था। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और अपना अधिक समय विद्वानों की संगत में व्यतीत करता था। उसने बीदर में एक महाविद्यालय खोला था जिसमें एक बड़ा भारी पुस्तकालय था। इसमें ३,००० पुस्तकें थीं। दिन भर शासन का काम करने के बाद वह अपने महाविद्यालय में जाता और वहाँ विद्वानों के साथ बात-चीत तथा अध्ययन करने में समय लगाता। वह गणित तथा चिकित्सा-शास्त्र का विद्वान् था और सुन्दर अक्षर लिखने की कला का तो वह बहुत बड़ा ज्ञाता माना जाता था। उसने कई पुस्तकें भी लिखी थीं। पर एक पक्के मुसलमान के समान हिन्दुओं के मन्दिरों और मूर्तियों का वह भी बहुधा नाश ही करता था।

बहमनी राज्य में से निम्नलिखित राज्य निकलकर अलग हुए थे—

(१) एमादशाही वंश, बरार में।
(२) निज़ामशाही, अहमदनगर में।
(३) आदिलशाही, बीजापुर में।
(४) कुत्बशाही, गोलकुण्डा में, और
(५) बरीदशाही, बीदर में।

सबसे पहले बरार के सूबेदार फतहउल्लाह एमादशाह ने अपने को बरार में स्वतन्त्र बनाया। उसके वंश ने कोई ७४ वर्ष राज्य किया। फिर वह निज़ामशाही राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

आदिलशाही वंश का प्रवर्त्तक यूसुफ़ आदिलशाह एक गुलाम था जिसे गावान ने खरीदा था। गावान ने उसको एक उच्च पद पर नियुक्त किया था। उसने सन् १४८९ में स्वाधीनता प्राप्त कर ली। यूसुफ़ आदिल ने निकटवर्ती सरदारों से लड़ाइयाँ कीं और अपनी शक्ति खूब बढ़ाई। वह बहुत ही योग्य और उदार मनुष्य था। उस समय वही एक ऐसा मनुष्य था जिसमें धर्म का कुछ भी पक्षपात न था। धर्म-भेद के कारण वह कभी किसी को ऊँचा पद देने में संकोच न करता था। वह देखने में बहुत सुन्दर, सुवक्ता, विद्वान् तथा अत्यन्त उदार था।

उसके बाद इस्माइल, केवल ९ बरस की अवस्था में, बीजापुर का सुलतान हुआ। उसकी चतुर माँ ने उसके धोखेबाज़ वज़ीर कमाल से उसकी रक्षा की और कमाल को मरवा डाला। जब इस्माइल युवा हुआ तब उसे अहमदनगर और

विजयनगर से लड़ाइयाँ करनी पड़ीं, और सब में वह जीता। उसने रायचूर का दोग्राब विजयनगर के राय से छीन लिया। वह सन् १५३४ में मर गया। उसके बाद इब्राहीम आदिलशाह ने पहले तो सुन्नी धर्म फिर से स्थापित किया और बाहरी अमीरों को बड़े-बड़े पदों से हटाकर उनके स्थान पर दक्षिणियों तथा हब्शियों को रखा। उसने अहमदनगर और गोलकुण्डा से लड़ाइयाँ कीं। परन्तु पीछे से वह विलासिता में पड़कर पतित हो गया। उसके उत्तराधिकारी अली आदिल शाह का सन् १५७९ में वध हो गया। उसके बाद इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने सन् १६२६ तक राज्य किया। शुरू में जब वह छोटा था, तब लोकप्रसिद्ध चाँदबीबी ने उसकी संरक्षिका के रूप में राज्य का कार्य किया था।

निजाम शाही वंश का प्रवर्त्तक दक्षिणी दल का नेता निज़ामुल्मुल्क बहरी था। उसका पुत्र मलिक अहमद जुन्नेर का सूबेदार था। निज़ामुलमुल्क को तो बादशाह ने मरवा डाला; परन्तु अहमद सन् १४९८ में स्वतन्त्र हो गया और उसने अहमदनगर को अपना केन्द्र बनाया। सन् १४९९ में उसने दौलताबाद पर कब्ज़ा कर लिया। शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई और उसका नाबालिग पुत्र बुरहान निज़ाम-शाह गद्दी पर बैठा। जब वह बड़ा हुआ तो उसने पहले तो विजयनगर के राय से सन्धि की और बीजापुर पर सन् १५५३ में घेरा डाला। इसके बाद निज़ामशाही बादशाह इसी प्रकार अपने पड़ोसियों से लड़ते रहे। १६वीं शताब्दी के अन्त में मुगल साम्राज्य का विस्तार उनके राज्य की सीमा तक पहुँच गया। फिर थोड़े दिनों में अहमदनगर मुगल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

**गोलकुण्डा**—कुत्बशाही वंश का संस्थापक कुत्बुलमुल्क था जो बहमनी राज्य में तिलंगाना का सूबेदार था। उसने सन् १५१८ में अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। गोलकुण्डा के अन्य सुलतान कुछ योग्य न हुए, परन्तु उनके यहाँ कई हिन्दू मन्त्री बड़े योग्य और नीतिज्ञ थे। इन लोगों के कारण गोलकुण्डा राज्य औरंगजेब के समय तक कायम रहा।

**बीदर**—कासिम बरीद के पुत्र अमीर बरीद ने, जो बहमनी वंश के अन्तिम शासक का मन्त्री था, उसके बीजापुर की शरण में चले जाने पर, सन् १५२६ में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। परन्तु उसके उत्तराधिकारी बड़े अयोग्य हुए। उसने सन् १६०९ में बीजापुर के सुलतान से छीनकर बीदर को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

## विजयनगर साम्राज्य

विजयनगर साम्राज्य का आरम्भिक इतिहास अब तक अनिश्चित और विवादास्पद है। इसके विषय में कई दन्त-कथाएँ हैं। इनमें से जो आजकल सबसे अधिक सम्भाव्य मानी जाती है, वह यह है कि इस राज्य के संस्थापक दो भाई, हरिहर और बुक्काराय थे जो वरंगल के काकतीय राजा प्रतापरुद्रदेव के कोष-

विभाग में पदाधिकारी थे। जब सन् १३२३ में वरंगल पर मुसलमानी आक्रमण हुआ तो वे वहाँ से भागकर रायचूर प्रदेश में आनेंगुण्डी के राजा के यहाँ आकर नौकर हो गए। जान पड़ता है कि यहीं पर किसी समय उन्होंने होयसल वंशीय अन्तिम राजा वीर वल्लाल तृतीय के शुरू किए हुए नगर को पूरा किया। इनका परम सहायक तथा नेता उस समय का प्रकाण्ड पण्डित विद्यारण्य था जिसने इस वंश की उसी प्रकार सहायता की जिस प्रकार चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य की की थी। कहा जाता है कि इन भाइयों ने नगर का नाम अपने गुरु के स्मारक स्वरूप विद्यानगर अथवा विजयनगर रखा। इतना निश्चित जान पड़ता है कि सन् १३३६ तक यह नगर पूरा हो चुका था। यह तुङ्गभद्रा के किनारे पर बसा हुआ था। इस नगर तथा राज्य की स्थापना उस हिन्दू जाग्रति तथा प्रतिक्रिया का परिणाम थी जो उस समय दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण और धार्मिक अत्याचारों के कारण उत्पन्न हो गई थी।

इस राज्य का पहला राजा हरिहर था जिसने लगभग सन् १३५३ तक राज्य किया। परन्तु यह होयसल राजाओं के सीमा प्रान्त के सेनाध्यक्ष के रूप में कार्य करता रहा। सन् १३४४ में वरंगल के राजा प्रतापरुद्रदेव के लड़के कृष्णनायक ने मुसलमानों को दक्षिण से निकालने के लिए एक संघ बनाया था। इसमें इन भाइयों ने बहुत सहयोग दिया था। सन् १३४६ में अन्तिम होयसल राजा विरुपाक्ष वल्लाल की मृत्यु के बाद इन लोगों को राज्य-विस्तार का अवसर मिला। होयसल राज्य की समस्त भूमि उन्होंने अपने राज्य में मिला ली। विजयनगर साम्राज्य उत्तर में कृष्णा नदी तक, दक्षिण में कावेरी नदी तक, और पूरब-पश्चिम में समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया। जैसा कि हम बहमनी वंश के वर्णन में कह आए हैं, उत्तर की ओर विजयनगर का विस्तार बहमनी राज्य के कारण रुक गया। दोनों राज्य नए और शक्तिशाली थे। दोनों आजीवन एक-दूसरे को नष्ट करके सारे दक्षिण पर आधिपत्य जमाने का प्रयास करते रहे।

हरिहर के बाद उसका भाई बुक्क महीपति सम्राट् हुआ जिसने साम्राज्य की सीमा को और भी बढ़ाया एवं विजयनगर को भी पूर्ण तथा अधिक विस्तृत किया। ये लोग शैव मतावलम्बी थे, परन्तु अन्य मतों के प्रति बड़े उदार तथा सहनशील थे। एक बार वैष्णव और जैन धर्म के अनुयायियों में बड़ा भारी झगड़ा हो गया। बुक्क ने अत्यन्त चतुराई से दोनों दलों को सन्तुष्ट करके उनका फैसला कर दिया और दोनों दलों को शान्त तथा सन्तुष्ट कर दिया।

बुक्क की मृत्यु सन् १३७९ में हुई। उसका उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय हुआ। उसने पहले-पहल महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। हरिहर स्वयं बहुत शान्त तथा शान्तिप्रिय था। उसने मुसलमानों आदि से कोई संग्राम नहीं किया; प्रत्युत् अपना समय एवं शक्ति राज्य का शासन संघटित करने में लगाई। दक्षिण

में उसके सेनाध्यक्ष ने कई नए प्रदेशों को जीतकर साम्राज्य में सम्मिलित किया। हरिहर की मृत्यु सन् १४०४ में हुई। उसका लड़का शीघ्र ही मर गया। उसके बाद देवराय प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। उसे बहमनी वंश से जीवन भर लड़ना पड़ा और इसमें विजयनगर को क्षति भी उठानी पड़ी।

इसके बाद छठा राजा देवराय द्वितीय (१४२२-४६) बड़ा शूरवीर हुआ। उसने भी बहमनी राज्य से लड़ाइयाँ कीं और अपनी सेना में मुसलमान अश्वारोहियों को भरती किया। परन्तु उसे कभी सफलता न हुई। उसके शासनकाल में दो बाहरी यात्री एक इटली-निवासी निकोलो कोण्टी और दूसरा फ़ारस का दूत अब्दुर्रज्जाक विजयनगर में आया। इन दोनों ने अपने-अपने यात्रा-विवरण लिखे हैं जिनसे उस राज्य एवं तत्कालीन दक्षिण के इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। निकोलो कोण्टी सन् १४२० के करीब भारत में आया था। वह लिखता है—"बाइज़ेंगेलिया (विजयनगर) बड़े सीधे पहाड़ों के निकट बसा हुआ है। शहर का घेरा ६ मील है। कहा जाता है कि इसमें ९० हज़ार मनुष्य ऐसे हैं जो हथियार चला सकते हैं। इस मुल्क के लोग कई ब्याह कर सकते हैं। यहाँ का राजा भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली है। उसके प्रासाद में १२,००० औरतें हैं जिनमें ४,००० उसके साथ हर जगह जाती हैं। ये सब रसोई के काम में लगी रहती हैं। इतनी ही संख्या घोड़ों पर उसके पीछे चलती है। बाकी डोलियों में जाती हैं। इनमें से २,००० या ३०,०० उसकी स्त्री बनने के लिए पसन्द करली जाती हैं। इन सबको उसके मरने पर उसके साथ सती होना पड़ता है।

"वर्ष में एक बार वे अपने देवता (प्रतिमा) को रथों में रखकर शहर में सवारी निकालते हैं। इन रथों में सुसज्जित स्त्रियाँ इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गायन, वादन व नृत्य करती हैं। बहुत लोग जोश में रथ के सामने लेटकर मर जाते हैं, क्योंकि यह माना जाता है कि ऐसी मौत से देवता बहुत प्रसन्न होते हैं।" इत्यादि। उसने यह भी लिखा है—"साल में ये लोग तीन त्यौहार मनाते हैं। एक पर वे दीपक जलाते हैं, दूसरे पर केसर का रंग एक-दूसरे पर छिड़कते हैं।"

निकोलो के २० बरस बाद सन् १४४२ में अब्दुर्रज्ज़ाक आया। उसने शहर का सविस्तार वर्णन किया है। उसने राज-दरबार का हाल भी लिखा है। उसने राजा को देखा कि वह ४० खम्भों के मण्डप में साटन का चोगा पहने हुए बैठा था और गले में इतने बहुमूल्य मोतियों की माला पहने था कि उनकी कीमत का अनुमान करना कठिन था। उसका रंग गन्दुमी, क़द लम्बा और शरीर पतला था। वह अत्यन्त अल्पवयस्क प्रतीत होता था। अब्दुर्रज्ज़ाक को राज्य की ओर से रोज खाने-पीने की इतनी सामग्री मिलती थी—२ भेड़ें, ४ जोड़ी मुरगे, ५ मन चावल, एक मन मक्खन, एक मन शक्कर और सोने के दो वाराह (एक प्रकार का सिक्का)। सप्ताह में दो बार उसे दरबार में बुलाया जाता था। हर बार उसे पानों का बीड़ा, ५०० फ़नम की एक थैली और काफ़ूर के मिस्काल मिलते थे।

नगर के बारे में अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है—"सारी दुनिया में ऐसा शहर न देखा गया है, न सुना गया। उसके चारों ओर ७ दीवारें हैं। बाहर की दीवार के के चारों तरफ़ कोई पचास गज की चौड़ाई में आदमी की ऊँचाई के बराबर पत्थर ज़मीन में बराबर-बराबर गड़े हैं, जिससे कोई घोड़ा या सवार शहरपनाह के ६० गज़ के अन्दर नहीं जा सकता।

"शहर के अन्दर हर पेशेवालों का बाजार अलग है। जौहरी लोग खुले-आम हीरे, मोती, माणिक, पन्ने आदि बेचते हैं। इस बाजार में तथा राजा के प्रासाद के आस-पास पत्थर की बनी हुई पानी की छोटी-छोटी नहरें बहती हैं।

"राजा का दीवान-खाना इतना विशाल है कि एक प्रासाद जान पड़ता है। उसके सामने एक बड़ा कमरा है जो मुहाफ़िज़खाना है। इसमें पुराने दस्तावेज़ सुरक्षित रहते हैं और यहीं बहुत से लेखक बैठते हैं।" देवराय द्वितीय की मृत्यु लगभग सन् १४४६ में हुई।

**सुलुवा वंश**—उसके बाद उसके **लड़कों से तिलंगाना के शक्तिमान जागीरदार सुलुवा नरसिंह ने गद्दी छीन ली।** परन्तु उसके उत्तराधिकारी से फिर उसके शूर वीर सेनापति तुलुवा वंशीय नरेश नायक ने गद्दी छीन ली। इस **तलुवा वंश का सबसे प्रसिद्ध तथा तेजस्वी राजा कृष्णदेव राय था।** कृष्णदेव राय सन् १५०६ के लगभग सिंहासनारूढ़ हुआ। उसके शासन में विजयनगर उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। **उसने बहमनी राज्य से युद्ध किया और उनसे खूब बदला लिया। कृष्णदेव राय बहुत शूरवीर होने के अतिरिक्त बड़ा दृढ़ एवं उदार शासक था। वह स्वयं वैष्णव था, परन्तु अपनी प्रजा को उसने पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता** दे रखी थी। उसके समय में भी कई बाहरी यात्री आए थे। उन सबने उसकी उदारता, उत्कृष्ट शिक्षा-दीक्षा तथा आकर्षक व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। **बाहरी यात्रियों के प्रति उसका व्यवहार बहुत उदार तथा कृपापूर्ण होता** था। वह स्वयं बड़ा विद्वान् था और संस्कृत तथा तेलुगू भाषा के साहित्यिकों का बड़ा पोषक था। उसके दरबार में 'अष्ट दिग्गज' अर्थात् आठ बड़े-बड़े कवि थे। युद्ध-विद्या में भी वह बहुत कुशल एवं चतुर था। उसके समान कोई शासक दक्षिण के इतिहास में नहीं हुआ है। समस्त दक्षिण पर उसका गहरा प्रभाव था। वह बड़ा प्रभावशाली था। जो कोई उससे मिलता, बिना प्रभावित हुए न जाता।

कृष्णदेव राय ने उड़ीसा के राजा को हराया और वहाँ की एक राजकुमारी से शादी की थी। फिर उसने बीजापुर के आदिलशाह को सन् १५२० में पराजित किया। इस समय हिन्दू विजेताओं ने इतना अनुचित और उद्दण्ड व्यवहार किया कि समस्त मुस्लिम राज्य भयभीत हो गए और विजयनगर से घृणा करने लगे। पुर्तगालियों से भी कृष्णदेव राय का सम्बन्ध था। उसे उनके घोड़ों आदि के व्यापार से बड़ा लाभ होता था। पुर्तगालियों ने गोवा को इसी के शासनकाल में लिया था। कृष्णदेव की विजयों से साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया कि कटक से सालसीट तक

और दक्षिण में मैसूर तक पहुँच गया। यह विस्तार देखकर उत्तरी मुस्लिम रियासतों को बहुत डर लगा और उनमें एका होने लगा।

**राक्षस तंगड़ी (तालीकोट) की लड़ाई सन् (१५६५)**—कई मुस्लिम रियासतों ने मिलकर बड़ी भारी तैयारी की और सन् १५६४ में विजयनगर पर धावा बोल दिया। कृष्णा नदी के किनारे तालीकोटा के पास सेनाएँ आकर ठहरीं। कृष्णदेव राय को बड़ा घमण्ड हो गया था। उसने पहले तो इनकी परवा न की, परन्तु शीघ्र ही उसकी आँखें खुल गईं। फिर उसने तुरन्त तीन सेनाएँ तीन ओर भेजीं ताकि शत्रु को नदी पार न करने दें। उसी मैदान में बड़ा भारी युद्ध हुआ। अन्त को विजयनगर की सेना पराजित हुई और उसकी शक्ति नष्ट हुई। विजेताओं ने बड़ी मार-काट की। रामराय पकड़ा गया और निजामशाह ने उसका सर काट दिया। फिर उन्होंने विजयनगर को लूटा और उसका संहार किया। विजयनगर की जनता के साथ जैसा नृशंस और घृणित व्यवहार शत्रुओं ने किया, वह अकथनीय है।

इसके बाद विजयनगर का ह्रास आरम्भ हुआ। फिर सन् १५७० में तिरूमल ने एक नया राजवंश चलाया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा वेंकट प्रथम हुआ। उसने राज्य को फिर से दृढ़ किया। परन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में राज्य शीघ्र ही दुर्बल हो गया। उत्तर में बहुत-सा भाग मुसलमानों ने अपहरण कर लिया और दक्षिण में मदुरा तथा तंजौर आदि के नायकों ने राज्य के टुकड़ों से स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए।

**शासन-व्यवस्था**—विजयनगर की शासन-व्यवस्था में जागीरदारी प्रथा तथा एकात्मक सत्ता का मिश्रण था। राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिमण्डल था जिसके सदस्य कतिपय मन्त्रियों के अतिरिक्त प्रान्तीय शासक, सेनापति, विप्रगण और विद्वान् होते थे। शासन अत्यन्त केन्द्रित था। राजा सर्वशक्तिमान था। सामान्य शासन का संचालन, सेना विभाग की देख-रेख, तथा न्यायाधीश का कार्य इत्यादि वह स्वयं ही करता था। उसे सब मामलों में मन्त्रणा तथा परामर्श देने वाला प्रधान मंत्री होता था। उसके अतिरिक्त कोष-मंत्री और रक्षा-विभाग का अधिष्ठाता आदि पदाधिकारी भी थे। विजयनगर का राजदरबार बड़ा वैभवशाली था।

साम्राज्य दो प्रकार के विभागों में विभक्त था; अर्थात् प्रान्त या 'मण्डल' तथा जागीरदारियाँ अथवा चोल, चेर, पाण्ड्य इत्यादि अर्ध-स्वतन्त्र रियासतें। प्रान्तों के शासक राजा की ओर से नियत किए जाते थे और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। जागीरदार वंश-परम्परागत होते थे। प्रान्त कई नाडुओं (जिलों) में बँटे थे। तैलुगू प्रदेश में सीमा को नाडू कहते थे। नाडू या सीमा में कई स्थल होते थे। इन शासन-विभागों के अधिकारियों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी। साम्राज्य के प्रान्तों की संख्या अनिश्चित है। एक बाहरी यात्री पेज (Paes) के लेख के अनुसार आधुनिक लेखकों ने यह मान लिया है कि साम्राज्य में २०० प्रान्त थे, यह भूल है।

साम्राज्य के प्रान्तों की तादाद बहुत थोड़ी थी। महामण्डलेश्वरों को भी काफ़ी अधिकार थे। वे स्थानीय शासन के प्रत्येक विभाग के मालिक होते थे। राजा की ओर से समय-समय पर उनका निरीक्षण होता था।

स्थानीय शासन की इकाई गाँव ही थी। ग्राम-समिति गाँव का सब प्रबन्ध करती थी। राज-कर उगाहना, प्रजा की रक्षा करना, छोटे मामलों में न्याय इत्यादि काम ग्राम-समिति के द्वारा निपटाए जाते थे।

राष्ट्रीय आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर ही था; परन्तु उसकी दर का प्रश्न बहुत विवादास्पद है। पुर्तगाली इतिहास-लेखक ने लिखा है कि पैदावार का $\frac{9}{10}$ भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। जान पड़ता है कि यह अनुमान करने में उसने भूल की है। तत्कालीन ग्रन्थ 'पाराशर माधवीयम्' में लिखा है कि "भूमि-कर कुल पैदावार का $\frac{1}{6}$ होना चाहिए।" एक और प्रमाण यह भी मिलता है कि १६वीं सदी के शुरू में एक यात्री मि० बुशानन को उत्तरी कनाडा के एक पटेल से मालूम हुआ था कि चावल पर कर कृष्णदेव राय की पद्धति के अनुसार पैदावार का $\frac{1}{6}$ होता था। इससे जान पड़ता है कि भूमि-कर $\frac{1}{6}$ के लगभग रहा होगा। आय के और भी कई स्रोत थे।

सैनिक विभाग का प्रबन्ध भी प्रायः प्रान्तीय शासकों के हाथ में था। राजा स्वयं भी एक बड़ी स्थायी सेना रखता था। बाकी सेना प्रान्तीय शासक भरती करते तथा उसे सुव्यवस्थित एवं युद्ध के योग्य रखते थे। यह ठीक है कि कृष्णदेव राय की सेना ६० हजार पैदल और ३२ हजार घुड़सवारों की थी।

इक्कीस

# समाज व संस्कृति

**सामाजिक** स्थिति—हर्ष के बाद भारतवर्ष की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था पर जिन-जिन बातों का प्रभाव पड़ा, उनका दिग्दर्शन हम पहले प्रकरण के आरम्भ में करा आए हैं। धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से सारे देश में एक प्रकार की समानता पाई जाती थी। जात-पाँत के भेद-भाव, खान-पान के बन्धन, मूर्ति-पूजा तथा उसके साथ अनेक रूढ़ियाँ, कर्म-काण्ड का विकृत रूप और इसी प्रकार की अन्य परिपाटियाँ प्रचलित थीं। समाज का संघटन परिवार-संस्था पर आश्रित था। मनुष्य अपने नैतिक एवं सामाजिक जीवन में बड़े-बड़े नियमों से जकड़े हुए थे। किसी को स्वतन्त्र विचार अथवा तर्क करने का अधिकार नहीं था। समाज का मानसिक, नैतिक एवं धार्मिक नेतृत्व ब्राह्मण धर्माधिकारियों के हाथ में था। यद्यपि सम्प्रदाय अनेक थे, परन्तु मूर्तिपूजा आदि की रीति सब में एक समान थी। भेद सिर्फ इतना था कि कोई विष्णु की पूजा करता था, कोई शिव की और कोई दुर्गा की, इत्यादि। इसी प्रकार सारे देश में जाति-पाँति के भेद एक समान फैले हुए थे। धर्म-ग्रंथों के पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार शूद्रों तथा अन्त्यजों को न था। धर्म-ग्रंथ केवल संस्कृत में थे और उनका अनुवाद करना वर्जित था। मन्दिर बनवाना, उनमें चढ़ावे चढ़ाना, देवी-देवताओं की पूजा करना, उपवास करना, तीर्थयात्रा करना, देवी भागवत आदि किसी पुस्तक का पाठ करना, आदि कार्य धर्म के मुख्य अङ्ग माने जाते थे। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक यही अवस्था थी परन्तु राजनैतिक दृष्टि से पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। यदि राजा एक सम्प्रदाय का होता और प्रजा दूसरे की, तो वह उनके धर्म-पालन में हस्तक्षेप नहीं करता था। बौद्ध मत लगभग विलुप्त हो चुका था। वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का विशेष विस्तार हो रहा था। इस युग के साहित्य एवं कला पर धर्म तथा समाज के उपर्युक्त तत्वों की अमिट छाप पड़ी। सहस्रों मन्दिर और देवालय, राज-प्रासाद, दुर्ग आदि बनाए गए। मूर्ति-कला, शिल्प, चित्र-कला, गायन-वादन और नृत्य आदि की अत्यन्त उन्नति हुई और इन सब विषयों पर संस्कृत भाषा में अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे गए जिनका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं।

स्त्रियों की स्थिति भी एक दृष्टि से सन्तोषजनक न थी। उनमें उच्च शिक्षा

का अभाव था। तथापि इस काल में कतिपय देवियाँ महान विदुषी हुईं जिनके नाम इतिहास में अमर रहेंगे। इस बात से कुछ आधुनिक विद्वान यह परिणाम निकालते हैं कि उस समय सामान्यतया स्त्री-जाति में शिक्षा का प्रचार था। परन्तु उक्त विदुषी देवियाँ इनी-गिनी और अपवाद मात्र थीं, जिससे यही प्रमाणित होता है कि सामान्यतया स्त्री-शिक्षा का प्रचार उस समय नहीं था। घर में स्त्रियों का बड़ा मान होता था। स्त्री के सतीत्व की रक्षा करना मनुष्यों के लिए गौरव का काम समझा जाता था। परन्तु लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की कम क़द्र थी। लड़की के पैदा होने पर खुशी नहीं मनाई जाती थी। सती प्रथा भी जारी थी। कुछ जातियों जैसे मद्रास के नायरों में, बहुपति (एक स्त्री के कई पति) की प्रथा थी। नीच जातियों में परदा कम था। जनता अंध-विश्वासों से ग्रस्त थी। जादू-टोने, जन्तर-मन्तर आदि बहुत प्रचलित थे। हिन्दू लोग दान बहुत करते थे। परन्तु इसका बहुत-सा भाग निकम्मों और मुफ्तखोरों के पास जाता था और दुराचार तथा कुरीतियों के बढ़ने का कारण होता था।

**मानसिक दासता तथा कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन**—क्रियात्मक दृष्टि से समाज की यह दशा सन्तोषप्रद नहीं थी। उसमें बहुत कुछ परिवर्तन तथा परिशोधन की आवश्यकता थी। दक्षिण में १३वीं शताब्दी से ही इस अवस्था के विरुद्ध जागृति के चिह्न देख पड़ते थे। उस समय बहुत से समाज-सुधारक सन्त उत्पन्न हुए और उन्होंने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इस सुधार के आन्दोलन में ज्ञानदेव, जो सबसे पहला है, देवगिरि के राजा रामचन्द्र यादव का समकालीन था। उसके बाद कोई २०० वर्ष तक ५० के लगभग सन्त और सुधारक समाजोद्धार का प्रयत्न करते रहे। इनमें कई स्त्रियाँ भी थीं और कई शूद्र एवं अत्यन्त नीच जातीय लोग भी। इन सबने ब्राह्मणों के एकाधिकार तथा उनकी धर्म की ठेकेदारी पर प्रबल आक्रमण किए, जात-पाँत के भेदों को मिथ्या बतलाया और यह भी कहा कि सबको धर्म-पुस्तकों के अध्ययन का समान अधिकार है। सर्वसाधारण की भाषाओं में धर्म-ग्रंथों के अनुवाद और सारांश लिखे गए और स्वयं अपने विचार तथा उपदेश जनता की भाषा द्वारा व्यक्त किए गए। धर्म और आत्म-तत्व के गहन विषयों की व्याख्या सामान्य भाषाओं द्वारा करने का कार्य बारहवीं सदी में ही मुकुन्दराज ने प्रारम्भ कर दिया था। उसने ब्रह्मविद्या तथा वेदान्त पर मराठी भाषा में 'विवेक सागर' नामक एक ग्रंथ लिखा था*। इसी प्रकार उत्तर में मनुष्य मात्र के समानाधिकारों तथा सामाजिक और मानसिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन शुरू हुआ। हिन्दू जाति के विधायक सुधारकों के सामने दो समस्याएँ थीं—एक आन्तरिक और दूसरी बाह्य। आन्तरिक समस्या तो यह थी कि उच्च जातीय हिन्दुओं, विशेषकर ब्राह्मण-क्षत्रियों के दुर्व्यवहारों तथा अन्यायों से छोटी जातियों को छुड़ाना और

---

* 'थीइज़्म इन मेडीवल इण्डिया' (जे० कार्पेण्टर), पृ० ४५१.

उन्हें धर्म तथा समाज में समान अधिकार प्राप्त कराना। दूसरी समस्या थी हिन्दू मात्र को मुसलमान शासकों के अत्याचारों से मुक्त कराना तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव, एक-दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार अथवा शंका, भय और धार्मिक पक्षपात के भावों को निकालकर दोनों जातियों में परस्पर प्रेम, विश्वास तथा सहनशीलता के भाव उत्पन्न करना जिससे दोनों एक-दूसरे की उन्नति में बाधक नहीं, बल्कि सहायक हो सकें। हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों से, मनुष्य और मनुष्य के बीच ऊँच-नीच के भावों से, तथा मुसलमानों की सङ्कीर्ण धार्मिक और राजनैतिक नीति से जनता अत्यन्त दुःखी हो गई थी। समाज की आत्मा पुकार कर कह रही थी कि इन कुरीतियों का अन्त होने पर ही शान्ति तथा स्वतन्त्रता का राज्य स्थापित हो सकता है। जाति की अन्तरात्मा की इस मूक ध्वनि को प्रतिध्वनित करने वाले महात्माओं में सबसे पहला नाम रामानन्द का है। रामानन्द ने १४वीं शताब्दी में अर्थात् तुग़लक़ साम्राज्य के युग में काशी में वैष्णव (भागवत) धर्म का प्रचार किया। उनका मूल सिद्धान्त यह था कि एक ईश्वर की सच्ची भक्ति करने और राम-नाम जपने से जात-पाँत के सब बन्धन टूट जाते हैं और मनुष्य मात्र एक समान हो जाते हैं। उनके शिष्यों में जाट, नाई, चमार, मुसलमान तथा स्त्रियाँ भी थीं। वे सब पूजा-पाठ तथा भोजन आदि साथ-साथ करते थे। रामानन्द ने हिन्दी भाषा में ग्रंथ लिखना तथा प्रचार करना शुरू किया और इस प्रकार केवल दलितों का ही उद्धार नहीं किया, बल्कि हिन्दी भाषा का भी बड़ा उपकार किया। रामानन्द के शिष्यों में कबीर सबसे प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि कबीर का जन्म सन् १३९८ के लगभग बनारस में हुआ था और मृत्यु मगहर में सन् १५१८ के लगभग। इसके अनुसार कबीर की आयु १२० वर्ष की हुई। कबीर एक मुसलमान जुलाहे के घर में पले थे, परन्तु उन्होंने रामानन्दजी से वैष्णव धर्म की दीक्षा ली थी। कबीर ने तत्कालीन कुप्रथाओं, जात-पाँत के भेदों, मूर्ति-पूजा, मन्दिर, मस्जिदों के झगड़ों आदि के विरुद्ध बड़े ज़ोर से आन्दोलन किया और एकेश्वर वाद का प्रचार किया तथा हिन्दू-मुसलमान के भेद-भाव और छुआछूत को मिटाने में बड़ा भारी काम किया। वे निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार करते थे। इसी प्रकार बंगाल में चैतन्यदेव (१४८६-१५३४) ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया और कृष्ण-भक्ति को परम कर्त्तव्य बतलाया। चैतन्य ने भी व्यर्थ पूजा-पाठ आदि को छोड़कर आध्यात्मिक भक्ति पर जोर दिया और दलितों का उद्धार किया। गुरु नानकदेव (१४६९-१५३६) ने पंजाब में मनुष्य-मात्र में भ्रातृ-भाव तथा एकेश्वरवाद का प्रचार किया। इस प्रचार का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। बहुत से मुसलमान फ़क़ीरों और सूफियों आदि ने तो दोनों जातियों को मिलाने का प्रयत्न किया ही, पर साथ ही मुसलमान शासकों ने भी कहीं-कहीं बड़ी उदारता दिखलाई। १५वीं सदी के अन्त में बंगाल के अरबी सुलतान अलाउद्दीन हुसेन (१४९३-१५१८) और उसके बेटे नुसरत ने बड़ी उदारता तथा

समदर्शिता से राज्य किया और दोनों जातियों में मेल कराने का प्रयत्न किया। हुसेन ने पहले-पहल महाभारत और भागवत का अनुवाद बंगला भाषा में कराया। रामायण का अनुवाद कृतिवास नामक विद्वान द्वारा रामानन्द के समय में ही हो चुका था। कहा जाता है कि हुसेन ने हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने के लिए 'सत्य पीर' नामक एक पंथ की स्थापना की थी।

**मुस्लिम शासन का प्रभाव**—मुसलमान बादशाहों की संकीर्णतापूर्ण तथा दमनवाली नीति का हिन्दुओं की सभ्यता पर बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ा। देवालयों, मठों और मन्दिरों को नष्ट करने से भी कहीं अधिक एवं अपूरणीय क्षति साहित्य-ग्रंथों को नष्ट करने से पहुँची। इसके अतिरिक्त उनकी दमन-नीति का यह प्रभाव हुआ कि हिन्दू जाति की मानसिक शक्ति को काफ़ी आघात पहुँचा और उच्च कोटि के विद्वानों की भी कमी हुई। इस युग में पूर्वकाल के समान कोई उत्कृष्ट साहित्य या दर्शन आदि के ग्रंथ न लिखे गए। न इस युग में कोई प्रतिभाशाली विचारक या दार्शनिक हुए। हाँ, अनेक प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद हुए और उन पर भाष्य तथा टीकाएँ लिखी गईं। परन्तु जब इस निश्चल स्थिति के विरुद्ध फिर से प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, तब मानसिक विकास दूसरे रूप में प्रकट हुआ। भक्ति-सम्प्रदाय के सन्तों ने प्रायः बोल-चाल की भाषाओं द्वारा गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्तों का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप हमारी आधुनिक देशी भाषाओं का विकास भी हुआ।

**मुसलमानों की सामाजिक अवस्था**—यह बहुत दिनों तक अच्छी न रही। वे बड़े विलासी हो गए। साम्राज्य के प्रायः सभी बड़े-बड़े पद उनको दिए जाते थे। वे कोई कमाई का पेशा नहीं करते थे। आर्थिक चिन्ता न होने तथा भोग-विलास के कारण उनकी शक्ति नष्ट हो गई। उनमें दास प्रथा भी प्रचलित थी। परन्तु दासों के साथ बुरा व्यवहार न किया जाता था। दास कभी कभी ऊँचे से ऊँचे पद प्राप्त कर लेते थे। उनको वज़ीर तक बना दिया जाता था। स्त्रियों की दशा कुछ सन्तोषजनक न थी। उनको किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी। परदे का रिवाज बढ़ता जा रहा था।

**आर्थिक स्थिति**—मुस्लिम शासन में भारत की प्राचीन ग्राम-संस्था बनी रही ; कारण कि मुसलमान शासक ग्रामों के प्रबन्ध आदि के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। वे अपना कर लेकर सन्तुष्ट हो जाते थे और ग्राम-पंचायतों के हाथ में ग्राम का शासन छोड़ देते थे। इसलिए जब तक कर की मात्रा बहुत नहीं बढ़ जाती थी, तब तक गाँवों की दशा जैसी की तैसी बनी रहती थी। यातायात के साधनों या सड़कों आदि में सुलतानों ने कोई कथनीय उन्नति नहीं की थी। तुग़लक़ काल में इन बातों पर अवश्य ध्यान दिया गया था। परन्तु अलाउद्दीन खलजी जैसे शासकों के राज्य में जनता को अवश्य असह्य कष्ट हुए। उसके आर्थिक नियमों का क्या प्रभाव हुआ होगा, इसका हम ऊपर विचार कर ही चुके हैं। व्यापार प्रायः नदियों और नहरों के द्वारा होता था। विदेशों से व्यापार बहुत कम होता था। उत्तर में

खुरासान और फ़ारस आदि देशों मे घोड़ों का व्यापार होता था। दक्षिण में भड़ौच (भृगुकच्छ) तथा कालीकट आदि बन्दरगाहों के द्वारा फ़ारस, मिस्र आदि देशों से व्यापार होता था। व्यापार की उन्नति या अवनति भी शासन के दृढ़ या निर्बल होने पर निर्भर थी। सामाजिक जीवन में बड़ी अस्थिरता थी।

यद्यपि बाहरी देशों से व्यापार तथा व्यवसाय नहीं होता था, तथापि जनता सामान्यतया सन्तुष्ट रहती थी, क्योंकि खाने-पहनने की किसी को कमी न होती थी। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ अत्यन्त सस्ती थीं। दुर्भिक्ष पड़ने पर निर्बल शासकों के समय में अवश्य कष्ट होता था, परन्तु योग्य सुलतान उसके निवारण का प्रबन्ध कर लेते थे। मुहम्मद तुग़लक के समय में बहुत बड़े और लम्बे अकाल पड़े थे। सुलतान ने प्रजा के कष्ट दूर करने के बड़े उत्तम उपाय किए थे, परन्तु उसकी नीति ने उनका शुभ फल नष्ट कर दिया था।

**धार्मिक स्थिति**—आठवीं शताब्दी के बाद राजपूत-युग में शैव और वैष्णव धर्मों की वृद्धि हुई जिससे बौद्ध धर्म का लोप हो गया। उसके अनेक तत्वों को नवीन हिन्दू धर्म ने ग्रहण कर लिया और वे शैव या वैष्णय धर्मों में मिलकर एक नए नाम से प्रचलित हुए। महायान धर्म के ध्यान तथा योगादि के सिद्धान्त शैव मत में सम्मिलित हो गए और भक्ति तथा लोक-सेवा आदि के सिद्धान्त वैष्णव मत में। हिन्दू धर्म का योगेश्वर शिव महायान धर्म के ध्यानी बुद्ध का रूपान्तर मात्र है। वैष्णव धर्म की भक्ति तथा ईश्वर-प्रेम, दरिद्रों की सेवा, साधु-सन्तों का प्राबल्य आदि सब महायान धर्म के ही अंग थे जिनमें हिन्दू धर्म ने नया जीवन फूंक दिया और निःशक्त बौद्ध धर्म पर विजय पाई। शैवों ने बौद्ध-विहारों में अपने मठ बना लिए और वैष्णवों में बौद्ध-श्रमणों का स्थान बैरागियों ने ले लिया। फल यह हुआ कि सर्वसाधारण को इस परिवर्तन का पता भी न चला। बात वही थी, केवल नाम का परिवर्तन हुआ था। फिर इसी समय बुद्ध भगवान को भी हिन्दुओं ने विष्णु का आठवाँ अवतार स्वीकार करके हिन्दू धर्म का एक अंग बना लिया। इस प्रकार हिन्दू धर्म न केवल बौद्ध धर्म को ही समूचा हड़प कर गया, बल्कि स्वयं बुद्ध महाराज को भी हज़म कर गया।

**तान्त्रिक मत**—महायान धर्म ने हिन्दूधर्म को तान्त्रिक मत भी उपहार-स्वरूप दिया। तन्त्रिक मत का प्रादुर्भाव इस प्रकार हुआ कि तिब्बत, मध्य एशिया और चीन आदि देशों की अविकसित जातियाँ बौद्ध धर्म के गूढ़ तत्व, अध्यात्म दर्शन तथा आचार-शास्त्र को समझने के सर्वथा अयोग्य थीं। उनमें प्रेत-पूजा आदि प्रचलित थी। यह देखकर बौद्ध धर्म के उन प्रचारकों को, जो उन देशों में गए थे, स्थानीय प्रचलित मत-मतान्तरों के साथ समझौता करना पड़ा। उन्होंने प्रचलित प्रेत-पूजा इत्यादि पर केवल बौद्ध मत का मुलम्मा चढ़ा दिया। और फिर उनके पूजा-पाठ को बौद्ध का अंग मान लिया। तान्त्रिक मत का उद्देश था तपस्या तथा यन्त्र-मन्त्र के द्वारा भूत-प्रेतों पर अधिकार प्राप्त करना और विषय-वासनाओं की

तृप्ति, लोहे आदि धातुओं से सोना बनाना, जादू से दवा तैयार करना इत्यादि। इसी को वे मुक्ति का साधन समझते थे। इस तान्त्रिक बौद्ध मत के देवी-देवता शैव मत में अवतरित हो गए। शैव मत की देवी 'शक्ति' अथवा काली तान्त्रिक मत की तारा का ही रूपान्तर है। तान्त्रिक मत ८वीं सदी से १२वीं सदी तक उत्तरी और पूर्वी बंगाल में बहुत फैला। बंगाल के अन्य भागों में भी इस मत का कुछ-कुछ प्रचार हुआ।

**इस्लाम धर्म का प्रभाव**—हिन्दू धर्म की पुरानी पाचक प्रवृत्ति नष्ट हो गई थी, इसलिए वह मुसलमान धर्म को न पचा सका। इसका कारण यह था कि मुसलमान धर्म का आधारभूत एकमात्र सिद्धान्त यह था कि ईश्वर एक ही हो सकता है, अनेक नहीं। अतः मुसलमान यह कभी न मान सकते थे कि उनका अल्लाह भी हिन्दुओं के लाखों देवी-देवताओं में से एक है। दूसरे, पठान साम्राज्य के काल में मुसलमानों की धारणा अन्त तक यही बनी रही कि हम विदेशी हैं। और वे इसी प्रकार यहाँ व्यवहार करते रहे। हिन्दुओं ने तो उनके अल्लाह को एक अवतार बनाने का पूरा प्रयत्न किया और एक अल्लोपनिषद् तक बना डाला; परन्तु उन्हें सफलता न हुई। मुसलमानों के हिन्दू जाति में न मिल सकने का सबसे बड़ा कारण यह था कि हिन्दुओं ने अपना जातीय क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया था, जिसके अन्दर कोई बाहरी आदमी दाखिल ही न हो सकता था।

**साहित्य और कला**—साहित्य और कला के क्षेत्र में पठान साम्राज्य के काल में काफ़ी उन्नति हुई। दिल्ली तथा अन्य बड़े-बड़े शहरों में बड़े नामी मुसलमान विद्वान और लेखक हुए जिन्होंने स्वतन्त्र पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त संस्कृत ग्रन्थों के फ़ारसी भाषा में अनुवाद भी किए। बहुत से मुसलमान बादशाह बड़े साहित्य-प्रेमी तथा विद्वानों के पोषक होते थे। उनके दरबार में बड़े-बड़े साहित्यिकों, कवियों तथा पंडितों को आश्रय मिलता था। उस समय के मुसलमान लेखकों में सबसे प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरू हुआ है जो बलबन, खल्जी तथा तुग़लक़ बादशाहों के दरबार में था। सन् १३२६ के लगभग उसकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि खुसरू ने कोई पाँच लाख शेर लिखे थे। उसकी पहेलियाँ और गीत आज तक गाँवों में प्रचलित हैं। खुसरू का साथी हसन देहलवी भी ऊँचे दर्जे का कवि था। मुहम्मद तुग़लक़ के समय में बद्रउद्दीन (बद्र-ए-चच) भी बड़ा प्रसिद्ध कवि हुआ। इस युग में कई बड़े प्रसिद्ध इतिहास-लेखक हुए। इनमें से कतिपय अधिक प्रसिद्ध नाम रम यहाँ देते हैं—मिन्हाज-उस्सिराज, गुलाम सुलतान नासिरुद्दीन के काल में, ज़ियाउद्दीन बरनी, खल्जी और तुग़लक़ काल में, शम्से सिराज आफ़िफ़, तुग़लक़ काल में, इत्यादि। १५वीं सदी में जौनपुर विद्या तथा कला का सर्वोत्कृष्ट केन्द्र हुआ, यहाँ तक कि शीराज़ेहिन्द कहलाने लगा। जौनपुर के विद्वान लेखकों में काज़ी शिहाबुद्दीन दौलताबादी और मौलाना शेख इलाहाबादी के नाम प्रसिद्ध हैं। इस काल में अरबी और फ़ारसी भाषाओं में बहुत से संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए।

अल्बेरूनी ने, जो मुहम्मद ग़ज़नवी के काल में भारत में आया था, स्वयं संस्कृत पढ़कर बहुत से ग्रन्थों के अरबी में अनुवाद किए। फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने कोट काँगड़ा के पुस्तकालय की कई संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद कराया और उसका नाम दलायले फ़ीरोज़शाही रखा। सिकन्दर लोदी ने आयुर्वेद के एक ग्रन्थ का फ़ारसी में अनुवाद कराया था।

इस युग को हिन्दुओं के साहित्य के, अनुवादों और टीकाओं का युग कहना अनुचित न होगा। कोई स्वतन्त्र दर्शन अथवा विज्ञान-शास्त्र इस युग में नहीं लिखा गया। रामानुज से रामानन्द पर्यन्त भागवत वैष्णव धर्म के पहले नेता अपने-अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के हेतु वेदान्त, उपनिषदों तथा गीता पर टीकाएँ लिखते रहे। इस समय में जैन विद्वानों ने अध्यात्म तत्त्व पर बड़े गूढ़ ग्रन्थ लिखे। दूसरे और कवियों ने संस्कृत में गेय काव्य के अत्यन्त मधुर ग्रन्थों की रचना की। जयदेव का 'गीत गोविन्द' गेय-काव्य ग्रन्थों में अतुलनीय है। इसके अतिरिक्त बहुत से वीर काव्य (epics) तथा नाटक भी इस काल में रचे गए। बीसलदेव चौहान का 'हरिकेलि' नाटक तथा उसके राजकवि सोमेश्वर का 'ललित विग्रहराज' नाटक, जयसिंह सूरी का 'हम्मीर-मद-मर्दन' इत्यादि नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। व्याकरण, न्याय, दण्ड-नीति इत्यादि विषयों पर भी बहुत से ग्रन्थ रचे गए। दक्षिण में इस काल में विद्या की उन्नति और भी अधिक हुई। हम पहले बतला आए हैं कि देवगिरि के यादव राजाओं के काल में ज्ञानदेव ने अपनी प्रसिद्ध गीता की टीका ज्ञानेश्वरी लिखी। उसीके समकालीन राजा रामचन्द्र का यादव मन्त्री हेमाद्रि मोड़ीलिपि का जन्मदाता और बहुत बड़ा विद्वान था। उसने अपने मित्र व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित बोपदेव से कई ग्रन्थ लिखवाए और स्वयं 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' की रचना की जिसमें अनेक विषयों का संग्रह है। १४वीं सदी में दक्षिण का सर्वोत्कृष्ट विद्वान् और राजनीतिज्ञ मध्व या विद्यारण्य हुआ। उसके भाई सायणाचार्य ने वेदों का भाष्य किया। हरिहर और उसके भाइयों ने विजयनगर राज्य की स्थापना विद्यारण्य के परामर्श से ही की थी। इसी काल में हिन्दी साहित्य का भी उदय एवं विकास हुआ। आल्हा खण्ड, जिसमें महोबे के चन्देल राजा परमार के वीर सैनिकों आल्हा और ऊदल आदि की वीरता के कारनामों का बड़ी उत्तमता से वर्णन किया गया है, १२वीं शताब्दी में लिखा गया था। कवि अमीर खुसरु ने भी हिन्दी की बड़ी प्रशंसा की है और उसकी पहेलियाँ प्रायः हिन्दी भाषा में ही पाई जाती हैं। इसके बाद सन्त-मण्डल ने बराबर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखना शुरू किया। इसी समय उर्दू का भी उदय हुआ। इस भाषा का भी सबसे पहला कवि अमीर खुसरू ही है। उर्दू में हिन्दी, फ़ारसी, तुर्की और अरबी के शब्दों का सम्मिश्रण है, क्योंकि यह पड़ाव की भाषा है। इसका व्याकरण हिन्दी के समान है।

**कला**—जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, मुसलमान शासकों की दमन-नीति के कारण गणित, ज्योतिष, रसायन, आयुर्वेद आदि विद्याओं की उन्नति रुक गई थी,

परन्तु कला के कुछ अंग जैसे चित्रण, तक्षण, मूर्तिनिर्माण आदि तो नष्टप्राय ही हो गए। कारण कि इस्लाम धर्म में किसी जीव का किसी प्रकार का चित्र बनाना वर्जित था। परन्तु इस समय में वास्तु-कला तथा संगीत इत्यादि की बहुत प्रशंसनीय उन्नति हुई।

वास्तुकला के क्षेत्र में मुसलमान बादशाहों ने प्राचीन हिन्दू शिल्पियों को नए प्रकार, नए रूप-रंग और नए ढंग के भवन बनाने में लगाया और इस प्रकार उनके हुनर और चातुर्य को नवीन क्षेत्रों में अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखलाने का अवसर मिला। पठान कालीन भारतीय मुस्लिम वास्तुकला की विशेषता यह है कि यद्यपि उसके प्राय सभी मुख्य-मुख्य अंग पूर्व-कालीन हिन्दू कला से लिए गए हैं, तथापि उसमें अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और रूप-रेखा विद्यमान है और ये गुण भिन्न-भिन्न शैलियों में स्थानीय परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। भारत में मुस्लिम वास्तुकला की लगभग १० शैलियाँ है। इनमें दिल्ली की शैली मुख्य तथा सबसे पुरानी है। यहाँ पर पहले हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर उन्हीं के स्थान पर मस्जिदें बनाई गईं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण दिल्ली की जामा मस्ज़िद अथवा कुवतुल इस्लाम मस्जिद में मिलता है। १३वीं सदी में अर्थात् दास वंश के समय में वास्तु की निर्माण-पद्धति में कोई विशेष भेद न हुआ। पुराने हिन्दू मन्दिरों को बदल कर मुसलमान धर्म के उपयुक्त बना लिया गया। हाँ, बलबन के काल में सबसे पहले निर्माण-पद्धति में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ, अर्थात् डाट या मरगोल बजाय टोड़ों के त्रिज्याकार (Radiating) प्रणाली पर बननी शुरू हुई। इस काल में बाहरी खुदाई आदि में भी स्पष्ट परिवर्तन हो गए थे। ख़ल्जी काल में सुलतानों की वास्तु-कला अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की हो गई थी। उसकी सजावट, रचना-शैली अंग-विन्यास, गुम्बद इत्यादि सब बड़े उत्तम एवं कोमल हो गए थे। तुग़लक़ काल में फिर से कोमलता को त्यागकर भवनों को बहुत भयावह, सादा और अजेय तथा अभेद्य रूप धारण करना पड़ा। अलाउद्दीन ख़ल्जी के बनाए हुए अलाई दरवाज़े और ग़यास तुग़लक़ के मकबरे तथा क़िले की तुलना करते ही पता चल जाता है कि दोनों वर्गों की इमारतों में कितनी भिन्नता है। फ़ीरोज़ तुग़लक ने बहुत सी इमारतें बनवायीं। इनमें उसने फिर कुछ कोमलता, सरलता एवं विशालता के गुण लाने का यत्न किया। इसके बाद सुलतानों के वज़ीरों ने अठपहलू ढंग की मस्ज़िदें और मक़बरे बनाने शुरू किए। सिकन्दर लोदी के समय में दोहरे गुम्बद का निर्माण होना शुरू हुआ। यह एक अत्यन्त प्रशंसनीय एवं अद्भुत नवीन मार्ग था।

प्रान्तीय शैलियों में जौनपुर, गुजरात, मालवा, बंगाल, गोलकुण्डा, बीजापुर और बिदर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब की शैलियाँ अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व लिए हुए हैं। जौनपुर शैली की विशेषता मस्जिदों में मीनारों के स्थान पर बीच के भारी-भारी द्वार (Propylon) हैं जो और कहीं नहीं पाए जाते। गुजरात में आबू के प्राचीन मंदिरों की कला का रूपान्तर तथा [illegible]ार है। मालवे की कला

तो केवल दिल्ली की नकल है। परन्तु गुजरात तथा मालवे की इमारतें विशालता तथा दृढ़ता में किसी से कम नहीं हैं। बंगाल में पत्थर की कमी होने से मुख्यत: ईंटों की ईमारतें बनाई गईं। दक्षिण में गुम्बद तथा डाट का अत्यन्त विकास हुआ। भावी मुग़ल कला इसी पठानकालीन कला के आधार पर इतनी उन्नति को प्राप्त हुई।

इस समय में गायन-वादन की भी यथेष्ट उन्नति हुई। अमीर खुसरू ने सामान्य जनता के मनोविनोदार्थ बहुत सी पहेलियाँ तथा गीत बनाए जो अब तक घर-घर में गाए जाते हैं। उसने 'फूलवालों की सैर' नामक एक मेले की स्थापना की जो आज तक दिल्ली में श्रावण मास में बड़े समारोह के साथ होता है और जिसमें बहुत से गाने-बजाने वाले इकट्ठे होते हैं। कहा जाता है कि अमीर खुसरु ने रागों में भी कुछ नई बातें पैदा की थीं।

# दूसरा भाग

# मुगल युग

(लगभग १५२६ से १७०७ तक)
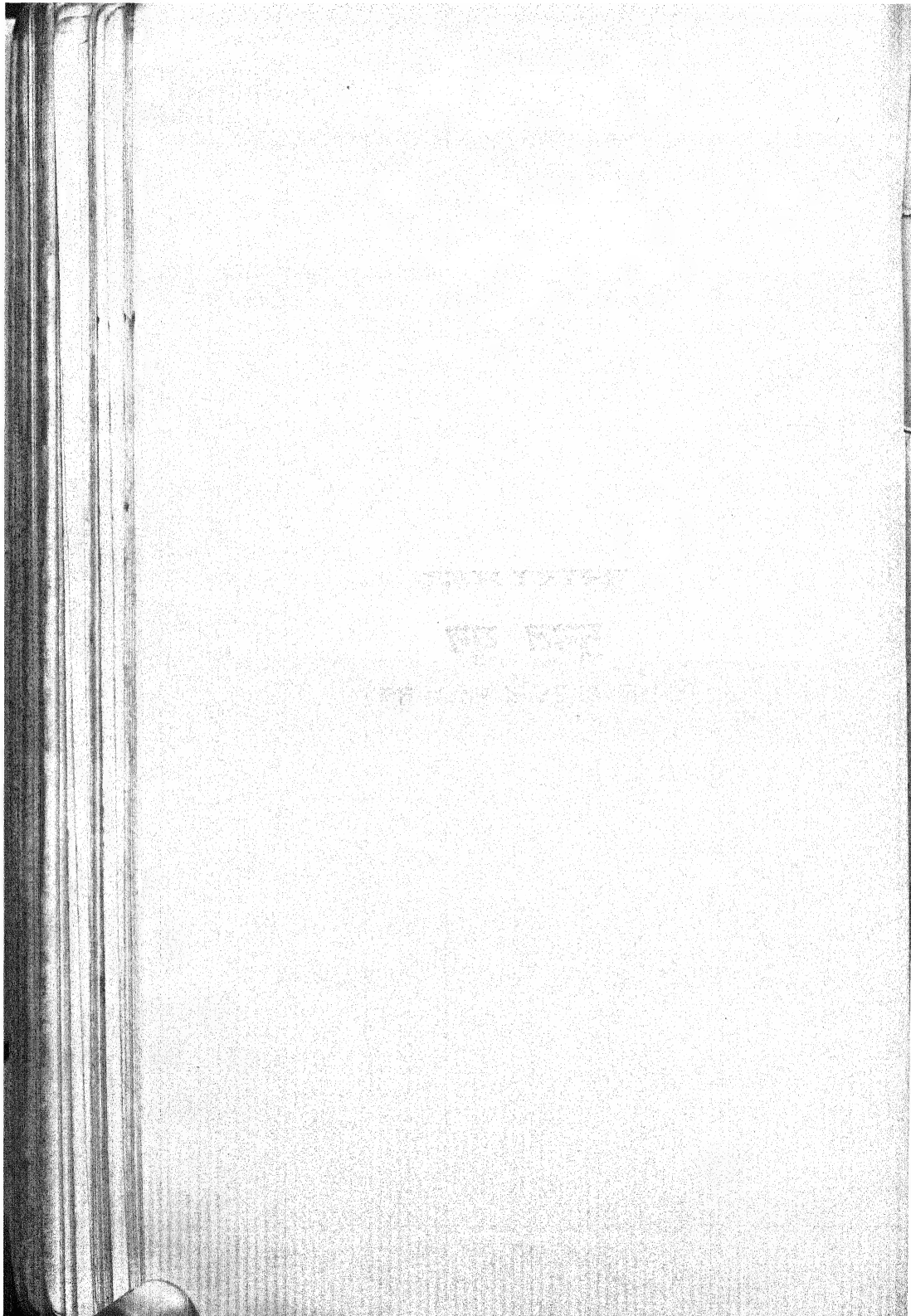
## सातवाँ प्रकरण

# मुगल सत्ता की स्थापना की पृष्ठभूमि

बाईस

## समाज, संस्कृति व राजनीतिक अवस्था

### सामाजिक पतन

**पिछले** अध्याय में प्रायः सन् १००० से १४०० ई० तक के समाज व संस्कृति का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जा चुका है। यहाँ पर मुग़ल राज्य की स्थापना के समय भारतीय समाज और सभ्यता की दशा पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

मुग़ल सत्ता की स्थापना १६वीं शताब्दी के दूसरे चरण में हो गई थी। सामाजिक सुधार का आन्दोलन जो दो-तीन सदियों पहले दक्खिन में शुरू हुआ था, उसका प्रभाव १५वीं शताब्दी में उत्तर भारत तक पहुँच गया था। उत्तराखंड में एक सिरे से दूसरे तक सुधार की एक लहर उठ रही थी। इसका कारण यह था कि भारतीय सामाजिक जीवन का बड़ा पतन हो गया था। उसका शरीर बड़ा जीर्ण हो गया था। जात-पाँत के भेद बड़े वेग से बढ़ रहे थे। **सती** की प्रथा, जिसमें विधवा स्त्रियों को धर्म के नाम पर ज़बरदस्ती उनके मृत पति के साथ जला दिया जाता था, भारतीय समाज का विकराल रूप दिखला रही थी। साथ ही **बाल-विवाह** की प्रथा भी सब जातियों में फैलती जा रही थी। अनेक प्रकार की हिंसा, देवी-देवताओं को बलि देने के नाम पर की जाती थी। बहुत-सी जातियों में बच्चों को, विशेषकर लड़कियों को, जन्म लेते ही मार डालने की प्रथा भी फैल चुकी थी। जनसाधारण में **मूर्ति-पूजा, भूत-प्रेत-पूजा, जड़ पूजा** के रूप में प्रचलित हो गई थी। भारतवर्ष में उस समय हिन्दू-धर्म के तीन मुख्य अंग प्रचलित थे—**शैव, वैष्णव** और **शाक्त** मत। तीनों का वह रूप जो जनसाधारण में प्रचलित था, अत्यन्त विकृत व पतित हो गया था। इन सब मतों की छाया में **मन्दिरों, मठों और देवालयों** में विषयभोग और व्यभिचार धर्म के नाम पर खुले तौर से होते थे। **शाक्त मत की वामाचारी** शाखा ने तो व्यभिचार के अनेक आकार-प्रकारों को ही धर्म की आवश्यक क्रियाओं में शामिल कर लिया था। इस मत के अनुयायी **भिक्षु और भिक्षुणियों** के कुत्सित जीवन तो अकथनीय हैं। परन्तु वैष्णव और शैव मन्दिरों में भी दुराचार की कमी न थी।

इसके अलावा धर्म और सदाचार-परायण जीवन के स्थान पर मन्त्र, तन्त्र, व्रत, अनुष्ठान, अलौकिक शक्ति व सिद्धियों को अधिक महत्व दिया जाने लगा था। कर्मकाण्ड का अर्थ सत्कर्म के स्थान पर क्रिया-कलाप, पूजा-पाठ, व्रत-अनुष्ठान, यज्ञ आदि अनेक कोरे ढकोसलों की शक्ल में बदल चुका था। साथ ही जात-पाँत की जंजीरें इतनी कड़ी होती जा रही थीं कि समाज की संगठित शक्ति को इन भेद-भावों से बड़ी हानि हो रही थी। जात-पाँत के भेदों का सबसे विनाशकारी और घातक पहलू वह था जिसमें कतिपय जातियाँ अपने को सर्वोत्तम व सर्वोच्च मानकर बाकी सबको नीच, अन्त्यज, अछूत और तिरस्करणीय समझने लगी थीं और यह विश्वास धर्म का एक मुख्य अंग ही नहीं वरन् उसकी आधारशिला बन गया था। इस अन्ध-विश्वास के परिणाम-स्वरूप नीची जातियों के साथ जो अन्याय और अमानुषिक व्यवहार हुआ उसने जाति को जर्जर कर दिया। छोटी जातियों को छूना, उनके पास जाना, उनसे किसी प्रकार का सम्पर्क, उनका छुआ अन्न-जल ग्रहण करना, यह सब धर्म-विरुद्ध हो गया। पर सबसे बड़ा अत्याचार उनपर यह हुआ कि उनका विद्याध्ययन, विशेषकर धर्मग्रन्थों के पढ़ने व सुनने तक का अधिकार छीन लिया गया। और यदि कोई अछूत किसी संयोग से भी वेद-मंत्र सुन ले तो कठोर दंड का भागी ठहराया गया। इसके अलावा द्विजों को छोड़कर अन्य सब जातियों का मन्दिरों में प्रवेश करना भी रोक दिया गया। इस प्रकार जात-पाँत के बन्धन बड़े कठोर कर दिए गए। इस कर्म-काण्डी धर्म को संगठित करने और उसका आतंक हिन्दू जाति पर जमाने के अभिप्राय से अनेक ग्रन्थ इस काल में लिखे गए दक्खिन देवगिरि के अन्तिम राजा रामचन्द्र यावद के मन्त्री हेमाद्रि (हेमाड़) ने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें 'धर्म-कर्म' की लगभग २००० क्रियाओं, व्रतों व अनुष्ठानों का एक वर्ष के अन्दर करना प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य ठहराया गया। इस ग्रन्थ में वेद, स्मृति और पुराणों के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि ब्राह्मणों को भोजन कराना हिन्दुओं का मुख्य कर्त्तव्य तथा पुण्य कार्य है। इसी प्रकार पन्द्रहवीं सदी के अन्त में बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् रघुनन्दन आचार्य ने जीवन भर परिश्रम करके, स्मृतियों व अन्य धर्मशास्त्रों इत्यादि से संकलित करके हिन्दुओं के सामाजिक व वैयक्तिक जीवन को नियम-बद्ध करने के लिए एक बड़ी भारी संहिता तैयार की। यह संहिता बंगाली हिन्दुओं के जीवन को आज दिन तक नियन्त्रित करती है। इसी तरह काशी और मिथिला में शूलपाणि उपाध्याय ने परिशिष्ट दीपकलिका, श्राद्धविवेक आदि, कमलाकर भट्ट ने कर्मविपाकरत्न और कलिधर्मनिर्णय आदि और नीलकण्ठ ने व्यवहारतत्त्व आदि ग्रन्थ लिखे जिनमें हिन्दू धर्म, को हजारों प्रकार के कर्मकाण्डों, पूजा-पाठों का ऐसा जाल बना दिया जिसमें फँसकर मनुष्य मानसिक स्वतन्त्रता को भूलकर केवल एक कठपुतली के समान रह जाता है। हिन्दू धर्म को इस प्रकार के जटिल ढाँचे में कसने की कोशिश तो सदियों से हो रही थी। पर १५वीं और १६वीं सदी में इसकी पूर्ति हो गई। समाज के ढाँचे को एक ऐसे

शिकंजे में जकड़ दिया गया जिसमें परिवर्तन का कोई अवसर नहीं रहा। इस अटूट जाल में बँध जाने पर एक हिन्दू को अपने जीवन में कोई नवीनता लाने या इस मानसिक दासता से छुटकर आगे बढ़ने की सम्भावना ही नहीं रही।

**ब्राह्मणों का आतंक**---उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था का सर्वोपरि चिह्न था जन्मना ब्राह्मण वर्ग का हिन्दू मात्र के ऊपर भारी आतंक। हिन्दुओं के जीवन में जन्म से मरण तक कोई अवसर ऐसा न था जहाँ पाधा-पुजारी के बिना कार्य सम्पन्न हो सके। ब्राह्मण चाहे साक्षर हो या निरक्षर, दुराचारी हो या सदाचारी, हर प्रकार से पूजनीय माना जाता था, और उसकी पूजा भी देवताओं के समान होती थी। राजा से रंक तक कोई भी पण्डा वर्ग के आतंक से बचा नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण वर्ग का हिन्दू मात्र के सारे जीवन पर ऐसा अटूट आतंक बैठ गया जिसका उदाहरण कहीं भी कठिनता से मिलेगा। किसी जाति या मानव-विशेष का सबसे अधिक पतन उस समय होता है जब उसकी मनन-शक्ति नष्ट हो जाए या उसका स्वतन्त्रता के साथ विचार करने और स्वयं अपने मार्ग को निश्चय करने का अधिकार उससे छीन लिया जाए। हिन्दू जाति की उस समय ऐसी ही दशा थी। केवल एक सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिकारी वर्ग को बुद्धि से काम लेने और तर्क करने का अधिकार था और बाकी समस्त जाति को अन्धा होकर उनका अनुकरण करना होता था।

**दुर्दशा का कारण**—इस दशा के कारणों को समझना भी आवश्यक है। देश में छठी और सातवीं सदी में धार्मिक और सामाजिक जगत् में क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति का सूत्रपात तो बहुत पहले हो चुका था, पर इसका प्राबल्य गुप्त काल के बाद बड़े वेग से बढ़ा। इसके मुख्यतया दो कारण थे। एक तो महात्मा बुद्ध और महावीर के पुनीत और श्रेयस्कर उपदेशों व सुधारों को उत्कर्ष व अपकर्ष के अटल नियम के अनुसार समाज फिर से भूल गया था, और उसके स्थान पर अनेक सम्प्रदायों एवं कई अन्य मत-मतान्तरों ने भारतीय समाज को जकड़ लिया था। बौद्ध और जैन कहलानेवाला वर्ग भी इस पतन से न बचा। दूसरी बात यह थी कि बुद्ध और महावीर और उनके अनुयायियों के प्रचार से पण्डा और पुजारी वर्ग का महत्त्व और प्रभुत्व बिलकुल नष्ट हो गया। धर्म और धार्मिक वाङ्मय की उनकी ठेकेदारी खत्म हो गई। इन अधिकारों को खोकर पुजारी वर्ग को कैसे सब्र आ सकता था। परन्तु जब तक धर्म में अपनी उपयोगिता एवं पवित्रता के कारण तेज और शक्ति बने रहे तब तक तो प्रतिकूल शक्तियाँ दबी रहीं, पर जब उसका ह्रास हुआ और उसके अन्दर स्वयं भारी त्रुटियाँ आ गईं तब प्रतिक्रियात्मक दल को अवसर मिल गया और उसकी विजय हुई। महात्मा बुद्ध ने सामाजिक जीवन को समुन्नत करने के हेतु जो आचार-धर्म पर विशेष बल दिया था उनके अनुयायी उनके इस मूल आधार को तो भुला बैठे और तार्किक वाद-विवादों के प्रपंच में फँस गए और वेद-निन्दा तथा अनीश्वरवाद को उन्होंने अपने प्रचार में मुख्य स्थान देना शुरू किया। फलतः धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में एक मौलिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति अवश्यम्भावी हो गई। उधर धर्म के

ठेकेदार श्रमणों और उनके सभी सिद्धान्तों को समूल नष्ट करने पर तुले ही बैठे थे। इसी अनुकूल परिस्थिति में जो सामाजिक, धार्मिक और मानसिक क्रान्ति हमारे देश में हुई उसी का नाम नवीन ब्राह्मण धर्म पड़ा और उसी का आतंक आज तक हिन्दू समाज पर बैठा हुआ है। इस नई प्रगति के जन्मदाता और आदि-प्रचारकों में कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य के नाम प्रमुख हैं। इन ऋषियों ने भूली हुई आर्य जाति को उसकी प्राचीन अनमोल सम्पत्ति की फिर से याद दिलाई और वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार की नींव रखी। विकृत बौद्ध मत के नास्तिकत्व को कुमारिल और शंकर ने नष्ट कर दिया। शंकर के कुछ समय बाद रामानुज ने भी वेद-वेदांग पर ही अपने धर्म-प्रचार की नींव रखी और उसी वाङ्मय के आधार पर शंकर के निर्गुण एवं अद्वैत के स्थान पर विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया। नवीन ब्राह्मण धर्म की दार्शनिक रूप से यही दो मुख्य धाराएँ थीं। यद्यपि इनमें दार्शनिक रूप से मौलिक विरोध था तथापि जनसाधारण के लिए जिस आचार और धर्म का प्रसार इन दो मुख्य धाराओं के द्वारा हुआ उसमें विशेष कोई विरोध न था। सामाजिक क्षेत्र में शैव और वैष्णव धर्मों की दोनों धाराएँ मिलकर एक हो गईं और अन्त में कर्मकाण्ड, व्रत व अनुष्ठान आदि उस अनन्त प्रवाह के रूप में प्रकट हुए जिसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं।

**नवीन ब्राह्मण धर्म का सार्वजनिक रूप**—यह स्वाभाविक ही था कि दार्शनिक तत्वों की गहराई और बारीकियों को सामान्य जनता न तो समझ ही सकती थी और न उसमें विशेष रुचि ही रखती थी। वस्तुतः इस अरुचि और अज्ञान का कारण यह था कि विद्या, धर्म और वेद-शास्त्रों के दावेदार यह चाहते ही न थे कि सर्व-सामान्य अपनी बुद्धि और विवेक से काम ले। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, एक-दो उच्च जातियों को छोड़कर बाकी सबसे तो इन दावेदारों ने पढ़ने-लिखने तक का अधिकार छीन ही लिया था परन्तु धर्मशास्त्र के पढ़ने, जानने और उसकी व्याख्या करने का तो सर्वाधिकार उन्होंने केवल अपने लिए ही रक्षित कर लिया था। परिणाम यह हुआ कि जनता अन्धविश्वासों के गोरखधन्धे में इतनी फँस गई कि धर्म के नाम पर घृणित से घृणित अत्याचार, दुराचार और क्रूरता के काम करने में भी इस पशुवत नकेल में बँधी जाति को कोई हिचक न होती थी। अनेक मन्दिरों में स्त्रियाँ अपने को देवता को अर्पण कर देती थीं और वहाँ पुजारी उसके साथ कैसा व्यवहार करते थे, सो कहने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार बहुत से मन्दिरों में दुर्गा व काली आदि के नाम पर असहाय पशुओं की बलि अत्यन्त निर्दयता के साथ वही भारतीय देवियाँ अपने सामने दिलवाने में अपना परमधर्म मानने लगीं जो सामान्य जीवन में एक कीड़े को मारने में हिंसा मानेंगी। यह सब और इसी प्रकार के बेहद पतित रिवाज सब धर्म के नाम पर उस भारतीय जनता के सर पर सवार हो गए जो किसी समय धार्मिक व दार्शनिक मामलों में पूर्णरूप से स्वतन्त्र थी।

**प्राचीन व नवीन धर्म**—इस प्रकार सर्वसामान्य के आचार-विचार तथा वैयक्तिक और सामूहिक कार्यों पर जो इस नवीन ब्राह्मणधर्म के पण्डा-प्रचार का प्रभाव पड़ा वह प्राचीन विमल वैदिक धर्म के पुनीत सत् एवं विवेकपूर्ण शिक्षा से बहुत दूर ही नहीं वरन् उसके नितान्त विरुद्ध था। इस उल्टे व्यवहार के क्या कारण थे इस विषय की समीक्षा करने का यहाँ अवसर नहीं है। परन्तु उस युग के सामाजिक इतिहास की वास्तविकता को अच्छी तरह समझने से यह विदित होगा कि जिस काल को प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार का काल माना जाता है उसका वास्तविक रूप ऐसा नहीं था। उसकी आत्मा, उसका मौलिक तत्व, उसका आधार-भूत सिद्धान्त, वैदिक संस्कृति के विपरीत थे। इतिहास के विद्वानों ने इस युग को 'नवीन ब्राह्मण धर्म' के नाम से पुकारा है। यह नाम अत्यन्त यथार्थ है। यह नवीन धर्म वास्तव में वैदिक धर्म नहीं बल्कि एक जातीय सम्प्रदाय या पंथ के रूप में ही प्रादुर्भूत एवं विकसित हुआ। हिन्दुओं के सर्वोच्च नेता और हिन्दू धर्म के ठेकेदार आज जिस भ्रम में पड़े हैं वह यही है कि जिस नवीन पण्डापंथ रूपी अत्यन्त पतित एवं विनाशकारी दलदल के गर्त में वे फँसे हैं और जिस पंथ ने उनके विवेक, निष्पक्षता, न्यायप्रियता पर परदा डालकर उनको अत्यन्त संकुचित एवं संकीर्ण बना दिया है, वही पंथ प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवित रूप है। परन्तु, जैसा अभी कहा जा चुका है, वास्तविकता इसके बिलकुल विपरीत है। इस 'नवीन ब्राह्मण धर्म' के मुख्य चिह्नों के जान लेने से हमारे उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाएगी। इस धर्म का सबसे बड़ा और मौलिक चिह्न यह है कि इसका साहित्य (जिसके कुछ उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं) प्राचीन वैदिक वाङ्मय के वास्तविक रूप और सिद्धान्तों को नहीं दर्शाता, प्रत्युत उसके एक विकृत रूप में प्रकट होता है। इस साहित्य की उत्पत्ति प्रायः पुराणों, जैन तथा बौद्ध धर्म के अपभ्रष्ट साम्प्रदायिक साहित्य के सम्मिश्रण से हुई। इसके अलावा इस धर्म के प्रचारकों ने जो सबसे निकृष्ट और हानिकारक काम किया वह यह था कि स्वार्थ-सिद्धि के हेतु प्राचीन धर्मशास्त्रों,—स्मृतियों, महाभारत, रामायण इत्यादि—में अनेक प्रकार की कल्पित बातों को मिलाकर भोली-भाली जनता को बहकाया और उसके अज्ञान का बड़ा दुरुपयोग किया। कालान्तर में भारतीय समाज का समस्त जीवन इस नवीन साहित्य का क्रियात्मक चित्र बन गया। इस नवीन सभ्यता एवं जातीय संगठन का मूलाधार था। ब्राह्मण जाति का जन्म से कुलीन और सर्वोच्च होने का दावा, जो वैदिक सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध था। परन्तु दुर्भाग्य से आर्य जाति मनन व विचारशक्ति को बिलकुल खो बैठी थी। समाज का ढाँचा क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक क्या धार्मिक इसी सिद्धान्त की बुनियाद पर खड़ा कर दिया गया था लेकिन किसी में इतनी हिम्मत न थी कि इस अनृत के विरुद्ध आवाज उठा सकता।

**जाति-पाँति के भेद**—प्राचीन क्षत्रियों के प्रतिकूल इस युग के क्षत्रिय भी ब्राह्मण-वाक्य के अन्धविश्वासी हो गए थे। समस्त मानव-समाज के दो टुकड़े कर

दिए गए अर्थात् एक द्विज, कुलीन, पवित्र, उच्च वर्ग और दूसरा द्विजेतर, शूद्र, नीच, अन्त्यज, अपवित्र, अछूत। इस प्रकार मनुष्य मात्र की समानता तथा एकता के सुनहले सिद्धान्त को और वर्णाश्रम धर्म के वैज्ञानिक सिद्धान्त को मिटाकर इस नवीन सभ्यता के स्रष्टाओं ने जन्मना जाति के विषैले सिद्धान्त को प्रचारित किया। इसी विनाशकारी सिद्धान्त के परिणाम-स्वरूप जात-पाँत के भेद, ऊँच-नीच में अमानुषिक भाव, एक ओर अहंकार और प्रमाद, दूसरी तरफ़ आत्मविश्वास का अभाव, अन्ध-विश्वास भीरुता, जड़पूजा, रूढ़िवाद और अनेक प्रकार के पाखण्डों की दासता, कर्मकाण्ड का अत्यन्त विकृत और क्रूर रूप जिसमें अनेकों निर्वाक जीवों की बलि देना धर्म का अंग माना जाने लगा, इत्यादि अनेक सर्वथा विवेकशून्य रीतियों और परिपाटियों ने ही हमारे वैयक्तिक और सामाजिक धर्म का स्थान ले लिया। इसी तत्वहीन पंथ के अनुगामी बन जाने से भारतीय जनता हर प्रकार से पंगु हो गई और अपनी अन्तःशक्ति का उपयोग न कर सकी। उसमें स्वतंत्र विचार करने, समय और परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन व परिशोधन करने की क्षमता एवं साम्य और संगठन की शक्ति का नितांत अभाव हो गया। देश के एक बहुसंख्यक वर्ग अर्थात् अन्त्यज और शूद्रों पर अन्याय होने लगे। उनके बहुत से मानव-अधिकार छीन लिए गए। स्त्रीजाति को भी उसी गढ़े में ढकेल दिया गया और अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर लगा दिए गए। उनके लिए भी विद्याध्ययन वर्जित कर दिया गया।

**श्रमणों का पतन**—बौद्ध और जैन धर्म के प्रचारकों ने पुजारी वर्ग के अधिकारों की जड़ खोदकर सदाचार, मानव-समाज की समानता और एकता तथा जनता के समानधिकारों की शिला पर धर्म स्थापित किया था। परन्तु कालान्तर में बौद्ध तथा जैन दोनों धर्मों का अत्यन्त पतन हुआ। वे अपने प्रवर्त्तकों के पुनीत प्रचार को भूल गए। उनके साहित्य में भी उसी पतन का नक्शा खींचा गया। ऐसी परिस्थिति में जब **नवीन ब्राह्मण धर्म** की प्रतिक्रिया ने बल पकड़ा तो जैनियों ने तो नवीन धर्म का जामा पूरी तरह पहनकर अपनी जान बचाई और बौद्धों को धीरे-धीरे देश से भागना पड़ा। बौद्धों से चिढ़कर ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर जनता के ऊपर यहाँ तक बन्धन लगाए कि हिन्दू-तीर्थों की यात्रा के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए उन प्रदेशों में हिन्दुओं का जाना वर्जित कर दिया गया जहाँ-जहाँ बौद्धों या उनके तीर्थों आदि का अधिक प्रभाव था। इस उद्देश से अनेक श्लोक गढ़कर धर्मग्रन्थों में ठूँस दिए गए।

आगे चलकर ऐसे ही स्वार्थ तथा मूर्खतापूर्ण प्रतिबन्धों का परिणाम यह हुआ कि देश की सीमा के बाहर जाने अथवा समुद्र-यात्रा करने से हिन्दुओं के धर्म व जाति नष्ट होने लगे। इस जड़ सभ्यता का प्रवाह कई सदियों तक निःशंक बहता रहा। फल यह हुआ कि १०वीं सदी से मुसलमानों के आक्रमण होने शुरू हो गए और अन्त में देश की राजनीतिक स्वाधीनता छिन गई। मुसलमानी सत्ता कायम होने से घाव पर नमक छिड़का गया। द्विजेतर जातियों पर अपने ही भाइयों के

अत्याचार कम न थे, अब दोनों के अन्याय से उनकी आत्मा तड़प उठी। इधर उच्च जातियों पर भी अनेक विजेताओं ने धार्मिक अत्याचार शुरू किए यद्यपि इस परिस्थिति में भी मानव-समानता के न्यायपूर्ण सिद्धान्त का सहारा लेने के बजाय ब्राह्मण वर्ग मुसलमानी राजाओं से भी अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त करने की सतत चेष्टा करता रहा। इन अत्याचारों और विषय-वासना तथा अन्ध-परम्परा के संकीर्ण और दम घोंटनेवाले वायुमण्डल में भारतीय समाज की आत्मा स्वतंत्रता के लिए बिलबिला उठी। समाज का हृदय आत्मिक व सामाजिक स्वातन्त्र्य, मनुष्यमात्र के समानाधिकार, विश्वप्रेम, आत्म-सम्मान व आत्मविश्वास एवं राजनीतिक स्वाधीनता के लिए उत्तेजित हो गया।

**मुसलमानों की दशा**—दूसरी ओर मुस्लिम जनता के अन्दर लगभग तीन सदियों में कैसी तबदीलियाँ आयीं इस विषय की विवेचना भी आवश्यक है। मुसलमान भी इस समय के भारतीय समाज का एक आवश्यक अंग थे। बाहर से आए हुए मुसलमानों की संख्या तो बहुत ही कम थी और वे प्रायः बड़े-बड़े शहरों तक ही सीमित थे। हिन्दुओं में से धीरे-धीरे कुछ लोगों ने इसलाम-धर्म स्वीकार कर लिया। गाँवों में भी कुछ लोग मुसलमान हो गए। इस धर्म-परिवर्तन के अनेक कारण थे जिनका विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए। जहाँ अनेक हिन्दुओं ने धर्म-परिवर्तन शायद मुस्लिम शासकों की दमन-नीति के कारण किया होगा वहाँ अवश्य ही बहुतों ने अपने संकीर्ण दृष्टि वाले हिन्दू भाइयों के तिरस्कार और दुर्व्यवहार से विवश होकर धर्म-परिवर्तन किया ; स्वाभाविक ही था कि इस नवीन मुस्लिम समाज के दैनिक जीवन में तथा उनके विश्वास, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार इत्यादि में एकाएक कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसी का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू और मुस्लिम जनता के सामाजिक व व्यावसायिक जीवन में कोई विशेष अन्तर न हो पाया। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि हिन्दुओं के करोड़ों देवताओं की पंक्ति में प्रायः सैकड़ों मुस्लिम और पीर-पैगम्बर भी शामिल हो गए जिनको हिन्दू-मुस्लिम जनता समान रूप से पूजने लगी और आज तक पूजती है।

**सन्तों का कार्य**—पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में समाज की इतनी भारी दुर्व्यवस्था हो गई थी कि अनेक मुस्लिम सूफी व हिन्दू साधु एवं सुधारकों ने समाज के इन दोनों अंगों को सुधारने में अपना सारा जीवन लगा दिया। दक्षिण में तो कई सदियों पहले से ही जाति की ऐसी दीन अवस्था को सुधारने की चिन्ता साधु-सन्तों को शुरू हो गई थी। वहाँ पर अनेक साधु-सन्तों ने ऊँच-नीच के भेद-भावों, जाति-पाँति के बन्धनों एवं अन्य इसी प्रकार कुरीतियों से हिन्दू समाज को मुक्त करने का बीड़ा उठाया। इन सुधारकों और सन्तों के प्रचार का मुख्य आधार था सदाचार का जीवन और भगवद्भक्ति। इन्होंने हिन्दुओं को यही शिक्षा दी कि जाति-पाँति के भेद-भाव मिथ्या हैं और देवी-देवताओं

के प्रति अन्ध-विश्वास, पूजा-पाठ मनुष्य को नीचे गिराने के हेतु हैं। इसके प्रतिकूल सबके साथ समानता का व्यवहार और ईश्वर-भक्ति ही सच्ची साधना है और इसी के बल पर मनुष्य-समाज का उत्कर्ष हो सकता है।

**भक्ति-मार्ग**—उत्तर भारत में समाज-सुधार का आन्दोलन लगभग १५वीं सदी में आरम्भ हुआ। इस प्रगति के मुख्य नेताओं में रामानन्द और कबीर ने काशी के आस-पास, चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में, नानक ने पंजाब में, रैदास और मीरा-बाई ने राजपूताने में समाज-सुधार का विशेष कार्य किया। पुजारी वर्ग के एका-धिकार को मिटाकर इन सन्तों ने जनता को आत्मसम्मान की शिक्षा दी और संस्कृत को छोड़कर सर्वसाधारण की भाषा में धर्म-प्रचार किया। इस प्रकार धर्मग्रन्थ किसी एक वर्ग की सम्पत्ति न बनकर जनसाधारण की सम्पत्ति बन गए और धर्म ने प्रजातन्त्रात्मक रूप धारण कर लिया। श्री रामानन्द के शिष्यों में जाट, नाई, चमार, मुसलमान आदि सभी जातियों के मनुष्य थे, जिन्होंने देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूम-घूमकर धर्म-प्रचार किया। इनके इसी प्रचार का नाम भक्ति-मार्ग पड़ा। इन सन्तों के प्रचार में एक बात अत्यन्त ध्यान देने योग्य है। वह यह कि अब तक लगभग सभी विद्वान और इतिहासज्ञ यही मानते आए हैं कि इन सन्तों का मुख्य उद्देश हिन्दू मुसलमानों के परस्पर द्वेष को मिटाकर एकता का प्रचार करना था। परन्तु इतिहास का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। इस विषय में जो सर्वव्यापी भ्रान्ति हुई है, उसका कारण है उस समय के कुछ मुस्लिम शासकों की धार्मिक असहनशीलता एवं संकीर्णता की नीति। इस शासक वर्ग को छोड़कर साधारण मुस्लिम जनता का, जो कि प्राचीन हिन्दू जनता का ही एक अंग थी, हिन्दू जनता के साथ किसी प्रकार का वैर-विरोध न था। परन्तु उन्होंने शासकों के अन्याय-अत्याचार से बचने के लिए धर्म-परिवर्तन कर लिया था। दोनों वर्गों की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक आदि विभिन्न समस्याएँ व परिस्थितियाँ एक ही समान होने के कारण उनके परस्पर सम्बन्धों में कोई विरोध पैदा नहीं हुआ। यद्यपि समाज के परस्पर-विरोधी विभिन्न वर्गों में वैमनस्य, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छूत-छात के विषैले तथा विनाशकारी भावों को उत्तेजित करने में मुल्लाओं और पंडा-पुजारियों ने कोई कसर उठा न रखी थी। इस युग के सामाजिक इतिहास के मौलिक सूत्र को गहराई से समझने के लिए यह जान लेने की आवश्यकता है कि उपर्युक्त अनेक भेद-भावों में बँट जाने पर भी प्राचीन भारतीय आत्मा की मौलिक एकता और पारस्परिक प्रेम व सहयोग के अटूट भावों ने उन भेदभावों की खाई को पार करके अपनी एकता को नष्ट होने से बचाया। भारतीय जन-समाज के जीवन के इस मूल-मन्त्र को न समझ पाने के कारण ही इन सन्तों के कार्य व उद्देश के बारे में प्रायः सभी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। परन्तु ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से सिद्ध होगा कि उस समय के सन्त-सुधारकों ने बेरोक-टोक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही वर्गों के कठमुल्लों की जड़ पर कुठाराघात किया तथा जनता को उनके पंजे से

छुड़ाने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही हर प्रकार की कुरीतियों और अन्ध-विश्वासों एवं मुस्लिम शासकों के अत्याचारों एवं अनुचित आचार-व्यवहार की भी बेधड़क निन्दा की।

**प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति**—इन सन्तों का जनसाधारण की भाषा में धर्म-प्रचार करने का परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दी भाषा के विभिन्न अंगों की भारी उन्नति हुई और उसका साहित्य धार्मिक व भक्तिभाव के उच्चतम ग्रन्थों से भरपूर हो गया। मध्यकालीन सन्तों के सिद्धान्तों अथवा विश्वासों में चाहे जितनी भिन्नताएँ रही हों (ऐसा होना स्वाभाविक ही था) परन्तु उनके समाज सम्बन्धी कार्य का उद्देश भारतीय जनता को पतित अवस्था से उठाकर ऊँचे मानवीय स्तर पर ले जाना तथा उसका समन्वय करना था। इस दृष्टि से उन सबके प्रचार का लक्ष्य एक ही था और जो कार्य इन सन्तों ने सर्वसाधारण के बीच से उठकर किया उसी लक्ष्य को अपने सम्मुख रखकर महान अकबर ने राज्यशक्ति के द्वारा सम्पन्न करने का जीवनभर प्रयास किया। १६वीं शती की सामाजिक अवस्था की इसी विशेषता को न समझ पाने के कारण आधुनिक इतिहासज्ञों ने केवल अकबर के चरित्र को ही समझने में भूल नहीं की है प्रत्युत उस युग के सन्तों के कार्य एवं उद्देश का मूल्यांकन करने में भी उतनी ही भूल की है।

इस प्रकार के सामाजिक व सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव और उस युग की आर्थिक दशा का निर्देश पहले किया जा चुका है। जातीय जीवन के इन सब पहलुओं में मुगल साम्राज्य के युग में किस प्रकार के परिवर्तन हुए इस सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा।

## (आ)

## मुगल साम्राज्य की स्थापना के समय देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति

**बाबर का आना**—दिल्ली की तुर्क-अफ़गान-सत्ता का ह्रास १५वीं सदी में हुआ। इस काल में दिल्ली साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रादेशिक सूबेदारों ने और कई प्राचीन हिन्दू राज्यों के उत्तराधिकारियों ने मुसलमानी आतंक को नष्ट करके स्वतन्त्र सत्ताएँ कायम करलीं। राजपूताने के उन हिन्दू राज्यों ने भी जो सल्तनत के उत्कर्ष-काल में क्षीण हो गए थे, फिर से अपनी सत्ताओं को बढ़ाना शुरू कर दिया। इन सब राज्यों का उल्लेख पहले भाग में किया जा चुका है।

राजनीतिक दृष्टि से १६वीं सदी का पूर्वार्द्ध एक युग-परिवर्तन का काल था। इस काल में लोदी सुलतानों के हाथ से वह संकुचित साम्राज्य,जो तुगलकों के वक्त में ही बहुत सिकुड़ गया था, छिन गया। अन्त में मुगल सत्ता स्थापित हो गई साम्राज्य प्राप्त करने के इच्छुक कई योद्धा इस संघर्ष क्षेत्र में उतरे हुए थे। जब बाबर का पैतृक राज्य उससे छिन गया और उसे अपने खोए हुए राज्य को वापस लेने की

कोई आशा न रही संयोग से उसी समय हिन्दुस्तान की दशा इतनी डावाँडोल थी कि वहाँ वह एक नया राज्य स्थापित करने की आशा कर सकता था। इसलिए उसने इस देश को जीतकर यही अपना राज्य कायम करने का निश्चय कर लिया और इस उद्देश को पूरा करने के लिए हमले शुरू कर दिए। परन्तु उसके मुकाबले पर दो बड़ी शक्तियाँ हिन्दुस्तान में प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही थीं। एक तो राणा संग्रामसिंह (साँगा) था जिसके पूर्वजों ने १५वीं सदी में चित्तौड़ के राज्य तथा शक्ति को इतना विस्तृत कर लिया था कि राजपूतों के समस्त राजाओं ने उसे अपना नेता मान लिया था। सांगा दिल्ली को जीतकर उत्तर भारत का सम्राट बनने की चेष्टा कर रहा था। राजपूतों के साथ भी कुछ अफगान ऐसे शक्तिशाली थे जो बाबर को विदेशी आक्रामक समझते थे और उसे देश से निकाल देने की फिक्र में थे। इन अफगानों के अन्दर एक अत्यन्त यशस्वी और महत्वाकांक्षी वीर पैदा हो चुका था जो बिहार में अपनी नींव पक्की कर रहा था। इसका नाम शेरखाँ था। शेरशाह ने बाबर के बाद हुमायूँ को देश से निकालकर ही छोड़ा। परन्तु भाग्य ने जल्दी ही पल्टा खाया। बादशाह बनने के ५ साल बाद ही उसकी अकस्मात मृत्यु हो गई।

**हुमायूँ**—शेरशाह का बेटा उसके समान योग्य न था पर उसने भी १० वर्ष के लगभग राज किया। उसके वंशज अत्यन्त अयोग्य निकले। इस बीच में हुमायूँ देश-विदेश घूमकर सशक्त हो गया। सूरी वंश के उत्तराधिकारियों की हीन दशा का समाचार पाते ही उसने भारत पर फिर से हमला किया तथा पंजाब और दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया। इस घटना के कुछ ही दिन बाद अकबर महान का आगमन हुआ। उपर्युक्त राजनीतिक परिवर्तन के कारणों पर दृष्टि डालने से पता चलेगा कि यद्यपि इतिहास की प्रगति में दैव का प्रभाव भी अनिवार्य है तो भी वास्तविक परिस्थिति ही मुख्यतया किसी देश अथवा जाति के भाग्य का निर्णय करती है। मध्ययुग के हिन्दू राज्यों का क्यों ह्रास हुआ और क्यों विदेशी आक्रमणकारियों के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ा, इसके कारण हमको हिन्दू जाति और हिन्दू राजाओं की कमजोरियों में ही मिलेंगे। इसी प्रकार दिल्ली की सल्तनत के पतन और विनाश के कारण भी उसकी अपनी आन्तरिक त्रुटियों और निर्बलता में ही मिलेंगे।

जब तीमूर के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत प्रायः नष्ट हो गई, और दिल्ली में कोई शासक न रहा, तो मुल्तान के शासक खिज्र खाँ ने इस मौके से फायदा उठाया और दिल्ली का शासक बन बैठा। परन्तु तीमूर के बेटे शाहरुख का यह ताबेदार बना रहा। सैयद सुलतान सल्तनत का उद्धार न कर सके। समस्या बड़ी गहन थी। सारे उत्तर भारत में अराजकता फैली हुई थी। प्रादेशिक राज्यों की शक्ति केन्द्रीय शक्ति के नष्ट हो जाने के कारण और भी बढ़ती जा रही थी और वे अब सल्तनत को भी हड़प जाने की फिक्र में थे। दिल्ली इस संकट के समय में इन प्रादेशिक शासकों के हाथ में पड़ने से बची रही। इसका कारण था उनके आपस

के झगड़े और शत्रुता। मालवा के सुलतानों ने अगर उत्तर की तरफ जमुना नदी तक कदम बढ़ाया तो जौनपुर के सुलतानों ने उन्हें पीछे हटाया। गुजरात और चित्तौड़ की शक्ति एक प्रकार से बराबर तुली हुई थीं। वे एक-दूसरे के आगे बढ़ने और राज्य-विस्तार करने में बाधक थी। सैयदों के बाद जब लोदी वंश के अफ़गान दिल्लीश्वर बने तो उनकी अपनी घरेलू समस्याएँ ऐसी जटिल थीं जिनके कारण उनका उभरना ही बड़ा कठिन था। फिर भी लोदियों ने बड़ी क्षमता से काम लिया और बड़ी कामयाबी के साथ अपनी घरेलू और बाहरी कठिनाइयों का मुकाबला करते हुए सल्तनत को फिर से जीवित करने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु इन सुलतानों की योग्यता सीमित थी और समस्या अत्यन्त जटिल। उनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि वे सल्तनत को पुराने सिद्धान्तों के आधार पर पुनर्जीवित करना चाहते थे, परन्तु अब परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। एक नए दृष्टिकोण तथा उन्नतिशील उदार नीति की आवश्यकता थी। देश का राजनीतिक नेता बनने और सफलता के साथ राज्य-निर्माण का भारी बोझ उठाने के लिए एक ऐसे प्रतिभाशाली महान वीर की आवश्यकता थी जिसमें वीरता, सैनिक कौशल, नैतिक विवेक के साथ-साथ उदारता, साम्राज्य और राष्ट्रनिर्माण की समझ एवं आकांक्षा ये सब गुण पाए जाते हों। यदि ऐसा कोई वीर भारतीय इतिहास के चित्रपट पर उस युग में न आया होता तो देश छोटे-छोटे राज्यों के परस्पर वैमनस्य और लड़ाई झगड़ों का ही चित्र बना रहता। परन्तु राष्ट्रीय एकता और साम्राज्य स्थापना के कार्य की बुनियाद एक सुयोग्य शासक के हाथों से रखी गई। कह चुके हैं कि इतिहास की प्रगति में दैव का भी काफी प्रभाव देखा जाता है। इसका सबसे रोचक उदाहरण यह है कि मुग़ल साम्राज्य के संगठन की आधारशिला मुगल वंश के घोर शत्रु और एक समय उस वंश को नष्ट करने वाले एक पठान सुलतान के हाथों रखी गई। उसकी क्षमता से वह दृढ़ हुई। देश को आवश्यकता थी राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रीय संगठन की और एक ऐसे सुदृढ़ शासक की जिसकी छत्रछाया में जनता सुखी, सुरक्षित और जाति हर प्रकार की उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सके। अपनी-अपनी सत्ता और प्रभुत्व स्थापित करने के लिए दो योद्धा संघर्ष कर रहे थे, एक अफ़गान दूसरा तुर्क परन्तु दैव के हाथों में ये दोनों ही एक कठपुतली के समान थे और नियति के निर्देश का वे दोनों ही पालन कर रहे थे। पहले ने भवन की बुनियाद रखी, दूसरे ने उसपर राजनीतिक भवन खड़ा करके राष्ट्र के हर पहलू को परिपक्व और समुन्नत करने का जीवन भर प्रवास किया और एक स्थायी साम्राज्य स्थापित कर दिया।

राजनीतिक दिशा—राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष इस समय जितनी रियासतों में बाँटा हुआ था, उन सबको हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं सबसे उत्तर में हिमालय प्रदेश की रियासतें थीं। ये रियासतें अति प्राचीन काल से अपनी पर्वतीय नैसर्गिक प्राचीरों के अन्दर सुरक्षित रहने के कारण प्रायः स्वाधीन बनी रहीं। केवल

एक दो को छोड़ इनमें से दिल्ली के बड़े-बड़े शासक किसी के ऊपर अपना आतंक नहीं जमा सके। उत्तर-पश्चिम से पूरब तक इस प्रदेश में बहुत सी रियासतें थीं। इनमें से १४वीं सदी के मध्य में काश्मीर पर मुसलमानी सत्ता कायम हो गई थी। कांगड़े के ऊपर एक-दो बार बाहरी आक्रामकों के हमले हो चुके थे। मुहमद तुग़लक ने भी एक बार हिमालय प्रदेश के उस भाग पर हमला किया था जो आजकल रुहेलखण्ड और कुमाऊँ कहलाता है। परन्तु उसको बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी। उसकी सारी सेना पहड़ों में नष्ट हो गई। हिमालय के दक्षिण में वे रियासतें थीं, जो उत्तराखण्ड के समतल प्रदेश पर शासन कर रही थीं। पश्चिम में सिन्ध और पंजाब लगभग स्वतन्त्र हो चुके थे और दिल्ली की सल्तनत का कोई नियन्त्रण इनके ऊपर नहीं था। दिल्ली की सल्तनत को लोदी सुलतानों ने फिर से उभारने की चेष्टा की और दक्षिण में ग्वालियर तक तथा पूरब में बिहार तक जीतकर सल्तनत में मिला लिया। दिल्ली सल्तनत के पूरब में बंगाल था। इस प्रदेश के पश्चिमी भाग के उत्तर में पंजाब लोदी वंश के सामन्तों के हाथ में था, परन्तु उसका निचला भाग अर्थात राजपूताना हिन्दू रियासतों में बाँटा हुआ था जो इस समय केवल स्वाधीन ही नहीं हो गया था परन्तु मेवाड़ के नेतृत्व में संगठित हो गया था और दिल्ली पर कब्ज़ा करने की चेष्टा कर रहा था। राजपूताने के पूर्वीय पहाड़ी प्रदेश बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड में कई छोटी-छोटी हिन्दू रियासतें मौजूद थीं और उनकी स्वाधीनता भी अभी तक कायम थी। राजपूताने के दक्षिण-पूरब और दक्षिणी पश्चिम में तीन बड़े-बड़े मुसलमानी राज्य थे। इनमें गुजरात सबसे शक्तिशाली एवं विशाल राज्य था। दूसरा मालवा के ख़ल्जी सुलतानों का राज्य भी बहुत बड़ा और सम्पन्न था। तीसरा राज्य खानदेश का था, जो ताप्ती नदी के कोठे में गुजरात के दक्खिन में फैला हुआ था। इन राज-समूहों के अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी इसी प्रकार सारा प्रदेश दो बड़े-बड़े राज्यों में बँटा हुआ था जिनमें विन्ध्यमेखला और ताप्ती नदी के दक्षिण का सारा भाग लगभग कृष्णा नदी तक बहमनी राज्य के अन्तर्गत था और बहमनी राज्य के दक्षिण का सारा प्रदेश विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत।

**आर्थिक स्थिति**—आर्थिक दृष्टि से समाज आजकल की भाँति मुख्यतया तीन वर्गों में बँटा हुआ था। एक उच्च वर्ग था, जिसको आजकल के शब्दों में पूंजीपति कहा जाता है। इसमें राजे-महाराजे और दूसरे छोटे-बड़े शासक, सामन्तगण, बड़े-बड़े राजकीय पदाधिकारी, धनवान, रईस और दौलतमन्द शामिल थे। दूसरे वर्ग में शामिल थे छोटे-छोटे सामन्त और सरकारी पदाधिकारी और प्रायः बड़े-बड़े शहरों में रहने वाले सामान्य व्यापारी लोग। तीसरे वर्ग में, जिसकी तादाद सबसे बड़ी थी, गाँव के किसान लोग और मजदूरपेशा तथा सरकारी फौज के सिपाही, विशेषकर पैदल सेना के लोग और अन्य उसी दर्जे के कर्मचारी शामिल थे।

**तीन वर्ग**—इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन तीन वर्गों की आर्थिक अवस्था

में भारी अन्तर था और देश की उपज और व्यापार एवं दस्तकारी की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा उच्च वर्ग के भोग-विलास अथवा राज-काज के अन्य कामों में खर्च होता था। परन्तु विचारणीय बात यह है कि ऐसी अवस्था में भी निचले वर्ग की जनता अथवा दस्तकार श्रमजीवी और ग्रामीण लोगों को खाने-पहनने की आवश्यक वस्तुओं की कोई कमी नहीं थी। इस विषय में कुछ कहने से पहले हम संक्षेप में ऊपर के वर्ग के आर्थिक जीवन के बारे में बतलाएँगे। जैसा हम कह आए हैं, राज्य की आय का एक बहुत बड़ा भाग हिन्दू राजा और मुसलमान सुलतान दोनों ही भोग-विलास तथा अपने अन्य शौक की चीजों पर खर्च करते थे। बड़े-बड़े भवन, प्रासाद, दुर्ग इत्यादि बनवाने का प्रायः इन सभी लोगों को बहुत शौक था। मुसलमान बादशाह अपनी मस्जिदों और मकबरों पर भी बहुत खर्च करते थे और इनमें सभी को यह उमंग रहती थी कि अपनी नई राजधानी बसाएँ। किसी-किसी को बहुत-से शहर बसाने का शौक होता था। इसके अतिरिक्त यह लोग दरबार की शान-शौकत पर भी बड़ा खर्च करते थे। इनके महलों में सैकड़ों-हजारों नौकर-नौकरानियाँ, बाँदियाँ इत्यादि होती थीं और इनके भोजनालय पर बहुत भारी खर्च होता था। एक और भारी खर्च की मद यह थी कि यह लोग अपने वजीरों और बड़े-बड़े सरकारी नौकरों को खिलअत इत्यादि अनेक कीमती सामान दिया करते थे। बाहरी मेहमानों पर भी बहुत खर्च होता था। सरकारी कारखानों के प्रबन्धकर्त्ताओं को यह आज्ञा थी कि वे हर प्रकार की बढ़िया वस्तुएँ, जवाहरात, वस्त्र, इत्यादि जहाँ से भी मिलें, खरीदें। इब्नबतूता ने लिखा है कि "सुलतान फ़ीरोज तुग़लक के लिए सिर्फ एक जोड़ी जूता सत्तर हज़ार टंकों में खरीदा गया था। फ़ीरोज तुग़लक के समय में विभिन्न प्रकार के सामानों को जुटाने के लिए छत्तीस सरकारी भंडार थे। इसी प्रकार अन्य बादशाह भी भंडार और खजाने रखते थे। मुहम्मद तुग़लक का नाम राजकीय कोष को बेदर्दी से खर्च करने में बेमिसाल है।" उस समय के इतिहासकारों का कहना है कि वह एक लाख टंका या एक मन सोना-चाँदी की चीज़ों से कम तो किसी को देता ही नहीं था।

**उच्च वर्ग**—राज के उच्च पदाधिकारियों का भी व्यय इसी अनुपात से होता था। उनकी आमदनी भी बहुत काफ़ी होती थी। वे राजकीय दरबार और महलों की नक़ल करना ही अपने जीवन का ध्येय समझते थे। इसके अलावा प्रान्तीय शासकों और ज़मींदारों तथा रईस और बड़े-बड़े व्यापारियों का भी व्यय बड़े पैमाने पर होता था क्योंकि उस समय के सामाजिक जीवन में प्रत्येक कुलीन घराना एक ऊँचे स्तर को कायम रखना और भोग-विलास पर व्यय करना अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता था। मध्य वर्ग के लोग भी बहुत अच्छी तरह रहते-सहते थे और लगभग उच्च वर्ग की नकल करने में ही जीवन व्यतीत करते थे। इस वर्ग में प्रायः शहरों के लोग तथा सामान्य व्यापारी और निचले दर्जे के सरकारी कर्मचारी शामिल थे। तीसरे वर्ग के लोग, जिनको हम श्रमजीवी नाम से पुकार सकते हैं, प्रायः सादा जीवन व्यतीत

करते थे और अपने निर्वाह के लिए इनमें बहुत-से ऊपर के दोनों वर्गों की सेवा में रहते थे। इनके अलावा सबसे बड़ी संख्या किसानों की थी। किसानों और गाँव की अन्य जनता का जीवन अत्यन्त सादा तथा कम खर्च का होता था। शादी-विवाह तथा मन्दिरों के पूजा-पाठ और दान-दक्षिणा इत्यादि के अवसरों पर तो यह लोग भी यथाशक्ति काफी धन बरबाद करते थे। तो भी, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, देश में छोटी-से-छोटी हैसियत के आदमी को भी खाने-पहनने की कमी नहीं थी। इसका कारण यह था कि ये सब वस्तुएँ विपुल मात्रा में देश में पैदा होती थीं और हर वस्तु बहुत सस्ती थी। १३वीं सदी में गेहूँ का भाव सात पैसे से बारह पैसे प्रति मन था। इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी आसानी से मिलती थीं। इब्राहीम लोदी के जमाने में लगभग एक रुपये का दस मन गेहूँ, पाँच सेर तेल और दस गज़ मोटा कपड़ा मिल जाता था। अकबर और जहाँगीर के समकालीन एक बनारसी नाम के कवि ने लिखा है कि एक बार आगरे में वह एक हलवाई की दुकान पर छः महीने तक दोनों वक्त बराबर भोजन करता रहा जिसकी कुल कीमत उसको चौदह रुपये देनी पड़ी। ध्यान देने योग्य यह बात है कि जब आगरे में, जो देश का और राजधानी का मुख्य नगर था, चीजें इतनी सस्ती थीं तो गाँवों में इससे भी बहुत सस्ती होंगी। इसके विपरीत ऐसे भी अवसर आ जाते थे जब जनता को काफी कठिनाई और मुसीबत का सामना करना पड़ता था। देश के किसी-किसी भाग में अकसर अकाल पड़ जाते थे। इन अकालों का कारण दैवी भी होता था। जैसे वर्षा का कम होना या बहुत अधिक होना, बाढ़ आ जाना। इतना ही नहीं, अक्सर बादशाहों के निर्दयी शासन एवं संकुचित नीति के कारण भी जनता दुःखी और निस्सहाय होकर अपने पेशों को छोड़ बैठती थी जिसके फलस्वरूप भयंकर अकाल पड़ जाते थे। सामान्यतया मुसलमान बादशाह किसानों से उनकी खेती का एक-तिहाई हिस्सा भूमिकर के रूप में ले लेते थे। इसके अतिरिक्त उनको और भी छोटे-बड़े स्थानीय कर देने पड़ते थे। इन सबकी मात्रा उन किसानों की पैदावार का पचास प्रतिशत हो जाती थी। तो भी उनके सारे जीवन की आवश्यकताओं के लिए काफी बच जाता था। परन्तु जब कभी उन पर राजकीय कर बहुत बढ़ा दिया जाता था और उनकी बचत का भी बहुत-सा हिस्सा उनसे छीन लिया जाता था, जैसा कि अलाउद्दीन खल्जी के जमाने में हुआ, तब जनता को अत्यन्त कष्ट सहने पड़ते थे।

ऐसे निर्दयी व स्वार्थी शासकों के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने का साधन देश की प्राचीन संस्थाएँ थीं। प्रत्येक गाँव में अति प्राचीनकाल से ग्राम-पंचायत और बिरादरी-पंचायत चली आती थीं जिनके द्वारा हमारे देश की ग्रामीण जनता का हर एक परिस्थिति में पालन-पोषण, रक्षा एवं सेवा-शुश्रूषा होती थी और वे गाँव जो राजधानी अथवा अन्य शासन-केन्द्र से दूर होते थे, हर प्रकार से सुखी रहते थे, क्योंकि उनके सामान्य जीवन-प्रवाह और कारबार में शासकों की ओर से बहुत कम बाधा पड़ती थी। बादशाहों के प्रकोप और स्वार्थ-नीति का सबसे अधिक कष्ट उस ग्रामीण जनता को भुगतना पड़ता था जो राजधानी के आस-पास होती थी।

तेईस

# बाबर के हमलों के समय देश की राजनीतिक स्थिति

**प्राकृतिक** दशा का प्रभाव : मुगल सत्ता की स्थापना की पृष्ठ-भूमि— मुग़ल साम्राज्य की स्थापना का काल बहुत महत्वपूर्ण है। उसका महत्त्व भली-भाँति समझने के लिए आवश्यक है कि हम तत्कालीन राजनीति तथा अन्य प्रगतियों को सम्यक् रूप से समझ लें। पहले भाग के अन्तिम खण्ड में बतला आए हैं कि किस प्रकार तथा किन कारणों से दिल्ली के तुर्की-अफ़ग़ान साम्राज्य का पतन तथा विनाश हुआ। सल्तनत के टूटने पर जितने प्रादेशिक राज्य स्थापित हुए उनका भी वृत्तान्त दिया जा चुका है। साथ ही यह भी बतलाया जा चुका है कि दिल्ली-सुलतानों के प्राबल्य के कारण जो राजपूत राज्यवंश हीन-क्षीण हो गए थे किन्तु सर्वथा नष्ट नहीं हुए थे वे सल्तनत के ह्रास से लाभ उठाकर पन्द्रहवीं शती में फिर से अपनी शक्ति को बढ़ाने लगे। इस समय केवल राजपूताने की मरुभूमि तथा मध्यभारतीय पर्वतश्रेणी की अधित्यका में राजपूतों के छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। इन दोनों प्रदेशों की भौगोलिक रचना का बहुत दूरगामी प्रभाव देश के इतिहास व संस्कृति पर पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन प्रदेशों में जितने राजवंश सुलतानों के तीन सदियों के आतंक को सहते हुए जीवित रह गए, उसका बहुत कुछ श्रेय उन प्रदेशों की स्थिति को है जिनमें वे एक प्रकार से चक्रव्यूह बनाकर बैठ गए थे। राजपूताने के विभिन्न भाग तथा बुन्देलखण्ड व बघेलखण्ड ऐसी पर्वत-मालाओं व पर्वत-खण्डों से सुरक्षित थे जिन्होंने उन स्थानों के राजाओं को लगभग अजेय बना दिया था। यद्यपि दिल्ली-पतियों ने राजपूतों के मुख्य-मुख्य गढ़ों व अड्डों को हस्तगत करने की बार-बार कोशिश की, किन्तु उनके सब प्रयास प्रायः असफल ही रहे। उदाहरण के लिए रणथम्भौर के चौहानों को दमन करना तथा उस गढ़ को जीतना दिल्ली-सुलतानों के लिए एक सैनिक गौरव का प्रश्न बन गया था, और जब-जब अवकाश मिला वे उस पर चढ़ाई करते रहे किन्तु एक सदी तक उसे न ले पाए और अन्त में जब अलाउद्दीन खल्जी ने उसे जीता तो वह धोखे तथा हम्मीर के एक मन्त्री के विश्वासघात की सहायता से न कि सैनिक बल से। इसी प्रकार ग्वालियर, कालंजर आदि पर सुलतानों को बार-बार चढ़ाइयाँ करनी पड़ीं। इन प्रदेशों पर स्थायी रूप से अधिकार करने के लिए यह आवश्यक था कि अरावली

पर्वत-श्रेणी तथा जमुना नदी पर पूरा नियंत्रण हो। जब १३वीं शती में दिल्ली पर अधिकार करने के बाद इन दो प्राकृतिक अङ्गों पर सुलतानों ने पूरी तरह अधिकार प्राप्त कर लिया तब वे राजपूताने, मध्य भारत तथा गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों पर धीरे-धीरे आधिपत्य फैला सके।
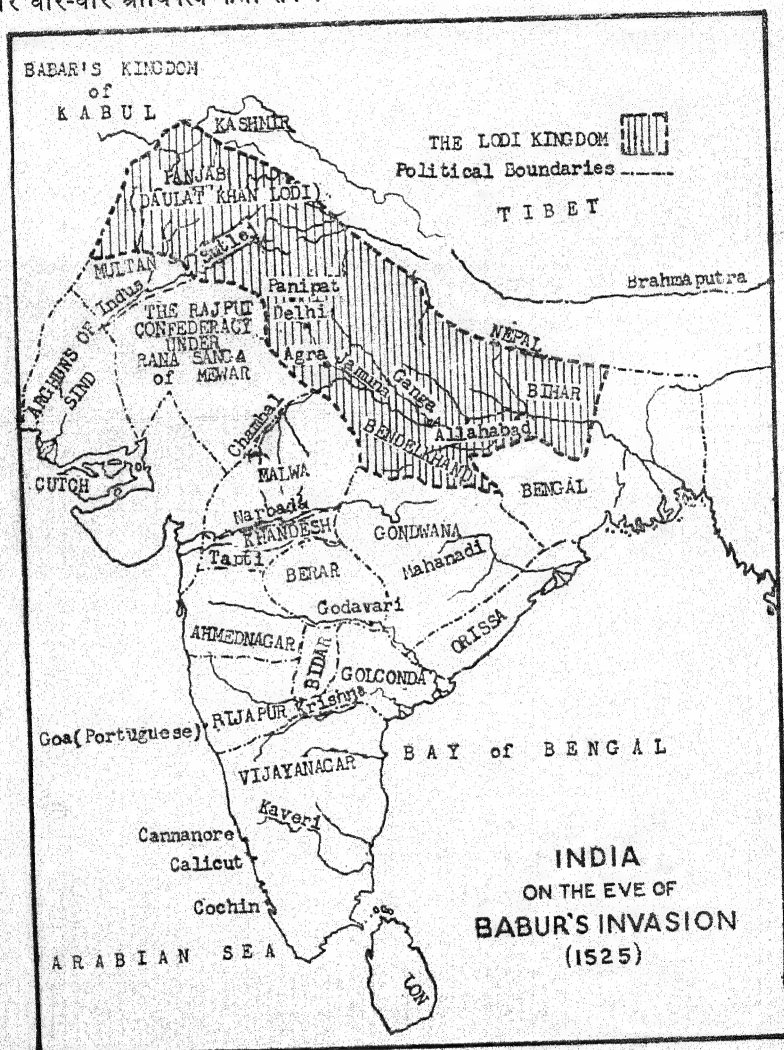
जिस प्रकार जमुना की धार पूर्वी प्रदेशों में प्रवेश करने से आक्रमणकारियों को रोकती थी, उसी प्रकार राजपूताने की रक्षा अरावली की शृंखला करती थी। यह पहाड़ी उत्तर-पूर्वी कोण से, दिल्ली के पास से आरम्भ होती है और अजमेर होती हुई दक्षिण-पश्चिम में आबू तक पहुँचती है जहाँ इसकी सबसे ऊँची चोटी है। इस

प्रकार यह पर्वत राजपूताने को आड़ी रेखा की भाँति दो त्रिभुजों में बाँट देता है। इसके पूरब में जयपुर, कोटा, चित्तौड़ आदि राज्य थे और पश्चिम में जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि। दिल्ली से जयपुर और अजमेर आदि पहुँचने के प्राकृतिक मार्ग तो इतने कठिन नहीं थे, किन्तु अरावली की रेखा के ऊपर जगह-जगह जो दुर्ग स्थित थे, उनसे बचकर ही कोई आक्रामक राजपूताने के पेट में घुस सकता था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी प्रदेश के अन्दर घुसना तो इसलिए भी कठिन था कि वहाँ रेगिस्तान होने से सेनाओं को दाना-पानी मिलना प्रायः असम्भव-सा ही हो जाता था। इसीलिए अजमेर, चित्तौड़ आदि को तो सुलतानों ने जीत लिया था, किन्तु पश्चिमी प्रदेश पर उनका अधिकार न हो पाया। मुग़लों के काल में भी पश्चिमी प्रदेशों पर उतना दृढ़ नियन्त्रण नहीं था जितना कि पूर्वी भाग की रियासतों पर।

**देश के तत्कालीन राज्यों का वर्गीकरण**—उस समय देश में जितने हिन्दू तथा मुस्लिम राज्य थे उनकी प्रादेशिक स्थिति विचारणीय है। मुस्लिम राज्यों के बारे में यह याद रखना आवश्यक है कि उनकी नीति निर्धारित करने में कई परस्पर-विरोधी भावनाओं का प्रभाव पड़ता था। वे सदैव अपने को इस्लाम मत के सच्चे भक्त तथा अनुयायी कहने में बड़ा गौरव समझते थे किन्तु वास्तविक रूप से अपनी नीति तथा चेष्टाओं को अपनी सांसारिक तथा साम्राज्य-निर्माण की आकांक्षा के अनुरूप ढालते थे। जब कभी और जहाँ कहीं इस्लाम का नारा उनको अपने ध्येय की पूर्ति के लिए हितकर होता वहाँ वे तुरन्त उसका डंका बजाने लगते थे। धर्म उनके उद्देशों की पूर्ति का सहारा भर रह गया था। इस नियम के अपवाद भी थे। कोई-कोई सुलतान हृदय से बड़ा विश्वासी तथा धर्मभीरु होता था और इस्लाम की शिक्षाओं को वह जिस प्रकार समझता था उस पर पूरी तरह अमल करना चाहता था। फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। तथापि धर्म का आकर्षण काफ़ी था और धर्म के नाम पर इनके गुट बनने में आसानी होती थी। इस दृष्टि से इन राज्यों का प्रादेशिक विभाजन बड़ा महत्त्वपूर्ण था। उत्तर भारत के राज्यों का वर्गीकरण हम २३वें अध्याय के अन्त में कर आए हैं।

**सोलहवीं सदी की विशेषता**—राजनीतिक दृष्टि से सोलहवीं सदी का पूर्वार्ध क्रान्ति अथवा गहरे परिवर्तन का युग था। दिल्ली की सल्तनत, जिसका पुनरुद्धार करने का भरसक प्रयास लोदी सुलतानों ने किया था, अन्त में बच न पाई। उसे एक विदेशी विजेता के अधीन होना पड़ा।

**सोलहवीं सदी की विशेषता**—राजनीतिक दृष्टि से सोलहवीं सदी का पूर्वार्ध क्रान्ति अथवा गहरे परिवर्तन का युग था। दिल्ली की सलतनत, जिसका पुनरुद्धार करने का भरसक प्रयास लोदी सूलतानों ने किया था, अन्त में बच न पाई। उसे एक विदेशी विजेता के अधीन होना पड़ा।

परन्तु याद रखने की बात है कि राजनीतिक क्रान्ति केवल ऊपरी ही नहीं थी जिसमें एक राजवंश के स्थान पर दूसरे की सत्ता आ गई हो। मुग़ल सत्ता की

स्थापना से एक मौलिक क्रान्ति यह हुई कि नई सत्ता की प्रकृति, राज्यादर्श एवं परम्पराएँ अफ़ग़ान सत्ता से इन बातों में मौलिक रूप से भिन्न थे। अफ़ग़ान राज्य का ह्रास तो रुक नहीं सकता था। प्रादेशिक राज्य, जिनमें जौनपुर, गुजरात व मालवा तथा चित्तौड़ के शासक बड़ी उमंगें रखते थे, दिल्ली को हड़प कर गए होते अगर वे आपस में लड़-लड़कर ऐसे अच्छे अवसर को न खो बैठते। दिल्ली के सिंहासन की लालसा राणा साँगा के अन्दर तो इतनी तीव्र हो गई कि उसकी आशा में वह अपने देशी सुलतान इब्राहीम के विरुद्ध एक विदेशी आक्रामक बाबर के साथ पत्र-व्यवहार करने और सन्धि करने में भी न हिचका। राणा साँगा की इस नीति में कितनी भारी भ्रान्ति थी इसके कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कोई सामान्य राजनीतिक जागरूक पुरुष भी यह आशा लेशमात्र भी नहीं कर सकता था कि एक विदेशी विजेता देश को जीतकर किसी दूसरे शासक को सुपुर्द कर देगा। सच है, स्वार्थ मनुष्य को अन्धा कर देता है।

जब ये शक्तियाँ दिल्ली के सिंहासन के लिए संघर्ष कर रहा थीं उसी समय बिहार-बंगाल में एक नई शक्ति का उत्कर्ष हो रहा था। इसका जन्मदाता एवं परि-पोषक सूरी वंश का फ़रीद नामक एक पठान (भावी शेरशाह) था। इसी बीच में मध्य एशिया से निकाला हुआ तथा पूर्णरूप से परास्त व हताश बाबर, जो उस समय काबुल और कन्धार पर अधिकार कर चुका था, भारतीय राजनीति के अखाड़े में कूद पड़ा और उपर्युक्त सूरी-अफ़ग़ान शक्ति के प्रौढ़ होने से पहले ही, दिल्ली और आगरे के राज्य पर अधिकार जमा बैठा।

**एक नया तत्त्व**—बाबर की विजय और मुग़ल सत्ता की प्रतिष्ठा के वृत्तान्त से पहले एक और तत्त्व को समझ लेना भी आवश्यक है। उत्तर भारत में मुसलमानों का शासन लगभग तीन सदियों से चला आ रहा था। इतने लम्बे समय में भी दिल्ली के सुलतान देश की जनता को अपना न बना पाए थे। प्रजा के हितों के प्रति जिस उदासीनता का सूत्रपात राजपूत राजाओं ने कर दिया था उसे दिल्ली-सुलतानों ने और भी तीव्र कर दिया। अतएव दिल्ली-सुलतानों की सत्ता प्रजा के भक्तिभाव, विश्वास अथवा प्रेम की बुनियाद पर आश्रित न हो सकी। जनता के कतिपय अङ्गों पर तो नवीन ब्राह्मण सम्प्रदाय के घातक तथा जड़ता-जनित सिद्धान्तों एवं व्यवहार से अन्याय हो ही रहा था; उसके ऊपर मुसलमान शासकों ने अपने संकीर्ण नीति-जनित अन्यायों का असह्य आघात भी आरोपित कर दिया। इसी दुर्दशा के विरुद्ध हिन्दू सन्तों ने आवाज उठाई। समाज-सुधार के लिए प्रतिकूल राजनीतिक वायुमंडल में भी बड़े धैर्य तथा निर्भीकता से कार्य किया। स्वाभाविक ही था कि जनता में जागृति के चिह्न दीख पड़े। ऐसी अवस्था में परमावश्यक था कि साम्राज्य तथा राजनीतिक सत्ता का भवन खड़ा करने के लिए कोई ऐसा उदारचित्त शासक प्रकट हो, जो नए वातावरण के अनुकूल कार्य कर सके, उसके अनुकूल अपनी नीति का

निर्माण कर सके और जनता की नई उठती हुई मानसिक स्वतन्त्रता का उचित आदर कर सके। बिना इस प्रकार के उच्च आदर्श व उदार नीति के देश में कोई स्थायी राज्य अथवा शासन स्थापित होना असम्भव था। हम यथास्थान बतलाएँगे कि इस आदर्श की पूर्ति में सूरी तथा मुग़ल वंश के शासकों ने कितना-कितना योग दिया। अगले अध्याय में हम देश के राजनीतिक चित्रपट का, विशेषतया उसके महासूत्रों का, अध्ययन करने की चेष्टा करेंगे।

**सामाजिक व आर्थिक परिस्थिति**--राजनीतिक प्रवाह के अंगों का अध्ययन सामाजिक व आर्थिक अवस्था की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखे बिना सम्यक् रूप से नहीं हो सकता। इन विषयों की तरफ इशारा हम पहले कर आए हैं। भारतीय जनसाधारण को सदियों की मानसिक दासता से मुक्त करने तथा समाज को अनेक कुप्रथाओं के इन्द्रजाल से छुड़ाने के लिए कबीर, नानक, चैतन्यदेव आदि सन्तों ने आजीवन प्रयास किया। इन सुधारकों के कार्य का परिणाम बड़ा उत्साहजनक जान पड़ा। हर तरफ जागृति के चिह्न दीखने लगे। ब्रह्मक्षत्रीय अन्याय से त्रस्त जनता इन सन्तों की ओर बढ़ी। उनकी शिक्षा एवं शान्ति के हेतु सन्तों, कवियों व भक्तों ने अनेक ग्रन्थ जनता की भाषा में लिखे जिसका एक फल यह भी हुआ कि प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ समृद्ध होने लगीं। समाज की आत्मा इस समय सर्वांगीण परिवर्तन तथा परिशोधन के लिए आकुल हो रही थी। जैसा हम कह आए हैं, इन परिवर्तनों व सुधारों का आन्दोलन बिना रोक-टोक चलने के लिए शासन में उदार नीति का होना परमावश्यक था।

**उदार व मानवीय नीति का आरम्भ**—इस आवश्यकता का समाधान कुछ हद तक शेरशाह ने और अकबर ने किया। वस्तुत: अकबर महान् के मानवीय सिद्धान्तों तथा उदार प्रवृत्ति के प्रोत्साहन से विचार-स्वातन्त्र्य, विवेक, मानसिक उन्नति और सामाजिक परिष्कार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। किन्तु सामाजिक आत्म-समीक्षा तथा परिशोधन का यह प्रवाह बहुत काल तक न चल सका। अकबर के उपरान्त ही धीरे-धीरे शासन-नीति में संकीर्णता आने लगी जो औरंगजेब के समय तक पराकाष्ठा को पहुँच गई। इधर समाज के अन्दर भी फिर से मानसिक शिथिलता आई। पण्डा-पन्थियों ने उन्हीं सन्त-साधुओं को, जिनके सुधार-आन्दोलन के कारण उनका घोर विरोध किया था, जड़-देवताओं (पाषाण-मूर्तियों) की पंक्ति में बिठा दिया। कबीर के मठ, गुरुओं के गुरुद्वारे एवं उनके ग्रन्थों की जड़-पूजा का दृश्य एक तरफ और सूफ़ी-औलियों के मज़ारों की पूजा का दृश्य दूसरी तरफ़, भारत-समाज के पतन को पुकार-पुकारकर बतला रहे हैं। साधु-सन्तों व सूफियों के जीवनकाल में उनके सत्संग से जो जनसाधारण को शिक्षा मिलती थी और समाज का उपकार होता था यदि उनके स्मारक इन मठ-मन्दिरों आदि के अध्यक्षगण उनकी शिक्षाओं का प्रसार करते रहते और इन शिक्षाओं के स्थान पर अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए उन महात्माओं की मूर्त्तियों व समाधियों की पूजा न कराते, तो ये मठ-मन्दिर समाज के लिए हितकारी

बनते, किन्तु हुआ इसके सर्वथा विपरीत। इन मठाधीशों और उनके शिष्यों के स्वार्थी प्रयत्नों का फल यह हुआ कि हिन्दू और मुस्लिम समाज फिर से रूढ़िवाद के गढ़े में गिरने लगा।

**वैज्ञानिक उन्नति की शिथिलता**—इसके साथ ही एक और अंग समाज की प्रगति का है जिसकी तरफ ध्यान देना भी परम आवश्यक है। प्राचीन तथा पूर्व मध्य-कालीन युग में भारतवर्ष वैज्ञानिक उन्नति में पाश्चात्य देशों से आगे था और कई क्षेत्रों में संसार भर का गुरु था। यह वैज्ञानिक तथा मानसिक प्रगति लगभग १०वीं सदी तक बराबर चलती रही। किन्तु इस क्षेत्र में नवीन ब्राह्मण सम्प्रदाय के प्राबल्य का सबसे अधिक घातक प्रभाव पड़ा। गुप्तकाल में पौराणिक धर्म को बड़ी उत्तेजना मिली और तब से ही उसका प्रवाह जोर पकड़ता गया। तथापि दसवीं शती तक फिर विज्ञान के क्षेत्र में उत्तम कोटि के ग्रन्थ बड़े-बड़े विद्वानों ने लिखे। किन्तु इस युग के वैज्ञानिक भी उस नवीन सम्प्रदाय से या तो इतने भयभीत थे, या रूढ़िवादी हो गए थे, कि अपनी वैज्ञानिक तथा तर्कसिद्ध रचनाओं के साथ उन्होंने पौराणिक कपोल-कल्पित गाथाओं को भी प्रचलित किया। इस प्रकार की मानसिक वृत्ति के मुख्य कारण थे—(१) प्राचीन परम्पराओं व परिपाटियों पर अन्धविश्वास, जिसके कारण नवीन आविष्कारों का गला घोंट दिया; (२) शिल्पादि उद्योगों को नीच समझा जाने लगा; (३) फलतः विद्वानों की मनोवृत्ति भी अत्यन्त संकीर्ण तथा असहनशील हो गई। हिन्दू राजाओं के दरबार में जो कुछ आश्रय व सहायता इस प्रकार के साहित्य को मिलती थी, मुसलमान बादशाहों के दरबार में वह भी बन्द हो गई। अब संस्कृत-साहित्य का पालन-पोषण या तो बचे-खुचे हिन्दू राजाओं के दरबार में होता रहा, अथवा कुछ त्यागी विद्याव्यसनी लोग अपने बूते पर ही इसको समृद्ध करते रहे। इसके अतिरिक्त इस युग में प्रादेशिक भाषाओं में ग्रन्थ लिखने की प्रथा अधिक चली और वे प्रायः धार्मिक तथा भक्ति-भाव अथवा अन्य इसी प्रकार के विषयों पर लिखे गए। इन सब कारणों से स्वाधीन तथा उन्नतिशील विचारधारा बिलकुल रुक गई। १४वीं से १६वीं शती तक जो कुछ विचार-स्वातन्त्र्य के लिए संघर्ष साधु-सन्तों तथा राजनीतिक पटल पर अकबर ने किया वह धर्म के क्षेत्र तक ही परिमित रहा।

**पश्चिम देशों की भौगोलिक क्रान्ति**—किन्तु इसी युग में पश्चिमी देशों ने एक नये मार्ग का अवलम्बन किया। १४वीं और १५वीं शतियों में पश्चिमी यूरोप में पुनर्जागृति बड़े वेग से हुई। मानव ने अपने को पहचाना तथा स्वावलम्बन का पाठ सीखा। पाश्चात्य जगत् की तार्किक बुद्धि जागृत हुई और उसमें एक नया जीवन आया तथा स्फूर्ति पैदा हुई। पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक युग का जन्मदाता रोजर बेकन (१२१४-१२९४ ई०) माना जाता है। उसके बाद लिओनार्डो-दा-विन्ची (१४५२-१५१९), कोपरनिकस (१४७३-१५४३), गोलिलिओ (१५६४-१६४२) ने वैज्ञानिक युग को लाने में अद्भुत कार्य किया। इस आन्तरिक जागृति तथा प्रगति के साथ-साथ, यूरोपीय ईसाई जनता संसार के अन्य देशों में अपने मत का प्रचार

करने तथा उनसे व्यापार करने के लिए आतुर थी। इस आकांक्षा को पूरा करने के लिए अन्य देशों, विशेषकर भारत के समुद्री मार्गों का अन्वेषण आरम्भ हुआ। जेनोआ-निवासी कोलम्बस भारत की तलाश में निकला किन्तु पहुँच गया अमरीका (१४९२)। पुर्तगाली नाविक उसी समय १५वीं शती के आरम्भ से ही भारत को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में १४९८ में केप गुडहोप से बहकर भारत के पश्चिमी तट पर जा लगे और इस प्रकार इन लोगों को भारत के समुद्री रास्ते का ज्ञान हुआ। लगभग एक सदी तक तो पुर्तगाली अकेले ही भारतवर्ष में ईसाई मत का प्रचार करते रहे और तिजारत भी। किन्तु पुर्तगाली इतने कट्टर कैथलिक थे और उनकी कार्यप्रणाली इतनी क्रूर तथा निष्ठुर थी कि वे जल्दी ही अपनी मान-प्रतिष्ठा खो बैठे। अतएव जब उत्तरी यूरोप के उदार ईसाई व्यापारी मुख्यतया व्यापार के उद्देश से पूरब के समुद्रों में घूमने लगे तो पुर्तगाली शक्ति को पीछे हटना पड़ा। उनके केवल तीन-चार उपनिवेश भारत के पश्चिमी तट पर रह गए।

**पाश्चात्य व्यापारियों का भारतीय तटों पर आगमन**—१६वीं शती के अन्तिम चरण में लगभग एक ही समय हालैण्ड तथा इंगलैंड में व्यापारी कम्पनियाँ स्थापित हुईं और दोनों ने पुर्तगालियों केप्र भुत्व का भारतीय समुद्र से अन्त कर दिया; परन्तु अब इनमें परस्पर संघर्ष आरम्भ हो गया। इनकी प्रतिस्पर्द्धा का वृत्तान्त संक्षेप से इस प्रकार है। पहले तो इन दोनों कम्पनियों की आँख सुदूर पूर्व के द्वीपसमूह पर थी क्योंकि इनके व्यापार से बहुत आय होती थी। ओलन्देज (हालैण्डवाली) कम्पनी ने अंग्रेजों को पूर्वी द्वीपों से बिलकुल बाहर कर दिया और वहाँ उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया। यह दुर्भाग्य भविष्य में अंग्रेज़ों के लिए अनन्त तथा आशातीत लाभदायक हुआ। अंग्रेजों ने पूर्वी द्वीपों को छोड़कर भारत वर्ष पर अपनी सारी शक्ति लगा दी। थोड़े दिन ओलन्देजों ने यहाँ भी अंग्रेजों का मुकाबला किया किन्तु अन्त में यूरोप में उनका ह्रास होने के कारण भारत में उन्हें हार माननी पड़ी। फिर अंग्रेज और फ्रेंच कम्पनियों का संघर्ष १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में चलता रहा। अन्त में अंग्रेजों की ही जीत हुई। पाश्चात्य जातियों के इस संघर्ष का विस्तृत वृत्तान्त आगे दिया जाएगा। यहाँ पर केवल इतना बतलाना अभिप्रेत है कि इन पाश्चात्य जातियों का समुद्री मार्ग से आगमन जब शुरू हुआ, तब मुग़ल साम्राज्य का सूत्रपात भी नहीं हुआ था। इन्हीं दिनों उत्तर में राजनीतिक क्रान्ति हुई और एक नई सत्ता का जन्म हुआ। उसी समय दक्षिण भारत के समुद्र-तट पर बाहरी शक्तियों ने अपने अड्डे जमाए और इनकी समस्त हार-जीत समुद्री शक्ति पर आश्रित थी। उधर मुग़ल साम्राज्य की ज्योति पूर्ण उत्कर्ष को पहुँची और फिर धीरे-धीरे बुझती गई। वास्तव में केवल तीन या चार पीढ़ियों के अन्दर इस वंश की प्रतिभा एवं रचनात्मक शक्ति निःशेष हो गई। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य जातियों की सृजन एवं निर्माण-शक्ति अविच्छिन्न रूप से बढ़ती गई।

ये जातियाँ एक अधिक स्थायी एवं श्रेयस्कर सूत्र को पकड़कर आगे बढ़ती चली गईं और अन्त में मुग़ल साम्राज्य को भी चट कर बैठीं। दोनों सत्ताओं की स्थापना तो एक ही समय हुई किन्तु भेद यह था कि एक की स्थापना हुई चमचमाती तलवारों की नोकों पर; और दूसरी की, इसके उलट, बिना किसी के जाने हुए। मुग़लों तथा उनके अनुगामियों ने नई समुद्री शक्ति से कोई भी लाभ न उठाया और पश्चिम में बढ़ती हुई वैज्ञानिक रोशनी से वे यह समझ ही न पाए कि उनके लिए सबसे बड़ा भय तो समुद्री मार्ग से आ रहा था न कि किसी आन्तरिक शक्ति से। यूरोपीय व्यापारियों के आगमन तथा समुद्र प्रभुता से आर्थिक जगत् में एक भारी क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति के संकेत से भी मुगल कोई लाभ न उठा सके। अंग्रेजों की अन्तिम जीत का कारण यह था कि भारत जाति की उन्नति फिर से रुक गई थी। भारत में मध्यकालीन जागृति का प्रवाह काफी समय तक जीवित न रह पाया। इसके कारणों का विश्लेषण करने का प्रयत्न हम आगे करेंगे।

उपर्युक्त सर्वांगीण विश्लेषण से हमने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि मुग़ल साम्राज्य की पृष्ठभूमि के लिए कितने विभिन्न सूत्रों का समन्वय करना आवश्यक है ताकि हम उसकी प्रगति, उत्कर्ष व अपकर्ष को भलीभाँति समझ सकें।

●

चौबीस

# पहली मुग़ल सत्ता का उदय व अस्त

## (१)

**बाबरकालीन** मध्य एशिया तथा बाबर का वंश—दिल्ली सल्तनत का जो पतन तुग़लक़-काल से शुरू हो गया था उस पर तीमूर के आक्रमण ने मुहर लगा दी। यदि उसके वंश में कोई उसकी जैसी योग्यता तथा महत्वाकांक्षावाला होता तो शायद दिल्ली-सल्तनत का पहले ही काम तमाम हो जाता। पर तीमूर के वंशधर इस योग्य न हुए कि उसके साम्राज्य को सँभाल सकते। उसके बेटे शाहरुख मिर्ज़ा के बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमी एशिया पर फिर से उसमान तथा सफवी वंश ने कब्ज़ा कर लिया। तीमूर के अन्य वंशजों में बड़े-बड़े विद्याव्यसनी, ज्योतिष-विद्या-विशारद हुए, किन्तु उच्च कोटि का शासक या सैनिक कोई न था। तीमूर की मृत्यु (१४०५) के बाद १५०० ई० तक कोई भी ऐसा न हुआ जो बचे-खुचे साम्राज्य को सुसंगठित व सुरक्षित रखता। अतएव मध्य एशिया के थोड़े से प्रदेश ही उनके हाथों में रह गए।

तीमूर के वंशजों को मुसलमान लेखक 'मिर्ज़ा' कहते हैं। बाबर तीमूर के तीसरे बेटे मिर्ज़ा मीरानशाह के वंश में हुआ। उसके हिस्से में तीमूर के साम्राज्य में से आजरबाईजान, सीरिया व इराक आए थे, किन्तु तुर्क सैनिक यूसुफ़ ने मारकर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। मीरानशाह का बेटा सुलतान मुहम्मद समरकन्द में अपने चचा शाहरुख के पास आ रहा। मिर्ज़ा सुलतान मुहम्मद के बेटे अबूसईद ने धोखे से समरकन्द पर कब्ज़ा कर लिया। अबूसईद बड़ा तेज-तर्रार था। उसने काफ़ी विस्तृत भूमि अपने राज्य में ले ली। वह बाबर का दादा था। उसके मरने पर उसके राज्य के कई टुकड़े हो गए। कुछ तो उज़बेग तुर्कों के अधिकार में आ गए, शेष राज्य उसके चार बेटों बँट गया। बाबर का पिता उमरशेख मिर्ज़ा अंदिजान व फरगना (सरदरिया के ऊपरी भाग के दोनों तरफ़ की भूमि) का अपने पिता के समय में शासक था। बाप के मरने पर वह उसी समय प्रदेश का स्वतन्त्र राजा हो गया। काबुल और गज़नी उमर शेख के एक छोटे भाई उलुगबेग मिर्ज़ा के अधिकार में इसी प्रकार रह गया और खुरासान तीमूर के एक अन्य वंशधर सुलतान हुसैन बैंकरा के शासन में था। बैंकरा अपने समय का सर्वश्रेष्ठ शासक

था। अपनी राजधानी हिरात को उसने बड़े विद्वानों, कवियों तथा कलाविदों से भरपूर किया।

उमरशेख मिर्ज़ा का विवाह चंगेज़खाँ के बेटे चगताई के वंशज यूनिसखाँ की बेटी से हुआ था। उसने आस-पास के शासकों पर हमले करके अपनी भूमि को बढ़ाया, परन्तु समरकन्द को लेने में वह असफल रहा। कन्धार के शासक अहमद मिर्ज़ा ने सुलतान महमूद मुग़ल से मिलकर फरगना पर हमला कर दिया। इसी बीच में उमरशेख़ एक मकान के गिरने से उसमें दबकर १४९४ में मर गया। उसके तीन बेटे और पाँच बेटियाँ थीं। बाबर, जो सबसे बड़ा था, कुल ११ बरस का था। इतनी छोटी आयु में ही उसे अपने बाप के राज्य को सँभालना पड़ा।

बाबर के राज्यारोहण के समय फ़रग़ना की दशा बड़ी अस्त-व्यस्त थी। काशगर, समरकन्द और उसके निकटस्थ स्थान, हिसार व बदख़्शाँ, काबुल व गज़नी, खुरासान व हिरात—तीमूर के वंशजों के अधिकार में थे। पर ये लोग आपस में लड़ते रहते थे। इनके अतिरिक्त मुग़ल, उज़बक व कज़ाक सरदार छोटे-छोटे टुकड़ों को दबाए बैठे थे। उमर शेख़ की मृत्यु के समय यूनिसखाँ के दो बेटों के भी मर जाने से मुग़लिस्तान पर बाबर की आँख लगी। किन्तु इन सब शासकों के बीच में दो-दो बड़ी शक्तियाँ पैदा हुईं—ईरान में सफ़वी वंश का और वक्षुपार-प्रदेश (Trans-oxiana) में उज़बक राज्य का। इन दो सत्ताओं के निरन्तर संघर्षों ने मध्य एशिया ही नहीं भारत के भावी इतिहास पर निरन्तर प्रभाव डाला और बाबर के जीवन को पग-पग पर नियंत्रित किया।

मुहम्मद शैबानी मुग़ल कुल से था। उसने १५०० के लगभग वंक्षुपार के प्रदेश में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। ईरान व खुरासान के पूरब में होने के कारण ये उज़बक सैनिक सफ़वी बादशाहों के लिए बराबर भय का कारण बने रहते थे और ईरानी साम्राज्य के विस्तार से मार्ग में रुकावट बने हुए थे।

सफवी राजवंश का जन्मदाता शाह इस्माईल अर्जबिल निवासी सफ़ीउद्दीन नामक एक सन्त के वंश में था। सबसे पहले इस वंश के शाह इस्माईल (१४९९-१५२४) ने १४९९ में, जब वह सिर्फ़ १३ वर्ष का था, तुर्कों को परास्त करके, तबरेज़ को राजधानी बनाया और अपना राज्य स्थापित कर दिया। फिर उसने खुरासान व हिरात भी जीत लिए। सफ़वी वंश के लोग शिया थे और तुर्क लोग सुन्नी। यह उनके और तुर्कों के बीच में झगड़ा होते रहने का एक और भी कारण हुआ। उनको अपने उत्तर-पूरब के उज़बकों से बराबर लड़ना पड़ता था। यद्यपि इस्माईल उज़बकों से १५१४ में पराजित हुआ, तथापि उसने ईरान के संगठित समस्त देश पर एकछत्र राज्य स्थापित किया।

शाह तहमास्प (१५२४-७६)—इस्माईल का ईरान में बड़ा आदर था क्योंकि बहुत काल के बाद उसने उस देश में राष्ट्रीय एवं राजनीतिक एकता प्राप्त की थी। उसके बाद शाह तहमास्प बादशाह हुआ। उसने ५० वर्ष से ऊपर राज्य

किया। इसी के समय में बाबर और हुमायूँ को कई बार ईरान से सहायता माँगनी पड़ी थी और हुमायूँ को तो तहमास्प की शरण में आकर रहना पड़ा था। ईरान में सफ़वियों के कारण और मध्यएशिया में उजबकों के कारण मुग़ल बादशाह अपने पश्चिमोत्तर देशों में साम्राज्य का विस्तार न कर सके। इन दोनों से, विशेषकर सफ़वी बादशाहों से, मुग़लों का राजनीतिक सम्बन्ध बराबर बना रहा।

**शाह अब्बास** (१५८७-१६२९)—सफ़वी खानदान का यह सबसे महान् तथा यशस्वी बादशाह हुआ। यह अकबर और जहाँगीर का समकालीन था। उसने फ़ारसी साहित्य तथा कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उसको बहुत बढ़ाया। उसने लोक-हितकारी (public works) कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिया और विदेश-नीति में उदारता के नियमों का पालन किया। उसने अपने समकालीन तीनों लोकप्रसिद्ध सम्राटों, अर्थात् अकबर, तुर्की का सुलेमान तथा इंगलैण्ड की रानी एलिज़ाबेथ से भी पारनीतिक सम्बन्ध (diplomatic relations) स्थापित किए।

ईरान और मध्य एशिया के शासकों से तो मुग़लों का दिन-दिन संघर्ष अथवा सम्बन्ध रहता ही था किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि अन्य समकालीन साम्राज्यों से भी उनका सम्पर्क शुरू हो गया था। एलिज़ाबेथ के काल में ही कई अंग्रेज हिन्दुस्तान में आए थे। पुर्तगाल आदि देशों के यात्री तथा ईसाई पादरी आदि तो अकबर के दरबार में बहुत बार बुलाए गए थे। इन सब वैदेशिक संपर्कों का हमारे इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा और किस प्रकार हमारे राजाओं तथा राजनीतिज्ञों ने इनसे लाभ उठाया, इन बातों को भी हमें ध्यान में रखना होगा।

**बाबर के आक्रमण के कारण**—पहले तो लोदी सुलतानों ने अपनी शक्ति बनाए रखने के हेतु बड़े-बड़े अफ़ग़ान सरदारों को मित्र-भाव से सन्तुष्ट रखकर अपने पक्ष में बनाए रखा था। परन्तु इब्राहीम (१५१७-२६) न तो इतना दूरदर्शी था कि बड़े-बड़े सरदारों से मित्र-भाव बनाए रखता और न इतना शक्तिशाली था कि उनको दमन कर सकता। ऐसी अवस्था में उसका यह प्रयत्न कि वे सब अफ़ग़ान, जिनको उसके पूर्वज मित्र और समान स्थिति वाले मानते थे, अब उसको अपने से ऊँचा समझें और उसका आधिपत्य मानने लगें, निष्फल होना ही था। उसकी कठोर नीति के कारण सब सरदार उससे रुष्ट हो गए और उसका खुले तौर पर विरोध करने लगे। हर जगह बलवे होने लगे। सुलतान इब्राहीम के राज्य का समस्त पूर्वी प्रदेश स्वतन्त्र हो गया और दरियाखाँ लोहानी उसका स्वतन्त्र शासक बन गया। पंजाब के शासक दौलतखाँ लोदी ने बलवा कर दिया और काबुल के बादशाह बाबर को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। जौनपुर के शासक ने भी बलवा कर दिया। यह अवस्था देखकर राजपूतों ने भी सर उठाया और इब्राहीम को दो बार युद्ध में उनसे पराजित होना पड़ा। मेवाड़ाधिपति राणा साँगा दिल्ली पर दाँत

लगाए बैठा ही था; और यदि ऐसे झगड़े के समय इस अखाड़े में बाबर न आ कूदा होता तो साँगा अवश्य दिल्ली को अधिकृत कर लेता। परन्तु विधाता कुछ और ही करना चाहता था। इस प्रकार बाबर को भारत में अपने भाग्य की परीक्षा करने का अवसर मिला।

**बाबर का प्रारम्भिक जीवन**—हम ऊपर कह चुके हैं कि ज़हीरउद्दीन मुहम्मद बाबर का पिता उमरशेख मिर्ज़ा मध्य एशिया में फ़रगना का शासक था। उसकी मृत्यु के समय बाबर केवल ११ वर्ष का था। बाबर का जन्म सन् १४८३ में हुआ था। मध्य एशिया की तुर्क जाति के जगद्-विख्यात विजेता और सैनिक चंगेज़खाँ और तीमूर दोनों उसके पूर्वज थे। पितृपक्ष से यह तीमूर का वंशज था और मातृ-पक्ष से चंगेज़खाँ का। बाबर के पिता ने चारों ओर सरदारों को अपना दुश्मन बना लिया था। उसके मरते ही फ़रगना पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे और उसके कुछ हिस्से छिन गए। परन्तु इसका एक परिणाम अच्छा हुआ। इससे बाबर को सैनिक शिक्षा मिल गई। बाबर बड़ा महत्वकांक्षी था। वह समरकन्द का सुलतान बनना चाहता था। सन् १४६७ में उसकी यह इच्छा पूरी हो गई। समरकन्द में उत्तराधिकार का झगड़ा हुआ। अवसर पाकर बाबर ने हमला किया और नगर को ले लिया। परन्तु उसके पीछे फ़रगना में उसके वज़ीर ने बलवा किया और उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार जमा लिया। यह खबर सुनते ही बाबर फ़रगना की ओर दौड़ा। इधर उसके पीछे उज़बक नेता शैबानीखाँ ने समरकन्द पर क़ब्ज़ा जमा लिया। बाबर के हाथ से दोनों निकल गए और वह मारा-मारा फिरने लगा। परन्तु बाबर कायर न था जो आपत्तियों से घबराकर हतोत्साह हो बैठता। जैसे सोना आग में तपाने से और दुगुना चमकता है, उसी प्रकार बाबर का साहस और आकांक्षा आपत्तियों की आग में पड़कर और भी उत्तेजित होती थी। सन् १५०० ई० में बाबर ने उज़बक सरदार से फिर समरकन्द छीन लिया, परन्तु थोड़े ही दिन बाद वह फिर उसके हाथ से निकल गया। इसके बाद कई बरस तक बाबर फ़रगना पर अधिकार करने का व्यर्थ यत्न करता रहा। अन्त को वह वहाँ से निराश हो गया। इसी समय सौभाग्य से काबुल में घरेलू कलह और बलवे शुरू हुए। बाबर का चचा उलुगबेग मिर्ज़ा काबुल का शासक था। १५०१ में उसकी मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी उसका लड़का अबूरज़ाक बालक था, इस कारण काबुल के सरदारों ने विद्रोह शुरू कर दिए। इसको बाबर ने बड़ा अच्छा अवसर समझा। उसने तुरन्त एक सेना इकट्ठी की और उसकी सहायता से काबुल पर अधिकार कर लिया। वहाँ उसका विरोध करनेवाला कोई न था। इसके थोड़े ही दिन बाद उसने हिरात और कन्धार को भी जीत लिया। इस प्रकार काबुल में उसकी शक्ति दृढ़ हो गई। परन्तु वह अभी अपने पुराने देश फ़रगना को न भूल सका था। उसको फिर एक मौक़ा मिला। थोड़े दिन बाद शैबानीखाँ की मृत्यु हो गई। अब बाबर ने फ़ारस के बादशाह से संधि करके उसकी सहायता से फिर तीसरी बार कन्धार

जीता। परन्तु मध्य एशिया के सुन्नी मुसलमान उससे घृणा करने लगे थे, क्योंकि उसने फारस के शिया बादशाह से मित्रता की थी। ग्रतएव बाबर को उन्होंने १५१४ के लगभग फिर मार भगाया। परन्तु इस पराजय की कोख में उसका सौभाग्य छिपा था। उसने भली-भाँति ग्रनुभव कर लिया कि उज़बक ग्रौर सफ़वी बादशाहों के कारण मध्य एशिया तथा ईरान की तरफ बढ़ने का उसे कोई ग्रवसर न था। ग्रतएव इन प्रदेशों का उसने ध्यान छोड़कर भारत की ग्रोर रुख किया।

**बाबर का भारत की ग्रोर मुड़ना**—बाबर ने १५०४ में ही भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर धावे मारने शुरू कर दिए थे। उस वर्ष उसने खैबर को पार करके कोहाट को लूटा। १५०७ में बाबर ने काबुल को ग्रपने एक चचेरे भाई के सुपुर्द करके हिन्दुस्तान की तरफ़ कूच इसलिए किया कि शैबानीखाँ उज़बक काबुल पर चढ़ाई करने ग्रा रहा था। परन्तु जब बाबर ग्रदीनापुर (ग्राधुनिक जलालाबाद) पहुँचा तो उसे शैबानी के वापस लौट जाने की सूचना मिली, जिससे उसे काबुल लौट जाने की हिम्मत हुई।

बाबर ने सफ़वी बादशाह इस्माईल से खासा सम्पर्क पैदा कर लिया था ग्रौर उसके सैनिक प्रबन्ध का भी खूब ग्रध्ययन किया था। उसी की सेना को देखकर उसने निश्चय किया कि वह भी एक शक्तिशाली तोपखाना बनाएगा। इस उद्देश से उसने रूम के दो तोपचियों, उस्तादग्रली ग्रौर मुस्तफ़ा को ग्रपनी सेना में नौकर रखा। बाबर की सेना के इस नवीन ग्रंग ने भारत की विजय में उसे विशेष सहायता दी। १५१६ में बाबर ने ग्रपना मार्ग प्रशस्त एवं सुरक्षित करने के लिए ग्रफ़गान फिरकों के प्रदेश, स्वात, बाजोर ग्रादि पर कई ग्राक्रमण किए ग्रौर उनको बड़ी कठोरता से दबाया ताकि हिन्दुस्तान के ग्राक्रमण के समय वे पीछे से हमला न कर दें। १५२२ में कन्धार पर भी उसका स्थायी ग्रधिकार हो गया। उसने ग्रपने दूसरे बेटे कामरान को कन्धार का शासक नियुक्त किया। सन् १५२४ में इब्राहीम लोदी के चचा दौलतखाँ ने, जो पंजाब का शासक था, बाबर को बुलाने के लिए ग्रपने लड़के दिलावरखाँ को काबुल भेजा। बाबर इस ग्रवसर का फायदा उठाकर दीपालपुर तक चढ़ ग्राया परन्तु दौलतखाँ को उसने केवल जालन्धर ग्रौर सुलतानपुर के जिले दिए। इससे दौलतखाँ ग्रसन्तुष्ट होकर पहाड़ों की तरफ चला गया। बाबर इन जिलों को दौलत खाँ के बेटे दिलावर ग्रौर दीपालपुर उसके भाई ग्रालमखाँ को सौंपकर वापस चला गया। बाबर के पीछे दौलतखाँ ने ग्राकर दिलावर तथा ग्रालमखाँ से वे प्रदेश फिर छीन लिए। ग्रालमखाँ भागकर काबुल गया ग्रौर फिर बाबर को इस वादे पर ग्रामन्त्रित किया कि ग्रालमखाँ को दिल्ली की गद्दी पर बिठाया जाए ग्रौर बाबर को इसके बदले में लाहौर तथा पश्चिमी पंजाब दिया जाए। किन्तु ग्रालमखाँ ने भारत लौटकर बाबर के ग्राने से पहले ही दौलतखाँ को साथ मिलाकर दिल्ली पर हमला कर दिया, पर इब्राहीम की सेना ने उनको पछाड़कर वापस भगा दिया।

**पानीपत की लड़ाई (१५२६)**—हिन्दुस्तान की इस दुर्दशा को देखकर

बाबर ने तुरन्त उस पर हमला करने का निश्चय कर लिया और नवम्बर १५२५ में वह काबुल से चलकर सिन्धु के पार आ गया। पंजाब को पार करता हुआ बाबर पानीपत तक बिना रोक-टोक चला आया और वहाँ आकर उसने १२ अप्रैल, १५२६ को पड़ाव डाल दिया। पानीपत की भूमि पर अति प्राचीनकाल से कई बार भारत के भाग्य का निर्णय हुआ था। आगे भी इसी भूमि पर कई बार उसका भाग्य-निर्णय होना था। बाबर भी इसी प्रसिद्ध रणस्थली पर आकर डट गया और युद्ध की तैयारी करने लगा। बाबर की सेना इस प्रकार पड़ी हुई थी कि उसके दाहिने ओर तो पानीपत नगर था, बाईं ओर उसने एक गहरी खाई खुदवाई और सामने बहुत से पेड़ों को गिराकर एक प्रकार का बाँध बना दिया। इस प्रकार तीनों ओर से सेना सुरक्षित हो गई। इसके अतिरिक्त उसने कोई ७०० बैलगाड़ियों को चमड़े के रस्सों से जकड़कर एक प्रकार के छोटे-छोटे पुश्ते बना दिए थे जिनसे उसकी सेना शत्रु के आक्रमण से सुरक्षित रहकर अपने तीर इस दीवार के पीछे से सेना पर चला सके। मुसलमान लेखकों का कहना है कि बाबर की सेना में केवल १२,००० सिपाही थे, पर वे सब युद्ध-कुशल तथा अनुभवी सैनिक थे; परन्तु तत्सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करने से विदित होगा कि उसकी सेना में इससे बहुत अधिक सिपाही रहे होंगे। पानीपत में कुछ सैनिक तो अवश्य काम आए ही होंगे। गरमी का मौसम होने के कारण काबुल से सैनिकों का आना बन्द-सा था। फिर भी हम देखते हैं कि खानवा के स्थान पर बाबर की सेना में पानीपत से बहुत ज्यादा सिपाही थे। शायद हुमायूँ की सेना के मिल जाने से ऐसा हुआ हो। इसके विरुद्ध सुलतान इब्राहीम की सेना में एक लाख आदमियों का जमघट था। इनमें बहुत थोड़े अनुभवी सैनिक थे। अधिकतर नए और अधकचरे भरती कर लिए गए थे। वे युद्ध के संगठन तथा व्यवस्था को कुछ न समझते थे। सात दिन तक दोनों दल आमने-सामने पड़े रहे। अन्त को इब्राहीम की फौज ने धावा बोला और वह बाबर की सेना के अगले भाग तक जा पहुँची, परन्तु वहाँ सब लोग अनियमित और अस्त-व्यस्त हो गए। इस बुरी अवस्था को देखकर बाबर ने अपने घुड़सवारों को धावा बोलने की आज्ञा दी और तोपें चलानी शुरू कीं। फिर उसने एक दस्ते को बाईं तरफ से हटाकर इब्राहीम की फौज के पीछे भेजा जिससे वह चारों ओर से घिर गई और फिर इस जोर से तीरों की बौछार की कि स्वयं सुलतान इब्राहीम और उसकी सेना के २० हज़ार सिपाही खेत रहे। बाबर की विजय हुई। बाबर की इस सफलता का एक बड़ा कारण यह भी था कि युद्ध-कौशल में इब्राहीम की उससे कोई बराबरी नहीं थी; दूसरे उसकी-सी घुड़सवार सेना तथा तोपखाना इब्राहीम के पास न था। सबसे बड़ा कारण यह था कि बाबर ने ठीक अवसर देखकर उस युद्ध हथकण्डे का प्रयोग किया जिसे उसने उज़बकों से सीखा था; अर्थात् अपनी अश्वारोही सेना की एक टुकड़ी को आनन-फानन शत्रु की सेना के पीछे ले जाना और फिर दोनों तरफ बड़ी तेज़ी से तीरों की बौछार करना। इसके साथ-साथ बाबर ने तोपखाने का भी पूरी

तरह प्रयोग किया। दोनों सेनाओं की तुलना हम ऊपर कर ही चुके हैं। इस पराजय से अफ़गान सत्ता बिलकुल नष्ट हो गई। बाबर के शब्दों में "इब्राहीम लोदी एक वीर सैनिक तो था किन्तु वह अनुभवहीन युवक था और उसे सैनिक-कला के किसी अंग का भी ज्ञान न था।"

**दिल्ली और आगरे पर अधिकार**—इब्राहीम की सेना को नष्ट करते ही बाबर ने सेना का एक चुना हुआ दस्ता भेजकर दिल्ली और आगरे पर अधिकार जमा लिया। दिल्ली पर शीघ्र ही शासन स्थापित कर दिया गया और दिल्ली में २७ अप्रैल को खुतबे में बाबर का नाम पढ़ा गया। बाबर ने दिल्ली पर दखल करके पहला काम यह किया कि वहाँ के सूफ़ियों के मज़ारों की यात्रा की। हुमायूँ को उसने आगरे पर क़ब्जा करने के लिए रवाना कर दिया। उसके पीछे वह स्वयं वहाँ पहुँचा और सुलतान इब्राहीम के महल में ठहरा। इब्राहीम की माँ के साथ बाबर ने बड़े आदर से व्यवहार किया। उसे आगरे के पास ही एक अच्छा महल रहने के लिए दिया और ७ लाख दाम की आमदनी की भूमि उसके व्यय के लिए दी।

हुमायूँ को इब्राहीम के कोष में एक बहुत अद्भुत हीरा भी मिला था जिसका बाद में नाम कोहनूर पड़ा। बाबर के आने पर हुमायूँ ने वह सारी धन-सम्पत्ति जो उसे आगरे के महल में मिली थी, अपने पिता को अर्पण की। बाबर ने वह हीरा तथा कोई ७० लाख दाम की आय की जागीर हुमायूँ को दी। अपने अन्य सरदारों, सैनिकों तथा सिपाहियों को भी उसने बड़ी उदारता से इनाम व जागीरें दीं। इन इनामों में बहुत से दास-दासियाँ भी शामिल थीं। इसी प्रकार के उपहार—सोना, चाँदी आदि की वस्तुएँ, रुपया, गुलाम, लौंडियाँ— उसने अपने सम्बन्धियों को फ़रगना, काशगर आदि देशों में भेजे। इसके अतिरिक्त हिरात, समरकन्द, मक्का, मदीना आदि पवित्र स्थानों तथा सन्त सूफ़ियों को भी उसने जी खोलकर दान दिया। वास्तव में मध्य एशिया का कोई मनुष्य न बचा जिसे इस अवसर पर अच्छा-खासा इनाम न मिला हो। बाबर के इस औदार्य से हमें दो बातों का पता चलता है। एक तो आगरे के खज़ाने की अतुल सम्पत्ति का। दूसरे न सिर्फ़ बाबर के चरित्र का, बल्कि इस बात का भी कि बाबर ने इस विजय को कितना महत्त्व दिया। मध्य एशिया से सर्वथा निराश होने के बाद बाबर ने भारत पर आशा लगाई थी और इस प्रयास में उसे पहली सफलता प्राप्त हुई। यह कारण था बाबर की इतनी खुशी का।

**पानीपत के अनन्तर**—पानीपत की विजय बाबर के लिए एक बड़ी भारी विजय थी परन्तु देश पर स्थायी आधिपत्य हो जाने में अभी बहुत कसर थी। उसके चारों ओर शत्रुओं की घटा-सी छाई हुई थी। पूरब में कई बड़े शक्तिशाली अफ़गान सेनानी और दक्षिण-पश्चिम में राणा साँगा के नेतृत्व में राजस्थान के समस्त राजपूत शूरवीर बाबर को देश से निकालने पर तुले बैठे थे। बाबर एक विदेशी था और देश के हिन्दू-मुसलमान शासक सभी एक होकर उसको नष्ट करना चाहते थे। राणा-साँगा जैसा कठोर हिन्दू भी मुसलमान सरदारों से मिलने को तैयार था। उसने हसनखाँ

मेवाती को लिखा कि 'मुगलों ने देश में प्रवेश कर लिया है और यदि उनको न रोका गया तो जल्दी ही वे हम दोनों को चट कर जाएँगे।' हसनखाँ तथा अन्य अफ़गान भी राणा से ऐक्य करने को तैयार थे। हसनखाँ के अतिरिक्त सुलतान इब्राहीम का भाई महमूद भी राणा से मिल गया। इस देशव्यापी भावना से स्पष्ट है कि वह संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम अथवा जाति-परक नहीं वरन् राष्ट्रीय था। देश के समस्त निवासी एक बाहरी आक्रमण से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने का प्रयास कर रहे थे।

आगरे के निकट संभल व बयाना में क़ासिमखाँ व निज़ामखाँ विरोधी थे। किन्तु गंगा के पूरब का समस्त प्रदेश नासिरखाँ लोहानी व मारूफ़ फरमूली सरीखे योग्य नेताओं के मातहत था। ये सब मिलकर कन्नौज तक बढ़ आए थे और बिहारखाँ के बेटे दरियाखाँ को सुलतान महमूद के खिताब से अपना राजा निर्वाचित कर लिया था।

इसके अतिरिक्त बाबर ने देखा कि जनता उसकी सेना से इतनी भयभीत है और इतनी घृणा की दृष्टि से उन तुर्कों को देखती है कि जिस तरफ उसकी सेना जाती थी वहाँ गाँव के गाँव खाली हो जाते थे। सब लोग अपने घर छोड़-छोड़कर भाग जाते थे। उसको अपनी सेना व घोड़ों के लिए खाना व घास-दाना तक मिलना कठिन हो गया था।

बाबर की परेशानियों का यहीं अन्त न हुआ। सबसे बड़ी समस्या उसके सामने यह आई कि हिन्दुस्तान की गर्मी के मारे तथा उपर्युक्त कठिनाइयों से घबराकर उसके मुख्य सरदारों व साथियों ने मध्य एशिया लौट जाने का निश्चय कर लिया। वे नहीं चाहते थे कि उनको इस देश में ठहरना पड़े अथवा बाबर यहाँ अपना स्थायी निवास बनाए। गर्मी उस वर्ष सामान्य से अधिक पड़ी, और उसके कारण उसके कुछ सैनिक मर गए थे। जब बाबर के कानों तक अपने सैनिकों के लौट जाने के निश्चय की सूचना पहुँची, तो वह अधीर न हुआ और उसने बेगों (अमीरों) की एक सभा बुलाई और उनसे कहा—"दैवी कृपा से मैंने भयानक शत्रु को पछाड़ा है और बड़ी कठिनाई से भारत का राज्य मेरे हाथ आया है। और अब जबकि हमने यह सफलता प्राप्त कर ली तब वह कौन-सी ऐसी शक्ति या भय है जिसके कारण आप अपने राज्य को छोड़कर चले जाने पर उतारू हो रहे हैं? यह कायरता आप लोगों में कहाँ से आई? आप लोगों से मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप लोगों में जो कोई भी अपने को मेरा सच्चा मित्र कहता हो, वह आगे कभी भी इस प्रकार का प्रस्ताव करने का विचार ही न करे। और यदि आप लोगों में कोई ऐसा है जो जाना ही चाहता है तो उसे कोई रोकेगा नहीं, वह तुरन्त चला जा सकता है।" अपने बादशाह की इस अपील को सुनकर सबने वापस लौटने का विचार छोड़ दिया। उनका धीरज तथा उत्साह वापस आ गया। इस अवसर पर बाबर ने एक और युक्ति से काम लिया। क्योंकि राणा साँगा हिन्दू था, बाबर ने मुसलमान सरदारों को

आकर्षित करने के लिए इस लड़ाई को इस्लामी जिहाद का नाम दिया और अपने को भी ग़ाज़ी का ख़िताब दिया। यह विदित ही है कि बाबर इस्लाम मत के प्रचार के लिए लड़ाई नहीं कर रहा था, पर इस अवसर पर यही युक्ति कारगर हो सकती थी। इसलिए हिन्दुस्तान के हिन्दू-मुसलमानों में फूट डलवाने और मुसलमान सैनिकों को अपनी तरफ खींचने के लिए उसने यह चाल चली थी। इसके प्रतिकूल राणा-साँगा ने यह भूल की कि बयाना के मुस्लिम गवर्नर को अपनी तरफ़ करने के बजाय उसे अपना शत्रु बना लिया जिसने बाबर को बड़ी मूल्यवान सहायता दी।

**सीकरी या खानवा की लड़ाई (१५२७)**—इब्राहीम की हार से बाबर को दिल्ली और आगरे में घुसने का अवसर तो मिल गया, परन्तु उसकी शक्ति स्थापित होने में अभी देर थी। उसे अभी एक अत्यन्त भयानक योद्धा और अनुभवी शूरवीर राजपूतों के सिरताज राणा संग्रामसिंह से लड़कर अपने भाग्य का निबटारा करना बाकी था। जब राणा ने देखा कि बाबर का विचार हिन्दुस्तान पर एक स्थायी राज्य स्थापित करने का है, तब वह अपनी सेना लेकर आगरे की तरफ़ बढ़ा। बाबर भी अपनी सेना इकट्ठी करके उसकी ओर चला। आगरे के पश्चिम २३ मील पर सीकरी और खानवा गाँव के पास दोनों योद्धाओं की मुठभेड़ हुई (मार्च सन् १५२७)। साँगा की वीरता का सिक्का देश भर में जमा हुआ था। बाबर के सैनिकों के दिल भी उसके शौर्य की कहानियाँ सुनकर दहल गए। स्वयं बाबर भी हतोत्साह हो गया था। पर उसने भी साहस से काम लिया। शराब के पीपे और प्याले तोड़ डाले और अपने पिछले गुनाहों से तोबा करके ख़ुदा की इबादत की। फिर उसने अपने सैनिकों को उत्साहित किया। कहा जाता है कि इस युद्ध के लिए उसने एक खास और बहुत बड़ी तोप बनवाई थी। वहाँ भी उसने वैसी ही मोर्चेबन्दी की जैसी पानीपत में की थी। यद्यपि बाबर की तोपों की मार से बहुत से राजपूत मारे गए; पर राजपूतों ने भी बाबर की सेना को कम क्षति नहीं पहुँचाई थी। जब बाबर ने देखा कि मेरे सैनिकों की संख्या बराबर कम हो रही है, तब वह स्वयं चुने हुए सवारों को साथ लेकर राजपूतों पर टूट पड़ा। राजपूतों के पैर उखड़ गए और अन्त बाबर के हाथ रहा। राणा-साँगा लौटकर अपने राज्य में नहीं गया और दो वर्ष इधर-उधर रहने के बाद किसी ने उसे ज़हर देकर या और किसी प्रकार मार डाला।

**खानवा के परिणाम**—खानवा के रणक्षेत्र में बाबर के योद्धाओं का साहस तथा शौर्य उतना न था जितना पानीपत के अवसर पर था। यद्यपि अन्त में दैव की सहायता एवं बाबर के धैर्य व रण-कौशल के फलस्वरूप फिर बाबर को सफलता मिली और साँगा की हार हुई, तथापि बाबर के बड़े-बड़े सेनानी राजपूतों की वीरता का लोहा मान गए। तिसपर भी इस घटना का बड़ा भारी व दूरगामी प्रभाव देश के भावी इतिहास पर पड़ा। राजपूत राजाओं का कोई घराना शायद ऐसा बचा हो जिसके वीर इस युद्ध में काम न आए हों। साँगा जब अत्यन्त आहत हो गया तो उसके सैनिक उसे उठाकर मैदान से बचा ले गए। मृत राजपूतों के सरों को कटवाकर

बाबर ने एक मुनारा चुनवाया। जनता के दिलों को भयभीत करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

किन्तु स्थायी परिणाम इस युद्ध का यह हुआ कि राजपूतों की बढ़ती हुई शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई और उनका दिल्ली तथा भारत को अधिकृत करने का स्वप्न विलीन हो गया। बाबर स्थायी रूप से आगरे के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया और उसके जीवन की भाग-दौड़ तथा अस्थिरता समाप्त हो गई। अब उसके समस्त भावी कृत्यों का मानदण्ड एवं उद्देश भारतीय सत्ता को सुरक्षित रखना तथा समृद्ध करना हो गया। इस प्रकार यह युद्ध उसके जीवन में एक मौलिक परिवर्तन लाने का हेतु हुआ। इसके बाद जो लड़ाइयाँ उसने लड़ीं वह अपनी जान की बाज़ी लगाकर किसी राज्य को जीतने या हारने के लिए नहीं, प्रत्युत केवल नए-नए प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य को बढ़ाने के हेतु। बाबर की राजनीतिक बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता इस बात से स्पष्ट है कि इसके बाद उसने काबुल का विचार छोड़ दिया और हिन्दुस्तान को ही अपनी सत्ता का क्षेत्र मनाकर कार्य करना आरम्भ किया।

आगरा पहुँचते ही बाबर ने हुमायूँ तथा अन्य कई सरदारों को पूर्वी प्रदेशों पर अधिकार करने तथा अफ़ग़ानों को वहाँ से निकालने के लिए भेज दिया था। इन सबने थोड़े से अरसे में ही गंगापार का प्रदेश गाज़ीपुर तक, इधर इटावा, काल्पी आदि सब ले लिए। नूहानी और फरमूली अफगान सरदार पीछे हट गए और बयाना तथा ग्वालियर के शासक राजपूतों के डर से बाबर के अधीन हो गए। इस प्रकार प्राय: समस्त हिन्दुस्तान बाबर के राज्य में आ गया।

**चन्देरी की जीत**—चन्देरी का प्रसिद्ध दुर्ग और नगर भोपाल के निकट मालवा के उत्तर में स्थित है। इस स्थान को राणा साँगा ने माण्डू के खल्जी सुलतान से छीनकर एक वीर राजपूत मेदिनीराय को सौंप दिया था। बाबर ने पहले तो शान्तिपूर्वक बातचीच के द्वारा ही चन्देरी को लेने का प्रयत्न किया। उसने मेदिनीराय के पास संदेश भेजा कि यदि वह चन्देरी उसे दे दे तो शम्साबाद उसके बदले में उसे मिल सकता है। मेदिनीराय तथा उसके अन्य सरदारों को यह बात स्वीकार न हुई। बाबर ने तुरन्त चन्देरी पर चारों ओर से धावा बोलकर घेरा डाल दिया। बाबर ने स्वयं लिखा है कि मेदिनीराय के वीरों से बार-बार निकलकर मुग़ल सेना पर बड़ी उन्मत्तता से आक्रमण किए और बहुत से मुगलों को काट डाला। बाबर ने राजपूतों के इस प्रकार जी तोड़कर हमला करने का कारण यह बतलाया है कि उनको यह निश्चय हो गया था कि वे दुर्ग को बचा न सकेंगे। अतएव वे अपने स्त्री व बच्चों को मारकर रणचण्डी के समान शत्रुओं पर टूट पड़े और घमासान युद्ध करते हुए अन्त में सब खेत रहे। अहमद यादगार ने यह लिखा है कि बाबर की सेना की अग्रगामी एक टुकड़ी पहले ही किले अन्दर तक पहुँच गई थी और वहाँ उन्होंने राजा के घराने की स्त्रियों को पकड़ लिया था। ये स्त्रियाँ जब बाबर के पास लाई गईं तो मालूम हुआ, कि इनमें दो युवतियाँ अनुपम सुन्दरी थीं जिन पर कभी किसी मनुष्य की आँख

भी न पड़ी थी। बाबर ने इनको तथा अन्य राजपूत महिलाओं को अपने पुत्रों तथा अन्य सरदारों में बाँट दिया। बाबर का इस अवसर पर ऐसा क्रूर व्यवहार इस कारण हुआ कि वह अपने को ग़ाज़ी तथा इस्लाम का प्रचारक घोषित करके, मानो काफिरों के विरुद्ध लड़ रहा था। यह उसकी नीति थी, वास्तविक बात नहीं। यहाँ हिन्दुओं को वह काफिर बतलाता है, उनको दोजख भेजता है, उनके मृत शरीरों से सरों को कटवाटकर उनका मुनारा चुनवाता है। वह हर प्रकार से ऐसा व्यवहार करता है जिससे बदायूनी सरीखा अनुदार तथा कठोर मुसलमान भी प्रसन्न होजाता।

अहमद यादगार* लिखता है कि "बाबर की सेना को इस अवसर पर इतनी सम्पत्ति हाथ लगी कि उनके दो साल के व्यय के लिए काफी थी। बाबर ने चन्देरी पर अपने एक सरदार अहमदशाह को नियत कर दिया और यह भी तय कर दिया कि चन्देरी के प्रान्त से ५० लाख दाम की आमदनी केन्द्रीय कोष को मिलनी चाहिए।"

**अफ़गानों का विरोध**—पूरब में अफ़गानों की विरोधाग्नि अभी शान्त नहीं हुई थी। १५२८ के फरवरी मास में बाबर को सूचना मिली कि अफ़गानों ने बलवा करने के लिए आगरे की तरफ चढ़ाई कर दी है और वे बिहार को अधिकृत करके गंगा के किनारे तक पहुँच गए हैं। वहाँ पर अफ़गानों ने शम्साबाद तथा कन्नौज पर कब्ज़ा करके बाबर ने प्रान्ताधीश को निकाल बाहर किया। इसकी सूचना पाकर बाबर ने तुरन्त उनका पीछा किया और गंगा के पार अवध तक उनको खदेड़कर वापस चला आया। इसके थोड़े ही समय बाद उसे खबर मिली कि सुलतान सिकन्दर के बेटे महमूद ने बिहार पर फिर कब्ज़ा कर लिया। उसके साथ शेरखाँ जो पहले बाबर की सेना में था, भी महमूद से मिल गया है और उनकी सेना में १ लाख आदमी हैं। मालूम हुआ कि इन विद्रोहियों ने आगे बढ़कर चुनारगढ़ को घेर लिया है। परन्तु बाबर के आने की सूचना पाते ही वे छिन्न-भिन्न हो गए और मोरचा छोड़कर भाग निकले।

**बंगाल व घाघरा-तट की लड़ाई**—अफ़ग़ान विद्रोहियों ने बंगाल में जाकर पनाह ली। बाबर बंगाल के शासक नुसरतशाह से सुलह कर चुका था। अतएव उसने नुसरतशाह को पत्र भेजा कि या तो वह शान्ति बनाए रखने का पक्का वादा करे अन्यथा उसे जो कुछ भुगतना पड़ेगा वह उसके अपने ही कामों का परिणाम होगा। नुसरतशाह ने आनाकानी की। इस पर बाबर ने तुरन्त उसपर चढ़ाई करदी। बक्सर के निकट घाघरा नदी के तट पर दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ और बंगालियों की हार हुई। बाबर ने अपने संस्मरण ग्रन्थ (memoirs) में लिखा कि "बंगाली लोग तोपखाने के प्रयोग के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं किन्तु मैंने देखा कि वे बिना देखे-भाले निशाना लगाए चले जाते हैं।" बाबर ने बंगालियों के विरुद्ध भी उसी युक्ति का प्रयोग किया जिसने उसे पानीपत तथा खानवा के मैदानों में विजयी बनाया था। उसने शत्रुसेना के चारों ओर एक व्यूह-सा बना डाला। अपने एक दस्ते को बंगाली

---

*'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफ़ग़ान' : अहमद यादगार-रचित

सेना के पीछे पहुँचा दिया और एक-एक दोनों तरफों में। इस प्रकार चारों तरफ से मार शुरू की तो बंगाली सेना घबरा गई और छिन्न-भिन्न होकर भाग निकली। बाबर के रणकौशल ने फिर एक बार उसको विजयी बनाया। बंगाल के सुलतान के साथ बाबर ने सन्धि कर ली जिसकी शर्तें यह थीं कि दोनों एक-दूसरे के राज्य में हस्तक्षेप न करेंगे और न एक-दूसरे के विरोधियों को अपनी रक्षा में आने देंगे। इस प्रकार सब अफ़गानों के विद्रोह का दमन करके बाबर आगरे वापस आया।

**बाबर के रचनात्मक कार्य**—बकसर से वापस आकर बाबर ने अपने राज्य को सुसंघटित करने तथा शासन-व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न किया। यह न भूल जाना चाहिए कि बाबर इस देश के लिए बिलकुल अजनबी था, उसे यहाँ की संस्थाओं तथा शासन के कारबार आदि किसी वस्तु का कोई ज्ञान नहीं था। दूसरे, यहाँ की जनता भी अभी तक उसे एक विदेशी आततायी के रूप में ही देखती थी और उसके साथ किसी प्रकार सहयोग करने को तैयार नहीं थी। अतएव उसके लिए इसके अलावा कोई अन्य तरीका ही नहीं था कि वह सामान्य, असैनिक शासन-प्रबन्ध के संचालन के हेतु स्थानीय शासकों तथा कर्मचारियों का सहारा ले। पानीपत के बाद बाबर ने तुरन्त सुलतान इब्राहीम के राज्य के विभिन्न प्रान्तों आदि को अपने सैनिकों में बाँट दिया था किन्तु यह व्यवस्था शाब्दिक ही थी, वास्तविक नहीं, क्योंकि उनमें से अभी तो अधिकतर प्रान्तों पर अधिकार करना ही बाकी था। इससे भी बड़ी समस्या थी अफ़गान व राजपूत विरोधियों का दमन करने की। यह समस्या खानवा की विजय के बाद समाप्त हो गई। अफ़गानों की शक्ति को नष्ट करने में कुछ देर न लगी।

उपर्युक्त परिस्थिति में बाबर को जल्दी-जल्दी पुरानी शासन-व्यवस्था को ही संचालित करना पड़ा। इसका फल यह हुआ जिस प्रकार की केन्द्रित और दृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता राजसत्ता को स्थायी करने के लिए थी, बाबर उसकी नींव तक न रख सका। लोदी सुलतानों की छोड़ी हुई जर्जरित शासन की मशीन से ही उसे काम लेना पड़ा। अपने अमीरों और सैनिकों को उसने विभिन्न प्रदेश देकर प्रायः समस्त आन्तरिक अधिकार सौंप दिए जो कर उनसे वसूल होता था वह शासन-कार्य के संचालन तथा सेना के व्यय के लिए बहुत ही कम था। अतएव जल्दी ऐसा आर्थिक संकट आया कि बाबर को अपने बड़े-बड़े सामन्तों (ठाकुरों) और पदाधिकारियों की आय में से ३० प्रतिशत कटौती लगानी पड़ी। इसके अतिरिक्त स्थानीय शासक लोग धीरे-धीरे स्वतन्त्रता के स्वप्न देखने लगे। उनमें स्वाधीन बनने के भाव उत्तेजित हो गए। बाबर के व्यक्तिगत प्रभाव तथा प्रतिष्ठा के कारण, उसके जीवनकाल में तो यह राजद्रोही भावनाएँ दबी रहीं किन्तु उसके मरते ही हुमायूँ को, विशेषकर उसी नीति का अनुकरण करने के कारण, उनका कडुवा फल पूरी तरह भोगना पड़ा।

हम बतला आए हैं कि बाबर के सामने तात्कालिक समस्या थी अपने नए राज्य को सुदृढ़ रखने की और इस कार्य के लिए सैनिक शक्ति को बनाए रखना

ग्रावश्यक था। बाबर को शासन का न अनुभव था न विशेष ज्ञान। ग्रतएव उसने ग्रपने बेटे हुमायूँ को भी यह ग्रादेश दिया कि राजा को उचित है कि वह सदा ग्रालस्य-रहित तथा उद्योगी रहे, वीरोचित कार्य करे, भयभीत न हो, ग्रपने मन्त्रियों ग्रौर सरदारों से सदा परामर्श करता रहे, ग्रौर सेना की शक्ति तथा संचय को कम न होने दे। राजा का ग्रादर्श बाबर के लिए इतने में ही समाप्त हो जाता था।

बाबर ने ग्रपने राज्य को जागीरों में बाँट दिया था ग्रौर ग्रपने ग्रमीरों ग्रौर सरदारों को इन जागीरों का शासक नियुक्त कर दिया था। इनमें से कुछ जागीरें पुराने हिन्दुस्तानी जागीरदारों के पास भी छोड़ दी गई थीं जिनमें हिन्दू भी थे ग्रौर मुसलमान भी थे। ये सब एक निश्चित रकम भूमिकर के रूप में ग्रपनी-ग्रपनी जागीरों से देते थे। प्रायः ग्रान्तरिक शासन में ये सब स्वतन्त्र थे। बाबर का राज्य पश्चिम में लगभग झेलम नदी के किनारे से पूरब में बिहार तक तथा उत्तर-दक्षिण में सियालकोट से रणथंभौर तक फैला हुग्रा था। बाबर की ग्राय लगभग ५२ करोड़ दाम थी। इस ग्राय का ग्राधुनिक मूल्य निकालना बहुत कठिन है। शासन-व्यवस्था के इस ग्राकार से यह स्पष्ट है कि स्थानीय संस्थाएँ सभी ग्रपने प्राचीन रूप में विद्यमान रही तथा सरकारी कर्मचारीगण भी सब पुरानी व्यवस्था के ग्रनुकूल बने रहे ग्रौर उन्हीं से बाबर ने ग्रपने शासन का संचालन किया। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि बाबर का समस्त शासन विशुद्ध सामन्त प्रथा ( feudal system ) के समान था, यह मत निराधार है। इसमें यूरोपीय सामन्त प्रथा के कोई मौलिक चिह्न नहीं पाए जाते थे। कुछ ऊपरी समानताग्रों के कारण इन लेखकों को यह भ्रान्ति हुई है।*

**ग्रन्तःपुर का षड्यन्त्र**—राजपूतों ग्रौर ग्रफ़ग़ानों को परास्त करने के उपरान्त भारत में बाबर बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था। उसने समझ लिया था कि ग्रब ये लोग मुझे ग्रधिक कष्ट नहीं पहुँचा सकते ग्रौर मेरे साम्राज्य-स्थापन में बाधक नहीं हो सकते। इस बीच में बाबर का स्वास्थ्य भी बहुत कुछ खराब हो गया था ग्रौर इसीलिए वह प्रायः दुःखी ग्रौर चिन्तित रहा करता था। उस समय कुछ लोगों ने बाबर ग्रौर हुमायूँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा था। बात यह हुई थी कि खानवा के युद्ध के बाद ही बाबर ने हुमायूँ को काबुल भेज दिया था, क्योंकि वहाँ कुछ उपद्रव की ग्राशंका हो रही थी। पर जब वहाँ हुमायूँ को उज़बकों के विरुद्ध विशेष सफलता न मिली, तब बाबर ने स्वयं वहाँ पहुँचकर उपद्रवकारियों को दमन करने का विचार किया। पर लाहौर पहुँचते-पहुँचते उसकी तबीयत ज्यादा खराब हो गई, इसलिए वह ग्रागे न जा सका। उस समय कुछ लोगों ने चाहा कि बाबर का सिंहासन हुमायूँ को न मिलकर बाबर के बहनोई मीर मुहम्मद महदी ख्वाजा को मिले। पर जब हुमायूँ को इस षड्यन्त्र का पता चला, तब बदख्शानियों के रोकने पर भी वह बदख्शाँ से

* देखो, 'केम्ब्रिज शार्टर हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया' (१६३४), पृ० ३२८

तुरन्त चल पड़ा; और जितनी जल्दी हो सका, आगरे आ पहुँचा। हुमायूँ और उसकी माता माहम ने मिलकर षड्यन्त्रकारियों का उद्देश सफल न होने दिया। इस षड्यन्त्र के कई कारण बतलाए जाते हैं। इसके मुख्य नेता दो पुरुष थे: ख़्वाजा निज़ामुद्दीन अली मुहम्मद ख़लीफ़ा जो बाबर का मुख्य मन्त्री था और उसका बहनोई मीर मुहम्मद ख़्वाजा। दोनों ही बड़े अनुभवी तथा मँजे हुए पुरुष थे और दोनों ने बाबर को भारतीय संग्रामों में बड़ी सहायता दी थी। बाबर ने हुमायूँ को बदख़्शाँ एक चिट्ठी में आवश्यक परामर्श दिया था और उसे वहीं रहने को कहा था। इससे ये लोग सन्देह करने लगे कि बाबर हुमायूँ से असन्तुष्ट है। साथ ही वे हुमायूँ को इस योग्य न समझते थे कि ऐसी कठिन परिस्थिति में वह राजकाज सँभाल सकेगा। इसके अतिरिक्त और भी कई कारण थे जिनसे इन लोगों को ऐसी धृष्टता करने का साहस हुआ। किन्तु जब हुमायूँ को यह सूचना मिली तो वह वहाँ सारा काम छोड़कर तुरंत लौट आया। यद्यपि वह सहसा बाबर के सामने आ खड़ा हुआ तथापि उसे देखकर बाबर को बड़ा हर्ष हुआ और उसकी आवभगत करके सम्भल का शासन उसे सौंप दिया। सम्भल पहुँचने के थोड़े दिन बाद हुमायूँ बीमार पड़ गया। किन्तु षड्यन्त्र इसलिए विफल हुआ कि ख़लीफ़ा अली मुहम्मद व ख़्वाजा मीर मुहम्मद में फूट पड़ गई। ख़्वाजा ने विचार किया कि बादशाह बनने के बाद वह ख़लीफ़ा को मार डालेगा जिसका पता उसे चल गया।

**बाबर की मृत्यु**—अपने पुत्र हुमायूँ की बीमारी देखकर बाबर बहुत ही दुःखी और चिन्तित हुआ और सोचने लगा कि हो सके तो मैं अपने प्राण देकर भी अपने पुत्र के प्राणों की रक्षा करूँ। उसके अमीरों और सरदारों ने उसे बहुत समझा-बुझाकर रोकना चाहा, पर उसने किसी की एक न सुनी। कहते हैं कि उसने अपने रोगी पुत्र की शय्या की तीन बार परिक्रमा करके ईश्वर से प्रार्थना की कि हुमायूँ के प्राण बच जाएँ और उसके बदले में मैं मर जाऊँ। इस क्रिया पर उसका इतना विश्वास था कि इसकी समाप्ति पर उसने तुरन्त जोर से कहा—"मैंने अपने पुत्र को बचा लिया।" और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। उसी समय से हुमायूँ की अवस्था सुधरने लगी और बाबर की शारीरिक अवस्था, जो पहले से ही बिगड़ी हुई थी, बराबर और बिगड़ने लगी और अन्त में सोमवार २६ दिसम्बर, १५३० को उसका परलोकवास हो गया। मरने से पहले उसने अपने सब अमीरों और सरदारों को एकत्र करके उनसे कह दिया था कि 'मेरा उत्तराधिकारी हुमायूँ है और तुम लोग सदा सब प्रकार से इसकी रक्षा और सहायता करना।' उसके मरने की खबर कई दिनों तक छिपाई गई और २९ दिसम्बर को हुमायूँ सिंहासन पर बैठा। बाबर की लाश पहले तो आगरे में ही रखी गई थी, पर पीछे वहाँ से हटाकर काबुल पहुँचाई गई और वहाँ एक ऐसे स्थान पर, जिसे उसने पहले ही अपने दफ़न होने के लिए चुन रखा था, दफना दी गई।

**बाबर का चरित्र**—इसमें सन्देह नहीं कि बाबर सभी दृष्टियों से बहुत ही योग्य

योद्धा तथा नीतिज्ञ था। वह केवल वीर और योद्धा ही नहीं था, बल्कि बहुत अच्छा विद्वान्, गुणी, सज्जन और सत्यनिष्ठ भी था और उसकी गणना मध्य युग के सर्वश्रेष्ठ विजेताओं में की जा सकती है। वह उच्चाकांक्षी, साहसी और धीर था, सदा अपने बल पर भरोसा रखता था और सब काम बहुत ही समझ-बूझकर करता था। बाबर ने अपने जीवन में बहुत से ऊँच-नीच देखे थे, और इसलिए उसमें अनेक अच्छे-अच्छे गुण आकर एकत्र हो गए थे। उसमें शारीरिक बल इतना अधिक था कि वह दो आदमियों को अपनी दोनों बगलों में दबाकर आसानी से पहाड़ी के ऊपर दौड़ सकता था। वह तलवार और तीर-कमान आदि चलाने में भी बहुत निपुण था। यद्यपि वह शराब प्रायः पीता था और बार-बार शराब छोड़ने की प्रतिज्ञा करके भी शराब नहीं छोड़ सकता था, पर अन्तिम बार खानवा के युद्ध के समय उसने शराब छोड़ने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उसने अन्त तक निर्वाह किया। इससे पहले उसकी यह अवस्था थी कि काफी शराब पी चुकने पर भी अगर कोई बड़ा काम आ पड़ता था, तो वह तुरन्त शराब-कबाब छोड़कर घोड़े की पीठ पर जा पहुँचता था और बिना वह काम पूरा किए दम न लेता था। साथ ही वह शराब पीकर कभी बदमस्त नहीं होता था; और जो लोग बदमस्त या बेहोश हो जाते थे; उन्हें बहुत घृणा की दृष्टि से देखता था। वह अपने सैनिकों की व्यवस्था और मर्यादा का बहुत ध्यान रखता था; और यद्यपि समय पड़ने पर बहुत उग्र रूप धारण कर लेता था, पर फिर भी उसके हृदय में मनुष्यत्व और दया का निवास था। वह प्रायः प्रसन्न रहता था और बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आने पर भी सहसा विचलित न होता था। अपनी प्रजा के सुख का भी वह बहुत ध्यान रखता था और उसके जो कर्मचारी प्रजा को कष्ट पहुँचाते थे या उसकी आज्ञा की अवहेलना करते थे, उन्हें वह कठोर दण्ड देता था। वह अपने सम्बन्धियों, मित्रों और भाई-बन्दों के साथ तो प्रेम का व्यवहार करता ही था, पर शत्रुओं और विजितों के साथ भी उसका व्यवहार बहुत ही उदारता का और सहानुभूतिपूर्ण होता था। उसका अधिकांश जीवन कष्ट भोगने और लड़ाइयाँ लड़ने में ही बीता और इसलिए भोग-विलास करने का उसे विशेष समय नहीं मिला। हाँ, प्राकृतिक दृश्यों का वह बहुत बड़ा प्रेमी था और अपने अवकाश का अधिकांश समय जंगलों, पहाड़ों, झरनों और उपवनों आदि के रसास्वादन में बिताया करता था।

**बाबरनामा या आत्म-चरित**—हम ऊपर कह आए हैं कि बाबर बहुत बड़ा विद्वान् था और उसकी विद्वत्ता उसके उस आत्म-चरित से प्रकट होती है जो उसने तुर्की भाषा में लिखा था और जो बाबरनामा के नाम से प्रसिद्ध है। यह पुस्तक अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्व की, मनोरंजक और उपादेय है और यूरोप की अनेक तथा भारत की कुछ भाषाओं में भी इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। सुप्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने सन् १५९० में फ़ारसी में इसका बहुत सुन्दर अनुवाद किया था और दूसरी भाषा के अधिकांश अनुवाद प्रायः इसी फारसी अनुवाद के

आधार पर हुए हैं। इसमें बाबर के समय की सभी बातों और बड़े-बड़े लोगों का बहुत अच्छा वर्णन है। इसके पढ़ने से बाबर के सभी गुणों का पूरा-पूरा पता चलता है और उसका चित्र आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। विद्वानों का मत है कि बाबर ने जैसा अच्छा आत्म-चरित लिखा है, वैसा अच्छा आत्म-चरित शायद एशिया के किसी और राजा या बादशाह ने नहीं लिखा। उसकी शैली बहुत ही सरल, सुबोध और साथ ही ओजस्विनी है और उसमें किसी प्रकार के अभिमान आदि की गन्ध भी नहीं है। वह उच्च कोटि का लेखक होने के सिवा उच्च कोटि का कवि भी था और फारसी तथा तुर्की दोनों भाषाओं में बहुत अच्छी कविता करता था। उसने अनेक स्थलों और वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के बहुत ही मनोहर वर्णन किए हैं।

**धार्मिक विचार**—बाबर सुन्नी सम्प्रदाय का अनुयायी था, पर उसमें वह कट्टरपन नहीं था जो महमूद गज़नवी या तीमूर लंग आदि में था। धर्म के क्षेत्र में उसकी सामान्य नीति, उदारता अथवा उदासीनता की थी। कारण यह कि वह मुख्यतया एक सैनिक तथा साम्राज्याकांक्षी था। जन्म से ही वह ऐसे वातावरण में पला था जिसमें प्रत्येक सैनिक या सरदार का साम्राज्य-निर्माण के लिए लड़ते रहना ही जीवन का उद्देश तथा व्यापार होता था। जैसा हम खानवा तथा चन्देरी के वृत्तान्त में बतला चुके हैं, हिन्दुओं के विरुद्ध लड़ने और मुसलमानों को भड़काने के लिए वह इस युक्ति से अवश्य काम लेता था कि अपने को इस्लाम के लिए जिहाद करनेवाला तथा गाज़ी घोषित कर दे। किन्तु इस नीति के मूल में जो वास्तविकता थी वह किसी से छिपी नहीं रह सकती।

हिन्दुस्तान की कई त्रुटियों का उसने अपने संस्मरणों में ज़िक्र किया है। वह कहता है कि यहाँ के मनुष्य सुन्दर नहीं हैं, सामाजिक उठना-बैठना, आना-जाना, मानसिक तीव्रता, शिष्टाचार का नितान्त अभाव है। न यहाँ अच्छे घोड़े हैं, न कुत्ते, न अंगूर, तरबूज, या अन्य प्रकार के फल, न बरफ-सा ठण्डा पानी; न बाज़ारों में ही बढ़िया खाने को मिलता है और न यहाँ गरम स्नान-गृह, या महाविद्यालय हैं। फिर उसने यहाँ के खानों, कपड़ों, खेती-बाड़ी, अनन्त धन-दौलत, बरसात के मौसम आदि की प्रशंसा भी की है। यहाँ की झुलसानेवाली लू का भी वर्णन उसने किया है।

वह ईश्वर पर बहुत विश्वास रखता था और प्रायः विपत्ति के समय उसी से सहायता की प्रार्थना करता था। आत्म-चरित में उसने हिन्दुओं की बहुत निन्दा की है और उन्हें नितान्त अकर्मण्य, अयोग्य और गन्दा बतलाया है। उसने लिखा है कि 'भारत में केवल एक ही गुण है और वह यह कि यहाँ सोना-चाँदी बहुत अधिकता से मिलता है।'

तात्पर्य यह कि बहुत-सी बातों में एशिया के दूसरे बादशाहों और राजाओं आदि से बाबर बहुत भिन्न था। उसके पोते अकबर को छोड़कर कदाचित् उसके वंश में और कोई ऐसा नहीं है जो उसकी समता कर सके। चंगेज़खाँ व तीमूर लंग ने अवश्य ही बहुत बड़े-बड़े भू-भागों पर विजय प्राप्त की थी, पर उनमें वे सांस्कृतिक

व मानसिक गुण नहीं थे जो बाबर में पर्याप्त मात्रा में थे । मध्य एशिया में जीवनभर संग्राम करके भी बाबर अपने पैर न टिका सका और अन्त में वहाँ से उसे भागना पड़ा । किन्तु भारत में उसे बराबर सफलता मिली । इससे स्पष्ट है कि बाबर को हम कोई प्रतिभाशाली सैनिक तो नहीं मान सकते । हाँ, भारत में आने के समय उसे दो बातों का विशेष सहारा मिला । एक तो उसका जीवनभर का अनुभव और नए सामरिक नियमों का ज्ञान और दूसरी हिन्दुस्तान के सुलतानों व राजाओं का रणविद्या से अनभिज्ञ होना । किन्तु लैनपूल आदि विद्वानों का यह मत कि सेना-संचालन व शासन-व्यवस्था में उसकी तुलना जूलियस सीज़र से की जा सकती है, निराधार है । शासन का उसे कोई ज्ञान या अनुभव न था । विद्यानुरागी वह अवश्य था । उसकी भाषा ओजस्विनी, उसके विचार तथा लेख अत्यन्त सुस्पष्ट और रोचक थे जिसका अत्युत्तम प्रमाण हमको उसके संस्मरण-ग्रन्थ से मिलता है । इसी कारण बाबर के इस ग्रन्थ की सभी विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतना अद्भुत तथा चित्ताकर्षक संस्मरण ग्रन्थ किसी ऐसे मनुष्य ने जिसे जीवनभर लड़ाइयों से न अवकाश मिला हो न शान्ति, शायद ही लिखा हो ।

**बाबर का इतिहास में स्थान**—संसार के सैनिकों, विजेताओं तथा साम्राज्य-संस्थापकों व नीतिज्ञों में बाबर का स्थान काफ़ी ऊँचा है । उसका जीवन आरम्भ से अत्यन्त कष्टपूर्ण रहा, कहीं उसे चैन से बैठने का अवसर न मिला । उसके नातेदारों ने ही उसका सबसे अधिक विरोध किया और उसे अनेक बार अपने शत्रुओं से परास्त होना पड़ा । परन्तु वह कभी भी हतोत्साह न हुआ । उसने धैर्य तथा आशा को कभी न छोड़ा । इन बातों से हमें उसके उच्च व्यक्तित्व का प्रमाण मिलता है । परन्तु बाबर की विशेषता यह थी कि वह निरा सैनिक ही नहीं था । उसमें मानवता के अनेक गुण भी इतनी मात्रा में थे कि तत्कालीन अन्य तुर्क राजाओं के अन्दर इस प्रकार के व्यक्तिगत गुण बिलकुल नहीं पाए जाते थे। उसमें स्वभाव से ही काव्य, कला, साहित्य आदि सांस्कृतिक विषयों के लिए बड़ी रुचि थी । सबसे अनुपम गुण उसमें यह था कि वह अपने जीवन की हर प्रकार की घटनाओं को इतनी स्पष्टवादिता तथा निरपेक्ष होकर बयान करता है जिसका दूसरा उदाहरण मिलना बड़ा कठिन है ।

बाबर गृहस्थ होने की दृष्टि से भी मानवता से परिपूर्ण जान पड़ेगा। वह अपने परिवार, पुत्र-पुत्रियों तथा सभी बन्धु-बांधवों से बड़ा स्नेह करता था और इसी कारण उसने हुमायूँ को यह परामर्श दिया था कि उसे अपने भाइयों को भी राज्य के भाग देने चाहिए ।

एक विस्तृत राज्य के शासक के रूप में बाबर के जीवन से यह तो स्पष्ट है कि शासन करने का उसे कोई अनुभव न था किन्तु यह भी स्पष्ट है कि उसे इसमें विशेष रुचि न थी । चढ़ाइयों और लड़ाइयों से जो कुछ अवकाश उसे मिला उसको उसने आगरे में बाग, वाटिकाओं आदि को लगाने में व्यय कर दिया । शेरशाह सरीखा शासक उसके स्थान पर कुछ और ही कर डालता । अपने मनोरथ की

सिद्धि के हेतु बाबर अत्यन्त कठोर व निर्दयता का व्यवहार करने से परे नहीं था किन्तु यह गुण या अवगुण तो नृपतियों में सदैव ही रहा है। आजकल के सभ्य कहलानेवाले बड़े-बड़े नामी सम्राट् भी कल्पनातीत अमानुषिकता का व्यवहार करने में नहीं चूकते हैं। बाबर की यह कोई असाधारण त्रुटि नहीं थी। यदि कोई बिरले नृपति इन दुर्गुणों से मुक्त हुए तो वे अँधेरी रात्रि में उज्ज्वल तारों के समान हैं और उनकी संख्या बहुत ही कम है।

उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखते हुए बाबर की गणना इतिहास के कीर्तिमान् पुरुषों व महान् सैनिकों में करना ही उचित होगा।

## ( २ )

## पहली मुग़ल सत्ता का अन्त

**हुमायूँ का राज्यारोहण**—बाबर के राज्य की त्रुटियों व निर्बलता के कारणों पर पिछले अनुभाग में प्रकाश डाला जा चुका है। बराबर के परलोकवास के बाद हुमायूँ को वे सब कठिनाइयाँ तो विरासत में मिलीं ही, उनके अतिरिक्त अन्य कई कारणों से उसकी परिस्थिति अधिक डावाँडोल हो गई। उसके विरुद्ध जो षड्यन्त्र हुआ था, जब कि वह १५२८ में उज़बकों के आक्रमण का दमन करने के लिए बदख़्शाँ भेजा गया था, इस घटना का वर्णन भी हो चुका है। इस प्रकार बाबर के जीवन-काल में षड्यन्त्र रचे जाने से यह स्पष्ट है कि बाबर का स्वास्थ्य एवं मानसिक शक्ति दोनों ही बड़े वेग से क्षीण हो रहे थे।

जब हुमायूँ बदख़्शाँ से सहसा लौट आया तो बाबर ने सुलेमान मिर्ज़ा को उसके स्थान पर भेज दिया। कह आए हैं कि हुमायूँ को बाबर ने संभल का शासक नियुक्त करके वहाँ भेज दिया था। इसके थोड़े दिन बाद हुमायूँ सख़्त बीमार हो गया और बाबर ने अपने आपको अर्पण करके अनन्य पितृप्रेम का परिचय दिया। मरते समय भी तथा उससे पूर्व भी बाबर हुमायूँ को ही अपना उत्तराधिकारी नियत कर चुका था। योग-शय्या पर पड़े हुए उसने अपने अमीरों को बुलाकर कहा था कि "मैं अब रोगग्रस्त हूँ, अतएव मैं तुम सबसे अनुरोध करता हूँ कि हुमायूँ को मेरा उत्तराधिकारी स्वीकार करोगे और उसके आज्ञाकारी तथा स्वामिभक्त रहोगे। मुझे आशा है कि ईश्वर की दया से हुमायूँ अपना कर्त्तव्य सुचारु रूप से पालन करेगा।" २६ दिसम्बर १५३० को बाबर की मृत्यु हुई और ३० दिसम्बर को हुमायूँ राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ।

**हुमायूँ का प्रारम्भिक जीवन** (१५०८-३०)—हुमायूँ की कठिनाइयों का पूर्ण रूप से अनुमान करने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम उसके प्रारम्भिक जीवन को भी जान लें।

हुमायूँ ६ मार्च १५०८ को काबुल के किले में उत्पन्न हुआ था। बहुत छोटी आयु में ही हुमायूँ को अपने पिता के अनवरत संघर्षमय जीवन में सम्मिलित होना

पड़ा। बारह वर्ष की आयु में ही उसे बदख़्शाँ का शासक बनाकर भेजा गया था। बाबर ने स्वयं वहाँ जाकर बड़े समारोह के साथ अल्पवयस्क राजकुमार को उस प्रान्त के शासक-पद पर आसीन किया था। जान पड़ता है कि पानीपत की लड़ाई तक हुमायूँ प्रायः बदख़्शाँ में ही रहा क्योंकि उस चढ़ाई के अवसर पर, जब वह सिर्फ १७ बरस का था, वह बदख़्शाँ से अपनी सेना के साथ बाबर की सहायता के लिए आया था। पानीपत के बाद आगरा जाकर सब कुछ अधिकृत करने, अफ़ग़ानों का दमन करने तथा खानवा के संग्राम में लड़ने आदि सब घटनाओं का निर्देश किया जा चुका है। इस अवकाश में हुमायूँ को बाबर ने बड़े-बड़े कठिन कामों पर लगाया और हुमायूँ ने अपनी वीरता का पूरा परिचय दिया। किन्तु बाबर ने उसके अन्दर कुछ सुस्ती व आलस्य के चिह्न अवश्य देखे थे जिस कारण उसे बड़े प्रबल शब्दों में यह आदेश देने की आवश्यकता पड़ी कि 'सुस्ती व आरामतलबी राजाओं को शोभा नहीं देती। तुम्हारे लिए यह अवसर है कि भयानक जीवन व्यतीत करो, और अपने वीर्य तथा रण-कौशल का परिचय दो, और किसी तात्कालिक समस्या का प्रतिकार करने में आना-कानी न करो।" हुमायूँ ने पिता की इस शिक्षा को ध्यान में न रखा, यह उसके भावी कृत्यों से प्रतीत होगा।

हुमायूँ की शिक्षा-दीक्षा बाबर जैसे बुद्धिमान् पिता ने बहुत उत्तम ढंग से कराई थी, इसका प्रमाण है हुमायूँ की योग्यता। वह चार भाषाएँ जानता था अर्थात् तुर्की, फारसी, अरबी और हिन्दी। ज्योतिष का वह स्वयं बड़ा पंडित था और उस विषय में उसे विशेष रुचि थी। इसी कारण तो उसकी अचानक मृत्यु हुई।

**हुमायूँ की कठिनाइयाँ**—हुमायूँ की कठिनाइयाँ तथा राजनीतिक समस्याएँ प्रथम तो उस परिस्थिति में, जिसमें मुग़ल-राज्य की स्थापना हुई थी, अनिवार्य थीं। हम पिछले अध्याय के अन्त में कह आए हैं कि बाबर को अपने राज्य के शासन-संघटन को सुव्यवस्थित करने का काफी अवसर न मिला और जो कुछ मिला उसका सदुपयोग करने की न तो उसमें क्षमता थी, न शासन-कार्य का अनुभव। इस कारण उसका साम्राज्य एक प्रकार से अर्ध-स्वतन्त्र जागीरों का एक समूह-मात्र था। इसको क़ायम रखने के लिए बराबर सैनिक बल का प्रयोग करने की आवश्यकता थी। दूसरे शब्दों में, इस साम्राज्य का रूप लोदी साम्राज्य की व्यवस्था से किसी प्रकार भी बेहतर नहीं था।

स्वभावतः इतने अव्यवस्थित राज्य के अन्दर शासन-प्रबन्ध वैसा ही दोष-पूर्ण बना रहा जैसा लोदी शासन में था। बल्कि बाबर की अनभिज्ञता के कारण उसको स्थानीय सामन्तों पर और भी अधिक आश्रित होना पड़ा। उसके मरते ही वे सब अफ़ग़ान व हिन्दू सरदार जो बाबर के व्यक्तित्व के कारण भय से दबे बैठे थे, फिर से सर उठाने लगे। अफ़गानों को बाबर ने अपने सैन्यबल से दबा दिया था किन्तु उनकी शक्ति को वह मिटा न सका था। बाबर के लिए तो यह नैतिक आवश्यकता अथवा युक्ति थी कि इन सब शत्रुओं से समझौता कर ले। उसने एक

अवसर पर स्वयं कहा था कि 'मैंने इन लोगों को उनके अधिकार से अधिक जागीरें देकर उन्हें ठण्डा किया है।' राजनीतिक वायुमण्डल की अशान्ति के लिए बाबर की नीति एक आवश्यक परन्तु अस्थायी समाधान था। उसके उत्तराधिकारी उस कच्ची भित्ति पर बैठे हुए सुरक्षित न रह सकते थे। अफ़ग़ानों ने इब्राहीम के विरुद्ध स्वयं बाबर को बुलाया था परन्तु वे इस विदेशी के प्रभुत्व को सहन करने को तैयार न थे। उनमें कई ऐसे नेता थे जो हिन्दुस्तान के सुलतान बनने के स्वप्न देखते थे और उसके लिए प्रयत्नशील भी थे। अफगानों का अड्डा पूरबी प्रदेशों में था। इसमें सुलतान इब्राहीम लोदी का भाई महमूद, जो बाबर की मार से बिहार में जा छिपा था, कुछ अफगान अमीरों की सहायता से आगे बढ़ा और बिहार को उसने अपने अधिकार में कर लिया। बंगाल अभी तक स्वतन्त्र था ही। उसके शासक ने भी महमूद को सहायता दी। किन्तु अफ़गानों में सबसे योग्य तथा अनुभवी सैनिक शेरखाँ सूर था। वह भी विद्रोहियों के साथ शामिल हो गया था। शेरखाँ ने बाबर की सेना में भी थोड़े दिन नौकरी की थी। मुगलों की सैनिक-व्यवस्था को देखकर शेरखाँ ने कहा था कि 'यदि भाग्य ने मेरा साथ दिया तो मैं उनको देश से निकाल कर बाहर कर दूंगा। ये हमसे किसी प्रकार भी रण-कौशल में दक्ष नहीं हैं। हमारा पराभव केवल पारस्परिक कलह के कारण हुआ। इन मुगलों की सेना व्यवस्था तथा अनुशासन से रहित है। उनके नेता अपने कर्त्तव्यों की परवाह नहीं करते और अपने सैनिकों पर नियन्त्रण नहीं रखते, इत्यादि, इत्यादि।' इस बात से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि शेरखाँ ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मुगलों को देश से निकालकर फिर से देशी शासन स्थापित किया जाए।

एक और अफगान सरदार, अलाउद्दीन आलमखाँ लोदी, सुलतान इब्राहीम का चचा जिसने बाबर को आमन्त्रित किया था और बाद को बलवाई हो जाने के कारण बाबर ने उसे बन्दी करके बदख्शाँ भेज दिया था, कारागार से भाग निकला और गुजरात के बादशाह बहादुरशाह की शरण में पहुँचा। गुजरात और मालवा के सुलतान भी दिल्ली पर दाँव लगाये बैठे रहते थे। यह मौका देखकर बहादुरशाह ने आलमखाँ लोदी को लड़ाई की पूरी सामग्री तथा सेना दे दी। वह आगरे पर धावा करने चला किन्तु हारकर भागा और उसकी सेना बिखर गई।

गुजरात के सुलतान ने हुमायूँ के अन्य शत्रुओं को भी इसी प्रकार सहायता दी। वह स्वयं ऐसे अवसर की बाट जोह रहा था जिससे मुगल बादशाह किसी अन्य संघर्ष में फँस जाएँ, तो वह आगरे को निगल जाए। राणा साँगा के पराभव के बाद राजपूतों ने तो होश अभी तक नहीं सँभाला था। किन्तु उनकी नि:शक्तता का लाभ गुजरात का सुलतान पूरी तरह उठाना चाहता था। चित्तौड़ पर चढ़ाई करके

वह आगरे के निकट पहुँचने का प्रयत्न कर रहा था।* बहादुरशाह की इस चाल से आगरे की स्थिति अरक्षित होती जा रही थी।

इन बाहरी विरोधियों व शत्रुओं के अतिरिक्त हुमायूँ के सम्बन्धी कुछ कम विरोधी न थे। इनमें मुहम्मद ज़मान मिर्ज़ा, मुहम्मद सुलतान मिर्ज़ा व मीर मुहम्मद मेहदी ख़्वाजा जो पहले षड्यन्त्र का रचयिता था, सभी निकट सम्बन्धी मुग़ल सिंहासन के इच्छुक थे; क्योंकि मुग़लों में भी उत्तरदायित्व का पूर्ण नियम कभी निर्णय न हो सका। राजवंश का प्रत्येक मनुष्य गद्दी का भागी बन सकता था। इसी से हुमायूँ का दूसरा भाई कामरान, जो अत्यन्त कृतघ्न तथा मितदर्शी था, सबसे भयानक शत्रु अपने भाई का था।

इतनी गहन तथा अनगिनत कठिनाइयों के होते हुए भी हुमायूँ के अपने चरित्र की कुछ ऐसी खेदजनक त्रुटियाँ थीं कि उनके कारण वह अपनी कठिनाइयों को घटाने के स्थान पर बढ़ाता ही चला गया। वह स्वयं बड़ा वीर था; रण-कौशल (tactics) में भी वह अपने समकालीन सैनिकों से कुछ कम न था। किन्तु वह अपनी सुस्ती के कारण सामरिक नीति (strategy) को बिलकुल न समझता था। राज्य की सामरिक परिस्थिति तथा उसकी रक्षा के आवश्यक अंगों का उसे ज्ञान न था। इससे भी परे जब युद्ध उसके सर पर आ ही जाता था तब भी उसको अन्त तक निबटा देने का संकल्प वह न कर सकता था। इसके प्रतिकूल तत्कालीन परिस्थिति इतनी संकटमय थी कि उससे अपनी रक्षा करने के लिए निरन्तर कार्य करने की आवश्यकता थी। किन्तु हुमायूँ में बाबर के से तुरन्त निर्णय करने तथा दबदबे से काम लेने के गुणों का अभाव था। इसी कारण एक लेखक ने कहा है कि 'उसकी विफलता का बहुत कुछ कारण था स्वयं उसकी श्रेष्ठ किन्तु मूर्खतापूर्ण नीति।'

**साम्राज्य का विभाजन तथा प्रबन्ध**—मुग़ल वंश में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम कभी सर्वमान्य न हो पाया था। इसीसे बाबर ने हुमायूँ को आदेश दिया था कि वह राज्य के कुछ हिस्से अपने भाइयों को भी अवश्य दे। अतएव गद्दी-नशीन होते ही हुमायूँ को साम्राज्य के बड़े-बड़े भाग अपने भाइयों को बाँटने पड़े।

*इस घटना से सम्बन्धित एक कपोलकल्पित गाथा प्रचलित हो गई है कि गुर्जरात के सुलतान के चित्तौड़ पर घेरा डालने के समय वहाँ की रानी कर्मवती ने (जो राणा साँगा की विधवा थी) हुमायूँ से सहायता की याचना करने के लिए उसे भाई बनाया और उसे राखी भेजी। आश्चर्य तो यह है कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता के कृत्रिम रूप का डंका बजानेवाले कतिपय गण्य-मान्य लेखक इस निराधार गाथा को वास्तविक इतिहास में स्थान देने से नहीं चूकते। इस गप का आधार हमें यह जान पड़ता है कि राणा साँगा की विधवा हाड़ी रानी और राणा रत्नसिंह में परस्पर विरोध हो जाने पर उसने बाबर से सहायता माँगी थी। इसमें हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रश्न का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। वह तो वास्तव में कर्मवती का स्वार्थ था जिसके लिए वह अपने परम शत्रु बाबर से सहायता माँगने में भी न शरमाई।

कामरान को पंजाब, काबुल व कन्धार जागीर के रूप में दिए गए। पहले उसको काबुल व कन्धार ही मिले थे। जब वह इससे सन्तुष्ट न हुआ तो उसको पेशावर व लमगान भी दे दिए गए। किन्तु वह इतना बेसबरा था कि उसने आगे बढ़कर लाहौर पर भी अधिकार कर लिया। हुमायूँ इतनी कठिनाइयों में फँसा था कि उसने चुपके से कामरान का अधिकार पंजाब पर भी मान लिया और फिर हिसार-फीरोज़ा भी उसे दे दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इतने लालची व स्वार्थी मनुष्य को साम्राज्य का इतना बड़ा तथा सबसे आवश्यक भाग दे देने से ही हुमायूँ ने अपनी स्थिति को अत्यन्त क्षीण कर लिया। इतना ही नहीं हिन्दाल को उसने अलवर (मेवात) की जागीर दी और अस्करी को सम्भल की। अन्य अमीरों की जागीरों में भी वृद्धि की गई। मिर्ज़ा सुलेमान को, जिसे बाबर ने हुमायूँ के चले आने पर बदख़्शाँ भेज दिया, उसी पद पर रखा।

**अन्य घटनाएँ**—साम्राज्य का इस प्रकार निबटारा करके हुमायूँ ने विरोधियों का दमन करने तथा अपनी भूमि को बढ़ाने की योजना की। पहले वह कालंजर की तरफ़ चला। वहाँ के राजा ने तुरंत बादशाह का प्रभुत्व स्वीकार करके अपनी जान बचाई। फिर सुलतान इब्राहीम के भाई महमूद लोदी तथा उसके सहयोगियों को लखनऊ के पास नष्ट करके आगरे लौटा और इस विजय की प्रसन्नता के कारण बड़ा समारोह मनाया। बड़ी भारी जेवनार की और १२,००० दरबारी जोड़े व २,००० जरी के चोग़े अमीरों व सैनिकों को बाँटे। याद रहे कि असंगठित व्यवस्था के कारण उसकी आर्थिक दशा अत्यन्त हीन थी। ऐसी अवस्था में इतने व्यय का करना भारी भूल थी।

**गुजरात पर चढ़ाई**—फिर उसे मिर्ज़ा-भाइयों के विरोध से भुगतना पड़ा। मुहम्मद मिर्ज़ा को गुजरात के सुलतान ने शरण दी। हुमायूँ ने उसे वापस माँगा तो बहादुरशाह ने बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया। उसी समय वह तैयारी करके बहादुर पर धावा करने चल पड़ा, परन्तु ग्वालियर पहुँचकर दो महीने तक रंग-रास में नष्ट कर दिए। फिर वह १५३४ में उत्तर मालवा के मार्ग से गुजरात पर चढ़ाई करने चला। उस समय बहादुरशाह चित्तौड़ का घेरा डाले पड़ा था। हुमायूँ की आने की सूचना पाकर वह अधीर हुआ किन्तु उसके सरदार ने कहा कि 'हम लोग काफ़िरों से लड़ाई कर रहे हैं, ऐसी अवस्था में मुसलमान राजा हुमायूँ हम पर आक्रमण न करेगा।' हुमायूँ ने सारङ्गपुर पहुँचने पर यह बात सुनी तो वहीं ठहर गया। इस घटना से हमें उसके आन्तरिक कट्टरपन का भी पता चलता है और उसकी भारी सामरिक भूल का भी।*

सुलतान बहादुर जब चित्तौड़ का काम समाप्त करके हुमायूँ की ओर चला तब इस मूढ़ बादशाह ने उससे लड़ने की तैयारी की। मन्दसौर के निकट (चित्तौड़

*इस घटना से स्पष्ट है कि 'राखीबंद भाई' बनानेवाली गाथा, जिसका प्रचार कतिपय लेखकों ने किया है, सर्वथा निराधार है।

के दक्षिण में) दोनों सेनाओं का सामना हुआ। हुमायूँ ने शत्रु की सेना में खाने-पीने की सामग्री का जाना बन्द कर दिया। बहादुरशाह मैदान छोड़कर माण्डू की तरफ भागा, फिर वहाँ से चांपानेर होता हुआ अहमदाबाद पहुँचा। हुमायूँ उसका पीछा करता गया। बहादुर अहमदाबाद को आग लगाकर खम्भात भागा, हुमायूँ ने वहाँ तक भी उसे न छोड़ा। किन्तु वह बचकर पुर्तगाली बन्दरगाह दीव में जा छिपा।

हुमायूँ खम्भात से लौटा और चांपानेर आकर वहाँ के खजाने पर कब्ज़ा किया। अहमदाबाद से भी उसे बहुत सम्पत्ति मिली थी। इन सबको उसने बड़े खुले दिल से अपने सिपाहियों में बाँट दिया। बहादुर के सेवकों ने बलवा किया तो अस्करी ने उसे दबा दिया। हुमायूँ ने गुजरात प्रान्त अस्करी को सौंपा और चांपानेर, पाटन, भड़ौच (भृगुकच्छ) आदि प्रदेश अन्य अमीरों को। इस प्रकार अत्यन्त सुविधा से बिना लड़ाई किए गुजरात व मालवा के विशाल व धनी प्रान्त हुमायूँ को मिल गए। किन्तु फिर एक गहरी भूल उसने की कि इस प्रदेश को पूर्णरूप से नियन्त्रण में लेने के बजाय उसे जागीरों में बाँट दिया। इसके बाद वह फिर आगरे लौट आया और आमोद-प्रमोद में मस्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि बहादुरशाह दीव से निकला तो अहमदाबाद के लोग उसकी तरफ उठ खड़े हुए और अस्करी को वहाँ से मार भगाया। इसमें बहादुरशाह को पुर्तगालियों से बड़ी सहायता मिली। अस्करी अहमदाबाद में इसलिए न टिक पाया कि वह स्वयं विलास में निमग्न हो गया था और शराब के नशे में कहने लगता था कि मैं बादशाह हूँ। इसकी सूचना हुमायूँ को पहुँच गई। अस्करी को इसी बीच में बहादुर ने मार भगाया था। हुमायूँ भी माण्डू होता हुआ अस्करी से पहले ही आगरा पहुँच गया था पर उसने अस्करी के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की। इसका फल उसे अन्त में भुगतना पड़ा।

हुमायूँ ने दो बड़े-बड़े किले अर्थात् माण्डू और चांपानेर इस चढ़ाई के दौर में ले लिए थे किन्तु किसी एक ने भी शासन को केन्द्रित व संगठित करने का प्रयत्न न किया। जब अहमदाबाद पर बहादुरशाह ने फिर से अधिकार कर लिया तब हुमायूँ को चेतना हुई और उस प्रान्त पर फिर से धावा किया। अस्करी को आगे भेजकर वह स्वयं पीछे से पहुँचा। बहादुरशाह के वज़ीर ऐमादुल्मुल्क को मुग़ल सेना ने परास्त किया और अहमदाबाद पर फिर से कब्ज़ा किया। इस बार अस्करी की सहायता के लिए उसने एक सुयोग्य अनुभवी सेनापति, हिन्दू बेग़ को भी नियुक्त किया तब अन्य आवश्यक पदाधिकारी रखे। प्रान्त के शासन को संगठित करने की आज्ञा दी। इसी समय पूरब में अफ़ग़ानों का विरोध बढ़ता जा रहा था। उसके मित्रों ने परामर्श दिया कि गुजरात को छोड़कर बंगाल की तरफ जाना तुरन्त आवश्यक है। किन्तु हुमायूँ ने उनकी बात न सुनी। प्रत्युत उसने दीव पर, जहाँ बहादुरशाह छिपा था, हमला करने का विचार किया। किन्तु माण्डू में भी बलवा हो गया था। अतएव वह माण्डू की तरफ चला और उस पर दुबारा कब्ज़ा करके उसमें शासन संगठित करके की योजना की। इसके बाद फौरन ही हुमायूँ को पूरबी प्रांतों की तरफ जाना पड़ा।

उसकी पीठ फिरते ही गुजरात का सुलतान फिर उठ खड़ा हुआ। जनता सब उसके साथ थी। अस्करी उसके सामने न ठहर सका। अहमदाबाद से भागकर चांपानेर आया। किन्तु उसके मुग़ल शासक तरदी बेग ने, जो बादशाह का सच्चा सेवक था, उसे घुसने न दिया। अस्करी की इच्छा थी कि तरदी बेग को क़ैद करके स्वयं बादशाह बनने की घोषणा कर दे। पर तरदी बेग ने अस्करी की सेना को आगरे की तरफ जाने पर विवश किया और स्वयं गुजरात के सुलतान के निकट आने के कारण चांपानेर का बचा-खुचा कोष आदि समेटकर माण्डू में आ रहा। इस प्रकार गुजरात दुबारा हुमायूँ के हाथों से निकल गया। थोड़े दिन बाद इसी प्रकार माण्डू को भी गुजरातियों ने वापस ले लिया।

हुमायूँ ने अस्करी की कृतघ्नता व भयानक इरादों का हाल तरदी बेग़ से सुना किन्तु उसे कुछ न कहा। इसका कारण यह भी जान पड़ता है कि बंगाल की भयानक परिस्थिति का उसे पता था, इसलिए वह भाई-भाई में झगड़ा उठाना अनुचित समझता था।

**शेरखाँ और हुमायूँ**—ऊपर कहा जा चुका है कि गद्दी पर बैठते ही हुमायूँ को पूरब के अफ़ग़ान सरदारों के विरोध का दमन करना पड़ा। इन अफ़ग़ान सैनिकों में सबसे योग्य महत्त्वाकांक्षी व भयानक शेरखाँ था। हुमायूँ को गुजरात की तरफ जाने की जल्दी थी इस कारण शेरखाँ से, जो चुनार के किले में था, वह समझौता करके चला आया। उसके पीछे शेरखाँ को अपनी शक्ति बढ़ाने तथा दृढ़ करने का पूरा अवसर मिल गया। शेरखाँ के भाग्य से मुग़ल सेनापति जुनैयत बरलास मर चुका था और उसके स्थान पर कोई और योग्य शासक न भेजा गया था। शेरखाँ ने समस्त दक्षिण बिहार पर पूरी तरह अपना कब्ज़ा जमा लिया। हुमायूँ अपनी सुस्ती में पड़ा रहा और १५३७ में, जब कि शेरखाँ की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, उसे जाग आई कि शेरखाँ का दमन करना आवश्यक है। जब शेरखाँ ने सुना कि बादशाह उस पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रहा है तब उसने बड़ी युक्ति से काम लिया ताकि उसको अपनी शक्ति को परिपक्व करने का और अवकाश मिल जाए। उसने हुमायूँ को बड़े विनय के साथ पत्र लिखा कि "मैंने तो सन्धि की कोई शर्त नहीं तोड़ी, न बादशाह के राज्य के किसी भाग पर ही कब्ज़ा किया। मैं तो हर प्रकार से बादशाह का सेवक व आज्ञाकारी रहा हूँ।" इस चिट्ठी को पाकर हुमायूँ ने तो चढ़ाई करने का विचार स्थगित कर कर दिया और शेरखाँ ने अपने विश्वसनीय सरदारों को भेजकर बंगाल व गौड़ शहर पर भी अधिकार कर लिया।

अन्त में एक बरस बाद हुमायूँ ने बिहार-बंगाल पर चढ़ाई की और पहले चुनार के किले को लिया। शेरखाँ ने उस क़िले को पहले ही छोड़ दिया था क्योंकि रोहतास व गौड़ उसके लिए अधिक काम के थे। हुमायूँ चुनार से आगे बढ़कर बनारस पहुँचा और शेरखाँ को पत्र लिखा कि उसका इरादा बिहार को ले लेने का है। शेरखाँ ने फिर उसको बहकाने तथा अवकाश पाने के लिए हुमायूँ को लिख

भेजा कि यदि बादशाह वचन दे कि वह आगरे वापस लौट जाएगा तो वह बिहार उसे सौंप देगा और स्वयं बंगाल के अन्दर अपना अधिकार सीमित रखेगा। बादशाह ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया किन्तु बंगाल के सुलतान नुसरतशाह ने उसे सन्देश भेजा कि शेरशाह का विश्वास न करना चाहिए और बंगाल को लिए बिना वापस न जाना चाहिए। इस पर हुमायूँ आगे बढ़ा। शेरशाह उसकी त्रुटियों से परिचित था। उसने गौड़ के महलों को खूब सजाया और फिर उसे छोड़कर दक्षिण की तरफ हट गया। जब हुमायूँ गौड़ पहुँचा तो किसी ने उसका विरोध न किया। शेरख़ाँ हुमायूँ के इस कार्य को एक प्रकार का विश्वासघात व प्रतिज्ञा-भंग करना मानता था। अतएव उसने हुमायूँ को ऐसे जाल में फँसाया जिससे वह फिर निकल ही न सका। गौड़ को खाली छोड़कर शेरख़ाँ ने रोहतास के क़िले को धोखे से ले लिया और उसके राजा को निकालकर उसे अपना रण-केन्द्र बनाया। यहाँ से मुग़लों पर घातक नीति आरम्भ कर दी। हुमायूँ तो गौड़ में आमोद-प्रमोद में अपना अनमोल समय बिताने लगा, पर शेरख़ाँ ने उसके रास्ते तथा बाहर से सम्बन्ध रखने के आधार बन्द करने शुरू कर दिए। उसने बनारस का घेरा डाला और अपने सेनानायक खवासख़ाँ को मुंगेर भेजकर हुमायूँ के सैनिक-शासक को पकड़वा मँगाया। इधर शेरख़ाँ ने बनारस पर अधिकार करके लगभग समस्त मुगल सेना को काट डाला और जौनपुर, बहराइच व संभल तक सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया और इन जिलों से कर भी वसूल कर लिया। जौनपुर से उसने अपनी सेना आगरे को लेने के लिए भेजी। यहाँ बादशाह के भाई मिर्ज़ा हिन्दाल ने बलवा कर दिया था।

**चौसा या बक्सर की लड़ाई**—जब हुमायूँ ने इसकी खबर सुनी तो वह तुरन्त आगरे की तरफ चल पड़ा। उसने चार महीने गौड़ में रंग-रास में नष्ट किए थे। इस अवकाश में शेरशाह ने अपना काम पक्का कर लिया। उसने अपनी सारी सेना जौनपुर आदि से बुलाकर रोहतास के समीप जमा दी और हुमायूँ की तरफ चला। जब हुमायूँ को मालूम हुआ कि शेरख़ाँ आ रहा है तब वह वापस लौट गया और शेरख़ाँ के पास अपने दूत सुलह करने के लिए भेजे। शेरशाह केवल बंगाल के सूबे पर स्वतन्त्र अधिकार माँगता था। बातचीत के बीच में हुमायूँ के प्रतिनिधि शेख खलील ने शेरख़ाँ को चुनौती दे दी। इसके प्रतिकूल शेरख़ाँ ने शेख़ को बहुत से कपड़े आदि भेंट किए और खूब शराब पिलाई। इसके बदले में शेख़ ने शेरख़ाँ को यह विश्वास दिलाया कि मुग़लों से युद्ध करना उसके लिए श्रेयस्कर होगा क्योंकि उनकी सेना में कोई व्यवस्था नहीं है, और न काफी सामान है। इसके अतिरिक्त बादशाह के भाई ही उसके विरुद्ध बलवा कर रहे हैं। तब शेरख़ाँ ने अपने सरदारों से परामर्श करके मुग़ल सेना पर चढ़ाई कर दी। शेरख़ाँ ने अपने सैनिकों से बड़े जोश भरे शब्दों में अपील की कि 'अफ़गानों की मान प्रतिष्ठा पर धब्बा न आने पाए, क्योंकि अब

समय आ गया है कि हम भारत का साम्राज्य वापस ले लें।'*

शेरशाह को मुग़लों का बड़ा भय था और वह बड़ी सावधानी व युक्ति से काम ले रहा था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि हुमायूँ की बेपरवाही तथा सुस्ती के कारण मुग़ल सेना का वह रूप जो बाबर के समय में था, बिलकुल बदल गया था। हुमायूँ अफ़ग़ानों की शक्ति को इतने तिरस्कार के भाव से देखता था कि उसने अपनी सेना का निरीक्षण करने की भी परवाह नहीं की और न इस बात की कि लड़ाई शुरू होने पर किन-किन तरकीबों की आवश्यकता होती है। हुमायूँ ने अपनी एक सेना को आगे बढ़कर शेरशाह की फौज को रोकने के लिए भेज दिया और स्वयं बड़ी बेफिकरी से तैयार होकर आने के लिए कहा। हुमायूँ निस्संदेह बड़ा वीर व साहसी था और शेरखाँ की सेना को अपने सामने तुच्छ समझता था। इसलिए उसने अपनी सेना का निरीक्षण तक नहीं किया और न किसी आवश्यक चीज़ का प्रबन्ध किया। बंगाल के वायुमण्डल ने उसकी सेना में बड़ी अव्यवस्था पैदा कर दी थी। बादशाह ने इस पर भी ध्यान नहीं दिया। शेरख़ाँ लड़ाई के सब मामलों में बड़ा सावधान था और उसे हर प्रकार का अनुभव था। अतएव वह इतनी तेज़ी से मुग़ल सेना पर टूटा कि वे अभी तैयार भी न थे। मुग़ल सेना को तितर-बितर कर देने में उसको एक क्षण भी न लगा। हुमायूँ अभी दैनिक चर्या भी पूरी न कर पाया था कि उसे मुग़ल सेना के विनाश की खबर मिली। अब सिवा भागने के रक्षा का कोई चारा न रह गया था। अतएव परिवार को वहीं छोड़ कर हुमायूँ आगरे की तरफ भागा। हुमायूँ नदी को पार करने के लिए अपने घोड़े को लिए पानी में कूद पड़ा। पर घोड़ा डूब गया और बादशाह संकट में पड़ा। इस समय एक सक्के ने अपनी मशक के सहारे बादशाह को पार उतारा। रास्ते में उसने गंगा के पार आकर एक रात-सारनाथ के निकट एक बूढ़ी औरत की झोंपड़ी में काटी†। शेरखाँ ने हुमायूँ के परिवार को बड़े आराम के साथ आगरे पहुँचा दिया। इस भगदड़ में ८,००० मुग़ल नदी में डूबकर नष्ट हुए। इस विजय के बाद शेरख़ाँ ने तुरत अपने को बादशाह घोषित कर दिया। उसने अपने अमीरों और सरदारों की सहमति से ही यह उच्चतम पद ग्रहण किया था, और वह बादशाहत के भारी कर्तव्यों एवं कठिनाइयों को ख़ूब समझता

---

*शेरशाह ने हुमायूँ से युद्ध करने के पहले इतनी तैयारी की, तथा इतनी सावधानी से एक-एक पग उठाया, इन सब बातों से पता चलता है कि वह मुग़लों की सेना को वास्तव में इतना दुर्बल नहीं समझता था जितना वह शेख़ी मारकर कहता था। इन घटनाओं से तो पता चलता है कि वह बादशाह से बड़ा भयभीत था और सदैव उससे सन्धि या समझौता करने को उद्यत रहता था।

†इस घटना के स्मारक में राजा टोडरमल के पुत्र गोवर्द्धनधारी ने, अकबर के समय में, जबकि वह जौनपुर का शिकदार था, चौखण्डी स्तूप के ऊपर एक अष्टकोण मीनार बनवा दी थी, जो अब तक विद्यमान है।

था। गौड़ के नगर में १५३६ के अन्तिम मास में उसकी ताजपोशी हुई। यहीं उसने शेरशाह की उपाधि धारण की। हुमायूँ की हार का कारण उसकी सुस्ती और बेपरवाही तथा अफ़ग़ानों की सत्ता को तुच्छ समझना था।

**बिलग्राम का रणक्षेत्र : हुमायूँ की अन्तिम हार**—चौसा से भागकर हुमायूँ केवल चन्द सिपाहियों के साथ आगरे पहुँचा। वहाँ पर उसके कृतघ्न व मूढ़ भाई हिन्दाल व कामरान तथा अन्य सम्बन्धी मिले। हिन्दाल को बादशाह ने तुरत क्षमा कर दिया। सबने मिलकर इस संकट से राज्य की रक्षा करने पर परामर्श करना शुरू किया। किन्तु कामरान ने ऐसे अवसर पर भी बड़ी घृणित स्वार्थपरता तथा हृदयहीनता का परिचय दिया। बादशाह की सहायता करने के बजाय उसने लाहौर वापस जाने का प्रस्ताव किया। अपनी सेना को भी उसने भाई की सहायता के हेतु न छोड़ा। केवल २,००० सिपाही सिकन्दर के संचालन में पीछे छोड़ता गया। ऐसे संकटमय समय में जबकि एक-एक क्षण मूल्यवान् था, हुमायूँ और उसके भाइयों ने छः महीने परामर्श तथा वाद-विवाद में बिता दिए। इतने में शेरशाह ने इस अवकाश में हुमायूँ का पीछा किया और काल्पी व कन्नौज तक समस्त भूमि पर अधिकार कर लिया। शेरशाह ने ईसाख़ाँ को माण्डू और गुजरात की तरफ़ रवाना किया और उनको आदेश दिया कि जिस समय हुमायूँ आगरा छोड़कर कन्नौज की तरफ़ आए तुम लोग आगरे के आस-पास के प्रदेश को नष्ट कर डालना। इसी उद्देश से उसने अपने बेटे कुत्बख़ाँ को भी माण्डू भेज दिया। किन्तु हुमायूँ ने मिर्ज़ा अस्करी और हिन्दाल, अपने दो भाइयों को क़ुत्बख़ाँ के विरुद्ध भेजा और उन्होंने उसे कालपी के पास परास्त किया। इसके बाद वे दोनों बादशाह के पास लौट आए। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि मुग़लों का दम्भ व अहंकार फिर बहुत बढ़ गया। वे अपनी शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करने लगे।

इसके बाद हुमायूँ एक बड़ी सेना लेकर कन्नौज पहुँचा और गङ्गा के दायें किनारे पर अपना कैम्प लगा दिया। शेरशाह नदी के दूसरे किनारे पर बिलग्राम के निकट पड़ा हुआ था। उसने अपने सैनिकों से बड़ी व्यग्रता से अपील की कि 'यह दिन तुम्हारी परीक्षा का है। जो कोई इस अवसर पर वीरता दिखलाएगा, उसको मैं सम्मानित करूँगा।' तब उसने अपनी सेना का निरीक्षण किया और उसको समुचित प्रकार से जमाया। इसके उल्टा मुग़ल सेना में कोई व्यवस्था तथा संघटन न था। इसके अलावा इधर के कई सैनिक विद्रोही हो गए। मुहम्मद जमान मिर्ज़ा, जिसे हुमायूँ ने बड़ी उदारता से क्षमा कर दिया था, फिर उसका साथ छोड़कर शेरशाह से जा मिला। कामरान की सेना ने भी विद्रोह कर दिया। अन्य सरदारों में भी यह हवा फैली। तब हुमायूँ ने हमला बोलने का निश्चय करके गङ्गा को पार कर लिया। दोनों सेनाएँ कई दिन तक आमने-सामने डटी रहीं। फिर एक दिन बड़े ज़ोर की बारिश हुई। मुग़ल कैम्प को किसी ऊँचे स्थान पर हटाने की आवश्यकता हुई। मुग़ल सेना में २७ अमीरों के पास तोग नाम के झण्डे थे। परन्तु जब शेरशाह ने हमला

बोला तो उन झण्डों में से एक भी दीख न पड़ा। इन अमीरों की वीरता तथा सैनिक गुण का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि उन्होंने डर के मारे अपने झण्डे उतार लिए थे। शेरशाह की सेना में १५,००० से अधिक सैनिक न थे और बादशाह की सेना में लगभग ४०,००० घुड़सवार थे। किन्तु मुग़ल सेना के संचालकों में हिम्मत नाम को भी न रह गई थी।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हुमायूँ की पराजय के कारण थे स्वयं उसके सैनिकों का विरोध तथा रहे-सहे सैनिकों की कायरता। एक और कारण यह भी था कि मुग़ल सेना के प्रत्येक अफसर के साथ सैकड़ों दास-दासियों का एक झुण्ड चलता था। जब कभी उनके स्वामियों के ऊपर आपत्ति आती तो ये लोग घबराहट में इधर-उधर भागने लगते थे और किसी प्रकार से काबू में न आते थे। इस युद्ध के अवसर पर इन लोगों ने सारी मुग़ल सेना में तहलका मचा दिया। शेरशाह का एक भी सैनिक न मारा गया। क्योंकि मुग़ल सेना इस तरह भाग पड़ी जैसे आँधी में भूसा उड़ जाता है।

**हुमायूँ की वीरता**—परन्तु हुमायूँ ने इस अवसर पर अनुपम वीरता तथा दृढ़ता का परिचय दिया। रणक्षेत्र में वह अपनी समस्त सेना को भागते हुए देखकर भी चट्टान के समान डटा रहा। पर अन्त में यह देखकर कि दैव ही उसके प्रतिकूल है, वह अपनी राजधानी की ओर सुरक्षित लौट आया। उसकी बहुत-सी सेना गंगा में डूबकर नष्ट हुई। इस प्रकार हुमायूँ की सुस्ती व अकर्मण्यता, मुग़ल सेना का अहंकार तथा अव्यवस्था, हुमायूँ के भाइयों आदि का विद्रोह, उसके सैनिकों की कायरता और अन्त में निहत्थे दास-दासियों के निरर्थक समूह की भगदड़—इन सब कारणों से एक तरफ और शेरशाह की सावधानी, कार्य-कुशलता तथा सामरिक योग्यता से दूसरी तरफ, हुमायूँ की पराजय हुई।

इस प्रसंग में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। हमने देखा है कि पानीपत के युद्ध के अवसर पर तथा उसके बाद भी बाबर के सैनिक वीरत्व तथा समरोचित गुणों से भरपूर थे और इसके प्रतिकूल इब्राहीम लोदी की सेना में न वीरता थी और न व्यवस्था। इन दो दलों में इतने थोड़े से समय में ही ऐसा आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया कि अफ़गान सैनिकों में साहस तथा अन्य समरोचित गुण पूर्ण तरह उत्पन्न हो गए और मुग़लों में से ये गुण लुप्तप्राय हो गए। इन दोनों में ऐसे मौलिक उलट-फेर का एक ही कारण था अर्थात् उनके संचालकों की तुलनात्मक योग्यता। तथापि मुग़ल सेना का इतना एकाएक पतन अत्यन्त विस्मयपूर्ण जान पड़ता है। इसका कारण यही हो सकता है कि हुमायूँ ने उनको भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने में प्रोत्साहित किया था।

**हुमायूँ का देश-निकाला : मुग़ल सत्ता का अन्त**—कन्नौज से बचकर हुमायूँ आगरे आया और शीघ्रता से अपने परिवार को इकट्ठा करके दिल्ली की ओर रवाना हुआ और फिर बहुत शीघ्र ही लाहौर पहुँचा। शेरशाह उसका पीछा कर रहा था।

लाहौर में उसके तीनों भाई मिले परन्तु कामरान ऐसी दशा में भी इतना स्वार्थान्ध हो रहा था कि बादशाह से मिलकर अफ़ग़ानों से सबकी रक्षा करने का विचार न किया। वह तो यह स्वप्न देख रहा था कि हुमायूँ के निर्वासन के बाद हिन्दुस्तान का राज्य शायद उसके हाथों में ही आ जाएगा। अतएव उसने हुमायूँ की सहायता न की। हुमायूँ को विवश होकर लाहौर से भी भागना पड़ा। इस संकट से बचने के लिए हुमायूँ के साथियों ने, जिनमें मिर्ज़ा हैदर दौलत भी था, यह प्रस्ताव किया कि काश्मीर की दुरवस्था का लाभ उठाकर, उस पर अधिकार कर लिया जाए। किन्तु कामरान के विश्वासघात तथा शत्रुता के कारण हुमायूँ ने यही ठीक समझा कि सिन्ध की तरफ भागकर अपनी जान बचाए। पर मिर्ज़ा हैदर ने काश्मीर पर हमला करके उस पर अधिकार कर लिया। काश्मीर के सुलतान काज़ी चक्क को शेरशाह ने सहायता भी भेजी पर उसे सफलता न मिली।

हुमायूँ को आशा थी कि उस प्रान्त के राजपूत और मुसलमान सरदार आदि उसकी सहायता करेंगे। पर विपत्ति के समय कोई किसी का साथ नहीं देता। पहले तो कोई हुमायूँ को जल्दी अपने यहाँ ठहरने ही न देता था; और यदि किसी कारण-वश कोई उसे ठहरा भी लेता था, तो यही चाहता था कि हुमायूँ यहाँ से जल्दी चला जाए। इस बीच में उसने एक बार भक्कर पर घेरा डाला था, पर वहाँ से भी उसे भागना पड़ा। इसी अवसर पर उसने शेख़अली अकबर जामी की कन्या हमीदा से विवाह किया था। उसी के गर्भ से आगे चलकर अमरकोट के स्थान पर अकबर का जन्म हुआ था। जोधपुर के राव मालदेव ने उसे सहायता का वचन दिया था, पर बाद में वह भी शेरखाँ से डरकर हुमायूँ को गिरफ्तार करने का प्रयत्न करने लगा। शत्रु भी उसका पीछा करते चले आ रहे थे। हुमायूँ ने वे दिन बहुत बड़ी विपत्ति में बिताए थे और उसके पास खाने-पीने तक का ठिकाना नहीं रह गया था। कभी-कभी तो उसे केवल जंगली फल-मूल आदि खाकर ही निर्वाह करना पड़ता था। अतः वह भागकर अमरकोट चला गया।

**अकबर का जन्म**—इन्हीं भीषण विपत्ति के दिनों में २३ नवम्बर सन् १५४२ को अमरकोट में हुमायूँ के स्वामिनिष्ठ सेवक जौहर ने एक स्थान पर लिखा है कि पुत्र-जन्म का यह उत्सव सिन्ध के रेगिस्तान में बहुत ही गरीबी की हालत में मनाया गया था। उस समय हुमायूँ के पास चीनी की एक तश्तरी और कस्तूरी के एक नाफे के सिवा और कुछ भी नहीं था। उस समय जो थोड़े से आदमी उसके पास थे, उन्हें वही कस्तूरी बाँटते हुए उसने कहा था—"पुत्र-जन्म के उत्सव के समय मैं यही कस्तूरी आप लोगों को भेंट कर रहा हूँ, और मैं आशा करता हूँ कि किसी समय इस पुत्र के कीर्ति-सौरभ का भी सारे संसार में उसी प्रकार विस्तार होगा, जिस प्रकार इस समय इस कमरे में इस कस्तूरी का सौरभ फैल रहा है।" और वास्तव में आगे चलकर हुआ भी ऐसा ही।

**फारस को प्रस्थान**—अमरकोट के राजा की सहायता से हुमायूँ ने सिन्ध में

अपने पैर जमाने का प्रयत्न किया था; पर जब इस प्रयत्न में उसे सफलता न हुई तब वह लाचार होकर वहाँ से कन्धार चला गया। पर वहाँ भी उसके भाई अस्करी ने उसके साथ सज्जनोचित और भाइयों का-सा व्यवहार नहीं किया, बल्कि उल्टा उसे गिरफ्तार करने को अपने सवार भेजे। इसलिए वह वहाँ से फारस चला गया और वहाँ से बादशाह शाह तहमास्प की शरण में पहुँचा।

इसी भागदौड़ में उसका नवजात पुत्र अकबर भी, जिसकी अवस्था केवल एक वर्ष की थी, कन्धार में पीछे छुट गया। पर अस्करी ने इतनी भलमनसाहत अवश्य की कि अकबर को अपने पास बुलवा लिया और साधारण रूप से वह उसका लालन-पालन करने लगा।

फारस का शाह तहमास्प, जिसकी अवस्था उस समय २७ वर्ष की थी, बहुत ही योग्य और सज्जन शासक था। किन्तु वह शिया सम्प्रदाय का कट्टर अनुयायी था उसने हुमायूँ को उसकी असावधानी पर ही डाँटा। यह सब हुमायूँ को चुपके से सुनना पड़ा। तहमास्प ने हुमायूँ का खूब आदर-सत्कार किया किन्तु यह सब अपनी शान दिखाने के लिए। फिर उसने हुमायूँ को इस शर्त पर सहायता देने का वादा किया कि वह शिया मत ग्रहण कर ले। बहुत-कुछ आगा-पीछा करने के उपरान्त अन्त में हुमायूँ को विवश होकर शिया मत ग्रहण करना पड़ा और यह भी स्वीकृत करना पड़ा कि जब वह काबुल और कन्धार पर अधिकार कर लेगा, तब कन्धार इस सहायता के बदले में शाह तहमास्प को दे देगा। तहमास्प ने उसे १४,००० सवार दिए। मार्च १५४५ में हुमायूँ ने कन्धार पर घेरा डालकर अपने भाई अस्करी को परास्त किया और उससे वह नगर ले लिया। कन्धार हाथ में आ जाने से हुमायूँ की अवस्था बहुत-कुछ सुधर गई और तब उसने काबुल पहुँचकर अपने दूसरे भाई कामरान को भी परास्त किया और उससे काबुल ले लिया। उस समय कामरान ने अपना किला हुमायूँ की गोलाबारी से बचाने के लिए एक विलक्षण उपाय किया था। उसने हुमायूँ के पुत्र बालक अकबर को क़िले की दीवार पर इसलिए खड़ा कर दिया था कि कम से कम इसके प्राणों की रक्षा के विचार से ही इस क़िले पर गोलाबारी न की जाएगी। पर फिर भी कामरान हार गया और काबुल पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। उस समय बहुत दिनों बाद पिता हुमायूँ ने अपने पुत्र अकबर को फिर से पाया था। कामरान वहाँ से भागकर पहले तो सलीमशाह सूर के पास फिर गक्खरों के पास गया। पर गक्खरों के सरदार ने उसे हुमायूँ के हाथ सौंप दिया। हुमायूँ ने उसकी आँखें निकलवा लीं और उसकी इच्छानुसार मक्के भेज दिया जहाँ सन् १५५७ में उसकी मृत्यु हो गई। मिर्जा अस्करी भी पकड़ा गया और मक्के भेज दिया गया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम के सब शत्रुओं से निश्चिन्त होकर वह फिर से भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित करने की तैयारियाँ करने लगा।

**हुमायूँ का फिर भारत लौटना**—थोड़े दिन बाद हिन्दुस्तान से सूचना मिली कि सूरी सुलतान इस्लामशाह की मृत्यु हो गई है और उसके परिवारों में परस्पर

झगड़े हो रहे थे। हुमायूँ ने इस अवसर को उपयुक्त समझा और १५४५ के नवम्बर मास में वह काबुल से हिन्दुस्तान की तरफ चल पड़ा। उसने अपने पिता के पुराने साथी और सहायक बैरमखाँ को भी कन्धार से बुला भेजा। वह उससे पेशावर में आ मिला। लाहौर तक हुमायूँ को किसी ने न रोका। वहाँ से उसने जालन्धर, सरहिंद, हिसार आदि सब स्थानों को अधिकार में ले लेने के लिए अपने सैनिक भेजे और उनको भी किसी ने न रोका।

**मच्छीवाड़ा का युद्ध**—दिल्ली पर उस समय सिकन्दर सूर का कब्जा था। उसने ३० हज़ार सेना ततारखाँ व हैबतखाँ के संचालन में सरहिन्द की तरफ़ भेजी। मुग़ल सेना की संख्या बहुत कम थी। फिर भी वे लड़ने को तैयार थे। मुग़ल सेना जालंधर से चलकर सतलज को पारकर मच्छीवाड़ा के निकट अफ़ग़ान शिविर तक पहुँच गई। शाम के समय लड़ाई शुरू हुई। अफ़गान तीरों की वर्षा कर रहे थे किन्तु अँधेरे के कारण इनसे मुगलों की कुछ हानि न हुई। परन्तु अफ़गान लोग मुग़ल गोले-बारूद की मार से पास के एक गाँव में घुस गए। इसके छप्परों में आग लग गई और अफ़ग़ान सेना पर अच्छी तरह प्रकाश पड़ गया। अब तो मुग़ल तीरंदाजों ने उनपर धड़ाधड़ तीर बरसाने शुरू कर दिए। थोड़ी देर में अफ़ग़ान हतोत्साह होकर भाग निकले। उनके बहुत से हाथी तथा अन्य सामग्री मुग़लों के हाथ लगी।

**सरहिन्द का युद्ध**—इस पराजय का समाचार सुनकर सिकन्दर सुलतान ८०,००० सेना और हाथी व तोपखाना लेकर मुग़लों का मुक़ाबला करने के लिए सरहिन्द पहुँचा और वहाँ पर उसने अपना शिविर बड़ी सावधानी से बनाया। मुग़ल सेना ने सरहिन्द के परकोटे को खूब मज़बूत कर लिया और बादशाह के पास सहायक भेजने के लिए खबर भेजी। हुमायूँ ने युवक अकबर को एक सेना के साथ भेजा। मुग़ल सेनापतियों ने उसका बड़ा स्वागत किया। किन्तु मुग़ल सेना संख्या में अफ़ग़ानों के एक-चौथाई के करीब थी। थोड़े दिन तक एक-दूसरे के सामने ठहरे रहने के बाद मुग़लों ने शत्रु पर धावा बोल दिया। बीच में अकबर का दस्ता था और दायें-बायें बैरमखाँ व इस्कन्दरखाँ का। मुग़लों ने सराहनीय वीरता तथा रण-कौशल दिखलाया। अफ़ग़ान सेना थोड़ी ही देर में पीछे हट गई और सिकन्दर भाग गया। इस विजय ने अफ़ग़ानों की कमर तोड़ दी और भारत का राज्य फिर से मुग़लों के अधिकार में आ गया। मुग़ल सेना सामाना तक बढ़ आयी और एक सैनिक को दिल्ली पर अधिकार करने के लिए आगे भेज दिया गया। सिकन्दर सूर शिवालक के पहाड़ में जा छिपा। उसके आघात से लाहौर को बचाए रखने के लिए भी आवश्यक व्यवस्था कर दी गई।

**हुमायूँ फिर दिल्ली में (१५५५)**—जुलाई १६५५ में हुमायूँ फिर दिल्ली में आया। मस्जिदों में उसका नाम खुत्बों में पढ़ा गया और उसके नाम के सिक्के प्रचलित किए गए। जिन अमीरों ने उसकी सहायता की थी, सबको बड़े-बड़े पारितोषिक दिए गए।

हुमायूँ ने दिल्ली पहुँचते ही साम्राज्य के शासन को सुसंगठित करने का विचार किया। शासन-व्यवस्था के लिए उसने एक नई योजना बनाई जिसे वह कार्यान्वित न कर पाया। इस योजना से बादशाह की ज्योतिषशास्त्र में गहरी अभिरुचि का पता चलता है। इस योजना के मुख्य-मुख्य अंगों का सारांश निम्नाङ्कित है—

(१) उसने समस्त साम्राज्य को कई बड़े-बड़े विभागों अथवा प्रान्तों में बाँटने का विचार किया। इनके स्थानीय प्रबन्ध के लिए एक-एक शासन-पटल विभिन्न प्रान्तों के केन्द्रस्थानों में स्थापित किए। इन प्रान्ताधीश पटलों (boards) के पास काफी सेना रहती थी ताकि साधारण समस्याओं अथवा कार्यों को पूरा करने में उनको बाहरी सहायता की आवश्यकता न पड़े। बादशाह की एक बड़ी सेना अलग होती थी जिसके द्वारा वह सब प्रान्तों का निरीक्षण करता और उनमें एकता बनाए रखता था।

(२) देश की समस्त जनता को तीन वर्गों में बाँटा गया :(अ) 'अहले-दौलत' जिसमें राजपरिवार तथा बड़े-बड़े अमीर शामिल थे ; (आ) 'अहले-सआदत', अर्थात् शेख़, सैयद तथा अन्य सब धार्मिक लोग ; (इ) 'अहले-मुराद', अर्थात् सब सुन्दर हृष्ट-पुष्ट, नवयुवक, गायक, कवि आदि। इसी प्रकार समस्त जनता को राशिचक्र (zodiac) के १२ नक्षत्रों के नमूने पर १२ श्रेणियों में विभक्त करने की तैयारी की। इनके प्रतीक स्वरूप १२ प्रकार के तीर तैयार कराए जाने का निर्णय किया। इन तीरों को तीन-तीन वर्गों में बाँटा।

राज्य-प्रबन्ध के हेतु उसकी योजना थी समस्त शासन-कार्य को चार मुख्य विभागों अथवा मन्त्रालयों में बाँटने की। इनके नाम वह चार मौलिक तत्त्वों के नाम पर, आतशी, हवाई, आबी व ख़ाकी रखना चाहता था। इनमें से पहला विभाग सैनिक विषयों से सम्बन्धित होता, दूसरे में घरेलू प्रबन्ध, तीसरे में नहरों व नदियों का, तथा अन्य सब पानी से सम्बन्धित कामों का प्रबन्ध, और चौथे में, खेती-बाड़ी, मकानात, खालसा भूमि आदि विषयों का प्रबन्ध किया जाता। इस प्रकार एक बड़ा विलक्षण किन्तु विचारपूर्ण विधान हुमायूँ ने अपने साम्राज्य के लिए बनाया था। यदि यह विधान कार्यान्वित किया जा सका होता तो एक नया अनुभव तत्कालीन शासन के क्षेत्र में हो गया होता।

**हुमायूँ का चरित्र**—हुमायूँ की जीवन-घटनाओं से उसके चरित्र का पूरी तरह परिचय हो जाता है। उसका व्यक्तित्व हर प्रकार से उत्कृष्ट और श्रेष्ठ था। शौर्य, उदारता, दया उसके विशेष गुण थे। अपने कुटुम्बियों के लिए उसके हृदय में बड़ा प्रेम व वात्सल्य था। उसके इन गुणों के कारण ही उनके राज्योजित गुणों में, जो विशेषकर उस अराजकता के युग में आवश्यक थे, बड़ी दुर्बलता आ गई थी। उसकी भलमनसाहत ही उसका दोष बन गई थी। मिर्ज़ा कामरान जैसे स्वार्थी, निर्दयी व कृतघ्न भाई को कितनी बार उसने क्षमा किया। इस प्रकार के उदाहरण इस्लामी बादशाहों के इतिहास में इने-गिने हैं। उसके समकालीन तथा बाद के लेखकों ने मुक्त कण्ठ से उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा की है। उसका चाचा मिर्ज़ा हैदर दौलत, तारीखे-

रशीदी का लेखक, जो बाबर का चचेरा भाई तथा सहयोगी था और जिसने आँधी-
पानी में हुमायूँ का साथ दिया था, कहता है कि 'उसने इतना सहृदय, सज्जन तथा
तीव्रबुद्धि मनुष्य शायद ही कभी देखा हो। उसमें बुरी संगति से केवल एक ही भारी
दोष आ गया था, अर्थात् अफीम का प्रयोग जिसके कारण उसके अन्दर बड़ी शिथि-
लता तथा अकर्मण्यता आ गई थी और जो बहुत कुछ कष्टों का कारण बनी।
अपने पिता तथा तीमूर सरीखे पूर्वजों का दृढ़ संकल्प, दूरदर्शिता, तत्परता आदि
आवश्यक गुणों का हुमायूँ के अन्दर अभाव था। भोग-विलास तथा आमोद-प्रमोद
भी उसे प्रिय था। साथ ही वह बड़ा कट्टर मुसलमान भी था। अपनी दैनिक चर्या में
वह कभी भी भूल न करता था। और, जैसा हमने चित्तौड़ की चढ़ाई के अवसर
पर देखा, यदि काफ़िरों के विरुद्ध उसे जोश दिलाया जाता तो वह अवश्य प्रभावित
हो जाता था।'

विद्याव्यसन, कला व शिल्पादि में रुचि भी हुमायूँ की किसी से कम नहीं
थी। वह स्वयं सुशिक्षित था और ज्योतिषशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था। इसी कारण
वह ज्योतिषियों का बहुत मुरीद (मुक्त) एवं वहमी हो गया था और कोई काम बिना
उनसे पूछे न करता था। इस कारण उसमें समयोचित दृढ संकल्प, स्थिरता एवं
उद्योग का अभाव-सा था। अत्यन्त संकटमय अवसरों पर भी उनका तुरन्त महत्त्व
समझने में उसे देर लगती थी। यदि वह साम्राज्य के पूरी तरह स्थापित हो जाने के
बाद बादशाह बना होता तो शान्ति व सुरक्षा के वायुमण्डल में वह अवश्य ही सांस्कृ-
तिक उन्नति में सहायक होता।

**हुमायूँ की मृत्यु**—दिल्ली पहुँचने के बाद हुमायूँ कुछ आराम करना चाहता
था और इस अभिप्राय से उसने विभिन्न विभागों तथा सैनिक आवश्यकताओं के लिए
पदाधिकारी नियुक्त कर दिए। किन्तु उसको भाग्य ने चैन से न बैठने दिया। उसके
पंजाब के शासक ने विद्रोह करना शुरू कर दिया। अतएव हुमायूँ को बैरमखाँ के
साथ राजकुमार अकबर को पंजाब का शासक बनाकर भेजना पड़ा। पंजाब की इस
अव्यवस्था से सिकन्दर सूर को एक बार फिर पंजाब को लेने का प्रयत्न करने का
अवसर मिल गया (सूरी वंश के अन्तिम बादशाहों का वृत्तान्त अगले अध्याय में
दिया जाएगा।)

हुमायूँ के सामने केवल पंजाब की ही समस्या नहीं थी। पूर्वी प्रान्तों में भी
अनेक नए-नए सेनानी इस अस्थिर दशा का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाने का
यत्न कर रहे थे। इन सबको दमन करने के लिए अलीकुलीखाँ सरवानी बदायूँ की
तरफ़ भेजा गया। उसने बड़ी सफलता से विद्रोहियों का दमन करके शहर पर
अधिकार कर लिया।

इन्हीं घटनाओं के दिनों में हुमायूँ की जीवन-लीला एक अचानक दुर्घटना से
समाप्त हो गई। वह २४ जनवरी १५५६ को अपने महल के अन्दर पुस्तकालय की
छत पर बैठा हुआ सितारों को देख रहा था। इतने में उसने नमाज़ के समय की अजाँ

सुनी और अपनी छड़ी के सहारे झुकना चाहा किन्तु छड़ी के फिसल जाने से वह छत से लुढ़कता हुआ नीचे गिर गया और उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गई। दो दिन जीवित रहने के बाद २६ जनवरी को उसकी मृत्यु हो गई। अकबर को उसके आहत होने की सूचना पहले ही भेजी जा चुकी थी। उस समय की संकटमय परिस्थिति के कारण हुमायूँ की मृत्यु को यथासंभव छिपाया गया और सेना को भी इसकी सूचना न दी गई। २४ फरवरी को इस घटना की खबर अकबर को मिली और उसी दिन अकबर को अपने पिता का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया।

पच्चीस

# सूरी साम्राज्य का उत्थान व पतन

**सूरी वंश के संस्थापक का प्रारम्भिक जीवन**—सूरी वंश का संस्थापक शेरशाह, जिसका जन्म का नाम फ़रीद था, परगना बेजवाड़ा के किसी गाँव में सं० ८७८ हि० के रजब मास (१४७३ ई० के अन्त) में उत्पन्न हुआ था।*

---

*शेरशाह की जन्म-तिथि तथा जन्मस्थान के विषय में कानूनगो का मत था कि वर्ष १४८६ में 'हिसार-फ़ीरोजा' के शुभस्थान पर उत्पन्न हुआ था। इस मय का सर्वथा काल्पनिक व निर्मूल होना लेखक ने 'बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी' के जर्नल, जि० २०, सन् १९३४ में एक लेख में पूरी तरह सिद्ध करके यह बतलाया था कि शेरशाह १४७३ के अन्तिम दिनों में उत्पन्न हुआ था, और यह कि कानूनगो के मत में कम से कम १३ बरस की भूल थी। लेखक ने इस स्थापना के तीन प्रकार के प्रमाण उपस्थित किये थे : (१) अब्बास सरवानी एवं अन्य सब तत्कालीन इतिहासकारों के अनुसार शेरशाह के जीवन में बहलोल लोदी के मरने से पहले इतनी घटनाएँ कई वर्षों तक हुई थीं कि उनका होना किसी दो बरस के बालक के जीवन में असम्भव है। कानूनगो के मतानुसार बहलोल की मृत्यु के समय फ़रीद (शेरशाह) केवल दो या ढाई बरस का था। (२) सर सैयद अहमदखाँ ने 'जामे जम' नामक एक सारिणी (chart) भारत के समस्त मुसलमान बादशाहों की, (तीमूर के बाद) सभी तत्कालीन फारसी इतिहासों का पूरा अध्ययन करके १८४६ ई० में बनाई थी। उसका प्रामाणिक होना इस बात से सिद्ध है कि उसके अन्दर अन्य जितनी तिथियाँ दी हैं वे सब ठीक हैं। (३) शेरशाह का एक चित्र 'तज्किराए-खानदाने तैमूरिया' (बाँकीपुर पुस्तकालय) में विद्यमान है। यह ग्रन्थ हस्तलिखित है और शाहजहाँ के समय का लिखा हुआ है, तथा शाही पुस्तकालय का ही है। उस चित्र के ऊपरी हाशिए पर शेरशाह की यही जन्म-तिथि दी हुई है। और इसी को ठीक मानकर यह सम्भव हो सकता है कि शेरशाह बहलोल लोदी की मृत्यु से पूर्व इतना बड़ा हो गया कि अपने पिता से बातचीत करे और उसके स्वामी मस्नदे आली के पास जाकर जागीर माँगे, इत्यादि। इतने अकाटच प्रमाणों के होते हुए भी (और जिन्हें विद्वानों ने स्वीकार भी कर लिया है) कुछ पाठच-पुस्तकों के लेखक कानूनगो की पुरानी लकीर

१४५१ में जब बहलोल लोदी सिंहासनारूढ़ हुआ, उसकी परिस्थिति इतनी अस्थिर थी कि उसने अफ़गानों की शक्ति को प्रबल करने के लिए अफ़गानों के प्रदेश से सब अफ़गानों को बुलावा भेजा कि उसकी सहायता के लिए हिन्दुस्तान आएँ। इस बुलावे से प्रोत्साहित होकर बहुत से अफ़गान रोह से हिन्दुस्तान आए। इन आगन्तुकों में शेरशाह का दादा इब्राहीम सूर भी अपने पुत्र हसनखाँ के साथ हिन्दुस्तान आया और दोनों ने हरियाना के जागीरदार मुहब्बतखाँ सूर, दाऊद साहू खैल की नौकरी की और बेजवाड़ा में निवास किया। यहाँ कुछ समय बिताने के बाद फ़रीद का जन्म हुआ। थोड़े दिन बाद इब्राहीम सूर मुहम्मदखाँ की नौकरी छोड़ हिसार-फ़ीरोज़ा के जागीरदार जमालखाँ सारंगखानी की नौकरी में चला गया। जमालखाँ ने उसे नारनौल का परगना जागीर में दिया। हसनखाँ इस समय सरहिन्द, भटनेर आदि परगनों के जागीरदार मस्नदे आली उमरखाँ सरवानी कल्कापुर, खाने-आज़म के यहाँ नौकर हो गया और वहाँ उसे एक जागीर मिल गई। तदनन्तर एक बार बालक फ़रीद ने अपने बाप हसन से ज़िद करके मस्नदे आली के पास जाकर अपने लिए भी एक जागीर माँगी और उस बालक की तीव्र बुद्धि से प्रसन्न होकर मस्नदे आली ने उसे एक छोटी सी जागीर दी। इसके कई बरस बाद इब्राहीम सूर की मृत्यु हुई और हसन छुट्टी लेकर अपने परिवार के पास नारनौल आया। इसके कुछ दिन बाद सुलतान बहलोल लोदी की मृत्यु हुई और सिकन्दर लोदी ने अपने भाई

को पीटे चले जाते हैं और हमारे प्रमाणों को यह कहकर कि वे तो १६वीं शती के एक ग्रन्थ के आधार पर हैं इसलिए माननीय नहीं हैं, अपने हठ की तुष्टि करते हैं। यदि वे ध्यानपूर्वक हमारे पहले प्रमाण का अध्ययन करते तो उन्हें अपनी भूल समझ में आ जाती। इस विषय के विशद् विवेचन के लिए देखो लेखक की पुस्तक 'स्टडीज़ इन मेडीवल इंडियन हिस्ट्री', अध्याय २। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक आश्चर्य व खेद की बात यह है कि डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने अपने 'राइज़ एंड फॉल ऑफ दी मुगल एम्पायर' में लिखा है (देखो, पृ० ११५) कि शेरशाह के जन्म की ठीक तिथि अज्ञात है यद्यपि १४७२ और १४८६, इन दो तिथियों के सुझाव दिए गए हैं। इस प्रश्न पर अपने मत के पक्ष में इस लेखक ने आज से २६ बरस पहले एक लेख के द्वारा अकाट्य प्रमाण दिए थे, और श्री कानूनगो के मनगढ़न्त मत की सर्वथा निराधारता सिद्ध की थी। तब से श्री कानूनगो तथा उनके नवीन समर्थक डा० त्रिपाठी ने किसी रूप में भी हमारे प्रमाणों को निराधार बतलाने का कष्ट नहीं किया। इसके बाद हमने उक्त पुस्तक में अपनी स्थापना की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी उपस्थित किए। इन सबको दृष्टि में रखते हुए हमारी स्थापना को केवल एक सुझाव कहकर श्री कानूनगो के सुझाव के साथ तुलना करने का साहस यदि कोई विद्वान् कर सकता है तो हम उसके उत्तर में यही कहेंगे कि 'बलिहारी है इस वैज्ञानिकता व निष्पक्षता की!'

बारबकखाँ के विद्रोह से तंग आकर जौनपुर के विस्तृत सूबे का शासक जमालखाँ को बनाया। जमालखाँ हसन को अपने साथ ले गया और सहसराम, ख़वासपुरटाँडा तथा हाजीपुर के परगने उसे जागीर में दिए।

जिस समय हसन सहसराम पहुँचा था, फ़रीद की आयु २० बरस से ऊपर हो चुकी थी। हसन ने चार शादियाँ की थीं और वह अपनी नवयुवती छोटी बीवी पर इतना मोहित था कि उसके पुत्र की खातिर सबसे बड़ी स्त्री तथा उसके पुत्र, फ़रीद और निजाम के साथ बुरा बरताव करता था। अतएव कई बार फ़रीद से उसकी कहा-सुनी हो गई थी जिससे दुःखी होकर फ़रीद जौनपुर चला आया और जमालखाँ के संरक्षण में रहकर अरबी, फ़ारसी, कानून (फिकाह) आदि तथा अन्य देशों का इतिहास अध्ययन करना शुरू किया। कुछ दिन बाद हसन, जमालखाँ के दरबार में आया तो उसके बन्धु-बान्धवों ने जो जौनपुर में थे और फ़रीद के गुणों से बड़े प्रभावित थे, उसे बहुत शर्मिन्दा किया कि उसने ऐसे सुयोग्य पुत्र को केवल एक लौंडी के कारण घर से निकाल दिया। इस पर हसन ने फ़रीद से मेलमिलाप करके उसे ख़वासपुरटाँडा और हाजीपुर का स्थानापन्न जागीरदार या शासक बनाकर भेज दिया। फ़रीद ने इस कार्यभार को १५०४ के लगभग सँभाला होगा। सहसराम जाते समय उसने अपने पिता से कहा कि 'मैं अपने प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप न होने दूँगा और जनता की उन्नति तथा आर्थिक सुधार के लिए पूरी तरह प्रयास करूँगा।'

**शेरशाह का प्रारम्भिक अनुभव**—यहीं से फ़रीद का शासन-सम्बन्धी अनुभव आरम्भ होता है। उसने इस अवसर का पूरा फायदा उठाया और बड़े ध्यान तथा योग्यता से जागीर का शासन किया। उसने प्रत्येक शासन-विभाग के अंग-प्रत्यंग का पूरी तरह अध्ययन किया। विशेषकर उसने भूमिकर तथा प्रचलित अथवा व्यावहारिक विधान को खूब समझ लिया। घूसखोरी, सरकारी कर्मचारियों के अत्याचारों, डकैती व लूट-मार तथा राजविरोध आदि सब प्रकार के दुष्कृत्यों का बड़े बलपूर्वक दमन किया तथा घोषणा कर दी कि किसानों की खेती कोई भी किसी हालत में हानि न पहुँचाए। यदि कोई किसान उससे मिलना चाहे तो उसे कोई न रोके। उसने अन्यायी जमींदारों को कड़े दण्ड दिए और हर प्रकार से किसानों को सुखी व सम्पन्न बनाने का यत्न किया। इस उद्देश की पूर्ति के हेतु फ़रीद ने अपनी सेना को भी बड़े ओजस्वी शब्दों में आदेश दिया कि किसानों की रक्षा करे क्योंकि उनके परिश्रम पर ही राज्य की श्री-सम्पत्ति तथा शक्ति निर्भर है।

**बन्दोबस्त सुव्यवस्थित करने का पहला प्रयोग**—उपर्युक्त सामान्य आदेश देने के बाद शासन-व्यवस्था के सुधार में फ़रीद ने सबसे मौलिक विभाग को पहले लिया भूमिकर निर्णय करने की विभिन्न विधियाँ भारत में प्राचीन काल से प्रचलित थीं। मुसलमानों का शासन स्थापित होने पर मापन विधि (Measurement) स्थगित हो गई थी। अलाउद्दीन खल्जी के समय में यह प्रथा फिर शुरू की गई और मुहम्मद तुग़लक़ के काल तक किसी प्रकार चलती रही। फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने इसको बन्द कर

दिया। तब से भूमिकर-मूल्यांकन के केवल दो उपाय प्रचलित थे। अर्थात् 'बटाई' व कनकूत। 'बटाई' का अर्थ यह था कि जब खेती पककर तैयार हो जाए और काटकर उसके पूले या गट्ठे बाँध लिए जाएँ तो उसे तौलकर किसान और राजा के निश्चित भाग बाँट लिए जाएँ। बटाई का दूसरा तरीका यह भी था कि जब खलिहान में अन्न निकालकर ढेर लगा दिया जाए तब उसे बाँटा जाए। कनकूत का अर्थ यह था कि बिना कटे खेत की पैदावार को देखकर ही अनुमान कर लिया जाता था और उस अनुमानित मात्रा के अनुसार सरकार का हिस्सा किसान को देना पड़ता था। इन दोनों तरीकों में किसान को धोखा देने और सरकार कर्मचारियों को गरीब किसान पर अत्याचार करने का काफी मौका था। अतएव शेरशाह ने अपनी जागीर के प्रबन्ध में ही, जो उसका पहला शासन था, मापन-विधि को प्रचलित करने का प्रयत्न किया तथापि उसने किसानों को यह मौका दिया कि जिस विधि में उनको आसानी हो उसी को वे लागू करवा सकते हैं। उसकी योग्यता इस बात में थी कि उसने इतनी जल्दी मापन-विधि को शुरू करके किसानों को यह देखने का अवसर दिया कि किस विधि से उनको अधिक सुविधा तथा लाभ होता है। दूसरा प्रश्न इस सम्बन्ध में था वसूलयाबी का, अर्थात् किस प्रकार और किस सूरत में राजकर वसूल किया जाए। इसमें भी शेरशाह ने किसानों को अधिकार दिया कि अपनी इच्छानुसार वे चाहे नकद दें या जिन्स। यदि वे जिन्स देते थे तो सरकारी कर्मचारी बाजार-भाव से उसे बेचकर पैसा सरकारी खजाने में जमा करते थे, अथवा सरकारी भण्डारों में भर देते थे। तीसरी समस्या थी सरकारी 'भोग' (भूमिकर की मात्रा) की, अर्थात् कुल पैदावार का कितना भाग राजा को लेना चाहिए, या लेता था। हिन्दू-राज्यकाल में हिन्दू-स्मृतियों के अनुसार साधारणतः पैदावार का $\frac{1}{6}$ राजा का भाग होता था। तुर्की-मुसलमान सुलतानों ने $\frac{1}{3}$ अर्थात् हिन्दुओं से दुगुना भूमिकर लगाया और अलाउद्दीन खल्जी ने उसको बढ़ाकर $\frac{1}{2}$ अर्थात् ५० प्रतिशत कर दिया। जान पड़ता है कि अलाउद्दीन के बाद फिर साधारणतया सुलतान $\frac{1}{3}$ ही वसूल करते रहे और इसी को शेरशाह ने जारी रखा। इस प्रकार सब मामलों को निश्चय करके फ़रीद ने किसानों से अहदनामे (स्वीकृति पत्र) लिखवाए और शासक की तरफ से उनको इस प्रकार संकल्प-पत्र दिए गए। इसके बाद फ़रीद ने नापनेवालों तथा कर वसूल करने वालों के शुल्क नियत किए, और अन्त में फिर एक बार राजकीय कर्मचारियों को आदेश दिया कि याद रखो कि खेती गरीब किसान की मेहनत पर आश्रित है। अगर वे सुखी व सम्पन्न होंगे तो खूब पैदा करेंगे और अगर दुखी व विपन्न होंगे तो कुछ न करेंगे। उसने यह भी कहा कि मुझे अच्छी तरह पता है कि किसानों को सरकारी कर्मचारी कितना सताते हैं। उसने इस अन्याय को बन्द करने का उपाय बतलाया और यह भी कहा कि भूमिकर लगाते समय तो राज-कर्मचारियों को नरमी से काम लेना चाहिए किन्तु वसूल करने में कोई नरमी नहीं

दिखलानी चाहिए। और यदि कोई किसान कर की अदायगी में आनाकानी करता हो तो उसको कड़ी सज़ा देनी चाहिए।

भूमिकर के ये सिद्धान्त फ़रीद ने अपने पहले शासन में ही संचालित कर दिए और इनके अन्दर उसको अपने साम्राज्य-शासन में भी कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता न हुई। उसके इस प्रकार अविलम्ब रूप से प्रबन्ध-व्यवस्था में संशोधन करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसके समकालीन शासन की त्रुटियों व शासकों के अन्यायों का उसे पूरी तरह अनुभव था एवं उसने यह भी समझ लिया था कि अवसर पड़ने पर वह किस प्रकार इस दुरवस्था का सुधार करेगा। जब उसने किसानों को सन्तुष्ट करके वापस भेज दिया, तो अपने अफसरों से कहा कि यदि कोई शासक किसानों की रक्षा नहीं कर सकता तो उसे उनसे कर लेने का कोई अधिकार नहीं है। उसे मालूम था कि कुछ जमींदार ऐसे थे जो विद्रोहात्मक व्यवहार कर रहे थे और किसानों पर बहुत अत्याचार करते थे। इस गिरोह का दमन करने में उसने एक पल भी देर न की। उसने एक सेना तैयार करके समस्त विरोधी जमींदारों को नष्ट कि या, उनके माल को लूटा और कुटुम्बियों को दास बनाकर बेच डाला तथा उनकी भूमि पर दूसरे किसानों को बुलाकर बसाया। फ़रीद के इस प्रकार विरोध का दमन करने से यह सिद्ध होता है कि उसका शान्ति स्थापित करने का सिद्धान्त यह था कि विरोधियों को पहले इतने कठोर दण्ड दिए जाएँ कि भयभीत होकर फिर कोई शरारत करने का विचार ही न कर सके। इसी उपाय से फ़रीद ने लूटमार तथा चोरी आदि को भी समाप्त किया। साफ जाहिर है कि लोदियों के राजत्व-काल में कितनी अव्यवस्था थी और ऐसी अराजकता के अन्दर किसानों तथा सामान्य जनता की कैसी शोचनीय दशा रही होगी, इसका भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है। फ़रीद के सुप्रबन्ध से बहुत ही जल्दी किसान लोग सन्तुष्ट व सुसम्पन्न हो गए और परगनों की दशा बहुत सुधर गई।

**फ़रीद का अपने पिता से फिर झगड़ा होना**—इतनी योग्यता से अपनी जागीर का प्रबन्ध करने पर फ़रीद के साथ उसके पिता का ऐसा व्यवहार हुआ कि वह सहसराम को छोड़कर इस बार आगरे में सुलतान इब्राहीम लोदी के एक सरदार दौलतखाँ लोदी के नौकरों में भर्ती हो गया। इब्राहीम लोदी की पानीपत के मैदान में मृत्यु के पश्चात फ़रीद ने बिहार वापस लौटकर उस प्रान्त के शासक बहारखाँ के यहाँ नौकरी करली और थोड़े ही समय में अपनी योग्यता तथा स्वामिभक्ति से बहारखाँ का कृपापात्र तथा अन्तरंग मित्र बन गया और उसकी ख्याति समस्त देश में फैल गई। बहारखाँ ने इब्राहीम लोदी की पराजय का समाचार सुनते ही अपने को स्वतन्त्र घोषित करके सुलतान मुहम्मद के विरुद से अलंकृत कर कर लिया था। शेरशाह को भी बिहार के इस स्वाधीन प्रान्त में होने के कारण अपनी शक्ति को बढ़ाने का खूब मौका मिला। एक दिन वह सुलतान मुहम्मद के साथ शेर का शिकार खेलने गया। वहाँ पर उसने एक भयानक शेर का मुकाबला करके उसको कत्ल

करने में इतनी बहादुरी दिखलाई कि मुहम्मद ने खुश होकर उसे शेरखाँ की उपाधि प्रदान की और अपने नवयुवक बेटे जलालखाँ का शिक्षक नियुक्त किया।

**शेरखाँ का मुगलों से सम्पर्क**—थोड़े दिन बाद शेरखाँ ने जौनपुर के शासक सुलतान जुनैयद बरलास की सहायता से आगरे जाकर बाबर की सेना में नौकरी कर ली। वहाँ पर वह मुगलों को बहुत निकट से देख सका, तथा उनके गुण-दोषों को समझने का उसे पूरा अवसर मिला। वह चन्देरी के घेरे के समय मुगल सेना में मौजूद था। इस प्रकार उसको उनके सेना-संचालन, शासन-विधि तथा उनके चरित्र से पूरी तरह जानकारी हो गई। कहा जाता है कि इस अनुभव के बाद उसने एक बार अफ़गानों से कहा था कि यदि भाग्य ने मेरा साथ दिया तो मैं इन मुगलों को देश से बड़ी आसानी के साथ बाहर निकाल दूँगा। बाबर को इतना विस्तृत अनुभव था कि वह शेरखाँ के चरित्र को तुरन्त समझ गया और उसने अपने मन्त्री ख़लीफ़ा को आदेश दिया कि शेरखाँ की बड़े ध्यान के साथ खबरदारी रखे क्योंकि वह बड़ा तीव्रबुद्धि तथा चालाक जान पड़ता है। बाबर ने कहा कि मैंने उससे बहुत बड़े-बड़े अफ़गान सरदारों को देखा है किन्तु किसी से भी मैं इतना अधिक प्रभावित नहीं हुआ। जैसे ही मैंने इस शख्स को देखा, अनायास ही मेरे मन में ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि उसको बन्दी कर लेना चाहिए क्योंकि उसके अन्दर महत्ता तथा राजाओं के से चिन्ह प्रतीत होते हैं।

**शेरखाँ का बंगाल व बिहार पर अधिकार करना**—बाबर के वचनों को सुनकर शेरखाँ ने सोचा कि अब मुगल सेना में रहना उसके लिए भय से खाली नहीं है। अतएव वह आगरे से भाग आया और मुहम्मद सुलतान के यहाँ आकर नौकरी कर ली। १५२९ में जब कि वह आगरे से भागा था, उसी वर्ष वह सुलतान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जलालखाँ का नायब शासक बन गया और जलालखाँ की माता अपने युवक पुत्र की संरक्षिका बनी। इस अवस्था में शेरखाँ के हाथ में बिहार राज्य के शासन की कुल बागडोर आ गई। उसने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करना आरम्भ किया और बंगाल के सुलतान महमूद से मैत्री स्थापित की। किन्तु जब बिहार को अधिकृत करने के विचार से सुलतान महमूद ने सेना भेजी तो शेरखाँ ने उसको पूरी तरह परास्त करके उसका समस्त कोष तथा बहुत से घोड़े और हाथी छीन लिए।

शेरखाँ की बढ़ती हुई सत्ता को देखकर जलालखाँ के दरबार के लोहानी सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने जलालखाँ को अपनी तरफ मिलाकर शेरखाँ को पदच्युत करा दिया और वह फिर सहसराम वापस चला आया। उसके चले आने पर जलालखाँ बंगाल के अयोग्य शासक नुसरतखाँ के पुत्र महमूद के साथ शामिल हो गया और शेरखाँ को अकेला छोड़ दिया। किन्तु उसके इस कार्य से अफ़गान सैनिक सन्तुष्ट न थे। अतएव शेरखाँ ने बिहार के अफ़गान सैनिकों की अपने झण्डे के नीचे एक बड़ी सेना तैयार की।

**सूरजगढ़ का युद्ध**—महमूद बहुत बड़ी सेना, हाथी, घुड़सवार, पैदल व तोपखाने के साथ शेरख़ाँ पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा। शेरख़ाँ की सेना इसके मुकाबले में बहुत कम थी। शेरखाँ ने इस अवसर पर अपनी सामरिक दक्षता का परिचय दिया, उसने थोड़े से घुड़सवारों की टुकड़ी से हमला करके भाग आने की तरकीब से बंगाल की सेना में गड़बड़ी मचा दी और फिर अपनी पूरी शक्ति से उस पर टूट पड़ा। यद्यपि बंगाल के शासक की सेना बहुत अधिक थी, फिर भी शेरख़ाँ ने अपनी सैनिक दक्षता के द्वारा उसको पराजित किया तथा उसकी बहुत-सी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। महमूद का सेनापति इस संग्राम में मारा गया। शेरख़ाँ को बहुत-सा धन तथा हाथी व तोपखाना हाथ लगे। इस विजय के फलस्वरूप शेरखाँ तेलियागढ़ के दर्रे तक बिहार का निर्द्वन्द्व शासक हो गया। इसके उपरान्त शेरखाँ ने चुनार के क़िले पर कब्ज़ा करके उसके क़िलेदार की स्त्री से विवाह कर लिया। यहाँ भी उसको बहुत-सा धन मिला जिससे उसकी शक्ति तथा आतंक बहुत बढ़ गया।

इसी समय शेरख़ाँ को एक और कठिनाई का सामना करना पड़ा। सुलतान इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी, जो खानवा की लड़ाई के बाद चित्तौड़ के राणा की शरण में चला गया था, बाबर की मृत्यु के पश्चात् पटना पहुँचा और उस नगर को केन्द्र बनाकर उसने अफ़ग़ान राज्यवंश की सत्ता को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने बिहार के समस्त अफ़ग़ान सैनिकों को आज्ञा दी कि उसकी सहायता के लिए सेना तथा धन भेजें और उसको अपना सुलतान स्वीकार करें। इस प्रकार एक सेना बनाकर वह हुमायूँ के विरुद्ध लड़ने के लिए जौनपुर की तरफ रवाना हुआ। शेरख़ाँ को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसके साथ जाना पड़ा, किन्तु जौनपुर के निकट मुग़ल सेना ने महमूद लोदी को पूरी तरह परास्त किया और उसने भागकर बिहार होते हुए उड़ीसा में जाकर शरण ली और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार शेरख़ाँ के मार्ग से यह अन्तिम रुकावट भी दैव की कृपा से समाप्त हो गई। इस लड़ाई के बाद हुमायूँ ने शेरख़ाँ से चुनार का क़िला माँगा और उसके इनकार करने पर हुमायूँ ने चुनार का घेरा डालने की तैयारी की। इतने में हुमायूँ को सूचना मिली कि ततारख़ाँ लोदी, जो गुजरात के सुलतान बहादुरशाह से जा मिला था, आगरे पर चढ़ आया है। इस घटना ने हुमायूँ को बिहार से हटाकर एक सुदूरवर्ती, रणक्षेत्र में पहुँचा दिया, जिससे शेरखाँ को अपनी शक्ति को पूरी तरह सुदृढ़ व सुव्यवस्थित करने का अवसर मिल गया। हुमायूँ के गुजरात के हमले तथा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओं का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

**शेरखाँ का बिहार और बंगाल पर फिर से अधिकार तथा चौसा का युद्ध**—हुमायूँ के बिहार से हटते ही शेरख़ाँ ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने में कोई कसर न छोड़ी। इस समय उसके बढ़ते हुए प्रताप को देखकर लगभग समस्त अफ़ग़ान सरदार, जिन्होंने पहले उसकी नौकरी छोड़ दी थी, वापस चले आए और उसकी सेना में

प्रविष्ट हो गए। इसके बाद शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण करके तेलियागढ़ तक के समस्त प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। जब हुमायूँ गुजरात से आगरे लौटा तो उसको चेतावनी दी गई कि शेरख़ाँ ने अपनी शक्ति को इतना बढ़ा लिया है कि वह साम्राज्य के लिए बड़ा भयानक हो गया है। हुमायूँ ने इस चेतावनी पर केवल इतना ही ध्यान दिया कि अपने एक सरदार को परिस्थिति के बारे में जानकारी करने के लिए जौनपुर भेज दिया। शेरख़ाँ ने इस सरदार को फुसलाकर बादशाह से यह कहलवा दिया कि शेरख़ाँ की तरफ से उसे कुछ शंका नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार हुमायूँ को निश्चिन्त करके शेरखाँ ने बंगाल के बाकी हिस्से को भी सुलतान महमूद से छीन लिया। महमूद भागकर गौड़ पहुँचा और फिर उस नगर के छिन जाने पर उसने हुमायूँ के पास जाकर शरण ली। इसी अवकाश में शेरख़ाँ ने बिहार के सबसे उत्तम तथा दृढ़ रोहतासगढ़ के किले के राजा को धोखे से निकालकर, उस पर अपना कब्ज़ा कर लिया। इन विजयों से चुनार से लगाकर बंगाल की पूर्व सीमा तक का सारा प्रदेश शेरख़ाँ के अधिकार में आ गया। अब हुमायूँ ने इस उठती हुई शक्ति के भय को भलीभाँति समझा। उसने शेरख़ाँ के विरुद्ध चढ़ाई करने की तैयारी की और एक बड़ी सेना लेकर पूरब की तरफ़ प्रस्थान किया। इस समय तक शेरख़ाँ की नीति हुमायूँ से युद्ध न करने की और बचकर कार्य सिद्ध करने की रही थी। किन्तु अब उसने हुमायूँ के मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करना तथा उसके आवागमन के साधनों को काटना शुरू कर दिया और बनारस का घेरा डाला। यहाँ से आगे बढ़कर शेरख़ाँ ने जौनपुर, संभल और बहराइच तक धावा मारा और इन सब स्थानों से शाही सेनाओं को मार-पीटकर निकाल दिया। जौनपुर की सेना को उसने आगरे पर चढ़ाई करने का आदेश दिया और स्वयं उसने हुमायूँ का मुकाबला करने के विचार से रोहतास के आस-पास अपनी समस्त सेना को केन्द्रित कर दिया। हुमायूँ के बिहार पर आक्रमण करने तथा शेरख़ाँ के साथ चौसा के स्थान पर युद्ध एवं तदनन्तर घटनाओं का विवरण पहले दिया जा चुका है।

**शेरखाँ का हुमायूँ का पीछा करना तथा पंजाब तक पहुँचना**—बिलग्राम (कन्नौज) के युद्ध में विजय पाने पर शेरशाह ने अपने सरदारों को ग्वालियर, संभल तथा अन्य स्थानों पर कब्ज़ा करने के लिए भेज दिया और कन्नौज के समीपवर्ती भाग का सुप्रबन्ध बड़ी शीघ्रता से करके वह आगरे पहुँचा। यहाँ पर वह शासन-व्यवस्था को ठीक करने के लिए कुछ दिन ठहरा किन्तु ख़वासख़ाँ को हुमायूँ का पीछा करते हुए लाहौर की तरफ रवाना किया। जब शेरशाह दिल्ली पहुँचा तो संभल की प्रजा ने आकर नसीरख़ाँ के अत्याचारपूर्ण व्यवहार की शिकायत की। अतएव उसने ईसाख़ाँ को संभल का शासक बनाकर भेजा क्योंकि उसकी वीरता तथा न्यायप्रियता पर शेरशाह को पूर्ण विश्वास था। इस प्रबन्ध से निश्चित होकर शेरशाह ने मेवात का शासन गाज़ीख़ाँ को सुपुर्द किया और तब वह लाहौर की

तरफ रवाना हुआ। लाहौर पहुँचकर शेरशाह को मालूम हुआ कि हुमायूँ का भाई कामरान काबुल की तरफ़ भाग गया है और हुमायूँ सिन्धु के किनारे-किनारे मुल्तान और भक्खर की तरफ चला गया है। अतएव शेरशाह आगे बढ़कर झेलम के किनारे खुशाब तक पहुँचा और वहाँ से खवासखाँ आदि सरदारों को बादशाह का पीछा करने के लिए भेजा। किन्तु उनको यह आदेश था कि बादशाह से वे युद्ध न करें; केवल उसका पीछा करते हुए देश के बाहर निकाल दें। हुमायूँ सम्बन्धी विवरण में कहा जा चुका है कि इस समय काश्मीर की दशा बड़ी बिगड़ी हुई थी। अतः उसके सरदारों ने प्रस्ताव किया कि काश्मीर पर अधिकार कर लिया जाए, किन्तु कामरान के दुर्व्यवहार के कारण हुमायूँ ने इस सलाह का अनुकरण करने का साहस न किया। शेरशाह को इस समय दो तरफ़ से उस सीमा की रक्षा करनी थी। कामरान भागकर काबुल चला गया था। वहाँ से वह गक्खरों से कभी भी मेल करके पंजाब पर आक्रमण कर सकता था। दूसरे, मिर्ज़ा हैदर काश्मीर से उतरकर गक्खरों की सहायता से फिर पंजाब पर कब्ज़ा कर सकता था। इसलिए शेरशाह ने मिर्ज़ा हैदर को काश्मीर से निकालने के लिए काज़ी चक्क की सहायता के लिए एक सेना भेजी। इसकी सहायता से काज़ी चक्क मिर्ज़ा हैदर को काश्मीर से हटा तो न सका, पर उसके साथ संघर्ष बराबर करता रहा जिसके कारण मिर्ज़ा हैदर को मरते दम तक पंजाब पर हमला करने का अवकाश न मिला।

**सिन्ध पर कब्ज़ा**—शेरशाह की इतनी सफलता को देखकर सिन्ध के शासक इस्माईलखाँ, फतहखाँ व ग़ाज़ीखाँ बलोची समझ गए कि उससे युद्ध करके अपनी रक्षा करने की चेष्टा निरर्थक होगी। अतएव वे स्वयं आकर शेरशाह के दरबार में उपस्थित हुए और उसको अपना सम्राट् स्वीकार किया। इसी समय रोह के अफ़ग़ान सरदार तथा अफ़ग़ान कुटुम्बों के बहुत से नेता उपस्थित हुए और उन्होंने अपनी सेनाएँ शेरशाह को भेंट कीं।

**गक्खरों की समस्या**—यह सब कार्य तो बड़ी सुगमता के साथ सम्पन्न हो गए किन्तु झेलम और सिन्ध के बीच के दोआब में रहनेवाले गक्खरों को नियंत्रण में लाने की समस्या अत्यन्त गहन साबित हुई। गक्खरों का अफ़ग़ानों से प्राचीन काल से विरोध चला आता था और वे इतने शूरवीर और निर्भीक थे कि बड़े-से-बड़े तुर्की व अफ़ग़ान शासक अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उनको अधिकृत करने में समर्थ न हुए थे। इसी कारण शेरशाह झेलम नदी के आगे न बढ़ सका। गक्खरों के हमलों से अपने सीमान्त प्रदेश की प्रजा को सुरक्षित करने के लिए शेरशाह ने नदी के पश्चिमी किनारे एक पहाड़ी के टीले के ऊपर एक बहुत भारी क़िला बनाना शुरू किया। इस क़िले का नाम उसने रोहतास (पश्चिमी) रखा, और उसके बनाने में किसी प्रकार की कठिनाइयों से वह पीछे न हटा; यद्यपि उसके जीवन-काल में किले का निर्माण पूरा न हो सका।

**बंगाल का शासन**—शेरशाह अभी पंजाब में ही था कि उसे सूचना मिली कि बंगाल के शासक खिज्रखाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया है। खबर पाते ही शेरशाह तुरन्त बंगाल को रवाना हो गया। उसके आने की खबर पाकर खिज्रखाँ का शौर्य व साहस विलीन हो गया और वह किसी प्रकार शेरशाह के प्रकोप से बचने की चिन्ता करने लगा। किन्तु शेरशाह ऐसे विश्वासघाती को कब छोड़ने वाला था। उसने खिज्रखाँ को पकड़वाकर बेड़ियों से बँधवा दिया। बंगाल के दूरस्थ सूबे की समस्या शेरशाह के सामने पहले ही आ गई। उसने देखा कि इतने बड़े, घनी आबादी वाले तथा सम्पन्न सूबे के सूबेदार या शासक को सदैव स्वतन्त्र होकर राज करने की उत्तेजना होना स्वाभाविक है। अतएव उसने इस समस्या का इस प्रकार समाधान किया कि उस सूबे को कई छोटे-छोटे टुकड़ों या मण्डलों में बाँटकर, प्रत्येक मंडल पर अलग-अलग शासक नियुक्त कर दिए। इनको आपस में कोई राजनीतिक सम्बन्ध जोड़ने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार समस्त सूबे की शक्ति व सत्ता एकत्र करने की सम्भावना न रही। कुछ सूबों का कोई सूबेदार उसने नियुक्त नहीं किया, किन्तु उनके छोटे-छोटे मंडलाधीशों या शासकों के कार्य व शासन की देख-रेख तथा निरीक्षण करने और केन्द्रीय सरकार से सम्बन्ध जारी रखने के लिए, एक निरीक्षक (अमीन) नियुक्त कर दिया। अमीन का कर्त्तव्य था कि मंडलाधीशों को षड्यन्त्र करने से रोके, उनमें परस्पर झगड़े न होने दे, और राजकीय कर नियमित रूप से इकट्ठा कराके यथासमय शाही कोष में भेजता रहे। इस प्रबन्ध को करने में शेरशाह ने लगभग सात महीने (जून १५४१—जनवरी १५४२) व्यय किए। इस चतुर नीति से शेरशाह ने बंगाल की जटिल समस्या का सुचारु रूप से हल कर दिया (देखो, शेरशाह का केन्द्रीय शासन)।

**मध्य भारत की विजय**—१५४२ के आरम्भ में शेरशाह ने माण्डू पर चढ़ाई की। माण्डू का शासक मल्लूखाँ अफ़ग़ान शेरशाह की सेना की कार्य-कुशलता, तेजी-तर्रारी व नियम-पालन को देखकर दंग रह गया। उसने तुरत आगे बढ़कर अपनी स्वाधीनता समर्पण कर दी और शेरशाह का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। अब्बास सरवानी कहता है कि जब मल्लूखाँ ने शेरशाह के सैनिकों से प्रश्न किया कि तुम लोग बड़ा कठोर परिश्रम करते हो तथा अत्यन्त कड़े नियमों का पालन करते हो तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'हमारा नेता भी इसी प्रकार कर्मण्य है; परिश्रम करना कोई दुःख की बात नहीं है। आराम का जीवन तो स्त्रियों को शोभा देता है, पुरुष का आत्मसम्मान तो कर्मठ होने में ही है।' माण्डू (मालवा) के सूबे पर शुजाअतखाँ को शासक नियुक्त करके शेरशाह आगरा लौट आया। रास्ते में रणथंभौर के किलेदार ने भी बिना लड़ाई किए ही, शेरशाह को किला सुपुर्द कर दिया।

इतनी विजय करने के बाद शेरशाह ने एक बरस बड़े अनथक परिश्रम के साथ शासन-व्यवस्था को सुधारने व परिपूर्ण करने में व्यय किया। यद्यपि वह अपने सैनिक कार्यक्रम के साथ-साथ सदा शासन-सुधार भी करता जाता था, तथापि इस

आवश्यक रचनात्मक कार्य को वह पूरा समय कभी न दे सका था। इस अवकाश में शेरशाह ने देशभर में सड़कें बनवाईं और अन्य सार्वजनिक सेवा के कार्य किए। और फिर वह एक बार बंगाल व बिहार के निरीक्षण के लिए गया।

**रायसेन का घेरा**—बंगाल से लौटकर शेरशाह ने रायसेन के राजा राय पूरनमल पर चढ़ाई की। रायसेन को पूरनमल ने उसके मुसलमान शासक से कुछ ही बरस पहले छीना था। अब्बास के अनुसार पूरनमल ने वहाँ के मुसलमानों के साथ बड़ा अत्याचार किया था और इसका बदला लेने के लिए शेरशाह ने उस पर आक्रमण किया। किन्तु सरवानी के इस कथन में अत्योक्ति अवश्य है। शेरशाह के लिए पूरनमल का किले को छीनकर उसके मुसलमान शासक को निकाल देना ही काफी अपराध था। तो भी किले पर अधिकार करने के लिए तो किसी ऐसे बहाने की आवश्यकता नहीं थी। साम्राज्य के विस्तार की नीति का यह भी एक कदम था। इसके अतिरिक्त एक इतने दृढ़ व सामरिक महत्त्व के किले का साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीन विद्यमान रहना ख़तरे से खाली नहीं था। पूरनमल की सेना की तादाद इतनी थोड़ी थी कि शेरशाह की सेना से उसकी कोई तुलना न थी। तो भी रायसेन का घेरा बहुत लम्बा चला। अन्त में वीर राजपूतों को सर झुकाना पड़ा। शेरशाह के यह आश्वासन दिलाने पर कि उसकी, उसके सब कुटुम्बियों की जान व माल का पूरी तरह रक्षा की जाएगी, राय पूरनमल ने किले के द्वार खोल दिए और बाहर आया। किन्तु शेरशाह के मुल्लाओं ने उसे सलाह दी कि 'काफिर के साथ दगा करना इस्लाम के विरुद्ध नहीं प्रत्युत कर्तव्य है।' तब शेरशाह ने पूरनमल के डेरों को चारों ओर से घेर लिया। यह देखकर वीर राजपूत समझ गए कि अब मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। उन्होंने तुरत अपनी स्त्रियों को काटना शुरू कर दिया। किन्तु जब ये वीर अपनी स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के हेतु इस भीषण कार्य में व्यस्त थे, अफ़ग़ानों ने उन पर हमला कर दिया। तब भी वे बड़ी वीरता से लड़े और अन्त में एक-एक करके मारे गए। राजपूतों के कुछ बालक व स्त्रियाँ आततायियों के हाथ पड़े। पूरनमल की लड़की को नटों को दे दिया गया और उसके तीन लड़कों को नपुंसक बनाया गया। इस अवसर पर, इस्लाम के ठेकेदार मौलवियों से परामर्श किए गए। इस हृदय-विदारक तथा अमानुषिक अत्याचार ने शेरशाह के चरित्र पर एक अमिट दाग लगा दिया। मुंशी शाहबाज़खाँ को रायसेन का शासक नियुक्त किया गया।

**पंजाब व मुल्तान**—इन्हीं दिनों शेरशाह को सूचना मिली कि पंजाब के शासक ख़वासखाँ और रोहतास के किलेदार हैबतखाँ में परस्पर कलह रहती है। उसने ख़वासखाँ को वापस बुला लिया और हैबतखाँ को आदेश दिया कि समस्त पश्चिमी प्रदेश को शान्त करके सुव्यवस्थित शासन की स्थापना करे। तब तक पंजाब व सिन्ध-मुल्तान शासन पूरी तरह व्यवस्थित नहीं हो पाया था। दिल्ली और लाहौर के बीच के मार्ग सुरक्षित नहीं थे। फ़तहखाँ जाट लूट-मार कर रहा था। मुल्तान

पर बलोचों ने अधिकार कर रखा था। हैबतखाँ ने पहले पाकपटन (अजोधन) से जाटों को निकाला और मुल्तान के नगरवासियों को समझा-बुझाकर वापस बुलाया कि वे अपना दैनिक कारबार शुरू करें। इस प्रकार पंजाब के शासन की व्यवस्था करके उसने शेरशाह को अपने कार्य की रिपोर्ट भेजी जिससे खुश होकर बादशाह ने उसे इनाम दिया तथा सम्मानित किया। साथ ही शेरशाह ने मुल्तान की विशेष परिस्थिति को समझकर अपनी नैतिक चतुराई का भी परिचय दिया। उसने हैबतखाँ को आज्ञा दी कि मुल्तान के प्राचीन निवासी 'लंगाह' जाति के रीति-रिवाजों तथा नियमों में कोई अदल-बदल न की जाए और उनकी भूमि को भी न नापा जाए बल्कि उनके पुराने रिवाज के अनुसार ही उनसे पैदावार का केवल $\frac{1}{4}$ भाग भूमिकर (भोग) के रूप में लिया जाए। इस प्रकार प्रबन्ध स्थापित करके हैबतखाँ ने फ़तहखाँ को मुल्तान का शासन करने के लिए दिया और स्वयं वह लाहौर वापस आ गया। फ़तह खाँ ने इतना उत्तम शासन किया कि थोड़े समय में ही वह सूबा पहले से ही अधिक सुखी, सम्पन्न व भरपूर हो गया।

**मारवाड़ पर हमला**—रायसेन से लौटकर शेरशाह ने चातुर्मास (बरसात का समय आगरे में व्यतीत किया। दिल्ली और आगरे के सुलतानों की सत्ता को समस्त उत्तरी भारत पर फैलने के रास्ते में दो बड़ी रुकावटें थीं। राजपूतों के बड़े-बड़े प्राचीन राज्य दिल्ली की सीमा से लगे हुए थे। चित्तौड़ की शक्ति को दो बड़े झटके लग चुके थे, एक खानवा के स्थान पर जब राना संग्रामसिंह बाबर से पराजित हुआ और दूसरा १५३४ में गुजरात के बहादुरशाह का चित्तौड़ पर हमला, किन्तु राजपूत इन चोटों से हताश होकर न बैठे। पूरनमल ने रायसेन को केन्द्र बनाकर पुनरुत्थान का प्रयास किया किन्तु निष्फल रहा। मालदेव ने मारवाड़ राज्य में अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली थी कि शेरशाह की विजयों के रास्ते में वह एक बड़ी रुकावट बन गया था और शेरशाह को उससे सतर्क भी रहना पड़ता था। मालदेव ने नागौर तथा अजमेर पर अधिकार कर लिया था इसलिए शेरशाह ने हर प्रकार से यह आवश्यक समझा कि मालदेव की शक्ति को नष्ट किया जाए। उसने चढ़ाई करने से पहले अपनी सबसे बड़ी सेना एकत्रित की और सीकरी के रास्ते से होता हुआ राजस्थान की तरफ चला। जब वह रेगिस्तान में पहुँच गया तो उसने अपने कैम्प के चारों ओर सेना की रक्षा के लिए एक आड़ बँधवानी चाही किन्तु बालू के कारण आड़ न बन सकी। तब शेरशाह के पोते महमूदखाँ ने प्रस्ताव किया कि रेत को बोरों में भर-भरकर उनकी आड़ बनाई जाए। शेरशाह इस प्रस्ताव से बहुत प्रसन्न हुआ और इसी प्रकार बाँध बनवाया।

मालदेव मारवाड़ की राजगद्दी पर १५३२ में आसीन हुआ था। उसके गद्दी पर बैठने के समय मारवाड़ एक बहुत छोटी तथा निर्धन रियासत थी। मालदेव ने पाँच-छः वर्ष के भीतर अपनी कार्य-कुशलता, अनथक परिश्रम तथा विचक्षण नीति से समस्त मारवाड़ को जीतकर उन सब बड़े-बड़े जागीरदारों को अपने अधीन कर

लिया था जो विरोधी हो गए थे। उसने बीकानेर को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था और जैसलमेर, मेवाड़ तथा आमेर की भूमियों में से भी बहुत कुछ भाग जीत लिए थे। इस प्रकार अपनी शक्ति को बढ़ाकर मालदेव ने राजस्थान में मेवाड़ का स्थान प्राप्त कर लिया था।

शेरशाह की सेना में ८०,००० घुड़सवार थे। शेरशाह और मालदेव की सेनाएँ अजमेर के निकट आमने-सामने आईं। एक महीने तक दोनों ने परस्पर आक्रमण करने की हिम्मत न की। शेरशाह की दशा इस देरी के कारण खराब होने लगी क्योंकि उसकी सेना को आवश्यक सामग्री का मिलना कठिन हो गया। यह देख शेरशाह ने एक युक्ति से काम लिया। उसने इस आशय की चिट्ठियाँ लिखवाईं कि मानो वे मालदेव के ठाकुर अर्थात् सरदारों की ओर से शेरशाह को लिखी गई हों और उन्होंने यह वचन दिया हो कि वे सब मिलकर अपने राजा मालदेव को लड़ाई के समय शेरशाह के हाथों पकड़वा देंगे। इन चिट्ठियों को एक रेशमी ख़रीते में रखवाकर उसने चुपके से मालदेव के डेरे के सामने डलवा दिया। शेरशाह का जादू चल गया। मालदेव के वकील ने इस ख़रीते को देखा और जब उसके अन्दर की चिट्ठियाँ मालदेव के सामने पढ़ी गईं तो वह इतना भयभीत हुआ कि उसने अपनी एकदम धावा बोलने की आज्ञा को वापस ले लिया। उसके सरदारों ने कितना ही उसे विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वे चिट्ठियाँ नकली हैं और वे सब दृढ़ संकल्प तथा सचाई के साथ उसके सेवक हैं। किन्तु मालदेव को उन पर विश्वास न हुआ और वह अपने सामान को समेटकर रणक्षेत्र से भाग गया। तिस पर भी दो राजपूत रणवीर जयचन्द और गोह अपनी सच्ची सेवकाई का परिचय देने के लिए १२,००० राजपूत सेना के साथ शेरशाह के दल पर टूट पड़े और उन अफ़ग़ानों को मारते-काटते उनके केन्द्र तक पहुँच गए। अन्त में शत्रु-सेना की बहुत बड़ी तादाद के कारण उनको दबना पड़ा और वे सब मारे गए। मालदेव को जब वास्तविकता का ज्ञान हुआ तब समय निकल गया था और उसकी जुटाई हुई सारी सैनिक शक्ति इस प्रकार बिखर गई थी कि वह शेरशाह का विरोध न कर सकता था। जब राजपूतों की अन्तिम हार की खबर खवासखाँ ने शेरशाह को पहुँचाई तब वह सहसा चिल्ला उठा—'मैंने भारत का साम्राज्य केवल एक मुट्ठीभर बाजरे के लिए खो दिया होता।' उसके इस कथन से विदित होता है कि शेरशाह मालदेव की सेना से कितना भयभीत हो गया था और यदि उसने धोखे से मालदेव को न भगा दिया होता तो शायद वह अपने राज्य को खो ही बैठा होता। शेरशाह ने ख़वासखाँ व ईसाखाँ नियाजी को मारवाड़ पर शासन स्थापित करने के लिए छोड़ दिया और स्वयं वह चित्तौड़ की तरफ़ रवाना हुआ। चित्तौड़ का राणा उदयसिंह अत्यन्त कायर था। वह किले को अपने एक सामन्त की रक्षा में छोड़कर स्वयं जंगलों में जा छिपा था। इसके अतिरिक्त इस घटना से दो ही वर्ष पहले उदयसिंह चित्तौड़ की गद्दी पर बिठलाया गया था। अतएव उसने शेरशाह से लड़ने का साहस न किया और उसको

किले की तालियाँ भिजवा दीं। शेरशाह ने चित्तौड़ पहुँचकर खवासख़ाँ के छोटे भाई अहमद सरवानी तथा हसनखाँ खल्जी को वहाँ का शासक नियुक्त करके स्वयं कालंजर की तरफ प्रस्थान किया।

**कालंजर-विजय**—कालंजर पर घेरा डालने का कारण यह बतलाया जाता है कि राजा वीरसिंह बुन्देले ने (जो शायद भूल से बीरभान बघेल, रेवावाले के स्थान पर लिखा गया है) शेरशाह के बुलावे की अवहेलना करके कीरतसिंह बुन्देले के पास शरण ली थी। किन्तु वह तो सिर्फ एक बहाना था। मध्य भारत पर नियंत्रण रखने के लिए आगरे के सम्राट् के लिए यह आवश्यक था कि कालंजर के किले पर उसका पूर्णरूप से अधिकार हो। कीरतसिंह से शेरशाह का प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए कहा गया मगर उसने इनकार कर दिया।

कालंजर एक बड़ा अजेय दुर्ग था। उसको जीतना आसान न था। शेरशाह को वहाँ पड़े-पड़े एक बरस के लगभग हो गया था। वह घेरा १५४४ के नवम्बर मास में शुरू किया गया। जब शेरखाँ के टीले तैयार हो गए, उसने गोले-बारूद लाने का हुक्म दिया। इसमें कुछ देर होने से शेरखाँ खुद एक टीले पर चढ़कर किले के अन्दर तीरों की बौछार करने लगा। इतने में गोले-बारूद और पटाखे (rockets) आ गए और सैनिकों ने इनकी बौछार शुरू कर दी। शेरशाह नीचे उतरकर बारूद के ढेर के पास खड़ा हुआ था कि एक गोला किले के दरवाज़े से टकराकर उलटा उचटकर गोलों के ढेर पर आ गिरा। बारूद में आग लग गई और एक गोला फटकर शेरशाह पर गिरा जिससे वह जल गया। कई अन्य अमीर, जो पास खड़े थे, बच गए। इस अवस्था में जब उसे डेरे में लाया गया तो यह स्पष्ट था कि वह न बचेगा। अतएव उसने अपने मुख्य अमीरों को डेरे पर बुलाकर उनसे कहा कि उसके जीते-जीते किले को फतह कर लें। इन लोगों ने चारों तरफ़ से किले पर हमला बोल दिया और शाम होने तक किले पर कब्ज़ा कर लिया और बेहद मार-काट की। जब शेरशाह को यह सूचना दी गई कि किला ले लिया गया, उसे बड़ी खुशी हुई, और उसका दम निकल गया। यह घटना २२ मई १५४५ को हुई। मरते समय शेरशाह की आयु ७३ बरस से ऊपर थी। उसने कई बरस तक अपनी जागीर का शासन किया, ६ महीने बिहार बंगाल का और फिर पाँच साल से ऊपर उत्तर भारत के सम्राट् के पद से शासन किया।

**शेरशाह का चरित्र**—शेरशाह के चरित्र तथा श्रेष्ठ व्यक्तित्व की तत्कालीन व आधुनिक लेखकों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। अर्स्किन* लिखता है कि 'शेरशाह के चरित्र की मुग़ल-काल के इतिहासकारों ने कोई विशेष प्रशंसा नहीं की है क्योंकि

* वि० अर्स्किन 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' जिल्द २, 'हुमायूँ', पृ० ११०-११। कानूनगो का यह कथन कि 'जो कुछ उत्तम कार्य आगे चलकर अकबर ने किया उसका श्रेय शेरशाह को ही मिला होता यदि अबुलफ़ज़ल जैसा इतिहास-लेखक उसे मिल

वह जीवन-भर उनका शत्रु रहा और एक बार उसने ही हुमायूँ को देश से निकाल भगाया था। किन्तु निष्पक्ष लेखकों के वृत्तान्तों तथा उसके अपने शासन की उत्तमता व सफलता से पूरी तरह प्रमाणित होता है कि शेरशाह को बड़े योग्य शासकों की पंक्ति में रखना उचित है। अन्य आधुनिक लेखकों ने भी उसके शासन-सुधारों, प्रजा-पालन आदि गुणों के कारण उसकी प्रशंसा करने में कसर नहीं की है। अतएव अब यह शिकायत नहीं की जा सकती (जैसाकि कुछ आधुनिक लेखक लकीर को पीटते चले जाते हैं) कि शेरशाह के साथ इतिहासकारों ने न्याय नहीं किया है।

यदि हम शेरशाह के जन्म से मरण तक की उन परिस्थितियों को ध्यानपूर्वक देखें जिनमें से उसको निकलना पड़ा था तथा उसका पालन-पोषण और शिक्षण अथवा अनुभव हुए तो हमें उसका चरित्र समझने तथा उसका मूल्यांकन करने में कोई कठिनाई न होगी। सबसे पहले हमें यह न भूल जाना चाहिए कि बाबर से अकबर तक किसी मुग़ल बादशाह को भी भारतीय शासन समाज तथा जनता का एक दिन का भी अनुभव बादशाह बनने से पहले नहीं हुआ था। इसके उलटा शेरशाह जन्म से ही ऐसे वातावरण में पला था जो सब प्रकार की राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी प्रश्नों व समस्याओं से ओत-प्रोत था। वह हिन्दुस्तान में ही जन्मा था, बाहरी किसी देश का उसने मुँह नहीं देखा था। यहीं के समाज व संस्कृति में उसने शिक्षा पाई थी। इन आसानियों में से एक भी अन्य किसी व्यक्ति को बादशाह होने से पूर्व प्राप्त नहीं हुई थी। इसके अलावा उसने बहलोल लोदी के राजत्व-काल से लगातार हुमायूँ तक सभी के कारनामों, उनके शासन-प्रबन्ध आदि को खूब देखा-समझा था। हाँ, ये सब अनुभव तथा उसका पूरा लाभ वही व्यक्ति उठा सकता था जिसके अन्दर लगन, कर्मण्यता, महत्त्वाकांक्षा, तीव्रबुद्धि आदि गुण स्वाभाविक हों; सामान्य कोटि का कोई व्यक्ति उपर्युक्त परिस्थिति से कोई लाभ न उठा सकता था। पर शेरशाह में वे सब गुण विद्यमान थे। उसने अपने युवक जीवन में ही देख लिया था कि अफ़ग़ानों के शासन में कितनी त्रुटियाँ व दोष भरे हुए थे जिसके कारण प्रजा त्रस्त थी। इसीलिए उसने इरादा कर लिया था कि अवसर पाते ही वह शासन के इन दोषों को दूर करके प्रजा और शासक दोनों को ही समृद्ध करेगा और सहसराम का शासक बनते ही ऐसा ही उसने किया भी। कर्मनिष्ठ होना, प्रमाद को दूर रखना, अनथक कार्य करना वह महापुरुषों के आवश्यक गुण मानता था और इन आदेशों का स्वयं अनुकरण करता था।

गया होता' नितान्त हास्यास्पद है। शेरशाह ने बहुत ही थोड़े समय में किन्तु अपने दीर्घकालीन अनुभव तथा पूरी जानकारी के बल पर सुशासन स्थापित किया और राज्य को स्थिर बनाया एवं उसने क्रियात्मक रूप से (वैधानिक रूप से नहीं) यह प्रयत्न किया कि दैनिक व्यवहार में मुसलमान-गैरमुसलमान में राजा की तरफ से भेद न किया जाए—और यह कार्य अत्यन्त श्लाघनीय था—किन्तु केवल इसके आधार पर अकबर के प्रतिभाशाली, महान व्यक्तितत्व तथा उसके अभूतपूर्व पराक्रमों की तुलना करना ही नहीं, बल्कि उनको शेरशाह के सर मढ़ना भारी भ्रान्ति को प्रदर्शित करता है।

व्यक्तिगत रूप से शेरशाह का चरित्र, तत्कालीन शासकों की तुलना में बहुत उत्तम था। वह धर्म-परायण भी था। नमाज़ आदि धार्मिक कृत्यों का बड़ा पाबन्द था। साथ ही कट्टर मुसलमान भी था और अवसर पड़ने पर हिन्दुओं के साथ व्यवहार करने में संकीर्णता का पूरा-पूरा प्रदर्शन करता था; जैसाकि राय पूरनमल के मामले में हम देख चुके हैं। परन्तु एक बात उसके दीर्घ अनुभव ने उसे सिखला
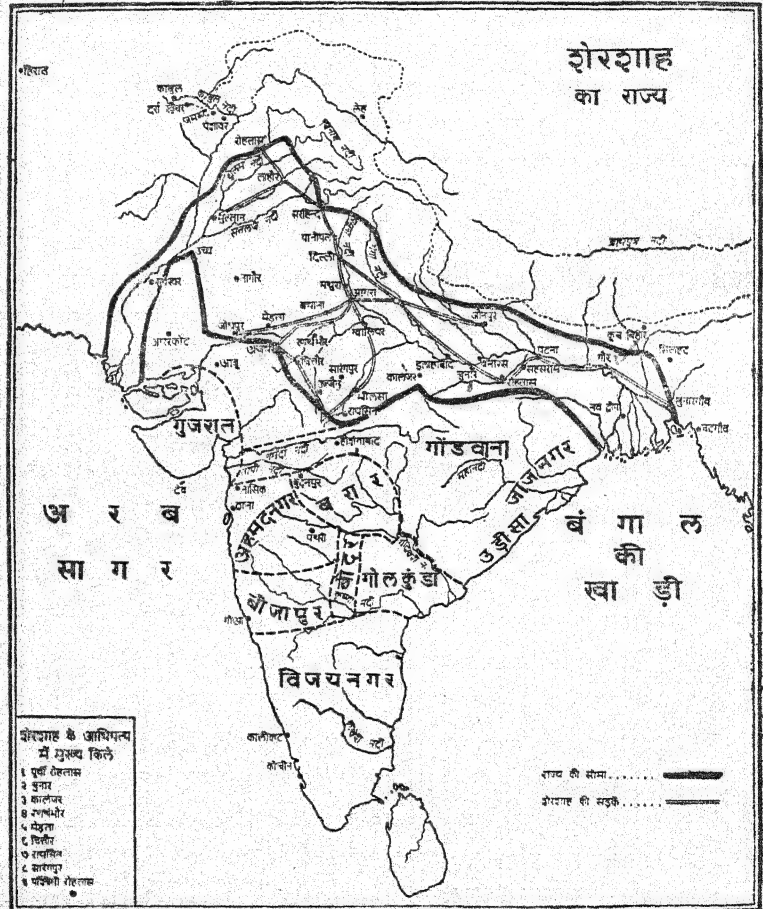
दी थी कि यदि उसे अपने जीवन की उत्तेजित आकांक्षा अर्थात् साम्राज्य-स्थापना करना तथा उसका प्रमुख बनना है तो इस देश में, जहाँ हिन्दुओं की संख्या उसके सहधर्मियों से कहीं अधिक है, पुरानी संकीर्ण नीति से काम न चलेगा। अतएव जहाँ तक हो अपने राजनीतिक व्यवहार में साम्प्रदायिक पक्षपात न दिखाया जाए। अतएव शासन व राजनीति के क्षेत्र में उसने यथासम्भव इस्लामी संकीर्णता को नहीं आने दिया।

दूसरे, शासन-व्यवस्था का पूरा अनुभव हो जाने से उसने सब विभागों को

सुधारा, उनके कार्य-संचालन की त्रुटियों को दूर किया। किसानों की सुख-समृद्धि पर राजा का बहुत कुछ आश्रय है, इसको खूब समझकर उसने किसानों तथा खेती को पूरी तरह सुरक्षित व हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। व्यापार आदि की भी उन्नति की। उसका शासन इस बात के लिए प्रसिद्ध हो गया था कि उसके राज्य में चोरी-डकैती का नाम-निशान मिट गया था। वह न्याय करने में भी ऊँच-नीच, जाति-पाँति तथा अन्य किसी वर्ग का भेदभाव न करता था। वह उतना ही उत्ताम सैनिक भी था जितना शासक। शुरू से ही उसने अफ़ग़ानों के सैनिक संगठन तथा मुगलों की सैनिक कार्यविधि की त्रुटियों को अच्छी तरह समझ लिया था। भाग्यवश हुमायूँ की निर्बलताओं के कारण शेरशाह को अपने मंसूबे पूरे करने का अवसर मिल गया। कुछ आधुनिक लेखकों ने उसको बड़े ऊँचे स्तर का प्रतिभाशाली सैनिक बतलाया है। किन्तु उसके सैनिक जीवन से ऐसा प्रमाणित नहीं होता। हुमायूँ के विरुद्ध यदि उसने लड़ने की हिम्मत की और अन्त में उसकी जीत हुई तो वह हुमायूँ के अपरिमित दोषों तथा अदूरदर्शिता के कारण न कि शेरशाह के किसी अनुपम सैनिक गुण के कारण। मालदेव के विरुद्ध अपने साम्राज्य की सारी शक्ति उसके साथ होते हुए भी उसकी हिम्मत टूट गई और केवल उसे अत्यन्त निकृष्ट विश्वासघात के उपाय का सहारा लेना पड़ा। इसी प्रकार रायसेन आदि किलों के हमने के अवसर पर उसने कोई सैनिक प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं किया। तथापि यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हम शेरशाह के सैनिक गुणों को समुचित स्थान नहीं दे रहे हैं। उसमें एक होशियार सेनानी और योद्धा के गुण काफ़ी मात्रा में विद्यमान थे किन्तु उसे इतिहास के प्रतिभाशाली सैनिकों में नहीं गिना जा सकता। उसके युद्ध-कौशल के प्रमाण लगभग प्रत्येक अवसर पर जहाँ-जहाँ उसने लड़ाई की, हमको मिलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अपने समकालीन शासकों में एक सैनिक की दृष्टि से भी उसका स्थान बहुतों से ऊँचा है।

## शेरशाह की शासन-व्यवस्था

**शासन के मौलिक सिद्धान्त**—हम देख आए हैं कि शेरशाह ने अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध हाथ में लेते ही, जबकि वह एक युवक ही था, बड़े दत्तचित्त होकर तथा योग्यता से उस जागीर का प्रबन्ध किया और प्रजा तथा किसानों के ऊपर जो अन्याय जमींदार लोग करते थे, उन सबका बड़ी तत्परता के साथ दमन किया। उसके शासन का मौलिक सिद्धान्त था सर्वथा न्यायपूर्ण राज्य। उसका कहना था कि न्याय की नींव पर ही देश की समृद्धि व सुख शान्ति निर्भर होती है। शेरशाह के इन उद्‌गारों से उसके राजनीतिक आदर्श का पता चलता है। उसके जीवन-कार्य से यह भी प्रमाणित होता है कि उसने अपने इस उच्च आदर्श को कभी नहीं भुलाया। तुर्क-अफ़गान शासकों में वह पहला ही राजा था जिसने राजनीति के इस मौलिक सिद्धान्त को समझा कि प्रजा की उन्नति तथा समृद्धि में ही राज्य की उन्नति निहित है।

शेरशाह के अन्दर हर बात को बड़े ध्यान से समझने तथा एक क्रियाशील, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के आवश्यक गुण पर्याप्त मात्रा में उपस्थित थे। इसलिए

उसको आरम्भ से ही अपने शासन के आधारभूत सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने में कोई कठिनाई न हुई। उसने अपनी विशेष परिस्थिति के अनुकूल अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया। उसको राज्य धरोहर में नहीं मिला था प्रत्युत अपने निजी बाहुबल से उसने इतना विस्तृत देश अधिकृत किया था। स्वाभाविक ही था कि ऐसे समय में अराजकता फैली हुई हो। शेरशाह ने देखा कि जब तक देश में पूरी तरह शान्ति तथा सुरक्षित अवस्था स्थापित नहीं होती तब तक कोई उन्नतिशील कार्य करना असम्भव है। अतएव जहाँ-जहाँ लोदी सुलतानों के दोषपूर्ण शासन तथा निर्बलताओं के कारण अराजकता फैली हुई थी, उन सब स्थानों पर उसने बड़ी कठोरता से राजविद्रोह की भावनाओं का दमन किया। चोर-डाकुओं व राज-नियम भंग करने वालों को उसने कड़े दण्ड दिए जिससे अन्य सब भयभीत होकर अपने विरोधी विचार को छोड़ दें और शान्ति से अपने कारबार में लग जाएँ। इस प्रकार उसका पहला सिद्धान्त था राज्य में पूरी तरह शान्ति स्थापित करना और यदि इस कार्य में उसको अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार करना पड़े तो उससे न हिचकना।

उसका दूसरा सिद्धान्त था, शान्ति स्थापित हो जाने के पश्चात इस प्रकार का न्यायपूर्ण तथा उन्नतिशील शासन स्थापित करना जिसमें जनता सुखी व सम्पन्न हो और प्रजा के मन में उसके प्रति श्रद्धा व विश्वास के भाव उत्पन्न हों। एक बार बड़ी कड़ाई से शान्ति स्थापित करने के बाद ही शेरशाह का नृशंस रूप एक उदार तथा प्रजा-हितचिंतक शासक के रूप में बदल जाता था और प्रजा को स्पष्ट दीखने लगता था कि राजा की समस्त शक्ति तथा प्रयास प्रजाहित में लगे हुए हैं।

उसका तीसरा सिद्धान्त था किसानों और राजा के बिचौलिए जमींदारों आदि की रुकावट को तोड़कर उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करना ताकि राजा को उनके दुःख-सुख तथा राज-कर्मचारियों के दुर्व्यवहार आदि का आसानी से पता लग सके। उसकी इस उत्तम नीति से किसानों को बड़ा लाभ हुआ। वे राज-कर्मचारियों के अन्याय तथा आर्थिक संकटों से मुक्त हो गए, और उनको अपने व्यवसाय में पूरी उन्नति करने के साधन प्राप्त हुए।

चौथे, शेरशाह पूरी तरह समझता था कि राज्य का एकमात्र आधार उसकी आर्थिक स्थिरता पर आश्रित है। वह यह भी जानता था कि राजकीय आय का एक बड़ा स्रोत खेती है। अतएव उसने सबसे पहले किसानों को पूर्णरूप से सुरक्षित तथा निर्भय करने और हरेक आवश्यक उपाय से उनकी खेती को प्रोत्साहित करने में पूरी तरह प्रयास किया।

पाँचवें, उसने न्याय-व्यवस्था को हर प्रकार से विशुद्ध तथा पक्षपात-रहित बनाया जिसमें किसी के साथ अन्याय अथवा रियायत नहीं की जाती थी। वस्तुतः उसका नियम यह था कि यदि कोई उच्च पदाधिकारी अथवा बड़े परिवार का मनुष्य अपराध करता था तो वह उसको असाधारण दण्ड देता था, क्योंकि उसका यह मत

था कि ऊँचे वर्ग के मनुष्यों से आशा की जाती है कि वे सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक समझदारी तथा जिम्मेदारी से व्यवहार करेंगे।

छठे, समस्त योग्य शासकों के समान शेरशाह यह मानता था कि महान् शासकों का यह कर्त्तव्य है कि वे सदैव कर्मनिष्ठ रहें और राज्य की सेवा में सदा तत्पर रहें।

सातवें, उसने शासन के क्षेत्र में साम्प्रदायिक भेद-भावों को न आने दिया क्योंकि उसने अपने अनुभव से यह देख लिया था कि यदि साम्प्रदायिक संकीर्णता का अनुकरण किया गया, और सामान्य जनता की हानि हुई तो राज्य की भी हानि अवश्य होगी। अतएव उसने राज-काज के मामले में साम्प्रदायिकता को हस्तक्षेप न करने दिया।

आठवें, उसका यह निश्चित सिद्धान्त था कि राज्य की आय का मुख्य भाग प्रजा के सुख तथा उन्नति के लिए व्यय करना उचित है न कि अपने निजी भोग-विलास आदि के ऊपर।

उसका नवाँ सिद्धान्त था ऊपर से नीचे तक के सब राज्यकर्मचारियों के कार्य का बराबर निरीक्षण करना तथा उनके बारे में गुप्तचरों के द्वारा दिन-दिन जानकारी रखना, और यदि कोई बड़े से बड़ा पदाधिकारी भी नियम-भंग करता पकड़ा जाए तो उसे कड़ी सज़ा देना। इस प्रबल आतंक से सब प्रकार के विद्रोह ठण्डे हो गए। इन नियमों का उसने अपने शासन में यथाशक्ति पालन किया। इसी कारण उसके शासन के थोड़े से ही समय में राज्य-भर में सुख-शान्ति तथा समृद्धि चारों ओर दीखने लगी।

शेरशाह की शासन-नीति इस्लामी राजनीतिक शिक्षाओं व आदर्शों से कुछ भिन्न जान पड़ेगी। शेरशाह ने यह प्रयत्न नहीं किया कि राज्य की शक्ति को इस्लाम मत के फैलाने का उपाय बनाए। इस्लामी राज्य-कल्पना के अनुसार राज्य (state) का अस्तित्व इस्लाम मत की सेवा अर्थात् उसके प्रचार व प्रसार के लिए है अन्यथा राज्य निरर्थक है*। इस दृष्टिकोण से, यह मानना होगा कि शेरशाह का राज्य इस्लामी राज्य-कल्पना के आदर्श से कुछ दूर हट गया था, चाहे राजनीति में डूबा होने के कारण उसे यह भेद समझ में न आया हो। उसने शासन की नींव रखते समय केवल सामान्य मानुषिक तत्वों का ही विचार अपने सामने रखा था।

**शेरशाह का केन्द्रीय शासन-संघटन**—शेरशाह का केन्द्रीय शासन सर्वांग एक-सत्तात्मक था। परिस्थिति ने शेरशाह को ऐसे समय बादशाह बनाया था जब कि

*इस्लामी राज्य का यह मुख्य उद्देश स्वयं मुस्लिम अधिकारी वैधानिक पण्डितों ने बतलाया है, यदि इस मत में किसी आधुनिक विद्वान् को आपत्ति हो तो लेखक उनकी नई व्याख्या को स्वीकार करने में कोई आनाकानी न करेगा। हमारा यह दावा कदापि नहीं है कि इस्लाम की धर्मपुस्तकों तथा उसके सिद्धान्तों की व्याख्या करने का हमें अधिकार है। किन्तु हमने जो कुछ इस प्रसंग में लिखा है वह मुस्लिम-विधान के अधिकारी विद्वानों के मतानुसार ही है। हमने अपना कोई मत उस पर मढ़ने की चेष्टा नहीं की है।

राज्य की जटिल समस्याओं को समझने और उसके सम्बन्ध में नीति निर्धारण करने के सम्बन्ध में परामर्श देने वाला अनुभवी राजनीतिज्ञ अफगानों के अन्दर कोई नहीं था जिसको वह मन्त्री (minister) की पदवी दे सके। अतएव उसका कोई मन्त्रिमण्डल नहीं था। उसकी आज्ञाओं को कार्यान्वित करने के लिए केवल प्रमुख कर्मचारी अथवा कार्याध्यक्ष (secretaries) थे। शेरशाह प्रत्येक विभाग के विषय में इन सबको हर रोज़ सुबह के वक्त आज्ञाएँ देता था और ये लोग इनको प्रान्तों के सूबेदारों को भेजते थे जिनके द्वारा उनका पालन यथायोग्य रूप से राज्य में कराया जाता था। इस प्रकार बादशाह के एकमात्र पद के अन्दर ही राज्य की समस्त शक्ति केन्द्रीभूत हो गई थी। उसकी इस अतुलनीय शक्ति तथा एकाधिकार का एक कारण यह भी था कि वह इतनी वृद्धावस्था में बादशाह बना था, और इससे पूर्व काफी तौर से शासन का अनुभव कर चुका था, कि जो कुछ उसे करना था, जितने सुधार करने थे, जिस प्रकार विभागों का संचालन अथवा राजकर्मचारियों का नियन्त्रण करना था, तथा उनके सम्बन्ध में जो नीति निर्धारित करनी थी, इन सभी प्रश्नों के बारे में उसके मस्तिष्क में स्पष्ट कार्यक्रम बना हुआ था। कोई नई योजना नहीं बनानी थी। इसीसे यह सम्भव हो सका कि राजा बनते ही उसने जिस प्रदेश पर अधिकार किया वहीं तुरत वह अपनी शासन-व्यवस्था के बने बनाए नकशे को बिछाता चला गया। सड़कें, सराएँ, कुएँ, बनने लगे और पंचायत आदि फिर स्थापित हो गए।

**शासन की सबसे बड़ी समस्या**—परन्तु शासन की सबसे गहन व जटिल समस्या, जिसका समुचित उपाय दिल्ली-सुलतानों में से कोई भी न कर पाया था, उसके विस्तीर्ण साम्राज्य को सुसंगठित करने की थी। इसका प्रयास मुहम्मद तुग़लक़ ने विचित्र ढंग से किया था, पर फिर उसे सफलता न मिली। शेरशाह का साम्राज्य दक्षिण तक तो नहीं पहुँचा था किन्तु पश्चिम सीमा से पूर्वी बंगाल तक के सारे विस्तृत प्रदेश को निरन्तर संग्राम करके उसने अपने शासन में ले लिया था। उस समय आवागमन के साधन बहुत मंदगतिवाले थे। इसलिए दूरस्थ प्रान्तों को, थोड़ा सा अवसर पाते ही, विद्रोह कर बैठने और स्वाधीन बन जाने की बड़ी उत्तेजना होती थी। इनमें बंगाल पर नियन्त्रण रखना सबसे कठिन था। कारण यह कि बंगाल केवल दूर होने से ही नहीं बल्कि अन्य भौगोलिक परिस्थिति के कारण भी साम्राज्य के केन्द्र से पृथक था। इसके अतिरिक्त वह बड़ा समृद्ध, विशाल तथा धनधान्य से भरपूर प्रदेश था और उसकी जनशक्ति भी सबसे अधिक थी। स्वाभाविक ही था कि ऐसी विलक्षण भौमिक परिस्थिति बंगाल के सूबेदारों को स्वतन्त्र होने के लिए बार-बार प्रोत्साहित करती। इस समस्या का एक दूरदर्शी, चतुर राजनीतिज्ञ के समान स्थायी रूप से निवारण करने का पहले-पहले प्रयास करने का श्रेय शेरशाह को है। उसने इस प्रश्न के मर्म को पूर्णरूप से समझ लिया था। इस सम्बन्ध में शेरशाह की योजना के दो मुख्य अंग थे: (१) बंगाल को कई छोटे-छोटे उपप्रान्तों में विभक्त कर देना ताकि किसी एक प्रान्ताधीश के पास इतनी शक्ति व

साधन न रह जाएँ कि उसे स्वतन्त्र बनने का साहस हो। (२) दूसरे उनके ऊपर एक निरीक्षक (अमीन) नियुक्त किया जाए जो उनके कार्य की दिन-प्रतिदिन देखभाल रखे, उनसे बराबर अपने-अपने प्रदेश की रिपोर्ट लेकर, केन्द्रीय सरकार को इसकी सूचना देता रहे और उनमें कोई परस्पर झगड़ा हो तो उसे भी निपटाता रहे। इस प्रकार शेरशाह ने बड़ी चतुराई से साम्राज्य के दूर से दूर प्रदेश पर पूरा अधिकार स्थापित किया और साम्राज्य को सुसंगठित किया। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने ही पहले-पहल साम्राज्य-भर में एकसे नियम प्रचलित किए जो केन्द्रीय सरकार से जारी होते थे, और उन नियमों की अवहेलना करनेवालों को कड़े दण्ड देकर सम्राट का अधिकार स्थापित किया।

**शेरशाह की दिनचर्या**—शेरशाह बहुत सुबह उठता था और नमाज़ आदि आवश्यक कामों से निवृत्त होकर पहले सेना-संचालकों की पेशी होती थी। एक घण्टे सूर्योदय के पश्चात् वह फिर नमाज़ पढ़ता और तब वह सुपात्रों को जागीरें देता था। इसके बाद वह इस बात का पूरा निरीक्षण करता था कि कोई अन्याय-पीड़ित तो नहीं है। फ़रियादियों की शिकायतों को सुनता और न्याय करता था। हर रोज़ चार घण्टे तक वह साम्राज्य के विभिन्न विभागों तथा प्रान्तों के बारे में रिपोर्ट आदि सुनता था और उनपर आज्ञाएँ देता था। इन आज्ञाओं को उसके मुन्शी लोग लिखते और सब जगह भेजते थे। कोई बहस इत्यादि किसी मामले पर न होती थी।

**राज्य का विस्तार व विभाजन**—शेरशाह का राज्य पूर्वी बंगाल से झेलम के किनारे तक और दक्षिण में लगभग पच्छिमी राजपूताना, मालवा तथा बुन्देलखण्ड तक फैल गया था। आन्तरिक प्रमाणों से यह निश्चित जान पड़ता है कि शेरशाह ने पुराने प्रान्तों की सीमाओं को ही बनाए रखा, केवल बंगाल का नए प्रकार का विभाजन किया, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है। इस विषय में कानूनगो का मत कि शेरशाह ने प्रान्तों को मिटाकर अपने समस्त साम्राज्य का एक नए प्रकार से विभाजन किया, एक निर्मूल कल्पना मात्र है। उसके प्रान्तों अथवा सरकारों व परगना आदि की तादाद का ठीक-ठीक निर्देश कहीं नहीं मिलता है। केवल अबुल-फ़ज़ल ने लिखा है कि उसने बंगाल को छोड़कर अपने राज्य को ४७ सरकारों में बाँटा था। अकबर के समय में बंगाल में १९ सरकारें थीं। इस प्रकार शेरशाह के राज्य में कुल ६६ सरकारें होंगी। यह बहुत सम्भव है कि प्रबन्ध आदि की आवश्यकताओं के अनुसार इन सरकारों तथा प्रान्तों की सीमाएँ घटाई-बढ़ाई जाती रही हों। सामान्यतया सरकारें परगनों में बाँटी गई थीं। परगना सरकारी शासन की सबसे छोटी इकाई थी। इस प्रकार के विभाजन का ज़िक्र सरवानी आदि इतिहासकारों ने किया है। तथापि वास्तविक स्थिति इस वैधानिक नीति के अनुकूल नहीं थी। सरकारों और परगनों की लम्बाई-चौड़ाई आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती थी। इसी प्रकार उनके अधिकारी-वर्ग भी सारे स्थानों पर एक समान नहीं रहते थे। इसके अतिरिक्त 'शिकदारे शिकदारान' का उल्लेख सरवानी, मुशताक़ी आदि

लेखकों ने किया है, पर वास्तव में इनका अस्तित्व कहीं नहीं मिलता।

शेरशाह के प्रान्तीय शासक वर्ग के बारे में भी पर्याप्त वर्णन नहीं मिलता। इतना निश्चय है कि प्रान्ताधीशों (सूबेदारों) के साथ काज़ी, दीवान मुहतसिब आदि पदाधिकारी अवश्य रहे होंगे।

**सरकार**—हमने ऊपर कहा है कि समकालीन लेखकों के अनुसार 'सरकार' का मुख्य अधिकारी शिकदारे-शिकदारान अर्थात् मुख्य शिकदार होता था। जान पड़ता है कि शेरशाह के अधीन मुख्य शिकदार के कर्त्तव्य व अधिकार वही थे जो अकबर के युग में सरकार के फौजदार के थे। शेरशाह के समय में फौजदार भी होते थे जिनके कर्तव्य फौजी-पुलिस से सम्बन्धित थे। सरकार के अन्दर शान्ति कायम रखना, राजविरोधियों, उत्पात मचानेवालों, सरकारी कर देने में रुकावट डालनेवालों, चोर-डाकुओं आदि सब प्रकार के आततायियों व शान्ति-भंग करनेवालों को दण्ड देना फौजदार का काम था। किन्तु जब आमिल, शिकदार व अन्य कर्मचारियों के बस से बाहर कोई उपद्रव हो जाता था तब फौजदार को बुलाया जाता था। सड़कों तथा ग्रामों आदि पर पहरा देना भी फौजदार का कर्त्तव्य था।

'सरकार' में दूसरा उच्च पदाधिकारी आमिल होता था जिसका विशेष कार्य तो भूमिकर, खेती के निरीक्षण आदि से सम्बन्धित था किन्तु कर न देनेवालों तथा अन्य अपराधियों को दण्ड देने का भी उसे अधिकार था। इन पदाधिकारियों के अलावा प्रत्येक सरकार में कोतवाल, काज़ी आदि भी होते थे।

**परगना**—कह आए हैं कि शासन की सबसे छोटी इकाई परगना थी। परगने का मुख्य शासक शिकदार होता था, और उसकी सहायता के लिए आमिल (मुंसिफ़) खज़ानादार या फोतादार, हिन्दी तथा फारसी दोनों भाषाओं के लेखक (कारकुन) तथा अन्य कर्मचारी होते थे। शिकदार सब विभागों का निरीक्षण करता था। खज़ाना उसके तथा फोतादार, दोनों के अधिकार में होता था। आमिल मुख्यतया भूमिकर का बन्दोबस्त करता और उगाही करता था। गाँव तथा भूमि के प्रबन्ध में गाँव के चौधरी व मुकद्दम आमिल की सहायता करते थे। उसे यह आदेश था कि भूमि-कर निश्चय करते समय तो जहाँ तक उचित हो नरमी दिखलाए किन्तु वसूली में पूरी कड़ाई बरती जाए।

**कानूनगो**—इन पदाधिकारियों के अलावा सरवानी 'कानूनगो' का भी उल्लेख करता है। हर परगने में एक क़ानूनगो होता था जिसका काम था परगने की पिछली, हाल की, और आगे आनेवाली पैदावार का अनुमान बतलाना। कानूनगो की सूचना के आधार पर ही भूमिकर आदि निर्णय किए जाते थे।

**सहकारी महकमे**—शेरशाह के इतिवृत्तों से पर्याप्त सूचना मिल जाती है कि उसने अपने शासन को कई आवश्यक विभागों में बाँट रखा था। फ़ीरोज़शाह तुग़लक के काल से शासन अव्यवस्थित चला आता था। सिकन्दर लोदी ने यथाशक्ति उसमें सुधार करने का यत्न किया था किन्तु उसे पर्याप्त सफलता न हुई थी। उसके बाद

दशा और भी बिगड़ गई थी। अतएव शेरशाह को प्रत्येक विभाग को नए सिरे से व्यवस्थित व संचालित करना पड़ा।

सैनिक विभाग का तुर्क-अफ़ग़ान युग में विशेष दोष यह था कि प्रान्तीय व प्रादेशिक अमीरों व सरदारों की सेनाओं पर केन्द्र का किसी प्रकार का नियन्त्रण ही नहीं था। इसी कारण बार-बार विद्रोह होते थे और सल्तनत ३०० बरस के लम्बे अरसे तक सैनिक शासन का रूप ही बनाए रही। शेरशाह ने इस मौलिक दोष को दूर करने के लिए यह नियम बनाया कि प्रत्येक सैनिक व सिपाही को बादशाह के प्रति सच्ची सेवकाई का व्रत लेना पड़ता था। शेरशाह की केन्द्रीय सेना में १,५०,००० घुड़सवार, २५,००० पैदल व ५,००० हाथी तथा तोपखाना था। प्रादेशिक सेना छावनियों में बँटी थी जिसकी संख्या प्रायः १,५०,००० से कम न रही होगी।

**आय-व्यय**—राजकीय आय का मुख्य स्रोत, लेखकों के अनुसार भूमिकर था। किन्तु यह निश्चय है कि देश के आर्थिक जीवन में उद्योगों का उतना ही महत्त्व था जितना कृषि का। भूमिकर लगाने तथा वसूल करने के तरीकों की व्याख्या, शेरशाह (फ़रीद) के उसकी जागीर के शासन के वृत्तान्त के साथ की जा चुकी है। साम्राज्य की बोई जानेवाली भूमि पर उसने ज़ब्त या मापन का नियम लागू करने का प्रयत्न किया। किन्तु बहुत-सी भूमि ऐसी थी जहाँ इस नियम को लागू करना सम्भव नहीं था। उसके समय में खेतों को हर बरस नापा जाता रहा होगा। इससे अवश्य शासन को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता होगा। यह अनुमान करना असंगत न होगा कि शेरशाह ने भी भूमि का उसी प्रकार वर्गीकरण किया होगा जैसा अकबर के काल में हुआ था।

भूमिकर के अतिरिक्त अन्य उपायों में से उल्लेखनीय है, सीमाओं पर लिया जानेवाला आयात-निर्यात कर (transit duties), क्रय-विक्रय पर व्यापारियों से लिया जानेवाला कर, हिन्दुओं से जज़िया, मुसलमानों से जकात, अभियुक्तों व अपराधियों पर जुरमाने, लड़ाई की लूट का पाँचवाँ भाग (नाम को) किन्तु वास्तविक रूप में प्रायः सभी।

राजकीय व्यय विभाग के चार मुख्य विषयों का निर्देश मिलता है: सेना, असैनिक या जनशासन (civil administration), जन-हितकारी कार्य (public works), दान-विभाग। कहने की आवश्यकता नहीं कि शेरशाह की प्रायः अनवरत लड़ाइयों पर बहुत व्यय होता होगा, किन्तु वह इतनी देखभाल से व्यय करता था कि अन्य विभागों को कोई कमी न होती थी। शासन-सम्बन्धी व्यय भी इतने विशाल साम्राज्य का काफी होगा, तो भी जनहित के कार्यों पर बड़ी उदारता से व्यय करनेवाला मुस्लिम शासकों में वह पहला ही था। गरीबों, बेकारों, अपाहिजों, फ़कीरों आदि को खाना बाँटने के लिए उसने लंगर खोल रखे थे जिनपर ५०० अशरफी रोज़ व्यय होता था।

न्याय-विभाग के बारे में इतिहासकार अब्बास सरवानी ने केवल इतना ही

बतलाया है कि शेरशाह ने हर स्थान पर न्यायालय स्थापित किए थे। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक नगर व बड़े गाँव तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर क़ाज़ी नियुक्त किए गए होंगे। किन्तु उसके न्याय करने के तरीके के बारे में हमें अधिक सूचना मिलती है। उसने यह परिपाटी आरम्भ की कि तुच्छ से तुच्छ मनुष्य भी अपनी दाद-फ़रियाद बादशाह तक पहुँचा सकता था। तो भी यह याद रखना चाहिए कि कितने मनुष्य राजभर में से बादशाह तक पहुँच पाते होंगे। पर यह भी मानना अनुचित न होगा कि शेरशाह के कड़े नियमों व आतंक का कुछ न कुछ प्रभाव स्थानीय न्यायकर्त्ताओं पर पड़ा होगा। दूसरे वह कृषकों को सतानेवालों, को बहुत कठोर दंड देता था। तीसरे, वह न्याय करने में छोटे-बड़े की रू-रियायत नहीं करता था। चौथे, वह चोर डाकुओं आदि को इतनी कड़ी यातनाएँ देता था जिससे भयभीत होकर अन्य सब दुष्कृत्य बन्द कर दें। अपने शासन-कार्य को गाँवों में सफल बनाने के लिए उसने प्राचीन ग्राम-संस्थाओं को वैधानिक माना तथा प्रोत्साहित किया।

**जनहितार्थ कार्य**—शेरशाह के जनहित-कार्य इतने विस्तीर्ण तथा उत्तम थे कि उसकी सबसे अधिक एवं चिरस्थायी ख्याति उसके इन जनहितार्थ कार्यों के कारण ही हुई है। इन कार्यों से उसके सच्चे प्रजाहितकारी होने का प्रमाण मिलता है। इनमें सर्वप्रथम उसकी सड़कों का उल्लेख करना आवश्यक है। प्राचीन राजमार्ग, जो तुर्की काल में खंडित तथा टूट-फूट गए थे, उनको शेरशाह ने फिर से बनाया। इनमें एक सड़क ढाके से झेलम के किनारे तक, दूसरी बनारस से माण्डू तथा बुरहानपुर तक, आगरे से एक सड़क चित्तौड़ तक, एक अजमेर व जोधपुर तक निकाली गई, एक सड़क लाहौर से मुल्तान तक भी बनवाई गई। इनके दोनों ओर प्राचीनकाल के समान फलदार पेड़ भी लगाए गए और हर चार मील पर एक-एक सराय बनाई गई। इन सरायों में हिन्दू-मुस्लिम यात्रियों के खाने-पीने का अलग-अलग प्रबन्ध रखा गया। इन सुविधाओं के अतिरिक्त सबके ठहरने के लिए अत्युत्तम प्रबन्ध किया गया। सराय में एक मसजिद भी होती थी किन्तु हिन्दुओं के पूजापाठ में रोक-टोक की जाती हो, ऐसा कोई निर्देश नहीं मिलता। इन सड़कों व सरायों से राष्ट्र-निर्माण को कितना प्रोत्साहन मिला, इसका प्रमाण जनता की समृद्धि से मिलता है। व्यापारियों और यात्रियों के आने-जाने से तिजारत तथा व्यवसाय ही नहीं किन्तु विभिन्न प्रान्तों में परस्पर सम्पर्क भी बढ़ गया।

**डाक, गुप्तचर व पुलिस विभाग**—शेरशाह का डाक का प्रबन्ध भी बहुत उत्तम था। डाक दो प्रकार से ले जाई जाती थी—घोड़ों या गाड़ियों द्वारा, और पैदल दौड़नेवालों (धावों) द्वारा। गुप्तचर अपना कार्य बड़ी तत्परता से करते थे। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। चोरी-डकैती, जमींदारों की अराजकता आदि की खोज करने में इस विभाग का काफी हाथ रहता था।

पुलिस का प्रबन्ध शेरशाह का इतना उत्तम था कि वह सबसे अधिक विख्यात हो गया है, क्योंकि उसके समकालीन तथा पीछे के इतिहासकार, सभी एक स्वर से

यह मानते हैं कि उसके शासन में चोरी-डकैती का नाम-निशान मिट गया था और जनता इतनी निश्चिन्त हो गई थी कि आधी रात निर्जन वन में भी कोई सोना उछालता चला जाए तो उसे कोई छेड़नेवाला नहीं था। इसमें इतनी सफलता के दो उपाय थे : दुष्टों व अपराधियों को इतना भीषण दण्ड देना जिससे दूसरे काँप उठें और दुराचार का नाम न लें। दूसरे, प्रत्येक गाँव व नगर के मुखियों को उनकी हद के अन्दर शान्ति व रक्षा का पूरा ज़िम्मेदार ठहराना। उनकी सहायता के लिए सरकारी पुलिस, फौजदार आदि थे। वे सब मिलकर इस कार्य को पूरी शक्ति से इस कारण करते थे कि यदि अपराधी का पता न लगे तो वे सब पदाधिकारी जिनकी हद के अन्दर जुर्म हुआ हो, दण्डित किए जाते थे और उन्हें खोए हुए माल का मूल्य चुकाना पड़ता था।

शेरशाह ने सिक्कों में भी सराहनीय सुधार किए। उसने उनपर 'ग़ाज़ी' की उपाधि नहीं खुदवाई और फारसी के साथ-साथ हिन्दी में भी फिर से नाम आदि लिखवाए, उनमें सच्ची धातुओं का प्रयोग कराया और पुराने, मिलावट के सिक्कों को बन्द किया। सिक्कों के निर्माण में भी बहुत सुधार किया और उनके वजन का निश्चय किया। चाँदी के सिक्के का नाम 'रुपिया' रखा जो बहलोली व सिकन्दरी टंका का स्थानापन्न हुआ और उसीका रूपान्तर आज तक प्रचलित है। सिक्कों की संख्या को बढ़ाने के लिए उसने २० से अधिक स्थानों पर टकसालें खुलवाईं।

## शेरशाह के अनुगामी अन्य सूरी बादशाह

**इस्लामशाह**—शेरशाह की मृत्यु के बाद कालंजर पर एकत्रित हुए अमीरों ने उसके दूसरे पुत्र जलालखाँ को पटना से बुलाकर कालंजर के अन्दर ही २६ मई १५४५ को गद्दी पर बिठला दिया। उसने अपना नाम इस्लामशाह रखा। इस्लामशाह के राज्यारोहण के पहले दिन से ही दलबन्दी व फूट के बीज सूरी सल्तनत में जमने लगे। इस्लामशाह का भाई आदिलखाँ रणथम्भौर में था। इस्लामशाह ने उसको फुसलाकर फन्दे में फँसाने की हर प्रकार से कोशिश की किन्तु वह बचकर भाग निकला और ख़वासख़ाँ की रक्षा में चला गया। ख़वासख़ाँ और आदिलख़ाँ ने मिलकर आगरे पर चढ़ाई की किन्तु इस्लामशाह ने उनको आगरे के निकट पराजित किया। आदिलखाँ पटना की तरफ भागा और विलुप्त हो गया। फिर उसका कहीं पता न चला। ख़वासख़ाँ शेरशाह के साथियों में सबसे योग्य तथा विश्वसनीय था किन्तु वह इस्लामशाह से अप्रसन्न था। वे दोनों अपनी-अपनी शक्ति के सन्तुलन को भलीभाँति जानते थे अतएव इस्लामशाह ने उसको न छेड़ा और ख़वासख़ाँ पीछे हटकर रुहेलखण्ड के उत्तर की ओर चला गया।

परन्तु इस उपद्रव का अन्त न हुआ। आदिलखाँ के पक्ष में इस प्रकार एक बड़े दल के उठ जाने से इस्लामशाह के मन में अपने अमीरों के विरुद्ध संशय पैदा

हो गया। अतएव उसने लगभग सभी अनुभवी तथा बूढ़े अफ़ग़ान नेताओं को किसी-न-किसी प्रकार से समाप्त कर दिया और उनके स्थान पर अपने विश्वासपात्र नवयुवकों को नियुक्त किया। इस्लामशाह की इस नीति से अन्य कुटुम्बों के अफ़ग़ान शंकित हो गए और लाहौर के सूबेदार हैबतख़ाँ नियाज़ी के नेतृत्व में इस्लामशाह के विरुद्ध खड़े हो गए किन्तु इस्लामशाह के पक्ष में एक अच्छी बात यह थी कि विभिन्न कुटुम्बों में परस्पर ऐक्य तथा विश्वास न था। अतएव हैबतख़ाँ और ख़वासख़ाँ, जो उससे आकर मिल गए थे, यह निश्चय न कर सके कि इस्लामशाह को परास्त करने के बाद किसको गद्दी पर बिठलाना चाहिए। अतएव ख़वास ने हैबतख़ाँ की सहायता न की और अपनी सेना वापस लौटा ले गया। इस्लामशाह ने हैबतख़ाँ नियाज़ी को परास्त किया और उसका पश्चिमी रोहतास तक पीछा करके स्वयं आगरे लौट आया और नियाज़ियों ने गक्खरों के साथ मेल करके अन्त में काश्मीर में जाकर शरण ली।

ख़वासख़ाँ कुमायूँ के राजा की शरण में चला गया था। इस्लामशाह ने उसको पूरी तरह आश्वासन दिलाकर कि उसके सब अपराध क्षमा कर दिए जाएँगे, कुमायूँ से बुलाया और, इधर संभल के कृतघ्न शासक को चुपके से आज्ञा दी कि ख़वासख़ाँ का वध कर डाले। इस षड्यन्त्र में वह सफल हुआ और ख़वासख़ाँ संभल के पास कत्ल कर दिया गया।

अब इस्लामशाह ने शेरशाह के समकालीन अन्य अमीरों को नष्ट करने की चेष्टा की। मालवा के शुजाअतख़ाँ को उसने आमंत्रित किया और एक अफ़ग़ान को उकसाकर रास्ते में उसको मरवा डालने का प्रयत्न किया, किन्तु वह बच गया। यद्यपि इस्लामशाह ने बहुत ऊपरी सहानुभूति दिखलाई किन्तु वह चुपके से भागकर मालवा पहुँच गया और फिर जब इस्लामशाह ने उसका पीछा किया तो वह बाँसवाड़ा के जंगलों में चला गया, यद्यपि वह चाहता तो इस्लामशाह को परास्त कर सकता था। किन्तु वह सूरी राजवंश का इतना सच्चा सेवक था कि अपने बादशाह से लड़ना नहीं चाहता था। उधर पंजाब में नियाज़ी कुटुम्ब के लोग फिर बल्वे कर रहे थे। अतएव मालवा से इस्लामशाह पंजाब पहुँचा। इस बार हैबतख़ाँ की स्त्री और पुत्री उसके हाथों पड़ गईं। इन दोनों अबलाओं को दो वर्ष तक हर हफ़्ते नंगी करके वह अपने खुले दरबार में दिखलाता था। इसके बाद उनका वध कर दिया गया। हैबतख़ाँ नियाज़ी को तो वह न पकड़ पाया लेकिन उसका एक साथी उसके चंगुल में पड़ गया। इस्लामशाह ने उसकी ज़िन्दा खाल खिंचवाकर उसका वध किया और उसके बेटे को ग्वालियर के क़िले में बंदी कर दिया।

इन दलों के विरोध के अतिरिक्त और भी कई बार इस्लामशाह को कत्ल कर देने की कोशिश की गई। इसी समय इस्लामशाह को मालूम हुआ कि उसके निकट सम्बन्धी मुबारिज़ख़ाँ सूर को गद्दी पर बिठलाने की साजिश की जा रही है। किन्तु मुबारिज़ख़ाँ इस्लामशाह की स्त्री का भाई था, इसलिए इस्लामशाह ने

इस मामले में सचेत रहने के अलावा और कुछ न किया। दूसरी ओर सौभाग्य से नियाज़ी विद्रोह का भी उनके काश्मीर में नष्ट हो जाने के कारण अन्त हो गया। इस समय इस्लामशाह न्याज़ियों का पीछा करते हुए चिनाब के किनारे पड़ा हुआ था। इस स्थान पर हुमायूँ से बचकर भागता हुआ उसका कृतघ्न भाई कामरान इस्लामशाह की शरण में आया और स्वाभाविक ही था कि उसके साथ अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया गया। वहाँ से भागकर वह गक्खरों की शरण में चला गया और उन्होंने उसको हुमायूँ के सुपुर्द कर दिया। यहाँ से इस्लामशाह दिल्ली लौटते ही बहुत बीमार हो गया। यहाँ पर उसने सुना कि हुमायूँ ने फिर सिन्धु को पार करके हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दी है। अपने स्वास्थ्य की चिन्ता न करके वह तुरन्त लाहौर के लिए रवाना हुआ किन्तु मार्ग में उसको खबर मिली कि हुमायूँ काबुल वापस लौट गया। इसलिए वह वापस ग्वालियर लौट आया क्योंकि ग्वालियर को ही उसने अपनी राजधानी बना लिया था। उसने अब भी अपने अमीरों के साथ दुर्व्यवहार करना न छोड़ा था अतएव उसके ऊपर फिर एक बार हमला हुआ पर वह सौभाग्य से बच गया। षड्यंत्रियों को फाँसी दे दी गई और बहुत-से कारागार में डाल दिए गए। विद्रोह की बढ़ती हुई ज्वाला का उसे अब अधिकाधिक ज्ञान होने लगा था। मुबारिज़ख़ाँ उसके संशय से बचने के लिए गाने-बजाने में अपना समय व्यतीत कर रहा था किन्तु उसके साथियों का दल बढ़ता जा रहा था। इस्लामशाह ने अपनी बीवी से याचना की कि अब मुबारिज़ख़ाँ को निःशक्त कर देना अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु वह अपने भाई का पतन न देख सकती थी। इन्हीं दिनों इस्लामशाह ने अन्तिम बार अपनी रानी से अनुरोध किया कि मुबारिज़ख़ाँ का दमन करना आवश्यक है। किन्तु वह केवल फूट-फूटकर रोने लगी और इस्लामशाह ने दीवार की तरफ करवट लेकर प्राण छोड़ दिए। उसकी मृत्यु २२ नवम्बर १५५४ में हुई।

**इस्लामशाह के समय में मुस्लिम जगत् में अशान्ति**—मुस्लिम जनता में एक अंधविश्वास बहुत समय से प्रचलित था कि मुहम्मद की हिजरत के १,००० बरस बाद एक महदी अवतार लेगा और सारे संसार को मुसलमान बनाएगा। १६वीं शती के आरम्भ में जब हिजरत से १००० बरस का अरसा पूरा होने को आया तो आने वाले महदी का दावा करनेवाले कई लोग पैदा हो गए। सिकन्दर लोदी के राजत्वकाल में १५०४ में ही जौनपुर-निवासी सैयद मुहम्मद ने अपने को आनेवाला महदी घोषित कर दिया, किन्तु वह जल्दी ही मर गया। फिर शेरशाह के समय में बंगाल के एक प्रतिष्ठित धर्मप्रचारक शेख़ हसन के पुत्र शेख़ अलाई ने मक्के से लौटकर बयाना में अपनी गद्दी जमाई। थोड़े दिन बाद वह जौनपुर के उपर्युक्त सैयद मुहम्मद के अनुयायी शेख़ अब्दुल्ला नियाज़ी से मिल गया और दोनों मिलकर कट्टरता का प्रचार करने लगे। वे स्वयं निर्धन रहते तथा निर्धनों में ही प्रायः अपना प्रचार करते थे। किन्तु वे हथियारबन्द रहते थे और जिस किसी को

इस्लाम मत के प्रतिकूल आचरण करते पाते उसी को बुरा-भला कहते और दण्ड देते। सरकारी कर्मचारियों को वे अपने काम में दख़ल न देने देते थे। शेख़ अलाई के ये कारनामे असह्य हो गए। वह फिर एक बार हज को रवाना हुआ किन्तु रास्ते में से ही लौट आया। इस समय इस्लामशाह बादशाह था। उसने शेख को आगरे बुलवाया, तो उसने बादशाह के समक्ष बड़ी धृष्टता का बरताव किया। तत्कालीन सद्र-उस्सुदूर मख़्दूमुल्मुल्क मौलाना अब्दुल्ला सुलतानपुरी ने साफ शब्दों में शेख अलाई को इस्लाम का विरोधी बतलाया। किन्तु शेख़ अपना प्रचार बराबर करता रहा और नागौर का प्रसिद्ध दार्शनिक व विद्वान् अबुलफ़ज़ल-फ़ैज़ी का पिता शेख मुबारक भी शेख अलाई से प्रभावित होकर महदवी हो गया। और भी बहुत से प्रतिष्ठित जन उसके अनुयायी हो गए। इस्लामशाह ने उसे दक्षिण भेज दिया परन्तु रास्ते में मालवा के शासक व उसकी सेना को उसने अपने मत में कर लिया। इस पर उसे वापस बुला लिया गया।

१५४७ में नियाज़ी विद्रोह को दमन करने के लिए इस्लामशाह लाहौर जाते समय बयाना के पास भुसावर में ठहरा और अब्दुल्ला को बुलवाया। उसने बादशाह को सलाम तक न किया और बहुत ही उद्दण्डता से बरताव किया। इस पर क्रोधित होकर इस्लामशाह ने उसे इतना पिटवाया कि वह बेहोश हो गया। इसके बाद वह सरहिन्द जाकर बस गया और महदवी मत का त्याग करके साधारण धर्म-प्रचारक बन गया। अकबर से उसने जागीर पाई और १५९२ तक जिया। शेख अलाई को मख़्दूमुल्मुल्क सद्र-स्सुदूर ने, जब कि बादशाह के साथ पंजाब में था, कोड़ों से पिटवाया। तीसरे कोड़े पर उसके प्राण निकल गए। इस प्रकार महदवी-आन्दोलन का उत्तर में तो अन्त हो गया, किन्तु दक्षिण में वह प्रचलित रहा। महदवी आन्दोलन का प्रभाव जनता पर इस कारण पड़ता था कि उसके नेता असाधारण विद्वान्, तपस्वी तथा अद्वितीय वक्ता थे। वे उन शेखों व मुल्लाओं के विरुद्ध थे जो राजदरबारों में नौकरी करके भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे और वे **'नबी'** के कथनानुसार मुजद्दिद अर्थात् इस्लाम को नए सिरे से जागृत करनेवाले थे।

**इस्लामशाह का शासन**—इस्लामशाह के शासन-सम्बन्धी कार्यों को ध्यानपूर्वक समझने से विदित होगा कि उसका बराबर यह प्रयत्न था कि अपने पिता शेरशाह के कृत्यों से कुछ अधिक करके अपनी कीर्ति बढ़ाए। इस उद्योग में कुछ काम तो उसने ऐसे किए जो व्यर्थ से थे और जिनमें राज्य का बहुत-सा निरर्थक व्यय हुआ। उदाहरणार्थ, उसने शेरशाह की सरायों के बीच में (जो दो कोस के अन्तर पर थीं) एक-एक और सराय बनवाने की आज्ञा दी और उनमें वे सब सुविधाएँ रखीं, जो पहली सरायों में थीं। यद्यपि उसके संदेही मन के कारण वह बराबर अपने बड़े-बड़े अमीरों से संघर्ष करता और उनका दमन करता रहा तो भी उसके कुछ कार्य ऐसे थे जिनसे बादशाही सत्ता व प्रतिष्ठा की मर्यादा उसने अमीरों व सरदारों को नाचनेवाली स्त्रियाँ रखने की मनाही कर दी और उनसे,

केवल एक-एक को छोड़कर सब हाथी छीन लिए। लाल डेरे का प्रयोग केवल बादशाह के लिए होता था, अतएव अमीरों को उसकी मनाही कर दी गई। सैनिकों की जागीरें वापस लेकर उसने शेरशाह के नियत किए हुए वेतन नकद देने शुरू किए। किन्तु सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस्लामशाह ने यह किया कि समस्त शासन सम्बन्धी मामलों का सुयोग्य संचालन करने के लिए धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी विभागों के लिए विस्तृत नियम बनाकर उनकी प्रतियाँ प्रत्येक परगने में भिजवा दीं। हर शुक्रवार को एक दरबार में ये नियम सब राजकर्मचारियों को पढ़कर सुनाए जाते थे। सुनते समय वे खड़े रहते थे। इनका पालन करना उनके लिए आवश्यक था और किसी अन्य प्रमाण या परामर्श की आवश्यकता नहीं थी। इन सब बातों से बादशाह की मान्यता की मर्यादा बहुत दृढ़ हो सकती थी किन्तु उसके इस कार्य का लाभ उसकी अन्य कृतियों के कारण नष्ट-सा हो गया।

सेना को भी व्यवस्थित करने का प्रयास इस्लामशाह ने किया था। घुड़सवार सेना को उसने ५०, २०० व ५०० की टुकड़ियों में बाँटा। किन्तु उसकी अपनी पुरानी सेना पर, जिसमें ६,००० अश्वारोही थे, विशेष कृपा थी जिससे अन्य सेना में असन्तोष पैदा हुआ। सेना की जागीरें ले लेने से भी काफी असन्तोष फैला।

**इस्लामशाह का चरित्र**—इस्लामशाह ने बादशाह बनने के बाद जिस प्रकार अपने पिता के विश्वासपात्र महान् अफ़ग़ान अमीरों से बर्ताव करना शुरू किया इससे स्पष्ट पता चलता है कि उसके अन्दर शेरशाह के उदार, दूरदर्शिता तथा सहनशीलता के गुण नहीं थे। इस्लामशाह बड़ा शक्की, संकुचित हृदय, वैरभाव रखनेवाला तथा क्षुद्र हृदय था। उसमें राजोचित उच्चता नहीं थी। अपने पिता के हैबतख़ाँ नियाज़ी व ख़वासख़ाँ जैसे योग्य व विश्वासी अमीरों को वह नीति से अपनी तरफ कर सकता था किन्तु उसने लगभग उसी प्रकार उन सबसे वैमनस्य तथा संघर्ष रखा जिस प्रकार इब्राहीम लोदी ने अपने अमीरों से रखा था।

**इस्लामशाह के बाद**—इस्लामशाह के मरने पर उसका पुत्र फ़ीरोज़, जो उस समय १२ वर्ष का बालक था, गद्दी पर बिठा दिया गया। उसके तीसरे दिन मुबारिज़ख़ाँ ने, जो उस राजकुमार का चचा भी था और मामा भी, उसे उसकी बिलखती माँ के हाथों में ही कत्ल कर डाला। राजगद्दी के लिए उन दिनों इस प्रकार के वध तो अकसर होते थे परन्तु यह वध उनमें भी इतना क्रूर तथा निर्दयतापूर्ण था जिसका उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है। अपने भांजे को इस प्रकार मारकर मुबारिज़ख़ाँ मुहम्मदशाह 'आदिल' के नाम से बादशाह बन गया, यद्यपि इस नाम के सर्वथा उल्टे गुण उसके अन्दर थे। वह बड़ा मूढ़, विलासी व दुराचारी था और नीच मनुष्यों की संगत करता था। प्राचीन बादशाहों की नकल करने के उद्देश से उसने राजकीय कोष को लुटा दिया और जब शासन-कार्य के लिए पैसा न रहा तो अमीरों की जागीरें लेनी शुरू कर दीं। भाग्य से उसे एक

बड़ा सच्चा सेवक तथा योग्य हिन्दू-मन्त्री, हीमू या हेमचंद मिल गया। इस्लामशाह के काल में वह बाज़ारों का निरीक्षक (शहनाए-मन्डी) था। वह रिवाड़ी के एक व्यापारी का पुत्र था। अपनी असाधारण योग्यता के कारण ही उसको ऐसे उच्च पद मिले थे। किन्तु उस दुराचारी, राजकाज के ध्यान से सर्वथा अनभिज्ञ बादशाह की अयोग्यता के कारण उठती हुई विद्रोहाग्नि को हीमू न रोक सकता था।

बाहशाह की यह दशा देखकर बंगाल का शासक स्वतन्त्र हो गया। अदली (आदिल) एक सेना लेकर उसका दमन करने चुनार तक पहुँचा। उसके पीछे उसके सम्बन्धी इब्राहीम सूर ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। आदिलशाह ने जब देखा कि उसकी सेना ने भी उसका साथ छोड़ दिया तो वह चुनार में ही रह गया और इब्राहीम दिल्ली का शासक बन गया। इसी समय सूरी कुटुम्ब का एक और राजकुमार सिकन्दर सूर पंजाब में उठ खड़ा हुआ और उसने इब्राहीम को निकालकर दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया। इसी समय हुमायूँ हिन्दोस्तान में फिर लौट आया था। उससे हारकर सिकन्दर सूर शिवालक के पहाड़ों में जा छिपा और जब वहाँ से भी निकाला गया तो बंगाल भागा और वहीं उसका अन्त हो गया। सिकन्दर ने सूरी सत्ता को पुनरुज्जीवित करने की बड़ी योग्यता से कोशिश की थी। उसने सब अफ़ग़ानों से अपील की थी कि अपने पूर्वजों के समान ऐक्य से कार्य करें और अफ़ग़ान राज्य को नष्ट न होने दें किन्तु वह अपनी शक्ति को संगठित न कर पाया था कि हुमायूँ ने उसे आ घेरा।

इसी समय पूरब में अन्य सूरी सरदार आपस में लड़कर अपने मनोरथ को नष्ट कर रहे थे। इब्राहीम ने काल्पी और आगरे पर अधिकार करने की चेष्टा की तो आदिलशाह के प्रतिनिधि व सेनापति हीमू ने उसको कई बार हराया और अन्त में उसे भागना पड़ा। उधर बंगाल का सूरी शासक चुनार तक चढ़ आया। इसलिए हीमू उसकी तरफ चला और बुन्देलखण्ड में उसे हराकर कत्ल किया। अब मुहम्मद आदिल तो चुनार में ही रह गया और हीमू को आगरा व दिल्ली हुमायूँ से वापस लेने के लिए भेजा। इतने में हुमायूँ का देहान्त हो गया। राजकुमार अकबर, जो उस समय केवल १४ बरस का था, पंजाब में इब्राहीम सूर का दमन करने में लगा हुआ था। हीमू एक बड़ी सेना के साथ आगे बढ़ता गया और आगरा व दिल्ली पर अधिकार कर लिया। जो सेना बैरमख़ाँ ने हीमू को रोकने के लिए भेजी थी वह कारगर न हुई। अब हीमू ने अपना नाम विक्रमादित्य रखा और महायुद्ध की तैयारी की।

**पानीपत का दूसरा युद्ध**—हुमायूँ के मरते ही सिवाय पंजाब के शेष सब प्रदेश अकबर के अधिकार से निकल गए थे। उसके लिए यह अत्यन्त संकट का समय था। अकबर जालंधर में था। युवक राजकुमार अकबर ने धैर्य को न छोड़ा। उसने बैरमख़ाँ से, जो उसके पिता के मित्रों व साथियों में सबसे योग्य था, शपथ ली कि उसका साथ न छोड़ेगा। बैरमख़ाँ ने तुरत मुग़ल सरदारों की गोष्ठी बुलाई। उन

सबने यह परामर्श किया कि उनकी सेना में केवल २०,००० आदमी हैं और हीमू के पास एक लाख से अधिक सेना है, अतएव बुद्धिमानी इसी में है कि वे काबुल वापस लौट जाएँ। केवल बैरमख़ाँ और स्वयं अकबर इसके विरुद्ध थे और युद्ध करना ही ठीक समझते थे।

दोनों सेनाएँ भारत का भाग्य-निर्णय करने के लिए फिर पानीपत के प्राचीन रणस्थल पर एकत्र हुईं। हीमू ने हाथियों से हमला किया। मुगल घुड़सवार डरे नहीं। उन्होंने अपने बरछों व भालों से हाथियों को इतना छकाया कि वे अस्त-व्यस्त होकर उलटे भागने लगे और हीमू की सेना में गड़बड़ी मच गई। हीमू फिर भी हतोत्साह न हुआ और अकेला ही एक विशालकाय हाथी के ऊपर चढ़ा हुआ लड़ता रहा। अन्त में उसे एक तीर लगा जिससे वह निःशक्त हो गया। शत्रु-सैनिक उसे पकड़कर अकबर के पास ले गए और बैरमख़ाँ ने उसका सर तलवार से काट डाला।

पानीपत के इस युद्ध के परिणाम स्वरूप देश के भावी इतिहास की प्रगति एक अद्वितीय प्रतिभाशाली, कर्मठ व उदारचेता बादशाह के हाथों निर्मित हुई। किस प्रकार उसने राष्ट्र-निर्माण व साम्राज्य-स्थापना की, इस विषय का प्रतिपादन अगले अध्याय में किया जाएगा।

**सूरी-सत्ता के विनाश के कारण**—सूरी-साम्राज्य का भवन किसी गहरी नींव पर नहीं खड़ा हुआ था। सूरी वंश अफ़ग़ान जाति का एक अंग था और अफ़ग़ान लोग अभी तक अपने प्राचीन जातीय, सामाजिक संगठन से आगे नहीं बढ़े थे। उनके राज्य की कल्पना एक परिवार की कल्पना के सदृश थी। अर्थात् यदि किसी अफ़ग़ान ने कोई भूमि या देश जीतकर उस पर अपना शासन स्थापित किया तो वह देश अथवा राज्य समस्त अफ़ग़ान जाति की निजी सम्पत्ति माना जाता था और उसमें प्रत्येक छोटे-बड़े अफ़ग़ान का उसी प्रकार एक भाग होता था जिस प्रकार एक परिवार के सदस्यों का अपनी पैतृक सम्पत्ति में होता है। वे राज्य की स्थिति को परिवार की कल्पना से विभिन्न तथा स्वाधीन न कर पाए थे। अतएव प्रत्येक अफ़ग़ान अपने परिवार का कुलपति तथा नेता बनने की आकांक्षा रखता था और ऐसा करना वह अपना पूरा अधिकार मानता था। स्वाभाविक ही था कि वे अपने राजा को इससे अधिक महत्व न देते थे कि वह अपने सद्गुणों तथा वृद्धावस्था के कारण परिवार का सर्वोपरि नेता था। उसका अधिकार व वैधानिक शक्ति ऐसे नहीं थे कि वे छीने न जा सकें। प्रत्येक अफ़ग़ान उसके पद का अधिकारी हो सकता था और होने का प्रयास करता था। उनके इस सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि अफ़ग़ान राजसत्ता का आधार कभी भी दृढ़ तथा निःशंक न बन सका। इस त्रुटि को दूर करके राजा की शक्ति तथा अधिकारों को केन्द्रित तथा निर्विवाद करने का प्रयास सिकन्दर लोदी ने आरम्भ कर दिया था। उसके बेटे इब्राहीम लोदी ने इसी उद्देश की पूर्ति के लिए यह चेष्टा की; उसके कारण बड़े-बड़े अफ़ग़ान सरदार उससे विमुख हो गए और इसी परस्पर कलह

के कारण वह बाबर के प्रहार से अपनी रक्षा न कर सका। सिकन्दर ने जो कुछ कार्य इस दिशा में किया था वह प्रायः नष्ट हो गया और हुमायूँ को निकालने के बाद शेरशाह को नए सिरे से अफ़ग़ान सत्ता को केन्द्रित व निर्विवाद बनाने का प्रयास करना पड़ा। इस प्रयास की सफलता का पूरा श्रेय शेरशाह की व्यक्तिगत योग्यता तथा गुणों को ही है। उसके राज्य की शक्ति तथा आतंक एक व्यक्ति-विशेष के गुणों पर आधारित थे न कि किन्हीं आधारभूत नियमों अथवा राजनीतिक सिद्धान्तों पर।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होगा कि सूरी सत्ता सर्वथा एक व्यक्ति-विशेष की योग्यता पर ही टिकी हुई थी। राजनीतिक संगठन के रूप में उसका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं बन पाया था। परिणाम यह हुआ कि जब वह व्यक्ति, जिसके शौर्य तथा राजनीतिक चातुर्य के द्वारा सूरी साम्राज्य का भवन खड़ा हुआ था, काल-कवलित हो गया, तो वह भवन भी लड़खड़ाकर बहुत थोड़े से ही समय में धराशायी हो गया। शेरशाह के उत्तराधिकारियों में उसका बेटा इस्लामशाह अपने पिता का अनुकरण करना अवश्य चाहता था किन्तु उसमें वह नैतिक चतुराई न थी जिसके द्वारा शेरशाह ने बड़े-से-बड़े अफ़ग़ान वीरों व सरदारों को एक नकेल में बाँध रखा था। इस्लाम-शाह ने सार्वजनिक कार्यों में भी अपने पिता से बाज़ी ले जाने की चेष्टा की, किन्तु वह सब निरर्थक हुई और उसकी अन्य शासन-नीति से असन्तोष उत्पन्न हो गया। उसके दरबारी तथा अफ़ग़ान सरदार भी उसके विरुद्ध हो गए। इसका एक विशेष कारण यह जान पड़ता है कि सुलतान के आतंक को दृढ़ करने के उद्देश से उसने एक ऐसे उपाय का प्रयोग किया था जो किसी को भी सहन न हो सकता था। उसने सरकार और परगना-अधिकारियों के लिए बहुत से नियम बनाए और उनकी हज़ारों प्रतियाँ करवाकर सब स्थानों पर भिजवा दीं और आज्ञा दी कि हर शुक्रवार को सरकार व परगने के अधिकारी-वर्ग एक दरबार में एकत्र हों। वहाँ एक सिंहासन पर बादशाह के जूतों को बड़े आदर के साथ आसीन किया जाए और जब वे राजनियम पढ़कर सुनाए जाएँ तो सब दरबारी खड़े रहें। इस प्रकार के बर्ताव से अवश्य ही उन लोगों में असन्तोष व बादशाह के प्रति शत्रुता व द्वेष के भाव उत्पन्न हुए होंगे। इस कारण शेरशाह के उत्तराधिकारी किसी स्थायी मर्यादा अथवा संस्था की स्थापना न कर सके। ऐसे कच्चे ढाँचे को सँभालने के लिए बड़े योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता थी, किन्तु इस्लामशाह के बाद सूरी वंश के राजकुमारों में कोई भी इस योग्य न था जो अन्य सबको अपने वश में करके सल्तनत के बिखरे हुए टुकड़ों को फिर से एक सूत्र में इस प्रकार बाँध सकता जिस प्रकार शेरशाह ने उसके विभिन्न अंगों को एकत्र किया था। इसके अतिरिक्त अन्तिम सुलतान मुबारिज़ख़ाँ (आदिलखाँ सूर) की क्रूरता तथा कायरता के कारण सल्तनत की रक्षा करनेवाला केवल उसका सेनापति व मंत्री हीमू रह गया था। यद्यपि हीमू बहुत योग्य था किन्तु उसकी तृष्णा भी इतनी बढ़ गई थी कि वह एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करके विक्रमादित्य की उपाधि धारण

करना चाहता था। पर देश के अन्य सरदारों को उसके साथ कोई सहानुभूति न थी। इसी समय हुमायूँ को फिर से भारत में आने का अवसर मिला और निरस्त्र तथा अरक्षित पंजाब के सूबे पर अधिकार कर लेने में उसको कोई कठिनाई न हुई। हुमायूँ की मृत्यु के बाद जब अकबर से हीमू का संघर्ष हुआ तो दैव ने हीमू का साथ न दिया। तत्कालीन परिस्थिति से प्रतीत होता है कि शेरशाह के बाद कई वर्षों से जो अराजकता व अन्य अव्यवस्था देश में फैली हुई थी उसके कारण प्रजा देश की राजनीति तथा राजाओं की ओर से सर्वथा उदासीन थी। अतएव हीमू की मृत्यु तथा सूरी वंश व सूरी सत्ता के विनाश पर किसी ने आँसू भी न बहाया। और ऐसे वायुमण्डल में अकबर जैसे मेधावी व प्रतिभाशाली शासक को एक नए राजनीतिक भवन का निर्माण करने के लिए बहुत अच्छा अवसर मिल गया। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि अकबर का दृढ़ संकल्प तथा बैरमखाँ का योग्य नेतृत्व एक ओर और दूसरी ओर सूरी सरदारों की अयोग्यता तथा परस्पर कलह उनके विनाश के कारण हुए। परन्तु ये कारण सामाजिक व ऐतिहासिक दृष्टि से गौण थे, यदि सूरी सत्ता की मर्यादा स्थायी रूप से स्थापित हो गई होती तो वह इतनी आसानी से और इतनी जल्दी नष्ट न हो जाती।

•

छब्बीस

# अकबरी युग से पहले देश की दशा : एक विहंगम दृष्टि

**समुद्री सत्ता का भारत में आगमन**—प्राचीन काल में दक्षिण भारत के चोल-वंशीय राजाओं ने समुद्री शक्ति में बहुत वृद्धि की थी और समुद्र पार देशों पर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। यह याद रखना आवश्यक है कि चोल वंश का यह साम्राज्य प्रायः सांस्कृतिक था न कि राजनीतिक अथवा पाशविक बल के कारण। चोल वंश के अपकर्ष के बाद भारतीय राजवंशों ने समुद्री शक्ति के महत्त्व को प्रायः बिलकुल भुला दिया। प्राचीनकाल से समुद्री मार्गों के द्वारा रोम आदि पाश्चात्य देशों से भारतीय नाविक बराबर व्यापार करते थे। इस समुद्री यातायात को प्रायः दसवीं शताब्दी में चोल राजाओं ने पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया था। यह समुद्री व्यापार पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक अरबों के हाथ में चला गया। कुछ भारतीय राजा, जिनके राज्य पश्चिमी तट पर थे, व्यापारी तथा सैनिक नावों के बेड़े अवश्य रखते थे किन्तु ये केवल भारतीय समुद्र-तट के और फ़ारस व अरब तक के व्यापार की रक्षा करने के योग्य थे। इससे अधिक समुद्री शक्ति इन बेड़ों की नहीं थी।

ऐसे समय में एक यूरोपीय समुद्री शक्ति का भारतवर्ष के तट पर पदार्पण हुआ। १४९८ में पुर्तगाली नाविक वास्को-डगामा कालीकट के निकट आकर उतरा। यह घटना यद्यपि इतनी साधारण थी कि किसी ने भी इस पर कोई विशेष ध्यान न दिया, किन्तु इसका महत्त्व तथा इसके दूरगामी परिणाम इतने भारी हुए कि इस घटना को इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं में समझना अत्युक्ति न होगी। इस तुच्छ घटना के द्वारा भारत का पश्चिम के दूर-दूर राज्यों से ऐसा सम्पर्क स्थापित हुआ, जिसके परिणाम आनेवाली सदियों में निरन्तर प्रदर्शित होते रहे। ये पाश्चात्य जातियाँ उस समय बड़े-बड़े समुद्रों को पार करके अपने-अपने देशों में एक व्यवसायी तथा भौगोलिक क्रान्ति उत्पन्न कर रही थीं। इस क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जो आर्थिक उन्नति एवं ईसाई धर्म के प्रचार की आशा इन जतियों के नेताओं में उत्पन्न हुई उसके कारण एक के बाद एक कई पाश्चात्य जातियाँ इस दौड़ में सम्मिलित हो

गईं। कह चुके हैं कि इन जातियों में सबसे पहले भारतीय तट पर उतरनेवाले पुर्तगाली थे।

वास्को-डगमा ने कालीकट के निकट पहुँचकर समस्त भारतीय समुद्र को अपने नरेश के अधिकार में होने का दावा किया। कालीकट का सामुद्री (जमोरिन) इसको न सह सका और डगामा को वहाँ से हटकर कोचीन के तट पर उतरना पड़ा; क्योंकि कोचीन के राजा ने कालीकट के सामुद्री से शत्रुता होने के कारण इस विदेशी को स्थान ही नहीं किन्तु सहायता भी दी। कालीकट और पुर्तगाल के समुद्री बेड़े का १५०३ में संघर्ष हुआ जिसमें यह स्पष्ट हो गया कि कालीकट का बेड़ा महासागर में युद्ध करने योग्य नहीं था। हाँ, किनारे-किनारे के समुद्र में युद्ध करने के लिए वह बहुत उपयुक्त था। किन्तु यह शक्ति इतनी परिमित थी कि जब पुर्तगालियों ने दूर देश से लाकर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया तब सामुद्री को केवल अपना बचाव करने ही की चिन्ता करनी पड़ी। गुजरात तथा मिस्र के समुद्री बेड़ों की सहायता से सामुद्री ने एक बार फिर पुर्तगालियों को भारतीय समुद्र से निकाल देने का प्रयास किया। परन्तु अन्त में उसे सफलता न मिली और पुर्तगाल की शक्ति स्थायी हो गई।

**अल्बुकर्क (१५१०-१५१६)**—१५१० में पुर्तगाली उपनिवेश के प्रमुख अल्बुकर्क ने पूर्वी प्रदेशों तथा समूचे भारतीय समुद्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। उसने गोआ तथा उसके आसपास की भूमि पर अधिकार कर लिया और तब से गोआ उनका अजेय गढ़ व नौकाशय बन गया। उसने मलाका तथा सकोत्रा द्वीप अपने अड्डे कायम करके पुर्तगाली समुद्री शक्ति को पूर्णतया सुदृढ़ कर लिया। इस प्रकार भारत सागर में आने-जाने के मार्गों पर भी उनका पूरा अधिकार हो गया। अल्बुकर्क की सामरिक योजना का उद्देश था पुर्तगाल का व्यापारी आधिपत्य भारतीय सागर में पूरी तरह स्थापित करना। उसने अराकान के शासक से मैत्री करके अपने इस उद्देश को परिपक्व कर लिया। उस समय अफ्रीका के चारों तरफ किनारे-किनारे घूमकर यूरोपवालों को आना पड़ता था। यह मार्ग भी पूरी तरह पुर्तगाल वालों के अधिकार में था। इस विस्तृत अधिकार के अलावा अल्बुकर्क ने भारतीय तट पर एक केन्द्रस्थान की स्थापना करना आवश्यक समझा और इस अभिप्राय से गोआ को अपने देश के पूर्वी सामुद्रिक साम्राज्य का केन्द्र बनाया। यहाँ अपने पैर पूरी तरह जमाने के लिए उसने हिन्दुस्तानियों से अन्तर्जातीय विवाह-सम्बन्ध करने की नीति चलाई और गोआ तथा उसके अधीनस्थ भूमि को आबाद किया। दूसरे उसने तटस्थ राजाओं, विशेषकर विजयनगर-सम्राटों से संधियाँ करना आरम्भ किया और तीसरे उत्तम-उत्तम सामरिक नाकों के किलों पर अधिकार करने की नीति प्रचालित की। अल्बुकर्क की इस नीति से प्राप्त की हुई शक्ति लगभग एक शती तक कायम रही और इसी समुद्री नीति का भविष्य में आनेवाली यूरोपीय जातियों ने अनुकरण करके अपनी शक्तियों को जमाया।

**पुर्तगाल का भारतीय समुद्र पर पूर्णाधिपत्य का दावा**—पुर्तगाल वालों ने

भारतीय तट के थोड़े से बन्दरगाहों पर अधिकार करने और कुछ क़िलों को सामरिक सामग्री से भर देने के अतिरिक्त देश के किसी भाग को जीतने का दुस्साहस न किया। विजयनगर-साम्राज्य की मौजूदगी में ऐसा करना उनके लिए सम्भव भी न था। परन्तु उन्होंने भारतीय महासागर पर पूर्णरूप से एकाधिकार जमाकर घोषणा कर दी कि अन्य किसी को भारतीय समुद्री जलमार्गों के इस्तेमाल करने का बिना पुर्तगाल के राजा की आज्ञा के अधिकार नहीं है, अतएव उन्होंने उस महासागर में चलनेवाले अन्य सब जहाजों को लूटना और पकड़कर अपने अधिकार में कर लेना शुरू किया। इस प्रकार समूचा भारतीय विदेशी व्यापार पुर्तगाल वालों के हाथ में आ गया। उनकी इस धींगा-धींगी से अरबी जहाजरानों और व्यापारियों की बहुत हानि हुई। वे कालीकट के द्वारा समस्त पूर्वी देशों से व्यापार किया करते थे। कालीकट उन दिनों, सूरत व खम्भात के समान, पश्चिम तट पर एक बहुत बड़ा बन्दरगाह और व्यापार-केन्द्र था। दक्षिण भारत के प्रायः सारे आयात-निर्यात उसीके द्वारा होते थे। हर प्रकार के रुई के कपड़े (जिनका नाम भी कैलिको उसी के नाम पर प्रचलित हुआ), समूचा काली मिर्च का व्यापार (जो केवल मलाबार की उपज थी), लाल समुद्र (Red Sea) के बन्दरगाहों का अधिकतर व्यापार, विशेषकर मूँगे का, तथा मुनार की खाड़ी के मोतियों का निर्यात, ये सभी कालीकट के द्वारा होते थे। इस समूचे व्यापार को पुर्तगाल के सागराधिकार से बड़ा धक्का लगा।

किन्तु पुर्तगालियों के विदेशी व्यापार के एकाधिकार से केवल पुर्तगाल को ही नहीं, भारतीय व्यापार को भी बहुत लाभ हुआ। इस व्यापार के दो मुख्य क्षेत्र थे। एक तो भारत का व्यापारी सम्बन्ध संसार के दूर-दूर देशों से हो गया और भारतीय सामान की बिक्री का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया। साथ ही बाहरी देशों की वस्तुएँ हिन्दुस्तान में आने लगीं। चीनी का सामान विशेषकर इसी समय से भारत में आना-जाना शुरू हुआ। दूसरे, विजयनगर साम्राज्य के लिए ईरानी व अरबी घोड़ों का मँगवाना एवं उस साम्राज्य का बाकी सारा विदेशी व्यापार पुर्तगालव.लों के हाथ में आ गया।

**पुर्तगालियों का पतित चरित्र**—पुर्तगालियों के चरित्र पर उनकी सफलता तथा सम्पन्नता का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। उनके चरित्र में आत्म-सम्मान, सचाई, सच्चरित्रता का नितांत अभाव था। उनके भोग-विलासी, प्रमादी, मदोन्मत्त जीवन को देख ऐसा जान पड़ता है कि उनके मूल में ही ऊँचे चरित्र तथा आदर्शों का अभाव था, जिसको उनकी अनन्य सफलता ने और भी पतित कर दिया। अल्बुकर्क के अतिरिक्त केवल एक-दो पादरियों को छोड़कर कोई ऐसा पुर्तगाली यहाँ न आया जिसे योग्य राजनीतिक अथवा उत्तम मनुष्य कहा जा सके। उनकी विलासिता के सामने बीजापुर व गोलकुण्डा के सुलतान भी शरमाते थे। उनका सबसे अधिक घृणित काम यह था कि वे अवसर पाने पर हिन्दुस्तानियों को ईसाई बनाने में नींच से नीच उपाय करने से न हिचकते थे। समुद्रों में जहाजों को लूट-पाट करके वे उनके यात्रियों को

बलपूर्वक ईसाई भी बनाते थे। इसके अतिरिक्त वे अपनी शक्ति के नशे में इतने निश्शंक हो बैठे थे कि मानों उनका व्यापार-साम्राज्य अमर हो गया हो। इसी अंध-विश्वास के कारण उनका पतन हुआ।

**पुर्तगालियों की सामाजिक व सांस्कृतिक देन**—अन्त में यह बतलाना भी उचित है कि पुर्तगालियों ने कुछ सांस्कृतिक कार्य भी किया था। छापेखानों की स्थापना भारत में पहले-पहल इन्हीं ने की। पादरियों की शिक्षा के लिए उन्होंने शिक्षालय खोले, जिनके द्वारा शिक्षा का प्रचार भी हुआ। 'ग्रेशिया दा ओर्ता' नामक एक विद्वान् ने भारतीय औषधि-वृक्षों का बड़ा वैज्ञानिक अध्ययन करके एक महत् ग्रन्थ रचा। ये पुर्तगालियों की सर्वोत्तम देन थी। ईसाई धर्म का प्रचार करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। उनके कई पादरी, जैसा हम आगे बतलाएँगे, अकबर महान् के दरबार में भी बुलाए गए थे। इस प्रचार के साथ-साथ उन्होंने एक नई शैली पर गिरजे बनवाए जिनमें कई बड़े उत्तम हैं। दक्षिण भारत में कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय के व्यापक प्रचार का बहुत-कुछ श्रेय इन पुर्तगालियों को ही है।

**डच (ओलन्देज), फ्रेंच व अंग्रेजों का आगमन**—१५८८ में स्पेन का जहाजी बेड़ा (Armada) अंग्रेजी समुद्र में पूरी तरह हारा और नष्ट हुआ। इस घटना से अंग्रेजों तथा पश्चिम यूरोप की अन्य जातियों को यह उत्साह तथा विश्वास हो गया कि अटलांटिक सागर में जिस देश की शक्ति सर्वोपरि हो जाएगी वह पुर्तगाल वालों को पूर्वी महासागर तथा भारत से भी निकाल सकता है। पुर्तगाल के पास उस समय तक भारत में बहुत थोड़े से स्थान रह गए थे जबकि स्पेन के पराभाव के बाद डच, अंग्रेज और फिर फ्रांसवालों ने पूर्वी देशों में आना शुरू किया। शाहजहाँ के समय में पुर्तगाली डाकुओं ने बंगाल में भयानक संकट उत्पन्न कर रखा था। ये माल-असबाब ही नहीं लूटते थे प्रत्युत असहाय बालकों को पकड़ ले जाते थे और उन्हें बड़ी निर्दयता से ईसाई बनाते थे। (शाहजहाँ को १६३२ में इनके हुगली के उपनिवेश को नष्ट करना पड़ा था और फिर शाइस्ताखाँ ने १६६६ में इनकी चटगाँव के निकटवाली बस्ती को, जो इन डाकुओं का मुख्य गढ़ था, ध्वस्त किया था। १६६२ में बम्बई टापू दहेज के रूप में अंग्रेजी बादशाह को मिल गया था और बाकी स्थान डच आदि लोगों ने छीन लिए थे। उनके पास गोआ के अतिरिक्त दमन और दीव (द्वीप) तथा सालसेट रह गए थे। डच लोगों ने समुद्री क्षेत्र में स्पेन को पछाड़ना शुरू किया। १५९४ में एम्स्टर्डम के व्यापारियों ने एक कम्पनी विदेशों से व्यापार करने के लिए बनाई और चार जहाज हिन्दुस्तान को रवाना किए। इन जहाजों ने बड़ा नफ़ा कमाया। पुर्तगालियों का विरोध निष्फल रहा। डचवालों ने इण्डोनेशिया में भी अपना अड्डा जमा लिया। एम्स्टर्डम की कम्पनी के बाद अन्य कई कम्पनियाँ बनीं। ये सब १६०२ में संयुक्त हो गईं। इस कम्पनी का नाम 'यूनाइटेड ईस्ट इंडिया कम्पनी ऑफ नीदर-लैंड्स' रखा गया। १६४१ में डच लोगों ने मलाका को छीन लिया। इसके हाथ में आ जाने से डच लोगों का लंका पर आक्रमण करना बहुत आसान हो गया। १६५४

में उन्होंने कोलम्बो पर अधिकार कर लिया और १६६३ तक मलाबार-तट पर कई जगह अपनी बस्तियाँ स्थापित कर लीं। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक पुर्तगालियों का भारतीय महासागर पर एकाधिकार समाप्त हो गया और जब डच लोगों ने लंका पर अधिकार कर लिया तब से पुर्तगाल की राजनीतिक शक्ति भी विलुप्त हो गई। मलाबार तट पर क्विलन, क्रैंगनूर, कोचीन और कनानौर उनके अधिकार में आ गए।

डच लोगों का चरित्र एवं उनकी नीति पुर्तगालियों से बहुत उत्तम थी। वे मुख्यतया व्यापार पर ध्यान देते थे और व्यापार ही उसका सर्वोच्च उद्देश था। वे न तो अपने उपनिवेश बनाना चाहते थे और न अपना धर्म अथवा संस्कृति ही भारतीयों के ऊपर लादना चाहते थे। न वे देशी राज्यों के परस्पर झगड़ों में ही हस्तक्षेप करना चाहते थे। वे केवल अपने व्यापार तथा स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए जो कुछ आवश्यक कार्य होता था, वही करते थे। उनकी इस नीति के कारण मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ और औरंगजेब के वे विश्वासपात्र बन गए थे। उनके औपनिवेशिक साम्राज्य का मुख्य केन्द्र भारतवर्ष के बाहर था। अपने भारतीय व्यापार तथा बस्तियों की रक्षा के लिए वे लंका में सेना रखते थे। उन्होंने भारतवर्ष में कहीं भी राजनीतिक अधिकार फैलाने की कोशिश नहीं की और इसीलिए उनके भारतीय नगर आसानी से अंग्रेज़ों और फ्रांसवालों के अधिकार में चले गए। उन्होंने पुर्तगाल की भारतीय शक्ति को नष्ट करके समस्त पाश्चात्य जातियों के लिए भारतीय महासागर के मार्ग खोल दिए।

**फ्रेंच व अंग्रेज लोगों का भारत में आना**—फ्रांसवाले भी सत्रहवीं शताब्दी के लगभग प्रारम्भ से ही पूर्वी देशों के व्यापार में सम्मिलित होने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में फ्रेंच मन्त्री कोलबर्ट के समय में १६६४ में एक व्यापारी कम्पनी की स्थापना हुई, जिसे एक राजाज्ञा के द्वारा पचास वर्ष के लिए भारतवर्ष और उसके दक्षिण के समुद्र में व्यापार करने का पूरा अधिकार दे दिया गया। इसके अतिरिक्त फ्रेंच सरकार ने कम्पनी को मडगास्कर आदि द्वीपों में ईसाई धर्म के प्रचार करने का भार सौंपा। कम्पनी को यह भी अधिकार दे दिया गया कि अपने व्यापार के दौरान में जो कुछ भूमि, आबादियाँ, खानें एवं गुलाम आदि शत्रुओं से जीतकर उसके अधिकार में आएँगे उन सबका मालिक वही होगी। और भी बहुत से विशेषाधिकार कम्पनी को दे दिए गए यथा फ्रेंच राजा के नाम पर युद्ध व सन्धि करने का अधिकार। इस प्रकार यह कम्पनी शुरू से ही एक आंशिक रूप से राजनीतिक संस्था थी जो फ्रेंच राज्य के नियन्त्रण में कार्य करती थी। अंग्रेज और डच कम्पनियों से फ्रेंच कम्पनी बहुत भिन्न थी। उनके समान फ्रांस में न तो कोई अनुभवी व्यापारी थे और न कोई उद्यमी वर्ग ही था। आरम्भ से ही यह कम्पनी फ्रेंच सरकारी बल व सहायता के आधार पर संचालित हुई। कोलबर्ट ने फ्रेंच जहाजों के भारतवर्ष पहुँचने के पहले ही एक विश्वस्त प्रतिनिधिमण्डल फ़ारस के शाह तथा मुग़ल सम्राट के पास फ्रांस के सम्राट् की

चिट्ठियाँ लेकर भेजा। ये लोग सूरत होते हुए १६६६ में आगरा पहुँचे और औरंगजेब से मिलकर उसका फरमान प्राप्त करके सूरत आए, जिसके द्वारा सुआली के बन्दरगाह पर उनको अपनी कोठी (Factory) बनाने के लिए भूमि दी गई और आसपास के प्रदेश में उन्हीं शर्तों पर जो अंग्रेजों और डच लोगों को मिली हुई थीं, व्यापार करने की भी आज्ञा दी गई। आरम्भ में इन लोगों ने बड़े उत्साह से व्यापार करना शुरू किया। उनके जहाज फारस की खाड़ी में बन्दर अब्बास व बसरा तक आने-जाने लगे। परन्तु फ्रेंच कम्पनी को उनके एक मुख्य पदाधिकारी कैरों की अदूरदर्शिता के कारण बहुत हानि उठानी पड़ी। कैरों डच जाति का था। उसे कोलबर्ट ने अपनी कम्पनी के लिए नौकर रख लिया था १६६९ में उसने सूरत के मुत्सद्दी (शासक) से झगड़ा कर लिया जिसका डच लोगों ने बहुत लाभ उठाया। कोलबर्ट ने फ्रांस को समुद्री शक्ति तथा वैभव का प्रदर्शन करने के लिए एक बड़ा जहाजी बेड़ा भारतवर्ष भेजा। यह बेड़ा बड़ी शान के साथ धीरे-धीरे १६७१ के अन्तिम दिनों में सूरत पहुँचा और वहाँ से मलाबार-तट पर अपने देश के सैन्य बल, उसकी तोपों तथा जहाजों की महत्ता दिखलाता रहा। यह बेड़ा भारतीय तट पर कोई स्थान न जीत सका और न लंका पर ही अपना अधिकार जमा सका। इस प्रकार व्यर्थ समय और धन नष्ट करके एक वर्ष के बाद वह वापस लौट गया।

इस युद्ध-यात्रा का केवल एक लाभदायक फल हुआ। फ्रेंच बेड़े के एक सैनिक को पूर्वी तट के मुसलमान शासक से अपनी सेना के लिए आवश्यक सामग्री माँगकर लाने को भेजा गया। उसने केवल आवश्यक सामान ही नहीं दिया। अपितु पाण्डुचेरी की भूमि भी अपनी कोठी बनाने के लिए प्रदान की। वह चाहता था कि डच और फ्रेंच जिस प्रकार यूरोप में पास-पास हैं, उसी प्रकार यहाँ भी रहें। १६७४ में फ्रेंक्वा मार्टिन इस फ्रेंच बस्ती का शासक हुआ। थोड़े दिन बाद उसने वहाँ लुई नाम की एक छोटी-सी गढ़ी बनाई और धीरे-धीरे पाण्डुचेरी को उसने इतना दृढ़ तथा युद्ध के सामान से भरपूर कर दिया कि वह फ्रेंच शक्ति का भारत में केन्द्र बन सके। १६९३ में डच लोगों ने पाण्डुचेरी को छीन लिया था परन्तु १६९७ में रिजविक की सन्धि के द्वारा वापस मिल गया। फिर १७०१ से वह स्थान फ्रेंच लोगों के भारतीय कारबार का मुख्य स्थान बन गया। थोड़े ही दिनों में मार्टिन ने पाण्डुचेरी को विशाल भवन, सीधे राजमार्ग और राजभवन आदि बनवाकर एक अतीव सुन्दर नगर बना दिया। १७०६ में जब मार्टिन की मृत्यु हुई, उसकी आबादी ४०,००० हो गई थी। मार्टिन ने मसुलीपट्टम में भी एक कोठी खोल दी थी और शाइस्ताखाँ से आज्ञा लेकर एक चन्द्रनगर में खुलवाई।

मार्टिन के बाद फ्रेंच कम्पनी ने बहुत बरसों तक कोई उन्नति नहीं की। इसका एक कारण यह था कि फ्रांस की सरकार उस पर अपना नियन्त्रण बढ़ाती जाती थी और उसका संविधान बार-बार बदलता था। कम्पनी के पास व्यापार करने के लिए खुला रुपया भी न था। अपना काम चालू रखने के लिए उसे ऋण

लेना पड़ा था। फिर लेनोर तथा ड्यूमा, दो गवर्नरों के सुयोग्य प्रबन्ध के द्वारा १७२१-१७४२ तक कम्पनी के व्यापार में बड़ा लाभ हुआ और उसकी साम्पत्तिक अवस्था सुधर गई। १७२४ में माही और १७३९ में कारीकल में, पश्चिमी तट पर नई कोठियाँ तथा गढ़ी बनीं। इन्हीं के समय में केप गुडहोप और कन्याकुमारी के आवागमन के लिए अफ्रीका के पूर्वी द्वीपों, मारिशस व बूरबों का सामरिक महत्त्व समझ में आया।

**डूप्ले का पदार्पण**—१७४२ में चन्द्रनगर के प्रमुख डूप्ले की पाण्डुचेरी में नियुक्ति होने पर फ्रेंच कम्पनी के इतिहास में एक मौलिक परिवर्तन हो गया। तब तक फ्रेंच कोठियाँ केवल व्यापारोचित बनाई जाती थीं और उनमें जो सेनाएँ आदि रहती थीं वह भी केवल उनकी रक्षा के उद्देश से। अभी तक फ्रेंच लोगों के मन में देश-विजय की कोई भावना न थी और न वे अपना राज ही कायम करके उसकी आमदनी से व्यापार बढ़ाना चाहते थे, राजनीतिक प्रमुख तथा राष्ट्रों के प्राप्त करने के उद्देश से देशी राजाओं के कारबार में हस्तक्षेप करना तो दूर। किन्तु डूप्ले ने आते ही ये सब नए संकल्प-विकल्प शुरू कर दिए और फ्रेंच कम्पनी का स्वरूप सर्वथा परिवर्तित कर दिया। इसी समय में अंग्रेज़ी व फ्रेंच कम्पनियों का संघर्ष आरम्भ हुआ। इसका वृत्तान्त यथास्थान दिया जाएगा।

**अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी**—अंग्रेजी कम्पनी की स्थापना १६०० के अंतिम दिन रानी एलिज़ाबेथ के आज्ञापत्र (Charter) द्वारा हुई थी। पहले तो इंग्लिश और फ्रेंच व्यापारी स्पेन और पुर्तगालवालों के समुद्री मार्गों को छोड़कर अलग मार्गों का प्रयोग करने की कोशिश करते रहे, किन्तु जब स्पेन और पुर्तगाल संयुक्त हो गए और इंग्लैंड का संघर्ष स्पेन से आरम्भ हुआ तो इंग्लैंड और हालैण्ड, जैसा हम देख चुके हैं, दोनों ही ने समुद्री व्यापार में पुर्तगालियों से होड़ लगाना शुरू कर दिया। अंग्रेजी जहाजरानों, व्यापारियों व यात्रियों ने दुनिया भर में जल व स्थल दोनों मार्गों से घूमना शुरू किया। १५८० में ड्रेक पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके आया। अन्य कई समुद्री यात्राओं के अतिरिक्त स्थल-मार्ग से फिच, न्युबरी और मिल्डेनहाल, भारत में आए। इंग्लैण्ड की रानी ने लन्दन के व्यापारियों को दक्षिण अमेरिका से दक्षिण अफ्रीका के समस्त समुद्री मार्गों में घूमने और व्यापार करने के पूरे अधिकार १५ बरस के लिए दे दिए। इस कम्पनी के लिए एक व्यवस्थापक समिति नियुक्त कर दी गई। किन्तु अंग्रेजी कम्पनी की परिस्थिति फ्रेंच कम्पनी के बिलकुल विपरीत थी। इसके व्यापारियों को किसी प्रकार की सरकारी सहायता नहीं मिलती थी। उनका सारा व्यापार व्यापारियों के व्यक्तिगत साहस व कार्य-कुशलता पर निर्भर था। थोड़े से व्यापारी चन्दा करके कुछ जहाज़ सामान से भर-कर विदेशों को भेज देते थे और वहाँ से माल मँगवा लेते थे। विशेषकर मसालों का व्यापार इस समय बहुत था। जो नफा होता था उसे ये लोग बाँट खाते थे। तीसरी बार के नौका-आगमन के साथ हाकिन्स (Hawkins) सम्राट् जहाँगीर

से मिलने के उद्देश से आया और सूरत में उतरा। पुर्तगालियों के विरोध के कारण हाकिन्स का मिशन निष्फल रहा और उसे वापस जाना पड़ा। इस पर तीन अंग्रेज़ी जहाजों ने पुर्तगाली जहाजों का लालसागर में जाना बन्द कर दिया। फिर १६१२ में दो अंग्रेजी जहाजों के नाविक (कप्तान) टामस बेस्ट ने पुर्तगाली जहाजों को सूरत के पास बड़ी तेजी से पछाड़ दिया। अंग्रेजों के जहाजी बल को पुर्तगालियों से अधिक सबल देखकर मुग़ल सम्राट् ने उनको १६१३ में सूरत में अपनी कोठी बनाने की आज्ञा दे दी। पुर्तगालियों ने एक बार फिर अंग्रेजों व मुग़लों को दबाने का यत्न किया किन्तु बुरी तरह हारे। इस सफलता का पूरा लाभ उठाने के लिए अंग्रेजों ने एक प्रतिष्ठित राजदूत सर टामस रो को मुग़ल दरबार में भेजा। पहले-पहल रो ने जहाँगीर से अजमेर में भेंट की और तीन बरस तक वह राजदरबार में रहा। इस अवकाश में रो ने अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को उन्नत करने तथा उनकी सूरत कोठी को सुदृढ़ करने में बहुत सफलता प्राप्त की। अंग्रेजों ने अपनी कोठियाँ अहमदाबाद, आगरा व भड़ौच में भी बना ली थीं। इन सबको एक केन्द्र से व्यवस्थित व नियन्त्रित कराने के उद्देश से अंग्रेजों ने सूरत में एक परिषद्, उसके प्रमुख सहित स्थापित कर दी। उन्हीं दिनों उन्हें शाह अब्बास ने फ़ारस में व्यापार करने की आज्ञा भी दे दी। फिर १६२२ तक अंग्रेजों ने पुर्तगालियों को फ़ारस व भारत के पश्चिमी समुद्र में परास्त करके उनके व्यापार का अन्त कर दिया।

**डच व अंग्रेजों का संघर्ष**—जिस प्रकार अंग्रेजों ने पुर्तगालियों को पश्चिम भारत के समुद्र से बाहर निकाला उसी प्रकार डच लोगों ने उनको पूर्वी समुद्रों व टापुओं से मार भगाया। किन्तु फिर ये दोनों आपस में भिड़ गए। इनके संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि डच लोग मसाले के व्यापार का पूरा अधिकार रखने का दावा करते थे, क्योंकि उन्हीं ने पुर्तगालियों को निकाल बाहर करने में सबसे अधिक जोखिम उठाई थी। अंग्रेजों की यह कूटनीति सदैव से आज तक चली आती है कि अपना काम निकालने के लिए किसी दूसरे को आगे बढ़ा देना और सफलता होने पर चौधरी बनकर आगे आ जाना। १६१६ को मातृदेशों के दबाव से दोनों ने सुलह भी कर ली, पर यह बहुत दिन न चल पाई क्योंकि बटेविया का स्थापक डच गवर्नर कोयन अंग्रेज़ों को भारतीय द्वीपों से निकाल बाहर करने पर तुला हुआ था। अंग्रेजों ने जो एक नौ-समूह (Squadron) पुर्तगालियों से विरुद्ध देने का वादा किया था, उसे पूरा न किया। १६१६ में एक ऐसी दुर्घटना हुई जिसके कारण इन दोनों में समझौता या सुलह होने की कोई आशा न रही। एक डच सैनिक ने एम्बोयना (Amboyna) में जितने अंग्रेज थे उन सबको पकड़कर बड़ी यातनाओं से कत्ल कर डाला। उन पर आक्षेप यह था कि वे गढ़ को छीनने की साजिश कर रहे थे। इसके बाद बन्तम आदि स्थानों में अंग्रेज अपनी कोठियाँ जमाए रहे, किन्तु उन्होंने पूर्वी द्वीपसमूह पर अपना पैर जमाने की आशा छोड़ दी।

**अंग्रेजों की सफलता**—उपर्युक्त घटनाओं ने अंग्रेजों के लिए बड़ी उपयुक्त

परिस्थिति उत्पन्न कर दी। डच लोगों की शत्रुता से दबकर पुर्तगालियों ने १६३५ में सूरत के गवर्नर से समझौता कर लिया। इसके बाद १६४२ और १६५४ में फिर इन दोनों में संधियाँ हुईं। अंग्रेजों ने इस अनुकूल परिस्थिति का आरम्भ से ही लाभ उठाया था। १६११ में उन्होंने मसुलीपट्टम में एक कोठी खोल दी थी क्योंकि वह बारीक सूती कपड़े का बड़ा भारी दिसावर था, जिसकी माँग बन्तम तथा फारस दोनों में ही बहुत थी। १६३९ में अंग्रेजों ने विजयनगर के वंशधर चन्द्रगिरि के राजा से पुर्तगालियों की नष्टप्राय बस्ती सेंट टोम (St. Thome) के निकट, बहुत ही थोड़े से किराए पर, मद्रास की जागीर प्राप्त कर ली और वहाँ पर अपनी कोठी बनाने तथा उस नगर पर पूरा शासन करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। १६४७ में गोलकुण्डा राज के व्यापारी-सेनापति मीर जुमला ने समस्त चोलमण्डल-तट पर अधिकार कर लिया। परन्तु स्वयं एक महान् व्यापारी होने के नाते वह अंग्रेजों का मित्र था। अतएव उसने इस शर्त पर कि जितना आयात कर (Customs) वे बाहरी व्यापारियों से वसूल करें उसका आधा गोलकुण्डा को दें, उनके पुराने अधिकार स्वीकृत कर दिए। बाद को इस अदायगी की एक निश्चित रकम ३८० पगोडा और फिर १६७२ में १२०० पगोडा कर दी गई। इन्हीं दिनों अंग्रेजों ने बंगाल में भी व्यापारी कोठियाँ बनाकर देश के अन्दर तक प्रवेश कर लिया था। हरिहरपुर और बालासोर में १६३३ में, हुगली में १६५०-५१ में और फिर पटना और कासिम बाजार में कोठियाँ बनाईं। इन स्थानों का मुख्य व्यवसाय था शोरे, शक्कर और रेशम का। इनके द्वारा कम्पनी की अपेक्षा उसके कर्मचारियों ने अपने निजी व्यापार से बहुत लाभ उठाया। इसी समय फ्रेंच-अंग्रेज संघर्ष इस क्षेत्र में आरम्भ होता है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा।

**मराठी समुद्री सेना का इस संघर्ष में भाग**—इस समुद्री सैन्यबल तथा व्यापारी साम्राज्य की घुड़दौड़ से देश को बचाने के लिए एक भारतीय शक्ति ने भी सराहनीय प्रयत्न किया था। इसका पूरा श्रेय स्वर्णदुर्ग के आंग्रे वंश को था। शिवाजी ने समुद्री सेना के महत्व को भलीभाँति समझकर एक सैनिक बेड़ा बनाया था। उसके बाद इस बेड़े का समूचा नेतृत्व व शासन एक अत्यन्त तीव्र, कुशल तथा शूरवीर नेता के हाथों में चला गया। इसका नाम था कान्होजी आंग्रे। इस वीर ने स्वर्णदुर्ग में अपना मुख्यालय स्थापित किया और उस रणक्षेत्र में, जिसमें पाश्चात्य समुद्री जातियाँ व्यापारी अधिकारों के लिए संघर्ष में जुटी हुई थीं, वह भी कूद पड़ा। थोड़े ही समय में उसने पश्चिम भारतीय सागर पर ऐसी धाक जमा ली कि बाहरी जातियाँ उससे भयभीत हो गईं। बम्बई से कोई १६ मील बाहर कन्हेरी के द्वीप पर आंग्रे ने अपनी सैनिक स्थली (Military base) बनाई और वहाँ से निकलकर इन सबसे चौथ वसूल करना शुरू किया। अंग्रेजों को कई बार जलयुद्ध में उसने परास्त किया। तब उन्होंने पुर्तगाली सेना को मिलाकर एक बहुत

बड़ा पोत-समूह बनाया और १६२२ में आंग्रे के मूलस्थान पर आक्रमण किया। गोवा से ५,००० सैनिक, समुद्री सेना की सहायता के लिए भेजे। आंग्रे ने इस संयुक्त सैन्यदल को भी पछाड़ा और उन्हें अपने-अपने मूलस्थानों में आकर मुँह छिपाना पड़ा। डच बेड़े को भी उसने इसी प्रकार हराया। इस असाधारण विजय के बाद कानोजी आंग्रे निःशंक होकर अरब सागर में विचरने लगा।

कानोजी के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने भी १७५६ तक अरब सागर पर अपना प्रभुत्व कायम रखा, किन्तु १७५६ में क्लाइव और वाटसन के संयुक्त बेड़े ने आक्रमण करके कन्हेरी पर कब्जा कर लिया। १७५६ तक मराठा जलसेना का महत्व उस क्षेत्र में बहुत भारी रहा। किन्तु इनका अधिकार केवल कोंकण के तटवर्ती समुद्र तक ही सीमित था। खुले महासागर तक पहुँचने का वे साहस न कर सके थे। अतएव ब्रिटेन की समुद्री शक्ति, जो इस समय यूरोप में सबसे बढ़ गई थी, महासागर के व्यापार पर सर्वोपरि अधिकारिणी हो गई। थोड़े दिन तक फ्रेंच समुद्री सैन्यबल से अंग्रेजों को और संघर्ष करना पड़ा, पर १७८४ में **सफरेन** के पराभव के अनन्तर अंग्रेजों का एकाधिकार पूरी तरह स्थापित हो गया।

**मुग़ल सत्ता में समुद्री शक्ति का अभाव**—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि किसी मुग़ल सम्राट् ने समुद्र-सैन्यबल के महत्त्व को न समझा। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बहुत समय तक तो मुग़ल सत्ता केवल स्थल सत्ता ही बनी रही और समुद्र से उसका सम्पर्क देर में हुआ। अकबर ने पहले-पहल समुद्र को गुजरात विजय करके खम्भात पहुँचने पर देखा था। तब भी मुग़लों की मुख्य समस्याएँ आन्तरिक ही थीं और मध्यएशियाई आन्तरिक शक्तियों से मुख्यतया उनके राजनीतिक व सामरिक सम्बन्ध थे। समुद्री मार्गों द्वारा विदेशों से उनका सम्पर्क सूरत के बन्दरगाह के द्वारा हुआ था और वह केवल व्यापारिक था। जो मुग़लों की तुरत की समस्याएँ थीं उनपर समुद्री शक्ति का कोई प्रभाव या आवश्यकता न थी।

तथापि कुछ ऐसी घटनाएँ होने लगी थीं जिनसे अकबर के उत्तराधिकारियों को यह समझ लेना चाहिए था कि समुद्री शक्ति का कितना बड़ा महत्व है। उदाहरण के लिए सूरत के अंग्रेजी व्यापारियों ने जहाँगीर के लगाए हुए मूँगे के व्यापार पर बन्धन को नहीं माना। इस व्यापार की साम्राज्य की ओर से समस्त विदेशियों के लिए मनाही कर दी गई थी। किन्तु जहाँगीर अंग्रेजों का कुछ न बिगाड़ सका। उसके बाद शाहजहाँ ने बंगाल में पुर्तगालियों की लूट-मार को दबाने के लिए तटीय जहाजी बेड़ा तैयार किया था किन्तु यह बेड़ा बड़े सागर में इन विदेशियों का कोई मुकाबला न कर सकता था। देश के अन्दर मुग़ल साम्राज्य की शक्ति बहुत बड़ी थी किन्तु समुद्र में वह बेकार थी। अतएव मुग़ल सम्राट् इन विदेशी व्यापारियों द्वारा अपने मुसलमान यात्रियों के समुद्र में लूटे जाने पर सिवाय क्रोध का प्रकाशन करने के और कुछ न कर सकते थे। दूसरी ओर उनकी भूमि

पर मुग़ल अधिकारी इन विदेशी व्यापारियों को काफ़ी तंग करते थे और कभी-कभी इनकी कोठियों पर हमला कर देते थे। परन्तु वहाँ पर विदेशी लाचार थे।

**सिंहावलोकन**—उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि महासमुद्रों में सैन्यबल बढ़ाने तथा उनके संघर्ष का महत्व १६वीं शती में ही पूरी तरह प्रदर्शित हुआ। हिन्दू मध्यकालीन राष्ट्रों ने समुद्री सैन्यबल अवश्य बनाए थे किन्तु वह प्राय: तटवर्ती थे और किनारे-किनारे के देशों में ही जाकर व्यापार आदि कर सकते थे। जब पुर्तगाली जहाजों को लेकर वास्को-डगामा १५वीं शती के अन्त में भारतीय महासागर को चीरता हुआ अफ्रीका के चारों ओर घूमता हुआ भारतवर्ष पहुँचा तब एक महासमुद्री सैन्यबल का जन्म हुआ। इस सैन्यबल के लिए आवश्यकता थी कि समुद्रों के बीच में उचित स्थानों पर उनकी मरम्मत तथा आवश्यक सामग्री कोयला आदि का प्रबन्ध हो। जब यह सब व्यवस्था करके विदेशी समुद्र-मार्ग से भारत के तट पर आए उस समय भारतीय साम्राज्य केवल स्थल-साम्राज्य था और भूमि की परिधि में ही सीमित था। जैसा कह आए हैं, उसकी मुख्य समस्याएँ भी उत्तर-पश्चिम व मध्य एशिया से उत्पन्न होती थीं।

तथापि समुद्र-सैन्यबल का महत्त्व आरम्भ से ही भारतवर्ष को प्रभावित करने लगा था। विदेशी व्यापारियों ने केवल समस्त व्यापार पर ही अधिकार नहीं कर लिया प्रत्युत् इसके द्वारा देश की अनन्त सम्पत्ति विदेशों को जाने लगी। राजनीतिक दृष्टि से यह निर्विवाद था कि भविष्य में यह समुद्री सैन्यबल अपने साम्राज्य को भी बढ़ाता जाएगा और अन्त में उन सत्ताओं को निगल जाएगा जो इसके महत्त्व को न समझकर उसका प्रतिकार करने की तैयारी न करेंगी। अतएव जब तक मुग़लों का आन्तरिक सैन्यबल बहुत बड़ा बना रहा तब तक कोई समुद्री शक्ति देश से अन्दर न घुस पाई किन्तु जब मुग़ल सत्ता का ह्रास हुआ, देश छिन्न-भिन्न होकर परस्पर-विरोधी छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और दूसरी ओर एक विदेशी समुद्र-बल बहुत बढ़ गया तब देश का इस शक्ति के अधिकार में चला जाना अनिवार्य हो गया। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में अंग्रेजों की निरन्तर सफलता तथा साम्राज्य-विस्तार को तभी रोका जा सकता था जब कि देश के अन्दर सफलता तथा साम्राज्य व राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाती।

**मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना के समय दक्षिण की अस्थिर राजनीतिक दशा**—इस प्रसंग में हम दो विषयों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझते हैं, यद्यपि ये दो विषय एक ही घटना-चक्र के विभिन्न रूप थे। एक ओर बहमनी वंश के विभाजन या विच्छेद तथा उससे निकले हुए विभिन्न राज्यों का निरन्तर अपकर्ष और दूसरी ओर इसी समय मराठा शक्ति का प्रादुर्भाव तथा उत्कर्ष। ये दोनों ऐतिहासिक प्रवाह एक ही मौलिक घटना-चक्र के प्रमाण थे। पहले हम बहमनी राज्य के अन्तिम इतिहास का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

**बहमनी राज्य का विच्छेद**—बहमनी राज्य का ह्रास तथा विच्छेद किस प्रकार और किन कारणों से होना आरम्भ हुआ इसका निर्देश पहले भाग में किया जा चुका है। बतलाया जा चुका है कि १४८९ में अहमदनगर, बीजापुर और बरार स्वतंत्र हो गए थे। १५१२ में गोलकुंडा के शासक ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी। १५२६ में बीदर भी एक नए राजवंश के शासन में पृथक् राज्य बन गया।

**बरार**- -बरार का संस्थापक एक हिन्दू था जो मुसलमान हो गया था। बहमनी सुलतान ने उसे एमादुलमुल्क का खिताब प्रदान किया था। इसने आखिरी सुलतान मुहम्मद तृतीय के योग्य मन्त्री महमूद गावान के अन्यायपूर्ण वध के बाद सुलतान की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने को १४८४ में एक स्वतन्त्र राज्य का शासक घोषित कर दिया। इसका वंश एमादशाही कहलाया और यह राज्य १५७४ तक कायम रहा जब कि उसको अहमदनगर में सम्मिलित कर लिया गया।

**अहमदनगर**—बहमनी सुलतान का जुन्नार का शासक अहमद १४९० में स्वतन्त्र बन बैठा। कुछ दिन बाद उसने एक नए नगर की स्थापना की और उसका नाम अहमदनगर रखा। तब से यह नगर उसकी राजधानी बना। उसने अपना नाम अहमद निज़ामशाह रखा। अतएव उसका वंश व राज्य निज़ामशाही कहलाया। १४९९ में उसने दौलताबाद पर अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु पर १५०८ में उसका बेटा बुरहान निज़ामशाह सुलतान हुआ। उसने अपने पड़ोसी राजाओं से बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और एक बार विजयनगर-सम्राट् से सन्धि करके बीजापुर पर आक्रमण किया। उसका उत्तराधिकारी हुसैन निज़ामशाह उन मुस्लिम राज्यों के सैन्यसंघ में शामिल था जिन्होंने मिलकर १५६५ में विजयनगर-साम्राज्य को नष्ट किया था। १५७४ में निज़ामशाह ने बरार सल्तनत को हड़प लिया। आगे चलकर हम विस्तार से वर्णन करेंगे कि किस प्रकार चाँदबीबी, जो निज़ामशाह की बेटी थी और बीजापुर में ब्याही थी, अहमदनगर की रक्षा के लिए अकबर महान् के बेटे मुराद के विरुद्ध बड़ी वीरता से लड़ी। इसके बाद प्रसिद्ध मन्त्री मलिक अम्बर जो हब्शी क़ौम का था, अहमदनगर की रक्षा के लिए मुग़लों के विरुद्ध लड़ता रहा। अन्त में शाहजहाँ के विरुद्ध शिवाजी के पिता शाहजी ने जान की बाजी लगाकर अपने स्वामी निज़ामशाही वंश को पुनर्जीवित करने और उनके राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया किन्तु अन्त में १६३७ में अहमदनगर का राज्य मुग़लों के अधिकार में चला गया।

**बीजापुर**—बीजापुर सल्तनत का संस्थापक यूसुफ़ आदिलखाँ महमूद गावान का गुलाम था। वह अपनी योग्यता से ऊँचे पदों को प्राप्त करता हुआ अन्त में बीजापुर का प्रान्ताधीश बन गया था। यूसुफ शिया सम्प्रदाय का अनुयायी था। शिया धर्म को उसने राज्यधर्म घोषित किया तथापि सुन्नी लोगों को भी उसने धार्मिक स्वतन्त्रता दी थी। परन्तु स्वार्थ-सिद्धि के लिए वह कुछ भी कर सकता था। उसके पड़ोसी सुन्नी सुलतानों ने जब उसपर आक्रमण किया तो उसने तुरन्त सुन्नी मत को अपना धर्म

घोषित कर दिया और इस प्रकार इन शत्रुओं से जान छुड़ाई। यूसुफ़ ने अपना ख़िताब आदिलशाह रखा था जिससे उसका वंश और राज्य आदिलशाही कहलाए। उसने विजयनगर-सम्राटों से कई बार युद्ध किए और पुर्तगालियों से १५१० में गोआ को भी एक बार वापस ले लिया। किन्तु थोड़े ही दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई और अल्बुकर्क ने गोआ पर फिर से अधिकार कर लिया। उसने मुसलमानों के विरोध से क्रोधित होकर गोआ की समस्त मुस्लिम जनता को कत्ल करवा डाला। यूसुफ़ ने एक मराठा सरदार मुकुल राव की बहिन से विवाह किया था। उसका बेटा इस्माईल आदिलशाह तथा उसकी बेटियाँ, जिनके विवाह पड़ौसी मुसलमान सुलतानों के साथ हुए थे, सब इसी हिन्दू माता से उत्पन्न हुए थे। यूसुफ़ हिन्दुओं को अपने राज्य के ऊँचे-ऊँचे तथा उत्तरदायित्व के पदों पर नियुक्त करता था। इतना ही नहीं, वह अपने सरकारी कारबार तथा हिसाब में भी मराठी भाषा व लिपि का प्रयोग करता था। वह किसी प्रकार अपने विलास तथा व्यक्तिगत आनन्द के कारण राजकीय शासन की क्षति न होने देता था तथा सदैव अपने मन्त्रियों को आदेश देता था कि अपना कार्य न्याय व सचाई से करें। वह स्वयं इन गुणों का उदाहरण बनकर उनके सामने रख़ता था। ध्यान रहे कि इस सुलतान की नीति में आरम्भ से ही उदारता के भाव उपस्थित थे और साम्प्रदायिक संकीर्णता की गन्ध नहीं थी।

उसका बेटा सुलतान इस्माईल गद्दी पर बैठने के समय नाबालिग था। बड़ा होने पर उसने रायचूर दोआब को जीत लिया था और यद्यपि कृष्णदेव राय महान् ने १५२० में उसे वापस छीन लिया था, इस्माईल ने कृष्णदेव राय के मरने पर १५२४ में उसपर फिर से अधिकार कर लिया। इस्माईल का विदेशों में भी मान था। फारस के सम्राट् ने उसके पास अपना राजदूत भेजा था। इस्माईल का पुत्र मल्लूख़ाँ १५३५ में गद्दी पर बैठा परन्तु अत्यन्त निकृष्ट व अयोग्य होने के कारण अपने भाई इब्राहीम के द्वारा गद्दी से उतार दिया गया। इब्राहीम ने सुन्नी सम्प्रदाय की फिर से स्थापना की और विदेशियों को अपनी नौकरियों से निकाल दिया। इन विदेशियों ने विजय-नगर-सम्राट् के पास जाकर नौकरी कर ली।

इब्राहीम की शक्ति के विरुद्ध बीदर, अहमदनगर और गोलकुंडा के सुलतानों ने मिलकर एक संघ बनाया, किन्तु वह उसका कुछ न बिगाड़ सके। अन्तिम दिनों में वह इतना विलासी तथा शराबी हो गया कि उसका स्वास्थ्य बिलकुल नष्ट हो गया और उसकी १५५७ में मृत्यु हो गई। उसके बेटे अली आदिलशाह ने (१५५७-७९) एक बार फिर शिया सम्प्रदाय को राजधर्म बनाया और अत्यन्त संकीर्णता की नीति संचालित की। १५५८ में उसने रामराय से मिलकर अहमदनगर पर आक्रमण किया। इस युद्ध में हिन्दू सेना ने मुसलमानों पर बड़े अत्याचार किए, जिसके कारण अली आदिलशाह अत्यन्त खट्टा हो गया। इसी सुलतान ने अहमदनगर के हुसैन निज़ामशाह की बेटी चाँदबीबी से विवाह किया था। इसी प्रकार इन सुलतानों में अन्य विवाह-सम्बन्ध भी हुए थे। जैसा कह आए हैं, इन्हीं सब ने १५६५

में एका करके विजयनगर-साम्राज्य को तालीकोट की लड़ाई में नष्ट किया।

अली आदिल ने १५७० में पुर्तगालियों को भी गोआ से निकालने का यत्न किया। इसमें कालीकट के समुद्री व अहमदनगर के सुलतान ने भी उसे सहायता दी किन्तु वह असफल रहे। १५७९ में अली आदिल के वध के बाद उसका भतीजा इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय सुलतान हुआ। वह केवल ९ वर्ष का था इसलिए उसकी माँ चाँदबीबी राज-प्रतिनिधि बनी किन्तु मन्त्रिमण्डल के हाथों में शासन-भार छोड़कर चाँदबीबी १५८४ में अहमदनगर चली गई और फिर वापस न आई। १६वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में अहमदनगर व बीजापुर मुग़ल साम्राज्य की विस्तार-नीति के कारण उस राजनीतिक फंदे में फँस गए जिससे वे अन्त तक मुक्ति न पा सके। आदिलशाही वंश के विषय में भी यह याद रखने की बात है कि प्रायः इस वंश के सभी सुलतान धार्मिक क्षेत्र में बड़े सहनशील थे और राज्य के ऊँचे से ऊँचे पदों पर ब्राह्मणों व अन्य हिन्दू मराठों को नियुक्त करते थे। उनके सेनापति भी प्रायः हिन्दू ही होते थे। वास्तव में हिन्दू मन्त्रियों तथा सैनिकों के द्वारा ही इन सुलतानों का शसन सुचारु रूप से चलता था। इब्राहीम द्वितीय ईसाइयों व पुर्तगालियों के प्रति भी इतना सहनशील था कि ईसाई मत का प्रचार करने में उसने कोई बाधा न डाली। उसका राज्य अत्यन्त विस्तृत था और राजकोष हर प्रकार से भरपूर था। उसकी सेना में ८० हजार घुड़सवार थे। इसी के आदेश से प्रसिद्ध इतिहास-लेखक फिरिश्ता ने भारतवर्ष का बृहत् इतिहास लिखा था। जब मुग़लों ने १७वीं शती के पहले चरण में दक्षिण की ओर साम्राज्य-विस्तार करना शुरू किया उस समय बीजापुर भी पतनोन्मुख हुआ। मुख्यतः बीजापुर राज्य के अन्तर्गत ही मराठों के उत्कर्ष तथा शिवाजी के राज्य का बीजारोपण हुआ।

**गोलकुण्डा**—दक्षिण के मुस्लिम राज्यों में बीजापुर के बाद सबसे बड़ा व सबल राज्य गोलकुण्डा का था। गोलकुण्डा के अन्तर्गत लगभग प्राचीन वरंगल अर्थात् काकतीय राज्य की समस्त भूमि थी। इस वंश का प्रवर्तक एक तुर्की सैनिक कुली कुतुबशाह था, जिसे महमूद गावान ने बहमनी साम्राज्य के पूर्वी प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। महमूद गावान के वध के बाद कुतुबशाह अपने प्रान्त में ही रहा किन्तु नाम के लिए वह बहमनी सुलतान को अपना अधिपति मानता रहा। १५१८ के लगभग उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित किया। कुतुबशाह बड़ा दीर्घायु हुआ और ९० वर्ष की आयु में १५४३ में उसके बेटे जमशेद ने मीर महमूद हमदानी से उसका वध करवाया। उसने बहुत वर्षों तक अपने राज्य का सुशासन किया। गोलकुण्डा राज्य की भूमि बहुत विस्तृत तथा उपजाऊ थी गोदावरी और कृष्णा तथा इनकी अनेक सहायक नदियाँ इस भूमि को सींचती थीं।

जमशेद ने केवल ७ वर्ष राज्य किया। इस अवकाश में जमशेद ने अपने राज्य का कुछ विस्तार भी किया। १५५० में एक असाध्य रोग से उसकी मृत्यु हो गई।

जमशेद का उत्तराधिकारी उसका बालक पुत्र सुब्हानकुली हुआ । शासन के लिए अहमदनगर से आईनउलमुल्क सैफ़ख़ाँ को बुलवाया गया परन्तु जगदेव राव नायकवारी एक मराठा सरदार शासन-कार्य अपने अधिकार में लेना चाहता था । इस उद्देश से उसने भूनगीर के क़िले से जमशेद के भाई को क़ैद से निकालकर राजगद्दी पर बिठाया । किन्तु सैफ़ख़ाँ ने आकर जगदेव राव को गोलकुण्डा के क़िले में बन्दी कर दिया । परिणाम यह हुआ कि सैफ़ख़ाँ की शक्ति समस्त दक्षिण में इतनी बढ़ गई कि अन्य दरबारी उसके शत्रु हो गए । इस वैमनस्य से राज्य में बहुत अव्यवस्था फैली और नायकवारी लोगों ने इससे पूरा लाभ उठाया । उन्होंने सुब्हानकुली को क़ैद में डालकर जमशेद के भाई इब्राहीम को विजयनगर से बुलाकर सुलतान घोषित किया । मुस्तफ़ाख़ाँ अरदस्तानी उसका पेशवा बना । मराठा सरदार जगदेव राव अपने षड्यन्त्रों से न चूका । उसने फिर दौलतक़ुली ख़ाँ को गद्दी पर बिठलाकर शासन-अधिकार अपने हाथ में लेने का प्रयास किया । इब्राहीम को इस इन्द्रजाल का पता लगते ही उसने सब षड्यन्त्रियों को मरवा डाला किन्तु जगदेव बचकर भाग निकला और बरार में जा रहा । थोड़े दिन बाद वह विजयनगर चला गया । इब्राहीम ने विजयनगर तथा अन्य पड़ौसियों के साथ बहुत से युद्ध किए । १५६५ में विजयनगर-साम्राज्य को नष्ट करने के लिए वह भी मुस्लिम सुलतानों के संघ में सम्मिलित हुआ । तथापि यह समझना बड़ी भूल होगी कि इब्राहीम एक धर्मान्ध व असहनशील शासक था । इसके विपरीत वह बहुत ही उदार, न्यायप्रिय तथा उत्तम शासक था और राज्यकार्यों में हिन्दुओं को बड़ी उदारता के साथ ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर नियुक्त करता था । इब्राहीम की मृत्यु १५८० में हुई । उसने गोल-कुण्डा राजधानी को बहुत विस्तृत, सुख-सम्पत्ति से भरपूर तथा विशाल भवनों से सुसज्जित किया था । उसके बेटे मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने १६११ तक राज्य किया । उसके बाद इस वंश का पतन आरम्भ हो गया ।

**बीदर**—बीदर का राज्य बहमनी राज्य का बचा-खुचा भाग था । परन्तु महमूदशाह बहमनी का मंत्री कासिम बरीद लगभग १४९२ से ही स्वतंत्र हो गया था, यद्यपि कासिम और उसका बेटा अमीर दोनों बहमनी सुलतान के प्रति स्वामि-भक्ति का प्रदर्शन करते रहे । १५२६ तक इसी प्रकार वह सुलतानों को राजगद्दी पर बिठलाते-उतारते रहे । १५२६ में कासिम बरीद ने दिखावे का चोला उतार कर स्वाधीनता घोषित कर दी । यह वंश कभी भी बड़ा व शक्तिशाली राज्य न बन पाया । १६१९ में बीजापुर के सुलतान ने बरार को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया ।

विजयनगर साम्राज्य का वृत्तान्त पहले भाग में दिया जा चुका है ।

**दक्षिण की आन्तरिक दशा का दूसरा पक्ष : महाराष्ट्र में जागृति**—दक्षिण की मुस्लिम रियासतों के उपर्युक्त विवरण से दो मुख्य तत्त्वों का स्पष्ट रूप से ग्रहण होगा । एक यह कि बहमनी साम्राज्य के विच्छेद से जो नए राज्य उद्भूत हुए वे

रात्रि के अन्तिम प्रहर के दीपकों के समान, जिनकी तेल-बत्ती समाप्त होनेवाली हो, थोड़ी देर टिमटिमाए और फिर फीके पड़ते-पड़ते बुझ गए। दूसरा यह कि उनकी उत्पत्ति, उत्कर्ष व अस्तित्व समस्त राजनीतिक व आर्थिक आधारों पर निर्भर थे न कि साम्प्रदायिक शिला पर। अपनी आत्मरक्षा तथा अन्य स्वार्थों के लिए वे मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं से मैत्री करने में एक पल न चूकते थे। उनके शासन की बाग-डोर, उनकी सेनाओं का शिक्षण व संचालन, बहुत कुछ हिन्दू, विशेषकर, ब्राह्मण मंत्रियों व सैनिकों के कन्धों पर था। एक-दो को छोड़कर उनमें सभी उदार व सहिष्णु नीति का पालन करते थे। मराठों के प्रसिद्ध इतिहासकर्ता सरदेसाई ने भी अपनी 'न्यू हिस्ट्री ऑफ मराठाज़' में इस सत्य को स्वीकार किया है।

अब हमें देखना यह है कि मुग़ल साम्राज्य के उत्कर्ष अर्थात् अकबर महान् के शासन के आरम्भ में महाराष्ट्र के सामाजिक व राजनीतिक जीवन की क्या दशा थी। महाराष्ट्र जातीय जागृति के विषय में अनेक भ्रमोत्पादक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। कहा गया है कि महाराष्ट्र की जातीय जागृति मुस्लिम राजाओं की असहिष्णु तथा हिन्दुओं के धर्म को नष्ट करने की नीति के प्रतिकार रूप हुई थी। साथ ही ये सब लेखक यह भी कहते जाते हैं कि जागृति का आदिकरण था संकीर्ण ब्राह्मण सम्प्रदाय के अनुयायी ब्राह्मणों व क्षत्रियों के अन्य जातियों पर अत्याचार, जिनके विरुद्ध महाराष्ट्र के सन्तों ने १३वीं शती के आरम्भ में आवाज़ उठाई जिसने पण्ढरपुर प्रतिरोध के नाम से आगे चलकर बहुत विस्तार व प्राबल्य प्राप्त किया। इसी आन्दोलन की प्रगति १६वीं शती तक चलती रही। इसकी वास्तविक आत्मा के विषय में एक मराठा विद्वान् ने कहा है कि 'इस आन्दोलन के आरम्भ से पाँच सदियों तक महाराष्ट्र उस सर्वोत्कृष्ट व उच्चतम सामाजिक प्रजातन्त्र का निवास-स्थान बन गया था, जो भक्तों का प्रजातन्त्र था।* इस प्रगति का यह प्रजातन्त्री महा-सूत्र गुरु रामदास को छोड़कर उनके समय तक के सभी भक्तों के प्रचार का आधार बना रहा जिनमें तुकाराम का नाम सर्वोपरि है। इन सब भक्तों ने, ब्राह्मण सम्प्रदाय की अनेक त्रुटियों, अन्यायपूर्ण व्यवहार, जात-पाँत के असह्य भेद, जड़पूजा, मिथ्या कर्म-काण्ड, यज्ञ-याग, दान-दक्षिणा, तीर्थ-यात्रा आदि अनेक अन्धविश्वासों को—जिनके प्रपंच में पण्डा-पुजारियों ने हिन्दू मात्र को जकड़ रखा था और जाति को मृतप्राय तथा गतिहीन बना दिया था—इन सब कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार किया था। इन भक्तों के प्रवचनों, उपदेशों व लेखों आदि में कहीं भी हमको ऐसे प्रमाण नहीं मिलते कि उनको मुसलमानों के धार्मिक अन्याय व असहिष्णुता के विरुद्ध आवाज़ उठाने की आवश्यकता पड़ी हो।

तथापि इस प्रसंग में एक बात अवश्य ऐसी थी जिससे मुसलमानों का धार्मिक

---

*देखो 'श्रीपदराम शर्मा-कृत 'मराठा हिस्ट्री री-एग्ज़ामिन्ड,' पृ० १०१, जहाँ लेखक ने पटवर्धन व रानडे और बेलवेलकर के शब्द उद्धृत किए हैं।

विरोध करने की प्रवृत्ति को सहारा मिलता था। एक तो मुसलमान राज्यों के अन्दर अवश्य ही मुस्लिम संस्कृति साहित्य व कलादि को प्रोत्साहन मिलता था और उच्च वर्ग के हिन्दुओं के समान उनका अन्याय भी निम्नवर्गों पर ही अधिक होता था। इस दृष्टि से इस आन्दोलन को उच्चवर्गों के हिन्दू व मुसलमानों दोनों ही के विरुद्ध मानव मात्र की आत्मप्रतिष्ठा तथा धार्मिक व बौद्धिक स्वतन्त्रता स्थापित करने के हेतु दलित जातियों का प्रतिरोध कहा जा सकता है।

इस सामाजिक या धार्मिक जागृति तथा क्रान्ति के साथ-साथ महाराष्ट्र के राजनीतिक क्षेत्र में एक और प्रतिक्रिया हो रही थी। यह प्रतिक्रिया उसी परम्परा का नवोदित रूप थी जो सदैव से उत्तर भारत के साम्राज्यों के विस्तार के विरुद्ध दक्षिण में उदित होती रही थी। इसी प्रतिक्रिया का फल विजयनगर व बह्मनी साम्राज्यों की स्थापना के रूप में हुआ जिसके द्वारा दक्षिण भारत ने दिल्ली-सम्राटों के आतंक से दक्षिणापथ को मुक्त किया था। इस प्रतिक्रिया की लगभग दो सदियों तक आवश्यकता इस कारण न हुई कि तुग़लक साम्राज्य के विच्छेद से अकबर महान् तक कोई ऐसी सत्ता उत्तर में विकसित न हुई जो प्राचीन साम्राज्य-वादी मर्यादा को पूरा करने का साहस करती। पर १६वीं शती के अन्तिम दिनों में दक्षिण के मरणासन्न मुस्लिम राज्यों के मुक़ाबले पर मुग़ल साम्राज्य की नवोदित उन्नतिशील सत्ता ने फिर दक्षिणापथ के सम्मुख वही संकटमय समस्या पैदा कर दी जिसका निर्देश ऊपर किया गया है। इस संकट से बचने और अपनी स्वाधी-नता बनाए रखने के लिए दक्षिण के हिन्दू-मुसलमान शासकवर्ग दोनों ही चिन्तित तथा प्रयत्नशील थे। जनसाधारण में सामाजिक चेतना पूर्णरूप से जागृत हो चुकी थी। आवश्यकता केवल यह थी कि कोई ऐसा दिव्य नेता हो जो उनका ध्यान इस संकट की ओर घुमाकर सर्वसामान्य को अपनी राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा करने पर भी कटिबद्ध कर दे। इस महान् कार्य के सम्पादन करने की क्षमता व योग्यता मरती हुई मुसलमान रियासतों में कहाँ थी। वे तो बुझते हुए दीपक के समान थीं। यह महान् कार्य शिवाजी सरीखा महान् पुरुष ही कर सकता था। इसकी सफलता के लिए आवश्यकता थी कि वह शक्ति जो इस महान् उद्देश को पूरा करने का संकल्प करे वह उन मरते हुए राज्यों का स्थान ले ले जिनका अस्तित्व बजाय लाभदायक होने के हानिकारक और निर्बलता का कारण था। १६वीं शती के अन्तिम दशक से दक्षिण व उत्तरी साम्राज्य के परस्पर सहयोग अथवा संघर्ष के मूल में यही उपर्युक्त सामाजिक अवस्था थी। इसमें उन पाश्चात्य जातियों ने भी पर्याप्त योग दिया और विभिन्न दलों के इतिहास पर प्रभाव डाला जिसका दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। मुगल साम्राज्य की प्रगति को उचित रूप से ग्रहण करने के लिए हमें इस परिस्थिति को ध्यान में रखना आवश्यक है।

●

# आठवाँ प्रकरण

# अकबरी युग

सत्ताइस

## राज्य-स्थापना व उत्कर्ष

### ( १ )

**अकबर के राजगद्दी पर आसीन होने के समय परिस्थिति व समस्या**—हुमायूँ के राज्य के प्रसंग में अकबर के प्रारम्भिक जीवन का उल्लेख किया जा चुका है। पानीपत की दूसरी लड़ाई में विजयी होकर जब अकबर दिल्ली और आगरे के सिंहासन पर आसीन हुआ उस समय उसकी परिस्थिति हर प्रकार से अत्यन्त संकटमय थी। उसका अधिकार केवल दिल्ली और आगरे के चारों ओर बहुत थोड़े-से प्रदेश पर था। इसके अतिरिक्त पंजाब व काबुल भी उसी के अधिकार में था। चारों ओर वह अफ़ग़ान व राजपूत शत्रुओं से घिरा हुआ था, जो दिल्ली के साम्राज्य को वापस लेने के लिए तुले बैठे थे। जिन प्रदेशों पर बाबर और हुमायूँ ने अधिकार कर लिया था, वे भी उसके राज्य से निकल गए थे। जौनपुर के पूरब में बंगाल तक सारा प्रदेश अफ़ग़ान सैनिकों के अधिकार में था। राजपूताने में साँगा के पराजित होने के बाद जोधपुर का मालदेव बहुत शक्तिमान् हो गया था और अपने राज्य को बढ़ा रहा था। इनके अतिरिक्त उत्तर भारत में गुजरात, मालवा, खानदेश व बंगाल के मुसलमानी राज्य बड़े शक्ति-सम्पन्न तथा बलवान थे और इनके होते हुए किसी विजेता के लिए साम्राज्य-निर्माण करना साधारण खेल न था। उपर्युक्त राजनीतिक स्थिति के अतिरिक्त अकबर एक परदेशी था। भारतीय जनता जिस दृष्टि से बाबर और हुमायूँ को देखती थी उसी दृष्टि से अकबर को देखती थी। वह उनके लिए एक अजनबी मनुष्य था जिसके पूर्वजों ने सैन्यबल से देश को जीता था परन्तु कोई रचनात्मक कार्य करने का अवसर उनको नहीं मिला था।

उपर्युक्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए हम अकबर की समस्याओं को संक्षेप में इस प्रकार बयान कर सकते हैं। सबसे पहले उसे बड़ी नीति व चतुराई से अपने संकुचित राज्य का विस्तार करना आवश्यक था। साथ ही देश के बिखरे हुए

शासन-संगठन को सुव्यवस्थित व सुदृढ़ करने की भी तुरन्त आवश्यकता थी। इस व्यवस्था के लिए प्रजा में विश्वास के भाव उत्पन्न करना, देश की युयुत्सु जातियों के साथ मित्रता करना और उनको एक महान् साम्राज्य खड़ा करने के श्रेष्ठ कार्य में सहयोगी बनाना, धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न जातियों व सम्प्रदायों के अनुयायियों से उदारता व निष्पक्षता का व्यवहार करना और शासन-संचालन को यथाशक्ति निर्दोष व उत्तम बनाना। इसके अन्तर्गत मुख्यतया साधारण शासन-कार्य, राजकर विभाग, सेना विभाग, न्याय विभाग—इन सब में सुधार करने की आवश्यकता थी। अन्त में राष्ट्र की उन्नति के हेतु रचनात्मक कार्य करने के लिए सामाजिक व धार्मिक सुधारों का करना भी उतना ही आवश्यक था। इतने महान् कार्य को कैसी विलक्षण नीति व तीव्र बुद्धि एवं दूरदर्शिता के साथ अकबर ने सम्पन्न किया इन सबका दिग्दर्शन हम अकबर के दीर्घकालीन शासन के विवरण में कराएँगे।

**राज्य-विस्तार का प्रयास** (१५५८-६०)—पानीपत के रणक्षेत्र में हीमू को परास्त करने के बाद अकबर अपनी सेना के साथ सीधा दिल्ली पहुँचा। अबुलफ़ज़ल के अनुसार दिल्ली की जनता अपने नए बादशाह का स्वागत करने के लिए बाहर आई और उचित आदर-सत्कार के साथ उसको नगर के अन्दर लिवा ले गई। यहाँ से अकबर ने हीमू (हेमराज) के सम्बन्धियों के विरुद्ध, जो अभी तक मेवात में मौजूद थे, और सिकन्दर सूर आदि के विरुद्ध भी सेनाएँ भेजीं। इस सबको पीर मुहम्मद सरवानी ने परास्त करके बन्दी कर लिया और दिल्ली ले आया। इन्हीं के साथ हेमराज का पिता भी मारा गया। मेवात की जागीर पीर मुहम्मद को दे दी गई। इसी प्रकार सिकन्दर सूर तथा अन्य अफ़ग़ानों को निकालकर अकबर ने काबुल से अपने परिवार की स्त्रियों को बुलवा भेजा। इस मिलाप से युवक बादशाह को अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ। इसके बाद बादशाह ने अपना ध्यान राज्य के शासन की तरफ फेरा। बैरमखाँ खाने-खानान ने शासन की नीति और राज-प्रबन्ध अपने हाथों में सँभाले और बादशाह का प्रतिनिधि होकर कार्य करना आरम्भ किया। फिर अकबर दिल्ली से चलकर अक्टूबर १५५८ में आगरे पहुँच गया और उस नगर को राजधानी बनाया।

यहाँ पहुँचकर अकबर ने राज्य-विस्तार करना आरम्भ किया। इन दो वर्षों के अन्दर शाही सेना ने जौनपुर और ग्वालियर को जीत लिया। किन्तु रणथम्भौर का आक्रमण असफल रहा। ग्वालियर का किला बहुत प्राचीन तथा मजबूत किला था। सलीमखाँ के बाद उसे एक मुसलमान किलेदार के शासन में रख दिया गया था। बादशाह की सेना के घेरा डालने के थोड़े ही दिन बाद किलेदार ने हार मान ली और किला विजेताओं को सौंप दिया। ग्वालियर-विजय के बाद तुरत खान ज़मान को जौनपुर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा गया। खानज़मान ने अफ़ग़ान अमीरों को पराजित करके बनारस तक का प्रदेश मुग़ल राज्य में मिला लिया।

**बैरमखाँ का निकाला जाना** (१५६०)—राज्यारोहण के बाद लगभग चार

वर्ष तक बैरमख़ाँ ने शासन किया। इस अवकाश में कई कारणों से राजमहल के निवासियों व राजदरबार के बहुत से अमीरों में उसके प्रति द्वेष तथा घृणा के भाव उत्पन्न हो गए थे। इसमें कुछ हद तक बैरमख़ाँ के चरित्र व नीति का भी दोष था और कुछ हद तक उस परिस्थिति का जिसमें उसे नए राज्य का शासन-संचालन करना पड़ा था। बैरमख़ाँ ने शासन-कार्य को इस भावना से करना आरम्भ किया कि अकबर एक अनुभवहीन नवयुवक है; उसे राज्य के कारबार में इतनी जल्दी नहीं फँसना चाहिए। अतएव वह अकबर की शिक्षा, उसके दैनिक जीवन की देखभाल, उसके व्यसन-वासना, शिकार, जेबखर्च आदि सभी पर नियन्त्रण रखने लगा। इस प्रकार बरताव करने में बैरमख़ाँ का कोई बुरा इरादा था, यह कहना कठिन है। हाँ, उसकी यह नासमझी अवश्य थी कि अकबर की अनुपम प्रतिभा व महत्त्वाकांक्षा को वह न पहचान पाया। अबुलफ़ज़ल आदि लेखकों का यह कथन कि अकबर और उसके परिवार के नौकर-चाकरों को तो बहुत ही थोड़ी तनख़ाहें मिलती थीं और बैरमख़ाँ के आदमी सब अमीर होते जाते थे, अत्युक्ति जान पड़ती है। इसमें आंशिक सत्य ही जान पड़ता है। बैरमख़ाँ शिया सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने शेख़ गदाई, एक शिया, को सद्र‌्उस्सुदूर के पद पर नियुक्त किया। अन्य शिया अमीरों की तरफदारी और सुन्नियों के साथ कड़ाई की और केवल ऐसे मन्त्रियों व अमीरों को नियुक्त किया जो उसके आज्ञाकारी दासों के समान थे। सुन्नी अमीरों को यह भय होने लगा कि बैरम सुन्नी मत को दबाकर शिया मत का प्राबल्य राज्य में करने का यत्न कर रहा है। तरदीबेग़ को जितने उतावलेपन से उसने मरवा डाला था और पीर मुहम्मद सरवानी को पदच्युत करके अपमानित किया, इन बातों ने भी अमीरों और राजमहल की स्त्रियों में उसके विरुद्ध बड़ी आग भड़का दी थी। इन सब बातों से अधिक असह्य बात अकबर के लिए यह थी कि बैरमख़ाँ उसको राजकाज में हस्तक्षेप करने से रोकता था। अकबर को यह बहुत ही नापसन्द था। अतएव एक दिन मौका पाकर शिकार के बहाने से अकबर अपने विश्वस्त सहायकों के साथ आगरे से दिल्ली भाग गया। वहाँ पहुँचकर बादशाह ने एक फरमान जारी किया कि बैरमख़ाँ पद से हटा दिया गया है और सब अमीरों व दरबारियों को दिल्ली पहुँचकर सम्राट् को अभिवादन करने की आज्ञा दी।

बैरमख़ाँ इस अकस्मात् वज्रपात से बेसुध-सा हो गया। यद्यपि उसके मित्रों ने उसे विद्रोह करके राज्याधिकार छीन लेने का परामर्श दिया किन्तु उसने न माना और कहा कि जिस राज्य-परिवार की समस्त जीवन मैंने सचाई से सेवा की है, उसका विरोध करके मैं अपने सारे किए पर पानी न फेरूँगा। अकबर ने अपने शिक्षक अब्दुल लतीफ़ के हाथ बैरम को आज्ञापत्र भेजा कि तुम्हें उचित है कि तुम अब हज करने चले जाओ क्योंकि मैंने राज-शासन का भार स्वयं सँभालने का निर्णय कर लिया है। बैरम ने तैयारी की किन्तु उसके शत्रु पीर मुहम्मद ने उसके बाहर जाते समय ऐसा बुरा बरताव किया कि बैरम ने आवेश में आकर विद्रोह करने की ठानी। बैरम आधे

दिल से तो ऐसा कर ही रहा था। शाही सेना से हारकर शिवालक के पहाड़ में जा छिपा। फिर उसने हथियार रख दिए और हार मानकर अकबर के सामने क्षमायाचना के लिए उपस्थित हुआ। उदार व बुद्धिमान् बादशाह ने उसे अपने दाहिने हाथ बिठलाया और उसका उचित आदर-सम्मान किया। बैरम आज्ञा लेकर हज के लिए रवाना हुआ। पर गुजरात में पट्टन के स्थान पर उसके एक अफ़ग़ान शत्रु ने उसका वध कर दिया। बैरम के साथियों ने उसकी स्त्री और बेटे अब्दुर्रहीम को बचाकर अकबर के पास भेज दिया। अकबर ने बालक अब्दुर्रहीम को पुत्र के समान पाला। यही बालक भविष्य में प्रसिद्ध विद्वान्, कवि व लेखक, अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना हुआ।

**अकबर का राज-काज अपने हाथों में लेना : पहले चार बरस**—बैरमख़ाँ के अनुचित प्रभाव तथा नियन्त्रण से छुट्टी पाते ही अकबर ने राजकाज का भार बड़ी तत्परता से सँभाला और शुरू से ही अपूर्व प्रतिभा, साहस व दूरदर्शिता का परिचय दिया। उसकी निष्पक्ष उदार नीति का सूत्रपात भी इन्हीं दिनों हुआ, जिस नीति के पूर्ण विकास ने अकबर का नाम इतिहास में अमर कर दिया और संसार भर में अद्वितीय ख्याति प्रदान की। विन्सेंट स्मिथ ने यह मत प्रकट किया है कि बैरमख़ाँ के फंदे से छूटकर अकबर अंतःपुर की स्त्रियों के प्रभाव में कई बरस तक रहा। किन्तु यह धारणा सर्वथा निराधार है। यह ठीक है कि अधमख़ाँ की माँ माहम अंका का, जो सम्राट् की मुख्य धाय थी, वह बड़ा आदर करता था और बैरमख़ाँ के प्रति शंकित करने में इस स्त्री का भी कुछ हाथ था। किन्तु राजकाज के किसी मामले में अकबर ने इन स्त्रियों से परामर्श लिया हो अथवा उनके आदेशानुसार काम किया हो, इसका तृण मात्र भी प्रमाण नहीं है।

**मालवा की विजय**—मालवा का सूबेदार सूरी सुलतानों के समय में शुजाअतख़ाँ था। १५५६ में उसकी मौत के बाद उसका बेटा बाजबहादुर उस प्रान्त का स्वतन्त्र शासक हो गया। मालवा की भूमि अत्यन्त रमणीक थी और उसका सामरिक महत्त्व यह था कि दक्षिण जाने का मार्ग या तो गुजरात के अन्दर से थे या मालवा के अन्दर से। बाजबहादुर अपने युग के जगत्-प्रसिद्ध संगीतज्ञों में हो गया है। उसकी रानी रूपमती का भी रूप-लावण्य एवं गायन-कला में कोई सानी न था। दोनों में आदर्श प्रेम था। किन्तु अपने गायन-वादन तथा अन्य व्यसनों के कारण बाजबहादुर अपने राज्य का शासन अथवा रक्षा करने के योग्य न था। १५६० में खानज़मान के भाई बहादुरख़ाँ ने मालवा पर चढ़ाई की थी पर बैरमख़ाँ के बहिष्कार का झगड़ा छिड़ जाने के कारण वह अधूरी रह गई। १५६१ में बादशाह ने माहम अंका के पुत्र अधमख़ाँ, पीर मुहम्मद व अन्य सेनानायकों को मालवा विजय करने के लिए भेजा। जब ये लोग सारंगपुर तक पहुँच गए तब बाजबहादुर को जाग आई। बाजबहादुर ने युद्ध करने की तैयारी की परन्तु हारकर खान्देश की तरफ भागा। रूपमती तथा अन्तःपुर की अन्य स्त्रियाँ व सारा कोष विजेताओं के हाथ आए। अधमख़ाँ के

अपवित्र हाथों में पड़ने से अपने मान की रक्षा करने के लिए इस ख्यातनामा वीरांगना ने विष खाकर आत्महत्या कर ली। पर अन्य सुन्दरियों तथा गायकों को उस अधम ने अपने अधिकार में कर लिया और बादशाह के पास केवल थोड़े से हाथी भेज दिए। इस पर अकबर को बड़ा क्रोध आया और वह स्वयं रणक्षेत्र में पहुँचा। माहम अंका ताड़ गई कि उसके बेटे की करतूत अवश्य कुछ आपत्ति उसपर उतारेगी। अतएव वह भी पीछे-पीछे शिविर में पहुँची और जिन स्त्रियों को अधमखाँ ने अपने लिए रोक रखा था, सबको मरवा डाला ताकि उसके विरुद्ध बादशाह को कोई शिकायत न पहुँचे। अधमखाँ ने सारी लूटी हुई सम्पत्ति बादशाह को भेंट कर दी और वह आगरे लौट आया। अधमखाँ और पीर मुहम्मद दोनों ही ने मालवे की जनता पर बड़े अत्याचार किए थे। थोड़े दिन बाद अकबर ने, शायद अपने नए वजीर शम्सुद्दीन अटगाखाँ के परामर्श के अनुसार, अधमखाँ को वापस बुला लिया, पर पीर मुहम्मद को रहने दिया। पीर मुहम्मद ने बीजागढ़, बुरहानपुर, असीरगढ़ आदि किलों व शहरों पर आक्रमण किए और वहाँ की जनता का अत्यन्त पाशविकता से संहार कराया। बुरहानपुर में बाजबहादुर ने आसपास के जमींदारों की सहायता से पीर मुहम्मद को पछाड़ा। वह माण्डू की तरफ भागता हुआ, घोड़े से गिरकर नर्मदा में डूब गया। इस प्रकार इस राक्षस ने अपनी काली करतूतों का नतीजा पाया। बाजबहादुर ने एक बार फिर समस्त मालवा पर अधिकार कर लिया। तब अकबर ने अब्दुल्लाखाँ उज़बक को इस हार को उलटने के लिए भेजा। १५६२ में वह मालवे में दाखिल हुआ। बीजबहादुर डर के मारे उदयपुर होता हुआ गुजरात भागा और अन्त में बादशाह की शरण में आकर क्षमा-याचना की। उसे क्षमा कर दिया गया। पर वह थोड़े दिन बाद मर गया। अब्दुल्लाखाँ माण्डू में रहकर शासन करने लगा। पर अब इसको विद्रोह करने की सूझी। बादशाह स्वयं उसे ठीक करने गया और वह भागकर जौनपुर आया। वहाँ उसकी १५६५ में मौत हो गई। माण्डू में खानदेश-नरेश ने अपने दूत बादशाह के पास भेजे और राजकर के अतिरिक्त अपनी बेटी भी भेंट की। अकबर ग्वालियर होता हुआ राजधानी लौटा। माण्डू का सूबेदार कड़ाबहादुर खाँ को नियुक्त किया गया। इसी वर्ष जौनपुर के सूबेदार अलीकुलीखाँ खानज़मान के विद्रोह करने की आशंका से बादशाह जौनपुर की तरफ गया। पर खानज़मान बहुत से उपहार लेकर सेवा में उपस्थित हुआ और अपनी सच्ची सेवकाई का आश्वासन दिलाया।

**अजमेर-यात्रा : मेड़ता-विजय**—माण्डू से लौटने के कोई के ५ महीने बाद ही जनवरी १५६२ में अकबर ने ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती की दरगाह की यात्रा करने के हेतु अजमेर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में जब वह सांगानेर से स्थान पर पड़ाव कर रहा था तो आमेर का राजा भारमल बहुत से उपहार लेकर बादशाह की भेंट करने आया और साथ ही अपनी बेटी को भी भेंट में देने के लिए लेता आया। प्रश्न यह है कि ऐसी अनोखी बात भारमल को कैसे सूझी। हिन्दू स्त्रियों के मुसलमान शासकों से विवाह पहले भी हो चुके थे। हुमायूँ ने भी राजपूतों से विवाह-सम्बन्ध करने का

प्रस्ताव किया था। इसके उत्तर में राजपूत अपनी लड़कियाँ देने को तो तैयार हो गए किन्तु मुग़लों की लड़कियाँ लेने को तैयार न थे। कारण इसका साफ था। मुसलमानों को बेटी देना तो ऐसा ही था जैसा कि अनचाही वस्तु को घर से निकाल कर फेंक देना। उससे उनका धर्म नष्ट नहीं होता था। किन्तु मुग़लों की बेटियों को अपने घरों में रखने से हिन्दू धर्म व जाति के विनाश का भय था। यदि इन राजपूतों ने हुमायूँ के इस प्रस्ताव को मान लिया होता तो हिन्दू-मुस्लिम समस्या जो आज तक बनी हुई है वह कभी की अन्त हो गई होती। इस नीति के एकतरफा पहलू को मान लेने, अर्थात् अपनी बेटियाँ मुग़लों को देकर राजपूतों ने जिस प्रकार राजनीतिक समस्या का समाधान कर दिया था, यदि वे उसके दूसरे पहलू अर्थात् मुग़लों व मुसलमानों की बेटियों से विवाह करना भी स्वीकार कर लेते तो, सामाजिक व सांस्कृतिक ऐक्य के द्वारा सामाजिक समस्या का भी अन्त हो गया होता।

भारमल को मालदेव और मेवात के अफ़गान शासक ने तंग कर रखा था। बादशाह से मित्रता करके वह यह चाहता था कि उसके दबाव से मेवात का शासक चुप हो जाए तो फिर जोधपुर-नरेश भी शान्त हो जाएगा। भारमल की योजना पूरी तरह सफल हुई। अकबर ने न केवल उसकी बेटी को स्वीकार किया बल्कि भारमल का बेटा भगवानदास और पोता मानसिंह दोनों बादशाह के सेनानायकों के पद पर नियुक्त किए गए और भारमल को ५,००० के मनसब से विभूषित किया गया। साथ ही उसके पुत्र जगन्नाथ और उसके दो भतीजे, जो मेवात के शासक की हिरासत में थे, मुक्त कर दिए गए।

**मेड़ता पर कब्ज़ा**—मेड़ता का विशाल व दृढ़ गढ़ अजमेर से कोई ४० मील पश्चिम में है। यह मारवाड़ का सैनिक नाका है और वहाँ जाने के मार्ग का पहरेदार। अजमेर की जागीर मिर्ज़ा शर्फुद्दीन को दे दी गई थी। अकबर के वहाँ पहुँचने पर जब वह भेंट लेकर बादशाह को अभिवादन करने आया, उसे आज्ञा हुई कि मेड़ता पर चढ़ाई करे। इसका बहाना इस तरह मिला कि राव मालदेव का एक सम्बन्धी जयमल जो मेड़ता का अध्यक्ष था, उससे लड़कर अकबर के पास सहायता के लिए आया। शर्फुद्दीन के पहुँचते ही जयमल अपनी सेना लेकर उससे आ मिला। राठौर देवीदास ने ४०० सिपाहियों के साथ मुग़लों के कैम्प में खूब मारकाट की परन्तु अन्त में किला छोड़ना पड़ा। मेड़ता का दिल्लीश्वर के अधिकार में आना राज्य की शक्ति में एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि का कारण था।

**कुछ सामाजिक सुधार** (१५६२-६४)—१५६२ में अकबर ने युद्ध में पकड़े गए बन्दियों को दास बनाने की प्रथा को बन्द कर दिया। अगले बरस जब वह मथुरा के पास पड़ाव कर रहा था तो उसने देखा कि हजारों हिन्दू तीर्थयात्रा के लिए मथुरा आते थे और उनसे 'यात्री कर' वसूल किया जाता था। यह देखकर अकबर ने कहा कि जो यात्री किसी न किसी रूप में भगवान् की पूजा करने को एकत्र हुए हैं उन-पर कर लगाना निश्चय ही ईश्वर की इच्छा के विपरीत है। उसने इस बात की चिन्ता

न की कि इससे राजकोष को कितनी हानि होगी और तुरन्त आज्ञा दी कि 'यात्री कर' सदा के लिए बन्द कर दिया जाए। मथुरा से अकबर आगरे तक पैदल गया। तीन अमीरों के सिवा उसका कोई साथ न दे सके। ये भी थके-माँदे, रो-रोकर आगरे तक पहुँचे। इससे अकबर ने अपने शारीरिक बल का भी प्रदर्शन अपने अमीरों को कराया। किन्तु उसका मस्तिष्क व मेधा उनसे कितनी अधिक बढ़-चढ़कर थी, यह ऊपर कथित घटना से उसने सिद्ध कर दिखलाया। १५६४ में इस नवयुवक बादशाह ने 'जज़िया', जो हिन्दुओं को अपमानित करने के लिए उगाहा जाता था, बन्द कर दिया। यह भी विचारणीय है कि इससे भी राजकर में कितनी कमी हुई होगी। किन्तु एक आवश्यक व उचित मानुषिक कार्य करने के लिए अकबर को कोई कठिनाई न रोक सकती थी। जब हम यह याद करते हैं कि अकबर इस समय केवल २१-२२ बरस का था और उसके पास कोई ऐसा सलाहकार जैसे फ़ैज़ी भाई आदि उसके पास न था, तो हमें इस बादशाह की प्रतिभा व साहस पर मूक रह जाना पड़ता है।

**गोंडवाना की विजय (१५६४)**—गोंडवाना राज्य की स्थापना १५वीं शती के अन्त में अमनदास नामक एक राजपूत ने की थी। इस राज्य में आज के 'मध्य-प्रदेश राज' के सिवनी, मंडला, दमोह और कदाचित् सागर के जिले भी सम्मिलित थे। संभव है कि किसी समय इस राज्य की सीमा नर्मदा-तट तक पहुँच गई हो। इसमें गढ़ और कटंगा नाम के दो कस्बे थे जिनके नाम पर यह राज्य गढ़कटंगा कहलाया। जब से मुगल सम्राट् ने एक ओर मालवा और दूसरी ओर भट्टा (पन्ना की रियासत) को विजय किया तब से गढ़कटंगा राज्य की सीमाएँ मुग़ल भूमि में आ मिलीं। इसकी राजधानी नरसिंहपुर जिले के चौरागढ़ नगर में थी। नरसिंहपुर का किला एक सुदृढ़ चट्टान पर स्थित था और नर्मदा की घाटी का पहरेदार था। इसके अतिरिक्त उस राज्य में पचास के लगभग अन्य किले थे।

अमनदास को गुजरात के बहादुरशाह ने उसकी सहायता करने के बदले में संग्रामशाह का खिताब दिया था। संग्रामशाह का बेटा दलपतशाह बड़ा रूपवान् व प्रतापी वीर था। उसका विवाह महोबा के चन्देल राजा शालिवाहन की बेटी दुर्गावती से हुआ था। दलपतशाह ने अपनी राजधानी चौरागढ़ से बदलकर गढ़कटंगा में बनाई। इस दुर्ग का महत्त्व यह था कि यह उस दर्रे का पहरेदार था जो कि जबलपुर और दमोह के पासवाली पहाड़ियों में से निकलता है। विवाह के चार वर्ष बाद दलपतशाह अपने ३ वर्ष के शिशु-पुत्र वीरनारायण को छोड़कर परलोक सिधार गया। दुर्गावती ने अपने बेटे का स्थानापन्न होकर राज्यकार्य सँभाला। वह एक अनुपम गुण-सम्पन्न वीरांगना थी। रूप-लावण्य में भी वह अनुपम थी और साथ ही तीर व बंदूक चलाने आदि गुणों में भी किसी से कम न थी। कहा जाता है कि उसकी यह आदत थी कि जब कभी वह किसी चीते को देख पाती थी तो बिना उसे निशाना बनाए पानी न पीती थी। दुर्गावती की वीरताओं व आखेट आदि करतबों की कीर्ति की कहानियाँ समस्त हिन्दुओं में फैल गई थीं। शासन-कार्य में भी वह इतनी

प्रजापालक, चतुर तथा सुयोग्य थी कि उसके प्रबन्ध में राज्य हर प्रकार से दिनोंदिन उन्नति कर रहा था। प्रजा सुखी व सम्पन्न थी और राज्य बलशाली था। मालवा के बाजबहादुर तथा अन्य पड़ोसी शत्रुओं को उसने कई बार परास्त किया था। उसकी सेना में बीस हज़ार घुड़सवार, लगभग एक हज़ार हाथी और बहुत बड़ा पैदल सेना-समूह था।

मुग़ल साम्राज्य की बढ़ती हुई बाढ़ गढ़कटंगा की सीमा तक पहुँच चुकी थी। इन दो शक्तियों का संघर्ष होना अनिवार्य हो गया था। कड़ा मानिकपुर का सूबेदार अब्दुल वजीद आसफखाँ, जिसने गढ़कटंगा राज्य की अतुल सम्पत्ति तथा रानी दुर्गावती के प्रताप के बारे में बहुत कुछ सुना था, उसके राज्य पर आक्रमण करने के लिए उतावला हो रहा था। रानी ने बादशाह के पास अपने दूत भेजकर कुछ समझौता करने का यत्न किया किन्तु वह असफल रही। आसफखाँ ने उसके राज्य में कुछ लूट-मार करना आरम्भ कर दिया था। इसका बदला लेने के लिए रानी ने भिलसा आदि पर आक्रमण किए। आसफखाँ ने बादशाह से आज्ञा लेकर दस हज़ार घुड़सवार सेना के साथ गोंडवाना पर धावा बोल दिया। दुर्भाग्य से गोंडवाना के बहुत से छोटे-छोटे सामन्त व सरदार दुर्गावती के प्रताप व उत्कर्ष से ईर्ष्या करते थे। आसफखाँ के दमोह की सीमा पर पहुँचते ही यह देशद्रोही उससे जाकर मिल गए। रानी का विश्वस्त मंत्री आधार कायस्थ बहुत थोड़ी सेना एकत्रित कर सका। दुर्गावती की सेना का बहुत-सा भाग कदाचित् उसके सामन्तों की तरफ से आता था। ऐसी परिस्थिति में आधार ने रानी को युद्ध न करने का परामर्श दिया। परन्तु उस वीरांगना ने उत्तर दिया कि उसकी सेना की ऐसी हीन दशा उस मन्त्री के कुप्रबन्ध के कारण हुई है। तथापि वह इस तुच्छ वर्ग के मुग़ल सेनापति के सामने सिर न झुकाएगी और अपनी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा मूल्य देने से न हिचकेगी। अतएव अपनी थोड़ी-सी सेना लेकर दुर्गावती ने पहाड़ियों के बीच में नर्मदा के किनारे एक सुरक्षित नाके पर शिविर जा जमाया। परन्तु वह इस प्रकार निष्क्रिय पड़े रहने से ऊब गई और अपने स्थान से बाहर निकलकर खुले मैदान में आ गई। मुग़लों पर उसने इतना भयानक आक्रमण किया कि वे भाग निकले। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि रात ही को पीछा करके उस मुग़ल सेना को नष्ट कर दिया जाए। परन्तु उसके सैनिकों ने उसकी बात न मानी और अगले दिन आसफखाँ भी अपनी बड़ी सेना के साथ रणक्षेत्र में आ पहुँचा। वीरनारायण तथा उसके सेनापतियों ने मुगलों को तीन बार पछाड़कर पीछे धकेल दिया। दुर्भाग्य से तीसरे हमले में वीरनारायण घायल हुआ और उसके रणक्षेत्र से हटते ही रानी की सेना में भगदड़ पड़ गई। केवल ३०० जवान उसके पास रह गए। तथापि वह निर्भयता के साथ बराबर युद्ध करती रही। एक तीर उसकी कनपटी में लगा पर उसने खींचकर उसे फेंक दिया तुरत ही एक और तीर उसकी गर्दन में लगा। इसको भी उसने निकालकर फेंक दिया परन्तु अब वह मूर्च्छित

गई। होश आने पर उसने देखा कि सब खेल समाप्त हो गया और उसकी पूरी तरह पराजय हुई। अतएव अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए उसने अपनी ही कटार सीने में भोंककर आत्महत्या कर ली और इस प्रकार वीरगति को प्राप्त किया।

आसफ़खाँ ने तुरत चौरागढ़ पर अधिकार कर लिया। अब भी वीरनारायण ने बड़े साहस से युद्ध करते हुए आत्मसर्पण किया और अपने मरने से पहले ही अन्तःपुर की रानियों को जौहर की आग में भस्म कर दिया। दुर्गावती की बहन कमलावती और अन्य कई देवियाँ जो बच गई थीं बन्दी बनाकर दो सौ हाथियों के साथ बादशाह के पास भेज दी गईं। आसफखाँ को अनन्त सोना, चाँदी, जवाहरात व लगभग १,००० हाथी लूट में प्राप्त हुए जिन्हें उसने अपने लिए ही रखा। अकबर ने १५६७ में उज़बक विद्रोह का दमन करने के बाद आसफखाँ को कड़ा से हटा दिया और तब केवल दस किले मालवा प्रान्त में जोड़ने के लिए लेकर बाकी राज दलपतिशाह के भाई चन्द्रशाह को लौटा दिया।

स्मिथ आदि लेखकों ने इस घटना में अकबर पर अत्यन्त अन्याय तथा दुर्गावती के प्रति अनुचित व्यवहार करने का आरोप लगाया है। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होगा कि दुर्गावती की इस प्रकार आत्महत्या तथा गढ़कटंगा राज्य की आसफ़-खाँ के द्वारा लूट-खसोट के लिए वह तनिक भी उत्तरदायी नहीं था। यह युद्ध ऐसे समय में हुआ था जब कि अकबर अपने बल को सुसगंठित व सुदृढ़ कर रहा था। आसफखाँ बड़ा शक्तिशाली हो गया था। उसको रोकना बादशाह के वश में न था। तथापि कभी-न-कभी मुग़ल सम्राट् को गोंडवाना पर आक्रमण करना ही पड़ता क्योंकि समस्त उत्तर भारत को एक साम्राज्य की छत्रछाया में संयुक्त करने के उद्देश को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था। निस्संदेह रानी दुर्गावती का शासन अत्यन्त उत्तम था। परन्तु साम्राज्य-निर्माण की नीति में बाधक होने के कारण उस राज्य का स्वतंत्र रहना किसी भी साम्राज्यवादी को अस्वीकार हुआ होता। अकबर रानी दुर्गावती अथवा किसी व्यक्ति-विशेष से युद्ध नहीं कर रहा था। उसके लिए योग्य-अयोग्य शासक सब बराबर थे। केवल उनका साम्राज्य के अन्तर्गत आ जाना और दिल्लीश्वर का प्रभुत्व स्वीकार करना आवश्यक था। यदि रानी दुर्गावती से उसका समझौता सफल हो गया होता तो कदाचित् गोंडवाना का राज भी राजपूताने के राज्यों के सदृश साम्राज्य के अन्तर्गत एक करद राज्य के रूप में शेष रह जाता।

**अधमखाँ और ख़्वाजा मोअज्जम को दण्ड** (१५६०-६४)—इसी अवकाश में दो घटनाएँ ऐसी हुईं जिनसे यह पूरी तरह सिद्ध हो जाता है कि अकबर कभी भी अन्तःपुर के दुष्प्रभाव से प्रभावित नहीं हुआ था। अकबर ने खानेआज़म शम्सुद्दीन मुहम्मद अटंगा को मुख्य मंत्री (वकील) नियुक्त कर दिया था। अधमखाँ को मालवा से हटाने में शायद उसका कुछ हाथ था। अन्य दरबारी भी खानेआज़म के उत्कर्ष के कारण उससे ईर्ष्या करते थे। उन्होंने उद्दण्ड अधमखाँ को भड़काया और उसने एक

दिन खानेआज़म के दफ्तर में घुसकर उसे क़त्ल कर दिया और तुरत अन्तःपुर के दरवाजे पर जा खड़ा हुआ। अकबर इस घटना की सूचना पाते ही तलवार लेकर बाहर आया और उस आततायी को एक तमाचा मारकर धराशायी कर दिया। फिर उसके हाथ-पैर बँधवाकर महल की छत से सर के बल नीचे फिकवाया जिससे उसका भेजा चूर-चूर हो गया। यह देखकर उसके षड्यंत्री साथी सब भाग पड़े। बादशाह ने स्वयं जाकर माहम अंका को अधमखाँ की मौत की सूचना दी। वह कुछ न बोल सकी और अपने बेटे के दुःख में ४० दिन के अन्दर मर गई।

दूसरी घटना भी लगभग उपर्युक्त घटना से मिलती-जुलती है। ख्वाजा मोअज्ज़म बादशाह का मामा था। हुमायूँ के राजत्वकाल में यह व्यक्ति अनेक दुष्कर्मों के लिए दोषी पाया गया था। इसका अनाचार यहाँ तक बढ़ा कि सम्राट् को विवश होकर इसे देश-निकाला देना पड़ा। कुछ समय तक तो मोअज्ज़म गुजरात में निवास करता रहा परन्तु फिर बादशाह के दरबार में लौट आया। बैरमखाँ की सिफारिश पर अकबर ने उसे क्षमा कर दिया और उसे एक जागीर भी दे दी। किन्तु उसकी दुष्टता ने उसका साथ न छोड़ा। उसने हुमायूँ के अन्तःपुर की फातिमा नामक एक महिला की बेटी जुहरा आगा से विवाह कर लिया किन्तु थोड़े दिन पश्चात् ही उसे मार डालने का निश्चय कर लिया। जब इसकी सूचना फ़ातिमा को मिली तो उसने अकबर से अपनी बेटी की रक्षा के लिए याचना की। अकबर ने ताहिर मुहम्मद आदि अमीरों के हाथ यह सूचना मोअज्ज़म के पास भेजी कि बादशाह स्वयं उससे मिलने आ रहा है। ताहिर के पहुँचते ही ख्वाजा इतना रुष्ट हुआ कि उसने बेचारी महिला का वध कर डाला। इससे अकबर को इतना क्रोध आया कि उसने आज्ञा दी कि उसे खूब मार-मारकर नदी में गोते लगवाए जाएँ। इस पर भी जब वह न मरा तब उसे ग्वालियर के क़िले में बन्दी बना दिया गया जहाँ पागलपन की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

**मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम और खानेजमान के विद्रोह** (१५६५-६७)—इन दो वर्षों में ऐसी घटनाएँ हुईं कि जिनसे अकबर की सामरिक बुद्धि, साहस तथा धैर्य की परीक्षा हो गई और इसका परिणाम यह हुआ कि दो भयानक शत्रुओं के दमन से साम्राज्य बहुत दृढ़ व स्थायी हो गया।

**काबुल में विद्रोह**—काबुल में अकबर का विश्वस्त सेवक मुनीमखाँ मिर्ज़ा हकीम के संरक्षक रूप में शासन करता था। वहाँ से भारत आते समय उसने अपने बेटे गनीखाँ को काबुल का सूबेदार नियुक्त किया। थोड़े दिन बाद हकीम की माँ माह चोचक बेगम ने गनीखाँ को क़ैद करके शासन अपने हाथ में ले लिया। इस पर अकबर ने मुनीमखाँ को सूबेदार और हकीम का अतालीक (शिक्षक) बनाकर काबुल भेज दिया। माह चोचक बेगम ने जलालाबाद के निकट मुनीमखाँ से युद्ध किया और यद्यपि वह पराजित हुई, मुनीमखाँ आगरे वापस लौट आया।

इन्हीं दिनों बयाना का नाज़िम नागौर व अजमेर के जागीरदार शर्फुद्दीन से

मिलकर विद्रोह हो गया और काबुल की तरफ़ भागा। वहाँ चोचक बेगम ने उसका सम्मान किया और अपनी बेटी उसे ब्याह दी। अब अबुल माली मुहम्मद हकीम का संरक्षक व कार्यकर्त्ता बन बैठा। उसने चोचक बेगम का वध कर दिया और मिर्ज़ा हकीम को इतने कड़े नियन्त्रण में रखना शुरू किया कि उसने चुपके-से बदख़्शाँ के शासक मिर्ज़ा सुलेमान से सहायता माँगी। सुलेमान ने काबुल पर चढ़ाई करके अबुल माली के पापों के बदले में उसको गला घोंटकर मरवा दिया और हकीम से अपनी बेटी का ब्याह कर दिया। अब काबुल पर सुलेमान के अमीरों का आतंक बैठ गया। परन्तु उनका व्यवहार इतना असह्य हुआ कि हकीम ने उनको काबुल खदेड़ दिया। इस पर सुलेमान ने काबुल पर आक्रमण कर दिया। हकीम भागकर पेशावर आया और अकबर से सहायता माँगी। अकबर ने उसकी सहायता के लिए बहुत-सा धन, सामग्री और सेना भेजी। सुलेमान ने बार-बार काबुल पर चढ़ाई की परन्तु बादशाही सेनाओं के आते ही वह वापस लौट जाता था। इस प्रकार सुलेमान से छुटकारा पाकर मिर्ज़ा हकीम ने कुछ अमीरों के बहकाने से स्वयं विद्रोह करके लाहौर पर चढ़ाई कर दी और आस-पास के अमीरों को लूटना शुरू कर दिया। अकबर ने इस घटना की सूचना पाते ही हकीम के विरुद्ध सेना भेजी। शाही सेना के निकट पहुँचते ही मिर्ज़ा हकीम साहस छोड़कर काबुल वापस भाग गया।

**ख़ानेज़मान का विद्रोह**—अलीकुली ख़ाँ (ख़ानेज़मान) और उसका भाई हृदय से सदा ही राजविद्रोह करने की चिन्ता में रहते थे। १५६१ में उन्होंने कुछ उद्दण्डता प्रकट की थी पर बादशाह के पहुँचने पर क्षमा माँगकर बच गए। १५६५ में हकीम के विद्रोह को सुअवसर समझकर इन्होंने फिर विद्रोह कर दिया और यहाँ तक बढ़े कि हकीम को बादशाह मानकर उसके नाम से खुतबा पढ़वा दिया। अकबर ने पहले तो हकीम का पीछा किया और जब वह काबुल वापस लौट गया तब १५६७ में मिर्ज़ा लोगों को संभल से खदेड़कर मालवा पहुँचाया। फिर वह ख़ाने-ज़मान के बार बार होनेवाले विद्रोह को पूरी तरह समाप्त करने का संकल्प करके आगे बढ़ा। ख़ानेज़मान और उसके भाई बहादुरख़ाँ के साथ मालवा के अमीरख़ाँ आदि भी मिल गए और जौनपुर से कड़ा-मानिकपुर तक उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। आसफ़ख़ाँ के द्वारा बादशाह ने विद्रोहियों की प्रगति की पूरी सूचना प्राप्त करके मुनीमख़ाँ को एक सेना के साथ आगे भेजा और आदेश दिया कि कन्नौज के पास गंगा को पार करके शत्रुओं को आगे बढ़ने से रोके। स्वयं वह अधिक सेना एकत्रित करके पीछे जौनपुर तक पहुँच गया। वहाँ से उसने आसफ़ख़ाँ को विद्रो-हियों के पीछे भेजा। मुनीमख़ाँ और ख़ानेज़मान में पुरानी मित्रता थी। अतएव उसके बीच में पड़ने और बादशाह से सिफारिश करने पर इस शर्त पर ख़ानेज़मान को क्षमा किया गया कि उसकी माँ और चचा इब्राहीमख़ाँ दोनों सम्राट् के पास उपस्थिति होकर क्षमा-याचना करें और माफ़ी मिल जाने के बाद सब विद्रोही दरबार में हाजिर हों। बादशाह ने मुनीमख़ाँ को कहा कि मैं तुम्हारी खातिर इन दुष्टों को

क्षमा कर रहा हूँ। परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता है कि ये अपने वचन को पूरा करेंगे।

इसके बाद अकबर चुनार व वाराणसी पर्यटन करने गया। चुनार के क़िले की मरम्मत कराई और आज्ञा दी कि जितने विद्रोही जमींदार अपनी जागीर वापस लेना चाहते हैं वे दरबार में अर्ज़ी दें। परन्तु बादशाह के जौनपुर से रवाना होते ही खानेज़मान ने फिर विद्रोह की पताका खड़ी कर दी। अकबर ने इस बार मुनीमखाँ को धिक्कारा। पहले तो बादशाह ने खानेज़मान की माँ को, जो जौनपुर में थी, बन्दी बना लिया। बादशाह ने यह आज्ञा भी दी कि विद्रोही के जितने साथी मिलें, बाँध लिए जाएँ। स्वयं वह एक बड़ी सेना लेकर खानेज़मान के पीछे चला। खानेज़मान भागकर शिवालक पहाड़ में जा छिपा। पर बहादुरख़ाँ ने जौनपुर पहुँचकर अपनी माँ को मुक्त किया और अशरफखाँ को बन्दी बनाकर बादशाह के शिविर पर हमला करने का विचार किया। इसकी सूचना पाकर अकबर जौनपुर लौट आया और संकल्प किया कि जब तक खानेज़मान और उसके दल का संहार न कर लूँगा, वहाँ से न हटूँगा। बादशाह का ऐसा दृढ़ संकल्प सुनकर खानेज़मान शिवालक से चला आया और गंगा के तट से फिर मुनीमखाँ के द्वारा क्षमा प्राप्त करने का यत्न किया। बादशाह ने एक बार फिर उसे क्षमा कर दिया और आगरे लौट आया।

उपर्युक्त घटना १६५६ के आरम्भ की है। इन्हीं दिनों खानेज़मान के दृश्य को देखकर गोंडवाना का विजेता आसफखाँ, इस भय से कि कहीं उससे उस सब सम्पत्ति का हिसाब न माँगा जाए जो वह गढ़कटंगा से लाया था, चौरागढ़ के क़िले को छोड़कर वन में जा छिपा। वहाँ से उसने बादशाह को तो बड़े विनीत पत्र भेजे और खानेज़मान को लिखा कि वह उसकी सहायता के लिए आने की तैयारी कर रहा है। इस समय अकबर पंजाब में हकीम का पीछा कर रहा था। आसफखाँ जौनपुर आया पर खानेज़मान के बरताव से असन्तुष्ट होकर लाहौर गया और बादशाह से क्षमा प्राप्त की। तब अकबर ने आसफखाँ और मजनूँखाँ को खानेज़मान और उसके सहयोगियों के विरुद्ध जौनपुर व कड़ा की तरफ़ भेजा। पीछे अकबर, आगरे का शासन मुनीमखाँ को सौंपकर, स्वयं जौनपुर की तरफ़ चल पड़ा। जब वह सकीर के पास पहुँचा, खानेज़मान भागकर अपने भाई के पास मानिकपुर चला गया। बादशाह ने नदी को हाथी पर पार किया और बहुत-से सैनिक तैरकर पार गए और बड़ी तीव्रगति से मानिकपुर पहुँच गए। अगले दिन दोनों दलों में घमासान युद्ध हुआ। बादशाह ने स्वयं इस युद्ध का संचालन किया। खानेज़मान की आँख में एक तीर लगा और वह अपने घोड़े पर से गिर पड़ा और एक हाथी ने उसे कुचलकर उसका काम तमाम कर डाला। बहादुरखाँ पकड़ा गया और मार डाला गया। यह युद्ध भूसी के पास मंकरवाल गाँव में हुआ था। अन्त में अकबर ने ईश्वर को इस सफलता के लिए धन्यवाद दिया।

वहाँ से अकबर बनारस, जौनपुर होता हुआ कड़ा-मानिकपुर पहुँचा और मुनीमखाँ को आगरे से बुलाकर खानेज़मान की जागीर का शासन सौंपा। यह जागीर जौनपुर से चौसा तक थी। इसके बाद, घनी वर्षा के मौसम में, वह राजधानी लौटा।

**चित्तौड़-विजय (१५६८)**—अब तक के वृत्तान्त से पाठक देख चुके हैं कि अनेक उपद्रवों तथा विद्रोहों के होते हुए भी अकबर ने उत्तर भारत में पंजाब और काबुल से लेकर बिहार तक अपने अधिकार में कर लिया था। इससे भी अधिक याद रखने योग्य उसकी वह विजय है जो उसने विश्वास व श्रद्धा के रूप में प्रजा के अन्दर प्राप्त कर ली थी। सम्राट् के पास अब सैन्यबल व अन्य आवश्यक सामग्री की भी कमी नहीं थी। राजस्थान का भी बहुत बड़ा हिस्सा, अर्थात् जोधपुर, नागौर, जेतारण, अजमेर और आँबेर के उत्तर-पूरब के समस्त प्रदेश पर मुग़ल-राज्य स्थापित हो चुका था। अब बारी थी मेवाड़ की जिसके जीते बिना पश्चिम और दक्षिण की तरफ़ साम्राज्य-विस्तार असम्भव था। उदयपुर-नरेश राणा उदयसिंह (राणा साँगा के पुत्र) की शक्ति राजस्थान में सर्वोपरि थी। सिरोही का देवल राजा उसके अधीन था। बूँदी का हाड़ा राजा सुर्जन भी मेवाड़-नरेश को अपना स्वामी मानता था। साम्राज्यवादी अकबर किस तरह ऐसे शक्तिशाली प्रतिपक्षी को स्वतन्त्र रहने दे सकता था। फिर चित्तौड़ मुग़ल प्रान्त मालवा के बीच में पड़ता था। एक बहाना यह भी था कि उदयसिंह ने मालवा के पराजित सुलतान बाजबहादुर को शरण दी थी। ये सब कारण मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए पर्याप्त थे। अतएव अकबर ने सितम्बर १५६७ में चित्तौड़ पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और धौलपुर, शिवपुर, कोटा होते हुए अक्तूबर में चित्तौड़ के पास पहुँचा। राणा उदयसिंह ने इस आपत्ति का सामना करने के हेतु अपने सामन्तों व सेनानायकों से परामर्श किया। उन्होंने यह नीति निर्धारित की कि राणा स्वयं तो चित्तौड़ छोड़कर सपरिवार दूर चला जाए और चित्तौड़ की रक्षा का कार्य कुछ वीर योद्धाओं के हाथों में छोड़ दे। राणा उदयसिंह की नीति का अनुकरण करने के कारण राजस्थान के सर्वसाधारण में यह धारणा फैल गई कि वह अत्यन्त कायर पुरुष था अत: वह बादशाह का मुकाबला न करके अपनी जान बचाकर भाग गया। आधुनिक इतिहासज्ञों में इस धारणा को फैलाने का काम टाड महोदय ने किया। परन्तु यह धारणा, वास्तविकता से बहुत दूर है। उदयसिंह ने अपने क्षत्रियवत् शूरवीर होने का काफ़ी परिचय दिया था। उसने सिरोही आदि पास के राजाओं को जीतकर चित्तौड़ राज्य को विस्तृत बनाया था। उसके अन्दर अपने वंश के अन्य राणाओं से भिन्न गुण था कि अपने देश की रक्षा करने के लिए युद्ध करने के बजाय अन्य प्रकार की नीति और योजनाओं की आवश्यकता भी उतना ही महत्त्व रखती थी। उसको कायर बतलाकर इतिहासज्ञों ने उदयसिंह के प्रति बड़ा अन्याय किया है।

चित्तौड़ छोड़कर जाने से पहले उदयसिंह मेड़ता से निर्वासित वहाँ के अन्तिम

स्वाधीन शासक वीरम के पुत्र जयमाल राठौर को किले की रक्षा का भार सौंपता गया। अकबर ने अपनी सेना को कई भागों में बाँटकर एक शाखा मालवे के विद्रोही मिर्ज़ाओं को निकाल बाहर करने के लिए भेजी। दूसरी टुकड़ी आसफ़ख़ाँ के संचालन में चित्तौड़ के उत्तर में स्थित मंडलगढ़ के क़िले पर घेरा डालने के लिए भेजी। परन्तु सेना का मुख्य भाग लेकर अकबर स्वयं चित्तौड़ पर पहुँचा। चित्तौड़ का क़िला बनास नदी के घुमाव के अन्दर एक ऊँचे सुदृढ़ तथा विस्तीर्ण पर्वत-खण्ड पर स्थित है। इसकी ऊँचाई लगभग ५०० फुट है और यह चट्टान लगभग साढ़े तीन मील चौड़ी है। इस क़िले के अन्दर खाने-पीने तथा अस्त्र-शस्त्र की सामग्री पर्याप्त मात्रा में थी। इसकी दीवारें बहुत मजबूत और सात फाटकों से सुरक्षित थीं। स्थानीय भाषा में इन फाटकों को पोल कहा जाता है।

अकबर ने उदयसिंह को अचानक छापा मारने की शंका से रोकने के लिए और आस-पास के देश को नष्ट करने के लिए हुसैनकुली ख़ाँ को भेजा। इधर चित्तौड़ पर उसने बड़े विचारपूर्वक योजना बनाकर घेरा डाला। उसके दृढ़ संकल्प तथा भयानक आक्रमण को देखकर क़िले के रक्षकों ने संधि करने का प्रस्ताव भी किया। किन्तु अकबर ने सन्धि करने के लिए स्वयं राणा के उपस्थित होने की शर्त अनिवार्य रखी क्योंकि वह समझता था कि बिना राणा के उसके किसी कर्मचारी से समझौता कर लेना व्यर्थ होगा। इस प्रसंग में यह बात ध्यान रखने की है कि क़िले के रक्षकों में बहुत-से मुसलमान अफ़गान बन्दूकची और तोपची भी थे जिन्होंने बड़ी घातक गोलाबारी मुगल शत्रुओं पर की। इस बात से यह सिद्ध है कि यह लड़ाई भी केवल धार्मिक अथवा जातीय भेद के आधार पर नहीं लड़ी जा रही थी। अकबर ने यह आवश्यक समझा कि गोलाबारी से अपने सैनिकों को बचाने के लिए कई सबत अर्थात् सुरंगें बनाना आवश्यक है। साथ ही उसने क़िले की दीवारों के नीचे सैकड़ों मन बारूद भरवाकर उसको उड़ाने का प्रबन्ध किया। १७ दिसम्बर १५६७ को इन बारूद के ढेरों में आग लगाई गई जिससे किले की दीवारें कई जगह से उड़ गईं और हज़ारों सिपाही दोनों ओर पत्थरों में दबकर मर गए। इन खण्डित दीवारों के अन्दर से मुग़लों ने बड़े ज़ोर से धावा बोला परन्तु वीर जयमल ने हिम्मत न हारी और फटी हुई दीवारों को फिर से बनवाना आरम्भ किया। इस समय अकबर ने उस पर निशाना लगाकर उसे गिरा दिया। राजपूतों का एक पठान सैनिक नेता इस्माईलखाँ भी मारा गया। इस पर राजपूत क़िले की रक्षा की आशा छोड़कर जान की बाज़ी लगाने को उद्यत हो गए। राजपूत वीराङ्गनाओं को जौहर की अग्नि में भस्म करके ८,००० योद्धा चित्तौड़गढ़ के द्वार खोलकर मुग़ल सेना पर टूट पड़े। वीर पत्ता की माता और स्त्री ने भी अद्वितीय साहस व शौर्य के साथ शत्रुओं से युद्ध करते-करते प्राण दिए। उनके इस आश्चर्यजनक कार्य से अकबर के मन में भी इतनी सराहना हुई कि वह जन्मभर उसे न भूला। तथापि उसका दृढ़ संकल्प न डिग सका। बड़ी भारी मार-काट हुई जिसमें ८,००० राजपूत योद्धाओं और ३०,००० ग्रामीण

जनता ने अपने देश और राजधानी की रक्षा करने में जीवन की आहुति दी। साथ ही मुग़लों की भी इस अवसर पर इतनी हानि हुई और मुग़ल सेना के इतने अधिक लोग मारे गए कि अकबर क्रोध व प्रतिहिंसा से उन्मत्त हो गया और उसने मेवाड़ की निहत्थी जनता तथा निस्सहाय बस्तियों का बड़ी निर्दयता से संहार किया। यह बरताव अकबर के वास्तविक चरित्र के बिलकुल विपरीत था। वह सदैव अपने शत्रुओं के प्रति बड़ी उदारता दिखलाता था। परन्तु इस अवसर पर आवेश से अंधा होकर उसने सामान्य जनता पर इतना अत्याचार किया कि अन्य किसी अवसर पर ऐसा न किया था। चित्तौड़ की दीवारों को गिरवा दिया गया किन्तु मेवाड़ के वीरों को वह नीचा न कर सका।

चित्तौड़ पर अधिकार करके अकबर ने उसे एक सरकार बनाया और आसफ़-ख़ाँ को उसका शासक नियुक्त किया। इस युद्ध की सफलता पर अकबर ने मुईन-उद्दीन चिश्ती की समाधि तक पैदल यात्रा करने का प्रण किया था। इस संकल्प को पूरा करके वह आगरे लौटा। वहाँ पर चित्तौड़ के वीर जयमल और पत्ता की अद्वितीय वीरता के स्मारक रूप उसने दो पत्थर के हाथी बनवाए और जयमल और पत्ता की मूर्तियाँ उन पर बिठलाकर अपने क़िले के द्वार पर प्रतिष्ठित कीं। चित्तौड़ की विजय के बाद राजस्थान के कार्य को परिपूर्ण करने के लिए अकबर ने १५६९ के फरवरी मास में रणथम्भौर का भी घेरा डाला और एक महीने के अन्दर उसके मालिक सुर्जन हाड़ा ने हताश होकर क़िले को बादशाह के सुपुर्द कर दिया। चित्तौड़ के क़िले का पराभव होने से उत्तर भारत के अन्य सरदारों व शासकों पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। बंगाल के सुलतान सुलेमान करारानी ने तुरन्त मुग़ल सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार किया, उसका नाम खुत्बे में पढ़वाया और उसके सिक्के जारी किए। उसी वर्ष कालंजर के राजा रामचन्द्र ने भी मुग़ल सैनिक मजनूख़ाँ को क़िला सौंप दिया। अगले वर्ष (१५७०) में बीकानेर के राजा कल्याणमल और जोधपुर के चन्द्रसेन ने भी स्वयं उपस्थित होकर सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार किया। इसी समय मालवे का बाजबहादुर क्षमा-याचक होकर दरबार में उपस्थित हुआ। इस प्रकार १५७० में अकबर ने गुजरात को छोड़कर लगभग समस्त उत्तर भारत पर अपनी सत्ता स्थापित कर दी थी और देश में कोई शासक व नृपति उसका मुक़ाबला करनेवाला न रह गया था। इन्हीं दिनों ३० अगस्त १५६९ को राजा भारमल कछवाहे की बेटी के गर्भ से उसका बेटा सलीम सीकरी के स्थान पर उत्पन्न हुआ। अगले एक वर्ष के अन्दर उसके एक लड़की व पुत्र मुराद अन्य रानियों से उत्पन्न हुए।

**अकबर व राजपूताने के अन्य राज्य**—राजस्थान में जितने राज्य थे उनका मुग़ल-साम्राज्य के प्रति कैसा व्यवहार था, इस दृष्टि से उनको तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे थे जिन्होंने आरम्भ से ही अपने-आप मुग़लों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था और मुग़ल सत्ता के अधीन हो गए थे। दूसरे वे जिन्होंने वीरोचित प्रतिकार तथा संघर्ष अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए किया और फिर साम्राज्य

से सन्धि व मित्रता करने में अपनी मान मर्यादा की पूरी तरह रक्षा की। तीसरे वे जिन्होंने मुग़ल सत्ता को विदेशी ही समझा और किसी प्रकार भी अपने को समर्पण करने अथवा साम्राज्य में सम्मिलित होने के लिए तैयार न हुए। पहले वर्ग में विशेष-तया आँबेर के कछवाहे, दूसरे वर्ग में कोटा और बूँदी के हाड़ा राज्य और तीसरे में मेवाड़ के राणा थे।

जिन बड़े-बड़े राज्यों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, मेवाड़ और चित्तौड़ के विजित हो जाने के बाद उनके अतिरिक्त और भी कुछ राज्य बाकी थे जिनके साथ किसी-न-किसी प्रकार समझौता करके राजपूताने की समस्या का अन्तिम समाधान करना आवश्यक था। बूँदी, बीकानेर और जैसलमेर आदि के राज्य अभी तक मुग़ल साम्राज्य के बाहर थे। बूँदी का राज्य शुरू से चौहानों की एक शाखा, जो हाड़ा कहलाती थी, के शासन में था। पहले यह मेवाड़ के जागीरदार थे, फिर १६वीं शती के आरम्भ में इनकी शक्ति बढ़ गई और ये स्वतन्त्र हो बैठे। सूरी वंश के संहार के बाद उन्होंने रणथम्भौर तक अपना अधिकार फैला लिया था। बूँदी के राज्य का भाग १६वीं शती के आरम्भ में कोटा का स्वतन्त्र राज्य बन गया था और रणथम्भौर उसके अधिकार में चला गया था। रणथम्भौर के मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित होने का उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु बूँदी का राज्य जहाँगीर के समय तक स्वाधीन रहा। कोटा और बूँदी के राजाओं की स्थिति आँबेर और जोधपुर की अपेक्षा बहुत भिन्न थी। इन्होंने मुग़लों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने से साफ़ इनकार कर दिया था। वे शायद सम्राट् को किसी प्रकार की सैनिक सहायता भी नहीं देते थे। आईने-अकबरी में उनके कर देने का उल्लेख है। इन सब शर्तों को अक़बर ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। सुर्जन हाड़ा को उसने ऊँचे मन्सब पर नियुक्त किया और उसके उपयुक्त जागीर भी प्रदान की थी। एक समय वह गढ़कटंगा और फिर चुनारगढ़ का सूबेदार भी बनाया गया था। जैसलमेर राज्य का मुग़ल साम्राज्य से किस प्रकार और कब समझौता हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। आईने-अक़बरी में साम्राज्य के मन्सबदारों में उसका नाम पंचसदी मन्सबदार करके उल्लिखित है। इससे जान पड़ता है कि अकबर के समय में ही जैसलमेर के रावल ने सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। जहाँगीर ने अपने संस्मरण के अन्तर्गत भीमसिंह को बड़ा प्रतिष्ठित व सुयोग्य क्षत्रिय बतलाया है। उपर्युक्त राज्यों के किसी-न-किसी प्रकार मुग़ल सत्ता के अन्तर्गत सम्मिलित हो जाने से लगभग समस्त राजपूताना साम्राज्य के अधिकार में आ गया और अकबर को अब आगे बढ़ने अर्थात् गुजरात आदि प्रदेशों को जीतने का अवसर प्राप्त हुआ।

**गुजरात की विजय**—गुजरात का प्रान्त अपनी उपजाऊ भूमि, विपुल सम्पत्ति, देशी तथा विदेशी व्यापार व बड़े-बड़े बन्दरगाहों के कारण, जो उसके समुद्र तट पर स्थित थे, बहुत ही महत्वपूर्ण था। जैसा लिख चुके हैं, हुमायूँ ने सुलतान बहादुरशाह से इसको जीत लिया था परन्तु उसके अयोग्य सूबेदार उस भूमि पर अपना अधिकार

कायम न रख सके। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उसके भतीजे महमूदशाह तीसरे के शासनकाल में उसका प्रबन्ध बहुत अव्यवस्थित हो गया। महमूदशाह केवल ११ वर्ष का था। उसने १७ वर्ष तक राज्य किया किन्तु वास्तविक शक्ति कुछ अमीरों की थी। यह युवक बहुत विलासप्रिय हो गया। वास्तविक राजनीतिक अवस्था व समस्याओं का उसे कोई ज्ञान न था। तथापि उसके अन्दर एक अच्छा गुण था। वह विद्वानों तथा धार्मिक पुरुषों का आदर करता तथा उनको आश्रय देता था। १५५३ में उसके एक पिट्ठू बुरहान ने उसको विष दे दिया। इस पर अमीर लोग इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने बुरहान को कत्ल करवा दिया। उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली अमीर अब्दुल करीम एतमादखाँ था। सुलतान की गद्दी को सुशोभित करने के लिए उसे एक विलक्षण बात सूझी। एक सामान्य लड़के को, जो अपने पल्ले में कबूतरों के लिए दाना लिए चला जा रहा था, पकड़कर एतमादखाँ ने बलात्, गद्दी पर बिठला दिया और उसे अहमदशाह तृतीय के नाम से प्रसिद्ध किया। वह लड़का रोता-झींकता रहा किन्तु किसी ने उसकी एक न सुनी। इस प्रकार ७ वर्ष तक उसको बाँधकर रखा गया। इन दिनों सल्तनत में अनेक प्रतिवादी दल खड़े हो गए। इनमें तुर्क, हब्शी व अफ़ग़ान सरदारों के अलग-अलग दल थे। १५६० में एतमादखाँ ने अहमदशाह को मरवाकर एक नाली में फेंकवा दिया और फिर एक अनजान १२ वर्ष के लड़के को तख्त पर बिठाकर मुजफ्फरशाह तीसरे का नाम दिया। इस प्रकार गुजरात के राज्य में इन विभिन्न पक्षों के घरेलू वैमनस्य और झगड़ों के कारण बड़ी दुर्व्यवस्था फैल गई। अकबर के सम्बन्धी मिर्ज़ा लोग उत्तर भारत से निकाले जाने के बाद मालवे में पहुँच गए थे। अब वे गुजरात चले आए और झगड़ालू दलों में इनका भी एक पक्ष सम्मिलित हो गया। इसी समय अकबर ने उत्तर-भारत व राजपूताने का मामला सन्तोषजनक रूप से तय किया था। गुजरात में मिर्ज़ाओं के पहुँच जाने के कारण सम्राट् की दृष्टि तुरन्त उस ओर पहुँची यद्यपि उस प्रान्त को साम्राज्य के अन्तर्गत लेने के लिए किसी ऐसे अवसर की आवश्यकता न थी। अभी कह आए हैं कि उस प्रान्त में बहुत-से बड़े-बड़े बन्दरगाह थे जिनके द्वारा विदेशों से बड़ा भारी समुद्री व्यापार होता था। इस कारण गुजरात भारतवर्ष के राज्यों में सबसे अधिक धनवान व सम्पन्न था। उसकी राजधानी अहमदाबाद संसार के प्रसिद्ध नगरों में गिनी जाती थी। राज्य में अनेक स्थानों पर नमक, कपड़ा, कागज़ आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं और बाहर भेजी जाती थीं। इसके अतिरिक्त गुजरात के अन्दर से दक्षिण भारत के लिए मार्ग जाते थे और साम्राज्य के अधिक विस्तार के लिए गुजरात का जीत लेना अनिवार्य हो गया। बख्शी निज़ामुद्दीन लिखता है कि 'गुजरात की अव्यवस्था तथा अन्य मामलों के बारे में अक्सर सम्राट् के दरबार में चर्चा होती थी। अतएव अन्य झगड़ों से छुट्टी पाते ही अकबर ने गुजरात पर चढ़ाई करने की तैयारी की।'

जुलाई १५७२ में अकबर ने अपनी सेना के साथ अजमेर की तरफ़ प्रस्थान

किया। मार्ग में वह सूफियों व सन्तों के मज़ारों पर होता हुआ गया और उनके कर्मचारियों को बहुत-सी दान-दक्षिणा दी। उसने १०,००० घुड़सवार सेना के साथ मिर्ज़ा मुहम्मदख़ाँ अटगा को आगे भेज दिया। स्वयं वह नागौर, मेड़ता व सिरोही होता हुआ गया। इस मार्ग से जाने का कारण यह था कि वह यह निश्चय करना चाहता था कि जब वह गुजरात में हो तो मेवाड़ का राना अथवा कोई अन्य राजपूत इस मार्ग को रोककर शाही सेना को हानि न पहुँचाए। इस कार्य के लिए उसने बीकानेर के रायसिंह को नियुक्त किया और मारवाड़ के जागीरदारों को फरमान भेजे कि वे रायसिंह को हर प्रकार की आवश्यक सहायता दें। बादशाह सिरोही से पाटन पहुँचा और वहाँ एक हफ्ते ठहरा। उसका शासन सैयद अहमदख़ाँ बाढ़ा को सौंपा। यहाँ राजा मानसिंह भी अफ़गानों से बहुत-सा धन छीनकर अकबर से आ मिला। सम्राट् के पहुँचने तक लगभग छः महीने शाही फौजें अहमदाबाद का घेरा डाले रहीं। उसके पाटन से चलने की सूचना पाते ही सुलतान का वज़ीर एतमादख़ाँ जान बचाकर भाग निकला। बादशाह पाटन से थोड़ी ही दूर गया था कि गुजरात का सुलतान मुज़फ्फरशाह और वज़ीर एतमादख़ाँ उसके पास सब अमीरों व सरदारों को लेकर आए और समुचित भेंट आदि लेकर अहमदाबाद की चाबियाँ समर्पण कर दीं और हर प्रकार से सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। सम्राट ने सावधानी के साथ इन लोगों को अपने कुछ सैनिकों के सुपुर्द कर दिया और फिर अहमदाबाद पहुँचा। वहाँ मस्जिदों में उसका नाम ख़ुतबे में पढ़ा गया और शहर की जनता बादशाह का अभिवादन करने के लिए उमड़ पड़ी।

**दक्षिण गुजरात की विजय**—अहमदाबाद में अकबर को विदित हुआ कि भड़ौच, बड़ौदा व सूरत आदि विद्रोही मिर्ज़ाओं के आधिपत्य में थे। उसने तुरत उस ओर प्रस्थान किया। एतमादख़ाँ तथा अन्य गुजराती अमीर वहीं रह गए। किन्तु जब सम्राट् ने देखा कि इन लोगों पर भरोसा नहीं किया जा सकता तो इनको हिरासत में ले लिया गया। फिर बादशाह खम्बात ( Cambay ) पहुँचा और इसने पहले-पहल समुद्र को देखा। यहीं पर कुछ पुर्तगाली व्यापारी अकबर से मिलने आए। मिर्ज़ाओं को निकालने के लिए अकबर ने सूरत पर आक्रमण करने के लिए महमूदख़ाँ बाढ़ा, राजा भगवानदास व कुँवर मानसिंह को भेजा। सम्राट् की सेना के आने की सूचना पाते ही इब्राहीमख़ाँ मिर्ज़ा शहर को छोड़कर देहात की तरफ चला गया ताकि वहाँ उपद्रव खड़ा करे। मिर्ज़ा को बादशाह ने महेन्द्री नदी के तट पर स्थित सरनाल नगर में रात के वक्त जा पकड़ा। इस अवसर अकबर ने ऐसी बेधड़क वीरता का परिचय दिया जिसके अन्य उदाहरण भी उसके जीवन में मिलते हैं। केवल १०० सिपाहियों के साथ कुँवर मानसिंह और अकबर रात ही में दरिया को पार करके मिर्ज़ा के ऊपर जा धमके। इस समय भगवानदास भी सम्राट् के साथ था। शहर के अन्दर शत्रु की बहुत बड़ी सेना से इतनी घमासान लड़ाई हुई कि एक एक मुग़ल सैनिक ने शत्रु के कई-कई आदमियों को तलवार के घाट उतारा। स्वयं

सम्राट् पर तीन-चार घुड़सवारों ने आक्रमण किया परन्तु वह बड़ी वीरता से लड़ा और शत्रु भाग निकले। युद्ध के समाप्त होने पर सम्राट् नगर के अन्दर गया। इस अद्वितीय विजय के लिए उसने ईश्वर को धन्यवाद दिया और उन सब वीरों को, जिन्होंने इसमें भाग लिया था, समुचित इनाम व सम्मान प्रदान किए, विशेषकर राजा भगवानदास को एक नक्कारा और झण्डे से प्रतिष्ठित किया गया।

**सूरत की चढ़ाई**—सूरत ताप्ती नदी के किनारे पर समुद्र तट से लगभग २० मील की दूरी पर स्थित है। १५वीं शताब्दी के अन्त में सुलतान महमूद बेगढ़े के एक कर्मचारी ने इस स्थान पर एक बड़ा मजबूत पत्थर का किला बनवाया था क्योंकि पश्चिमी व्यापारी विशेषकर पुर्तगाली उन दिनों बहुत ही लूट-मार तथा उपद्रव करने लगे थे। इस किले को लेने के लिए बादशाह ने पूरी तरह तैयारी की। पहले उसने टोडरमल को भेजा कि वह उसके अन्दर बाहर जाने आने के रास्ते मालूम करे। एक हफ्ते बाद लौटकर टोडरमल ने अपने अनुसन्धान की पूरी सूचना बादशाह को दी। इस समय अकबर बड़ौदा में था। वहाँ से वह जल्दी ही सूरत पहुँच गया और उसके निकट अपना शिविर डाल दिया। रात के समय किले की अच्छी तरह परीक्षा करके उसके उपयुक्त स्थानों पर मोर्चे लगाने के लिए अपने सैनिकों को नियुक्त कर दिया। दो महीने तक घेरा पड़ा रहा। अन्त में किले के रक्षकों ने बचने की कोई सूरत न देखकर सन्धि का सन्देश भेजा जिसको सम्राट् ने स्वीकार करके अपने प्रतिनिधि कासिमअली खाँ को दुर्ग के अन्दर भेजा कि वह उन लोगों को विश्वास दिलाए और सम्राट् के पास लाए। दुर्ग के अन्दर जो कुछ माल-असबाब अथवा मवेशी आदि थे उन सब पर अधिकार कर लिया गया और नगर-निवासियों को क्षमा कर दिया गया। यह सूरत की विजय फरवरी १५७३ में हुई। इस किले की विजय से आस-पास के अन्य शासकों पर बड़ा आतंक छा गया। बागलान और खान्देश के राजाओं ने सम्राट् के पास आकर उसका प्रभुत्व स्वीकार किया और समुचित अभिवादन किया।

इसके बाद अकबर अहमदाबाद वापस लौट आया और गुजरात को साम्राज्य का एक सूबा बनाकर खाने आज़म अज़ीज़ कोका को उसका सूबेदार नियुक्त किया। उसके उपरान्त पाटन, ध्योलका, भड़ौच और बड़ौदा बनाए गए और उनके प्रबन्ध के लिए भी शासक नियुक्त किए गए। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह को नज़रबन्द कर दिया गया। मालवा और राजपूताना के ऊपर सम्राट् का पूरी तरह नियन्त्रण होने से गुजरात प्रान्त को व्यवस्थित रखना बहुत कठिन न था। तथापि उसके अन्दर विद्रोह की काफी सामग्री अभी तक मौजूद थी और बिना इसके शान्त किए गुजरात की विजय को फलीभूत नहीं समझा जा सकता था। अभी मिर्ज़ा भाइयों को पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सका था। उनके अतिरिक्त काठियावाड़, सिरोही तथा ईदर आदि के राजाओं ने भी बादशाह का प्रभुत्व नहीं माना था। किन्तु इस समय अकबर के लिए गुजरात में और अधिक रहना संभव न था क्योंकि उत्तरी प्रदेशों में भी हलचल हो रही थी जिसकी ओर तुरत ध्यान देना आवश्यक था। अतएव खाने-

आज़म को भलीभाँति आदेश देकर वह जून १५७३ में आगरे लौट आया।

**गुजरात में विद्रोह**—बादशाह की पीठ फिरते ही मुग़लों के जितने शत्रु थे सब अपनी माँदों से निकल पड़े और भड़ौच तथा खम्बात पर अधिकार करके सूरत का घेरा डाल दिया। आज़म अज़ीज़ कोका के पास काफी सेना न थी कि वह उसे कई जगह बाँट सकता। सूरत की सहायता के लिए उसने अपनी सेना में से एक दल भेज दिया जिसके कारण ईदर इख्तियारुल्मुल्क ने विद्रोह करके अहमदाबाद का घेरा डाल दिया। थोड़े ही समय बाद मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा उसकी सहायता के लिए पहुँच गया। इस प्रकार लगभग समस्त गुजरात में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो गई। अकबर इस समय बंगाल पर चढ़ाई करने की योजना बना रहा था। गुजरात के उपद्रव की सूचना पाते ही उसने तुरत ख़ानेआज़म की सहायता के लिए पहुँचने का संकल्प किया। मालवा के अमीरों व सैनिकों को तीव्र आदेश भेजे गए कि अपनी-अपनी सेनाएँ तैयार करके फौरन गुजरात पहुँचे। मानसिंह को आज्ञा हुई कि अपने कछवाहों की सेना एकत्रित करके उससे रास्ते में आ मिले। २३ अगस्त १५७३ को अकबर बहुत तीव्रगामिनी साँड़नियों पर ५०० आदमियों के साथ चढ़कर तीसरे दिन अजमेर पहुँच गया और वहाँ चिश्ती की दरगाह की परिक्रमा करके ११वें दिन अहमदाबाद जा पहुँचा। शत्रुओं को बादशाह के पहुँच जाने की खबर तक न थी। शाही सेना ने जब साबरमती को पार करके युद्ध के नक्कारे बजाए तब मुहम्मद हुसैन मिर्ज़ा लड़ने के लिए बाहर आया किन्तु आन की आन में पराजित हुआ और फाँसी पर लटका दिया गया। फिर ईदर का सरदार इख्तियारुल्मुल्क एकदम शाही सेना पर टूट पड़ा परन्तु अकबर ने उस पर इतने ज़ोर का धावा बोला कि वह अपने घोड़े से गिरा और उसका सर तुरन्त काट दिया गया और उसकी सेना भाग निकली। इस प्रकार शत्रुओं को नष्ट करके अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया गया। इस विजय के सूचनापत्र मालवा तथा अन्य प्रदेशों में घुमा दिए गए। इसके बाद बादशाह ने थोड़े दिन तक अहमदाबाद में ठहरकर वहाँ के शासन को व्यवस्थित किया और फिर सितम्बर में राजधानी वापस लौट आया।

**बंगाल की विजय**—बिहार और बंगाल की राजनीतिक व्यवस्था मुहम्मदख़ाँ सूर की पराजय के बाद बड़ी अस्त-व्यस्त थी। १५६३ के लगभग सुलेमान करारानी ने हज़रत अली की उपाधि धारण करके बंगाल पर शासन करना आरम्भ किया और टाँडा को राजधानी बनाया। ख़ानेज़मान अलीकुली ख़ाँ, जिसके विद्रोह का उल्लेख किया जा चुका है, सुलेमान का मित्र था। थोड़े दिन तक रोहतास व ग़ाज़ीपुर जमनिया पर अधिकार करने का निष्फल प्रयत्न करने के बाद सम्राट् के विश्वसनीय अमीर मुनीमख़ाँ के द्वारा सुलेमान ने बादशाह के प्रभुत्व को स्वीकार करके उसके नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्के चलवाए। उसने कभी अपने को सिंहासन का अधीश्वर कहने का साहस न किया, क्योंकि अकबर की निरन्तर विजयों व सफलताओं से उसे विश्वास हो गया कि उसका सम्राट् से संघर्ष करना बेकार होगा। वह यह भी चाहता

था कि शान्ति से अपने पड़ोसी उड़ीसा प्रान्त पर आक्रमण करके अपने राज्य को बढ़ाए। उसकी यह योजना सफल हुई। परन्तु यह घटना १५६८ में ऐसे समय हुई कि अकबर उस समय अन्य क्षेत्रों में फँसा हुआ था यद्यपि बंगाल के शासक का यह काम उसको पसन्द न आया।

१५७२ में सुलेमान की मृत्यु के बाद उसके अफ़ग़ान अमीरों ने बड़े बेटे बायजीद को मारकर दूसरे बेटे दाऊद को गद्दी पर बिठलाया। दाऊद ने तुरन्त सुलेमान की नीति को उलटकर अकबर का प्रभुत्व अस्वीकार कर दिया और स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। अकबर ने मुनीमखाँ को बंगाल पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। परन्तु मुनीमखाँ को कोई विशेष सफलता प्राप्त न हुई। दाऊद ने ग़ाज़ीपुर जमनिया पर आक्रमण कर दिया। इस समय अकबर सूरत के निकट पड़ा हुआ था। मुनीमखाँ बहुत बूढ़ा था और राजधानी से उसे सहायता की आशा न थी। इसके अतिरिक्त उसने सुना था कि बंगाल के सुलतान के पास ४०,००० घुड़सवार, लगभग डेढ़ लाख पैदल और ३,५०० हाथियों तथा बहुत-से तोपखानों की सेना थी। अतएव उसने दाऊद से सन्धि की बातचीत शुरू की। इस अवसर पर सौभाग्य से अफ़ग़ान-शिविर में परस्पर दो दलों में झगड़ा हो गया और लोदीखाँ ने तुरन्त मुनीमखाँ से समझौता कर लिया। इधर मुनीमखाँ को बादशाह की तरफ से सहायक सेना भी पहुँच गई। तब उसने अफ़ग़ानों के विरुद्ध कार्यवाही करनी आरम्भ कर दी। दाऊद ने लोदीखाँ को, जो मुनीमखाँ से जा मिला था, धोखे से अपने जाल में फँसाकर मरवा डाला। इसके बाद दाऊद मुनीमखाँ के विरुद्ध लड़ने के लिए पटना चला गया। मुनीमखाँ ने बादशाह से सहायता माँगी। इस समय गुजरात से लौटे हुए अकबर को थोड़े ही दिन हुए थे परन्तु वह तुरन्त तैयारी करके जून १५७४ में, जब कि उत्तराखण्ड में वर्षा ऋतु शुरू हो जाती है, बंगाल पटना की तरफ चल दिया। अकबर के दृढ़ संकल्प को किसी प्रकार की नैसर्गिक कठिनाई, तूफान, आँधी-पानी नहीं तोड़ सकते थे। बारिश के कारण सड़कें सेना की तीव्रगति के लिए अच्छी हालत में न थीं। अतएव वह नावों पर अपनी सेना को ले गया। यह नावें बड़ी सावधानी से हर प्रकार की आवश्यक वस्तुओं को ले जाने के लिए तैयार की गई थीं। सारी कठिनाइयों का सामना करते हुए अकबर गंगा, गोमती के संगम पर पहुँचा। यहाँ उसको वह सेना, जो खुश्की के मार्ग से भेजी गई थी, आ मिली। यहाँ पर अकबर ने पटना पर आक्रमण करने से पहले हाजीपुर को लेना आवश्यक समझा क्योंकि वहीं से हर प्रकार की खाद्य सामग्री पटना को पहुँचाई जाती थी। एक ओर उसने हाजीपुर पर चढ़ाई की और दूसरी ओर दाऊद को चुनौती भेजी कि या तो वह युद्ध करे, अथवा अपनी हार स्वीकार करे। हाजीपुर के लेने में देर न लगी जिसका प्रभाव दाऊद पर ऐसा हुआ कि वह पटना के किले को छोड़कर अंधेरी रात में भाग निकला। अगले दिन सवेरे ही बादशाह पटना के अन्दर दाखिल हुआ और जल्दी के मामलों को तय करके वह अफ़ग़ानों के पीछे चल दिया। साठ मील तक एक साँस वह बिना कहीं रुके हुए चलता

गया और दरियापुर जाकर रुका परन्तु दाऊद का कोई निशान न मिला। यहाँ मुनीमखाँ भी अपनी सेना के साथ आ पहुँचा। दाऊदखाँ को पकड़ने की समस्या पर बादशाह ने अपने अमीरों से परामर्श किया। बहुत देर तक विचार करने के बाद निर्णय हुआ कि आगे बढ़कर बंगाल पर अधिकार कर लिया जाए। मुनीमखाँ को सेना का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष व बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया। इसके बाद बादशाह लौट आया और खड़गपुर व गिरधौर के राजाओं की सहायक सेना समेत मुनीमखाँ ने आगे बढ़कर तेलियागढ़ी के दर्रे को पार किया और टाँडा पर अधिकार कर लिया। यहाँ से दाऊद का पीछा करने के लिए चारों ओर सेनाएँ भेजी गईं। यद्यपि मुग़ल सेनाओं ने सतगाँव व घोराघाट आदि मुख्य स्थान ले लिए परन्तु वे दाऊदखाँ को न पकड़ पाए। मुनीमखाँ उसका अधिक पीछा करने से डरता था क्योंकि दाऊदखाँ उड़ीसा में पहुँच गया था। इस पर टोडरमल ने उसका अविलम्ब पीछा करने के लिए बादशाह से आज्ञा प्राप्त की और बालासोर तक घुसता चला गया। उस शहर के निकट अफ़ग़ान सेना से भीषण युद्ध हुआ पर टोडरमल अन्त में विजयी होकर कटक तक पहुँच गया। हताश होकर दाऊद ने क्षमा की प्रार्थना की। टोडरमल इसके सर्वथा विरुद्ध था। किन्तु मुनीमखाँ ने अपनी जिम्मेवारी पर दाऊद से सन्धि कर ली जिसकी शर्तें यह थीं कि वह बादशाह को कर देता रहेगा, अपना सबसे उत्तम हाथी अर्पण करेगा और अपने भतीजे को बन्धक के रूप में भेजकर उसके बाद स्वयं जाकर सम्राट् का अभिवादन करेगा। इसके बाद मुनीमखाँ टाँडा वापस चला आया।

मुनीमखाँ ख़ानेख़ानान इस समय लगभग ८० वर्ष का था। १५७५ में गौड़ के स्थान पर उसकी मृत्यु हो गई। मुग़ल सेना को नियंत्रण में रखनेवाला कोई न रहा। दाऊद ने इस दुरवस्था का तुरन्त लाभ उठाया और सन्धि को भंग करके उड़ीसा के मुग़ल शासक को कत्ल कर दिया। मुग़लों को उड़ीसा व बंगाल से खदेड़कर दाऊद ने टाँडा पर फिर क़ब्ज़ा कर लिया। बंगाल की आबहवा से मुग़ल सैनिक त्रस्त हो गए और अफ़ग़ानों के प्रबल हो जाने से बंगाल छोड़कर भागलपुर तक हट आए। पर यहाँ राजा टोडरमल और हुसैनकुली ख़ानेजहाँ ने उनको रोका और उलटकर फिर बंगाल पर हमला किया। बिहार से एक सहायक सेना ५,००० घुड़सवारों की आ गई। तेलियागढ़ी के पार राजमहल (आक महल) के पास दोनों दलों में १२ जुलाई १५७६ को भारी युद्ध हुआ जिसमें अफ़ग़ानों का सर्वोत्तम सेनापति जुनैयद मारा गया, 'काला-पहाड़' व दाऊद घायल हुए और भाग गए। काला पहाड़ एक हिन्दू था जो मुसलमान हो गया था और उसने जगन्नाथ पुरी के मन्दिर का बड़ी निर्दयता से संहार किया था। टोडरमल ने दाऊद का पीछा करके उसे पकड़ा और अमीरों सहित उसका सर काटकर बादशाह के पास भेज दिया। इस प्रकार बंगाल भी मुग़ल साम्राज्य में संयुक्त कर लिया गया।

**राणा प्रताप और अकबर**—चित्तौड़ की विजय से राजपूताने पर अकबर का

आतंक छा गया था तथापि मेवाड़ राज्य अभी तक शान्त न हो पाया था। देश और धर्म की स्वाधीनता के भाव मेवाड़ के शूरवीर राणा और उसके अनुयायियों में प्रज्वलित थे। राणा उदयसिंह की मृत्यु फरवरी १५७२ में हुई। उसने मरते समय अपने नवें बेटे जगमाल को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया किन्तु उससे कोई खुश न था अतएव लाहौर के राजा राय अखयसिंह तथा अन्य सामन्तों ने जगमाल को गद्दी से उतारकर प्रताप को बिठलाया। जगमाल इससे असन्तुष्ट होकर अकबर के दरबार में चला गया और वहाँ उसे एक जागीर मिल गई। राणा प्रताप ने गद्दी पर बैठते ही मेवाड़ राज्य के शासन को फिर से सुसंगठित करने और उसकी उपलब्ध सामग्री को जुटाने की चेष्टा की। इन्ही दिनों अकबर गुजरात के आक्रमण में लगा हुआ था। इसीसे राणा को भी अपनी शक्ति संचित करने का अवकाश मिल गया और दूसरी ओर अकबर के लिए भी यह सम्भव हुआ कि गुजरात की विजय के दुष्कर कार्य को निर्विघ्न समाप्त कर सके। इसी कारण अकबर ने मेवाड़ के राज्यसिंहासन-पदों पर राणा प्रताप के आरूढ़ होने में कोई हस्तक्षेप न किया। क्योंकि दोनों ही कुछ समय तक संघर्ष करने को उद्यत न थे।

राणा प्रताप का दूसरा सहयोगी जिसने अकबर का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया जोधपुर का राव चन्द्रसेन था। अकबर यह चाहता था कि राणा प्रताप के साथ बिना लड़ाई-झगड़ा किए ही कोई ऐसा समझौता हो जाए जो दोनों पक्षों को स्वीकृत हो। इस उद्देश से १५७३ में मुग़ल सम्राट् ने गुजरात ही से राणा प्रताप-सिंह के पास सन्धि की शर्तें तय करने के लिए भेजीं। इस अवसर के बारे में अनेक कपोल-कल्पित गाथाएँ प्रचलित हो गई हैं। राणा ने मानसिंह की किसी प्रकार मानहानि नहीं की। उसका समुचित सत्कार किया किन्तु अकबर का आधिपत्य किन्हीं शर्तों पर भी मान लेना उसको स्वीकृत नहीं था। अकबर यह चाहता था कि राणा स्वयं शाही दरबार में उपस्थित होकर उसकी अभिवन्दना करे। अतएव मानसिंह का उद्देश निष्फल रहा और वह वापस लौट आया। थोड़े दिन बाद अकबर ने इसी उद्देश से राजा भगवानदास को राणा के पास भेजा। इस अवसर पर जान पड़ता है कि किन्हीं विशेष कारणों से राणा ने भगवानदास का बहुत आदर-सत्कार किया और अपने बेटे कुँवर अमरसिंह को भगवानदास के साथ सम्राट् के दरबार में भेजा। इन्हीं दिनों गुजरात से लौटते समय टोडरमल भी मेवाड़ के मार्ग से आ रहा था। उसकी भी राणा ने बड़ी आवभगत की जिससे उसे ऐसा विश्वास हुआ कि राणा सम्राट् से झगड़ा करना नहीं चाहता है।

किन्तु इसके बाद राणा सम्राट् के व्यवहार से असन्तुष्ट होता गया क्योंकि वह चित्तौड़ वापस देने के लिए कदापि तैयार नहीं था। अकबर को भी यह शिकायत थी कि राणा उसके विरोधियों अर्थात् ग्वालियर के राजा, जोधपुर के चन्द्रसेन और सिरोही के राजा का सहयोगी और मित्र था। ऐसी परिस्थिति में उसको राणा के सद्भावों पर किस प्रकार आश्वासन हो सकता था।

इस प्रकार दोनों पक्षों में खिचाव बढ़ता गया और अन्त में १५७४ में कुछ-न-कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनके कारण राजपूताने का युद्ध फिर से छिड़ गया। जोधपुर के चन्द्रसेन तथा बूँदी के दूदा ने, जो सुर्जन हाड़ा का बेटा था, खुले तौर पर विद्रोह आरम्भ कर दिया। इन दिनों अकबर बंगाल की चढ़ाई में लगा हुआ था। इसी समय राणा प्रताप ने मेवाड़ की प्रजा को आज्ञा दी कि सब अपने घरों को छोड़कर पहाड़ों में चले जाएँ और इस आज्ञा का बड़ी कठोरता के साथ पालन कराया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजस्थान का आर्थिक जीवन, उसका व्यापार आदि सब नष्ट हो गया जिससे अकबर को बहुत भारी हानि हुई। इसके अतिरिक्त गुजरात के बन्दरगाहों से व्यापार का सामान जो मेवाड़ के रास्ते से आता-जाता था, बीच ही में लूटा जाने लगा। अब अकबर के लिए राणा और उसके साथियों से युद्ध करने के सिवाय और कोई चारा न रह गया।

बंगाल के मामले से छुट्टी पाकर बादशाह १५७६ के मार्च में स्वयं अजमेर पहुँच गया और उस नगर को अपने युद्ध की पीठस्थली बनाकर वहाँ से राणा प्रताप के विरुद्ध सैनिक योजना आरम्भ की। पहले मानसिंह को ५,००० घुड़सवार सेना के साथ राणा के विरुद्ध भेजा। माण्डलगढ़ होता हुआ मानसिंह गोगूँदा के पहाड़ीगढ़ से चौदह मील दूरी पर हल्दीघाटी के स्थान पर पहुँचा। यहाँ राणा प्रताप ने उसे ललकारा और मुग़ल सेना के अग्रिम दल (Advanced guard) को पछाड़ दिया। मुग़ल सेना के शेष पक्षों को भी राणा ने परास्त किया। परन्तु पीछे से मेहतरखाँ एक सहायक सेना लेकर पहुँच गया और हतोत्साह मुग़ल सेना को प्रोत्साहित किया। फिर तो बड़ा घोर युद्ध हुआ जिसमें मेवाड़ के कई वीर आहत हुए। दोनों पक्षों के हाथियों में भी बड़ी भारी मुठभेड़ हुई। इसमें भी मुग़ल गज-सेना को पीछे हटना पड़ा। राणा ने मानसिंह पर प्रहार किया और दोनों बड़ी वीरता से लड़े। राणा ने मानसिंह को दबा लिया था, इसी समय शिविर में यह खबर उड़ा दी गई कि स्वयं मुग़ल सम्राट् एक भारी सहायक सेना लेकर रणक्षेत्र में आ पहुँचा है। इस सूचना से राणा ने बचकर पीछे हट जाना ही उचित समझा। इस प्रकार हारती हुई मुग़ल सेना की विजय हुई यद्यपि आहतों की संख्या दोनों ओर लगभग समान थी। अगले दिन मुग़लों ने आगे बढ़कर गोगूँदा की पहाड़ी पर अधिकार कर लिया परन्तु यहाँ मुग़ल सेना को कड़ी गर्मी तथा खान-पान की सामग्री के न मिलने के कारण घोर कष्ट सहने पड़े। ऐसे संकट में होते हुए भी मानसिंह और आसफ़खाँ ने अपने सैनिकों को मेवाड़ की निहत्थी प्रजा को लूटने-खसोटने न दिया इस पर अकबर मानसिंह के प्रति बहुत ही क्रुद्ध हुआ परन्तु थोड़े दिन बाद उसको क्षमा करके फिर वापस भेजा और यह आदेश दिया कि राणा के देश को ध्वस्त कर दे। मानसिंह के दरबार में बुलाए जाने के अवकाश में राणा प्रताप ने वापस लौटकर मुग़ल सेना को बहुत ही परेशान किया। उनके खान-पान की सब सामग्री का आना रोक दिया जिससे मुग़ल सेना को पीछे हटना पड़ा और राणा ने गोगूँदा

पर फिर अधिकार कर लिया। इस पर अकबर ने मानसिंह को धिक्कारा। परन्तु राजस्थान की समस्या बहुत ही जटिल थी क्योंकि विद्रोह की अग्नि अभी तक कई स्थानों में शांत न हुई थी। सिरोही, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, ईदर और बूँदी के राजा मेवाड़ के साथ थे। जालौर का मुसलमान सरदार भी इन्हीं के साथ सहयोग कर रहा था तथापि इन विद्रोहियों में कोई इतना मेधावी सैनिक नेता नहीं था जो इन सब सेनाओं को एक सूत्र में संगठित करके मुग़ल सम्राट् के लिए एक भयानक विरोधी दल खड़ा कर देता। इस प्रकार की प्रतिभा उनके प्रतिपक्षी सम्राट् अकबर में ही थी। अक्तूबर सन् १५७६ में बंगाल के झगड़े से पूरी तरह छुट्टी पाकर अकबर स्वयं अजमेर पहुँचा और अपनी समस्त शक्ति राजपूत विरोधियों के दमन करने में लगा दी। विभिन्न सेनापतियों को एक-एक शत्रु के विरुद्ध भेजना आरम्भ किया और राजा भगवानदास को राणा की खोज में भेजा। अकबर स्वयं बाँसवाड़ा और उदयपुर पहुँचा किन्तु उन स्थानों को बिलकुल उजड़ा हुआ पाया। एक वर्ष के अन्दर बड़ी भीषण कार्यवाही के बाद सिरोही, आबूगढ़, ईदर आदि स्थानों को अपने अधिकार में किया। १५७७ में बूँदी भी जीत लिया गया। इस प्रकार राजपूताने के लगभग सभी विद्रोहियों को परास्त कर लिया किन्तु राणा प्रताप बराबर सम्राट् का विरोध करता रहा।

सन् १५७७ में सम्राट् ने एक बड़े अनुभवी सैनिक शाहबाज़खाँ को राणा के विरुद्ध भेजा। उसने कुम्भलमेर के बीहड़ दुर्ग को, जो राणा का मुख्य स्थान था, अधिकृत कर लिया। राणा ने देखा कि मुग़लों से युद्ध करते जाना कठिन हो गया है तो वह चुपके से बचकर निकल गया। मुगलों ने फिर से लगभग समस्त मेवाड़ पर अधिकार कर लिया। यह अवसर राणा के लिए बहुत ही कष्टदायक था। मुग़ल सेना उसका पीछा कर रही थी और वह पहाड़ी और घाटियों में भागा फिरता था। इस घोर संकट के समय में राणा के अनुपम तथा अजेय धैर्य व साहस ने ही राणा की रक्षा की और उसको आत्मसमर्पण न करने दिया। थोड़े दिन बाद बिहार में विद्रोह शुरू हो जाने के कारण अकबर ने शाहबाज़खाँ को मेवाड़ से हटाकर वहाँ भेज दिया तब राणा को फिर आराम से रहने का अवसर मिला।

सन् १५७६ से १५६८ तक उत्तर भारत तथा पश्चिमोत्तर सीमा पर इतने घोर विद्रोह निरन्तर होते रहे कि अकबर को अपनी लगभग समस्त शक्ति तथा ध्यान उन्हीं क्षेत्रों में व्यतीत करना पड़ा। राणा प्रताप ने इस परिस्थिति का लाभ उठाने में कसर न की। मुग़लों को विवश होकर राजस्थान के संग्राम को स्थगित करना पड़ा। केवल मुख्य-मुख्य सैनिक तथा व्यापारिक केन्द्र—अजमेर, चित्तौड़ व माण्डलगढ़ आदि को ही उन्होंने पूरी तरह अपने अधिकार में रखा। इनको छोड़कर राणा ने लगभग मेवाड़ का अधिकतर भाग वापस ले लिया। इतने कष्टपूर्ण जीवन से राणा इतना क्लान्त व श्रान्त हो गया था कि केवल ५१ वर्ष की आयु में १५६१ में उसका निधन हो गया।

**अकबर और राणा प्रताप के संघर्ष पर आलोचना**—अकबर के साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजस्थान की स्वाधीनता के लिए निरन्तर संघर्ष करनेवालों का संघ, जिसमें प्रमुख महाराणा प्रताप था, किस ध्येय और आदर्श के लिए अपने जीवन की आहुति दे रहे थे और उनके प्रतिरोध का वास्तविक रूप क्या था, इस प्रश्न पर गहरा विचार करने की आवश्यकता है। प्रायः सभी आधुनिक लेखकों ने इस संग्राम को एक धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक संघर्ष बतलाया है। उनके मतानुसार राणा प्रताप एक मुसलिम आततायी सम्राट् के विरुद्ध हिन्दूधर्म के एक परम रक्षक के अवतार रूप में आया था किन्तु उस विषय की परिस्थिति एवं घटनाओं पर ध्यानपूर्वक दृष्टिपात करने से निःसन्देह सिद्ध हो जाएगा कि राणा प्रताप अथवा अन्य राजपूत भी हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए अकबर के विरुद्ध नहीं लड़ रहे थे। इस प्रकार के प्रयास का कोई कारण ही उस समय उपस्थित नहीं था। अकबर राजस्थान व मेवाड़ पर चढ़ाई करने से बहुत पहले अपनी उदार, निष्पक्ष तथा साम्प्रदायिकता से सर्वथा रहित नीति का परिचय दे चुका था। यदि उसका उद्देश तनिक भी हिन्दूधर्म को क्षति पहुँचाने का होता तो मानसिंह सरीखे धर्मभीरु राजपूत वीर कदापि इसका साथ न देते। इतना ही नहीं, राणा प्रताप के सेनापतियों में भी हाकिमखाँ सूर जैसे मुसलिम सेनापति विद्यमान थे।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अकबर का उद्देश इन राजपूतों को अपने साम्राज्य के सहयोगी बनाने के प्रयास में वही था जो गौंडवाना की रानी दुर्गावती पर आक्रमण करने में था। अकबर एक महान् साम्राज्यवादी और साम्राज्य निर्माता था। उसके समकालीन नरेशों में एक भी इतना योग्य व मेधावी राजनीतिज्ञ न था जो उसे परास्त करके भारतवर्ष को एक छत्र की छाया में संयुक्त कर सकता।

बहुधा लेखकों का यह सन्देह भी कि अकबर राजपूत स्त्रियों से विवाह करके उच्च हिन्दू घरानों की मान-प्रतिष्ठा नष्ट करना चाहता था, सर्वथा निराधार था। उसके सारे इतिहास में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं है जहाँ उसने राजपूतों से मित्रता के सम्बन्ध करने के लिए उनकी बेटियों से विवाह करने की आवश्यक शर्त रखी हो। वास्तविकता तो यह थी कि जिस समय अकबर केवल बीस वर्ष का युवक था राजा भारमल कछवाहे ने स्वयं अपनी बेटी लाकर उसको भेंट की और इस प्रकार उसे यह प्रोत्साहन दिया कि देश के क्षत्रिय वर्ग से दृढ़ तथा अटूट सम्बन्ध बनाने के लिए यह बहुत उत्तम उपाय हो सकता था। प्रत्युत सुरजन हाड़ा सरीखे राजपूतों ने जब कभी यह शर्त रखी कि उनसे विवाह सम्बन्ध करने का प्रस्ताव न किया जाए, अकबर ने तुरत उनकी सब शर्तों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। यहाँ तक कि सुरजन हाड़ा की यह शर्त भी कि उसको अटक अथवा सिन्धु नदी के पार जाने पर कभी मजबूर न किया जाएगा और उनकी स्त्रियाँ मुग़लों के किसी मेले तमाशे में न बुलाई जाएँगी, स्वीकार कर ली गई।

जहाँ तक राजपूत नरेशों की आंतरिक स्वाधीनता व शासनाधिकारों का प्रश्न था उस पर भी अकबर ने उनको लगभग पूरी स्वतन्त्रता देना स्वीकार किया था। उनके लिए केवल मुग़ल सम्राट् का आधिपत्य मानना, समय समय पर उनके दरबार में सम्मिलित होना, कुछ राजकर देना तथा आवश्यकतानुसार सैनिक सहायता भी पहुँचाना और परस्पर सम्बन्धों में सम्राट् की आज्ञा के अनुसार चलना—इतनी ही शर्तें आवश्यक थीं। कहना न होगा कि इन सब शर्तों का उद्देश केवल राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकीकरण ( political and national unification ) ही था।

अब देखना यह है कि राणा प्रताप ने इतने कठोर कष्ट सहन करते हुए भी अकबर का आधिपत्य स्वीकार क्यों न किया। राणा अद्वितीय शूरवीर, दृढ़प्रतिज्ञ तथा अपने आदर्शों पर अटल रहनेवाला आदर्श महापुरुष था। परन्तु उसका राजनीतिक विचार या आदर्श एक वैयक्तिक आदर्श था। राष्ट्रीय एकता व साम्राज्य के आदर्श को वह न समझ पाया। उसके लिए क्षत्रियोचित धर्म यही था कि वह व्यक्तिगत रूप से किसी भी शक्ति के सामने नतमस्तक न हो चाहे अपने इस आदर्श की रक्षा के लिए उसे अपनी समस्त प्रजा तथा भूमि को निर्दयता से ध्वस्त होते हुए देखना पड़े और वह अपनी निस्सहाय प्रजा की रक्षा न कर सके। राणा प्रताप एक प्रजापालक व प्रजा-हितरक्षक राजा के रूप में अपनी सामरिक व राजनीतिक समस्याओं को न समझ सका और न उनका समाधान ही कर सका। वह केवल एक व्यक्तिगत परन्तु भ्रान्त आदर्श के लिए आजीवन संघर्ष करता रहा।

## सिंहावलोकन : अकबर के राज्य की सीमा : १५६१ व १५७७ में

१५५६ में अर्थात् अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के समय उसके पास कोई ऐसी भूमि नहीं थी जिसके ऊपर उसका निश्चित रूप से अधिकार हो गया हो परन्तु १५६१ तक उसने पंजाब, मुल्तान, प्रयाग तक गंगा-जमुना के बीच का दोआब, ग्वालियर तथा अजमेर पर पूरी तरह अधिकार कर लिया था। इस समय काबुल अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम के शासन में था। वह लगभग स्वतन्त्र ही था। समस्त हिमालय प्रदेश और काश्मीर पूर्णतया स्वतंत्र थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा अफ़ग़ान सुलतानों के अधिकार में थे। राजपूताने और सिन्ध के शासक भी लगभग सभी स्वतंत्र थे। छोटा नागपुर, गोंडवाना तथा मध्य भारत हिन्दू राजाओं के शासन में स्वाधीन थे। गुजरात और मालवे पर मुसलमान सुलतानों का राज्य था और इसी प्रकार दक्षिण में बहमनी राज्य से उदित पाँच मुसलमानी रियासतें स्वतंत्र थीं और विजयनगर से उनका निरंतर संघर्ष जारी था। इन सब में बीजापुर का राज्य सर्वोपरि तथा प्रबल था। गुजरात व दक्षिण की रियासतों के बीच में ताप्ती नदी की घाटी में खानदेश का छोटा-सा परन्तु धनवान् व महत्त्वपूर्ण राज्य भी स्वतंत्र था। जैसा ऊपर कह आए हैं, पश्चिमी समुद्र-तट पर गोआ, चोल, बम्बई, बसीन,

दमन और दीव (Daman, Div) में पुर्तगालियों ने अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं और उनके जहाजी बेड़े अरब सागर के मार्गों को नियंत्रित कर चुके थे। संक्षेप में यह अवस्था अकबर तथा भारतवर्ष की अन्य सत्ताओं की थी। इस निर्बल परिस्थिति से निकल कर एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने की समस्या अकबर के सामने थी।

अकबर महान् की लगभग २५ वर्ष की विजयों व सफलताओं से हम देख चुके हैं कि १५७७ तक उसने सिन्ध को छोड़कर अपने साम्राज्य को पश्चिम में अरब सागर से पूरब में बंगाल की खाड़ी तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा तक फैला दिया था। काबुल पर अब भी उसका पूरा अधिकार नहीं था। अकबर का यह विस्तृत साम्राज्य हर प्रकार की प्राकृतिक उपज, खनिज पदार्थों तथा व्यापार आदि से भरपूर था। इस प्रदेश की जनसंख्या भी बहुत घनी थी। कई बड़े-बड़े बंदरगाह इसमें सम्मिलित थे जिनके द्वारा बड़ा भारी जल-व्यापार (sea-borne trade) विदेशों से होता था।

अट्ठाइस

# साम्राज्य का विस्तार : उत्तर-पश्चिम समस्या

## (२)

### सामाजिक संस्थाएँ

**शासन-सम्बन्धी व सामान्य सुधार**—अकबर ने शुरू से ही शासन-व्यवस्था के विभिन्न अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया था। मुख्यतया अर्थ-विभाग को पूर्णरूप से व्यवस्थित करने के लिए उसने कई प्रकार के प्रयोग किए थे। १५७५-७६ में अकबर ने शासन के विभिन्न विभागों को पुन: व्यवस्थित किया। एक विशाल लेखा-विभाग (Record Department) स्थापित किया गया जिसमें राज्य के समस्त खातों को सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी। यह विभाग फतहपुर सीकरी में बनाया गया था। इसी वर्ष अकबर ने मन्सबदारी संस्था को भी पुन: सुसंगठित किया और उसमें बहुत से सुधार किए। भूमिकर को आसानी से उगाहने के लिए अकबर ने इस बार एक विलक्षण योजना प्रचलित की। साम्राज्य को एक-एक करोड़ दाम अर्थात् ढाई लाख रुपया आमदनी के टुकड़े में बाँट दिया गया। किन्तु यह योजाना सफल न हो पायी और बादशाह को फिर प्राचीन परगनों आदि के विभाजन के द्वारा ही कार्य करना पड़ा। १५७७ के अन्त में टकसालों का भी सुधार किया गया। इस विभाग का अधिकारी प्रसिद्ध शिल्पी अब्दुसमद बनाया गया। इसके द्वारा सिक्कों में बहुत संशोधन हुआ और बहुत बड़ी संख्या में सिक्के बनाए जाने लगे।

**धर्मगोष्ठी व सत्य की खोज**—१५७५ में अकबर ने फतहपुर सीकरी में एक धर्मगोष्ठी भवन की बुनियाद डाली और उसका नाम इबादतखाना रखा। १५७८ में भेड़ा के स्थान पर अकबर को एक प्रकार का दिव्य दर्शन हुआ। इसके बाद उसने पशु-पक्षियों का आखेट बन्द कर दिया। इसी वर्ष उसने गोआ से ईसाई पादरियों को दरबार में बुलवाया और इबादतखाने में धार्मिक शास्त्रार्थ आरम्भ किए। १५७९ में अकबर ने सीकरी की जामा मस्जिद में स्वयं इमाम का स्थान ग्रहण करके खुतबा पढ़ा। इसके दो-तीन महीने बाद एक महजर नामी घोषणा द्वारा यह घोषित किया गया कि यदि कोई ऐसा धार्मिक प्रश्न अथवा मतभेद इस्लाम धर्म के पण्डितों में उत्पन्न हो जाए जिस पर वे लोग सहमत न हो सकें तो अन्तिम निर्णय तथा

व्यवस्था देने का अधिकार खलीफा होने की हैसियत से बादशाह को होगा। १५८० में जेसुइट पादरियों की एक मण्डली फतहपुर सीकरी पहुँची। वे १५८२ में लौट गए। केवल पादरी एकावाइवा पीछे रह गया। इन्हीं दिनों अकबर पारसी, जैन व हिन्दूधर्म के बड़े बड़े विद्वानों व पण्डितों को बुला-बुलाकर उनसे अपने अपने धर्म की व्याख्या
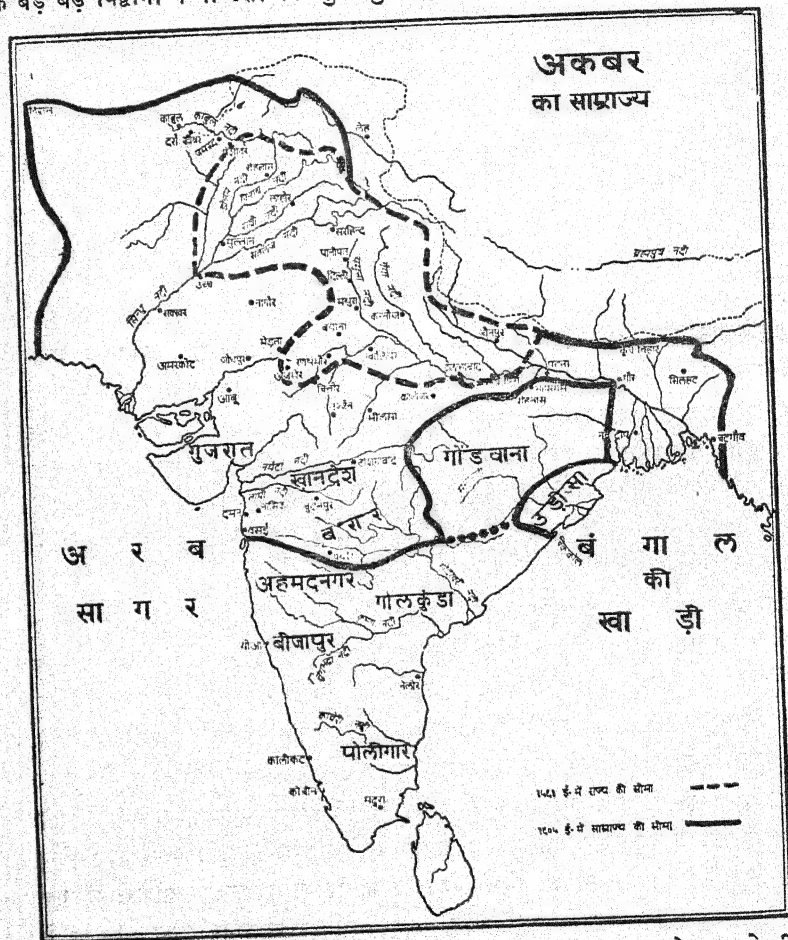
सुनता था और अनेक मौलिक प्रश्नोत्तर करके अपनी आत्मा का सन्तोष करने की चेष्टा करता था। इस प्रकार अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति आदर-सम्मान का व्यवहार करना कट्टर मुसलमानों को असह्य हो गया। पारसियों का प्रसिद्ध धार्मिक नेता दस्तूर मेहरजीराना नवसारी से अकबर के दरबार में बुलाया गया था। उसके सम्पर्क से अकबर के विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा, इसमें सन्देह नहीं है। अकबर इन दिनों सूर्य और अग्नि की बड़ी भक्ति-भाव से आराधना करता था क्योंकि वह इनको ईश्वर की पवित्र शक्ति का पुंज मानता था और इनको ईश्वर के दर्शन करने का

सर्वोत्तम प्राकृतिक प्रतीक तथा उपाय समझता था। जैन मुनियों में उस युग के महान् विद्यावारिधि हीराविजय सेना सूरी तथा भानुचन्द्र उपाध्याय अकबर के दरबार में थे जो गुजरात से १५८२ में अकबर की प्रार्थना पर आगरे गए थे। जैन मुनियों का प्रभाव अकबर पर बराबर बना रहा। १५९१ में खम्बात से जिनचन्द्र सूर्य को भी साम्राट् ने आमंत्रित करके समादृत किया था। उनके सम्पर्क से अकबर का आन्तरिक दया भाव और प्रत्येक जीवधारी के प्रति अहिंसा भाव परिपक्व का संवर्तित हो गया! उसने मांस-भक्षण भी प्रायः बिलकुल त्याग दिया था और आमिष भोजन का बनवाना भी बन्द कर दिया था। हिन्दू विद्वानों में भी देवी और पुरुषोत्तम के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अकबर को हिन्दू धर्म तथा दर्शन के तत्त्वों की व्याख्या सुनायी थी और महाभारत आदि ग्रन्थ की शिक्षाओं से उसे परिचित किया। इस प्रवचन के बाद अकबर को जीवात्मा के आवागमन के सिद्धान्त में पूरा विश्वास हो गया। अकबर ने योगाभ्यास का भी प्रयत्न किया।

**संकट का समय कट्टर : मुल्लाओं का विद्रोह**—इन सब कृतियों को देखकर इसलाम मत के कट्टर मुल्लाओं व धार्मिक नेताओं में इतना असन्तोष हुआ कि उन्होंने बिहार और बगाल के पराजित अफ़ग़ान सरदारों को उकसाकर फिर से अकबर के विरुद्ध एक भारी षड्यन्त्र रचा और खुल्लमखुल्ला बादशाह के इसलाम धर्म से पतित होने की अफवाह फैला दी। शेख अब्दुल्ला सुलतानपुरी ने बादशाह को सरासर काफिर और हिन्दुस्तान को काफ़िर का देश कहना शुरू किया। १५८० में अकबर ने साम्राज्य को बारह सूबों में विभक्त किया था और उनकी शासन-व्यवस्था को नए सिरे से व्यवस्थित किया था। बंगाल के सूबे में बहुत से अफ़ग़ान अमीन अभी तक मौजूद थे और वे प्रायः सुन्नी थे। १५७९ में बंगाल का गवर्नर मुज़फ्फरखाँ और दीवान राय पित्रदास नियुक्त किए गए थे। बंगाल के सुन्नी अमीर इनसे शासित होना न चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे लोग अपनी जागीरों आदि का हिसाब देने के अभ्यस्त न थे। वे अपने सेना के घोड़ों को दाग न दिलवाते थे। इस समय ख्वाजा शाह मन्सूर जो बड़ा योग्य अर्थशास्त्री था, केन्द्र का अर्थमन्त्री था। वह राजनियम पालन कराने में बड़ा कठोर था। उसने बंगाल के नए सूबेदार और दीवान के द्वारा हर प्रकार के सुधार लागू करने शुरू किए। इसी समय मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम के कारिन्दे भी बंगाल के लोगों को विद्रोह के लिए उकसा रहे थे। विद्रोह के फूट पड़ने का बड़ा कारण यह हुआ कि सैनिकों का भत्ता बंगाल में पहले की अपेक्षा आधा कर दिया गया और बिहार का और भी कम और इस नियम को बड़ी कड़ाई से लागू किया गया। कई जागीरदारों को कड़ी सजाएँ दी गईं परिणाम यह हुआ कि काक्षालवर्ग के अफगान लोग, जो बादशाह के बड़े सच्चे सेवक थे, वे भी बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने मुज़फ्फरखाँ के घर को लूट लिया। जब अकबर को इस बात का पता चला तो उसने तुरत उनसे समझौता करने की कोशिश की परन्तु राय पित्रदास आदि स्थानीय कर्मचारियों की अदूरदर्शिता से यह प्रयत्न असफल हुआ। बिहार में भी

इसी प्रकार विद्रोह आरम्भ हुआ। वहाँ भी नए सुधार बड़ी कड़ाई के साथ लागू किए जा रहे थे। यहाँ पर मुल्ला मुहम्मद यजदी ने, जो जौनपुर का काजी था, खुले तौर पर फतवा दे दिया कि सम्राट् विधर्मी हो गया है और उसके विरुद्ध विद्रोह करना प्रत्येक मुसलमान का धर्म है। यहाँ के विद्रोहियों ने बिहार के सूबेदार राय पुरुषोत्तम को मार डाला और दीवान को जान बचाकर भागना पड़ा। इस प्रकार बंगाल और बिहार दोनों विद्रोहियों के अधिकार में आ गए। उन्होंने मुज़फ्फरखाँ को पकड़कर बड़ी यातनाएँ देकर कत्ल किया और अप्रैल १५८० में मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम के नाम का फतवा पढ़वा लिया।

विद्रोह की सूचना पाते ही अकबर ने राजा टोडरमल और शेख फरीद बख्शी को विद्रोहियों के विरुद्ध भेजा और अवध, प्रयाग तथा जौनपुर के मनसबदारों को उनकी सहायता करने का आदेश दिया। साम्राज्य के अन्य स्थानों से भी सेनाएँ बुला कर इस ओर भेजी गईं। सम्राट् की सेना के पहुँचने से पहले ही विद्रोह अरब बहादुर से मुहिब अली खाँ ने पटना को वापस ले लिया था। पटना पहुँचाकर टोडरमल ने सब सेनाध्यक्षों से परामर्श करके युद्ध की पूरी योजना बनाई और उसके अनुसार बंगाल पर चढ़ाई की। मुंगेर पहुँचकर उस स्थान को टोडरमल ने युद्ध-संचालन का केन्द्र बनाया किन्तु यहाँ विद्रोहियों के बड़े भारी दल ने उसको घेर लिया। कई महीने तक यह घेरा चलता रहा। अकबर ने गुजरात से खाने-आज़म, अज़ीज कोका और मेवाड़ से प्रसिद्ध सैनिक शाहबाज़खाँ बंगाल भेजा। जैसा कहा जा चुका है कि शाहबाज़खाँ के जाते ही राणा प्रताप ने अपनी पहाड़ी खोह से निकलकर मेवाड़ के बहुत से स्थान मुगलों से वापस ले लिए और मारवाड़ में इसी प्रकार चन्द्रसेन ने स्वतन्त्रता की पताका फहराई। मालवे में भी इसी समय सेना का विद्रोह हुआ किन्तु भाग्य से जल्दी ही उसको दबा दिया गया।

यह समय अकबर के शासनकाल में सबसे अधिक संकटमय था पर उसने धैर्य को न छोड़ा। मुंगेर से बार-बार उसके सेना-संचालक उससे स्वयं वहाँ पहुँचने के लिए प्रार्थना कर रहे थे, परन्तु उसने आगरे को ऐसे समय में छोड़ना जब कि पूरब के विद्रोहियों ने मिर्ज़ा हकीम को बादशाह घोषित कर दिया था, उचित न समझा। साथ ही अज़ीज कोका और शाहबाज़खाँ पर उसे बड़ा भरोसा था। उनके जाने से बिहार में विद्रोहियों की बड़ी हानि हुई और विद्रोह की कमर टूट गई। सामान्य विद्रोहियों को आश्वासन देने के लिए अकबर ने राजा टोडरमल के परामर्श को स्वीकार करके ख्वाजा शाह मन्सूर को, जिसके कड़े शासन के कारण यह सब उपद्रव खड़ा हुआ था, मुअत्तल कर दिया। धीरे-धीरे अफ़गानों के सैनिक नेता अन्य कई कारणों से हतोत्साह होने लगे। हिन्दू जनता ने जो उनके अत्याचारों से पीड़ित थी, विद्रोहियों को खान-पान की सामग्री देने में बहुत कठिनाई पैदा कर दी। अज़ीज कोका ने जाते ही टोडरमल को पूरी तरह सहायता दी परन्तु शाहबाज खाँ थोड़े दिन तक पटना और जौनपुर के विद्रोहियों को ध्वस्त करने में लगा रहा। बड़े प्रयत्न

के बाद वहीं के मुख्य विद्रोहियों को, जिनमें फरनखुदी नियाबत खाँ और अरब बहादुर मुख्य थे, परास्त किया जा सका। बंगाल में अजीज़ कोका और टोडरमल शत्रुओं को पूरी तरह परास्त करके बिहार की तरफ लौट आए।

**मिर्जा हकीम का आक्रमण**—विद्रोहियों को आशा थी कि उन्हीं के साथ-साथ उत्तर-पश्चिम से मिर्ज़ा हकीम भारत पर आक्रमण कर देगा। यदि ऐसा हो गया होता तो अवश्य ही अकबर को बड़ी जटिल समस्या का सामना करना पड़ता किन्तु हकीम उस समय बदख़शाँ के घरेलू युद्ध में लगा हुआ था। जब मिर्ज़ा हकीम ने १५८० के दिसम्बर मास में पंजाब पर चढ़ाई की उस समय तक पूरब के विद्रोह की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो चुकी थी। मिर्ज़ा हकीम का रोहतास के दुर्गपाल और गक्खरों ने मिलकर सामना किया और उसकी सेना को पीछे हटा दिया। अकबर ने तुरत मानसिंह को उत्तर-पश्चिम सीमा का काम संभालने के लिए भेजा। मानसिंह और उसके भाई राजा सूरजसिंह ने अफगानों को सिन्ध के किनारे नीलाब के पास परास्त किया और उनका सेनापति शादमान मारा गया। फिर पूरब के विद्रोह के दबते जाने की सूचना पाते ही अकबर ने स्वयं लाहौर की तरफ प्रस्थान किया। बादशाह के आदेशानुसार मानसिंह ने हकीम को सिन्धु के किनारे न रोका और स्वयं पीछे हट आया। हकीम से आगे बढ़कर लाहौर का घेरा डाला। यहाँ पर मानसिंह और राजा भगवानदास उससे युद्ध करने को पूरी तरह तैयार थे। यह देखकर कि लाहौर के हिन्दू-मुसलमान सैनिक तो क्या किसी मुल्ला ने भी उसका साथ न दिया, हकीम की हिम्मत टूट गई। अकबर इस समय बड़ी भारी सेना के साथ, जिसमें ५०,००० घुड़सवार, ५०० हाथी, तोपखाना और बहुत बड़ी पैदल सेना थी, अपने साथ लेकर चला था। इसके अतिरिक्त उसने हर छोटे से छोटे मामले की इतनी सावधानी से तैयारी की थी कि सेना को यात्रा में किसी प्रकार की बाधा व त्रुटि न आई। शाहाबाद पहुँचने पर उसे कई प्रमाण ऐसे मिले जिनसे अर्थमन्त्री ख्वाजा शाह मन्सूर का राजद्रोही होना सिद्ध हुआ। उसने शत्रुओं को कुछ ऐसे पत्र लिखे थे जो उस समय पकड़े गए। इस विषय पर पूर्णरूप से विचार करने के बाद बादशाह ने शाह मन्सूर को २७ फरवरी १५८१ के दिन फाँसी दे दी। ख्वाजा मन्सूर टोडरमल को छोड़कर अपने समय का सबसे योग्य अर्थ-सचिव था। यद्यपि अकबर को विवश होकर उसे प्राणदण्ड देना पड़ा तथापि इस पर उसको हमेशा बहुत दुःख रहा। विशेषकर इसलिए कि काबुल पहुँचने पर अकबर को पता चला कि जो चिट्ठियाँ उसके विरुद्ध मिली थीं उनमें से कुछ बनावटी थीं इससे बादशाह को यह शक हो गया कि शाह मन्सूर का अपराध शायद इतना बड़ा न था जिस पर उसे प्राण दण्ड की सजा दी जाती।

अकबर अभी सरहिन्द से थोड़ा ही आगे बढ़ा था कि उसे मिर्ज़ा हकीम के वापस आने की सूचना मिली। वह विशेष रूप से यह आशा लेकर आया था कि अकबर के सब कर्मचारी व सेनपति आदि उसे छोड़कर हकीम का साथ देंगे। उसकी यह आशा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई और जब उसे पता चला कि बादशाह स्वयं

एक भारी सेना लेकर लाहौर की ओर आ रहा है, उसकी हिम्मत टूट गई और वह बड़ी घबड़ाहट से वापस लौट गया।

**काबुल के बलवे का निबटारा**—अब अकबर ने निश्चय किया कि लाहौर से आगे सीमा तक जाकर उसकी रक्षा की पूर्णरूप से व्यवस्था की जाए। सिन्धु नदी के तट पर उसने पेशावर व काबुल तक जाने-आने के मार्ग की रक्षा के लिए अटक बनारस नाम से एक भारी गढ़ बनवाया। शेरशाह और इसलामशाह ने मार्ग की देख-रेख के लिए रोहतास और मानकोट के किले बनवाए थे। जिस प्रकार शेरशाह ने अपने पूर्वी सीमा के रोहतास गढ़ के नाम पर झेलम के किनारे के किले का नाम रोहतास रखा था उसी प्रकार अब अटक बनारस के नाम पर जो उड़ीसा में मुग़ल साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर था, अपने पश्चिमी सीमा के किले का नाम अटक बनारस रखा। यहाँ से उसने हकीम को सन्देशा भेजा कि वह सन्धि की शर्तें तय करे। हकीम ने उसके कई पत्रों का कोई उत्तर न दिया। तब अकबर ने नदी को पार करके काबुल की ओर प्रस्थान किया। अकबर के इस संकल्प से उसके बहुत-से उच्चाधिकारी कुछ भयभीत-से हो गए। सैनिक भी उस पहाड़ी प्रदेश की बर्फानी सर्दी से डरते थे। बादशाह के अमीरों की एक गोष्ठी ने भी इसके विपरीत निश्चय किया तो भी अकबर ने उनकी एक न मानी और किसी कठिनाई की चिन्ता न करके काबुल तक पहुँच गया। उसके अटूट संकल्प को देखकर अमीरों ने भी उसका अनुकरण किया। मुसलिम शासन के युग में यह पहला ही अवसर था जब हिन्दुस्तान का सम्राट् पूरी सफलता के साथ घाटियों को चीरता हुआ काबुल तक पहुँचा था। मिर्जा हकीम ने अब अकबर को हर प्रकार से विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वह उसका सच्चा आज्ञाकारी सेवक रहेगा और क्षमा-याचना की। अकबर भी हिन्दुस्तान से, विशेषकर ऐसे समय में जब कि वहाँ दूर-दूर विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, बहुत दिन तक बाहर रहना नहीं चाहता था। अतएव हकीम को यह चेतावनी देकर कि यदि उसने फिर किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाएगा और काबुल का शासन छीन लिया जाएगा। इसके बाद मानसिंह को उस प्रान्त का सूबेदार नियुक्त करके बादशाह पहली दिसम्बर १५८१ को राजधानी लौट आया।

पिछले दो वर्ष (१५७९-८१) अकबर के जीवन में सबसे अधिक संकटमय थे। किन्तु उसके धैर्य तथा सैनिक योग्यता एवं हिन्दू व मुसलिम सेना नायकों के सहयोग से वह संकट का सफलता के साथ मुकाबला कर सका। अपनी इस महती सफलता की खुशी में १५८२ के आरम्भ में अकबर ने बहुत बड़े पैमाने पर एक दरबार रचाया। उसमें सम्मिलित होने के लिए सारे सूबों के सूबेदार बुलाए गए। इसी अवसर पर उसने नौरोज़ का पर्व उसी प्रकार आरम्भ किया जिस प्रकार प्राचीन ईरान के राजा नौरोज मनाया करते थे। इस अवसर की स्मृति में अकबर ने और भी कई शुभ कार्य किए। दास-प्रथा को सदा के लिए मन्सूख कर दिया और आदेश दिया कि भविष्य में युद्ध-बन्दियों को कभी भी गुलाम न बनाया

जाए। कोतवालों को आज्ञा दी गई कि वे गुलामों का क्रय-विक्रय न होने दें। हजारों गुलाम इस अवसर पर मुक्त कर दिए गए। यहाँ तक कि गुलाम शब्द का प्रयोग तक बन्द करके उसके स्थान पर चेला अर्थात् घरेलू नौकर शब्द लाया गया।

**प्रजाहित के लिए दरबारियों से परामर्श**—प्रजा की भलाई के लिए यह अवसार जबकि इतने सूबेदार भी दरबार में उपस्थित थे, बहुत सुन्दर था। इसलिए अकबर ने सब दरबारियों से पूछा कि वे अपनी अपनी राय दें कि प्रजा की उन्नति व सुख-समृद्धि के लिए क्या किया जाए ? दरबार के सभी प्रतिष्ठित लोगों से उसने एक-एक प्रस्ताव करने के लिए कहा। युवराज सलीम ने कहा कि बारह बरस की आयु से कम में शादी करने की आज्ञा न दी जानी चाहिए। अज़ीज़ कोका ने प्रार्थना की कि प्रान्तीय नाज़िमों को बिना सम्राट् की आज्ञा लिए हुए किसी को प्राणदण्ड देने का अधिकार न होना चाहिए। अब्दुर्रहीम खानखाना ने छोटे परिन्दों की यथाशक्ति रक्षा का प्रबन्ध करने की प्रार्थना की। राजा टोडरमल ने कहा कि राजमहल में प्रतिदिन दान-दक्षिणा सुपात्रों को दी जानी चाहिए। यूसुफ़खाँ ने एक बड़ा उत्तम सुझाव प्रस्तुत किया कि साम्राज्य के समस्त शहरों व बस्तियों से उनकी दैनिक घटनाओं की सूचना प्राप्त करनी चाहिए। राजा बीरबल ने इस सुझाव का समर्थन करते हुए यह प्रस्ताव किया कि प्रजा की दैनिक अवस्था तथा दरिद्र और पीड़ित लोगों के बारे में सूचना भेजने के लिए विश्वसनीय निरीक्षक नियुक्त किए जाएँ। सम्राट् के मुख्य स्थपति कासिमखाँ ने प्रार्थना की कि साम्राज्य के सब मार्गों पर सराय बनवाई जाएँ। जमालखाँ ने प्रस्ताव किया कि दीन व दुःखी मनुष्यों को दरबार के सामने लाने के लिए विशेष कर्मचारी नियुक्त किए जाएँ। राजकवि फ़ैज़ी ने प्रस्ताव किया कि बाज़ार के नियन्त्रण करने और आवश्यक वस्तुओं के भाव निश्चय करने के लिए अध्यक्ष नियुक्त किए जाएँ। अबुल फ़ज़ल ने प्रस्ताव किया कि प्रत्येक बस्ती के दरोगाओं को आज्ञा दी जाए कि वे प्रत्येक परिवार का पूरा-पूरा ब्यौरा लिखकर भेजें जिसमें सबके नाम, पेशे, आमदनी व खर्च इत्यादि की सूचना हो। दरोगाओं को यह भी आदेश दिया जाए कि वे बेकार लोगों और बदमाशों को बाहर निकालें। हकीम अबुल फतह ने प्रस्ताव किया कि स्थान-स्थान पर चिकित्सालय खोले जाएँ। सम्राट् ने इन सब प्रस्तावों को सहर्ष स्वीकार किया और इनको पूरा करने का वचन दिया। किस हद तक यह प्रस्ताव पूरे किए गए यह निश्चय करना तो कठिन है किन्तु इनको कार्यान्वित करने का भरसक प्रयत्न अवश्य किया गया।

**गुजरात का अन्तिम विद्रोह**—पूरब के विद्रोह में सम्राट् को फँसा देखकर गुजरात के सुलतान मुज़फ़्फ़रशाह ने, जो काठियावाड़ में जा छिपा था, फिर से अपना खोया हुआ राज्य वापस लेने का प्रयत्न किया। मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका के बाद थोड़े दिन अब्दुर्रहीम और फिर १५७७ से ८३ तक शाहबुद्दीन गुजरात का सूबेदार रहा था। उसके स्थानान्तर के पश्चात् एतमादखाँ गुजरात का सूबेदार नियुक्त हुआ और

निज़ामुद्दीन अहमद (तबकाते अकबरी का रचयिता) उसका बख़्शी नियुक्त हुआ। इसी वर्ष मुज़फ़्फ़रशाह ने बहुत-सी सेना एकत्रित करके अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया और स्वतन्त्र सुलतान बन बैठा। उसके बाद उसने भड़ौच के शासक को हराकर वह शहर भी उससे छीन लिया। अकबर ने इस उपद्रव की सूचना पाते ही मिर्ज़ाख़ाँ अब्दुर्रहीम को गुजरात का सूबेदार बनाकर भेजा। शाही सेना ने जनवरी १५८४ में अहमदाबाद के निकट सरखेज के स्थान पर मुज़फ़्फ़रशाह को परास्त किया और फिर राजपीपला के निकट नादोत के स्थान पर। अन्त में हताश होकर उसने कच्छ के कुछ सरदारों के पास जाकर शरण ली। निज़ामुद्दीन बख़्शी ने इन सरदारों को परास्त करके उनको बड़ा भीषण दण्ड दिया। उनके प्रदेश में ३०० गाँवों को बिलकुल तहस-नहस कर दिया और बुरी तरह लूटा। निज़ामुद्दीन बख़्शी ने अपने इस कारनामे का स्वयं बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। तथापि मुज़फ़्फ़र हाथ न आया और कच्छ काठियावाड़ में निरन्तर कई बरस तक उपद्रव करता रहा। अन्त में १५९२ में जब वह बन्दी हुआ तो उसने आत्म-हत्या कर ली। उसको परास्त करने के उपलक्ष में सम्राट् ने अब्दुर्रहीम को खानखाना की उपाधि दी।

**उत्तर-पश्चिम सीमा की समस्या का निबटारा**— मुग़ल सम्राटों के समय में उत्तर-पश्चिम सीमा की समस्या कई कारणों से बहुत ही जटिल हो गई थी। साम्राज्य की सुरक्षा व शान्ति बहुत-कुछ उनकी सीमा के सुरक्षित व शान्त रहने पर निर्भर थी। इस समस्या के तीन मुख्य कारण थे। पहला—मुग़ल वंश की आदि मातृ-भूमि मध्य एशिया थी। वे उसको वापस लेने के लिए सदैव उत्सुक रहते थे। दूसरा—कुछ समय तक उन्हें मध्य एशियाई मुल्कों से सैनिक भी बुलाने पड़ते थे। तीसरा—सीमा प्रदेश पर अधिकार रखना विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करने के लिए परम आवश्यक था।

**उत्तर-पश्चिम सीमा का भौगोलिक महत्व**—जिस दिन से बाबर ने पानीपत के रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करके मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली थी तभी से यह समस्या उदित हो गई थी। इस समस्या पर भौगोलिक परिस्थिति का बहुत गहरा प्रभाव था। उस समय मुग़ल साम्राज्य की सीमा की दो स्पष्ट शाखाएँ थीं। एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक। बाह्य पक्ष अफ़ग़ानिस्तान के उत्तर-पश्चिम में हेरात से दक्षिण की ओर चलते हुए कन्धार तक पहुँचता था और उत्तर में इसकी सीमा हिन्दूकुश की पर्वतश्रेणी बनाती थी। इसके दक्षिणी छोर पर बोलान (Bolan) का दर्रा था जिसके द्वारा भारत और पश्चिम एशियाई देशों से व्यापार व आवा-गमन होता था। उत्तर में हिन्दूकुश तथा खैबर के दर्रे भारतवर्ष को इस बाहरी सीमा से सम्बन्धित करते थे। इस सीमा के उत्तर में मध्य एशिया व खीवा के प्रदेश पर उजबक सुलतान शैबानीख़ाँ ने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर दिया था। पश्चिम में ईरान के सफ़वी सम्राट् बड़े बलशाली व महत्त्वाकांक्षी थे। कन्धार, बाबर के भारत आने के बाद, सफ़वी बादशाह के अधिकार में पहुँच गया

था। इन दो बड़ी सत्ताओं के विद्यमान होने से मुग़ल साम्राज्य के सीमान्त प्रदेश को सदैव भय बना रहता था। काबुल में अकबर के सौतेले भाई मिर्ज़ा हकीम की निर्बलता या अयोग्यता के कारण इस बाहरी सीमा की रक्षा का सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं हो सकता था।

आन्तरिक सीमा लगभग पेशावर के उत्तरी पहाड़ी प्रदेश से समुद्रतट तक पहुँचती थी। इस सीमान्त प्रदेश में पेशावर और उसके उत्तर की भूमि तथा कोहाट, बन्नू, वजीरिस्तान, डेरा इस्माइलखाँ, डेरा ग़ाज़ीख़ाँ, रोहरी व दक्षिण सिंध के ज़िले सम्मिलित थे। इस प्रदेश की चौड़ाई बहुत कम और लम्बाई उत्तर से दक्षिण-पश्चिम तक बहुत अधिक थी। इसके अन्दर प्राचीन अफ़ग़ान जातियाँ बसती थीं जो उस भूमि के अत्यन्त निर्जल तथा खुष्क पहाड़ियों से घिरा हुआ होने के कारण बहुत ही निष्पन्न व दरिद्र थीं। प्रकृति ने ही उनको पास-पड़ोस के प्रदेशों पर लूट-मार करके अपना पालन करने पर विवश कर रखा था। इन निडर एवं भयानक जातियों के निरन्तर आक्रमणों से सीमावर्ती प्रान्त को सुरक्षित करना तो आवश्यक था ही, साथ ही उनको किसी न किसी प्रकार दबाए रखना इसलिए भी आवश्यक था कि काबुल व कन्धार जाने-आने के मार्गों में किसी प्रकार की रुकावट न हो। अतएव इन दोनों सीमाओं को पूरी तरह सुरक्षित करने का भार अकबर के कन्धों पर पड़ा। इसके अतिरिक्त १५८१ तक लगभग समूचे उत्तर भारत पर अधिकार कर लेने के उपरान्त काश्मीर, मुल्तान व सिन्ध आदि प्रदेशों को भी मिला लेना आवश्यक हो गया था। जब १५८५ में मिर्ज़ा हकीम की मृत्यु हो गई तब काबुल प्रान्त को साम्राज्य में समाविष्ट करके उस पर शासन करना तथा कन्धार को भी ईरान से वापस लेना आवश्यक हो गया। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए अकबर ने १५८५ में पूरी सैनिक तैयारी करके उत्तर-पश्चिम की ओर प्रस्थान किया और लाहौर को अपना युद्ध का अड्डा बनाया। मानसिंह को काबुल प्रान्त का सूबेदार बनाकर भेजा गया। उसने बड़ी युक्ति से वहाँ शान्ति स्थापित की और जो लोग सम्राट् का विरोध करने का विचार कर रहे थे उनको आश्वासन दिलाया कि यदि वे अपने दुस्साहस को त्यागकर सम्राट् के सच्चे आज्ञाकारी हो जाएँगे तो उनको क्षमा कर दिया जाएगा।

**सम्राट् स्वयं सीमा पर**—उसी वर्ष अकबर आगे बढ़कर रावलपिण्डी पहुँचा और लगभग १० वर्ष उत्तर-पश्चिम में ही जमा रहा जब तक कि सीमा की सुरक्षा की गहनतम समस्या को उसने पूरी तरह हल न कर लिया। आन्तरिक सीमा के रक्षण के लिए अकबर ने निश्चय कर लिया कि काश्मीर, अफ़ग़ान फिरकों का प्रदेश और बिलोचिस्तान तीनों को पूरी तरह विजित कर लिया जाए। काश्मीर का लेना इसलिए आवश्यक था कि उत्तर और पश्चिम में बदख़्शाँ का राज्य था और हिन्दूकुश की घाटियों के द्वारा उधर से आक्रमण होने की सम्भावना थी। अफ़ग़ान भूमि के विषय में हम कह चुके हैं कि यह लोग एक अत्यन्त भयानक जीवन व्यतीत करते थे। इनका दमन करना सीमाप्रान्त की रक्षा करने के

लिए अत्यन्त आवश्यक था। इसके अतिरिक्त इस पहाड़ी प्रदेश के द्वारा खैबर के दर्रे के अतिरिक्त कुर्रम, टोची और गोमल के दर्रे भी थे जिनमें से ग़ज़नी व अफ़ग़ानिस्तान के अन्य स्थानों को हिन्दुस्तान से रास्ते जाते थे। इन सबको भी सुरक्षित रखना सामरिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक था। इस पर्वतीय प्रदेश में दक्षिण-पश्चिम में बिलोचिस्तान का विस्तृत भूखण्ड ऐसा था जिसके मार्ग फारस व हिन्दुस्तान को जोड़ते थे। कन्धार बिलोचिस्तान के उत्तर और अफगा-निस्तान के दक्षिण की सीमा पर सबसे अधिक सामरिक महत्त्व का स्थान था। १५५८ में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया था। उत्तर की ओर मध्य एशिया में अब्दुल्लाखाँ उज़बक ने एक अत्यन्त व्यवस्थित व सुसंगठित विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर दिया था। उसने १५५७ में बुखारा पर अधिकार किया और फिर १५६१ तक समरकन्द, ताशकन्द, तुर्किस्तान, फरगना तथा बल्ख तक अपना राज्य फैला दिया। १५८१ में अपने पिता के मरने के बाद वह स्वयं मध्य एशिया का खाकान (सम्राट्) बना तब उसने बदख्शां पर अधिकार करके वहाँ से सुलेमान मिर्जा व उसके पोते शाहरुख को निकाल बाहर किया। इस प्रकार उज़बक सत्ता के काबुल की सीमा तक पहुँच जाने से हकीम अत्यन्त चिन्तित हुआ और उसने अकबर से सहायता की प्रार्थना की थी। उस समय अकबर ने काबुल प्रान्त को एक बफर (buffer) राज्य बनाने का निश्चय किया था ताकि अब्दुल्ला और आगे न बढ़ सके। परन्तु जैसा कह चुके हैं, १५८५ में हकीम की मृत्यु हो जाने से अकबर ने काबुल को साम्राज्य का एक सूबा ही बना लिया जिससे मुग़ल उत्तर-पश्चिम सीमा उज़बक साम्राज्य की दक्षिण सीमा से जा मिली।

**उत्तर-पश्चिम सीमा के फ़िरकों का दमन**—यूसुफ जई अफ़ग़ान फिरके के विरुद्ध सम्राट् ने १५८६ में जैनखाँ को भेजा। बाद को राजा बीरबल और अब्दुल फतह भी उसकी सहायता के लिए भेजे गए। इस अवसर पर राजा बीरबल की सामरिक अनभिज्ञता और जैनखाँ आदि अनुभवी सैनिकों के परामर्श के विरुद्ध कार्य करने से स्वात और बाजौर की घाटियों में मुग़ल सेना को बहुत भारी हानि उठानी पड़ी। बीरबल बिना सोचे-समझे अफ़ग़ानों के देश में इतने अन्दर तक घुसता चला गया कि वह स्वयं भी मारा गया और बहुत-सी सेना भी वहीं नष्ट हुई। इस महान् क्षति को पूरा करने के लिए राजा टोडरमल को भेजा गया। उसने बड़ी सावधानी से अफ़ग़ानों के देश में जगह-जगह अपने सैनिक अड्डे बनाकर उनको इतना त्रस्त किया कि वे भयभीत हो गए। पीछे से मानसिंह ने उनके नेता जलाल को खैबर के दर्रे में पूरी तरह परास्त किया और उसकी सेना का संहार किया। इस प्रकार ठोंके-पीटे जाने के बाद अफ़ग़ानों का भय व उपद्रव बहुत घट गया यद्यपि उनका बिलकुल शांत होकर बैठ जाना असम्भव ही था। अन्त में जो कार्य खड्ग से न हो सकता था उसको सोने की तलवार से करने की युक्ति का आसरा सम्राट् को लेना पड़ा। अफ़ग़ान फिरकों के नेताओं को सम्राट् ने पैसा देकर उनसे संधि की ताकि वे सीमा

प्रदेश व अफ़ग़ानिस्तान के रास्तों पर लूट-मार न करें।

**काश्मीर का प्रश्न**—हम पहले भाग में कह आए हैं कि जैनुलाब्दीन के उत्तराधिकारियों में से कोई भी उसके समान योग्य अथवा चरित्रवान् न था। उसका बेटा हाजीखाँ जो हैदरशाह के नाम से राजगद्दी पर बैठा (प्रायः १४७० ई० में), बड़ा विलासी तथा पियक्कड़ था। उसकी अयोग्यता के कारण चक्क फिरके के लोग, जिनको जैनुलाब्दीन ने दबाकर रखा था, फिर से उभर निकले। ये लोग दर्दिस्तान से आए थे और बड़े ही साहसी, वीर तथा जंगजू थे। उन्होंने काश्मीर के कई रमणीक स्थानों, त्रिगाम, राजीपुरा आदि में जलाशय, तड़ाग, दुर्ग आदि बनवाए थे और नगर भी बसाए थे। काश्मीर में बसने के बाद ये लोग शिया मतानुयायी बन गए थे। जैनुलाब्दीन के वंशजों की निर्बलता के कारण चक्क लोग राज में बड़े प्रभावशाली हो गए। सुलतानों को उन्होंने अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। १५वीं शताब्दी के अन्तिम और १६वीं के प्रथम चरण में काश्मीर की राजनैतिक दशा बड़ी अव्यवस्थित तथा अरक्षित थी। अनेक परस्पर-विरोधी दल राज्य के लिए संघर्ष कर रहे थे और भारतीय सुलतानों व मुग़लों से सहायता की याचना करते थे। इसी समय शेरशाह से हारकर हुमायूँ बादशाह उत्तरी पंजाब पहुँचा था। काश्मीर की परिस्थिति देखकर उसके सम्बन्धी मिर्ज़ा हैदर दौलत ने यह सुझाव दिया कि यदि हुमायूँ उस राज्य पर कब्ज़ा कर ले तो शेरशाह उसका कुछ न बिगाड़ सकेगा। परन्तु कामरान के धोखे व शत्रुता के कारण हुमायूँ को अपना इरादा छोड़ कर सिन्ध की तरफ़ जाना पड़ा। पर मिर्ज़ा हैदर दुगलत ने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया और १५४०-४१ में काश्मीर को जीतकर उसका शासक बन बैठा। कहते हैं मिर्ज़ा हैदर ने हुमायूँ के नाम से सिक्का चलाया और खुतबा पढ़वाया। इस प्रकार उसने १५५१ तक काश्मीर पर राज्य किया। इसी वर्ष एक लड़ाई में वह मारा गया।

मिर्ज़ा हैदर के मरते ही चक्क परिवार ने काश्मीर पर अधिकार कर लिया। शुरू में इस परिवार के सुलतान सम्राट् अकबर से मैत्री के सम्बन्ध रखते थे। १५७६-८० में अलीशाह के बेटे युसुफशाह के गद्दी पर बैठते ही फिर झगड़े आरम्भ हो गए क्योंकि यूसुफ एक ओर तो अत्यन्त विलासी व पियक्कड़ था और दूसरे अपने मन्त्री मुबारकखाँ सैयद से उसका झगड़ा हो गया। पर एक काम उसने प्रशंसनीय किया। पुरानी गौरीमर्ग की घाटी को उसने काश्मीर का ग्रीष्मऋतु-निवास बनाया और उसका नाम गुलमर्ग रखा। यूसुफ को सैयद मुबारक ने मार भगाया और उसने अकबर के पास आकर शरण ली। अकबर ने राजा मानसिंह को यूसुफ़ की सहायता के लिए भेजा। जब मुग़ल सेना पिंजर पहुँची तो विरोधी दल ने यूसुफ से समझौता कर लिया और उसे बुलाकर फिर सुलतान बना दिया। १५८४ में जब अकबर ने उत्तर-पश्चिम सीमा की पूरी तरह व्यवस्था करने के लिए उस तरफ़ यात्रा की तो यूसुफ़ के पास भी सन्देशा भेजा कि वह स्वयं हाज़िर होकर बादशाह का प्रभुत्व

स्वीकार करे। यूसुफ़ ने अपनी जगह अपने बेटे याकूब को शाही दरबार में भेज दिया। परन्तु अगले वर्ष वह भागकर वापस लौट गया। उस समय उत्तर-पश्चिम सीमा की दशा ऐसी थी कि अकबर ने काश्मीर को स्वतन्त्र छोड़ देना उचित न समझा। अतएव उसने राजा भगवानदास और शाहरुख को काश्मीर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। बूलिया के दर्रे के निकट याकूब ने उनका सामना किया और दोनों दलों में घमासान युद्ध हुआ; पर जीत किसी की नहीं हुई। इस समय जाड़े के कारण सब रास्ते बन्द हो जाने से राजपूत सेना बाहर न निकल पाई और खाने की सामग्री के अभाव से उसने अत्यन्त कष्ट उठाए। परन्तु राजपूत बड़े साहस से डटे रहे। ऐसे संकट में भी भगवानदास भयभीत न हुआ। उसने यूसुफ़ को कहला भेजा कि वह यह समझ ले कि राजपूत लोग अपनी जान हथेली पर लिए रहते हैं, यद्यपि वे एक-एक करके भी मारे जाएँ, पर काश्मीरियों को अपना जौहर दिखला देंगे। दूसरे, एक सेना के नष्ट होने से बादशाह की शक्ति की कोई क्षति न होगी। इस बात से प्रभावित होकर यूसुफ़ ने भगवानदास से सन्धि करना चाहा पर उसके मन्त्री इसके लिए तैयार न हुए। इस पर वह भागकर मुग़ल सेनापति के पास चला आया। अमीरों ने उसके बेटे याकूब को राजगद्दी पर बिठा दिया। याकूब तुरन्त भूख-प्यास से संतप्त मुग़ल सेना पर टूट पड़ा और उसके हजारों सैनिक मारे गए। बचत का कोई उपाय न देखकर भगवानदास ने अपनी सेना को एक सुरक्षित स्थान पर हटा लिया। इस संकटमय परिस्थिति में भगवानदास ने याकूब से सन्धि कर ली जिसकी शर्त यह थी कि उस राज्य में मुग़ल बादशाह के नाम का सिक्का चलेगा, और उसका नाम खुतबे में पढ़ा जाएगा, एवं टकसाल, दुशालों व केसर का कर, यह सब आय बादशाहों के लिए रखी जाएगी। यह सन्धि १५८५ के अन्त में हुई। तब अपनी टूटी-फूटी सेना के साथ भगवानदास बादशाह के पास वापस लौटा।

इसके बाद याकूब ने काश्मीर के हिन्दुओं व शियाओं पर बड़े अत्याचार करने शुरू किए। उन्होंने अकबर के पास फरयाद भेजी। साथ ही अकबर भगवानदास के समझौते से इसलिए सन्तुष्ट न था कि जब तक काश्मीर पर पूरी तरह कब्ज़ा न हो जाए तब तक उत्तर-पश्चिम सीमा सुरक्षित नहीं समझी जा सकती थी। भगवानदास को जिस विपत्ति के वश सन्धि करनी पड़ी थी उससे बादशाह के मान-प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा था। इधर स्वात-बाजौर में भी मुग़ल सेना की हार हुई थी। इसी समय अब्दुलाखाँ उज़बक का राजदूत मुग़ल दरबार में आया हुआ था। बादशाह यह ठीक न समझता था कि वह यह सब देखकर अपने देश को लौटे। इन बातों की दृष्टि से अकबर को यह सन्धि उचित न जान पड़ी। साथ ही याकूब ने सन्धि की शर्तों को लात मारकर अपने को पूरी तरह स्वाधीन घोषित कर दिया था। अतएव बादशाह ने देखा कि काश्मीर को जीतकर साम्राज्य में मिला लेने के अति-रिक्त और कोई उपाय न था। अतएव उसने मिर्ज़ा कासिमखाँ को इस कार्य के लिए भेजा। कासिमखाँ बड़ी होशियारी से धीरे-धीरे सब रास्तों पर अधिकार

जमाता हुआ घाटी में घुसा। वहाँ के बहुत से असन्तुष्ट अमीर आदि भी उससे आ मिले। १५८६ के अन्तिम दिनों में कासिमखाँ श्रीनगर तक पहुँच गया और याकूब तथा शम्सुद्दीन चक्क को पराजित किया। कासिमखाँ ने काश्मीरी जनता से कठोर व्यवहार किया जिसका परिणाम अच्छा न हुआ। बादशाह ने उसे वापस बुला लिया और मिर्ज़ा यूसुफ के संचालन में एक नई सेना भेजी। मिर्ज़ा ने बड़ी योग्यता से काम किया, याकूब और शम्सुद्दीन चक्क को पराजित किया तथा जनता को अच्छे बरताव से अपना बनाया। अन्त में १५८९ में याकूब ने भी हार मानी और बादशाह की शरण में आया। उदार बादशाह ने उसे क्षमा कर दिया और पंजसदी मन्सबदार बनाकर बिहार में एक जागीर देकर वहाँ भेज दिया। वहाँ उसका बाप यूसुफ भी मानसिंह की निगरानी में था।

**नए प्रान्तों का शासन : काश्मीर**—इसके बाद सम्राट् स्वयं काश्मीर गया। काबुल का शासन जैनखाँ को सौंपा और काश्मीर का मिर्ज़ा यूसुफखाँ सैयद को। काश्मीर को काबुल सूबे के साथ संयुक्त किया गया क्योंकि सामरिक रक्षा की दृष्टि से यही नीति उपयुक्त जान पड़ी। फिर सम्राट् ने योग्य मन्त्री राजा टोडरमल के द्वारा इस प्रान्त के शासन को पूरी तरह व्यवस्थित कराया। टोडरमल ने वहाँ पहुँचते ही शंकर वर्मा (८८३-९०१) की बसाई हुई शंकरपुरा (पाटन) नगरी, जो श्रीनगर से १७ मील-दक्षिण-पूरब की तरफ़ है, में बैठकर काश्मीर के शासन की नई व्यवस्था की। सारे प्रदेश को उसने परगनों में विभाजित किया और उसके भूमिकर का सुचारु रूप से प्रबन्ध किया। कहते हैं कि अकबर ने तीन बार काश्मीर की यात्रा की थी। जब वह तीसरी बार वहाँ गया तो टोडरमल के परामर्श देने पर उसने हरि पर्वत पर एक क़िला बनवाया और एक बहुत ही भारी क़िला उस पर्वत के ढलान पर उसके चारों तरफ़ बनवाया। ये दोनों आज तक विद्यमान हैं। इस महान् दुर्ग को सम्राट् ने उन लोगों को फिर से वापस बुलाने के उद्देश से बनवाया था जो चक्क सुलतानों के अत्याचारों से त्रस्त होकर भाग गए थे। उसने हर विवाहित स्त्री को छः आने और कुँवारी को चार आने प्रतिदिन मजदूरी देकर, हजारों मजदूरों को बुलवाया और जो पुराने अत्याचारों से पीड़ित, भूखे, नंगे हो गए थे उनकी हर प्रकार से सहायता की। अकबर ने काश्मीरी लोगों के पहनावे में कुछ परिवर्तन किए और वहाँ के व्यवसाय व कारीगरी को प्रोत्साहन दिया। श्रीनगर के पूरब में नगीन झील के निकट नसीम बाग भी अकबर ने लगवाया, जिसके चिनार के गगनचुम्बी वृक्ष आज भी उस सम्राट् के वैभव के प्रतीक विद्यमान हैं। अकबर ने काश्मीर के रास्तों पर कई बड़ी-बड़ी सराएँ बनवाईं जो सम्राटों तथा अन्य यात्रियों के आराम के लिए आवश्यक थीं। इसी समय राजा मानसिंह को बंगाल-बिहार की सूबेदारी, तथा सादिक खाँ को स्वात-बाजौर का शासन सौंपा गया। सादिक ख़ाँ को विशेषतया वहाँ के दुर्दमनीय अफ़ग़ानों को काबू में रखने के उद्देश से नियुक्त किया गया था। इस्माईल कुलीखाँ को स्वात-बाजौर से गुजरात बदला गया और वहाँ के सूबेदार

कलीजखाँ को केन्द्र में बुलवाकर अर्थ विभाग में राजा टोडरमल की सहायता करने के लिए लगाया गया।

**सिन्ध और मुल्तान**—१५६० में अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना को सिन्ध और मुल्तान सूबे का नाज़िम बनाकर भेजा गया और उसे बिलोचिस्तान की विजय करने का काम भी सौंपा गया। उसकी सहायता के लिए और बहुत से सैनिक व अमीर भेजे गए। जब से सम्राट् लाहौर आया था, ठट्टा का शासक जानीबेग आदर-सूचक चिट्ठियाँ तथा राजकर भेजता रहा था, परन्तु वह स्वयं कभी भी दरबार में उपस्थित न हुआ था। ख़ानख़ाना को जानीबेग के विरुद्ध सफलता न मिली और पीछे हटना पड़ा। तब उसने सहवान पर हमला किया और यहाँ दोनों दलों में भयानक युद्ध हुआ जिसमें टोडरमल का बेटा धारू (गोवर्धनधारी) बड़ी वीरता से लड़ता हुआ मारा गया, परन्तु शाही सेना की जीत हुई। जानीबेग रणक्षेत्र से भाग-कर सिन्ध के किनारे पहुँचा। ख़ानख़ाना ने वहाँ उसे फिर जा घेरा। थोड़े दिन बाद उसकी सेना भूखों मरने लगी और प्रतिदिन उसके सैकड़ों आदमी मरने लगे। तब जानीबेग ने हार मानी और सम्राट् की सेवा में उपस्थित होने का वचन दिया। इसकी तैयारी के लिए उसने तीन महीने का अवकाश माँगा जो उसे दे दिया गया। सहवान का किला जानीबेग ने ख़ानख़ाना को अर्पण कर दिया और अपनी बेटी का उसके बेटे मिर्ज़ा ईरज से विवाह कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने बीस बड़े-बड़े पोत (जहाज़) भी ख़ानख़ाना को भेंट किए। इस विजय की सूचना पाकर सम्राट् को बड़ा हर्ष हुआ। इसी समय सम्राट् बड़े उल्लसित मन से काश्मीर-यात्रा पर गया और वहाँ कुछ दिन ठहरकर तथा साम्राज्य के शासन की नवीन व्यवस्था करके १५६२ में लाहौर वापस आया।

**बिलोचिस्तान व कन्धार**—१५६५ के आरम्भ में प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मीर मासूम, जो बड़ा योग्य सैनिक भी था, सीबी के किले का घेरा डालने के लिए भेजा गया। यह किला क्वेटा के दक्षिण-पूरब में उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी शृंखला के अन्दर और डेरा ग़ाज़ीखा से लगभग १५० मील पश्चिम की तरफ स्थित है। यह बड़ा प्राचीन गढ़ है और उसी प्रकार बोलान के दर्रे के पूर्वी मुहाने की रक्षा करता है जिस प्रकार उत्तर में खैबर दर्रे की रक्षा जमरूद और पेशावर के किले करते हैं। इस किले पर अफ़गानों का अधिकार था परन्तु साम्राज्य की रक्षण-योजना को पूरी तरह दृढ़ करने के लिए उसपर अधिकार होना अत्यन्त आवश्यक था। मीर मासूम ने सीबी पर आक्रमण करके उसके अफ़ग़ान फिरकों को पूरी तरह परास्त किया और उनको किला छोड़ देने पर मजबूर किया। मुग़ल सम्राट् का दबदबा और प्रताप इन उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर पहले ही फैल चुका था। सीबी की विजय से उसमें और भी वृद्धि हुई और समस्त बिलोचिस्तान व मकरान समुद्र के किनारे तक और उत्तर में कन्धार तक मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। उसी वर्ष कन्धार भी बिना युद्ध किए ही सम्राट् के अधिकार में आ गया। कन्धार का दुर्गपाल नाम के लिए सफवी सम्राट् के

अधीन था पर वस्तुतः लगभग स्वतन्त्र था। इस समय वह अपने घरेलू झगड़ों से घिरा हुआ था और उज़बक सुलतान की शक्ति बढ़ जाने से बहुत चिन्तित था। अतएव अपनी रक्षा के लिए उसने अकबर के पास सन्देश भेजा कि वह अपने किसी सेनापति को कन्धार के दुर्ग की रक्षा के लिए नियुक्त कर दे। सम्राट् ने अपने विश्वस्त सैनिक शाहबेग को इस कार्य के लिए भेजा। इस प्रकार कन्धार भी मुग़ल-साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

उपर्युक्त विवरण से हमने देखा कि १५९५ तक उत्तर-पश्चिम सीमा की आन्तरिक रेखा पूरी तरह सुरक्षित हो गई थी। यह अकबर की इतनी बड़ी कार्यवाही थी कि इससे उसके समकालीन सभी नरेशों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। फोन नोर (Von-Noer) लिखता है कि 'उज़बक़ सुलतान अब्दुल्ला ने अकबर महान् के इस अद्वितीय बल और प्रताप को देखकर उस पर आक्रमण करना तो दूर कदाचित् ईश्वर का धन्यवाद इसलिए किया होगा कि अकबर ने शाह अब्बास सफवी से एका करके उस पर आक्रमण करने की न सोची। मुग़ल सम्राट् से घनिष्ठ मित्रता करने के लिए अब्दुल्ला ने उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने का प्रस्ताव किया किन्तु अकबर ने इसको अस्वीकार कर दिया।'

**उड़ीसा की विजय**—सम्राट् अकबर ने उत्तर-पश्चिम में १० वर्ष से अधिक व्यतीत किए और जब तक उस क्षेत्र का कार्य पूरी तरह समाप्त न हो गया वह वहाँ से न हटा। जब वह १५९५ के बाद राजधानी लौटा तो उत्तर-पश्चिम में साम्राज्य की सीमा सफवी साम्राज्य व उज़बक साम्राज्य से जा मिली थी। पूरब की तरफ इन्हीं दिनों मानसिंह उत्तर भारत के रहे-सहे हिस्सों को विजय करने का काम पूरा कर रहा था। उस प्रदेश पर अब तक अफ़ग़ानों का अधिकार था। साथ ही कुछ छोटे-छोटे हिन्दू जमींदार भी विद्यमान थे। मानसिंह ने कुतलूखाँ अफ़ग़ान के बेटों को, जो उड़ीसा पर शासन कर रहे थे, युद्ध करके नष्ट किया और साम्राज्य में संयुक्त कर लिया। उड़ीसा को बंगाल सूबे में मिला दिया गया।

इन्हीं दिनों मानसिंह ने पूर्णिया, ताजपुर और दरभंगा के ज़िलों को अफ़ग़ानों से तथा गया ज़िले को उसके हिन्दू ज़मींदार से छीना। साथ ही खड़गपुर के राजा संग्रामसिंह तथा गिद्धौर के राजा पूरनमल को भी सम्राट् के अधीन किया। इन सब विजयों के बाद उत्तर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सम्राट् अकबर का निर्विवाद आधिपत्य स्थापित हो गया। थोड़े ही समय बाद अकबर ने दक्षिण की ओर साम्राज्य-विस्तार की नीति को क्रियात्मक रूप देना आरम्भ किया।

**दक्षिण की विजय**—जिस समय अकबर उत्तर-पश्चिम सीमा को सुसंगठित करने में लगा हुआ था उन्हीं दिनों उसका ध्यान दक्षिण की तरफ़ भी गया हुआ था। अति प्राचीनकाल से उत्तर-भारत के बड़े-बड़े सम्राट् दक्षिण-भारत को भी अपने साम्राज्य में लाने का प्रयत्न करते आए थे। मौर्य, गुप्त तथा हर्ष की साम्राज्यवादी नीति से इतिहास के सभी विद्यार्थी परिचित हैं। मुस्लिम काल में इसी नीति का

अनुकरण तुर्कों ने किया था और ख़ल्जी व तुग़लक सुलतान इसमें सफल भी हुए थे। तुग़लक साम्राज्य के विच्छेद के बाद उत्तर भारत के किसी नरेश को न ऐसा अवसर मिला और न उसमें इतनी योग्यता ही थी कि वह दक्षिण पर अधिकार करने का प्रयास कर सकता। किन्तु यह प्राचीन मर्यादा विस्मृत न हो गई थी। अकबर सरीखे महान् सम्राट् के लिए स्वाभाविक था कि इस मर्यादा को पुनः जागृत करे।

सामान्य रूप से विन्ध्य मेखला तथा नर्मदा व ताप्ती नदियों की रेखा को उत्तर व दक्षिण को विभाजित करनेवाली सीमा समझा जाता था। परन्तु यह विभाजक रेखा कभी भी देश के सांस्कृतिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन को विभाजित न कर पाई थी। यद्यपि राजनीतिक रूप से एक छत्र सार्वदेशिक चक्रवर्ती राज्य यदा-कदा ही स्थापित हो पाया था तथापि इस क्षेत्र में भी उसके भिन्न-भिन्न प्रादेशिक नरेशों के परस्पर सम्बन्ध बने रहते थे। तुर्की शासन-युग में भी ख़ानदेश, गुजरात, मालवा, गौंडवाना व उड़ीसा के राज्य निरन्तर दक्षिण भारत के राजनीतिक जीवन में भाग लेते रहते थे।

**दक्षिण की राजनीतिक दशा**—जिस घड़ी दिल्ली और आगरे के सिंहासन पर अकबर का पदार्पण हुआ उस समय दक्षिण में तीन मुख्य शक्तियाँ परस्पर संघर्ष में जुटी हुई थीं। बहमनी राज्य से निकले हुए पाँच मुसलिम राज्य तथा विजयनगर-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँचकर बड़ी शीघ्रता से अवनति की ओर जा रहे थे। इन्हीं दिनों भारत के पश्चिमी तट पर कुछ पाश्चात्य व्यापारियों की बस्तियाँ अपने समुद्री बल के आधार पर दृढ़ता से स्थापित हो गई थीं और भारतीय राजाओं से सम्बन्ध जोड़ रही थीं; इनका पूरा उल्लेख पीछे किया जा चुका है। १५६५ में विजयनगर साम्राज्य के विनाश से मुसलिम सुलतानों की शक्ति बहुत बढ़ती हुई जान पड़ी। १५७४ में अहमदनगर के सुलतान ने बरार राज्य को हड़प लिया। परिणाम यह हुआ कि ख़ानदेश आदि पड़ोस के शासक इस नीति से बहुत शंकित हुए और इनमें परस्पर बड़े झगड़े शुरू हो गए। जब अकबर गुजरात की चढ़ाई पर १५७४ में नर्मदा-तट तक पहुँचा था, दक्षिण की रियासतों के यह झगड़े उसके निकट ही हो रहे थे। परन्तु अभी उपयुक्त अवसर न आया था कि वह इनके मामलों में हस्तक्षेप कर सकता।

**दक्षिण राज्यों को अकबर के दूत**—१५९१ में सम्राट् अकबर उत्तर-भारत के मामलों से काफ़ी छुट्टी पा चुका था। इस वर्ष उसने अपने चार दूतों को दक्षिण के सुलतानों के पास यह सन्देश लेकर भेजा कि वे मुग़ल-सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करें। फ़ैज़ी ख़ानदेश के शासक राजा अलीख़ाँ के पास गया, ख़्वाजा अमीनुद्दीन अहमदनगर, मीर मुहम्मद हुसेन मशदी बीजापुर और मिर्ज़ा मसूद गोलकुण्डा गया। ख़ानदेश के राजा अलीख़ाँ के सिवा अन्य सबने अकबर की माँग को अस्वीकार किया, परन्तु गोलकुण्डा और बीजापुर ने राजदूतों का उचित सत्कार किया और सम्राट् को उत्तम वस्तुएँ भेंट के रूप में भेजीं तथा आदर के भाव प्रकट

किए। इसके प्रतिकूल अहमदनगर के सुलतान बुरहान निज़ामशाह ने उनका बड़ा निरादर किया। ख़ानदेश का महत्त्व एक प्रकार से सर्वोपरि था क्योंकि उसके अन्दर असीरगढ़ का विशाल क़िला था जो दक्षिण जानेवाले राजमार्ग का पहरेदार था अतएव खानदेश के शासक का करद सहयोगी बन जाना बहुत ही लाभदायक हुआ। राजा अलीखाँ की इस नीति का एक कारण यह भी था कि बीजापुर और अहमदनगर के सुलतान अपने पड़ोसी निर्बल राज्यों को निगल जाने की नीति चला रहे थे। इससे वह शंकित था। तब मुग़ल-सम्राट् की शरण में ही जाना अधिक श्रेयस्कर था।

**अहमदनगर पर चढ़ाई**—दक्षिण के सुलतानों के अन्तिम इतिहास का उल्लेख किया जा चुका है। इस समय केवल तीन बड़े वंश बाकी थे। ये तीनों बड़ी जल्दी अवनति की ओर चले जा रहे थे। उनमें परस्पर ऐक्य भी न था, प्रत्युत परस्पर विद्वेष और लड़ाई-झगड़ों में वे अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे। बुरहान निज़ामशाह के सम्राट् के राजदूतों के प्रति दुर्व्यवहार से अकबर का क्रोधित होना स्वाभाविक था। उसने राजकुमार मुराद और अब्दुर्रहीम खानखाना को दक्षिण पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। बुरहानुलमुल्क १५९४ में मर गया। उसके बाद निज़ामशाही में इतने घरेलू झगड़े शुरू हो गए कि चार पार्टियाँ बन गईं और सबने अपने पिट्ठुओं को गद्दी पर बिठाने का प्रयास करना आरम्भ किया। दक्षिणी पक्ष का नेता मियाँ मंजूखाँ था। घरेलू कलह से तंग आकर उसने मुराद, अब्दुर्रहीम खानखाना व मालवा के सुलतान से सहायता की याचना की। अकबर ने ख़ानदेश के सुलतान राजा अलीखाँ को भी शाही सेना के साथ जाने का आदेश दिया। परन्तु जब तक मुग़ल सेना अहमदनगर पहुँची, मंजूखाँ ने अन्य दलों को हरा दिया था। अब उसे मुग़ल सेना को बुलाने पर पछतावा हुआ और उसने सब दलों के नेताओं को मिलाकर मुग़लों से युद्ध करके दक्षिण की स्वाधीनता की रक्षा करने का विचार किया। इन झगड़ों के आरम्भ में हुसेन निज़ामशाह प्रथम की बेटी चाँदबीबी, जो बीजापुर के अली आदिलशाह की बेवा थी, अहमदनगर चली आई थी और इब्राहीम निज़ामशाह के बालक पुत्र बहादुर को सुलतान बनाने के पक्ष में थी। मियाँ मंजू ने चाँदबीबी को तो अहमदनगर की रक्षा करने का काम सौंपा और स्वयं बीजापुर से सहायक सेना लाने के लिए चला गया। चाँदबीबी ने मंजू के परामर्श के अनुसार सहायक सेनाओं के आने तक ठहरे रहना उपयुक्त न समझा और एक योग्य, अनुभवी अफ़्रीकी सेनानायक, शमशेरखाँ की सहायता व परामर्श से मुग़लों के विरुद्ध कार्यवाही शुरू कर दी। मंजू के भाग जाने से अन्य अमीरों को उसपर संदेह होने लगा था। अतः जब चाँदबीबी ने ऐसी वीरता से शत्रु से युद्ध करने की ठानी तो सब लोग उसके समर्थक व सहयोगी हो गए। मुग़लों ने बड़े भयानक ढंग से अहमदनगर का घेरा आरम्भ किया। चाँदबीबी ने विभिन्न पक्षों के नेताओं से अपील की कि देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन सबको एक हो जाना चाहिए। साथ ही उसने बीजापुर

व गोलकुण्डा को सहायता के लिए पत्र लिखे। उधर मंजूखाँ भी गोलकुण्डा, बीजापुर और अहमदनगर के अमीरों का संघ, मुग़लों के विरुद्ध, बनवाने का प्रयत्न कर रहा था। मुराद ने बड़ी योग्यता से अहमदनगर के किले को तोड़ने की योजना की। उसने सामान्य प्रजा को एक घोषणा द्वारा यह आश्वासन दिलाया कि यदि वे मुग़ल सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लेंगे तो उनके साथ कोई अत्याचार, लूट-पाट आदि न किया जाएगा। परन्तु उसका तीर न चल पाया। प्रजा उत्तरी विजेताओं से बड़ी भयभीत थी। इसके अतिरिक्त मुग़ल-सेनापतियों में भी दलबन्दी और परस्पर वैमनस्य था। खानखाना और शाहबाज़खाँ पर यह सन्देह था कि वे युवराज सलीमशाह के पक्षपाती थे और नहीं चाहते थे कि अहमदनगर का घेरा सफल हो, क्योंकि उससे मुराद की ख्याति बढ़ती। उधर कुछ गुजरात के सेनानायकों ने मुग़ल सेना की रसद बंद करना और उसे रास्ते में लूट लेना शुरू कर दिया था। खानदेश का सुलतान भी गुप्त रूप से दक्षिणी संघ से सहानुभूति रखता था और अहमदनगर को रसद भिजवाता था। ऐसी विपरीत दशा में भी मुराद बड़े धैर्य से दिन-रात अहमदनगर की प्राचीरों पर गोलाबारी करा रहा था कि उसे मालूम हुआ कि मंजूखाँ की याचना पर बीजापुर और गोलकुंडा के सुलतान से ७०,००० सेना अहमदनगर की सहायता के लिए रवाना कर दी है। यह सुनकर मुराद ने जी-तोड़ कोशिश की कि सहायक सेना के पहुँचने से पहले ही किसी प्रकार किले को ले लिया जाए। गोला-बारूद की सुरंगों से किले की दीवार को दो जगह उड़ाया गया, किन्तु दूसरी ओर रक्षा-कार्य का संचालन भी आश्चर्यजनक वीरता तथा योग्यता से चाँदबीबी स्वयं कर रही थीं। उस वीरांगना को तलवार लिए स्वयं रणक्षेत्र में देखकर अहमदनगर की सेना ने जान की बाज़ी लगा दी। तोप, बन्दूक व हाथ के गोलों की वर्षा मुग़लों पर होने लगी। चाँदबीबी जब तक किले की टूटी हुई दीवार फिर से न बन गई तब तक वहीं डटी रही। मुग़ल भी सुबह से रात तक अद्भुत जोश से लड़े पर उन्हें अन्त में असफल होकर घेरा उठा लेना पड़ा। दोनों सेनाएँ कृश व क्लान्त हो चुकी थीं; दोनों ही सुलह कर लेना श्रेयस्कर समझती थीं। किले के अन्दर भी खान-पान की सामग्री समाप्त हो गई थी और चाँद सुलतान किसी-न-किसी तरह सुलह कर लेने के लिए अत्यन्त चिन्तित थी। जब उसके प्रतिनिधि अफ़ज़लखाँ ने बहुत-सी वस्तुएँ मुग़ल सेनानायकों को भेंट कीं और बराबर अर्पण करने को कहा, तो फिर इनकी तरफ़ से भी अधिक हठ न किया गया। बहादुर को अहमदनगर के बाकी प्रदेशों का स्वतन्त्र सुलतान मान लिया गया। बस सन्धि के उपरान्त, मुराद और ख़ानेख़ानान ने बरार पर अधिकार किया और वहाँ कई स्थानों पर मुग़ल-सेना-शिविर (छावनियाँ) स्थापित किए।

**सूपा का युद्ध**—इसके बाद चाँदबीबी का प्रभाव जाता रहा। अमीरों ने चाँद के परामर्श के विपरीत ५०,००० सेना एकत्र करके मुग़लों को निकालने के लिए आक्रमण कर दिया। ख़ानेख़ानान भी २०,००० सेना के साथ आगे बढ़ा। गोदावरी

तट पर सूपा के निकट दोनों दलों में घमासान युद्ध हुआ। दक्षिण की सेना में बीजापुर, गोलकुण्डा व अहमदनगर तीनों की सेनाएँ थीं। मुग़ल सेना में राजा अलीख़ाँ तथा पन्ना का राजा रामचन्द्र भी था। दक्षिणी सेना का मुख्य सेनापति सोहिल दानवों के समान लड़ा पर अन्त में आहत होकर गिर पड़ा। ख़ानख़ाना की जीत हुई।

**सम्राट् स्वयं दक्षिण क्षेत्र में**—मुराद और ख़ानख़ाना का वैमनस्य इतना भयानक रूप ले रहा था कि अकबर ने झगड़े को सुलझाने के लिए १५९७ में अबुल-फ़ज़ल को भेजा। ख़ानख़ाना को आगरे वापस बुला लिया गया परन्तु १५९८ में मुराद बहुत शराबख़ोरी करने के कारण बीमार होकर मर गया। अकबर को बेटे की जुदाई से बहुत ही दुःख हुआ। तब उसने स्वयं दक्षिण जाकर उसे जीतने का निश्चय किया। इस अवकाश में निज़ामशाही सेनानायकों ने अपनी खोई भूमि का अधिक भाग फिर ले लिया था। इसपर अकबर ने ख़ानख़ाना को इस बार राजकुमार दानियाल के साथ दक्षिण भेजा। उनको आज्ञा दी गई कि निज़ामशाह के समूचे राज्य पर अधिकार कर लें। अगले वर्ष, १५९९ में, बादशाह ने स्वयं भी, राज-काज युवराज सलीम को सौंपकर दक्षिण की तरफ प्रस्थान किया।

**असीरगढ़ की विजय**—जब दानियाल और ख़ानख़ाना असीरगढ़ के निकट पहुँचे तो राजा अलीख़ाँ का बेटा मीरानबहादुर ख़ाँ खानदेश का सुलतान था। उसने अपने पिता की विनीत नीति के प्रतिकूल विरोध व स्वाधीनता की भावना का प्रदर्शन किया। अतएव दानियाल ने अहमदनगर पहुँचने से पहले मीरानबहादुर से मैत्री कर लेना आवश्यक समझा। इस अभिप्राय से वह गोदावरी-तट पर प्रतिष्ठान में ठहरा। परन्तु अकबर ने आदेश भेजा कि वह स्वयं खानदेश का प्रश्न तय करने आ रहा है, इसलिए राजकुमार और ख़ानख़ाना अविलम्ब अहमदनगर चले जाएँ। वे ३०,००० सेना के साथ अहमदनगर राज्य में घुसते चले गए। उनके आते ही दक्षिणी सैनिक भाग निकले। इस बार बिना युद्ध किए ही अहमदनगर का अधिक भाग विजेताओं के अधिकार में आ गया। चाँदबीबी ने फिर बड़े साहस से नगर की रक्षा करने की योजना की। किन्तु अब उसका सैन्यबल बहुत कम हो गया था। उसने बचने की कोई आशा न देखकर मुग़लों से सन्धि करनी चाही, पर अमीर लोग इसके विरुद्ध थे। उन्होंने उसपर मुग़लों के साथ गुप्त रीति से सहानुभूति रखने का अभियोग लगाकर उस वीरांगना का वध कर डाला। मुगल सेना ने १८ अगस्त (१६००) को सुरंग लगाकर क़िले की दीवार के ७० गज़ टुकड़े को उड़ा दिया और एकदम उसके अन्दर घुस पड़े। अहमदनगर में अन्य बहुत-से सामान के साथ एक बहुमूल्य पुस्तक-भंडार भी विजेताओं के हाथ आया।

अहमदनगर के छिन जाने से निज़ामशाही को धक्का तो बहुत बड़ा लगा पर उसका अन्त न हुआ। राजा के हिमायतियों ने दौलताबाद को राजधानी बनाकर बुरहानशाह के एक पौत्र मुर्तजा निज़ामशाह द्वितीय को सुलतान घोषित किया। उसका

मुख्य समर्थक हब्शी मलिक अम्बर था जिसका नाम दक्षिण के इतिहास में अपनी बहुमुखी योग्यता व प्रतिभा तथा सच्ची स्वामिभक्ति के लिए बहुत प्रसिद्ध हुआ। मलिक अम्बर का प्रतिपक्षी एक दक्षिणी अमीर राजू नामक था जो अपने को मुर्तजा द्वितीय का सच्चा हितैषी कहता था। इन दोनों के अधिकार में निज़ामशाही राज्य के थोड़े-थोड़े जिले थे। अब्दुर्रहीम खानखाना भली-भाँति इनके परस्पर वैमनस्य से परिचित था। अतएव उसने मलिक अम्बर के जिलों पर अधिकार करने के लिए अपनी सेना भेजी। परन्तु मलिक अम्बर ने मुग़लों पर आक्रमण करके उनके कुछ थाने छीन लिए। तदनन्तर नान्देर के निकट एक लड़ाई में वह घायल हुआ और फिर अच्छा हो जाने के बाद उसने खानखाना से अपने राज्य की सीमा के बारे में समझौता कर लिया।

**असीरगढ़ का घेरा**—अकबर ने खानदेश के सुलतान मीरानबहादुर को आदेश भेजा कि वह उसका आधिपत्य स्वीकार करे। किन्तु मीरानबहादुर ने यह बात न मानी। अतएव बादशाह बुरहानपुर पहुँचा और असीरगढ़ का घेरा डालने के लिए अपने सैनिकों को आज्ञा दी। असीरगढ़ का क़िला बुरहानपुर से केवल ६ मील उत्तर की तरफ ताप्ती नदी से लगभग दो मील के फ़ासले पर एक बड़े कठोर पथरीले पर्वत-शिखर पर स्थित है। उसके निकट मालीगढ़ और कमरगढ़ के दो और क़िले उसके सहायक हैं। दक्षिण के मार्ग का द्वार इन्ही क़िलों को समझना चाहिए। मीरान बहादुर असीरगढ़ को अजेय समझता था और इसी कारण वह मुग़ल-सम्राट् की अधीनता स्वीकार करना न चाहता था। अहमदनगर की विजय से अकबर अपनी सारी शक्ति लगाकर असीरगढ़ का घेरा डालने के लिए और भी प्रोत्साहित हो गया। आस-पास के क़िलों और पहाड़ी टीलों पर मुग़लों का अधिकार हो जाने से असीरगढ़ के बाहरी रक्षा-केन्द्र न रहे। क़िले के अन्दर भी उसके अमीरों में एक मत न था। उसकी सेना का वेतन बहुत दिन से न दिया गया था और रसद भी खतम होती जा रही थी। एक भूल बहादुरखाँ ने यह की कि बहुत-से शहरों के लोगों को उनके मवेशियों समेत आश्रय के लिए क़िले में घुसा लिया था। क़िले के अन्दर की स्वच्छता का उपयुक्त प्रबन्ध न था। परिणाम यह हुआ कि क़िले के अन्दर मरी फैल गई जिससे बहुत-से लोगों के हाथ-पैर और आँखें मारी गईं। इस दैवी आपत्ति से लोग क़िले के अन्दर अत्यन्त दुःखी व हताश होने लगे और बहादुरशाह का हठ उनको बहुत खलने लगा। इधर अकबर जल्दी-से-जल्दी इस काम को निबटाकर राजधानी वापस जाना चाहता था। उसने क़िले के मुख्य रक्षकों को धन देकर मोल लेने की चाल भी चली। जब बहादुर ने यह देखा कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र खड़ा हो रहा है तो उसने अपनी सेना-परिषद् को बुलाकर उससे परामर्श किया कि किस प्रकार उस परिस्थिति का मुक़ाबला किया जाए। इन लोगों ने पूरी तरह विचार करके यह निश्चय किया कि यदि अकबर उसके राज्य, क़िलों आदि को उसी के अधिकार में रहने दे और क़िले की सेना की रक्षा तथा मान-प्रतिष्ठा आदि का वचन दे तो बहादुरखाँ उसका आधिपत्य स्वीकार कर लेगा। यह प्रस्ताव मुग़ल-सम्राट् के पास भेजा गया

श्रौर उसने वास्तविक स्थिति को पूर्णरूप से समझने के लिए रामदास को क़िले के अन्दर भेजा। उसके पास सुलतान बहादुर का सर्वोच्च अमीर याक़ूत का बेटा मुकर्रबखाँ सम्राट् के पास उन प्रस्तावों को नियमित रूप से लेकर उपस्थित हुआ। सम्राट् ने अन्य सब प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया परन्तु क़िले को अर्पण करने पर आग्रह किया। तब बहादुर के परामर्शदाताओं ने उसे क़िला सौंप देने और सम्राट् के पास उपस्थित होकर अभिवादन करने की सलाह दी, यद्यपि याक़ूत इसके सर्वथा विरुद्ध था। परन्तु बहादुरखाँ ने मुकर्रब की राय मान ली और अकबर के पास उपस्थित होकर समुचित आदर-मान किया। सम्राट् ने उसको हिरासत में रख दिया।

बहादुर को सम्राट के दबाव से याक़ूत के नाम पत्र लिखना पड़ा कि वह क़िले को बादशाह को सुपुर्द कर दे। याक़ूत ने इस बात पर मुकर्रब को बहुत बुरा-भला कहा और अपने स्वामी बहादुर को बादशाह के हाथों में पहुँचा देने का सारा दोष उस पर रखा। याक़ूत ने फिर यह भी प्रयत्न किया कि क़िले के अमीरों को एकत्र करके उसकी रक्षा करे। परन्तु जब किसी ने उसकी बात न सुनी तो स्वाधीनता के पुजारी इस बूढ़े मलिक ने आत्महत्या कर ली। उसकी मृत्यु होते ही क़िले की चाबियाँ जनवरी १६०१ में अबुलफ़ज़ल के बेटे अब्दुलरहमान के द्वारा बादशाह के पास भेज दी गईं। सुलतान बहादुर और उसके परिवार को ग्वालियर के क़िले में भेज दिया गया। फ़ारुकी वंश का इस प्रकार अन्त हो गया और ख़ानदेश साम्राज्य का एक सूबा बना लिया गया।

इस घटना के प्रसंग में कुछ आधुनिक लेखकों ने, विशेषकर वी० स्मिथ ने, केवल जेस्वीट लेखकों के आधार पर अकबर को अत्यन्त निकृष्ट व घृणित विश्वास-घात का दोषी ठहराया है और साथ ही इस घटना का अबुलफ़ज़ल का वृत्तान्त सर्वथा मिथ्या और चापलूसी पर आश्रित बतलाकर उसका भी बड़ा तिरस्कार किया है। परन्तु नई खोज से पेन महोदय (C. H. Payne) ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिन जेस्वीट लेखकों को स्मिथ ने प्रामाणिक मानकर अन्य सब प्रमाणों को झूठा बतलाया था वे स्वयं विश्वसनीय नहीं हैं और न उनको स्मिथ ने स्वयं देखा था। यह सभी लेखक मानते हैं कि क़िले के अन्दर मरी फैलना सुलतान बहादुर के अवनत होने का एक मुख्य कारण था। इस घटना का उल्लेख करने में अबुलफ़ज़ल ने कोई अत्युक्ति नहीं की। प्रत्युत् उसने बड़ी सचाई के साथ यह बतला दिया है कि किले को जल्दी से जीतने के लिए सोने की कुन्जी अर्थात् घूँस से भी काम लिया गया था। दूसरी ओर शायद मुक़र्रबख़ाँ ने बहादुरखां को मुग़ल सम्राट् की पूरी शर्तें न बतलाकर केवल उसको यही बतलाया कि वह स्वयं उपस्थित होकर समझौता कर ले। दूसरी ओर अकबर और ही आशा लिए बैठा था। अतएव जब बहादुर ने उसकी शर्तों को मानने में आनाकानी की तो अकबर को उसे नज़रबन्द करने के सिवा और कोई चारा न दिखाई पड़ा। जो हो, इतना निश्चित है कि जेस्वीट लेखकों का वृत्तान्त

तनिक भी प्रामाणिक नहीं है। और उनका अकबर व अबुलफ़ज़ल पर लगाया हुआ आरोप निराधार है।

**युवराज सलीम का विद्रोह— अकबर की मृत्यु**—कह चुके हैं कि दक्षिण जाते समय अकबर सलीम को अपना स्थानापन्न नियुक्त कर गया था। जान पड़ता है कि सलीम अब राजगद्दी पर शोभायमान होने के लिए अत्यन्त उतावला हो गया था। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि सलीम की भोग-विलास तथा ऐशो-आराम की आदतें, उसका बेसुध मदिरापान व निकम्मे लोगों का संसर्ग बादशाह को पसन्द न था और इस कारण उनमें परस्पर मतभेद बढ़ता जाता था। बदायूँनी के आधार पर यह भी सन्देह किया जाता है कि १५९१ में जब अकबर को बहुत सख्त उदर-शूल हुआ था तो सलीम ने उसे विष दिलवा दिया था। सन् १६०० में जब अकबर असीरगढ़ के पास था, बंगाल के एक अफ़ग़ान अमीर ने विद्रोह किया। बादशाह ने सलीम को आज्ञा भेजी कि उसका जाकर दमन करे। सलीम ने बादशाह की अवज्ञा करके बिहार के तीस लाख रुपये के राजस्व (revenue) पर अधिकार कर लिया और इलाहाबाद में जाकर खुले तौर पर विद्रोह कर दिया। अकबर असीरगढ़ के मामले को तय करके १६०१ के मई मास में आगरा पहुँचा। उस समय उसे सूचना मिली कि सलीम ३०,००० घुड़सवार सेना के साथ इटावे तक पहुँच गया है। अकबर ने उसे आज्ञा भेजी कि वह बंगाल और उड़ीसा का शासन संभाले। सलीम ने बादशाह के आदेश की परवाह न की और इलाहाबाद में जमा रहा तथा अपने नाम के सिक्के भी बनवा डाले। स्वाभाविक ही था कि इस विचित्र परिस्थिति से किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अकबर ने अबुलफ़ज़ल को दक्षिण से वापस बुलवाया। दुर्भाग्यवश सलीम ने, जो अबुलफ़ज़ल से द्वेष करता था, रास्ते में ही वीरसिंह बुन्देला के हाथों उसे मरवा डाला। इस सूचना से अकबर क्रोध तथा क्षोभ से विह्वल हो गया। तीन दिन तक उसने दीवाने आम में दर्शन न दिए। वीरसिंहदेव को पकड़ने का प्रयत्न असफल रहा और सलीम दो वर्ष तक पिता की सेवा में न आया। अन्त में गुलबदन बेगम की लड़की सलीम बेगम, जो बैरमखाँ की बेवा थी और जिससे अकबर ने विवाह कर लिया था, के समझाने-बुझाने से पिता-पुत्र में समझौता हुआ। अकबर ने इस हद तक सलीम को आश्वासन दिया कि अपनी पगड़ी उतारकर उसके सर पर रख दी। परन्तु सलीम पर इसका कोई असर न हुआ और उसका रवैया न बदला। १६०३ में अकबर ने सलीम को मेवाड़ पर चढ़ाई करने का आदेश दिया। परन्तु उसने काफी सेना न होने के बहाने से वहाँ जाने से इन्कार कर दिया। अकबर उसके मन की बात जानता था। उसने सलीम को कहा कि 'तुम इलाहाबाद जाओ और आनन्द-मंगल करो।' सलीम ने वहाँ जाकर फिर एक स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार करना शुरू किया। अकबर को यह भी मालूम हुआ कि सलीम मदिरापान आदि दुर्व्यसनों तथा कुसंगति से अपने को बरबाद कर रहा है। जब मानसिंह के बंगाल को शान्त कर देने की खबर उसे मिली तब बादशाह ने इलाहाबाद जाकर स्वयं

सलीम को होश में लाने का निश्चय किया, परन्तु उसकी माता मरियम मकानी की मृत्यु के कारण उसे रुकना पड़ा। जब सलीम को बादशाह के संकल्प का पता चला, तो वह अपनी दादी के मरने के बहाने से स्वयं आगरे आ गया और क्षमा-याचना की। सभा में तो अकबर ने उसका उचित स्वागत किया परन्तु घर में आकर उसे खूब डाँटा और उसकी मदिरा व अफ़ीम बन्द करके उसे हिरासत में रख दिया। दस दिन बाद उसे मुक्त किया गया और दरबार में आने की आज्ञा मिली। ११ मार्च १६०५ को कुँवर दानियाल की ३३ बरस की उम्र में मृत्यु हो गई। सम्राट् का स्वास्थ्य भी कई वर्ष से पेचिश के कारण बराबर गिरता जा रहा था। अक्तूबर मास में उसे फिर पेचिश का दौरा पड़ा और उसी मास की १६ तारीख को उसका निधन हो गया। इस प्रकार इस अपूर्व प्रतिभाशाली, मेधावी, कर्मठ, उदार-चित्त, महान् प्रतापी सम्राट् ने भारत में एक मानवीय साम्राज्य का भवन खड़ा करके अपनी जीवन-लीला समाप्त की और अपने उत्तराधिकारियों के लिए न केवल एक विस्तृत, सुदृढ़ व सुख-सम्पत्ति से भरपूर साम्राज्य दे गया, वरन उनके कन्धों पर एक असाधारण राजनीतिक व सांस्कृतिक संस्था की सुरक्षा तथा अभिवृद्धि का भार भी छोड़ गया।

अकबर की अन्तिम बीमारी के कारणों के बारे में बहुत-सी अफ़वाहें उड़ीं। लोगों का संशय था कि सलीम ने उसे विष दिलवा दिया था। इसका कारण यह था कि हकीमअली, जो सम्राट् का इलाज कर रहा था, सलीम का पक्षपाती था। सलीम को उस पर पूरा विश्वास था। मुख्य कारण सलीम की चिन्ता का यह था कि उसे शंका हो गई थी कि अकबर उसके बेटे राजकुमार खुसरो को मनोनीत करना चाहता था। खुसरो के पक्ष में अज़ीज़ कोका व मानसिंह भी थे। अज़ीज़ कोका उसका श्वशुर था और मानसिंह मामा। खुसरो अनुपम सुन्दर तथा असाधारण गुण-सम्पन्न युवक था जिससे सब प्रेम करते थे। राजा मानसिंह और मिरज़ा अज़ीज़ का प्रयत्न सफल न हो पाया। चग़ताई व सैयद अमीरों ने इस बात का घोर विरोध किया कि सलीम के जीवन में उसका बेटा गद्दी पर बैठे। पर उन्होंने सलीम से यह प्रण करवा लिया कि वह 'इस्लाम की रक्षा करेगा पर खुसरो के समर्थकों से बदला न लेगा।' यह वचन लेकर वे सलीम को सम्राट् के पास ले गए। उसकी वाक्शक्ति नष्ट हो चुकी थी परन्तु चेतना पूरी तरह शेष थी। उसने अपने सेवकों को संकेत से आज्ञा दी कि सम्राट् की पगड़ी सलीम को पहना दें। तदनन्तर उसके प्राण-पखेरू इस पार्थिव शरीर को छोड़कर उड़ गए। दरबारियों ने सम्राट् के शव को स्नान कराया और उसके स्वयं निर्माण कराए हुए मक़बरे (सिकन्दरा) में ले जाकर उसे पृथ्वी के अर्पण कर दिया।

•

उनतीस

# अकबर महान के अतिद्वीय पराक्रम का विवरण और मूल्यांकन

( ३ )

**शासन**-व्यवस्था—अकबर के प्रत्येक कार्य के विषय में एक बात याद रखना, उसके कार्य को समझने के लिए परमावश्यक है। (वह जन्म से ही एक जिज्ञासु और उद्योगी के गुण लेकर आया था। प्रत्येक क्षेत्र में नए-नए प्रयोग करना, नए-नए अनुभवों के द्वारा हर वस्तु या संस्था को ग्रहण व समुन्नत करना, उसे बहुत प्रिय था। उसका आध्यात्मिक शरीर उत्कृष्ट मानवीय आदर्शों, आकांक्षाओं व आशाओं, सर्वतोमुखी उन्नति के स्वप्नों तथा क्रियाशीलता के सिद्धान्तों का समूह था। वैयक्तिक अथवा सामाजिक (सामूहिक) किसी भी क्षेत्र में उसे पुरानी संस्थाओं अथवा पद्धतियों से सन्तोष न होता था। वह उनकी गहराई में उतरकर क्रियात्मक रूप से उन सबका अध्यवसाय करता, प्रयोगात्मक विषयों पर निरन्तर प्रयोग करता और प्रत्येक संस्था में संशोधन करके उसमें और उसके साथ जाति में नवजीवन का संचार करता और उसे गतिशील बनाने का प्रयास करता था। इस प्रस्तावना को ध्यान में रखकर ही हम अकबर की राजनीतिक संस्थाओं को समझ सकेंगे। उसने शासन-संस्थान के विविध अंगों को बार-बार संशोधित व परिवर्तित किया था। एक कुशल चिकित्सक के समान अकबर का हाथ राष्ट्ररूपी शरीर के प्रत्येक निर्बल अंग पर पड़ा और उसके स्पर्श से उसमें एक नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हो गई। उसकी कार्य-प्रणाली, नीति एवं व्यवहारात्मक नियम, सब तीन मौलिक सिद्धान्तों से उदित होते थे—सूर्य के समान समभाव व उदारता, मानवमात्र की एकता तथा प्रजा के प्रति उसका दैवी दायित्व एवं शासनाधिकार।)

## मुस्लिम राजतंत्र (polity) का मौलिक सिद्धान्त व विकास

इस्लाम मत और मुस्लिम बिरादरी (उम्मत) का जन्म एक सामाजिक-साम्प्रदायिक सुधारक संस्था के रूप में हुआ था। इस्लाम के प्रवर्त्तक मुहम्मद ने कभी यह सोचा तक न था कि परिस्थिति और प्रारब्ध उसको एक राजनीतिक

संस्था का सूत्रपात कर देने पर मजबूर कर देंगे। इसी से राजनीतिक संस्थाओं सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याओं का रसूल को न ज्ञान था न अनुभव। जब तक मुहम्मद मक्के में रह सका वह केवल एक सामाजिक सुधारक के रूप में कार्य करता रहा। ६२२ ई० में अपने नगरवासियों के असहनीय विरोध के कारण उसे मदीने (यसरीब) जाना पड़ा जहाँ के लोग उसके प्रचार से सहानुभूति रखते थे और उसकी सहायता करने को तैयार थे। मक्के में मुहम्मद की मनोभावना थी कि वह अपने नगर की जनता को मूर्तिपूजा, अनगिनत विवाह, रक्त न्याय (blood feud) आदि सामाजिक कुरीतियों से मुक्त कराने और इनके विरुद्ध उनको सावधान करने आया है। पर मदीने पहुँचते ही परिस्थिति बिलकुल बदल गई। अपने सिद्धान्त तथा अपने थोड़े-से अनुयायियों की रक्षा व उनके भरण-पोषण के लिए उसने उत्तरी देशों से मक्के जानेवाले व्यापारी कारवानों को लूटना आरम्भ किया। इस समय जो मुख्य प्रश्न मुहम्मद के सामने था वह धार्मिक अथवा सामाजिक सुधार का नहीं था, अपितु वह प्रश्न था **आर्थिक और राजनीतिक**। यदि अपने अनुयायियों की रक्षा करना और उनकी सहायता से समस्त अरब को मुसलमान बनाना था, तो इस उद्देश की पूर्ति का और कोई उपाय न था। 'हिजरत' अर्थात् मदीना आने के बाद आखिरी दम तक अर्थात् बराबर दस बरस तक मुहम्मद अरब और पास की यहूदी और ईसाई आबादियों पर आक्रमण व लूट-मार करता रहा। विजित जातियों के साथ प्रायः यह बरताव होता था कि उनके मर्दों को तो कत्ल कर दिया जाता था, उनका माल सब लूट लिया जाता था और उनके स्त्री-बच्चों को दास बनाकर बेच डाला जाता था।

मुहम्मद जुलाई ६३२ में एकाएक बुखार से पीड़ित होकर परलोक सिधारा। इस समय लगभग सारे अरब और मिस्र देशों पर उसका आधिपत्य स्थापित हो गया था। मदीने में मुहम्मद एक राजनीतिक नेता, निरंकुश शासक, न्यायाधीश व सेनापति के रूप में प्रकट हुआ। इस समय की कुरान की 'आयतें' भी 'राजनीतिक' रंग लिए हुए हैं। वह एक नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक होने के साथ-साथ एक नए राज्य का सर्वोच्च अधिकारी भी हो गया।

**मुहम्मद के बाद उत्तराधिकार का प्रश्न**—इस प्रकार एक आरम्भिक अरबी मुस्लिम राज्य का ढाँचा खड़ा करके मुहम्मद की एकदम मृत्यु हो गई। वह अपने अनुयायियों को यह भी न बतला सका कि उसके बाद उसका उत्तराधिकारी किस नियम के अनुसार नियुक्त किया जाएगा। इस परिस्थिति में अनेक जटिल समस्याओं के अतिरिक्त सबसे गहन प्रश्न उनके सामने था मुहम्मद का उत्तराधिकारी चुनने का। इस प्रश्न का निर्णय करने के सिद्धान्त पर भावी मुस्लिम राज्य के रूप का सदा के लिए निर्णय होना निर्भर था। मुहम्मद 'ख़ुदा' की तरफ से नियुक्त हुआ था। वह अन्तिम एवं पूर्ण नबी था। उसके समान अन्य कोई हो ही नहीं सकता था। उत्तराधिकार के प्रश्न पर विभिन्न पक्ष विद्यमान थे। उनमें वे लोग इस समय

प्रबल थे जिन्होंने यह निर्णय किया कि अरबी फिरके प्राचीनकाल से जिस प्रकार अपने नेता को चुनते थे उस नियम के अनुसार वे भी अपने नेता का निर्वाचन करें। उन्होंने बहुमत से युवती विधवा आयशा के पिता (नबी के श्वसुर तथा परम सह-योगी) बूढ़े अबूबक्र को मुहम्मद के **राजनीतिक पद** का स्थानापन्न चुना। 'नबी' का पद तो किसी को मिल ही नहीं सकता था; केवल मुहम्मद का वह राजनीतिक पद जो उसने मदीने आने के बाद प्राप्त किया था, खाली हुआ था। इस पद का निर्वाचन के सिद्धान्त पर निर्णय करने से भविष्य में कितनी जटिल समस्याएँ और उलझनें पैदा होंगी इसका उनको गुमान भी न था। चुनाव के सिद्धान्त का विरोधी सबसे प्रबल पक्ष था 'वंशानुगत उत्तराधिकार' के सिद्धान्तों को माननेवालों का। इन लोगों का नेता था मुहम्मद का दामाद हजरत अली। मुहम्मद के उत्तराधिकारी 'खलीफा' कहलाए (खलीफ़ा का अर्थ ही उत्तराधिकारी है)। खलीफ़ा मुस्लिम राज्य के न्याय, सेना तथा अन्य शासन-विभागों का सर्वोपरि अधिकारी था। किन्तु याद रहे कि इस राज्य की स्थापना का एकमात्र उद्देश और आदर्श था अपने समूचे आर्थिक व सामरिक बल को इस्लाम मत की रक्षा तथा उसका प्रचार करने में लगाना। अतएव उसका कर्तव्य था विधर्मियों (काफ़िरों) का संहार करना और इसलामी राज्य की एकता को सुरक्षित रखना। इसलामी राज्य इसलाम मत के प्रचार और अन्य मतों के संहार के एक लिए अस्त्रमात्र था। मुहम्मद के बाद १० वर्ष के भीतर इराक, मेसोपोटामिया तथा मिस्र ख़िलाफ़त में सम्मिलित कर लिए गए।

६६१ में उमैया वंश का मुआविया नामक खलीफ़ा हुआ। उसने मदीने को छोड़कर दमिश्क को राजधानी बनाया। साथ ही यद्यपि विधानतः ख़िलाफ़त का पद निर्वाचनाधीन माना जाता रहा, पर वस्तुतः उमैयद खलीफ़ा ने उसे वंशानुगत (hereditary) बना दिया। ख़लीफ़ा अपने उत्तराधिकारी को नामांकित कर देता था और मुल्ला वर्ग मुस्लिम जनता के प्रतिनिधि के रूप में उसको प्रमाणित कर देते थे। थोड़े दिन बाद इसकी भी आवश्यकता न रही। तथापि सुन्नी सम्प्रदाय खलीफ़ा की नियुक्ति के लिए निर्वाचन के सिद्धान्त का ढकोसला बनाए रहा और विधान व वास्तविकता का यह प्रतिवाद भविष्य में सभी मुस्लिम राज्यों में बना रहा। कट्टर मुस्लिम बादशाहों ने भी कभी यह न सोचा कि वे अपनी आत्मा को कितना धोखा दे रहे हैं।

**इस्लामी राज्य-पद्धति (विधान) का विकास**—आरम्भ में मुस्लिम विधान का विकास दो मुख्य कारणों के अधीन हुआ। इन विजयी अरबों को अपने विस्तीर्ण साम्राज्य के शासन की समस्या सामने आई। स्वयं उन्हें किसी बड़े राज्य के शासन का अनुभव न था। परन्तु मिस्र, पैलेस्टाइन व सीरिया में रोम साम्राज्य की शासन-पद्धति से पूरी तरह परिचित और फारस में सासानी साम्राज्य की शासन-पद्धति से परिचित, बहुत-से कर्मचारी मिल गए जिनकी सहायता से, उन स्थानों की प्राचीन व्यवस्था के अनुसार, अपना राजस्व (revenue) उगाहना शुरू किया। इस

प्रकार उमैयद खिलाफ़त के समय में प्राचीन रोम व फारस साम्राज्यों की प्रचलित शासन-व्यवस्थाओं के अनुकूल ही शासन संचालित किया गया। किन्तु नियमित रूप से इस्लामी-विधान के सिद्धान्त पर विचार तथा उसकी रचना अब्बासी खिलाफ़त के क़ाज़ियों ने करनी शुरू की थी। इस कार्य के सम्पादन में ये लोग एक अनिवार्य नियम से आबद्ध थे। उनके सिद्धान्त, उसके अंग-उपांग कैसे भी हों, उन सबका स्रोत कुरान होना चाहिए। अगर कोई ऐसा नियमोपनियम हो जिसका कोई संकेत कुरान के अन्दर न हो तो किसी प्रकार खींच-तानकर उसे कुरान के आधार पर बतलाने में वे अपनी सारी चतुराई और कल्पना-शक्ति व्यय कर देते थे। कुरान के अतिरिक्त दूसरा आधार था हदीस और मुहम्मद के जीवन के उदाहरण। यदि इन तीनों से किसी मामले में सन्तोषजनक फैसला न हो सके तो मुस्लिम बिरादरी यानी माननीय आलिमों की राय के अनुसार कार्य किया जाए। तीसरी सदी हिजरी में हदीस के छः संग्रह किए गए जिनमें इस्लामी सब राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन निश्चित रूप से किया गया। ये सिद्धान्त समस्त सुन्नी मुसलमानों को माननीय हैं। इन हदीसों से अन्तिम सिद्धान्त यह निर्णीत हुआ कि मुस्लिम जाति का नेता या प्रमुख, मुहम्मद का 'खलीफ़ा' (उत्तराधिकारी) होने की हैसियत से, नबी सम्बन्धी विशेष कार्यों को छोड़कर, और वे सब कार्य करने का अधिकारी था जो मुहम्मद ने अपने जीवन में किए थे। इसका आशय था कि ख़लीफ़ा मुसलमान जनता का सर्वोच्च शासक, विधायक और सेनाध्यक्ष था। इस्लामी विधानवेत्ताओं ने ख़लीफ़ा के कर्त्तव्यों का सारांश इस प्रकार दिया है—इसलाम मत की रक्षा व संपोषण करना, उन लोगों पर जिहाद करना जो इसलाम मत स्वीकार करने और मुस्लिम शासन के अधीन होने से इनकार करें, मुस्लिम राज्य की रक्षा करना और उसकी सीमा की रक्षा के लिए सेना रखना, क़ानूनी झगड़ों के फैसले करना, दुराचारियों को दण्ड देना, राजकरों को वसूल करना और व्यय करना, सुयोग्य राज-कर्मचारियों को नियुक्त करना और उनके वेतन देना। एक आवश्यक नियम विधायकों ने यह बताया कि ख़लीफ़ा बनने के लिए मुहम्मद के परिवार अर्थात् 'कुरैश' का सदस्य होना अनिवार्य था। साथ ही उसमें उपर्युक्त कर्त्तव्यों को पूरा करने की योग्यता होना आवश्यक था। हर नए ख़लीफ़ा के सिंहासनासीन होने पर सब बड़े-बड़े अमीरों व कर्मचारियों को उसके प्रति राजभक्ति की शपथ लेनी पड़ती थी। इस पद्धति के द्वारा ख़लीफ़ा के पद के निर्वाचनाधीन होने का मिथ्यावाद कायम रखा गया।

**इसलामी विधान में ख़लीफ़ा और इमाम के पदों की एकता**—इसलामी विधान के अनुसार ख़लीफ़ा का पद मुख्यतया मुस्लिम जनता (उम्मत) के नेतृत्व व पथ-प्रदर्शन करने का और नमाज़ के लिए एकत्र मुसलमानों को नमाज़ पढ़वाने व खुतबा आदि पढ़ने का है। खिलाफ़त अर्थात् राजनीतिक कार्य करना गौण है, कारण कि राज्य-संस्था केवल इसलाम धर्म की रक्षा तथा प्रसार और अमुस्लिम जनता पर जिहाद बोलने के हेतु एक शस्त्र-रूप है। उसकी उत्पत्ति ही इस उद्देश से हुई है।

अतः यह ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिए कि मौलिक इसलामी विधान में ख़लीफ़ा और इमाम (अर्थात् राजा व पंडा-पुजारी) के पद पृथक् नहीं प्रत्युत् एक ही हैं और होने चाहिए। इसलामी इतिहास में आगे चलकर इन दो पदों अथवा एक ही पद के दो कर्त्तव्यों के अलग-अलग होने का कारण यह हुआ कि ख़लीफ़ा लोग महान् साम्राज्यों के अधिपति, अगण्य सम्पत्ति, ऐश्वर्य व शक्ति के स्वामी हो गए और सम्राटों के सदृश उनका जीवन हो गया। परिणाम यह हुआ कि उनमें से बहुत ही कम ऐसे थे जो धार्मिक पुस्तकों—कुरान आदि के ज्ञाता हों और धार्मिक कृत्यों को करा सकते हों। अतएव धार्मिक कार्यों का दायित्व सँभालने के लिए मुल्लाओं व आलिमों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया। इन्हीं में जो सबसे उपयुक्त समझा जाता उसको राज्य का इमाम बना दिया जाता था। दूसरा कारण यह भी था कि राज्य के विस्तृत हो जाने से एक ही ख़लीफ़ा हर जगह किस प्रकार पहुँच सकता था। अतः उसे जगह-जगह अपने धार्मिक प्रतिनिधि नियुक्त करने पड़े।

**इमाम के पद का महत्त्व**—इमाम के पद को 'शिया' सम्प्रदाय ने बहुत अधिक महत्त्व दिया ; तथापि सुन्नी लोग भी इमाम का बड़ा आदर करते हैं। दोनों ही वर्गों के विधान-विशेषज्ञों ने यह मत प्रकट किया है कि मुस्लिम जनता के नेतृत्व के लिए एक इमाम का होना परमावश्यक है, कारण कि इमाम ही को काफ़िरों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा करने और समस्त मुसलमान जनता को इस पवित्र संग्राम में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित करने का अधिकार है। इमाम ही को राज्य के अन्दर सर्वोपरि अधिकार व सत्ता प्राप्त होने का सिद्धान्त भी सर्वमान्य है। अतएव जब इस्लाम के दूर-दूर देशों में फैल जाने पर अनेक छोटे-बड़े मुसलमान सुलतान, अमीर व बादशाह स्वतन्त्र राज्य करने लगे, और जब ख़लीफ़ा-इमाम की शक्ति शून्य से अधिक न रही, तब भी उस पद की प्रतिष्ठा बनाए रखने के हेतु, उन सब नरेशों को अपना पद वैधानिक कराने के लिए ख़लीफ़ा—इमाम से उसकी स्वीकृति का प्रमाण-पत्र लेना पड़ता था। इसी मिथ्या सिद्धान्त के द्वारा हिन्दुस्तान के आरम्भिक तुर्की सुलतान अपनी शक्ति से प्राप्त किए हुए पदों को प्रमाणित कराते थे। दमिश्क की उमैयद खिलाफ़त कुल एक सदी क़ायम रही। इसके बाद एक प्रतिपक्षी दल ने उमैयद परिवार से खिलाफ़त के पद को छीनकर बग़दाद को अपनी राजधानी बनाया। यह परिवार मुहम्मद के चचा अब्बास का वंशधर होने से अब्बासी कहलाया। इस खिलाफ़त के लम्बे काल में जो राजनीतिक संस्थाएँ स्थापित हुईं उनका प्रतिबिम्ब अन्य देशों के मुस्लिम राज्यों पर बहुत पड़ा।

**मुग़ल प्रभुसत्ता** (sovereignty) **का विकास**—पहले भाग में यथास्थान तुर्क व अफ़ग़ान सुलतानों के वैधानिक तथा वास्तविक पद की व्याख्या की जा चुकी है। मुग़ल बादशाहत के स्थापित होने तक खिलाफ़त का पता निशान तक सदियों पहले मिट चुका था और यदि कोई उसकी स्थानापन्न सत्ता होती तो भी मुग़ल उसका आधिपत्य अथवा गुरुता स्वीकार करने की आवश्यकता न समझते। मुग़ल-

बादशाह अपने को ही खलीफ़ा के पद का अधिकारी मानते थे। चार पहले खलीफ़ाओं के नाम वे अपने सिक्कों व फरमानों आदि पर इसलिए अंकित कराते थे कि अपने मुसलमान होने तथा वैधानिक बादशाह होने को प्रमाणित करें। खुतबा वे अपने ही नाम का पढ़वाते थे। इस प्रकार मुग़ल बादशाह इस भ्रान्त धारणा से सन्तुष्ट रहते थे कि वे सच्चे मुसलमान हैं और एक अकबर को छोड़कर बाकी सभी अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार साम्राज्य की सामग्री व शक्ति को इस्लाम की अभिवृद्धि में लगाने की चेष्टा करते थे।

**अकबरी राजसत्ता का रूप**—किन्तु अकबर की मेधावी दृष्टि ने इस्लाम को सर्वथा भिन्न रूप में देखा था। अकबर अपनी अपूर्व प्रतिभा से एक गगनचुम्बी ज्योतिस्तम्भ के समान था जिसके चारों ओर के मनुष्य उसके सामने अत्यन्त तुच्छ थे। इस्लाम के विधानवेत्ताओं ने इस्लाम राजसत्ता को एक **अत्यन्त संकीर्ण, साम्प्रदायिक** (communal theocracy) एवं मानव-समाज-विरोधी ईशसत्तात्मक राज्य के रूप में देखा, समझा और समझाया। अकबर ने इस साम्प्रदायिक ईशाधीन सत्ता को उठाकर सर्वमानवीय ईशसत्ता (universal theocracy) के उत्कृष्ट तल पर पहुँचा दिया पर ऐसा करने में उसने यह कभी नहीं सोचा कि यह कार्य इस्लाम के मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। उसने केवल एक संकीर्ण सम्प्रदाय को परिष्कृत करने का साहस किया था। अकबर की दृष्टि से इस्लाम के सिद्धान्त एक निश्चल पाषाण के समान नहीं वरन् एक गतिशील, जीवित-जागृत संस्था के रूप में थे जिनका देश-काल व समाज की परिवर्तनशील परिस्थिति के अनुरूप बदलना तथा परिष्कार करना ही उनके जीवन का प्रमाण था। अतएव अकबर ने शुरू से ही इस्लाम के उन विधि-विधानों को जो जातीय, साम्प्रदायिक तथा अन्य असहिष्णुतापूर्ण भेद-भावों का समर्थन करते थे, स्थगित कर दिया, क्योंकि उसकी दृष्टि में ईश्वर के पुत्र होने की हैसियत से मनुष्यमात्र एकसमान थे, और धर्म के बहाने या किन्हीं अन्य कारणों से उनमें भेद-भाव करना, मानवता अथवा नैसर्गिक धर्म के विरुद्ध था। अकबर ने सबसे महत्त्वपूर्ण काम गद्दी पर बैठने के थोड़े दिन बाद ही यह किया कि राजकीय नियम की दृष्टि से राज्य की समस्त जनता को एकसमान नागरिक बना दिया और इस प्रकार सच्चे अर्थों में एक राष्ट्रीय राजसत्ता का सूत्रपात किया। अकबर के विचार में राज्य का उद्देश था सदैव जनता (प्रजा) की रक्षा, उन्नति तथा सुख की अभिवृद्धि में संलग्न रहना। उसका विश्वास था कि राजशक्ति एवं प्रजा-सेवा का कर्त्तव्य, ये दोनों ही ईश्वर की ओर से प्राप्त होते हैं और जो राजा निर्बल अथवा अयोग्य हो अथवा अपने कर्त्तव्यों को पूरा न कर सके वह राजा रहने योग्य नहीं है।

राजसत्ता के उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि इस सत्ता में 'जनवाद' का विधानतः कोई अंश विद्यमान नहीं था। जनता को बादशाह के राज-काज में किसी प्रकार हस्तक्षेप करने, अथवा राय देने का कोई अधिकार नहीं था। वैधानिक रूप से बादशाह की शक्ति व अधिकार किसी लौकिक शक्ति से परिमित या नियन्त्रित

नहीं होते थे। पर वह कुरान अर्थात् धार्मिक कानून के अधीन पूरी तरह था। परन्तु वास्तविक रूप से अथवा क्रियात्मक क्षेत्र में मुग़ल-सम्राट् को भी अपने मन्त्रिमण्डल का परामर्श आवश्यक अवसरों तथा प्रश्नों पर लेने की आवश्यकता होती थी। जनता का विद्रोह, उच्च वर्ग का प्रतिरोध, तथा अन्य इसी प्रकार के भय भी सम्राट् को निरंकुश होने से रोकते थे। इस दृष्टि से मुग़ल सत्ता को एक उदार-एकाधिकार सत्ता कहना उचित होगा। अतएव अकबर ने आरम्भ से ही जनता के धार्मिक, सामाजिक विश्वासों व क्रियाओं का आदर किया किन्तु साथ ही जहाँ समाजोद्धार की आवश्यकता थी, उनमें वह तनिक न हिचका। उदार-चेता वर्ग सम्राट् के इन शुभ कामों से पूरी सहानुभूति रखते थे। इस दृष्टि से अकबर को उस बौद्धिक आन्दोलन का, जिसके प्रवर्तक कबीर, नानक, तुलसी आदि सन्त थे, राजकीय प्रतिनिधि व नेता कहना अनुचित न होगा।

**अकबर की धार्मिक नीति व कार्य-प्रणाली**—अकबरी सरकार की नीति के बारे में स्मिथ आदि लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि उसे सेना व पुलिस द्वारा अपनी रक्षा करने और राजस्व (revenue) वसूल करने के अतिरिक्त और किसी कर्त्तव्य की चिन्ता अथवा चेतना न थी। धार्मिक नीति को किसी लेखक ने आज तक समझा ही नहीं। सभी उसे सहनशीलता के सिद्धान्त पर आश्रित बतलाते रहे हैं। ये दोनों मत निराधार हैं। शासन-नीति में अकबर का कार्य बड़ा रचनात्मक था। प्रजा के आर्थिक, व्यापारिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक हितों की उन्नति करने, शासन के संशोधन व सुसंचालन, समस्त सम्प्रदायों तथा वर्गों में परस्पर मैत्रीभाव पैदा करने में सम्राट् ने निरन्तर प्रयास किया था। अकबर की धार्मिक नीति को केवल सहिष्णु कहना उसका अपमान करना है। वह अमुस्लिम धर्मों व जातियों को एक अनिवार्य अथवा दुस्साध्य दोष मानकर नैतिक आवश्यकता के कारण उनको सहन न करता था, जैसा कि अन्य सभी मुसलमान बादशाहों ने किया था। उसका सबके प्रति साम्य का व्यवहार इस आधारभूत सिद्धान्त से उत्पन्न हुआ था कि सभी मतों व धर्मों का जनक ईश्वर है और इसलिए समस्त मानव-समाज ईश्वर के पुत्र के समान होने से जन्मना ही समानाधिकार रखते हैं चाहे वे किसी सम्प्रदाय में उत्पन्न हुए हों। उसकी धार्मिक नीति का मूलाधार था मानवमात्र की जन्मसिद्ध समानता को स्वीकार करना, न कि नैतिक विवशता के कारण उनको सहन करना। अकबर की नीति के महत्त्व को ग्रहण करने के लिए इस तथ्य का भली-भाँति समझना अत्यन्त आवश्यक है।

**शेरशाह का बुनियादी कार्य**—शेरशाह ने अपने सुयोग्य शासन से भावी मुग़लों का मार्ग काफ़ी तौर से प्रशस्त कर दिया था; अन्यथा वह कार्य भी अकबर को ही करना पड़ता। केन्द्रीय सत्ता की कच्ची नींव को उसने विधानतः नहीं तो वस्तुतः अवश्य इतना दृढ़ बना दिया था कि विरोधी शक्तियों की सर उठाने की हिम्मत टूट गई थी। शासन-व्यवस्था व संचालन के मृतप्राय शरीर में उसने फिर से जीवन फूंका था और उसे प्रगतिशील व रचनात्मक कार्य के योग्य बनाया था।

**केन्द्रीय राजसंगठन**—शुरू में अकबर को जो विद्यमान संगठन था उसी के द्वारा शासन करना पड़ा। पर बहुत ही जल्दी उसने संशोधन करने आरम्भ किए। शेरशाह के समय में जान पड़ता है कि कोई वैधानिक मन्त्रिमण्डल नहीं था। अकबर ने एक मन्त्रिमण्डल की रचना की। इस मन्त्रिमण्डल का कोई वैधानिक अस्तित्व नहीं था। किन्तु वास्तविक रूप से उसका बड़ा महत्त्व था। शासन के विभिन्न विभागों का दैनिक संचालन पूर्वकालीन व्यवस्था तथा कर्मचारी-वर्ग के द्वारा चलाना ही श्रेयस्कर व क्रियात्मक था। अतएव थोड़ी-सी बातों को छोड़कर, जिनका निर्माण फारस या तुर्की संस्थाओं के अनुकूल किया गया, अधिकतर विभाग भारतीय शासन-पद्धति से ही लिए गए थे। इस प्रकार शासन-संगठन फारस-तुर्क व भारतीय उपादानों के मिश्रण से बना था। राज्य-शासन का सर्वोच्च अधीश्वर सम्राट् था। उसकी शक्ति व अधिकार किसी ऐहिक शक्ति या नियम से बाधित व नियन्त्रित नहीं थे। सेना, सामान्य शासन, न्याय आदि सभी विभागों का अन्तिम पुंज बादशाह था।

**मन्त्रिमण्डल**—अकबर के चार मुख्य मन्त्री थे : **वकील** (मुख्य मन्त्री वकील कहलाता था); **वजीर** (जो **दीवान** भी कहलाता था), वित्त-विभाग का अधिष्ठाता; **मीरबख्शी**, मुख्यतया सेना-विभाग का अधिष्ठाता; सद्रुस्सुदूर (मुख्य सद्र), जिसके साथ मुख्य काज़ी का पद भी सम्मिलित होता था, न्याय व धर्म-विभाग का अधिष्ठाता।

**वकील**—अकबर का शासन-काल सरकारी विभागों के विकास तथा परीक्षणों का समय था। उसके आरम्भ में कोई विभाग स्थायी रूप से निश्चय नहीं हो पाया था। अतएव **वकील** और **दीवान** के परस्पर सम्बन्धों को ठीक-ठीक निर्णय करना कठिन है। तथापि इतना स्पष्ट है कि वकील का पद कुछ दिन तक बादशाह के प्रतिनिधि के समान था। जब तक बैरमखाँ के हाथों में राज्य की बागडोर रही तब तक वह वकील कहलाया। उसका अधिकार बहुत विस्तृत था। वही बादशाह के स्थान पर सब-कुछ करता था। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति आदि भी वही करता था। किसी बात में भी वह बादशाह से सलाह लेने की आवश्यकता न समझता था। पर उसके बाद किसी वकील को इतना अधिकार अकबर सरीखे सम्राट् के राज्य में ले लेना असम्भव था। प्रत्येक आवश्यक प्रश्न पर बादशाह को सूचित करना और उसकी आज्ञा लेना आवश्यक था। कुछ दिन तक वकील और वजीर के विभाग सम्मिलित ही रहे। आठवें बरस में वित्त विभाग की वकील को अधिकार से पृथक् करके एक '**दीवान**' के सुपुर्द किया गया। जब वित्त विभाग का कार्य बढ़ने लगा तो कभी-कभी उसे दो मंत्रियों के सुपुर्द किया। शासन के २३वें वर्ष में राजा टोडरमल शाह मन्सूर दोनों ही दीवान थे। कभी-कभी वकील और दीवान दोनों विभागों का अधिष्ठाता वकील ही होता था। अकबर के बाद वकील शब्द का प्रयोग छूट गया और मुख्य मन्त्री वजीर कहलाने लगा तथा वित्तमन्त्री दीवान कहलाने लगा।

**वजीर व दीवान**—केन्द्र में वजीर और दीवान बहुत दिन तक वित्तमन्त्री ही

का नाम था। किन्तु प्रान्तों आदि के वित्तमन्त्रियों को दीवाने सूबा कहा जाता था, पर प्रान्तों में कोई वज़ीर नहीं कहलाता था। दीवान का मुख्य काम वित्तविभाग का संचालन, नियन्त्रण, निरीक्षण आदि सभी कुछ था। इस विभाग को परिपक्व व निर्दोष बनाने के लिए अकबर ने अपने वजीरों की सहायता से बार-बार नई योजनाएँ व परीक्षण किए थे ताकि ग़रीब किसान तथा अन्य करद मनुष्यों पर किसी प्रकार अन्याय न हो और विश्वासघाती सरकारी कर्मचारी सरकारी राजस्व को भी ग़बन न कर सकें। वजीर प्रान्तीय दीवानों के कार्य के निरीक्षण की व्यवस्था करता था और स्थानीय भूमि तथा अन्य करों की सारी सूचनाएँ उसके पास भेजी जाती थीं। भूमि-कर आदि के निश्चय करने का कार्य भी दीवान का था। बादशाह अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी वज़ीर से परामर्श करता था।

**मीरबख़्शी**—सैनिक विभाग के अधिष्ठाता के अर्थ में बख़्शी शब्द का प्रयोग पहले भी मिलता है किन्तु उसका व्यापक रूप से प्रयोग मुग़लकाल में ही हुआ जान पड़ता है। तुर्क सल्तनत बख़्शी को **दीवाने अर्ज़** कहते थे। बख़्शी का कर्त्तव्य था सेना की भरती, देखरेख, निरीक्षण, प्रशिक्षण, वेतन देना आदि। वेतन के बिल आदि बिना बख़्शी के हस्ताक्षर के पास नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त सेनाओं का संचालन, युद्धयात्रा, शिविर-व्यवस्था, युद्ध के समय भिन्न भागों की व्याख्या आदि कार्य भी बख़्शी ही के थे। मुग़ल शासन में धर्म और न्याय विभागों को छोड़कर सभी विभागों के पदाधिकारी सैनिक विभाग के अन्तर्गत नियुक्त किए जाते थे। इसलिए उनकी नियुक्ति, वेतन, छुट्टी आदि की आज्ञाएँ बख़्शी के द्वारा ही निकाली जाती थीं। बख़्शी ही प्रान्तों से आने वाले उच्च पदाधिकारियों को दरबार में पेश करता था। सैनिकों तथा उनके घोड़ों व ज़ीन-काठी आदि का निरीक्षण कराने के लिए बादशाह के सामने बख़्शी ही पेश करता था। बख़्शी बादशाह की अन्तरंग समिति (Privy Council) का भी सदस्य था। इस सभा का नाम 'गुसलखाना' इसलिए पड़ गया था कि शेरशाह गुसलखाने से निकलकर बाल सुखाने आदि के लिए जिस कमरे में बैठता था वहीं पर अपने सलाहकारों को बुला लेता था। यही परिपाटी उसके बाद भी चलती रही और बादशाह की अन्तरंग समिति के भवन का नाम ही गुसलखाना पड़ गया। इसी को अकबर और उसके बाद दीवाने खास का नाम दिया गया।

**सद्र स्सुद्दूर**—स्वधर्म में प्रचार करना इस्लामी सत्ता का मुख्य उद्देश था। अतएव सद्र तथा काज़ी के पद आरम्भ से ही बड़े महत्त्वपूर्ण समझे गए थे। सद्र के कर्त्तव्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : विशेषतया मुसलमानों की नैतिक व धार्मिक उन्नति का ध्यान रखना, और यह देखना कि मुसलमान लोग धर्म के आवश्यक नियमों का पालन करते हैं या नहीं, जैसे नमाज़ पढ़ना, रोज़ा रखना आदि, और पतितों को दण्ड देना। दूसरे, सद्र न्याय तथा विधान का भी प्रमुख होता था और न्यायालय का संचालन करने के अतिरिक्त वह प्रान्तीय सद्रों व काज़ियों की नियुक्ति

की सिफारिश बादशाह को करता था। तीसरे, सद्र दान विभाग का भी अधिष्ठाता था। गरीबों, बेवाओं, यतीमों, खानकाहों, मठों, मस्जिदों तथा मदरसों और आलिमों को राज की सहायता सद्र के द्वारा ही दी जाती थी। अकबर के काल में मुख्य सद्र और काज़ी के पद पर एक ही मनुष्य नियुक्त किया जाता था। मीर अदल और मुफ़्ती का भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। शायद किन्हीं विशेष स्थानों पर ये कर्मचारी रहे हों। पर इनके पद स्थायी नहीं जान पड़ते। न्याय करने में सामान्य मुस्लिम विधान का प्रयोग मुसलमानों के लिए और हिन्दू विधान का प्रयोग हिन्दुओं के लिए करने की प्रथा अकबर ने चालू की थी। परन्तु जान पड़ता है कि दण्ड-विधान प्रायः मुसलमानी पद्धति के अनुसार ही लागू किया जाता था, यद्यपि यह निश्चय है कि जो नियम धार्मिक अन्याय तथा विषमता के हेतु थे, उनका प्रयोग हिन्दुओं पर नहीं किया जाता था।

उपर्युक्त मन्त्रियों के अतिरिक्त 'मीर सामान' भी एक उच्च पदाधिकारी था। बाद में इस पद का महत्त्व और भी बढ़ गया था। मीर सामान या 'खाने सामान' राजप्रासाद विभाग का अधिष्ठाता था। उसी के साथ सरकारी कारखानों का व्यवस्थापक तथा हिसाब-किताब रखनेवाला भी दीवान या वज़ीर के अधीन होते थे। इनके अतिरिक्त तोपख़ाने का संचालक मीर आतिश, झण्डाबरदार या कुरबेगी आदि और बहुत से अफ़सर भी होते थे।

**सेना-विभाग**—फ़ीरोज़ तुग़लक के समय से दिल्ली सुलतानों की सेना की कोई सुव्यवस्थित अवस्था नहीं थी। शेरशाह ने फिर उसका सुधार किया और भरती आदि के नियम बनाए। मन्सबदारी प्रथा का अंकुर भी उस समय विद्यमान था। उसको पूरे विस्तृत पैमाने पर संगठित व नियमबद्ध करने का श्रेय अकबर को ही है। साम्राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकता के अनुसार अकबर ने सेना को भी हर प्रकार से परिष्कृत, सुव्यवस्थित तथा सुदृढ़ करने की चेष्टा की। मुग़ल सेना की दो शाखाएँ थीं, एक केन्द्रीय स्थायी सेना और दूसरी वह जो आवश्यकता पड़ने पर मन्सबदारों को भेजनी पड़ती थी। किन्तु यह सेनाएँ भी विभिन्न मन्सबदारों को अपने-अपने मन्सब के अनुसार स्थायी रूप से रखनी पड़ती थीं जिनके भरण-पोषण के लिए, मन्सबदारों को उनके निजी वेतन के अतिरिक्त उतनी जागीर दी जाती थी जिसकी आय से उनकी सेना का व्यय पूरा हो सके। याद रहे इस जागीर-पद्धति से बहुधा लोग बड़ी भ्रान्ति में पड़ गए हैं। उन्होंने इसे ब्रिटिशकाल की पैतृक जागीरदारी संस्था के समान समझ लिया है। यह धारणा सर्वथा निराधार है। अकबर की यह जागीरें बड़े-छोटे राजसेवकों व पदाधिकारियों के वेतन चुकाने का एक सहल उपाय था। साथ ही इसके द्वारा उनका निरीक्षण भी आसानी से हो सकता था। ये जागीरें कभी भी पैतृक अथवा वंशानुगत नहीं थीं। ये बहुत जल्दी-जल्दी घटाई-बढ़ाई व बदली जाती थीं।

**दाखिली व अहदी**—इन दो प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त एक उच्च-स्तर के सैनिकों का समूह बादशाह के अंग-रक्षक के तुल्य रहता था। इसके सैनिक उच्च

वर्ग में से लिए जाते थे और उनके वेतन भी बहुत बड़े होते थे। इन्हीं में से बड़े-बड़े सेनानायक नियुक्त किए जाते थे। इनको अहदी कहा जाता था। दाखिली वे सैनिक होते थे जिनको केन्द्रीय विभाग के द्वारा भरती करके मन्सबदारों को दिया जाता था।

मन्सबदारों की ६० विभिन्न श्रेणियाँ (grades) थीं। उच्चतम १०,००० घोड़े का मन्सब था और निम्नतम १० का। किन्तु ५,००० से ऊँचे मन्सब केवल राजवंश के सदस्यों को दिए जाते थे। अपने राजत्वकाल के अन्तिम चरण में अकबर ने राजसेवकों की बढ़ती हुई संख्या का समुचित रूप से वर्गीकरण करने के लिए ५,००० और उससे नीचे मन्सबों को तीन और उपश्रेणियों में बाँटा। यह विभाजन पुराने 'ज़ात' मन्सब में एक और 'सवार' मन्सब जोड़कर किया गया। हर मन्सबदार ज़ात मन्सबधारी तो होता ही था। अब उसे सवार मन्सब भी दिया गया जो उसके ज़ात मन्सब के बराबर, या उससे आधा या आधे से कम, इन तीन वर्गों का होता था और इन्हीं के अनुसार एक ही ज़ात मन्सब के अन्तर्गत, उत्तम, मध्यम व निम्नतम श्रेणी के मन्सबदार होते थे। इस प्रकार सम्राट् को पदवियाँ देने में बहुत आसानी हो गई। नीचे के उदाहरण से विभाजन-पद्धति स्पष्ट हो जाएगी :

| | | |
|---|---|---|
| पाँच हजारी ज़ात | पाँच हजार सवार | प्रथम उपश्रेणी |
| ,, ,, | ४००० सवार | मध्यम उपश्रेणी |
| ,, ,, | २५०० ,, | |
| ,, ,, | २००० ,, | निम्नतम अथवा तीसरी उपश्रेणी |
| ,, ,, | १५०० ,, | |

'ज़ात' और 'सवार' से ठीक-ठीक क्या अभिप्राय था यह प्रश्न अत्यन्त भ्रान्त तथ विवादग्रस्त है। अभी तक कोई सर्वमान्य मत इस विषय पर नहीं हो पाया है। किन्तु इतना निश्चय जान पड़ता है कि 'ज़ात' तो वास्तविक श्रेणी थी जिसके नियमों के अनुसार मन्सबदार को घुड़सवार आदि सैनिक रखने पड़ते थे किन्तु 'सवार' के साथ कोई ऐसा बन्धन नहीं था। अतएव यही मत ठीक जान पड़ता है। सवार श्रेणी केवल उच्च मन्सबदारों की पदवियों की संज्ञा निश्चित करने के लिए निकाली गई थी।

**मुग़ल सेना की शाखाएँ**—मुग़ल सेना की मुख्य शाखा अश्वारोही (घुड़सवार) सेना थी। दूसरी आवश्यक शाखा तोपखाना तथा अग्निअस्त्र थे। तीसरी शाखा, जिसकी तादाद तो बहुत बड़ी होती थी पर महत्त्व सबसे कम था, पैदल सेना थी। पैदल सेना में बन्दूकची, भालेबरदार, बल्लमबरदार, तीरअंदाज़, खड्गधारी और अनगिनत नौकर-चाकर, बारबरदार आदि हर प्रकार के आदमी शामिल होते थे। नौसेना या जलसेना मुग़लों के पास नहीं थी। वे आवश्यकता पड़ने पर सामान्य नावों द्वारा अपनी सेनाओं को दूरवाले रणक्षेत्रों में पहुँचाते थे। परन्तु ये सब नदियों में चलने वाली नावें थीं, समुद्री नौसेना कुछ भी नहीं थी। स्थायी सेना दल के अति-रिक्त अकबर ने प्रत्येक सूबे की जनसंख्या तथा उसकी युयुत्सु योग्यता के अनुसार

यह अनुमान करा लिया कि प्रत्येक महाल, सरकार व सूबे से कितनी सेना मिल सकती है। इसकी संख्या का जोड़ प्राय: ४ लाख घुड़सवार और ४४ लाख पैदल सेना आती थी।

**सेना का निरीक्षण व नियन्त्रण**—सेना के निरीक्षण आदि के लिए सेना विभाग के लेखक (बिटिक्ची) सब सैनिकों का विवरण तैयार करते थे जिसमें उनकी शारीरिक अवस्था, परिचायक चिह्न (marks of identification), डीलडौल, माता-पिता, जात आदि का ब्यौरा और पता, ये सब सूचनाएँ लेखबद्ध की जाती थीं। घोड़ों को दाग़ दिलवाना आवश्यक था। अकबर ने दाग़ के लिए बहुत चिह्नों का प्रयोग करने के बाद अन्त में उन पर संख्या लगवाना तय किया था। हर वर्ग के सैनिकों व घोड़ों आदि को नियमित रूप से निरीक्षण के लिए एक विशेष स्थान पर हर महीने उपस्थित होना पड़ता था।

**वित्त-विभाग** (Revenue Department)—अबुल फ़ज़ल के कथनानुसार जो वित्त करों के रूप में बादशाह अपनी प्रजा से वसूल करता है वह उन सब सेवाओं का पुरस्कार या पारिश्रमिक मात्र होता है। इन करों में वे कर अथवा शुल्क शामिल नहीं किए जा सकते थे जो साम्प्रदायिक भेद के कारण मुसलमान शासक प्रत्येक मनुष्य से वसूल करते थे, अर्थात् जज़िया आदि। इन सब अन्यायी करों को अकबर ने अपने शासन के आरम्भ में ही मंसूख कर दिया।

**राजस्व** (Revenue) **के स्रोत**—मध्यकाल में राजकीय आय का मुख्य स्रोत भूमिकर होता था। स्थानीय धंधों व व्यवसायों पर जो कर वसूल किए जाते थे वे सम्भवत: स्थानीय शासन की ओर से लगाए जाते थे। केन्द्रीय सरकार की आय के अन्य उपकरण थे : सीमान्त शुल्क (customs), आन्तरिक व्यापार शुल्क, घाट-कर, चुंगी, टकसालें, जुरमाने, एकाधिकार-वस्तुएँ, यथा खानें, गड़ा हुआ धन आदि। तुर्की-अफ़ग़ान अराजकता के काल में अन्यायी स्थानीय पदाधिकारियों ने बहुत से अबवाब अर्थात् स्थानीय वस्तुओं पर कर लगा दिए थे। अकबर ने इन सबको हटा दिया था।

**भूमिकर निर्णय करने के प्रयोग**—शेरशाह से पहले दो प्रकार की विधियाँ भूमिकर निर्णय करने की प्रचलित थीं, अर्थात् बटाई (गल्लाबख्शी) व कनकूत (नस्क या मुकतई)। शेरशाह ने ज़ब्त या पैमाइश अर्थात् भूमि को नापकर कर निर्धारित करने का नियम भी फिर से यथासम्भव लागू किया। शेरशाह के बाद जो अव्यवस्था लगभग १५ बरस तक देश में रही उसमें शासन-संस्थाओं पर असर तो अवश्य पड़ा, तथापि शासन के ढाँचे के मुख्य अंश सुरक्षित बने रहे। अकबर ने इस संस्थान को इस प्रकार जीवित करने का प्रयास किया कि उसके द्वारा न तो किसान पर किसी प्रकार का अत्याचार हो और न सरकारी कर को कर्मचारीगण खा जाएँ। इस उद्देश से अकबर ने भूमिकर विभाग को सुधारने के लिए कई प्रयोग किए।

**पहले से प्रचलित पद्धतियां**—पहले तो शेरशाह के समय से प्रचलित विधियों

का ही अनुभव किया गया। बटाई और कनकूत तो जहाँ पैमाइश (ज़ब्त) लागू नहीं हो सकती थी, चलते ही थे। पैमाइश विधि में हर साल बोई हुई भूमि को नापकर विभिन्न फसलों की पैदावार की अनुसूचियाँ निर्णय कर दी जाती थीं और उनके अनुसार फसल कटने पर कर वसूल कर लिया जाता था। प्रत्येक खेत की औसत उपज की तिहाई निकालकर किसान व सरकारी अफ़सरों के बीच में लिखा-पढ़ी हो जाती थी।

**नए प्रयोग : आईने दहसाला**—थोड़े दिन तक इस विधि को चलाने के बाद अनुभव हुआ कि इसमें बहुत दोष है। अतएव १५६५ में सम्राट् ने मुज़फ्फरखाँ को आज्ञा दी कि भूमिकर विधि का इस प्रकार सुधार करे कि उसके दोष दूर हो जाएँ और किसान पर किसी प्रकार का अन्याय न हो, एवं राजकीय कर भी सुरक्षित रहे। किन्तु मुज़फ्फरखाँ की चेष्टा भी असफल रही। तब सम्राट् ने मालवा के शासक शिहाबुद्दीन को १५६८ में आज्ञा दी कि भूमिकर विधि को नए सिरे से व्यवस्थित करे। शिहाबुद्दीन ने सम्राट् के परामर्श से अन्य विधियों को बन्द करके समस्त साम्राज्य पर कनकूत या नस्क की विधि लागू करके देखी। इस विधि में, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, खेत को देखकर अन्दाज़े से उसकी पैदावार का अनुमान कर लिया जाता था और उसके अनुसार सरकारी कर वसूल कर लिया जाता था। थोड़े दिन अनुभव करने से यह विधि भी सन्तोषजनक न पाई गई। तब १५७०-७१ में टोडरमल और मुज़फ्फरखाँ के द्वारा कानूनगोओं से भिन्न-भिन्न खेतों की पैदावार का औसत मालूम किया गया और १० मुख्य कानूनगोओं से उसकी जाँच-पड़ताल कराई गई। इस विधि की एक विशेष अच्छाई यह थी कि स्थानीय भूमिकर सम्बन्धी कर्मचारियों के अनुभव और जानकारी से लाभ उठाया गया, जैसा पहले किसी मुसलमान बादशाह ने न किया था। इसके बाद १५७३-७४ में राजा टोडरमल ने पैमाइश (मापन) की विधि गुजरात से आरम्भ की और बहुत ही जल्दी अपना कार्य समाप्त करके सम्राट् को पूरा विवरण भेज दिया। यह विधि जल्दी ही साम्राज्य भर में जहाँ-जहाँ उसे लागू किया जा सकता था, चालू कर दी गई। इस प्रकार अपने उत्तम कार्य से किसानों की आर्थिक दशा का सुधार तथा उनकी रक्षा करके टोडरमल ने अमर कीर्ति प्राप्त की। परन्तु अकबर ने समस्त साम्राज्य में एक समान भूमिकर-विधि की स्थापना करने के उद्देश से एक और प्रयोग किया। १५७५-७६ में उसने समस्त साम्राज्य की भूमि को ऐसे भागों में विभक्त कर दिया जिनमें हरेक की आय एक करोड़ दाम (२,५०,००० रु०) थी। यह संस्था तो बहुत ही दोषपूर्ण बन गई, क्योंकि उन कर्मचारियों (करोरी), जिनको इन भूखण्डों से कर उगाहने के लिए नियुक्त किया गया था, में से बड़े ही अन्यायी और बेईमान निकले। अन्तिम व सर्वोत्तम विधि जिसकी स्थापना शासन के २४वें वर्ष में की गई वह थी जो 'आईने दहसाला' के नाम से प्रसिद्ध है।

**'आईने दहसाला'**—आईने दहसाला के विषय में प्रायः यह भ्रान्ति लेखकों व

पाठकों को रहती है कि यह बंदोबस्त शायद दस साल के लिए किया गया था, यह विचार सर्वथा निर्मूल है। वास्तविक बात यह थी कि जिस वर्ष यह विधि जारी की गई थी, उससे १० बरस पहले की हर बीघे की उपज का औसत निकाल लिया गया। यह कार्य इस तरह किया गया कि जमीन को उपज की मात्रा के अनुसार चार वर्गों में बाँटा गया, अर्थात्, पोलज, पड़ती, चच्चर व बंजर। पोलज वह जो बराबर जोती-बोई जाती हो, पड़ती वह जो एक या दो साल तक फिर से जानदार हो जाने के लिए खाली रखी जाती हो, चच्चर वह जो तीन-चार साल तक न बोई जाती हो और बंजर वह जो पाँच साल या अधिक अरसे तक न बोई जाती हो। हर वर्ग की जमीन के एक-एक बीघे की दस वर्ष की कुल उपज के आधार पर औसत उपज का हिसाब लगाया गया था। कुल भूमि को ऐसे खण्डों में बाँट दिया गया जिनकी उपज लगभग एकसमान थी। इन खंडों का अलग लेखा तैयार किया गया, जिससे प्रत्येक खंड की प्रति बीघा औसत उपज निकाली जा सकती थी। इन्हीं लेखों को दस्तूर कहते थे। अब उन सब अनाजों के पिछले १९ साल के भाव लेकर उनका औसत भाव निकाल लिया गया। और इस औसत भाव के अनुसार राज्य के भूमिकर की कीमत निकाल ली गई। भूमिकर की मात्रा उपज का तीसरा अर्थात् $\frac{1}{3}$ प्रायः सब स्थानों के लिए निश्चित कर दी गई थी। उदाहरण के लिए यदि किसी खेत की उपज राजकीय लेखे के अनुसार १२ मन हो तो राजकीय कर ४ मन हुआ। इसका १९ साला भावों का जो औसत निकाला गया था, उसके हिसाब से मूल्य निकालकर लेखा नकद दामों में तैयार कर लिया गया था और फिर हर साल वही वसूल कर लिया जाता था। पर तिहाई भाग का नियम केवल पोलज और पड़ती जमीनों पर ही लगाया जाता था। चच्चर और बंजर पर बहुत कम कर क्रमशः बढ़ता हुआ लगाया जाता था जब तक कि वे पोलज की दशा में न पहुँच जाएँ। पर इस बंदोबस्त को स्थायी बंदोबस्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि राज्य ने कोई ऐसा नियम बनाने का विचार नहीं किया था। हाँ, यह भी ठीक है कि इस विधि को जल्दी ही बदलने का कोई विचार न था ; सो यह अकबर के शासन-काल में निरन्तर चालू रही।

तथापि किसानों को इस बात का अधिकार था कि वे चाहे नकद रुपया दें अथवा अनाज ही दे दें जिसे सरकारी भण्डारों में भर दिया जाता था और जल्दी से जल्दी बेचकर उसका पैसा वसूल कर लिया जाता था।

यह भूमिकर विधान 'रैयतवारी' था क्योंकि उस समय को उस प्रकार का जमींदार वर्ग राज्य और किसान के बीच में नहीं था जैसा कि ब्रिटिश राज्य में उदित हो गया था। किसान को किसी प्रकार का आर्थिक कष्ट न था। उसे पेटभर रोटी और तन पर काफी कपड़ा ही न मिल जाता था, प्रत्युत तीज-त्योहार, विवाह-शादी पर्वों के लिए भी उसके पास काफी बचा रहता था। जिस प्रकार ब्रिटिश राज्य में किसान कर्जदार होकर इतना दरिद्र हो गया कि उसे पेटभर रोटी भी कठिनता से मिलती थी, वैसी दशा अकबर के शासन में कहीं नहीं थी। किसान-ऋणी होने की

बात का तत्कालीन युग में प्राय: अभाव था।

**राज-काज में अन्य संशोधन**—राज्य ने यह नियम बनाया कि यदि किसी आकस्मिक आपत्ति के कारण फसल को हानि पहुँच जाए, तो स्थानीय कर्मचारियों की सिफारिश पर कर घटाया और माफ भी किया जा सकता था। पहले खेत नापनेवाले कर्मचारियों को ५८ दाम २०० व २५० बीघा नापने के लिए दिया जाता था। अकबर ने इसको बढ़ाकर एक दाम फी बीघा कर दिया ताकि किसी को बेईमाननी करने का प्रलोभन न रहे। साथ जहात, फरूआत, इत्यादि अनियमित कर लेना बन्द कर दिया। भूमि नापने के औज़ार, गज आदि को भी एक समान नाप का बनाकर चालू किया गया। पहले जो कई प्रकार के गज आदि चालू थे उनको बन्द कर दिया गया।

**न्याय-विभाग**—कहा जा चुका है कि अन्य विभागों की तरह न्याय-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी भी बादशाह ही था। उसके नीचे सद्रुस्सुदूर और काज़ी उल-कुजात होते थे। यह भी बतला आए हैं कि अकबर के समय में मुख्य सद्र और काज़ी के पद एक ही पद में समन्वित थे। सूबों, सरकारों, परगनों तथा बड़े कस्बों और गाँवों तक में काज़ी होते थे। सूबे का एक सद्र भी होता था। यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि सूबे में सद्र और काज़ी के पदों पर दो मनुष्यों को नियुक्त किया जाता था या केन्द्र की तरह एक ही को दोनों पदों पर नियुक्त कर दिया जाता था। सरकार में काज़ी साधारण व्यवहारी (civil) तथा दीनी (मज़हबी) झगड़ों का निबटारा करता था और आपराधिक (criminal) मामलों का फैसला कोतवाल करता था। परगने में काज़ी के अतिरिक्त शिकदार व आमिल किन्हीं-किन्हीं झगड़ों का फैसला करते थे। ये लोग अपराधियों व कानून तोड़नेवालों को, चोर-डाकुओं को पकड़ते और सज़ा देते थे। मुग़ल न्याय-पद्धति यद्यपि विधि-विधान से नियमित तथा नियन्त्रित होती थी तथापि उसमें आजकल के न्याय-कार्य की तरह देरी नहीं होती थी। उसमें व्यक्ति के सद्गुणों पर बहुत-कुछ आश्रय था। यदि सरकारी कर्मचारी चाहे कितने भी ऊँचे पद पर क्यों न हों, कोई अपराध या अन्याय करते थे तो उसकी जाँच उच्च पदाधिकारियों के कमीशनों द्वारा कराई जाती थी और उनको कड़े दण्ड दिये जाते थे।

## प्रान्तीय व स्थानीय शासन

**साम्राज्य के राजनीतिक विभाग**—बाबर और हुमायूँ ने राज्यों को सूबों इत्यादि में विभाजित करने की चेष्टा ही नहीं की थी। परिस्थिति अनुकूल न थी। शेरशाह के समय से जो प्रान्तीय, शिक या सरकार और परगनों के विभाजन चले आते थे वे ही मान लिए गए। इस प्रसंग में यह बतला देना आवश्यक है कि श्री कानूनगो के इस विलक्षण सिद्धान्त का कि शेरशाह ने सूबों को मिटाकर अपने राज्य को केवल सरकारों और परगनों में विभक्त कर दिया था, लालबुझक्कड़ की सूझ से अधिक महत्व नहीं रखता। शेरशाह के अधीन सूबे थे, यह बात पूरी तरह सिद्ध की जा चुकी

है। आगरा, मुलतान, लाहौर, संभल (रुहेलखण्ड), जौनपुर, मालवा, बिहार और बंगाल के सूबों का शेरशाह के राज्य में स्पष्ट उल्लेख है। १५८१ में जब साम्राज्य लगभग समस्त उत्तराखण्ड पर स्थापित हो गया था, अकबर ने सूबों को फिर से विभाजित व व्यवस्थित किया। ध्यान रहे कि राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य कारणों के अतिरिक्त जिनसे शासन-कार्य तथा संगठन व नियन्त्रण में सुविधा होती थी, सूबों, सरकारों एवं परगनों की सीमाओं को निर्धारित करने में भौगोलिक परिस्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता था। नदियाँ, पहाड़ी भुजाएँ, मरु-भूखण्ड, वन आदि सभी भूमि-विभाजन के उपादान थे। १५८१ में साम्राज्य को १२ सूबों में विभाजित किया गया। यथा इलाहाबाद, आगरा, दिल्ली, अवध, अजमेर, अहमदाबाद, बिहार, बंगाल, लाहौर, मुलतान, मालवा और काबुल। जब बरार, खानदेश और अहमदनगर भी सम्मिलित हो गए तो सूबे १५ हो गए। बाद में काबुल और कन्धार काश्मीर में, उड़ीसा बंगाल में और सिन्ध या ठट्टा मुलतान में शामिल कर लिए गए।

**सूबों के खण्ड**—सूबों को सरकारों और सरकारों को परगनों में बाँटा गया था। परगना शासन की इकाई उसी प्रकार से थी जैसा आजकल का जिला। भूमिकर तथा अन्य करों के प्रबन्ध के लिए जो विभाग किए जाते थे उनका नाम महाल था। अक्सर महाल और परगने की परिधि एक ही होती थी पर कहीं-कहीं एक ही परगने में कई महाल होते थे। परगने में कई थाने होते थे जिनका कर्त्तव्य पुलिस-सम्बन्धी काम करना था।

**खालसा, जागीर, सुयूरगाल**—शासन-संचालन की आसानी तथा सुचारुता के उद्देश से मुग़ल-भूमि का एक और प्रकार से भी विभाजन किया गया था। बहुत-सी भूमि जागीरों के रूप में राजकर्मचारियों व मन्सबदारों को राजकर वसूल करने के लिए दे दी जाती थी। इसी को आजकल के विद्वान जागीर-प्रथा कहते हैं। किन्तु वास्तव में यह राजस्व वसूल करने और कर्मचारियों तथा सेना के वेतनादि देने का एक सहज उपाय मात्र था। इन जागीरों के अतिरिक्त विद्वानों, गुणीजनों आदि को उनके पालन-पोषण के लिए जागीरें दी जाती थीं। इन्हें सुयूरगाल, तुयूल या मददे मआश कहा जाता था। तीसरे प्रकार की वह भूमि होती थी जो सम्राट् या केन्द्रीय शासन अपने पास रख लेता था। इसको खालसा कहा जाता था। जागीर के साथ यह शर्त होती थी कि जिस प्रकार की सरकारी सेवा के लिए जागीर दी गई हो उसे पूरा करना और केन्द्र की ओर से निश्चित किए हुए कर से एक पाई भी अधिक न वसूल करना। कर वसूल करने के अतिरिक्त और किसी प्रकार का अधिकार जागीर के पानेवाले को नहीं दिया जाता था। जो जागीरें 'मददे मआश' अर्थात् किसी के पालन के लिए दी जाती थीं उनके साथ राजसेवा करने की कोई शर्त नहीं होती थी। जागीरें अक्सर परिवर्तित होती तथा घटती-बढ़ती रहती थीं।

**करद या बाजगुजार रियासतें**—अकबर की नीति का एक आधारभूत सिद्धान्त यह था कि जितने प्राचीन हिन्दू (राजपूत) राज्य थे उनको नष्ट करने के विपरीत

उन्हें मित्र बनाकर कायम ही नहीं रखना किन्तु उनके परिवारों को हर प्रकार उन्नत व सम्मानित करना। इस नीति के अनुकूल उसने राजस्थान के राज्यों को साम्राज्य के निजी सूबों में संयुक्त न करके उनको सम्राट् के अधीन पर आन्तरिक अधिकारों में न्यूनाधिक पूरी स्वतन्त्रता देकर एक अत्यन्त पर नए प्रकार का शासन-खण्ड बनाया। इन सब अधीनस्थ राज्यों का अबुलफ़ज़ल ने जमींदार के नाम से उल्लेख किया है। अन्य सूबों के अन्दर भी छोटे-छोटे इस प्रकार के कुछ राज्य थे किन्तु राजपूताना कुल इन्हीं राज्यों के आधीन था। इन सबको मिलकर भी अकबर ने एक सूबा बनाया और उसका केन्द्र अजमेर में रखा। भिन्न राज्यों को जैसे, बीकानेर, आम्बेर, जोधपुर (मारवाड़), सिरोही, इत्यादि को अजमेर सूबे की सरकार कहा जाता था, किन्तु केवल राजकर उगाहने के उद्देश से। इनका आन्तरिक शासन उनके निजी राजवंशों के हाथों में ही था।

**प्रान्तीय शासन**—प्रान्त (सूबे) की शासन-समिति केन्द्र के अनुरूप ही थी। प्रान्त के अधिकारी वर्ग केन्द्र के पूरी तरह आधीन थे। प्रान्त का शासन केवल संघटन में ही केन्द्र के अनुरूप नहीं होता था किन्तु वास्तविक शासन का रंगरूप भी केन्द्रीय शक्ति के गुणानुकूल होता था। एकतन्त्र सत्ताओं का यही मौलिक 'गुण-दोष' अमिट रहता है। यदि बादशाह का चरित्र अच्छा हो और वह प्रजाहितकारी हो तो उसके कर्मचारी भी प्रायः उसकी नीति का पालन करते और उसका अनुकरण करते हैं।

अकबर के राज्य में सूबे का शासक 'सिपाहसालार' कहलाता था। सामान्य जनता उसे सूबादार या केवल 'सूबा साहब' भी कहती थी। उसके बराबर ही प्रान्तीय 'दीवान' होता था। मुख्यतया प्रान्तीय शासन का भार इन दो अफ़सरों के कन्धों पर था। सिपाहसालार के कर्त्तव्य थे—कार्य-संचालन, रक्षा, अपराधियों का न्याय और सामान्य निरीक्षण। दीवान विशेषतया राजस्व के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी था। किन्तु वह असैनिक (civil) तथा भूमिकर के झगड़ों का न्याय भी करता था। सूबे का बख्शी केन्द्रीय बख्शी के समान बहुत प्रकार के कामों का जिम्मेवार होता था। सेना की हर प्रकार से हर समय, व्यवस्था, निरीक्षण, वेतन-वितरण, छुट्टी, दण्ड आदि देना, सभी उसके कामों में थे। सद्र धर्मार्थ कामों का प्रबन्ध करता था। शायद सूबे में अक्सर सद्र और काज़ी अलग-अलग होते थे। काजी सूबा का न्यायाधीश होता था। कदाचित् उसके साथ जहाँ कार्यभार अधिक हो एक मीर अदल और मुफ़्ती उसकी सहायता के लिए लगा दिए जाते हों, पर प्रायः ऐसा नहीं था। कोतवाल के कर्तव्य थे प्रजा की रक्षा स्वास्थ्य, सफाई और वे सब कार्य आजकल नगरपालिका को करने पड़ते हैं। मीर बहर नदियों के घाटों, बन्दरगाहों (जिन पर असबाब नावों से उतरता-चढ़ता था), घाट-शुल्क, जल-व्यापार आदि का शासन व नियन्त्रण करता था। वाकियानवीस राजा को प्रान्त की घटनाओं, उसके कर्मचारियों को काम-काज, चाल-चलन आदि सब बातों की सूचना पहुँचाता था। इन सबके नीचे काफी बड़ा कर्मचारी-मण्डल (staff) रहता था। जब कभी कोई नवयुवक

राजकुमार किसी प्रान्त का सूबेदार बनाकर भेजा जाता था तो उसके सहायक व परामर्शदाता के रूप में कोई अनुभवी राजनीतिज्ञ अमीर भेजा जाता था जिसे अतालीक कहते थे।

**प्रान्तीय शासन पर केन्द्र के नियन्त्रण के उपाय**—ऐसे युग में जबकि आवागमन के साधन मध्यम गति से चलते थे और भारत सरीखे विशाल देश के दूर-दूर स्थानों से सूचना-केन्द्र तक पहुँचने, या सेनाओं को भेजने में बहुत समय लगता था, प्रान्तीय शासकों के लिए केन्द्र को ठुकराकर स्वतन्त्र हो जाने का काफी प्रलोभन रहता था। ऐसे स्वाधीनता-लोलुप पदाधिकारियों को अधिकार में रखने के लिए मुग़ल सम्राट् ने कई उपाय किए थे। सामान्यतया किसी सूबेदार को दो-तीन बरस से अधिक एक स्थान पर न रहने दिया जाता था। वस्तुतः इससे भी जल्दी-जल्दी परिवर्तन किए जाते थे। दूसरे जहाँ किसी के व्यवहार पर तनिक भी संदेह हुआ, तुरन्त उसे हटा दिया जाता था और अगर उसका अपराध साबित हो जाय तो दण्ड दिए बिना नहीं छोड़ा जाता था। तीसरे सम्राट् का सूचना-विभाग व गुप्तचर-विभाग बहुत ही उपयोगी तथा विस्तृत था। इन कर्मचारियों से सूबे के बड़े-से-बड़े राजसेवक बहुत भयभीत रहते थे। अकबर ने एक और बड़ा उत्तम उपाय सूबे के शासकों को दबाये रखने का निकाला था। सूबेदार और दीवान के पद की स्थिति (atatus) एक समान थी। अतएव दोनों एक-दूसरे पर निगाह रखते थे। यह एक प्रकार का द्वैध राज (dyarchy) प्रान्त में विद्यमान था। चौथे, बादशाह बहुधा स्वयं देश में यात्रा करता था और ऐसे अवसरों पर प्रजा को आमन्त्रित किया जाता था कि आकर अपने दुःख-दर्द की फरियाद करें। अन्त में जनमत का भी काफी भय शासकों को रहता था जो उन्हें अनुचित व्यवहार या अत्याचार करने से रोकता था।

**सरकार और परगना शासन**—कह आए हैं कि प्रत्येक सूबा कई सरकारों और सरकार परगनों में विभक्त होते थे। परगना शासन की निम्नतम इकाई (lowest unit of administration) था। परगने के अन्दर बहुत कुछ शासन-कार्य का भार ग्राम-सभाएँ सँभालती थीं जो प्राचीन सार्वजनिक संस्थाएँ थीं किन्तु मुग़ल सम्राट् ने उन संस्थाओं को बहुत सहायक तथा लाभदायक देखकर उनको स्वीकार कर लिया था।

सरकार का अधिकारी फ़ौजदार होता था तो पूर्वकालीन मुख्य सिक्कदार का स्थानापन्न था। उसकी सहायता के लिए कोतवाल, आमिल तथा क़ाज़ी आदि विभिन्न शासन-शाखाओं का प्रबन्ध करने को होते थे। फ़ौजदार के पास आवश्यकतानुसार छोटी-सी सैनिक टुकड़ी रहती थी, क्योंकि उसका मुख्य कार्य था सरकार के अन्दर सुरक्षा व शान्ति कायम रखना और आततायियों, विधान-विरोधियों, चोर-डाकुओं, राजविरोधियों आदि दुष्टों से राज्य तथा प्रजा की रक्षा करना। आमिल का मुख्य काम था भूमिकर का प्रबन्ध, अर्थात् भूमि-मापन, कर निर्णय करना, वसूल करना और इन सब कामों में परगने के आमिल की सहायता तथा निरीक्षण करना।

कोतवाल और क़ाज़ी के कर्तव्य पहले कहे जा चुके हैं।

परगने में तीन मुख्य कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है : शिक़दार, आमिल या मुन्सिफ़, और क़ानूनगो, इनकी सहायता के लिए क़ोतादार (कोषाध्यक्ष) और लेखक आदि होते थे। शिक़दार परगने में वे सब कार्य करता था जो सरकार में फ़ौजदार और जोतवाल करते थे। वह परगने की रक्षा, कोष की सँभाल तथा दोषियों का न्याय करता था। आमिल के काम में सहयोग देना भी शिकदार का कर्त्तव्य था।

## अकबर के सामाजिक सुधार व धर्म-नीति

**अकबर की नीति का विकास**—अकबर की धर्मनीति को भली-भाँति समझने के लिए उस युग की सामाजिक व साम्प्रदायिक परिस्थिति को दृष्टि में रखना आवश्यक है। इतिहास के बहुधा आधुनिक लेखकों ने अकबर की धार्मिक उदारता को, उसके वंशानुगत संस्कारों, उसके बाल्यकाल की शिक्षा तथा उसकी शिया माता आदि के प्रभावों से उदित होना माना है। निस्सन्देह मनुष्य के जीवन तथा चरित्र पर उसके पूर्वसंस्कारों आदि का बहुत प्रभाव पड़ता है, पर यह नियम प्रतिभावान् मनुष्यों के चरित्र पर चरितार्थ नहीं होता। यदि पैतृक संस्कारों और शिक्षा ने ही अकबर को ऐसा बना दिया था, तब उसके पूर्वजों पर तो पैतृक संस्कार और भी प्रबल प्रभाव डाल सकते थे। अतएव अकबर के चरित्र और उदारचेता होने का कारण यही था कि वह एक असाधारण प्रतिभावान् मनुष्य था और उसके जीवन का प्रत्येक कार्य उसकी नीति आदि सभी उसके आन्तरिक चरित्र तथा भावना का बाह्यकरण था। अतएव उसकी धर्म-नीति का कोई आन्तरिक विकास धीरे-धीरे हुआ हो, ऐसा कहना ठीक न होगा। पर हाँ, यह विकास इन्हीं अर्थों में हुआ था कि जैसे-जैसे अवसर आता गया वह अपने भावों को क्रियात्मक रूप देता गया। अतएव यह बहुत साफ़ तौर से समझ लेना चाहिए कि अकबर की धर्म-नीति उनके आत्मीय भावों तथा विश्वासों से प्रस्फुटित हुई थी न कि किसी निकृष्ट राजनीतिक युक्ति (political expediency) से। अकबर की दृष्टि में मनुष्यमात्र एकसमान थे, साम्प्रदायिक भेदों के कारण कोई छोटा बड़ा, ऊँच-नीच, अथवा पवित्र-अपवित्र न था। अतएव उसकी नीति को सहिष्णु कहना सर्वथा अनुचित है। वह सब मनुष्यों के साथ इसलिए एक समान उदारता का व्यवहार करता था कि वह सबको ईश्वर का एक जैसा पुत्र मानता था, न कि राजनीतिक परिस्थिति के दबाव से। उसकी धर्म-नीति उसके आत्म-विश्वास से उदित हुई थी।

**साम्प्रदायिक विवादों की समस्या**—अकबर के समक्ष ऐसी जटिल समस्या थी जैसी किसी भारतीय सम्राट् के सामने न आई होगी। विशेषकर मुसलमान और हिन्दू धर्मों के मुल्ला और पण्डा-पुजारी, धर्म के पण्डित, संकीर्णमति, अन्धविश्वासी जड़वत् ठेकेदारों के बड़े प्रबल व प्रभावशाली समूहों से राजकीय क्षेत्र में उसी प्रकार

संघर्ष करना था जिस प्रकार सामान्य क्षेत्र में संत लोग इनसे समानोद्धार के हेतु संघर्ष कर रहे थे। बहुधा लेखकों ने यह भ्रम भी फैलाया है कि अकबर की उदारता तथा अन्य बुद्धिसंगत कामों का कारण यह था कि उस पर अबुलफ़ज़ल और फ़ैजी तथा उनके पिता के विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। किन्तु यह धारणा भी सर्वथा निर्मूल है। जब युवक सम्राट् ने यात्रा कर आदि विभेदात्मक करों को बन्द करके अपनी विलक्षण मानवता, बुद्धि तथा निर्भीक होने का परिचय दिया था उस समय तक तो फ़ैज़ी भाईयों का कहीं नाम-निशान भी न था। उस घटना के कई बरस बाद उनका परिचय सम्राट् से हुआ था। अब संक्षेप में उन घटनाओं का उल्लेख किया जाए जिनके द्वारा सम्राट अकबर की धर्म-नीति प्रदर्शित हुई थी।

अजमेर यात्रा के बीच में ही भारमल कछवाहे ने अपनी बेटी स्वयं युवक सम्राट् को भेंट की और उसने इस भेंट को सहर्ष स्वीकार किया परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि सम्राट् ने उस राजपूत देवी को उसका धर्म-परिवर्तन करने का आग्रह तो दूर, उसको राजमहल के अन्दर अपने धर्मानुसार रहने की पूरी सुविधाएँ दीं। इसके अगले वर्ष १५६३ में आगरे की यात्रा के समय मथुरा के यात्रियों पर यात्रा-कर को देखकर उसे बड़ा विस्मय और कष्ट हुआ। उसने इससे होनेवाली आय की हानि की तनिक भी चिन्ता न करके इस अमानुषिक कर को तुरन्त बन्द कर दिया। साथ ही उसने सब धर्मों के माननेवालों को खुली आज्ञा दे दी कि वे अपना पूजापाठ खुले तौर पर कर सकते हैं। १५६४ में अजमेर की यात्रा से लौटते ही सम्राट् ने जज़िया कर भी स्थगित कर दिया। ऊपर कहे गए दोनों करों के हटने और समस्त प्रजा को अपने-अपने धर्म का पालन करने की पूरी स्वतन्त्रता देकर अकबर ने उस अमानुषिक अन्याय को जड़ से मिटा दिया जिसे सभी मुसलमान नरेश हिन्दुओं पर मढ़ते आए थे। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम तथा अन्य सब जातियों को वैधानिक रूप से समान कोटि में रखकर अकबर ने एक सच्चे सार्वजनिक साम्राज्य की स्थापना की।

उसकी धर्म-नीति का ही एक पहलू यह था कि राजपूतों के साथ अधिकाधिक विवाह-सम्बन्ध जोड़ने को उसने प्रोत्साहन दिया और राजकीय नौकरियों में उच्च घरानों के बजाय उच्च-गुणों को अधिक मान दिया यद्यपि परिस्थिति ऐसी थी कि ऊँचे-ऊँचे पदों पर अधिक संख्या मुसलमानों की ही थी पर वकील व वज़ीर या दीवान तक के पदों पर उसने हिन्दुओं को नियुक्त करके अपने सच्चे राष्ट्रीय आदर्श का परिचय दिया। यह ठीक है कि इस नीति से एक पंथ दो काज सिद्ध हुए। समान व्यवहार के साथ-साथ साम्राज्य-सत्ता को दृढ़ करने में इस नीति से बड़ी सहायता मिली।

**सामाजिक सुधार**—उपर्युक्त सुधारों आदि के अतिरिक्त अकबर ने बहुत-से ऐसे सुधार भी किए जो जनता के लाभ, सुख व उन्नति के हेतु थे। इन सुधारों से यह सिद्ध होता है कि सम्राट् की विशाल दृष्टि से प्रजा के जीवन का कोई पहलू

श्रोझल नहीं था, कोई ऐसा रीति-रिवाज न था जिससे होनेवाले लाभालाभ की उसे चिन्ता न हो। इन सुधारों को प्रसारित करने में वह इस बात की तनिक भी चिन्ता न करता था कि किस सम्प्रदाय या जाति के लोग उससे विमुख अथवा नाराज़ हो जाएँगे।

मुसलमानों और ईसाइयों में निकट सम्बन्धियों, चचेरे भाई-बहनों तक के विवाह होने की प्रथा सदा से चली आई है। यह प्रथा जनोत्कर्ष-विज्ञान (eugenics) के बहुत विरुद्ध तथा हानिकारक प्रथा है। अकबर ने १५८७ में निकट सम्बन्धियों के विवाहों को बन्द कर दिया। उसी वर्ष विवाह करने की न्यूनतम आयु लड़कों के लिए १६ और लड़कियों के लिए १४ बरस होने का नियम बनाया। हिन्दू विधवाओं को यदि वे चाहें तो फिर से विवाह करने की आज्ञा दी गई और बहुविवाह (polygamy) को बन्द किया गया। एक से ज्यादा विवाह केवल उस हालत में करने की आज्ञा थी जब कि स्त्री बाँझ हो। इससे पहले १५८१ में अकबर ने यह आज्ञा भी निकाली थी कोई ज़बरदस्ती या केवल इन्द्रिय-लोलुपता के वश होकर विवाह न करे। १५९१ में सती प्रथा को बन्द करने की आज्ञा दी गई। केवल वे स्त्रियाँ ही सती होने से न रोकी जाती थीं जो अपने दृढ़ विश्वास और अटल धार्मिक भाव से सती होने का आग्रह करती हों तथापि छोटी आयु की बालिकाओं को जो कभी अपने पति के पास न रही हों, सती होने से बिलकुल रोक दिया गया। १५९३ में यह नियम प्रसारित किया गया कि विवाह दोनों पक्षों अर्थात् लड़के-लड़की की मरजी से होना चाहिए।

१५९१ में १२ वर्ष से कम के बच्चों का खतना बन्द कर दिया गया। १५८२ में ही शराब का बनाना और बेचना बन्द कर दिया गया। केवल दवा के लिए लैसन्सदार दुकानों से शराब मिल सकती थी। १५९१ में सम्राट् ने वेश्याओं तथा पेशा करनेवाली कुलटाओं को शहर से बाहर एक बस्ती में भेज दिया जिसका नाम शैतानपुरा रखा और पुलिस-कर्मचारियों को आदेश दिया गया कि वहाँ जानेवालों तथा वेश्याओं को अपने घर बुलानेवालों पर निगाह रखें। यदि कोई अमीर या उच्च कर्मचारी इस अनाचार में पकड़े जाते थे तो सम्राट् उन्हें बहुत धिक्कारता था और कभी-कभी दण्ड भी देता था।

**अन्य सुधार**—एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा लाभदायक सुधार अकबर ने १५८४ में यह किया कि हिज्री सन्, जो चान्द्र वर्ष से गिना जाता था, को बदलकर उसके स्थान पर सौर वर्ष को प्रचलित किया। चान्द्र वर्ष के अनुसार प्रत्येक काम में बड़ी कठिनाई होती थी। यह वर्ष सौर वर्ष से ११ दिन कम होता है; अतएव हर तीन साल में इसमें एक महीना बढ़ाने पर सौर वर्ष के बराबर होता है। इससे किसानों और राजकर्मचारियों को भी बहुत ही उलझनें भुगतनी पड़ती थीं। इससे कोई धार्मिक सिद्धान्त सम्बद्ध न था यद्यपि कठमुल्लों को ऐसे सभी लाभकारी कामों में इस्लाम के विरोध की गन्ध आती थी। अनाज व अन्य जमीन से पैदा होनेवाली चीज़ों के मौसम सभी सौर वर्ष के अनुसार चलते थे। प्रकृति के इस नियम को

मुल्लाओं का हिज्री वर्ष कैसे बदल सकता था। अतएव अकबरने वर्षगणना तथा हर प्रकार की आसानी के अभिप्राय से सं० १५८४ में चान्द्र वर्ष के बजाय सौर वर्ष की गणना स्थापित की और उसका आरम्भ पीछे हटाकर अपने सिंहासनारोहण के दिन ११ मार्च १५५६ से कराया। इस नए सन् का नाम इलाही सन् रखा गया।

एक और सन् इसी समय अकबर ने प्रचलित किया जो विशेष रूप से भूमि-कर उगाहने के लिए बनाया था। इसी से इसका नाम फसली सन् रखा। यह सन् स्वेच्छा से ही ९६३ हिज्री में आरम्भ किया गया और तब से उसकी गणना विक्रम संवत् के अनुसार की जाने लगी, अर्थात् ९६३ (सं० १६१२, ई० सं० १५५५) के बाद के फसली सन् सौर वर्ष के अनुसार चलने लगे। यह फसली सन् समस्त देश में भूमि-कर विभाग के सब मामलों में आज दिन तक प्रचलित है।

मांस खाने और पशु-पक्षियों के वध को भी १५७८ के बाद सम्राट् ने अधिकाधिक बन्द कर दिया। ऐसा करने में उस पर कई तरफ़ का प्रभाव पड़ा। उसका मन अपने आप भी मांस-भक्षण से घृणा करता था। उसका विश्वास था कि रक्त में जीवनांश होता है, इसलिए मांस खाना अनुचित है। सबसे अधिक प्रभाव इस प्रसंग में जैन साधुओं का सम्राट् के हृदय पर हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। १५८२ में जगद्गुरु हीराविजय सूरि और उसके दो साथी विजयसेन सूरि व भानुचन्द्र उपाध्याय सम्राट् के आग्रह पर गुजरात से उसके पास आए थे। उनके सादा, निर्मल व निःस्वार्थ जीवन का गहरा प्रभाव अकबर पर पड़ा। उनके परामर्श से अकबर ने कई स्थानों पर पशुहिंसा बन्द कर दी और राजकीय पाकशाला में भी मांस के बनने के बहुत कम दिन नियत कर दिए तथा गायों का मांसाहार व वध बिलकुल बन्द कर दिया।

**अकबर के शिक्षा सम्बन्धी कार्य**—शिक्षा-पद्धति में अकबर ने ऐसे सराहनीय सुधार किए जिनका उदाहरण और किसी मुसलमान बादशाह के जीवन में नहीं मिलता। जिस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली देश में प्राचीनकाल से प्रचलित थी उसका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। अकबर ने सामान्य शिक्षा-पद्धति को बहुत विस्तृत व उदार बनाया। आचारशास्त्र, शिष्टाचार, हिसाब, ज्यामिति, मसाहत, कृषिविज्ञान, ज्योतिष-शात्र, अध्यात्मशास्त्र, गृहस्थ-शास्त्र, तर्क, न्याय आदि विषयों की शिक्षा सबको दी जाने का आदेश दिया गया। संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए वेदान्त, व्याकरण, दर्शन-शास्त्र आदि का अध्ययन आवश्यक किया गया। राज्य की ओर से ऐसे मदरसे खुलवाए गए जिनमें हिन्दू व मुसलमान दोनों मिलकर शिक्षा पा सकें। यह प्रथा शायद पहले किसी मुस्लिम शासक ने प्रचलित नहीं की थी।

**अकबर का सांस्कृतिक व बौद्धिक विकास : दीने-इलाही**—अकबर का सर्वोपरि गुण था संसार की पहेली को समझने की अतृप्त पिपासा, हर प्रकार के ज्ञान की जिज्ञासा और निरन्तर सत्यान्वेषण। अकबर के सांस्कृतिक प्रयोगों व विकासमय अनुभवों का उसकी धर्म-नीति से इतना निकट सम्बन्ध था कि प्रायः लेखक दोनों को एक ही विषय

के समान प्रतिपादित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उसकी धर्म-नीति उसके उसी जन्मजात आत्मीय अंकुर का प्रस्फुटन थी जिसके कारण वह अन्तिम सत्य के दर्शन करने के लिए आमरण उत्कण्ठित तथा अशान्त रहा। उसकी विशेषता यह थी कि इतना अध्यात्म-व्यसनी होते हुए भी वह साम्राज्य के सांसारिक कार्य से न कभी विमुख हुआ और न उसमें किसी प्रकार की त्रुटि आने दी। इतना ही नहीं उसने लगभग बुनियाद से ही एक ऐसे महान् व चिरस्थायी साम्राज्य-भवन का निर्माण किया जिसकी अनन्त सत्ता व सम्पत्ति का आनन्द उसके वंशजों ने पूरी तरह भोगा। ऐसे कर्मठ जीवन के बीच में सत्यान्वेषण के वे सब प्रयोग, जो उसने पग-पग पर किए, अकबर को ऐसे अनुपम स्तर पर खड़ा कर देते हैं जिसका सानी इतिहास में कठिनाई से मिलेगा।

एकेश्वरवादी होते हुए भी हम अकबर को आरम्भ से ही संत-साधुओं, सूफियों व दरवेशों का बड़ा भक्त पाते हैं। जिन स्थानों को सन्तों के चरणों ने पवित्र किया है उनसे उसे बड़ा आत्म-सन्तोष तथा उत्साह मिलता था। इसी कारण उसने ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती की दरगाह की कई बार यात्रा की और पाकपटन के फरीदउद्दीन गंजेशकर तथा दिल्ली (मेहरौली) के शेख निज़ामउद्दीन औलिया के मजारों की भी जियारत की। किन्तु किसी से भी उसकी बिलखती हुई आत्मा की प्यास न बुझ पाई। काजी व सद्रों की नितान्त अयोग्यता, निकृष्ट चरित्र तथा धर्म के अभाव से वह तंग आ गया था। उनके जैसे संसार-लोलुप अकबर की जिज्ञासा को लेशमात्र भी शान्त न कर सकते थे।

१५७३ में जब अकबर गुजरात से फतेहपुर सीकरी वापस आया तो शेख मुबारक ने उससे याचना की कि वह दीनी बातों में जनता (प्रजा) का पथ-प्रदर्शन करे। यह प्रस्ताव किसी प्रकार से भी इस्लामी विधान के विरुद्ध न था। इस प्रश्न की पूरी व्याख्या हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। परन्तु अकबर ने इस सुझाव को स्वीकार करने से पहले अपने को उसके योग्य बनाने के लिए तैयारी करनी शुरू की। उसने बड़े परिश्रम व नियमित रूप से इस्लाम मत का सांगोपांग अध्ययन किया। उसके सद्र तथा अन्य बड़े-बड़े विद्वानों से वह प्रामाणिक ग्रन्थों को पढ़वाकर सुनता था। इनके भिन्न-भिन्न विचारों को सुनकर अकबर ने १५७५ में 'इबादतख़ाना' नाम का एक भवन बनवाया, जिसमें गहन धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श हुआ करे। 'इबादतखाना' इस भवन का नाम इसलिए रखा कि अकबर के लिए सत्य की खोज करना सबसे उत्तम 'इबादत' थी। इबादतखाने में शेख, सैयद, आलिम व अमीर लोगों के लिए चार अलग-अलग दालान बनवाए। पर निष्पक्षता तथा सदसत् की खोज करने के बजाए इन लण्ठ, नक़ली विद्वानों में परस्पर इतने झगड़े होने लगे कि अक्सर बादशाह को स्वयं बीच-बचाव करके उन्हें शान्त करना पड़ता था। बादशाह ने उन लोगों से अनुरोध किया कि उसका उद्देश केवल सच्चाई को खोजना है और सच्चे धर्म के सिद्धान्तों को समझना, अतएव तुम लोगों को

पक्षपात छोड़ निर्भयता से जो वास्तविक सत्य हो उसे बतलाना चाहिए। पर वे सम्राट् के उत्कृष्ट उद्देश से कोसों दूर थे। उसके आदर्श से उन्हें कोई लगाव न था। जब अकबर ने देखा कि इन पढ़े-लिखे मूर्खों से गम्भीर विचार की आशा करना व्यर्थ है तो उसे बड़ी निराशा हुई और उसने सोचा कि अन्य मतों के अधिकारी विद्वानों से भी उनके मतों के सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा की जाए। १५७८ में अकबर ने इबादतख़ाने में ईसाइयों, पारसियों, जैन साधुओं तथा हिन्दुओं को आमन्त्रित किया। १५७९ के २६ जून को अकबर ने फ़ैज़ी के सुझाव को कार्यान्वित करने का उचित अवसर देखकर, अपनी बनाई हुई जामी मस्जिद के **'मिम्बर'** (pulpit) पर स्वयं आसीन होकर इमाम का पद ग्रहण किया और अपने नाम से खुतबा पढ़ा। उसके पहले ख़लीफ़ा लोग ही नहीं, तीमूर आदि अन्य कई बादशाह भी इसी प्रकार कार्य कर चुके थे। हम बतला चुके हैं कि इसलामी विधान के अनुसार तो ख़लीफ़ा (बादशाह) और **इमाम** का पद सम्मिलित ही होना चाहिए, परन्तु सुलतानों की अयोग्यता के कारण इमाम का पद उन्हें छोड़ना पड़ा था। अतः जब अकबर ने देखा कि हठी मुल्ला लोग हर प्रश्न पर झगड़े करते हैं तो, ऐसे अवसरों पर जब उन लोगों में धर्म के अर्थों पर मतभेद हो, बादशाह का निर्णय अन्तिम होगा, यह घोषणा कर दी। ऐसा करने में अकबर ने कोई ऐसा काम नहीं किया जो उसके अधिकार में वैधानिक रूप से न हो। खुतबा पढ़ते समय अकबर ने वे शब्द भी कहे जिन्हें फ़ैज़ी ने उस अवसर के लिए लिखा था, यथा :

उसके नाम पर जिसने हमें बादशाहत प्रदान की,
और साथ बुद्धि व बाहुबल भी दिए।
जिसने हमें न्याय तथा समभाव के गुणों से सम्पन्न किया।
और हमारे चित्त को दोषरहित करके उसमें शुद्ध न्याय के भाव भरे।
उस परमेश्वर की स्तुति हम किन शब्दों में कर सकते हैं,
उसकी श्रेष्ठता गौरवान्वित हो ! ईश्वर ही सबसे महान् है।

कट्टर मुल्ला अब्दुल क़ादिर बदायूँनी ने अकबर के इस कार्य की बड़ी निन्दा की है।

**महजर**—इसके बाद सितम्बर १५७९ में सम्राट् ने एक और आवश्यक काम किया। उसने एक लिखित घोषणा के द्वारा समस्त प्रजा को यह सूचित किया कि भविष्य में यदि किसी इस्लाम मत के सिद्धान्त पर मुफ़्तियों व मुस्लिम विद्वानों में अमिट मतभेद हो तो उसका अन्तिम निर्णायक बादशाह होगा। उसने देखा कि यह कट्टरपंथी हर बात का बहुत संकीर्ण अर्थ बतलाते हैं, अतः ऐसे अवसरों पर जब इनमें अनिवार्य मतभेद हो, अन्तिम निर्णय, कुरान के मन्तव्य के अनुसार करने का अधिकार बादशाह को होगा। इस घोषणा को स्मिथ ने बड़े तिरस्कार के साथ कहा है कि यह अकबर का ईश्वर के समान 'अमोघ' तथा निर्विकल्प बनने का प्रयत्न था। इस घोषणा

को स्मिथ महोदय ने infallibility decree का नाम दिया है। किन्तु उनकी इस टिप्पणी में कितना सार है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। अकबर ने इससे अधिक अधिकार लेने का कोई दावा नहीं किया था जितना किसी राज्य में उच्चतम न्यायाधीश को होता है।

'इबादतखाना' इस समय से धर्म के तुलनात्मक अध्ययन का केन्द्र बन गया। मैक्समुलर ने ठीक ही कहा है कि विदित इतिहास में अकबर 'तुलनात्मक धर्मतत्त्व' का पहला ही विद्यार्थी तथा अन्वेषक था। परन्तु ईसाई पादरियों ने, जिनकी पहली मण्डली १५८० में बादशाह के पास पहुँची थी, इस शुभ कार्य में विघ्न डाला क्योंकि वे कूप-मण्डूकों के समान यह देख ही न सकते थे कि संसार कितना विशाल और उसकी समस्या कितनी जटिल व गहन है। फिर यह कब सम्भव था कि वे अकबर के महान् अभिप्राय तथा उसकी चिन्ता को समझ पाते। वे तो इस आशा ही नहीं पूरे विश्वास से भरे हुए आए थे कि मुगल सम्राट् को ईसा की भेड़ों में भरती करने का यश कमाएँगे। उनके तुच्छ मस्तिष्क व बुद्धि इस बात से और भी प्रोत्साहित हो गए कि सम्राट् ने उनका बड़े आदर से सत्कार किया। उन्होंने इससे उत्तेजित होकर इसलाम धर्म की कड़ी आलोचना करनी शुरू की, विशेषकर **मॉन्सेरेट** ने अत्यन्त अश्लीलता से नबी और इस्लाम पर कटाक्ष करके अपनी असभ्यता का प्रदर्शन किया। इस पर सम्राट् ने उनसे सभ्य ढंग से बातचीत करने को कहा पर अतिथि होने के नाते उनकी पूरी तरह रक्षा की, यद्यपि उनके ऐसे अनुचित व्यवहार से सम्राट पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। जब इन ईसाइयों को अपने उद्देश में सफल होने की आशा न रही तो वे बड़े खिन्न हुए और सम्राट् को एक प्रकार की पहेली समझने लगे। दो वर्ष के बाद ये लोग बड़े निराश होकर वापस गोआ लौट गए। उनकी मण्डली का एक आदमी पादरी एक्वावाइवा पीछे ठहरा रहा। यह अन्यों से अधिक सज्जन था।

(**दीने-इलाही १५८२**)—इस घटना-चक्र की अन्तिम और सबसे अधिक विवादास्पद घटना थी अकबर का 'दीने-इलाही' नामक संस्था का निर्माण करना। उसके दीर्घ अनुभव तथा अध्यवसाय ने अकबर को इस परिणाम पर पहुँचा दिया था कि सब धर्मों में सत्य का अंश है। सत्य किसी एक धर्म या मत की जायदाद नहीं है। उसका ईश्वर की सत्ता तथा सर्वशक्तिमत्ता में अनन्य विश्वास था और वह यह समझता था कि यह संसार उस ईश्वर की शक्ति का प्रतीक है। प्रत्येक मन्दिर, मस्जिद, गिरजे आदि में भिन्न प्रकार से सब मनुष्य उसी एक सच्चिदानन्द की आराधना करते हैं। उसकी यह सच्ची धारणा थी कि मनुष्य का हर काम ईश्वरार्पण भाव से होना चाहिए। अतएव वह सम्प्रदायों के संकीर्ण कट्टरपन और धर्म के ठेकेदारों को सामाजिक शान्ति से शत्रु समझता था। वह यह भी चाहता था कि देश के गण्य-मान्य लोगों को, जो समझदार तथा विद्वान् होने से उदार तथा उत्तम विचारों का प्रसार कर सकते और जाति का नेतृत्व कर सकते हैं, कोई ऐसा मार्ग निकालना चाहिए जिसमें साम्प्रदायिक भेद-भावों को भूलकर सब लोग शाश्वत धर्म के सार्वभौम, सर्वमान्य आचरणयुक्त सिद्धान्तों के

अनुयायी हो सकें। जब उसने यह प्रस्ताव अपनी परिषद् के सामने विचारार्थ रखा तो सबने एक स्वर से यही कहा कि स्वयं सम्राट् ही हर प्रकार से इस कार्य का नेतृत्व करने के योग्य हैं। उनमें कई ऐसे भी थे जो सम्राट् के अनुपम गुणों के कारण उसे गुरु स्वीकार करते थे। उन्होंने एक सभा की स्थापना की और अकबर को अपना गुरु माना। अकबर ने इस पद को बड़ी गम्भीरता तथा उसके उत्तरदायित्व के भार को पूरी तरह समझकर उसे ग्रहण किया। उसका कहना था कि किसी मनुष्य को अपना शिष्य (मुरीद) बनाना आसान काम नहीं है। गुरु का कर्तव्य है कि शिष्य को आध्यात्मिक शिक्षा दे सके और उसका आत्मिक उत्कर्ष कर सके। इस सभा के सब मनुष्य सदस्य हो सकते थे। उनको रविवार के दिन दीक्षा दी जाती थी। दीक्षा पानेवाले को शिष्य भाव से गुरु (अकबर) के चरणों में सिर रखकर प्रण करना पड़ता था। तब अकबर उसे 'अल्लाहो अकबर' अर्थात् 'ईश्वर ही सबसे महान् है' की शिक्षा देता था। शिष्यों को अन्य बातों के अतिरिक्त वह भी आदेश दिया जाता था कि वे यथाशक्ति निरामिषभोजी बनें और मांसाहार से बचें। सदस्यों को अपने धर्म त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं। बदायूँनी का यह कहना कि मुसलमानों को इस्लाम त्यागना पड़ता था, सर्वथा मिथ्या लांछन है। इस सभा की न तो कोई धर्मपुस्तक थी, न अन्य कोई साम्प्रदायिक चिह्न ही। अतएव इसे एक नया मत कहना मौलिक भूल है। स्मिथ महोदय ने अकबर के इस **'सांस्कृतिक ऐक्य'** के प्रयास की मूढ़मति अलाउद्दीन खल्जी के एक नवीन धर्म का प्रवर्तक होने की चेष्टा से तुलना की है और कहा है कि अलाउद्दीन ने तो इतनी समझदारी से काम लिया कि मित्रों के प्रतिरोध करने पर उसने अपने इस दुस्साहस को तुरन्त त्याग दिया, पर अकबर अनन्त शक्तिमान होने की लालसा से इतना अन्धा हो रहा था कि उसने किसी की न सुनी। स्मिथ साहब की इस तुलना के साहस के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारत के अद्वितीय सम्राट् को किसी प्रकार तिरस्कृत करने की अन्धी लालसा में वे भूल गए कि अकबर-सरीखे ज्योति-स्तम्भ, प्रतिभावान के जीवन-भर की आध्यात्मिक साधना के परिणाम की मूर्ख अलाउद्दीन के अनर्गल दुस्साहस से तुलना करना, अपनी ऐतिहासिक गवेषणा पर कलंक लगाना है। वास्तविकता यह थी कि दीने-इलाही मानने वालों की मण्डली एक प्रकार की सांस्कृतिक गोष्ठी थी जिसके उत्कृष्ट मन्तव्यों को वे ही समझ सकते थे जो स्वयं उदारचेता, विचारशील, अनुभवी तथा निष्पक्ष विद्वान् हों। साधारण मनुष्यों के लिए इसका समझना और उससे सहानुभूति रखना सम्भव न था। इस सभा के मंच पर सम्राट् के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन में हर सम्प्रदाय व फिरके के लोग विश्व-भ्रातृत्वभाव से मिलते थे। यहाँ वे अपने संकीर्ण साम्प्रदायिक विश्वासों की तंग गलियों से निकलकर विश्व-प्रेम और ईश्वर-भक्ति के स्वतन्त्र व विशाल भूखण्ड में विचरने और उसकी संजीवनी वायु में श्वास लेने का अवसर पाते थे।

**अकबर का तुलनात्मक धर्माध्ययन**—गोआ के ईसाई लोगों के अकबर के

दरबार में आने का उल्लेख पहले कर आए हैं। अकबर की इच्छा के अनुसार गोआ के पादरियों की पहली मंडली रूडोल्फो ऐक्वावाइवा के नेतृत्व में फरवरी १५८० में आगरे पहुँची। अकबर ने उन्हें आगरे में एक छोटा गिरजा बनाने की आज्ञा दी। फ़ैज़ी को आज्ञा हुई कि बाइबिल का फ़ारसी में अनुवाद करे। उनके प्रवचनों को सुनने तथा उनके आदर-सत्कार में अकबर ने कोई कसर न की। अपने बेटे मुराद को ईसाई धर्म की शिक्षा उनसे दिलवाई पर उस युवक पर उनका कोई असर न हुआ। इन लोगों की इस यात्रा का एक लाभ यह हुआ कि पादरी मॉनसेरेट ने अपने पर्यटन का एक वृत्तान्त लिखा जो उस समय के इतिहास का एक अच्छा ग्रन्थ है। पादरी रूडोल्फ को छोड़कर यह मण्डली १५८२ में हताश होकर वापस लौट गई और रूडोल्फ भी १५८३ में चला गया। १५९० में सम्राट् ने फिर पादरियों को दरबार में आने के लिए लिखा। इस बार एक प्रसिद्ध विद्वान् पादरी लिओग्रिमोन के नेतृत्व में १५९० में वे आए। सम्राट् ने मार्ग के सब सरकारी कर्मचारियों को आदेश दे दिया था कि उनकी सुरक्षा तथा समुचित आदर का प्रबन्ध करें। लिओ के साथ एडवर्ड लाइटानस व क्रिस्टोफर दे बेगा भी भेजे गए थे। इन लोगों का सम्राट् ने लाहौर में १५९१ में स्वागत किया। इन लोगों ने भी यथाशक्ति प्रयत्न कर लिया कि सम्राट् को ईसाई बना लें पर असफल रहे और १५९२ में यह मंडली भी वापस चली गई। तीसरी मंडली सम्राट् के पत्र जाने पर फिर १५९४ में आई। इस बार फिर गोआ के वाइसराय ने बड़ी आशा लगाई कि पादरियों के प्रयास का कुछ अच्छा परिणाम निकलेगा। इस मिशन का नेता फान्सिस जेवियर का पोता जैरोम जेवियर था। उसके साथ दो और पादरी आए। उनको आदेश दिया गया था कि दो वर्ष तक मुग़ल दरबार में ठहरें और सम्राट् को ईसाई बनाने तथा पुर्तगालियों के आर्थिक लाभ का प्रयत्न करें। दो बरस ठहरकर यह मण्डली भी हताश होकर लौट गई।

**अकबर और पारसी पण्डित**— अग्नि के पुजारी जरथुस्त्र के अनुयायी भारत में पारसी कहाते हैं। १५७३ में गुजरात की विजय करके जब सम्राट् सूरत पहुँचा था तो वहाँ नवसारी के दस्तूर मेहरजी राना से, जो उस समय पारसी धर्म के सबसे महान् पण्डित माने जाते थे, उसकी भेंट हुई थी। १५७८ में जब सम्राट् ने **'इबादत-ख़ाने'** के शास्त्रार्थ में शामिल होने के लिए अन्य मतों के विद्वानों को बुलाना आरम्भ किया था, मेहरजी राना को भी आमन्त्रित किया और उसके धर्मोपदेशों को बड़े ध्यान से सुना। मेहरजी ने इबादतख़ाने के सर्वधर्मसम्मेलन में बड़ा सराहनीय भाग लिया। एक वर्ष के करीब ठहरकर वह सूरत वापस लौट गया। अकबर के ऊपर पारसी धर्म का यह प्रभाव हुआ कि उसने राजप्रासाद में एक अखंड अग्नि प्रज्वलित कराई, और सूर्य आदि ज्योति के पुंजों का वह बड़ा मान करने लगा। सायंकाल को दीपक जलते समय समस्त दरबारियों को आदर भाव से खड़ा होने का नियम चलाया। कहते हैं कि अकबर ने सूर्य की पूजा का भी अनुभव किया था। उसने फारस का तिथिक्रम भी प्रचलित किया।

**जैन पण्डितों से सम्पर्क**—जैन विद्वानों से सम्राट् का किस प्रकार सम्पर्क हुआ इसकी चर्चा पहले कर चुके हैं। १५८२ में प्रसिद्ध जैन साधु हीराविजय सूरि को साग्रह आमन्त्रित किया और उस महात्मा की प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा निर्लेप त्यागी जीवन से इतना प्रभावित हुआ कि उसने मांसाहार का लगभग बिलकुल परित्याग कर दिया, बहुत से बन्दियों को मुक्त कर दिया और पशु-पक्षियों को मारना वर्ष के बहुत-से दिनों पर बन्द कर दिया। हीराविजय सूरि को सम्राट् ने बहुमूल्य दक्षिणा देनी चाही पर उस वीतराग साधु ने कुछ स्वीकार न किया। सम्राट् ने उसे जगद्गुरु की उपाधि से विभूषित किया। अबुलफ़ज़ल ने अकबरी युग के २१ सर्वोत्तम तत्त्व-वेत्ताओं की सूची में हीराविजय का नाम भी शामिल किया है। हीराविजय के अतिरिक्त शान्तिचन्द्र, विजयसेन सूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय आदि कई जैन साधु अकबर के दरबार में रहे। ये सब **'तपागछा'** सम्प्रदाय के थे। १५९१ में **'खरतरगाछा'** के सुविख्यात साधु जिनचन्द्र सूरि की ख्याति सुनी और उसे भी आमन्त्रित किया। यह साधु खम्बात से लाहौर तक पैदल आया। सम्राट् ने उसका बड़े सम्मानपूर्वक स्वागत किया। इस साधु की धर्मा-व्याख्याओं से सम्राट् बहुत प्रभावित हुआ और उसकी आत्मा को बड़ी शान्ति मिली। जिनचन्द्र ने भी दान-दक्षिणा लेने से इनकार किया। सम्राट् ने उसे **'युग-प्रधान'** की पदवी से अलंकृत किया। लाहौर में सम्राट् के संग चातुर्मास करके जिनचन्द्र सूरि उसके साथ काश्मीर गया और फिर १५९३ में वह वापस लौट गया।

**हिन्दू-पण्डितों से सम्पर्क**—अन्य धर्मों के तत्त्वों के साथ सम्राट् को हिन्दू दर्शन के तत्त्वों का अध्ययन करने की उत्कण्ठा भी बड़ी प्रबल थी। वह हिन्दू साधु-सन्तों के चमत्कार देखने को भी उत्सुक रहता था। उसके दरबारियों में भी टोडरमल और बीरबल सरीखे हिन्दू विद्वान् थे। किन्तु सम्राट् ने दो प्रसिद्ध पंडितों—देवी और पुरुषोत्तम—को हिन्दू दर्शनों की व्याख्या करने के लिए महल में बुलवाया। शायद ये लोग महल के अन्दर आना पसन्द न करते थे। सम्राट् अकबर ने यह प्रबन्ध किया कि रात के समय ये लोग अकबर के सोने वाले कमरे की दीवार पर, चारपाई पर बिठलाकर ऊपर खींच लिए जाते थे और वहीं से बैठे-बैठे ये लोग हिन्दू-दर्शन की व्याख्या सम्राट् को सुनाते थे। इसके अतिरिक्त वे मूर्ति-पूजा, सूर्यादि देवताओं की पूजा, अवतारवाद आदि अनेक विषयों की व्याख्या भी करते थे। महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, राम व कृष्ण के विषय में हिन्दुओं के सिद्धान्तों की व्याख्या सम्राट् ने इन्हीं से सुनी। इनके प्रवचन से वह आवागमन के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास करने लगा। इन्हीं पंडितों ने उसे योग और मन्त्रशक्ति का रहस्य बतलाया। उसकी ऐसी रुचि से लाभ उठाने के लिए बहुधा रंगे साधु भी अपनी करामातें दिखलाने आते थे किन्तु सम्राट के सामने जल्दी ही उनका मायाजाल खुल जाता था। हिन्दुओं के कतिपय त्यौहारों आदि को भी अकबर अपने प्रासाद में मनाने लगा था। इसका कारण यह था कि वहाँ राजपूत रानियाँ अपने विश्वासानुसार सब काम करना चाहती थीं और उन्हें

इसकी पूरी स्वतन्त्रता थी। इन्हीं के प्रभाव से अकबर ने दाढ़ी भी कटवा दी थी। हिन्दू प्रजा सम्राट् को 'धर्मावतार' मानकर प्राचीन हिन्दू नरेशों के समान ही पूजती थी। उन्हीं के प्रभाव से अकबर ने प्रतिदिन सवेरे उन्हें दर्शन देने की प्रथा जारी की। प्रजा की उसके प्रति अनन्य श्रद्धा का परिचय इस बात से मिलता है कि सम्राट् के दर्शन किए बिना वे भोजन नहीं करते थे। जैन मुनि सिद्धिचन्द्र उपाध्याय कृत भानुचन्द्र-चरित में सम्राट् को अपने युग का 'राम' कहा है और लिखा है : 'न सा कला, न तद्ज्ञानं, न तद् धैर्य न तद्बलम्; शाहिना युवराजेन नैवोद्यमः कृतः।' कोई कला, विज्ञान, अथवा शूरता का काम ऐसा न था जिसमें सम्राट् ने पूरा उद्यम न किया हो। अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने के हेतु सम्राट् ने बड़े-बड़े संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद फारसी में कराए। इनमें अथर्ववेद, महाभारत, रामायण, हरिवंश, कल्हण-कृत राजतरंगिणी, भास्कराचार्य-रचित लीलावती उल्लेखनीय हैं।

**अकबर का चरित्र**—अकबर का स्थान इतिहास के सबसे महान् सम्राटों में है। उसकी उज्ज्वल कीर्ति तथा अद्वितीय प्रतिभा सूर्य के समान भारतीय इतिहास के क्षितिज पर शाश्वत रूप से देदीप्यमान रहेगी। कई प्रकार से अकबर की तुलना सम्राट् अशोक से की जा सकती है। जिस प्रकार अशोक अपनी प्रजा ही नहीं वरन् मनुष्यमात्र के चरित्रोद्धार के लिए प्रयत्नशील रहता था, उसी प्रकार अकबर भी सोते-जागते हर समय और हर प्रकार से अपनी प्रजा के उद्धार की चिन्ता में लगा रहता था। एक समकालीन जैन मुनि के वचन का उद्धरण हम ऊपर कर आए हैं जिसने लिखा है 'कि कोई ज्ञान सम्बन्धी, समाज-सुधार सम्बन्धी अथवा अन्य कार्य ऐसा नहीं था जिसमें सम्राट ने पूरा-पूरा उद्यम न किया हो।' अकबर के चरित्र को सम्यक् रूप से समझने के लिए दो मौलिक बातों का याद रखना आवश्यक है। अकबर अन्य सम्राटों की भाँति महत्त्वाकांक्षी तथा क्रियाशील होते हुए भी मौलिक रूप से एक जिज्ञासु था जिसकी आत्मा सदैव इस संसार की पहेली को समझने और मनुष्य के अन्तिम ध्येय का दर्शन करने के लिए उत्कंठित रहती थी। अन्तरात्मा की इसी उत्कण्ठा को बुझाने के लिए वह विभिन्न धर्मों के अधिकारी आचार्यों को बुला-बुला कर उनसे धर्मतत्त्व तथा अध्यात्म विषय पर विचार-विमर्श करता रहता था। उसका दूसरा मौलिक गुण था प्रयोगशीलता तथा सत्यान्वेषण। जैसा उसके समस्त जीवन से स्पष्ट है, प्रत्येक विषय में वह बराबर नए नए प्रयोग व नई खोज करता रहता था। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या शिक्षा-विभाग, यहाँ तक कि व्यापारी तथा व्यावसायिक क्षेत्र आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं था जिसमें कुछ न कुछ संशोधन सम्राट् अकबर ने न किया हो। उसकी इस स्फूर्ति व सर्वतोमुखी कृतियों के कारण ही कट्टरपंथी मुसलमान मुल्ला आदि उससे असन्तुष्ट रहते थे और उसे मुसलमान धर्म का द्रोही तथा नाशक समझते थे। उनकी इस भ्रान्ति को कतिपय आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने भी तोते के समान दुहरा दिया है। परन्तु यह सर्वथा अन्याय है। अकबर के कार्य का वास्तविक रूप यह था कि वह अपने युग का पूर्णरूप से प्रतिनिधि

था। उत्तर भारत में १५वीं शती से ही सामाजिक व धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध एक भारी आन्दोलन आरम्भ हो गया था, जिसके नेता रामानन्द, नानक, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुष थे। इन महापुरुषों ने जो सामाजिक सुधार धार्मिक क्षेत्र में रहकर करने का प्रयत्न किया वे सब सुधार और उनसे भी अधिक आर्थिक व राजनीतिक सुधार अकबर महान ने राजनीतिक स्तर से करने का प्रयास किया और इसमें उसको बहुत-कुछ सफलता भी हुई। सामाजिक सुधार करने में उसको अशोक महान् से भी बहुत अधिक बाधाओं तथा विरोधी दलों का मुकाबला करना पड़ा क्योंकि जहाँ अशोक को केवल एक पुजारी दल अर्थात् ब्राह्मणों से भुगतना पड़ा वहाँ अकबर को दो कट्टरपंथी दलों का सामना करना पड़ा अर्थात् मुसलमान मुल्ला वर्ग और अन्धविश्वासी हिन्दू दल। अतएव अकबर पहला ही सम्राट् था जिसने राजाओं और पुजारियों तथा धर्म के ठेकेदारों की गुटबन्दी को छिन्न-भिन्न करके एक स्वतन्त्र विचारधारा के वायुमण्डल की रचना की। शासन की ऐसी उदार नीति से उसने वह वायुमण्डल स्थापित कर दिया जिसमें सन्त-साधु व समाज-सुधारक बेधड़क अपना कार्य कर सकें।

एक आध्यात्मिक अन्वेषक के रूप में अकबर को हम उतना ही महान् पाते हैं जितना अन्य क्षेत्रों में। उसके सर्वव्यापी सुधार भी उसकी इस आध्यात्मिक साधना का ही क्रियात्मक रूप था। जैसा हम देख चुके हैं, इस साधना का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि अकबर ने एक प्रकार का सर्व-धर्म-सम्मेलन करने के अभिप्राय से दीने-इलाही नामक आध्यात्मिक संघ की स्थापना की। इस विषय का विवेचन विशद् रूप से ऊपर किया जा चुका है।

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होगा कि अकबर का व्यक्तित्व केवल राजनीतिक व सैनिक क्षेत्रों तक ही सीमित न था, जैसा कि सामान्य रूप से समझा जाता है। तथापि इन क्षेत्रों में भी अकबर को इतिहास के महत्तम सम्राटों की श्रेणी में रखा जा सकता है। एक दूरदर्शी, कार्य-कुशल, नीतिज्ञ तथा सैनिक-युक्ति-निपुण मनुष्य की ही योग्यता, ऐसी परिस्थिति में जिसमें नवयुवक अकबर एक छोटे-से राज्य के सिंहासन पर बैठा था, उस राज्य को एक महान् साम्राज्य के रूप में परिवर्तित कर सकती थी। आरम्भ से ही उसने अपने युद्ध-कौशल तथा निर्भीक वीरता का परिचय दिया था। उसका आदर्शवाद अकबर को अकर्मण्य न बना सका। अतएव जब कभी साम्राज्य के हित के लिए बल तथा क्रियाशीलता का प्रदर्शन करने की आवश्यकता पड़ी उसने ऐसे अवसरों पर भी अद्वितीय पराक्रमी व कर्मठ होने का परिचय दिया।

शासन-व्यवस्था तथा राजनीति के क्षेत्र में तो अकबर की प्रतिभा अद्वितीय थी और शायद रहेगी। साम्राज्य के समस्त अंग-प्रत्यंगों का सुधार करने के लिए उसने नए-नए संशोधन व परिवर्तन किए। सेना-विभाग, वित्त-विभाग, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य आदि सभी में अकबर की प्रतिभा का प्रमाण हमें मिलता है। अपने ५० वर्षीय राजत्वकाल में अकबर ने साम्राज्य के भवन को इतना परिपक्व तथा सर्वांग

सम्पूर्ण कर दिया और उसकी नींव ऐसे दृढ़ सिद्धान्तों पर रख दी थी कि साम्राज्य का वह ढाँचा एक प्रकार से अमर हो गया। उसके वंशधरों ने साम्राज्य-संगठन तथा शासन-व्यवथा में कोई उल्लेखनीय अथवा मौलिक परिवर्तन व संशोधन नहीं किए। और यद्यपि तीन पीढ़ी के बाद मुगल-वंश पतनोन्मुख हुआ और उसके सम्राट् अत्यन्त विलासी, क्रूर तथा अयोग्य हुए तथापि साम्राज्य का भवन मराठी व अंग्रेजी सत्ता के आगमन तक वैसा ही बना रहा। इतना ही नहीं, देश के पाश्चात्य विजेताओं व शासकों को भी अकबर-विरचित शासन-संस्थाओं को ही ग्रहण करके अपनी शासन-व्यवस्था का निर्माण करना पड़ा।

अकबर का वैयक्तिक जीवन भी एक मध्यकालीन सम्राट् की स्थिति को दृष्टि में रखते हुए बहुत संयमी था। उसके विलासी होने के सम्बन्ध में जो गाथाएँ प्रचलित हो गई हैं उनका कोई ऐतिहासिक प्रमाण हमें नहीं मिलता। सारांश यह है कि अकबर अपनी अद्वितीय प्रतिभा तथा बहुमुखी कृतियों के कारण विश्व के महान् सम्राटों में एक देदीप्यमान सूर्य के समान इतिहास के क्षितिज में चमकता है। साहित्य, कला, उदार-नीति, धर्म-प्रेम, उच्चतम राजनीति आदि अनेक गुणों से सम्पन्न अकबर अपने पूर्वजों तथा अनुगामियों के मध्य में एक गगनचुम्बी पर्वत-शिखर के समान दीख पड़ता है। उसकी तुलना में मध्यकालीन युग के अन्य शासक अत्यन्त क्षुद्र व तुच्छ दीख पड़ते हैं।

तीस

# अकबरी युग की सांस्कृतिक देन व भावी समाज पर प्रभाव

**भक्तिमार्ग आन्दोलन, समाजोत्थान तथा हिन्दी भाषा व साहित्य का विकास**—पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के समाज के धार्मिक विश्वासों व सामाजिक कुरीतियों का चित्रण इससे पहले अध्याय में किया जा चुका है। यहाँ हम पाठकों का ध्यान इस आवश्यक तत्त्व पर आकर्षित करना चाहते हैं कि मुसलमान बादशाह और उसकी राजनीतिक कृतियों का इतिवृत्त ही उस युग के इतिहास अथवा भारतीय जीवन के मुख्य सूत्रों को समाप्त नहीं कर देता है। भारतीय समाज के सांस्कृतिक, साहित्यिक महासूत्र तथा सामाजिक जीवनधारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होते रहे और इन क्षेत्रों में जो नवीन घटनाएँ घटीं उनका महत्त्व किसी भी प्रकार से राजनीतिक घटनाओं से कम नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि इन सामाजिक तत्त्वों की प्रगति तथा उसके परिणाम राजनीतिक घटनाओं के परिणामों की अपेक्षा बहुत चिरस्थायी हुए और रहेंगे। विदेशी तुर्क अफ़गान शासन की तो बात ही क्या, वह मुग़ल साम्राज्य भी, जिसका भव्य-भवन अकबर महान् की प्रतिभा ने राष्ट्रीय आधार पर खड़ा किया और भारतीय संस्कृति के स्तम्भों पर जिसका निर्माण किया, काल के अनवरत प्रवाह में विलुप्त हो गया। परन्तु शंकर व रामानुज, निम्बार्क और रामानन्द, कबीर, नानक, दादू व चैतन्य, तुलसीदास व सूरदास तथा मीराबाई व बल्लभ, रैदास व मलूकदास प्रभृति साधु-सन्तों का प्रभाव भारतीय समाज के दैनिक जीवन, उसकी सांस्कृतिक व साहित्यिक सम्पत्ति, उसकी विभिन्न भाषाओं पर आज तक पूर्णतः विद्यमान है। इसी प्रकार शिल्प, कला तथा विज्ञान आदि के क्षेत्रों में भी तत्कालीन पराक्रमों का उतना ही प्रभाव भारतीय जीवन पर है।

**अकबर से पूर्व इस्लाम का प्रभाव**—दूसरी आवश्यक बात याद रखने योग्य यह है कि यद्यपि राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्रों में देश पर इस्लाम के आघात का गहरा प्रभाव पड़ा था, किन्तु नगरों के बाहर ग्रामीण जनता एवं शहरों की भी सामान्य जनता के आध्यात्मिक व मानसिक जीवन पर कोई कथनीय प्रभाव नहीं पड़ा। जनता का अधिकांश भाग राजा को राजभोग अथवा राजस्व (royal dues) देता और

राजा उनकी रक्षा तथा आर्थिक जीवन की रक्षा व अभिवृद्धि का यथायोग्य प्रबन्ध करता। इन क्षेत्रों के बाहर इस्लाम का प्रभाव शून्य के समान था। आततायी शासकों तथा बाहरी शत्रुओं के विनाशकारी आक्रमण इसी प्रकार आते और चले जाते थे जिस प्रकार दुर्भिक्ष या महामारी आते और बीत जाते हैं। उनके बीत जाने पर जनता फिर अपनी सामान्य दिनचर्या में रत हो जाती थी। उनका नैसर्गिक रहन-सहन, उनके आमोद-प्रमोद, ग्रामशिल्प व कला, ग्रामगीत, प्राचीन महापुरुषों के जीवन का मौखिक अध्ययन, आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन, श्रवण व प्रवचन, परस्पर एक परिवारोचित आदर्शों व परम्पराओं का पालन व अनुसरण—जीवन के ये मौलिक तत्त्व भारतीय जनता को जीवित-जागृत बनाए रहे। यदि उनके धार्मिक जीवन में वे त्रुटियाँ न आ गई होतीं जो अन्धविश्वास, रूढ़िवाद तथा पंडा-पुजारियों की मानसिक दासता के कारण प्रत्येक समाज को तार्किक, वैज्ञानिक व बौद्धिक सिद्धान्तों के अनुसार प्रगतिशील रहने व उन्नति करने के सर्वथा अयोग्य बना देती हैं, और यदि इस्लाम का कठोर निर्बुद्धिवाद तथा 'बाबावाक्यं प्रमाणं' का घातक सिद्धान्त भारत की जनता को शिथिल न बना देता, तो निस्सन्देह यह जाति जिसकी संस्कृति व सामाजिक जीवन प्राचीन विश्वव्यापी एवं मौलिक रूप से बौद्धिक सिद्धान्तों पर आधारित थे, अनवरत उन्नतिशील व प्रगतिशील बनी रहती। भारतीय जाति की बौद्धिक व वैज्ञानिक प्रगति को शिथिल कर देने का जितना उत्तरदायित्व नवीन ब्राह्मण धर्म के पंडा पंथ पर है उससे भी अधिक इस्लाम के मौलिक निर्बुद्धिवाद तथा संकीर्ण दृष्टिकोण पर है। हिन्दुओं की छूतछात, विधवा स्त्रियों के साथ घोर दुर्व्यवहार आदि कुप्रथाओं के कारण जो हिन्दू मुसलमान बन जाने को विवश हो गए थे वे भी अपने विश्वासों, रीति-रिवाजों, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा आदि को न भूले थे। ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ नए मुसलमान चुपके-चोरी मन्दिरों में पूजा करना चाहते थे और गंगा-स्नान करने जाने की अत्यन्त उत्कण्ठा उनके अन्दर बनी रहती थी, पर हिन्दू धर्म के संकीर्ण, दुर्बुद्धि ठेकेदारों ने इनको देवस्थानों के पास न फटकने दिया। पर जैसा कह आए हैं, इनके दैनिक जीवन में दोनों के सामाजिक व आर्थिक सम्बन्ध पहले के समान ही बने रहे। उनमें किसी प्रकार की बाधा न आई। दोनों से ही मुसलमान शासक राजभोग (कर) वसूल कर लेते थे। इनको चुकाकर ये लोग फिर अपने सामान्य जीवन-निर्वाह में लग जाते थे। एक बात इसी प्रसंग में ध्यान देने की यह है कि मुस्लिम आक्रान्ताओं व विजेताओं के कृत्यों, उनकी मारकाट, लूट-पाट का कोई उल्लेखनीय महत्त्व भारतीय जनता के मन में नहीं था। इसीलिए तत्कालीन हिन्दू-साहित्य में इन दुर्घटनाओं का बहुत ही कम निर्देश पाया जाता है। व्यक्ति व समाज के सुकार्यों को ही वे उल्लेखनीय समझते थे। इसी अभाव के कारण आधुनिक इतिहासज्ञों ने यह परिणाम निकाल लिया है कि हिन्दू साहित्य में इतिहास का अभाव है और इतिहास लिखने का सूत्रपात भारत में मुसलमानों ने ही किया था। यह धारणा भ्रममूलक है क्योंकि इतिहास के विद्यार्थियों ने क्रमागत घटना-वृत्तान्तों को

ही इतिहास समझ लिया है। उन्होंने यह न सोचा कि इतिहास की कल्पना (conception) इससे भिन्न भी हो सकती है।

**तत्कालीन सुधार आन्दोलन: उसके अनेक परिणाम**—अकबरकालीन साहित्य का निर्देशन प्राय: दो भागों में किया जा सकता है अर्थात् उत्तराखंड का साहित्य और दक्षिणापथ का साहित्य। उत्तराखंड में संस्कृत साहित्य की उन्नति मुसलमानी शासन के आरम्भ से बहुत शिथिल हो गई थी। तथापि काशी, नवद्वीप आदि विद्यापीठों में प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ एवं कहीं-कहीं ऐसे ग्रन्थ लिखे जाते रहे जिनमें मुख्यतया पूजा-पाठ आदि कर्मकाण्ड के बाह्य रूप की व्याख्या बड़े विस्तार से की गई। साथ ही जो ग्रन्थ विभिन्न कलाओं, वास्तु, शिल्प आदि पर लिखे जाते थे उनमें भी विशेषतया नवीन हिन्दू धर्म के पाखण्ड की स्पष्ट छाप रहती थी। उदाहरण के लिए राजा टोडरमल ने अपने आश्रित पंडितों से बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखवाए और स्वयं भी कई ग्रन्थ रचे। इनमें सबसे प्रसिद्ध टोडरानन्द नामक बृहत् ग्रन्थ है जिसमें दण्ड-विद्वान, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष आदि-आदि अनेक विषय प्रतिपादित किए गए हैं। विद्वान् नारायण भट्ट के पौत्र नीलकण्ठ ने भी टोडरमल को इस ग्रन्थ की रचना में बहुत सहायता दी थी। टोडरमल की प्रेरणा से रघुनन्दन मिश्र ने टोडरप्रकाश नाम से नीतिशास्त्र पर बृहद् ग्रन्थ लिखा था। स्वयं टोडरमल ने व्रतसौख्य, पूजाविधान सौख्य, ज्योतिष सौख्य आदि ग्रन्थ समय-समय पर रचे थे। जान पड़ता है कि राज-दरबार के वायु-मण्डल से प्रभावित होकर टोडरमल ने हिन्दी-कविता लिखने का भी यदा-कदा प्रयास किया था किन्तु इसमें उनको विशेष सफलता नहीं हुई। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जो टोडरमल-रचित कही जाती हैं—

"जार को विचार कहाँ, गणिका को लाज कहाँ,
गदहा को पान कहाँ, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहाँ, दान कहाँ दारिद को,
सेवा कहाँ सूम की, अरण्डन की डार सी॥
मद्यप को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लम्पट को,
नीच को बचन कहाँ, स्यार की पुकार सी।
टोडर 'सुकवि' ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौं सूधी बात भावै कहौं फारसी॥

अकबर के प्रोत्साहन से संस्कृत-साहित्य की बहुत उन्नति हुई और संस्कृत के विद्वानों को फिर से साहित्य-वृद्धि करने का उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ। उसने स्वयं अथर्ववेद, महाभारत आदि अनेक बड़े-बड़े संस्कृत ग्रन्थों के पारसी में अनुवाद कराए। उसके दरबार के शेख फ़ैज़ी, अबुलफ़ज़ल, अब्दुर्रहीम खानखाना आदि मुसलमान लोग भी संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। परन्तु अकबर के युग में मुख्यतया जन-साधारण की प्रादेशिक भाषाओं में विशेषरूप में धर्म-विषयक ग्रन्थों के लिखे जाने की प्रथा सर्वमान्य हो गई थी। इसका मुख्य कारण वह धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति

थी जिसे भक्तिमार्ग का नाम दिया गया और जिसके प्रवर्त्तक रामानन्द, नानक, कबीर, सूर, तुलसी तथा मीराबाई आदि थे। इन सब सन्तों ने समाजोद्धार के हेतु अपने काव्यग्रन्थ हिन्दी भाषा में रचे। हिन्दू समाज को पण्डा-प्रतिपादित कर्मकाण्ड के निष्प्रयोजन जंजाल से मुक्त करने के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के निर्माण करने और हिन्दी भाषा के भाण्डार को उच्चतम काव्यों से भरपूर करने का श्रेय इन्ही सन्तों को है।

**सन्तों की परम्परा व सामाजिक कार्य**—इन सन्तों की परम्परा का आरम्भ यों तो रामानुज से मानना चाहिए परन्तु उत्तर भारत में इसके मुख्य प्रवर्त्तक रामानन्द थे। रामानन्द का समय प्रायः १४वीं सदी माना जाता है। रामानन्द से कुछ ही समय पहले निम्बार्काचार्य ने मथुरा को अपने प्रचार का केन्द्र बनाकर वैष्णव धर्म की शिक्षा सर्वसामान्य में फैलाने का प्रयास किया था। निम्बार्क दक्षिण के बिलारी जिले के निम्बापुरा गाँव के निवासी थे और रामानुजादि दार्शनिक-सन्तों की श्रेणी के विद्वान् तथा सन्त थे। उन्होंने अद्वैत व विशिष्टाद्वैत के स्थान पर एक तीसरे दार्शनिक सिद्धान्त, अर्थात् द्वैताद्वैत, की स्थापना की। सर्वसाधारण के लिए निम्बार्क ने अपने सिद्धान्त के द्वारा भगवान् विष्णु के राधा-कृष्णावतार की आराधना तथा पूजा का प्रचार किया। परन्तु निम्बार्क ने सर्वसामान्य की भाषा को न अपनाया; संस्कृत में ही उन्होंने अपने ग्रन्थ लिखे। अतएव उनका प्रचार लोकप्रिय न हो सका।

रामानन्द एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण, पुण्यसदन के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुशीला था। उनका जन्म प्रयाग में हुआ था। बालक रामानन्द अद्वितीय मेधावी व प्रतिभाशाली थे। बहुत ही अल्पायु में उन्होंने सच्छास्त्रों का अध्ययन कर लिया। तब शिक्षा पूर्ण करने के उद्देश से बनारस गये। वहाँ पर रामानुजी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् राघवानन्द से उन्होंने वैष्णवधर्म की दीक्षा ली। थोड़े समय पीछे रामानन्द तीर्थयात्रा करने निकले। परन्तु जब वे वापस लौटे तो राघवानन्द ने उनको अपने संघ में लेने से इनकार किया, क्योंकि उनके मतानुसार भिन्न-भिन्न स्थानों पर भोजन करने से वे अशुद्ध हो गए थे। इस घटना ने रामानन्द की आत्मा पर ऐसा गहरा प्रभाव डाला कि उससे उनका धार्मिक आदर्श व सामाजिक दृष्टिकोण मौलिक रूप से बदल गए। उन्होंने जात-पाँत के निर्मूल भेद-भावों को लात मारकर अपने धर्म-प्रचार का आधार इस सिद्धान्त पर रखा कि यदि मनुष्य राम अथवा परमेश्वर का सच्चा भक्त हो, तो उसकी जाति क्या है इसका कोई महत्त्व नहीं है। अर्थात् भगवान् के सब भक्त चाहे वे किसी भी जाति के हों, सब एकसमान हैं। रामानन्द के शब्द आज तक भारत के कोने-कोने में पण्डा-पंथियों के अत्याचारों से पीड़ित हरिजनों को प्रोत्साहन व सान्त्वना प्रदान करते हैं 'जात-पाँत पूछे नहिं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय।' इस प्रकार रामानन्द ने रामानुजी सम्प्रदाय के सामाजिक प्रतिबन्धों को त्यागकर एक अत्यन्त उदार सामाजिक धर्म का प्रचार किया। खान-पान व जात-पाँत के बन्धनों आदि को उन्होंने निरर्थक ठहराया। उन्होंने विष्णुपूजा रामावतार के रूप में प्रतिपादित

की। तत्कालीन सामाजिक उथल-पुथल के वायुमण्डल में रामानन्द को बहुत-से शिष्य मिले जिन्होंने उनके समाजोद्धार के उद्देश को पूरा करने में स्थायी कार्य किया। उनके शिष्यों में अन्त्यज जातियों के मनुष्य तथा स्त्रियाँ भी थीं। इनमें तेरह शिष्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—अनन्तानन्द, सुरसरानन्द, सुखानन्द, नरहरि आनन्द, योगानन्द, पीपा, कबीर, भावानन्द, सेना (नाई), धन्ना (जाट), गालवानन्द, रैदास (चमार), पद्मावती। रामानन्द ने अपने बारह पुरुष शिष्यों के साथ देश में भ्रमण किया और अद्वैतवादी, जैन तथा बौद्धों से शास्त्रार्थ किए। उनके शिष्यों में कबीर और रैदास बहुत प्रसिद्ध हुए और इनका प्रभाव बहुत विस्तृत हुआ।

**कबीर**—कबीर की जन्मतिथि अत्यन्त संदिग्ध है। कुछ विद्वानों का मत है कि वे १३९८ ई० में पैदा हुए थे और उनकी मृत्यु १५१८ में हुई थी। इस प्रकार उनकी आयु १२० वर्ष ठहरती है। अन्य विद्वानों का मत है कि कबीर का जन्म लगभग १४४० में हुआ था और निधन १५१८ में। यदि इन तिथियों को मान लिया जाए तो कबीर रामानन्द के समकालीन और उनकी आयु लगभग ७८ वर्ष रही होगी। कबीर एक ब्राह्मण विधवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और नीरू नामक जुलाहे और उसकी स्त्री नीमा ने बालक कबीर को बनारस के निकट लहरतारा कुण्ड के पास पड़ा हुआ पाया था। इसी दम्पति ने कबीर को अपना पुत्र मानकर उनका पालन-पोषण किया। कबीर ने अपने माता-पिता का व्यवसाय सीखा। इसी से वे अपने-आपको काशी का जुलाहा बतलाते हैं। किन्तु कबीर वास्तव में एक अद्भुत आध्यात्मिक विभूति थे। बचपन से ही उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन, दिव्यदृष्टि एवं कुशाग्र बुद्धि का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। कबीर की विशेषता यह थी कि वे उस युग के समस्त सन्त महात्माओं में सबसे निर्भीक थे तथा मुस्लिम व हिन्दू दोनों ही वर्गों की कुरीतियों तथा अन्धविश्वासों पर बेधड़क कुठाराघात करते थे, जिसके कारण पाखण्डी पंडा वर्ग उनका जानी दुश्मन हो गया और कबीर को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। आत्मरक्षा के लिए उनको काशी छोड़कर मगहर (जिला बस्ती) जाना पड़ा।

कहा जाता है कि कबीर ने रामानन्द से दीक्षा पाने का बहुत प्रयास किया किन्तु जब उन्हें सफलता न मिली तब उन्होंने एक युक्ति से काम लिया। रामानन्द उष.काल में नित्यप्रति गंगा-स्नान करने जाते थे। कबीर गंगा घाट की सीढ़ी पर जाकर लेट गए। जब रामानन्द घाट से उतरने लगे तो उनका पैर कबीर पर पड़ा। कबीर तुरत राम-राम कहते हुए उठ खड़े हुए और गुरु से याचना की कि अब तो मैं आपके चरणों के प्रताप ने दीक्षित हो गया। ऐसे अनन्य भक्त को रामानन्द किस प्रकार ठुकरा सकते थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि इसी समय से रामानन्द ने जात-पाँत के भेद-भाव आदि सामाजिक कुप्रथाओं का खण्डन करना एवं जन-साधारण की बोलचाल में अपना प्रचार आरम्भ किया।

**कबीर का निर्गुणवाद**—कबीर निर्गुणवादी शाखा के अनुयायी एवं सबसे महान् संपोषक थे। निर्गुण सम्प्रदाय के प्रचारकों में नानक आदि अन्य सन्त भी कबीर से पहले और उनके समकालीन हुए। कबीर ईश्वर के किसी अवतार अथवा सांसारिक प्रतिरूप में विश्वास नहीं करते थे। वे एकमात्र निर्गुण, निराकार ब्रह्म में ही विश्वास करते थे। निस्सन्देह कबीर को राम नाम बहुत प्रिय था। इसी का प्रयोग उन्होंने अपने प्रवचनों व काव्य में हर जगह किया है। किन्तु कबीर के राम अयोध्या-पति राम नहीं थे। इसीसे कबीर मूर्ति-पूजा, जात-पाँत, खान-पान आदि के भेद तथा अन्य सभी सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों व क्रिया-कलाप के बाह्य आडम्बरों के घोर विरोधी थे। इसी प्रकार मुसलमान मौलवियों के पतित जीवन तथा अनेक कुरीतियों का भी उन्होंने उसी निर्भीकता के साथ खण्डन किया। मुसलमानों के तो लगभग सभी बाहरी विधि-विधानों को कबीर ने निस्सार व निःप्रयोजन बतलाने से न छोड़ा। उनके पीर-पैगम्बर, नमाज, रोजा, ईद-बकरीद, बाँग-सुन्नत, जीव-हिंसा, मांस-भक्षण आदि सभी पर कबीर ने बेधड़क कुठाराघात किया। उपर्युक्त कथन की पुष्टि में कबीर के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

काँकर पाथर जोड़ के, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ मुल्ला बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय॥
× × ×
जिन कलमा कल माहि पढ़ाया, कुदरत खोज तिनहु नहीं पाया।
× × ×
क्या बकरी क्या गाय है क्या आपना जाया।
सबको लोहू एक है, साहिब है फरमाया॥
पीर पैगम्बर औलिया, सब मरने को आया।
नाहक जीव न मारिए, पोसन को काया॥
× × ×
रोजा तुर्क नमाज गुजारे, बिस्मिल बाँगपुकारे।
ताके भिसत कहाँ ते होई, साँझे मुर्गी मारे॥

इसी प्रकार कबीर ने अपने बहुत-से प्रवचनों में हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही उनके भ्रान्त विश्वासों व कुप्रथाओं से मुक्त करके एक सच्चिदानन्द, निराकार परमब्रह्म के उपासक बनने का उपदेश दिया है। इसके भी कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

पत्थर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार॥
× × ×
पंडित और मसालची, इनकी याही रीति।
औरों को करें चांदनी, आप अँधेरे बीच॥
× × ×

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मानुवा तो चहुँदिसि फिरै, सो तो सुमिरन नाहिं ।।

× × ×

जे सब याहिं खुदाई कहत हो, तो कुकड़ी क्यों मारे।

× × ×

वेद पुरान पढ़त अस पांडे, जस खर चन्दन भारा।
वेद पढ़या का फल यहु पांडे, सब घट देखहुँ रामा ।।
जीव बधत अरु धरम कहत हो, अधरम कहाँ है भाई।
आपन तो मुनिजन ह्वै बैठे, कासौं कहौं कसाई ।।

× × ×

हिन्दू अपनी करे बड़ाई, गागर छुअन न देई।
वेश्या के पाँयन तर सोवे, यह देखो हिन्दुआई ।।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी घरहि में करें सगाई ।।
बाहर से इक मुर्दा लाये, धोय-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिल जेंवन बैठीं घर भर करे बड़ाई ।।
हिन्दुवन की हिन्दुवाई देखी, तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भई साधो, कौन राह ह्वै जाई ।।

कबीर के उपर्युक्त कतिपय प्रवचनों से सिद्ध है कि कबीर का मुख्य उद्देश हिन्दू-मुसलिम दोनों ही जातियों का सुधार करना था। उनके साहित्य का बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार के समीक्षात्मक उपदेशों से भरपूर है। कबीर की वाणी में बड़ा ओज तथा तीक्ष्णता थी। उनके कटाक्ष छुरी की पैनी धार की तरह काटते चले जाते थे। परन्तु इन सबसे समाजोद्धार के लिए कबीर का हार्दिक उद्वेग व मानव-जाति का प्रेम प्रदर्शित होता है।

कबीर के निम्नलिखित दोहे से यह सिद्ध होता है कि वह अद्वैतवादी अर्थात् केवल मात्र एक ब्रह्म की सत्ता के माननेवाले थे और समस्त जीवमात्र को उसी ब्रह्म का अंश मानते थे—

दरिया मध्ये लहर उठत है गिनती गिनत न जाई।
कहत कबीर सुनो भई साधो दरिया लहर समाई ।।

ब्रह्मात्मा व जीवात्मा, महत् और अणु के एकत्व तथा अमरत्व को कबीर ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

हरि मरिहैं तो हमहू मरिहैं।
हरि न मरैं, हम काहे को मरिहैं ।।

कबीर के इन दार्शनिक विचारों से सिद्ध होता है कि वह रहस्यवाद के एक प्रकार से सर्वोत्तम प्रचारक थे। सान्त से अनन्त, विश्वात्मा से जीवात्मा, अणु से महत्

का सम्मिलन कराने का उपाय कबीर के मत में ईश्वर-प्रेम व रामनाम की भक्ति एवं सदाचार ही थे। इसी सोपान के द्वारा जीवात्मा अपने परम ध्येय को प्राप्त कर सकता था। इसीसे कबीर ने ईश्वर और मनुष्य की परस्पर प्रेमी और प्रेमिका से तुलना की है।

कबीर की भाषा इतनी भावपूर्ण, स्पष्ट एवं ओजस्विनी थी कि उनकी बहुत-सी कृतियों से हिन्दी-साहित्य और भाषा का बड़ा भारी उपकार हुआ और उनके भाण्डार में बहुत वृद्धि हुई। कबीर की वाणी अपने आध्यात्मिक गुणों के कारण ही नहीं किन्तु अपनी सर्वप्रियता तथा व्यापकता के कारण भी अमर रहेगी। हिन्दी-भाषा-परिवार में कबीर की भाषा का स्थान निर्णय करना कष्टसाध्य है। कबीर सामान्य अर्थों में पढ़े-लिखे नहीं थे। वे बहुश्रुत थे। उनका सारा ज्ञान विद्वानों तथा सन्तों के सत्संग से प्राप्त हुआ कहा जाता है। किन्तु उनकी अनुपम प्रतिभा तथा दिव्य दृष्टि से ही उनको ईश्वर-विश्वास व अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसको व्यक्त करने के लिए उन्हें भाषा की कभी कठिनाई नहीं हुई। कबीर की भाषा में कई भाषाओं के शब्द एवं मुहावरों का समावेश मिलता है। भाषा के प्रयोग में भी कबीर उतने ही निर्ग्रन्थ थे जितने अपने विचारों व प्रचार में। परन्तु उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने हिन्दी की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं से ऐसे सारगर्भित शब्द व क्रियाएँ आदि चुनीं कि उनके उपदेश सर्वोत्कृष्ट, मर्मस्पर्शी तथा भावोत्पादक हो गए। इस दृष्टि से कबीर का स्थान अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए सर्वोपरि है। कबीर का मुख्य ध्येय था एकेश्वर-भक्ति व आत्मसमर्पण, सादा जीवन, अहिंसा व मानवता का प्रचार करना। इस दृष्टि से भी कबीर का स्थान संतों में सर्वोपरि है।

**नानक देव**—कबीर के बाद गुरु नानक और उनके प्रचार-कार्य का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि उनका कार्य भी कबीर के ही सदृश था। गुरु नानक जाति के खत्री थे। इनके पिता कालूचन्द खत्री लाहौर के निवासी थे। नानक में बालकपन से ही कुशाग्र बुद्धि व असाधारण प्रतिभा के चिह्न दीख पड़ते थे। उनका जन्म १४५९ ई० में लाहौर के निकट तलवंडी ग्राम में हुआ था और निधन १५३८ ई० में हुआ। नानक ने आरंभ में फारसी, उर्दू व हिन्दी भाषा की शिक्षा पाई थी। नानक की रचनाएँ प्रायः हिन्दी बोली में हैं परन्तु उनकी भाषा में फारसी के शब्दों का भी बहुत मिश्रण पाया जाता है। लड़कपन से नानक साधु-संतों की संगति में रहते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उन्होंने अपने सामान्य गुरुजनों की अपेक्षा सत्संगति से बहुत अधिक ज्ञान-लाभ किया होगा।

नानक का विवाह बटाला के एक प्रतिष्ठित घराने की बेटी सुलखनी से हुआ और उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनकी बहिन का विवाह लाहौर के आमिल जयराम से हुआ था। इसके द्वारा नानक को भी एक सरकारी नौकरी मिल गई। नानक ने अपना कार्य बहुत योग्यता से किया किन्तु अपने वेतन का बहुत-सा भाग वह दरिद्रों को बाँट देते थे और अपने निर्वाह भर के लिए उसमें से रख लेते थे।

थे। अपने गृहस्थ जीवन में भी नानक का ध्यान भगवद्भक्ति में रहता था। अन्त में वे सांसारिक जीवन से ऊब गए और सरकारी नौकरी छोड़कर उन्होंने दरिद्रों की सेवा तथा धर्म-प्रचार करना आरंभ कर दिया। उनको इस समय मरदाना नामक एक शिष्य मिल गया था जो अपने गुरु के गीतों को गा-गाकर जनता में प्रचार करता था। नानक ने देश-देशान्तर का भ्रमण किया था। यहाँ तक कि वे कई वर्ष अरब में भी जाकर रहे। जनश्रुति के अनुसार वे मक्के से आसाम तक और काश्मीर से लंका तक घूमे थे। किन्तु उनका मुख्य कार्य पंजाब प्रदेश में ही सीमित था।

**नानक का धर्म**—नानक ऐसे युग में हुए जब कि उत्तर-भारत का वायुमण्डल कबीर के मर्मस्पर्शी प्रचार से ओत-प्रोत हो रहा था। ईश्वर की एकता, ईश्वर-भक्ति व निःस्वार्थ प्रेम, प्रत्येक जीव के लिए ईश्वर का वात्सल्य, मनुष्यों के लिए भक्ति तथा सदाचार का मार्ग, जीवमात्र की समानता, जाति-पाँति व छूतछात के भेदों का विरोध, साम्प्रदायिक झगड़ों की तुच्छता आदि विषयों पर कबीर की शिक्षा बड़ी प्रबलता से जनता को जागृत कर रही थी। नानक भी इसी वायुमण्डल से एक प्रकार प्रेरित हुए थे और उन्होंने अपने क्षेत्र में इस उद्देश की अभिवृद्धि करने में अतुलनीय कार्य किया। वे एकेश्वरवादी थे और ईश्वर को निराकार, सर्वशक्तिमान् व सच्चिदानन्द मानते थे। परन्तु वे तत्कालीन हिन्दू साम्प्रदायिकता व मुस्लिम संकीर्णता के कट्टर विरोधी थे। उनकी धारणा थी कि ईश्वर मनुष्य मात्र एवं जीव मात्र का कर्त्ता-धर्ता व पालनहार है, न कि केवल हिन्दू अथवा मुसलमान व किसी एक सम्प्रदाय का। उनके वचनों से स्पष्ट सिद्ध है कि वे वेद के शाश्वत होने में पूर्ण आस्था रखते थे और अपने धर्म-प्रचार को वेदानुकूल मानते थे। इस कथन की पुष्टि में गुरु नानक के यह शब्द निर्विवाद हैं—

> सासतु वेद न मानै कोई, आपो आपै पूजा होई।
> तुरुक मन्त्र कनि हृदै समाहि, लोक मुहावहि चाडी खाहि।
> चौका देके सुच्चा होइ, ऐसा हिन्दू देखहु कोइ।
>
> (ग्रन्थ साहब, पृष्ठ ३१८)

गुरु नानक की सर्वोत्कृष्ट तथा आध्यात्मिक रहस्यमयी कृति जपजी के नाम से विख्यात है। इस कविता में गुरु ने अपने हृदय के उद्गारों की इतनी उत्तम अभिव्यंजना की है कि वह अपने वेष में अद्वितीय है। इसमें ओ३म् को ईश्वर का एकमात्र सच्चा नाम कहा है और इसी से जपजी को प्रारम्भ किया है। ओ३म् को पाने के लिए जीवात्मा को गुरु का आशीर्वाद और सहायता अनिवार्य है। ईश्वर शाश्वत है व समय की सृष्टि से भी पहले से विद्यमान् है औरप्र लय के बाद भी उसका ही अस्तित्व रहेगा। विभिन्न सम्प्रदायों के मनुष्य भिन्न-भिन्न रूप से उसी एक भगवान् की आराधना करते हैं। उसकी दया व कृपा से ही मनुष्य-मात्र का लालन-पालन होता है, एवं आत्मिक सुख-शान्ति भी प्राप्त होते हैं।

गुरु नानक ने भी हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जातियों की कुरीतियों तथा उनके अंधविश्वासों व ऊपरी क्रिया-कलापों—रोज़ा-नमाज़, मूर्तिपूजा आदि सबके विरुद्ध एक समान बलपूर्वक आवाज़ उठाई और बड़े हृदयग्राह्य उदाहरणों के द्वारा उनकी निर्बुद्धिता को प्रकट किया। कहा जाता है कि एक बार उन्हें सिकन्दर लोदी ने बुलवाकर मुसलमानों के साथ नमाज़ पढ़ने पर विवश किया। गुरु नानक अन्य लोगों के साथ झुकने के बजाय विचार-विमग्न खड़े रहे। प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि मैं यह देख रहा था कि सब सिजदा करने वालों का ध्यान मध्य एशिया में अपने घोड़ों के व्यापार में लगा हुआ था। बात सच्ची थी। वे सब बड़े लज्जित हुए और अपने दोष को स्वीकार किया। इसी प्रकार हरिद्वार में नानक ने देखा कि बहुत से हिन्दू सूर्य की ओर गंगाजल चढ़ा रहे हैं। उन्होंने नदी में घुसकर अपने खेतों की दिशा में जल फेंकना शुरू किया। लोगों के विस्मयपूर्ण प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि यदि एक लोटा पानी लाखों मील दूर सूर्य तक पहुँच सकता है तो मेरा पानी मेरे खेतों तक क्यों नहीं पहुँच सकता। इस प्रकार के सामान्य तथा सरल चुटकुलों से गुरु नानक लोगों की मूर्खता प्रदर्शित करते और उनके ज्ञानचक्षु खोलते थे। गुरु नानक के उपदेश की विशेषता यह थी कि वह गृहस्थ-जीवन छोड़कर संसार-त्यागी साधु बनने में विश्वास नहीं करते थे। उनकी शिक्षा यह थी कि मनुष्य को गृहस्थ जीवन में रहकर न कि उसकी कठिनाइयों से भागकर अपने धर्म का पालन करना चाहिए। धार्मिक जीवन से ही प्रत्येक मनुष्य ईश्वर प्राप्ति कर सकता है। उन्होंने कहा है—'छोड़ले पाखण्डा नाम लैहे जाहि तरन्दा' (ग्रन्थ, पृष्ठ २५५), अर्थात् पाखण्ड व अंधविश्वास को छोड़कर ईश्वर का नाम जप, यही संसार-सागर को पार करने का एकमात्र उपाय है। ग्रन्थ साहब में गुरु नानक की शिक्षाओं का संकलन है। उसमें अन्य सन्तों के, विशेषकर कबीर के अनेक वचन समाविष्ट हैं।

**श्री चैतन्यदेव**—ऊपर हमने रामानन्द की शिष्य-परम्परा के सर्वोच्च सन्त कबीर का उल्लेख किया है। इस परम्परा के सन्तों में, जो भगवान् की पूजा राम के नाम से करते थे, रैदास आदि अन्य कई सन्त हुए। भक्तिकाल के इन सन्त कवियों को दो मुख्य शाखाओं में विभक्त किया जाता है। अर्थात् निर्गुणवादी और सगुणवादी। निर्गुणवादी शाखा के भी दो मार्ग थे अर्थात् ज्ञानमार्ग और प्रेममार्ग। कबीर ज्ञानमार्गी शाखा के सर्वोत्कृष्ट सन्त तथा कवि हुए। प्रेममार्गी निर्गुणवादी संत कवियों में जायसी का स्थान सबसे ऊँचा है। इनका उल्लेख यथास्थान किया जाएगा। सगुणवादी शाखा की भी इसी प्रकार दो उपशाखाएँ हुईं; रामोपासना शाखा तथा कृष्णोपासना शाखा। चैतन्यदेव कृष्ण के उपासक थे और इसी के द्वारा उन्होंने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। राधाकृष्ण की आराधना व भक्ति का प्रबल प्रचार वल्लभाचार्य ने किया था। वल्लभ का जन्म एक तैलंग घराने में १४७९ में हुआ था किन्तु उन्होंने मथुरा में अपना निवास-स्थान बनाया, यद्यपि भागवत और जयदेव के गीत-गोविन्द के प्रभाव से इस सम्प्रदाय के पुजारियों तथा सम्पन्न अनुयायियों में

अत्यन्त भोग-विलास तथा व्यभिचार फैल गया था। साथ ही यह लोग अपने ऊँच-नीच, छूत-छात के भावों को भी बनाए हुए थे। चैतन्यदेव ने वैष्णव सम्प्रदाय की इन सब कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई और कृष्णावतार के प्रति सच्चे प्रेम का प्रचार किया। उन्होंने जाति-पाँति के बन्धनों को भी सर्वथा नष्ट कर दिया। एक बार एक चाण्डाल को गले लगाकर उन्होंने अपने समस्त साथियों को चकित कर दिया और इससे उनको मानवता की शिक्षा दी। चैतन्यदेव का कार्य-क्षेत्र मुख्यतया बंगाल प्रदेश रहा। चैतन्य का जन्म बंगाल के प्रसिद्ध नगर नवद्वीप (नदिया) में १४८५ में हुआ था। इनका नाम विशम्भर रखा गया। वह एक कुलीन ब्राह्मण जगन्नाथ मिश्र के पुत्र थे जिनके पूर्वज सिलहट के निवासी थे। नवद्वीप प्राचीन काल से ही नव्य-न्यायदर्शन का सबसे बड़ा केन्द्र रहा था। उस समय नवद्वीप के विख्यात पंडित सार्वभौम नव्य-न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। विशम्भर शैशव में बड़े नटखट थे। परन्तु जब वे पाठशाला में भेजे गए और बड़े होने पर पंडित सार्वभौम के विद्यालय में गए तो उन्होंने थोड़े ही दिनों में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली और स्वयं केवल १६ वर्ष की अवस्था में एक पाठशाला खोलकर व्याकरण पढ़ाना आरम्भ किया। इस समय वल्लभ सम्प्रदाय के घराने की एक कन्या लक्ष्मी से इनका विवाह हो गया। इस स्त्री की थोड़े ही दिन बाद मृत्यु हो जाने पर चैतन्य ने विष्णुप्रिया नामक एक लड़की से विवाह किया जिसको चैतन्य के प्रति अनन्य श्रद्धा थी। कुछ समय बाद चैतन्य ने वैष्णव धर्म की दीक्षा ली और गया आदि वैष्णव धर्म के तीर्थस्थानों की यात्रा करने निकले। गया में उनको विष्णु के पदचिह्नों के दर्शन हुए और इसी समय से वे कृष्ण-प्रेम में इतने विभोर हो गए कि वहाँ से लौटकर वे कृष्णलीला के ध्यान में ही निमग्न रहने लगे। वे प्रायः कृष्णभक्ति में इतने लीन हो जाते थे कि उनके अनुयायी उनके अन्दर मानो कृष्ण के ही दर्शन करते थे। उनके विषय में अनेक प्रकार की अद्भुत गाथाएँ प्रचलित हो गईं। उनके अनेक चमत्कारों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उन्होंने सांसारिक जीवन को त्यागकर श्रीकृष्ण चैतन्य के नाम से संन्यास ग्रहण किया और इसके बाद नदिया छोड़कर वे जगन्नाथपुरी चले गए। गौरांग श्री चैतन्य ने यहाँ पर विष्णु की प्रतिमा के दर्शन किए और अपने पहले गुरु सार्वभौम तथा अन्य विद्वानों को अपना अनुयायी बनाया। उड़ीसा का शक्तिमान् राजा प्रतापदेव भी उनका अनुयायी बन गया। चैतन्य स्वयं एक अवतार के समान माने जाने लगे और बंगाल व उड़ीसा में चारों ओर उनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की ख्याति फैल गई। इसके बाद चैतन्य ने दक्षिण प्रदेश तथा उत्तर में काशी आदि तीर्थों की यात्रा की और वहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों को दीक्षित किया। वे वृन्दावन भी आए और स्थान-स्थान पर कृष्ण-प्रेम के सिद्धान्त की शिक्षा का आयोजन किया। उनकी मृत्यु १५२७ के लगभग हुई। उनके उत्कृष्ट आध्यात्मिक जीवन का बंगाल की जनता पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे अपने समय के कृष्ण के अवतार ही माने जाने लगे। समस्त उड़ीसा और बंगाल में तभी से चैतन्य का प्रभाव सर्वव्यापक है। स्थान-स्थान पर

उनके नाम के मन्दिर हैं। वे इन प्रदेशों में जनसाधारण के स्वत्वों के प्रबल समर्थक व संपोषक माने जाते हैं। किन्तु जैसा सभी सन्त सुधारकों के साथ उनके अनुयायी करते हैं वैसा ही चैतन्य के पवित्र प्रचार का अन्तिम परिणाम हुआ। उनके जीवन-काल में ही उनके अनुयायियों ने उनकी प्रतिमाएँ देवालयों में स्थापित करके उनकी पूजा करना आरम्भ कर दिया और उनके बताए हुए सन्मार्ग तथा उनकी शिक्षाओं को भुला दिया। ऐसा ही व्यवहार कबीर व नानक के साथ उनके अनुयायियों ने किया।

**जायसी**—निर्गुण शाखा के प्रेममार्गी सन्तों में कई मुसलमान संतों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें मलिक मुहम्मद, जो अवध प्रान्त के जायस कस्बे के रहनेवाले थे, सबसे प्रसिद्ध हुए। उनके गुरु एक सूफ़ी शेख महदी थे। किन्तु इन्होंने अनेक हिन्दू साधुओं व पंडितों का भी सत्संग किया था। हिन्दू धर्मग्रन्थों का भी उनको उतना ही ज्ञान था, जितना इस्लामी ग्रन्थों का। इनका सबसे प्रसिद्ध व बृहत् काव्य पद्मावत है जिसकी मर्मस्पर्शिणी कविता उच्च आध्यात्मिक प्रेम का सबसे उत्तम उदाहरण है। वह काव्य हृदयभेदी व्यापक भावना से ओत-प्रोत है। उनकी भाषा भी उतनी ही सशक्त है जितना उनका काव्य प्रतिभाशाली है। प्रेम के गूढ़तम तत्त्वों को जायसी ने सारगर्भित अल्प शब्दमयी भाषा में व्यक्त किया है। इनका दूसरा ग्रन्थ अखरावट है जिसमें उनके प्रेम सम्बन्धी व अन्य सिद्धान्तों का संग्रह है। जायसी १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए। वे शेरशाह के समकालीन थे और उस सुयोग्य बादशाह की कीर्ति का उन्होंने अपने काव्य के अन्दर बड़े रोचक शब्दों में गान किया है। इनकी मृत्यु के समय का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। जायसी ने अपने से पूर्व सपनावती, मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती तथा प्रेमावती उपाख्यानों का क्रमशः उल्लेख किया है। इनमें से केवल एक-दो ही अभी तक प्राप्त हुए हैं।

**कुतबन**—यह चिश्ती सम्प्रदाय के प्रसिद्ध शेख बुरहान के शिष्य थे और मृगावती के रचयिता थे। इस पुस्तक में गणपति देव के पुत्र तथा मृगावती के प्रेम की कथा वर्णित है।

**मंझन**—इसी समय एक और सूफ़ी कवि मंझन हुए जिन्होंने मधुमालती नामक कथानक-काव्य की रचना की। मधुमालती, मृगावती की अपेक्षा भाषा तथा भाव की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट है। प्राकृतिक सौन्दर्य का इसमें बड़ा रोचक वर्णन मिलता है।

**उस्मान**—जायसी के थोड़े दिन पीछे जहाँगीर के समकालीन सूफ़ी उस्मान हुए। यह भी चिश्तिया परम्परा के सूफ़ी थे। सन् १६१३ में इन्होंने अपने चित्रावली नामक काव्य की रचना की। अन्य सभी प्रेमगाथाओं के समान उस्मान ने भी अपनी पुस्तक का पैगम्बर, गुरु आदि की बन्दना से आरम्भ किया है। चित्रावली में एक काल्पनिक कथानक वर्णन किया गया है। उसकी शैली जायसी के समान ही है किन्तु चित्रावली की कथा सर्वथा काल्पनिक है। यद्यपि उस्मान ने जायसी का अनुकरण करने का यत्न किया है किन्तु उनको उतनी सफलता नहीं मिली है।

**गोस्वामी तुलसीदास**—उपर्युक्त सूफ़ी सन्तों के समकालीन लोक-प्रसिद्ध सन्त कवि-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदास हुए जिन्होंने निर्गुण, निराकार ब्रह्म की उपासना के स्थान पर सगुण ब्रह्म की उपासना का प्रचार अपने काव्यों द्वारा किया और विशेषकर दाशरथि अयोध्यापति मर्यादा-पुरुषोत्तम राम को विष्णु का अवतार एवं सच्चिदानन्द परब्रह्म का प्रतीक व अवतार माना। गोस्वामी जी की रचनाओं में मानव-जीवन की लगभग समस्त विचारणीय दशाओं का सन्निवेश उनकी कविता के अन्तर्गत है। अपनी इस दृष्टि-विस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समस्त जनता के हृदय-मन्दिर के पूज्यदेव तथा प्रेम-पात्र होकर प्रतिष्ठित हो गए और सदा बने रहेंगे। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कहा जा सकता है तो इन्हीं कवि-सम्राट् को। अन्य कवियों की रचनाओं में सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष का ही वर्णन है, किन्तु गोस्वामीजी की वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्-भक्ति के उपदेश के साथ लोक-पक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य गोस्वामी जी की ही भाषा में अत्यन्त मर्मभेदी रूप से व्यक्त हुआ है। व्यक्तिगत साधना के साथ-ही-साथ लोकधर्म की अति ही उज्ज्वल छटा उसमें विद्यमान है। महाकवि तुलसीदास का व्यापक प्रभाव समस्त भारतीय जनता पर केवल उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा हिन्दी भाषा की अनुपम व्यंजना-शक्ति पर ही निर्भर नहीं है, उसका सबसे मुख्य कारण यह है कि उनके ग्रन्थों, विशेषकर रामचरित-मानस में भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों को विविध वेद-शास्त्रों से ग्रहण करके गोस्वामीजी ने समय के अनुरूप अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता तथा गम्भीर मनन का परिचय दिया। रामचरितमानस को यदि नाना-पुराण-निगमागम का सार कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। रामचरितमानस का प्रचार उत्तर भारत के प्रत्येक घर में है। वह करोड़ों भारतीयों का एकमात्र मान्य धर्म-ग्रन्थ है। जिस प्रकार भारतवर्ष में आदिकाल से वेदोपनिषद् तथा गीता व वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों को पूज्य-दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार रामचरितमानस का भी भारतीय जनता सम्मान करती है। गोस्वामीजी ने आर्य धर्म के सच्चे स्वरूप को राम के आदर्श-चरित्र में सन्निविष्ट करके भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित किया। धर्म और समाज, राजा-प्रजा, ऊँच-नीच, द्विज-शूद्र आदि, सामाजिक सूत्रों के साथ-साथ माता-पिता, भाई-बहिन, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदि पारिवारिक जीवन के क्रियात्मक पहलुओं के आदर्शों की शिक्षा भी अपनी रचनाओं में गोस्वामीजी ने सरलतर शैली में समझाई है और जीवन के जटिल-से-जटिल प्रश्नों का भी विषद विवेचन किया है। यद्यपि तुलसीदास रामावतार के परम भक्त थे तथापि हिन्दुओं के शिव, पार्वती, ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं की अर्चना भी उन्होंने उतने ही भक्ति-भाव से की है। अपने सर्वोत्तम ग्रन्थ रामचरित मानस का आरम्भ ही उन्होंने शिव की आराधना से किया है।

गोस्वामीजी की एक और विशेषता है जिस पर ध्यान देना परमावश्यक है। श्री शुक्लजी के शब्दों में 'निर्गुण धारा के सन्तों की वाणी में लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। निर्गुण धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोकधर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृङ्खल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञान-सम्पन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिप्रेम-परायण-सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख-सर्वस्व त्यागने वाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर-मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले नरेशों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जाएगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामी जी को निर्गुणपंथियों की वाणी में लोक-धर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदान्त के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे योंही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं।' इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने यह वचन कहे—

श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ संजुत बिरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक।।
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत-कलि निंदहिं बेद-पुरान।।
बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुमते कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाटि।।

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत-सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत-कुछ रोका और इसी से उत्तरीय भारत में वह वैसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण में किया। यहीं तक नहीं, जिस प्रकार उन्होंने लोक-धर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच सामंजस्य उपस्थित किया। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोक-पक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। लोक-संग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के सम्बन्ध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना सम्बन्धों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्ति-रसभरी वाणी जैसी मंगल-कारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरितमानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी

चौपाइयों के गायन से जनता आह्लादित होती है।

**गोस्वामी तुलसीदासजी की श्रेष्ठता : हिन्दी साहित्य व भाषा**—मध्ययुगीन महापुरुषों में कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामीजी का आसन सर्वोच्च व सर्वश्रेष्ठ है। धर्म और संस्कृति के अवकाश में वे सूर्यसम देदीप्यमान हैं। संत, कवि, साहित्यिक, विचारक, दार्शनिक एवं सुधारक—सभी रूपों में तुलसीदास का स्थान अनुपम है। अपने समकालीन अन्य सन्त-सुधारकों के प्रतिकूल वे वेदादि सच्छास्त्रों के भी पूर्ण ज्ञाता थे। इसी से उनके ग्रन्थों, विशेषकर रामचरितमानस, में ज्ञान व भक्ति तथा कर्म, तीनों ही मार्गों का समन्वय है। निस्सन्देह उन्होंने समकालीन सामाजिक परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए भक्ति पर अधिक बल दिया, तथापि ज्ञान व कर्म के महत्त्व को उन्होंने किसी प्रकार कम नहीं बतलाया। उनकी दूरदर्शिता तथा गम्भीर विचार-शक्ति का ही यह फल था कि उन्होंने, सर्वसामान्य की भाषा को अपने ग्रंथों के लिए अपनाते हुए भी इस बात पर पूरा बल दिया कि भारतीय धर्म व संस्कृति के आधारभूत तत्वों का एकमात्र स्रोत वेद-वेदांग ही हैं और रहेंगे। इसलिए स्थान-स्थान पर गोस्वामीजी ने वेदों की महिमा का वर्णन किया। इतना ही नहीं उन्होंने वेद-निन्दकों को स्पष्ट रूप से धिक्कारा भी है। साथ ही उन्होंने भारतीय वाङ्मय के प्राचीन एवं वास्तविक कलेवर संस्कृत भाषा की भी उस तिरस्कार से रक्षा की जो अन्य सन्तों के प्रचार के परिणाम-स्वरूप उसके प्रति, जनता में पैदा हो रहा था। यही कारण था कि उन्होंने रामचरितमानस के प्रत्येक काण्ड को आरम्भ करते हुए मंगलाचरण और शिव-वन्दना तथा ग्रंथ का अन्त भी संस्कृत श्लोकों द्वारा किया है। प्राचीन शाश्वत धर्म के मौलिक तत्व को अभिव्यक्त करने के हेतु तुलसीदास ने **'राम'** को परब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक अथवा अवतार बतलाने में इस सिद्धान्त का भी साथ-ही-साथ सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया था कि शिव, विष्णु आदि सभी एक ही सत्ता के विभिन्न नाम तथा रूप हैं जिनके द्वारा उस सर्वशक्तिमान के अनेक अंगों का ग्रहण साधारण मनुष्यों को सुगमता से होता है। तुलसीदास की राम-भक्ति का मूल मंत्र यह था कि मनुष्य एक बुद्धिसंगत, कर्मठ जीवन व्यतीत करता हुआ भी भगवान् के प्रसाद के बिना निःश्रेयस को प्राप्त नहीं कर सकता। उनकी शिक्षा मानव को उसी गूढ़ तत्व का स्मरण कराती है जिसे ज्ञान तथा कर्म का पूरा पाठ ग्रहण करने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अंगीकार किया :

> "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत।
> स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"

उनकी भक्ति का ध्येय था हिन्दू जाति को उसके जड़तापूर्ण अंधविश्वासों व तज्जनित कुरीतियों के गर्त से उबारकर आर्य-धर्म के प्रखर, विशुद्ध रूप और वास्तविक सत्य की प्रतीति कराना। फलतः उनकी शिक्षाओं में सार्वभौम धार्मिक तत्वों का समन्वय निहित है। यही रहस्य है इस बात का कि तुलसीदास ने कोई सम्प्रदाय स्थापित करने का विचार तक नहीं किया। उनकी वाणी किसी वर्गविशेष के लिए

नहीं। वरन समस्त मानव जाति की धरोहर है। वह देश और काल की सीमाओं को लाँघकर सार्वभौम एवं शाश्वत है।

**गोस्वामीजी की भाषा**—जो बात गोस्वामीजी के वर्णित विषय के सर्वतोमुखी होने के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वही उनकी भाषा के सम्बन्ध में भी पूर्णरूप से लागू की जा सकती है। उनके समय में भाषा पद्य के स्वरूप की, कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, कबीरदास की नीति सम्बन्धी वाणी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी और जायसी के दोहे-चौपाई वाली प्रबन्ध-पद्धति मुख्य हैं। तुलसीदासजी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौंदर्य की पराकाष्ठा, अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्य-क्षेत्र में परमपद के अधिकारी हुए। साथ ही उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्ण-गीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी के पद्मावत में मिलती है वही जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवै रामायण और रामलला नहछू में हम पाते हैं। यह जान लेना भी उचित होगा कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था न जायसी का ब्रजभाषा पर।

**गोस्वामीजी की जीवनी**—गोस्वामीजी के जन्म-दिन, तिथि तथा जन्म-स्थान सभी के विषय में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। विभिन्न मतों की समीक्षा करने के उपरान्त विद्वानों ने गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ (१४९७ ई०) और स्वर्गवास संवत् १६८० (१६२३ ई०) माना है। उनका मृत्यु-संवत् तो नि.संदेह है किन्तु जन्म-तिथि अनिश्चित है। तथापि यह निश्चित है कि वे दीर्घायु—लगभग शतायु—अवश्य हुए थे। गोस्वामीजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी माना जाता है क्योंकि अकबर के दरबारी अब्दुर्रहीम खानखाना ने अपने एक प्रसिद्ध दोहे में इसका उल्लेख किया है। इतना निश्चय है कि गोस्वामीजी बचपन में ही माता-पिता के सुख से वंचित हो गए थे। इस प्रकार आश्रयहीन होकर वे जहाँ तहाँ भटकते फिरे और बाबा नरहरि के शिष्य बने जिन्होंने इन्हें रामचरित कथा सुनाई। सम्भवतः उनके ही साथ इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। यह भी माना जाता है कि गोस्वामीजी ने एक काशी निवासी महात्मा, जो रामानन्द के आश्रम में रहते थे, से शास्त्राध्ययन किया था। इस प्रकार स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलम्बी बने।

गोस्वामीजी के जन्म-स्थान के विषय में भी बहुत मतभेद है। कोई बदायूँ जिले में सोरों, कोई चित्रकूट के पास साज़ीपुर तथा कोई बाँदा जिलान्तर्गत राजापुर को इनका जन्म-स्थान बताते हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि गोस्वामीजी की

जन्म-भूमि राजापुर ही है। गोस्वामीजी के विवाह के सम्बन्ध में भी कुछ शंका की जाती है किन्तु उनके वैवाहिक जीवन के सम्बन्ध में इतनी किंवदन्तियाँ तथा जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं कि उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम और उसी के कारण उनका विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात सामान्य रूप से जनता में प्रचलित है। यह भी कहा जाता है कि जब वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी भूल से अपनी ससुराल में जाकर ठहरे तो वहाँ उनकी चिर-वियुक्ता पत्नी से भेंट हुई और उससे उनके साथ चलने का अनुरोध किया जिसका निम्नांकित दोहे में संकेत मिलता है—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न प्रिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥

तथापि कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदासजी के विवाह की बात भ्रान्त जान पड़ती है और ऐसा माना जाता है कि वे जन्म भर वैरागी रहे और स्त्री से उनका साक्षात्कार भी नहीं हुआ। परन्तु यह सम्मति निस्सार जान पड़ती है। जो हो, स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक तीर्थों में भ्रमण करते फिरे। मानसरोवर से सेतुबन्ध रामेश्वर तक की यात्रा करके उन्होंने चित्रकूट की रम्य भूमि में बहुत समय बिताया। फिर काशी, प्रयाग और अयोध्या में कई वर्षों रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना की। मथुरा, वृन्दावन, आदि कृष्ण-तीर्थों की इन्होंने यात्रा की थी। अपनी यात्रा में महात्मा सूरदास, कवि केशवदास और रहीम ख़ानख़ाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है। अन्त में यह संवत् १६३१ ( १५७४ ई० ) में काशी आकर रहे और अपना जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरितमानस लिखा। इसके बाद उन्होंने विनयपत्रिका और गीतावली नामक ग्रन्थ लिखे। उनके मुख्य ग्रन्थों की संख्या १२ है, जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं।

**कृष्ण-भक्ति शाखा**—जिस प्रकार रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में रामानन्द रामभक्ति शाखा के प्रवर्तक हुए और इस मार्ग के सर्वोत्कृष्ट विश्ववंद्य कवि गोस्वामी तुलसीदास हुए, उसी प्रकार कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय के आदि सन्तों में मीराबाई तथा विद्यापति को माना जाता है। विद्यापति बिहार प्रदेश के निवासी थे और मीराबाई मेवाड़ के प्रसिद्ध राणा संग्रामसिंह के पुत्र भोजराज की पत्नी थी। इन दोनों पर मध्वाचार्य के द्वैतवादी सिद्धान्त तथा निम्बार्काचार्य और विष्णुस्वामी के राधाकृष्ण की एकता के सिद्धान्त का पूरा प्रभाव पड़ा था। इसी से विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का बड़ा विशद् वर्णन किया है। इसी प्रकार बंगाल के चण्डीदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने राधा की प्रधानता स्वीकृत की है। उत्तराखण्ड में हिन्दी की प्रसिद्ध भक्त और कवयित्री मीराबाई के पदों में गोपाल कृष्ण के प्रेम तथा उनके प्रति अनन्य श्रद्धा की अभिव्यंजना है।

विद्यापति और मीराबाई के उपरान्त कृष्णभक्ति के प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों का उदय हुआ। अष्टछाप के आठ कवि वल्लभाचार्य के अनुयायी थे। उनकी

परम्परा के प्रतिष्ठापक वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथजी थे। उन्होंने अपने पिता के उपदेशानुसार अत्यन्त सरल तथा मधुर वाणी में भगवान् कृष्ण का यशोगान करने वाले आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। अष्टछाप में सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास सम्मिलित थे। इनमें पहले चार स्वयं आचार्य वल्लभ के शिष्य थे और पिछले चार उनके पुत्र विट्ठलनाथ के।

**वल्लभाचार्य**—स्वामी वल्लभाचार्य का जन्म काशी के एक तैलंग ब्राह्मण के घर में संवत् १५३५ सन् १४७६ में हुआ था। वल्लभाचार्य ने संस्कृत की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की और वे अपने सयय के अद्वितीय पण्डित माने गए। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें वेदान्त-सूत्र, अणुभाष्य तथा तत्त्वदीप निबन्ध आदि प्रसिद्ध हैं। सर्वसामान्य के लिए वल्लभाचार्य ने कृष्ण को परम ब्रह्म तथा राधा को उनकी चिर-प्रणयिनी मानकर उनकी उपासना का आदेश दिया।

इनके दार्शनिक सिद्धान्त को शुद्धाद्वैतवाद कहा जाता है; क्योंकि इन्होंने न तो शंकर के मायावाद को स्वीकार किया है और न रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को ही। इन्होंने भक्ति को ज्ञान से बढ़कर माना है। इनके अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत्, चित् और आनन्द स्वरूप हैं ये जगत् को मिथ्या नहीं मानते। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है अतः यह मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है। परन्तु माया में फँस-कर जीव अपने वास्तविक रूप को नहीं पहचानता है। केवल माया से मुक्त होकर ही जीव अपना शुद्ध रूप पहचानता है और तब वह भी सत् चित् आनन्द स्वरूप हो जाता है।

श्री वल्लभाचार्य ने कुछ व्यावहारिक नियम भी प्रचलित किए। इनकी शिष्य परम्परा में यह नियम है कि गुरु की गद्दी का अधिकारी प्रत्येक शिष्य नहीं हो सकता, गुरु का पुत्र ही हो सकता है। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ क्योंकि संतान सदा योग्य ही नहीं होती। अनेक गुरु सरल और सात्त्विक जीवन न बिताकर विलासप्रिय तथा धनलोलुप बन बैठे जिसके कारण इस सम्प्रदाय का बहुत ही अधःपतन हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों में कृष्ण-लीला के समारोह करने का बहुत प्रचलन हुआ और गुजरात व ब्रज आदि प्रदेशों में कृष्णलीला करने वाली रासमण्डलियाँ उदित हुईं। इनमें भी स्वभावतः ही बहुत भ्रष्टाचार फैला जिसका प्रभाव सरल-चित्त सर्वसामान्य जनता पर बहुत हानिकारक हुआ।

**वल्लभ सम्प्रदाय के अन्य संत**—वल्लभ सम्प्रदाय का तत्कालीन भारत पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। विशेष रूप से ब्रज भाषा के अधिकांश भक्त कवि इसके अनु-यायी हुए। उत्तर में वल्लभ-सम्प्रदाय व बंगाल में चैतन्य-सम्प्रदाय के कवियों के अनुपम चमत्कार के सामने अन्य छोटे-छोटे मत तथा कवि फीके पड़ गए। शायद कुछ समय के लिए कृष्ण-भक्ति के प्राबल्य के कारण ही रामानन्द व तुलसीदास द्वारा

प्रचारित रामभक्ति भी कुछ हलकी पड़ गई थी। कृष्ण-भक्ति के कवियों की वाणी देश भर के कोने-कोने में गूंज उठी।

सूरदास—कृष्ण-भक्ति को सर्वोपरि स्थान देने का श्रेय वल्लभाचार्य के सर्व-प्रधान शिष्य, सूरसागर के रचयिता, हिन्दी के अमर कवि महात्मा सूरदास को है। इनकी सरस वाणी से असंख्य सन्तप्त हृदयों को सान्त्वना प्राप्त हुई और अनेक हताश मनुष्यों को नया जीवन मिला। सूरदास लगभग संवत् १५४० (१४८३ ई०) में आगरा व मथुरा के बीच एक गाँव में उत्पन्न हुए थे। सूर को प्रायः जन्मान्ध माना जाता है किन्तु यह मत ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूप आदि का जैसा वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता। आचार्य वल्लभ से भेंट होने के बाद वे अपने उपास्यदेव कृष्ण की स्तुति में अहर्निश निमग्न हो गए। सूरदास भक्ति के आवेश में गाते हुए एक ही विषय को अनेक बार भिन्न-भिन्न भजनों में निस्सृत करते हैं। उनकी विशेषता उनकी भाषा की मर्मस्पर्शिता, हृदय-हारिता तथा अनुपम माधुर्य एवं भावुकता में है। इन्होंने अनेक स्थानों पर गूढ़तम आध्यात्मिक विषयों को सांसारिक अलंकारों में बाँधा है। सूरसागर के पदों में आन्त-रिक हृदयोद्गार बड़े कोमल, सरस तथा मधुर शब्दों में व्यक्त किए गए हैं। कृष्ण-जीवन की कथा सम्पूर्ण सूरसागर में मिलती है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का सबसे रोचक वर्णन सूरदास ने ही किया है। यह वर्णन मातृप्रेम तथा वात्सल्य के स्निग्ध भावों से इतना ओत-प्रोत है कि उससे प्रत्येक माता के हृदयोद्गार उसी प्रकार जागृत हो उठते हैं और वह अपने पुत्र में कृष्ण का रूप देखने के लिए विह्वल हो जाती है। गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं, उनके किशोरावस्था के स्नेहमय खिल-वाड़ का वर्णन सूर ने अत्यन्त हृदयग्राही शब्दों में किया है। सूर के पदों को पढ़कर अनेक कृष्ण-भक्त जीवन के संतापों को भूलकर भक्ति-विभोर हो गए।

भाषा तथा गूढ़ विषयों की दृष्टि से भी सूर का स्थान एक प्रकार से अद्वितीय है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरल और निर्मल स्रोत उनके सूरसागर में प्रवाहित हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं दीख पड़ता। जीवन के अति सूक्ष्म तत्वों का भी समावेश उनकी वाणी में है और उसके सरल तथा वास्तविक प्रवाह का भी। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास के समान सूरदास ने अनेक लौकिक व जटिल समस्याओं की गंभीर विवेचना नहीं की है किन्तु मानव-जीवन में कोमलता व सरसता के महत्त्व को उन्होंने सर्वोत्तम रीति से प्रदर्शित किया है। सूरदास हिन्दी भाषा के अद्वितीय कवि हैं। गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा कोई उनके समान नहीं है। कुछ लोगों का मत है कि इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चय करना कठिन है। भाषा की व्यापकता के विचार से अवश्य तुलसी व्रज, अवधी तथा संस्कृत के एक समान लेखक थे, किन्तु भावों की तीव्रता और व्यापकता में सूर तुलसी से किसी प्रकार कम नहीं हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है, परन्तु तुलसी में जीवन की अनेक परिस्थितियों का विश्लेषण है। सूरदास ने कृष्णचरित के द्वारा जीवन के अपेक्षाकृत

संकुचित क्षेत्र के भीतर अपनी भाषा का पूर्ण चमत्कार दिखाया है। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोक-कल्याण की दृष्टि से उनकी रचनाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। इसी प्रकार अष्टछाप के नन्ददास आदि अन्य सन्त कवियों ने कृष्ण-भक्ति पर रचनाएँ कीं और कृष्ण-भक्ति को जन-साधारण में प्रचलित किया।

**रहीम, रसखान, गंग और नरहरि**—उपर्युक्त सन्त तथा कवियों के अतिरिक्त अकबरी युग में रहीम आदि अन्य कई भक्त व साहित्यसेवी बड़े सुविख्यात व कीर्तिमान हुए। इनमें अकबर के दरबारी रहीम (अब्दुर्रहीम खानख़ाना), जो 'रहिमन' उपनाम से कविता करते थे, सर्वोत्कृष्ट थे। रहीम कई भाषाओं के पण्डित थे। अरबी, फ़ारसी, तुर्की भाषाओं के अतिरिक्त वे हिन्दी, ब्रजभाषा, अवधी तथा राजस्थानी के भी अपने समय के उच्चतम ज्ञाताओं व कवियों में थे। वे इन सभी भाषाओं में कविता करते थे। रहीम की तत्त्व सम्बन्धी उक्तियों में गहरी भावव्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छन्दों व संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छन्दों में लिखा नायिका-भेद ठेठ अवधी के माधुर्य का एक उत्तम उदाहरण है। तुलसीदासजी की भाँति अवधी और ब्रज भाषाओं पर रहीम का भी समान अधिकार था। कहते हैं कि गोस्वामीजी से इनका बड़ा सौहार्द भाव था। रहीम अपनी दानशीलता के लिए भी बहुत प्रसिद्ध थे। उनके समकालीन कवि गंग ने उनकी अनुपम उदारता से प्रभावित होकर एक बार रहीम को यह दोहा लिखकर भेजा—

सीखे कहाँ नवाबजू, ऐसी दैनी दैन।
ज्यूँ-ज्यूँ ऊपर होत कर, त्यूँ-त्यूँ नीचे नैन॥

इसके उत्तर में रहीम ने जो पंक्तियाँ लिखकर भेजीं उनका जोड़ सहित्य में मिलना दुर्लभ है—

देनहार कोउ और है, सो भेजत दिन रैन।
लोग भरम हम पै करैं, या ते नीचे नैन॥

इसी प्रकार रहीम ने जीवन के कटु अनुभवों का भी बड़ा मार्मिक चित्र अपनी रचनाओं में खींचा है। एक बार जब रहीम बादशाह जहाँगीर के क्रोध के कारण बिलकुल निर्धन हो गए तब उन्होंने यह मर्मभेदी दोहा लिखा—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरि खाहिं।
यारो यारी छाँड़िये, अब रहीम वे नाहिं॥

रहीम की रचनाओं में जीवन के वास्तविक अनुभव तथा कठोर समस्याओं का सच्चा चित्रण किया गया है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। यही कारण है कि रहीम के बचनों का सर्वसाधारण में तुलसी के समान ही प्रचलन हुआ।

**रसखान**—रहीम के समकालीन मुसलमान सन्त कवियों में रसखान भी बड़े

प्रसिद्ध हैं। यह दिल्ली के एक पठान सरदार थे। यह गोस्वामी विट्ठलनाथ के प्रिय शिष्य थे और कृष्ण के परम भक्त थे। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' में भी इनका वृत्तान्त आया है। जान पड़ता है कि श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ने से इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसी से यह वृन्दावन चले आए जिसका संकेत इस दोहे में प्रतीत होता है—

तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मानिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान॥

रसखान निस्सन्देह आरम्भ से ही बड़े प्रेमी जीव थे। प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्‌गार इनके सवैयों में निकले कि सामान्य लोगों में प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त, सवैयों का नाम ही 'रसखान' पड़ गया, जैसे लोग कहते थे 'कोई रसखान सुनाओ'। इनकी भाषा बहुत सरल और सरस थी। शुद्ध व्रजभाषा को अत्यन्त सीधे-सादे ढंग से जिस प्रकार रसखान और घनानन्द ने प्रयुक्त किया है उस प्रकार अन्य किसी ने नहीं किया। इनका रचना-काल सम्भवत: १६४० (१५८३ ई०) के लगभग माना जाता है। इनका प्रसिद्ध काव्य प्रेमवाटिका सं० १६७१ अर्थात् १६१४ ई० में लिखा गया था। व्रजभूमि के सच्चे प्रेम परिपूर्ण इनके ये दो सवैये अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—

मानुष हौं तो वही 'रसखान', बसौं व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो हरि छत्र पुरन्दर कारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥
या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों 'रसखान' जबै व्रज के बन-बाग-तड़ाग निहारौं।
कोटिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

**गंग और नरहरि**—ये दोनों अकबर के दरबारी कवि थे तथा रहीम और रसखान के बड़े सुहृद् थे। गंग शृंगार और वीररस की रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। सर्वसामान्य में इनकी बड़ी ख्याति हुई। इनका मान सर्वसाधारण में कितना अधिक था यह इस पंक्ति से प्रकट है—

"तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार।"

कवि गंग का कविता-काल सत्रहवीं शती वि० का मध्य (सोलहवीं शती ई० का अन्त) मानना चाहिए। इनका एक दोहा रहीम के प्रसंग में लिखा जा चुका है। नरहरि भी अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर राज्य में गोवध बन्द कर दिया था। इनका जन्म सं० १५६२ (१५०५ ई०) और मृत्यु १६६७ (१६१० ई०) माना जाता है। अकबर ने इनको महापात्र की उपाधि से अलंकृत किया था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे हैं। इनके दो ग्रन्थ रुक्मिणी मंगल और छप्पय नीति बहुत प्रसिद्ध हैं। जिस छप्पय पर कहा

जाता है कि अकबर ने गोवध बन्द कर दिया था, यह है—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, बचन उच्चरहिं दीन होइ।।
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महिथंभन जावहिं।
हिंदुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं।।
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, बिनवत गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन।।

**बीरबल और टोडरमल**—अकबर के सर्वोच्च दरबारियों में बीरबल और टोडर-मल अपने अनेक राजनीतिक व धार्मिक गुणों के अतिरिक्त उत्तम कोटि के लेखक तथा कवि भी थे। दुर्भाग्यवश बीरबल की वाक्-पटुता के सम्बन्ध में जन-साधारण में ऐसी धारणा प्रचलित हो गई है कि वह अकबर के दरबार का विदूषक था किन्तु यह धारणा सर्वथा अनुचित है। बीरबल वास्तव में एक अत्यन्त मेधावी, उदारचेता तथा गम्भीर राजनीतिज्ञ थे। इसी कारण अकबर बादशाह उनका इतना आदर करता था कि अपनी अनुपस्थिति में कई अवसरों पर उसने बीरबल को अपनी केन्द्रीय मन्त्रि परिषद् का प्रधान नियुक्त किया था। बीरबल गुणी जनों के आश्रयदाता भी थे तथा कवियों व साहित्यिकों का बड़ा सम्मान करते थे और स्वयं ब्रजभाषा में कविता करते थे। राजा टोडरमल भी अच्छे लेखक व कवि थे। टोडरमल के नीति-सम्बन्धी फुटकर छन्द मिलते हैं।

उपर्युक्त सन्त-साधुओं व साहित्यिकों के अतिरिक्त अकबरी युग में अन्य बहुत-से कवि व लेखक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दी भाषा व साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया और ये दोनों प्रौढ़ता को प्राप्त हुए।

**फ़ारसी साहित्य**—अकबरी युग में फ़ारसी व अन्य भाषाओं के साहित्य की भी बहुत अभिवृद्धि हुई। उसके दरबारियों में शेख मुबारक व उसके सुप्रसिद्ध पुत्र कविराज फ़ैज़ी व अबुलफ़ज़ल के नाम उनके अनेक गुणों के कारण सर्वप्रिय हो गए थे। इनके अतिरिक्त मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी, अब्दुर्रहीम खानखाना, राजा टोडरमल, निज़ामुद्दीन बख्शी, मौलाना अहमद आदि विभिन्न विषयों के अधिकारी विद्वान् व लेखक हुए। शेख मुबारक के धार्मिक विचार बड़े उदार तथा युक्तिसंगत थे। शेख मुबारक ने ही अकबर का वह घोषणापत्र (महज़र) तैयार किया था जिसके द्वारा अकबर ने खलीफ़ा तथा इमाम के उन विशेष अधिकारों को वापस ले लिया था जो प्रारम्भ में मुस्लिम खलीफ़ा-बादशाह के थे किन्तु कालान्तर में मुल्लाओं के हाथों में चले गए थे। सूफ़ी साहित्य व सिद्धान्त का शेख मुबारक बड़ा विद्वान् था।

**कविराज फ़ैज़ी (१५४७-९५ ई०)**—ये शेख मुबारक के बड़े बेटे थे। इनका नाम अबुल फ़ैज़ था। इनकी गणना सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में अबुलफ़ज़ल ने की है। इनकी कविताएँ प्रायः फ़ारसी भाषा में हैं। ये भी अपने पिता के समान सूफ़ी मता-नुयायी तथा उदारचित्त थे। इन्होंने फ़ारसी में हफ़्त किश्वर, नलदमन आदि कई

अत्युत्तम ग्रन्थ लिखे थे। उनके उदार विश्वासों तथा कट्टर मुल्ला-पंथ से विरोध होने के कारण मुसलमानों ने इनसे बड़ा दुर्व्यवहार किया था और जब तक ये भाई और उनके पिता अकबर के दरबार में न पहुँचे थे तब तक इनको इस्लाम के नाम पर अत्यन्त आफतें व कष्ट सहन करने पड़े थे। ये अकबर के बेटों के उस्ताद भी थे।

**अबुलफ़ज़ल** (१५५१-१६०२)—ये शेख मुबारक के दूसरे बेटे थे। इनकी प्रतिभा अत्यन्त विस्तृत थी। दर्शन, इतिहास, राजनीति आदि अनेक शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। इनकी स्मरण-शक्ति असाधारण थी। छोटी उम्र में ही वे कई विद्याओं के ज्ञाता हो गए थे। लगभग १५७४ ई० में वे अकबर के सम्पर्क में आए थे। उससे पहले इनको भी अत्यन्त कष्ट सहन करने पड़ते थे। इनके प्रसिद्ध फारसी ग्रन्थ अकबरनामा व आईने अकबरी हैं। यद्यपि अकबरनामे की भाषा इतनी क्लिष्ट तथा अलंकारों के जमघट से अत्यन्त जटिल हो गई है तथापि वह अकबर के शासन का सर्वोत्तम तथा प्रामाणिक स्रोत है। आईने अकबरी एक प्रकार से तत्कालीन शासन के विभिन्न अंगों का ही नहीं किन्तु आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य बहुत-सी बातों का विश्वकोश है। अबुलफ़ज़ल का यह ग्रन्थ उस युग के ऐतिहासिक साहित्य में अपने प्रकार का एक ही है। इनके अतिरिक्त अबुलफ़ज़ल ने बहुत-से राजनीतिक, आचार व धर्म-सम्बन्धी पत्र लिखे थे जिनसे उनकी क्रियात्मक बुद्धिमत्ता व क्षमता का पता लगता है।

**निज़ामुद्दीन बख्शी**—अकबर के दरबारियों में निज़ामुद्दीन बख्शी ने तबकाते अकबरी नामक एक उत्तम इतिहास-ग्रन्थ लिखा। मुस्लिम-युग के इतिहास का यह भी एक विश्वसनीय स्रोत है।

**मुल्ला अब्दुलक़ादिर बदायूंनी**—बदायूंनी कई भाषाओं का विद्वान् था। पहले कह आए हैं कि अकबर ने उसके द्वारा महाभारत व अथर्ववेद का फ़ारसी अनुवाद कराया था। परन्तु बदायूंनी अपने इतिहास मुन्तखबउत्तवारीख़ के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इसकी विशेषता यह है कि अत्यन्त कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के कारण बदायूंनी ने अपने इतिहास में सम्राट् अकबर के उदारतापूर्ण विश्वासों तथा शासन-नीति पर बड़े कटाक्ष किए हैं और साथ ही उसके सहयोगी मन्त्रियों को भी जी भरकर कोसा है।

**मौलाना अहमद**—उसी समय तारीखे अलफ़ी नामक एक इतिहास लिखा गया था जिसमें हिजरी सन् १००० तक का मुस्लिम राज्यों का वृत्तान्त था। इसी कारण इसका नाम तारीखे अलफ़ी पड़ा। इसका लेखक ठट्टा के काज़ी का लड़का मौलाना अहमद था।

**राजा टोडरमल**—इनको फ़ारसी, संस्कृत व हिन्दी पर समान अधिकार था। टोडरमल फ़ारसी के एक प्रकार से सबसे महान् उपकारक हुए, क्योंकि उन्होंने हिन्दी के स्थान पर फ़ारसी को राजभाषा बनाया। इसका कारण यह था कि राज-कार्यालय का लगभग सब कार्य हिन्दी में होने से राजमन्त्री उसको अच्छी तरह समझ न पाते

थे। इस प्रकार फ़ारसी भाषा को बहुत प्रोत्साहन मिला और समस्त शिक्षित जनता को फ़ारसी पढ़ना आवश्यक हो गया।

अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना ने बाबरनामा का तुर्की भाषा से फ़ारसी तर्जुमा अकबर के आदेशानुसार करके इतिहास-साहित्य को समृद्ध किया।

**कला व शिल्प**—तुर्की मुसलिम राज्य की तेरहवीं शती में स्थापना के आरम्भ से ही भारतीय कला व शिल्प के क्षेत्र में काफ़ी परिवर्तन हुए। यद्यपि निर्माण के मौलिक सिद्धान्त तथा शैली व अलंकरणों के प्रतीक, मूल रूप से प्राचीन भारतीय शिल्प-नियमों का ही अनुसरण करते रहे, तथापि इनकी सामूहिक रचना में कहीं-कहीं ऐसे परिवर्तन अवश्य हुए जो प्राचीन भारतीय कला से स्पष्ट रूप से भिन्न दिखलाई पड़ते थे। इस विषय का संक्षिप्त विवरण पहले भाग में दिया जा चुका है। यहाँ इतना दोहरा देना पर्याप्त होगा कि तुर्क-अफ़गान कालीन कला अपने क्षेत्र में दिल्ली सल्तनत के अन्तिम चरण में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच चुकी थी। उसके अनन्तर कला में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनसे तुर्की युग की पतनोन्मुख कला को एक नया जीवन प्राप्त हुआ और एक प्रकार से कला का अपने नए कलेवर में पुनर्जन्म हुआ। उपर्युक्त कथन विशेषकर वास्तु (architecture) व तक्षण कला (sculpture) की ओर संकेत करता है।

**नवीन कला की विशेषताएँ**—हम देख आए हैं कि ख़ल्जी-काल में वास्तु-कला में प्रत्यक्ष उन्नति हुई थी। परन्तु उसके बाद तुग़लक बादशाहों के कट्टरपन तथा अन्य परिस्थितियों के कारण वास्तु का बहुत ह्रास हुआ था और उसका वह सौन्दर्य तथा कोमलता, उसके अलंकरण-प्रतीकों की सजीवता, सब लुप्तप्राय हो गए थे। तुग़लक वंश के उपरान्त सैयद और लोदी सुलतानों के समय में भी वास्तु की कोई विशेष उन्नति न हो सकी थी। उनके भवनों के आकार-प्रकार तथा सजावट के उपकरणों में कुछ आशाजनक परिवर्तन अवश्य हुए थे किन्तु फिर भी कला का वह रूखापन दूर न हो पाया था जो तुग़लक-काल में उसका विशेष गुण बन गया था। अकबर-युगीन कला की नवीन प्रगति का सूत्रपात शेरशाह सूरी के समय में ही हो गया था। जिस प्रकार मुग़ल-कालीन राजनीतिक संगठन की बुनियादों को व्यवस्थित तथा परिपक्व करने का श्रेय शेरशाह को है उसी प्रकार मुग़ल-युगीन कला, विशेषकर वास्तु व तक्षण कला के विभिन्न अंगों को परिष्कृत करने तथा उनको अत्यन्त सुन्दर बनाने का श्रेय भी शेरशाह को है। इस नई प्रगति का प्रादुर्भाव मुख्यतया वास्तु के क्षेत्र में हुआ था।

वास्तु के क्षेत्र में इस नई प्रगति के दो मुख्य पहलू थे—(१) पुरानी परिपाटी के बन्धनों से मुक्त होकर नवीन आकार-प्रकार का चलन आरम्भ होना; (२) और दूसरे तुग़लक-काल की शुष्क तथा नीरस कला को पीछे छोड़कर एक अधिक सुसज्जित व अलंकृत तथा सजीव शैली का अनुकरण किया जाना। इनमें पुरानी परिपाटी के बन्धनों को तोड़कर अष्टकोण भवनों का बनना सैयद और अफ़गान काल में ही

आरम्भ हो गया था और इस शैली का विकास १६वीं शती के मध्य तक होता रहा। इसका सर्वोत्तम नमूना शेरशाह का मकबरा है जो हर प्रकार से वास्तु का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। इस नई प्रगति का दूसरा चिह्न था एक ऐसी सुन्दर मानवीय तथा आकर्षक शैली का आरम्भ जो तुग़लक-काल की तीव्र व कर्कश रुक्षता तथा रूढ़िवाद से बिलकुल मुक्त हो चुकी थी। इस शैली के नमूने हमको सबसे पहले पुराने किले के द्वारों में मिलते हैं। इनमें सुर्ख, चिकने पत्थर के साथ-साथ सफ़ेद संगमरमर की पच्चीकारी और रंगीन चौकियों (tiles) आदि का प्रयोग करके इन द्वारों को अतीव सुन्दर बनाया गया है। इनकी ऊपर की मंजिल में टोड़ों पर टिके हुए छज्जे भी बाहर को निकाले गए हैं जो इनकी सुन्दरता को बहुत बढ़ाते हैं। इस अलंकृत व सुसज्जित सुन्दरतापूर्ण शैली की माँग की पूर्ति का सबसे पहला नमूना पुरानी दिल्ली की जमाली मस्जिद (१५३०) में मिलता है। यह मस्जिद शेरशाह की पुराने किले के अन्दर वाली मसजिद का, जो १५४५ में बनकर समाप्त हुई, पूर्व रूप था। शेरशाह की मस्जिद, जो किलाए कोहना मस्जिद के नाम से प्रसिद्ध है, इस नई शैली का निस्सन्देह सर्वोत्कृष्ट तथा अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। इस मस्जिद और शेरशाह के मकबरे की तुलना करने से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि यह मस्जिद नवीन शैली का आरम्भ करती है और पुरानी शैली शेरशाह के मकबरे में अपने उच्चतम उत्कर्ष को प्राप्त करके समाप्त हो जाती है।

**मुग़लकालीन वास्तु का विकास : उसके विभिन्न याम व विशेषताएँ**—उपर्युक्त कथन से विदित होगा कि मुगलकालीन वास्तु-शैली का आरम्भ भी शेरशाह के तत्त्वावधान में हुआ था। यों तो बाबर ने भी कई स्थानों पर मस्जिदें बनवाई थीं और स्वयं अपने कथनानुसार उसने आगरे में अपने बागों तथा महलों को बनवाने के लिए हजारों संगतराशों व राज-मजदूरों से काम लिया था परन्तु उसका कोई ऐसा भवन विद्यमान नहीं है जिसे मुगल-शैली का उदाहरण माना जा सके। बाबर के बाद मुग़ल वास्तु का पहला उदाहरण हुमायूँ का मकबरा है जिसमें फारस की वास्तु-शैली का गहरा प्रभाव स्पष्ट है, विशेषकर उसके अर्द्ध-गुम्बदाकार ऊँचे-ऊँचे द्वार ईरानी वास्तु की याद दिलाते हैं। इस मकबरे का गुम्बद, जो समूचा सफेद संगमरमर का बना हुआ है, ईरानी वास्तु से बहुत-कुछ मिलता है। इसमें भारतीय कमल अथवा अन्य प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि गुम्बद के ऊपर कलश विद्यमान है यद्यपि गुम्बद के आकार की अपेक्षा वह बहुत ही छोटा है तथा भद्दा दीख पड़ता है। अन्य पच्चीकारी आदि की सजावट में इस मकबरे में कोई ऐसी विशेषता नहीं है जिसे विदेशी कहा जा सके। एक और मुख्य बात इस मकबरे के साथ आरम्भ होती है अर्थात कब्र के भवन को एक बहुत बड़े बाग के बीच में बनाया गया है और यह बाग एक बहुत ऊँची चहारदीवारी के अन्दर है जिसके चारों तरफ़ों के बीच में बड़े विशाल व ऊँचे द्वार हैं। यह परिपाटी इसके बाद प्रायः सभी मुग़ल-भवनों में प्रचलित हो गई। यह द्वार अपने आकार-प्रकार तथा सभी अंग-प्रत्यंगों में ऐसे अनुपात से बनाए गए हैं

कि मुख्य मकबरे को देखने के लिए दर्शक को वे सचेत करते हैं। इस मकबरे का सबसे विशिष्ट और स्पष्ट अंग उसका उत्तुंग गुम्बद है जो समस्त भवन का सिरमौर है। वही इस मकबरे को कान्ति तथा वैभव प्रदान करता है।

**अकबरकालीन वास्तु**—अकबर के काल में वास्तु के क्षेत्र में भी उतनी ही अपूर्व उन्नति हुई जितनी अन्य संस्थाओं में। अकबर के संरक्षण व संपोषण में वास्तु ने जो विशिष्ट रूप धारण किया उसके मुख्य चिह्न यह थे—समस्त भवनों के निर्माण में रक्तिम लाल पत्थर का प्रयोग किया गया जो वास्तु की दृढ़ता, यौवन तथा शक्ति का प्रतीक है। दूसरे, अकबर का यह प्रयत्न था कि प्राचीन हिन्दू-निर्माण-शैली तथा अलंकरण के सभी प्रतीकों को अंगीकार करके अपने भवनों में इस प्रकार समन्वित करे कि वास्तु एक सार्वदेशिक अथवा राष्ट्रीय रूप में विकसित हो। अपने इस प्रयत्न में अकबर पूर्णरूप से सफल हुआ यह हमको उसके महलों, मकबरे तथा अन्य भवनों से स्पष्ट हो जाता है। तीसरी, विशेषता अकबरी वास्तु की यह थी कि उसमें वास्तु को सवीर्य तथा पौरुषपूर्ण व वज्र सम दृढ़ बनाने का सफल प्रयत्न किया गया न कि जैसा उसके बाद जहाँगीर और विशेषकर शाहजहाँ के काल में हुआ। वास्तु को अत्यन्त सुकुमार, कोमलांग तथा केवल आकर्षक बनाने का। अकबरी वास्तु में अकबर का चरित्र, उसका पौरुष, उसकी सर्वव्यापक दृष्टि, उसके उच्चादर्श तथा उसका प्रताप, सभी गुण प्रस्फुटित हुए है। अकबर ने मुग़ल बादशाहों में सबसे विशाल तथा अधिक मात्रा में हर प्रकार के भवन निर्माण कराए थे। इनमें आगरा, प्रयाग तथा लाहौर के दुर्ग, फतहपुर सीकरी का समूचा नगर और उसके अन्तर्गत अनेक उत्तमोत्तम भवन, विशेष रूप से जामी मस्जिद तथा उसका लोक-प्रसिद्ध गगनचुम्बी बुलन्द दरवाजा, इसी प्रकार आगरे आदि के किलों के अन्दर के भवन तथा अपना मकबरा, जो आगरे के उत्तर में चार मील के लगभग सिकन्दरा नामक गाँव में स्थित है, ये सब उल्लेखनीय हैं।

**अकबर के बाद वास्तु की प्रगति : तकनीकी उत्कर्ष किन्तु कला की अवनति**—अकबर के उत्तराधिकारियों में जहाँगीर को वास्तु में अधिक रुचि नहीं थी। अतएव उसने कोई विशेष उल्लेखनीय भवन अथवा मकबरा नहीं बनवाया। जहाँगीर और उसकी जगत्प्रसिद्ध महारानी नूरजहाँ दोनों ही को बाग लगाने का बहुत शौक था। जहाँगीर ने एक प्रकार से लाहौर को अपनी राजधानी बनाया था जहाँ से वह प्रति-वर्ष आसानी के साथ काश्मीर जा सकता था। उसने अपने लाहौर के महल को भी एक बड़े विशाल बाग के अन्दर बनवाया था जिसमें बहुत-से फव्वारे बाग की कान्ति को बढ़ाते थे। नूरजहाँ ने रावी नदी के दूसरी तरफ शाहदरा में एक बहुत विशाल बाग लगवाया था जिसका नाम दिलकुशा रखा। इसी दिलकुशा में जहाँगीर का मकबरा बनवाया। जहाँगीर के सबसे उत्तम बाग काश्मीर में पाए जाते हैं। काश्मीर की नैसर्गिक सुन्दरता से जहाँगीर इतना मुग्ध था कि उसने डल झील के किनारे कई बड़े-बड़े बाग लगवाए। इनमें शालामार और निशात बाग विशेष उल्लेखनीय हैं।

शालामार के बारे में यह गाथा प्रचलित है कि श्रीनगर के राजा प्रवरसेन ने लगभग पहली शती ई० के अन्त में इस झील के किनारे शालिमार नाम का महल और उद्यान बनवाया था। इसी स्थान पर जहाँगीर ने फिर से १६१६ में एक अत्यन्त सुन्दर तथा विस्तृत बाग का निर्माण किया। इस बाग के बीच से एक नहर निकाली गई है जो १२ गज चौड़ी है। इसी में जहाँगीर ने अपने विलास के लिए एक अत्यन्त रमणीक प्रासाद बनवाया था।

डल झील के किनारे पर नूरजहाँ के भाई आसफखाँ ने निशात बाग लगवाया जिसमें बारह राशियों के अनुकूल बारह पैड़ियाँ (terraces) हैं जो कि एक पहाड़ी के समान एक-दूसरे के ऊपर उठती हुई बड़ी शोभायमान दीख पड़ती हैं।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ ने भी इसी प्रकार लाहौर, आगरा तथा काश्मीर में बड़े सुन्दर तथा विशाल बागों की स्थापना की। परन्तु जहाँगीर और नूरजहाँ की विशेष रुचि चित्रकला में थी। चित्रकला के विषय में जहाँगीर को इतनी उत्तम विवेक-बुद्धि थी कि वह बड़े-बड़े कलावन्तों के चित्रों को देखते ही उनके रचयिता का नाम बतला देता था। परन्तु वास्तु-कला की प्रगति में एक विशेष पग आगे बढ़ाने का श्रेय नूरजहाँ को है। नूरजहाँ के बनवाए हुए भवनों में उसके पिता ग़यासबेग (एतमा-दुद्दौला) का मकबरा जो आगरे में है और जहाँगीर का मकबरा विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इन दोनों इमारतों की विशेषता यह है कि इनमें पहले-पहल बड़े पैमाने पर सफेद पत्थर (संगमरमर) तथा रत्नजटित पच्चीकारी (Pietra-dura) का प्रयोग किया गया। इस पच्चीकारी का काम पहले घरेलू सजावट की छोटी-छोटी वस्तुओं में किया जाता था। किन्तु एक पूरे विशाल भवन को अलंकृत करने के लिए इसका प्रयोग पहले-पहल करने का श्रेय नूरजहाँ ही को है। उपर्युक्त दोनों मकबरों में बहु-मूल्य रत्नों की कटाई करके हर प्रकार की फूल-पत्तियों तथा वल्लरियों की रचना इतनी उत्तमता तथा आश्चर्यजनक कुशलता से की गई है कि शब्दों में उसका व्यक्त करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। इसी पच्चीकारी का प्रयोग शाहजहाँ ने अपने भवनों में किया किन्तु इसके सौन्दर्य अथवा कटाई-छँटाई में शाहजहाँ के समय में नूरजहाँ की पच्चीकारी से किसी प्रकार भी अधिक उत्तमता आई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस समय की समस्त कला नूरजहाँ की कला की नकलमात्र थी। वास्तव में एतमादुद्दौला के मकबरे में तो कई नमूने इस कला के सर्वोत्कृष्ट हैं जिनका उदाहरण शाहजहाँ के भवनों में कहीं नहीं मिलता।

**शाहजहाँ के समय में वास्तु**—अकबर के बाद शाहजहाँ ने ही बहुत बड़े पैमाने पर भवन निर्माण कराए। अकबर के आगरे के किले के अन्दर उसने संगमरमर के महल, बुर्ज तथा दीवाने खास व आम आदि अनेक भवनों का निर्माण कराया। किन्तु इन सबमें अद्वितीय तथा सर्वांगसुन्दर इमारत शाहजहाँ की बनवाई हुई मोती मस्जिद है। इनके अतिरिक्त उसने दिल्ली में लाल पत्थर का एक बहुत विस्तीर्ण किला बन-बनवाया जो नाम के लिए किला था परन्तु वास्तव में राजप्रासाद था। इसके अन्दर

भी शाहजहाँ ने दीवाने-आम, खास, रंगमहल आदि अनेक भवन बनवाए जो प्राय: संगमरमर के ही थे। शाहजहाँ ने दिल्ली में एक बहुत बड़ी मस्जिद का भी निर्माण कराया जो अपनी उत्कृष्ट कला तथा विशालता के लिए संसार की उत्तमोत्तम मस्जिदों में मानी जाती है। शाहजहाँ के बागों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शाहजहाँ के भवनों में सबसे प्रसिद्ध तथा कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट उसकी रानी मुमताजमहल का मकबरा, जो ताजमहल के नाम से प्रसिद्ध है, माना जाता है। यह मकबरा समूचा दूध से सदृश सफेद पत्थर का बना हुआ है और अपनी विलक्षण उत्तमता के लिए संसार की नौ अद्भुत वस्तुओं में गिना जाता है। ताजमहल की अनेक विशेषताओं में उसका जमना नदी के किनारे पर एक बड़े रमणीक उद्यान के बीच में होना, नहर का बहना और फव्वारों का चलना आदि तो देखने योग्य हैं ही, किन्तु ताज का गुम्बद हर प्रकार से उसके अंग-प्रत्यंगों में अनुपमेय है। उसकी सतह की सुकुमार बाह्य रेखा और उसके कोमल घुमाव तथा उसके उपर और नीचे बृहदाकार महापद्म तथा कलश ये सभी अद्वितीय हैं। पच्चीकारी का काम भी इस मकबरे में अपने प्रकार का अलग ही है। इस प्रकार शाहजहाँ ने वास्तु के क्षेत्र में जितना योगदान दिया वह अपनी विशालता में लगभग अकबर सरीखा ही कहा जा सकता है। तथापि शाहजहाँ-कालीन वास्तु को हम उन्नतिशील नहीं प्रत्युत पतनोन्मुख ही कहेंगे। उसमें अकबर-कालीन उच्चादर्शों, पौरुष, वीरत्व, समन्वय तथा कुशाग्रता का सर्वथा अभाव था। शाहजहाँ का वास्तु स्त्रियोचित कोमलता, उच्छृंखलता तथा ऊपरी चमक-दमक की ओर दौड़ता है। वह उन्मत्त आँखों को आकर्षित करता है किन्तु गहरे भावों को उत्पन्न करने की न उसमें इच्छा है न योग्यता।

**अकबरी युग की चित्रकला**—प्राचीन भारतीय भित्ति-चित्रकला का कई सदियों से लोप हो गया था। तुर्की सल्तनत में चित्रकला को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि चित्रकारी इस्लामी सिद्धान्त के प्रतिकूल समझी जाती थी। परन्तु मुग़ल-साम्राज्य की स्थापना के बाद इस कला में बादशाहों की फिर से अभिरुचि बढ़ी और उन्होंने राजपूत व फारसी शैलियों के चित्रकारों का प्रोत्साहन तथा परिपोषण करना शुरू किया। वास्तव में मुग़लकालीन चित्रकला अकबर के समय में अपने यौवन को प्राप्त हुई और फिर जहाँगीर के तत्वावधान में वह अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची। शाहजहाँ के समय में उसका पतन होना आरम्भ हो गया और औरंगज़ेब की उदासीन एवं विरोधात्मक नीति के कारण चित्रकला की एक प्रकार से मुग़ल दरबार में मृत्यु हो गई। तथापि मुग़ल-प्रान्तीय नवाबों तथा सूबेदारों के द्वारा इस कला का संरक्षण व परिपोषण होता रहा और दरबार कलावन्तों को इन प्रान्तीय शासकों के पास आश्रय प्राप्त हुआ।

आरम्भ में लगभग १५५० से १६१० तक मुग़ल चित्र-कला पर फारस की चित्र-कला का बहुत प्रभाव रहा। इस अवकाश को हिन्द-ईरानी कला का युग कहना चाहिए क्योंकि इसमें यद्यपि विषय प्राय: हिन्दुस्तानी हैं, आकृति तथा आलेखन शैली

साफ तौर से ईरानी हैं। अकबर चित्रकारों और कलावन्तों का बड़ा आदर-सत्कार तथा प्रोत्साहन करता था। उसके समय में बड़े प्रसिद्ध हिन्दू-चित्रकारों ने एक उदीयमान शैली को जन्म दिया और उसे प्रौढ़ता तक पहुँचाया। इन चित्रों में प्रायः दो प्रकार के विषय चित्रित किए गए हैं—ईरानी वीरकाव्यों के चित्रों की नकल और दूसरे रामायण, योगवाशिष्ठ, अनवार, सहेली आदि हिन्दू-धर्म पुस्तकों के फ़ारसी अनुवादों को चित्रित करने के लिए उसी आलेखन-शैली के चित्र बनाए गए। इन चित्रों में भू-प्रदेश प्रायः कृत्रिम प्रकार का है जैसा ईरानी शैली में था। कहीं-कहीं ईरानी प्रेम-गाथाएँ जैसे लैला व मजनू के प्रेम की घटना चित्रित की गई है। कुछ चित्रों में ईरानी तथा भारतीय विशेषताओं को मिश्रित किया गया है। यह शैली पूर्व मुग़लकालीन युग में प्रचलित रही और सम्राट् अकबर की सहानुभूति तथा तीव्र रुचि चित्रकला के प्रोत्साहन में होने के परिणाम-स्वरूप इस कला की बहुत अभिवृद्धि हुई। अबुलफ़ज़ल ने अकबर के काल के बड़े-बड़े कलावन्तों के नाम गिनाए हैं। इनमें शीराज का अब्दुस्समद, कलमाक का फर्रुख़, तबरेज़ का मीर सैयदअली बहुत प्रसिद्ध थे। साथ ही हिन्दू कलावन्तों में बसावन, दसवन्त और केसोदास अकबरी दरबार के सर्वोत्तम चित्रकार थे। इन्होंने अपने स्वामी सम्राट् अकबर के आदेशानुसार ईरानी कवि निज़ामी तथा अन्य फ़ारसी साहित्य-ग्रन्थों को अपने चित्रों द्वारा प्रदर्शित करके अपनी कलात्मक प्रतिभा का परिचय दिया था।

चित्रकला का सबसे अधिक प्रोत्साहन तथा चरमोत्कर्ष जहाँगीर के समय में हुआ। उस समय में मानव-चित्र तथा आखेट दृश्य विशेष प्रिय विषय थे। साथ ही जहाँगीर को फूल-पत्तियों आदि नैसर्गिक दृश्यों का भी बहुत शौक था। सम्राट् अकसर फूलों तथा विलक्षण व दुष्प्राप्य पशु-पक्षियों के चित्र भी बनवाता था। इतना ही नहीं, उसने कई ईसाई धर्म-विषयक चित्रों की भी प्रतिलिपियाँ बनवाई थीं। शाहजहाँ के समय से चित्रकला अपने उस यौवन तथा गौरव को धीरे-धीरे खो बैठी। जिस प्रकार उसके समय में वास्तु-कला बाह्य अलंकरण के आडम्बर में दब गई जान पड़ती है उसी प्रकार चित्रकला भी सजावट की प्रचुरता तथा विलासपूर्ण रंगों के सम्मिश्रण में दबती जाती है।

**अकबर के युग में संगीत**—अकबर और उसके वंशजों ने संगीत-कला में भी उतनी ही रुचि का प्रदर्शन किया था जितनी अन्य कलाओं में। अकबर के दरबार में बहुत-से जगद्विख्यात गायकों को आश्रय मिलता था। इनमें हिन्दू, ईरानी, तूरानी तथा काश्मीरी कलावन्त थे। अबुलफ़ज़ल के अनुसार बहुत-से स्त्री-संगीतज्ञ भी सम्राट् के दरबार में थे। अकबर ने इन सबको सात वर्गों में विभक्त करके नियत किया था कि एक-एक वर्ग सप्ताह के एक-एक दिन संगीत-समारोह करे। इन कलावन्तों में सबसे प्रसिद्ध नाम ग्वालियर निवासी मियाँ तानसेन का है। यह अकबरी दरबार के नवरत्नों में भी प्रतिष्ठित हुए थे। आरम्भ में तानसेन बघेल राजा रामचन्द्र के दरबार में था। कहते हैं कि एक बार रामचन्द्र ने तानसेन के उत्तम संगीत से प्रसन्न

होकर उसे एक करोड़ टंके भेंट किए थे। इब्राहीम सूर ने भी उसकी ख्याति सुनकर तानसेन को अपने दरबार में बुलाने का प्रयत्न किया था। अकबर ने तानसेन का नाम सुनकर जलालुद्दीन कुर्ची को रामचन्द्र के पास भेजा कि वह तानसेन को सम्राट् के दरबार में भेज दे। सम्राट् की प्रार्थना को रामचन्द्र इनकार नहीं कर सकता था। उसने तानसेन को उसके सब साजो-सामान के साथ अकबर के पास भेज दिया। तानसेन के पहले ही बार गायन सुनाने पर अकबर ने उसे दो लाख रुपए भेंट किए थे। तानसेन ने भारतीय गायन में बहुत से नए राग-रागिनियों का आविष्कार किया था। कान्हड़ा राग को उसने अपनी अद्वितीय प्रतिभा से इतना मधुर तथा हृदय-ग्राह्य बनाया कि वह आज तक दरबारी कान्हड़ा कहलाता है।

तानसेन के अतिरिक्त ग्वालियर के बाबा रामदास, सुभानखाँ, श्रीज्ञानखाँ तथा मियाँचन्द कलावन्तों के नाम उल्लेखनीय हैं। अबुलफ़ज़ल ने बहुत-से गायकों के अतिरिक्त बीनकार, शहनाई बजानेवाले, तम्बूरा, सरना आदि-आदि अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों को बजानेवालों के नाम भी दिए हैं।

**सुन्दर लेख अथवा खुशनवीसी**—समस्त मुस्लिम राज्यों में सुन्दर लेखन-कला का अद्वितीय उत्कर्ष हुआ था। इसका कारण यह था कि किसी प्रकार के जीवधारी, पशु-पक्षी अथवा मनुष्य का चित्र या मूर्ति बनाना इस्लाम मत में वर्जित था। इसको उतना ही पाप समझा जाता था जितना मूर्ति-पूजा को। अतएव मुस्लिम कलाकारों ने अपनी कलात्मक अभिरुचि की तृप्ति के लिए अरबी व फारसी लिपियों को ही बड़े विलक्षण उपायों से सुन्दर व आकर्षक बनाकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। ईरान और मध्य एशिया में खुशनवीसी का बड़ा अपूर्व विकास हुआ था।

इसी परिपाटी का अनुकरण भारतवर्ष में, मुसलमान बादशाहों ने किया था। स्वयं मुहम्मद तुग़लक़ खुशनवीसी में बड़ा सिद्धहस्त माना जाता था। सुलतानों के दरबार में अन्य बहुत-से सुलेखकों के नाम आते हैं। अबुलफ़ज़ल के अनुसार ईरान, मध्य एशिया, भारत और तुर्किस्तान में आठ प्रकार की सुलेख-शैलियाँ प्रचलित थीं। इनमें से सात शैलियाँ अर्थात् सुल्स, तौकी, नस्ख आदि का रचयिता इब्न मुकला को माना जाता है। परन्तु नस्ख का आविष्कारक खलीफ़ा मुस्तासिम बिल्ला के गुलाम याकूत को कहा जाता है। अकबर के समय के प्रसिद्ध खुशनवीसों में इब्न-बावा व याकूत तथा उसके बहुत-से शिष्यों के नाम प्रसिद्ध हुए। सम्राट् ने इनमें से बहुतों को जरीं कलम की उपाधि से सुशोभित किया था।

**मुग़ल-कालीन मुद्रा**—बाबर और हुमायूँ का शासन इतना सुदृढ़ तथा व्यवस्थित न हो पाया कि वे प्रचलित सिक्कों में कोई परिवर्तन अथवा संशोधन कर सकते। परन्तु अपने अल्पकालीन शासन में जिस प्रकार शेरशाह ने अन्य विभागों को सुव्यवस्थित किया था उसी प्रकार सिक्कों में भी उसने एक सर्वथा नई शैली प्रचलित की जिससे सिक्कों के इतिहास में एक नए युग का उदय हुआ। फ़ीरोज तुग़लक़ के समय से मिश्रित धातुओं के खोटे सिक्कों के बनाने की प्रथा चली आती

थी। शेरशाह ने इसको सदा के लिए बन्द कर दिया और शुद्ध चाँदी व ताँबे के सिक्के बनवाने शुरू किए। इस कार्य में उसको बंगाल के शुद्ध चाँदी के सिक्कों के प्रचलन से पर्याप्त प्रोत्साहन तथा उदाहरण मिला था। चीजों के भाव उस समय इतने सस्ते थे कि ताँबे के सिक्कों के स्थान पर कौड़ी का चलन था। सोने के सिक्के बनाए अवश्य जाते थे किन्तु बहुत कम तादाद में। शेरशाह ने चाँदी के सिक्के को मूल्य का परिमाण निश्चित किया और उसका नाम रुपया रखा। ताँबे के सिक्कों का नाम पैसा रखा, जो अकबर के समय में दाम कहलाया। चाँदी के रुपए का वज़न लगभग १८० ग्रेन (१२ माशा) था और पैसे या दाम का वज़न ३६० ग्रेन अर्थात् २ तोला के लगभग था। चालीस दाम का मूल्य एक रुपए के बराबर होता था। शेरशाह ने सिक्कों के ढलने के लिए कई स्थानों पर टकसालें बनवाई थीं किन्तु बहुत से सिक्के ऐसे ठप्पों से बनाए जाते थे जो बादशाह के साथ-साथ लश्कर में ले जाए जा सकते थे। मुग़लों ने कुछ सिक्के केवल प्रतीक मात्र बहुत भारी भारी बनवाए थे। अबुलफ़ज़ल ने सौ-सौ तोले के सोने के सिक्कों का ज़िक्र किया है। इसी प्रकार पचास, पचीस और बीस तोले के सिक्के भी बनवाए गए थे। शाही टकसालों में सामान्य आदान-प्रदान के लिए दस, पाँच और दो तोले के सिक्के भी गढ़े जाते थे। इनमें सबसे छोटा सिक्का १२ माशे का होता था जो जलाली कहलाता था। जलाली के भी आधे और चौथाई वज़न के सिक्के बनाए गए थे।

चाँदी का सिक्का लगभग १२ माशे का होता था। यह वही सिक्का था जिसे शेरशाह ने प्रचलित किया था और अकबर ने उसको अधिक शुद्ध तथा परिमार्जित बनाया। उस पर एक ओर 'अल्लाहो अकबर जल्ले जलालहू' और दूसरी ओर तारीख खुदी होती थी। सरकारी मूल्य-परिमाण के अनुसार ४० दाम एक चाँदी के सिक्के के बराबर रखे गए थे। इसी के अनुसार कर्मचारियों के वेतन दिए जाते थे। रुपए के समान ही जलाला नामक एक और चाँदी का सिक्का बनाया गया था जो चौकोर होता था। इसके आधा, चौथाई, पाँचवें, आठवें, दसवें, सोलहवें और बीसवें हिस्से के सिक्के भी बनाए गए थे। दाम ताँबे का सिक्का था और उसका वजन लगभग १ तोला ८ माशा होता था। शेरशाह के समय में इसी को पैसा कहते थे जिनका वज़न लगभग २ तोले था। उससे पहले इसी का नाम बहलोली था। दाम का आधा हिस्सा अधेला, चौथाई पावला और आठवाँ हिस्सा दमड़ी कहलाता था।

# नवाँ प्रकरण

# अकबरोत्तर युग (१६०६-१६५८ तक)

इकतीस

## पूर्वार्द्ध : जहाँगीर का राजत्वकाल

### जहाँगीर (१६०५ से १६२७ तक)

**अकबरोत्तर युग का सामान्य मूल्यांकन**—प्राय: विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि मुग़ल साम्राज्य अकबर के बाद भी उत्तरोत्तर उन्नति करता रहा और शाहजहाँ के समय में वह अपने विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ। इसी कारण शाहजहाँ के राजत्व-काल को इन लेखकों ने मुग़ल-साम्राज्य का स्वर्ण-युग बतलाया है। यदि वास्तविक उन्नति के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया जाए तो उपर्युक्त धारणा से सहमत होना संभव नहीं जान पड़ता। मुग़ल-साम्राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति अकबर महान् के ही संरक्षण में अपने उच्चतम शिखर को प्राप्त हो चुकी थी एवं साम्राज्य के पूर्णतया विकसित होने के सभी चिह्न अकबर के शासन में परिपक्व हो चुके थे। उसकी शासन-व्यवस्था, व्यापक संगठन, उदार नीति, साम्राज्य को बाहरी तथा अन्दरूनी संकटों से पूरी तरह सुरक्षित करना, प्रजा का हर प्रकार से सुखी होना तथा एक नागरिक के अधिकार प्राप्त करना, ये सब गुण अकबर के शासन में विद्यमान थे। कला, साहित्य व संस्कृति की उन्नति भी लगभग सभी क्षेत्रों में अकबर के परिपोषण तथा प्रोत्साहन से उच्चतम स्तर को प्राप्त हो चुकी थी। इनमें से किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में जहाँगीर व शाहजहाँ ने विशेष रुचि दिखलाई। उदाहरणार्थ. जहाँगीर के समय में चित्रकला को बहुत प्रोत्साहन मिला और शाहजहाँ ने वास्तु-निर्माण में विशेष रुचि दिखलाई। परन्तु जहाँगीर के संरक्षण में चित्रकारों व कलावन्तों को कुछ अधिक प्रोत्साहन भले ही मिला हो, कला की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय उन्नति उस काल में नहीं हुई। शाहजहाँ के भवनों में तो, जैसा हम पिछले अध्याय में बतला आए हैं, वास्तुकला के अपकर्ष का ही आरंभ दीख पड़ता है। राजनीतिक विस्तार की दृष्टि से शाहजहाँ और औरंगज़ेब ने साम्राज्य की काया को अवश्य ही बृहदाकार बनाया था किन्तु उन्हीं के हाथों

अर्थात् उन्हीं की नीति एवं शासन-संचालन की निर्बलता तथा त्रुटियों के कारण साम्राज्य का यह बृहदाकार शरीर निर्जीव तथा जर्जर हो गया। इस दृष्टि से भी मुग़ल-साम्राज्य ने अकबर के बाद कोई उन्नति नहीं की।

**जहाँगीर का राजत्व-काल—आरंभिक जीवन**—जहाँगीर का जन्म अगस्त १५६९ में आमेर के राजा भारमल कछवाहा की बेटी मानमती से हुआ था जिसे कछवाहा राजा ने १५६२ में सांगानेर के स्थान पर युवक अकबर को भेंट किया था। सीकरी-निवासी शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सुलतान सलीम रखा गया। चार वर्ष की आयु में ही उसकी शिक्षा आरंभ कर दी गई। थोड़े दिन बाद उसे बैरमखाँ के योग्य पुत्र प्रसिद्ध विद्वान् तथा कवि अब्दुर्रहीम खाँ के शिक्षण में रखा गया। अब्दुर्रहीम फारसी, अरबी, तुर्की संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं का ज्ञाता था। उसके शिक्षण में राजकुमार सलीम को भी फारसी के अतिरिक्त तुर्की तथा हिन्दी भाषाओं का अच्छा ज्ञान हो गया। रहीम के सम्पर्क से उसे हिन्दी कविता में भी बहुत रुचि हो गई। साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त सलीम को बचपन से ही राज्योचित शासन सम्बन्धी व राजनीतिक कार्यों की शिक्षा भी दी गई। मुग़ल राजकुमारों को युवावस्था में ही सूबेदारी तथा सेनाध्यक्ष आदि के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त करने की प्रथा अकबर ने ही जारी की थी। कारण कि इस प्रकार इनको शासन-संचालन का अनुभव भी होता तथा उनका साहस व आत्मविश्वास बढ़ता था। १५८१ के राजनीतिक संकट के समय अकबर ने राजकुमार सलीम और मुराद दोनों ही को सेनाओं का अध्यक्ष नियुक्त किया था। इसके बाद सलीम को एक बार न्याय तथा राजकीय शिष्टाचार विभागों का भी अध्यक्ष बनाया गया था। इन उदाहरणों से प्रमाणित है कि मुग़ल राजकुमारों को आरंभ से ही हर प्रकार की शासन-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी तथा उसका अनुभव करने का अवसर दिया जाता था।

हिन्दुस्तान के राजघरानों की प्रथा के अनुकूल मुग़ल राजकुमारों के विवाह भी छोटी आयु में ही हो जाते थे। सलीम का पहला विवाह १५८७ में, जब कि वह लगभग १६ वर्ष का था, जोधपुर की राजकुमारी मनीबाई (जोधाबाई) के साथ कर दिया गया जिसमें हिन्दू तथा मुसलमानी दोनों प्रकार की रस्में पूरी की गईं। इसी रानी का पुत्र राजकुमार खुर्रम (शाहजहाँ) था जो १५९२ में उत्पन्न हुआ था। १५८६ में सलीम का विवाह बीकानेर के राजा उदयसिंह की बेटी जगतगुसाईं अथवा जोधाबाई से हुआ था। इनके अतिरिक्त और भी कई स्त्रियों से सलीम ने विवाह किया था जिनमें सबसे योग्य तथा प्रसिद्ध मेहरुन्निसा बेगम (नूरजहाँ) थी। शाहजहाँ, जो १५९२ में उत्पन्न हुआ था, जोधाबाई का बेटा था।

**जहाँगीर का राज्यारोहण**—जहाँगीर को राजगद्दी पर बैठने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। पिछले अध्याय में कह आए हैं कि जहाँगीर ने अपने पिता के अन्तिम दिनों में विरोध की पताका खड़ी करके प्रयाग में अपने सम्राट् होने की घोषणा कर दी थी। तथापि अकबर की मृत्यु से कुछ दिन पहले बाप-

बेटे में ऊपरी तौर से समझौता हो गया था और सम्राट् ने जहाँगीर को ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था। तिस पर भी शाही दरबार के कुछ उच्च दरबारियों ने सलीम को हटाकर उसके स्थान पर उसके पुत्र खुसरू को सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न किया। इस विरोधी दल के उठने का कारण केवल यही नहीं था कि सलीम ने अकबर जैसे पिता के विरुद्ध राजद्रोह करके अपने चरित्र की उच्छृंखलता दिखलाई थी अपितु उस दल के नेता राजा मानसिंह और अज़ीज़ कोका थे जो खुसरू के निकट सम्बन्धी थे। मानसिंह, खुसरू का मामा था और अज़ीज़ कोका की बेटी खुसरू को ब्याही थी। किन्तु चूँकि अकबर ने सलीम हो ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था अतएव यह विरोध असफल हुआ और अकबर के निधन के बाद मन्त्रिमण्डल ने सलीम को ही बादशाह स्वीकार कर लिया। २४ अक्तूबर सन् १६०५ को सलीम राजगद्दी पर बैठा और नूरुद्दीन मोहम्मद जहाँगीर बादशाह ग़ाज़ी की उपाधि धारण की।

**राजगद्दी पर आसीन होने के उपलक्ष में प्रजाहितकारी विज्ञप्ति तथा नीति-निर्देशन**—बादशाह जहाँगीर ने एक भारी दरबार का समारोह किया और उसके उपलक्ष में नए सिक्के जारी किए। सैकड़ों कैदियों को मुक्त किया तथा उन सब लोगों को जिन्होंने उसका विरोध किया था, क्षमादान की घोषणा कर दी। पुराने लगभग सभी पदाधिकारियों व मन्त्रियों को उनके पदों पर फिर से नियुक्त किया। राजगद्दी पर बैठने के उपलक्ष में सबसे महत्त्व का कार्य उन बारह आदेशों की घोषणा थी जिनके द्वारा जहाँगीर ने अपनी नीति का निर्देशन किया। इन आदेशों से बादशाह की उदारता, उच्च आकांक्षाओं तथा संकल्पों का पता चलता है। पहले नियम के अनुसार उसने तमगा (एक प्रकार की चुंगी) और मीरबहरी मन्सूख कर दिए। केवल बहुत थोड़ा-सा कर समुद्री बन्दरगाहों पर लिया जाता था। साथ ही उसने हर प्रकार के नियम-विरुद्ध कर, जो स्थानीय जागीरदार आदि प्रजा से वसूल किया करते थे, बन्द कर दिए थे। दूसरे, उसने राजमार्गों पर चोरी व डकैती को बन्द करने के अभिप्राय से सड़कों के किनारे बहुत-सी सराएँ, मस्जिदें तथा कुएँ आदि बनवाने की आज्ञा दी। खालसा भूमि के अन्दर राज्य की ओर से सराय आदि बनवाई गईं और जागीरदारों को आज्ञा दी गई कि वे इसी प्रकार अपनी जागीरों के अन्दर सराय बनवाएँ। तीसरे, उसने यह आज्ञा जारी की कि किसी व्यापारी की मर्जी के बिना उसका सामान कोई खुलवाकर न देखे और न कोई सरकारी अफसर किसी मृतक मनुष्य की जायदाद पर कब्ज़ा करे बल्कि उसका सारा सामान उसके उत्तराधिकारियों को दे दिया जाए। यदि कोई उत्तराधिकारी न हो तब राजकीय पदाधिकारी, जो विशेष रूप से इसे कार्य के लिए नियुक्त किए गए थे, मृतक पुरुष के धन से सराय, पुल तथा कुएँ व तालाब निर्माण कराएँ। चौथे, उसने शराब बनाने को बन्द करने के लिए आज्ञा निकाली (जब हम जहाँगीरी की बेहद शराबनोशी का विचार करते हैं, तो उसके इस नियम पर बड़ा विस्मय होता है) परन्तु साथ ही जहाँगीर ने

स्पष्ट रूप से यह भी स्वीकार किया कि वह स्वयं १८ वर्ष की आयु से शराब पीने का आदी रहा है और अब उसने शराब की मात्रा बहुत कम कर दी है जो उसके पाचन के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गई है। पाँचवें, उसने अपराधियों के नाक-कान काटना बिलकुल बन्द कर दिया चाहे उनका अपराध कितना ही भारी हो और स्वयं इस प्रकार का दण्ड न देने की शपथ खाई। छठे, उसने सरकारी अफसरों व जागीरदारों को आज्ञा दी कि वे किसी रैयत की जमीन पर हरगिज़ कब्ज़ा न करें। सातवें, आमिलों व जागीरदारों को आज्ञा हुई कि वे अपने शासन-क्षेत्र में किसी रैयत से बिना सम्राट् की आज्ञा के विवाह न करें। आठवें उसने, मुख्य मुख्य नगरों में बीमारों की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े चिकित्सालय खुलवाए और उनमें हकीम नियुक्त किए। नवें, अपने जन्म-दिन व अन्य दो दिन (अर्थात् वर्ष भर में तीन दिन) पर पशुहिंसा बन्द करदी। उसने दो और दिनों पर पशुहिंसा बन्द कर दी अर्थात् बृहस्पतिवार जिस दिन वह राजगद्दी पर बैठा था और रविवार, जो अकबर का जन्मदिन था। दसवें, नियमानुसार उसने सब पुराने जागीरदारों व मनसबदारों के अधिकारों को स्थायी बना दिया और बाद में उनके मनसब आदि में वृद्धि की। अहदियों (एक प्रकार के सैनिक) के वेतन बढ़ाए। ग्यारहवें, उसने बहुत से वृत्ति पानेवाले लोगों को वृत्तियाँ (मददे मआश) स्थायी बना दीं। बारहवीं आज्ञा से उसने बन्दियों को मुक्त किया।

**आदेशों का वास्तविक पालन व महत्व**—इन आदेशों का पालन किस हद तक हुआ, इसका ठीक अनुमान करना तो कठिन है, परन्तु शासन पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा कहना अनुचित न होगा। इस प्रकार के कतिपय आदेश बाबर ने और फिर अकबर ने भी जारी किए थे ताकि नियम-विरुद्ध कर आदि वसूल करके स्थानीय कर्मचारी व जागीरदार प्रजा को न सताएँ। तथापि यह भी स्वाभाविक ही था कि न्यूनाधिक इस प्रकार के अन्याय व दुर्व्यवहार सरकारी कर्मचारीगण प्रजा के साथ यथावसर करने ही लगते थे, जैसा कि उत्तम-से-उत्तम शासन के अन्तर्गत कुछ-न-कुछ मात्रा में होना अनिवार्य है। इलियट आदि लेखकों ने जहाँगीर के इन नियमों की जो कड़ी आलोचना की है और उनको सर्वथा निरर्थक तथा केवल उसके अहंकार का द्योतक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह मौलिक रूप से अनुचित है और न्याय-संगत नहीं है। सम्राट् की यह घोषणाएँ उसके प्रारम्भिक सद्भावों व संकल्पों यथा उसकी शासन-नीति के निर्देशक हैं। यदि किन्हीं कारणों से अथवा स्वयं सम्राट् की ही त्रुटियों से इन नियमों का पूर्णरूप से पालन न हो सका तो भी इन नियमों को घोषित करने में उसने कोई अनोखा अथवा अनुचित कार्य नहीं किया। इसके प्रतिकूल अपने शासन की नीति की व्याख्या के हेतु एक आवश्यक कार्य किया।

**खुसरू का विद्रोह और बादशाह का गुरु अर्जुन से वाद-विवाद**—राजकुमार खुसरू के गुणों की सभी लेखकों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। वह अपने समकालीन सभी राजकुमारों से सुन्दर, सौम्य, प्रतिष्ठावान् तथा योग्य था। राजदरबार के लोग

तथा प्रजा सभी को वह अत्यन्त प्रिय था। उसका चरित्र भी अत्यन्त उच्च व निर्मल था। उसने एक पत्नी के अतिरिक्त दूसरा विवाह करने का कभी विचार भी न किया और उसी पर अपना पूरा प्रेम व वात्सल्य न्योछावर किया। अपनी शुद्ध-हृदयता के कारण वह किसी बुराई तथा दुश्चरित्र को सहन न कर सकता था।

जहाँगीर के विरोधी दल ने खुसरू की सर्वप्रियता तथा योग्यता को देखकर उसे राजगद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया। खुसरू एक अनुभवहीन नवयुवक था। वह राजगद्दी के प्रलोभन में फँस गया और सन् १६०६ के किसी मास में वह अपने दादा अकबर के मकबरे की यात्रा के बहाने से जहाँगीर की हिरासत से निकल भागा और पंजाब की तरफ चला। एक अमीर की सहायता से उसने सेना एकत्र करना आरम्भ किया। जहाँगीर ने तुरन्त उसका पीछा करने के लिए एक बड़ी सेना शेख़ फ़रीद बुखारी के संचालन में भेजी। किन्तु खुसरू के विद्रोह में कोई जान न थी। लाहौर के सूबेदार ने उसको शहर के अन्दर घुसने न दिया। उसने यह भूल की कि पहले आगरे पर हमला करके फिर अपने मामा मानसिंह, जो बंगाल में था, के पास जाने की सलाह को न माना। इसी से उसके बहुत-से सहायक हताश होकर उसका साथ छोड़ बैठे। केवल सिक्ख गुरु अर्जुनसिंह ने उसकी रक्षा करने का साहस किया। परन्तु जब वह पश्चिम की ओर भाग रहा था तो चिनाब को पार करते समय शाही सेना के द्वारा पकड़ा गया और बेड़ियों में जकड़कर लाहौर के बन्दीगृह में डाल दिया गया। उसके साथियों को सूलियों पर चढ़ाया गया और यह दृश्य खुसरू को दिखलाया गया। इस वीभत्स दृश्य से उसे ऐसा अपार दुःख हुआ कि वह हफ़्तों रोता रहा और मरते दम तक कभी न हँसा। उसके अन्य सहायकों को कड़े दण्ड दिए गए और गुरु अर्जुनसिंह के लिए आज्ञा हुई कि या तो वह दो लाख रुपया जुरमाना दे अन्यथा उसे फाँसी दे दी जाएगी। गुरु अर्जुन ने उत्तर दिया कि वह एक कौड़ी भी न देगा और कहा कि इस प्रकार के दण्ड साधु-महात्माओं को नहीं दिए जाते हैं। न उसने ग्रन्थ साहब में से कुछ गीतों को निकालने की आज्ञा ही स्वीकार की। गुरु अर्जुन का अपराध केवल यह था कि उसने खुसरू की सहायता के लिए पाँच हजार रुपया दिया था इसलिए कि सम्राट् अकबर ने गुरु के प्रति बड़ा सद्व्यवहार किया था। गुरु के इस प्रकार धर्माग्रह करने पर जहाँगीर ने उसे लाहौर के नाज़िम चन्दूशाह के सुपुर्द कर दिया। चन्दूशाह गुरु अर्जुन से इस कारण बदला लेना चाहता था कि उसने चन्दूशाह की बेटी का विवाह अपने पुत्र से करना अस्वीकार कर दिया था और इस प्रकार उसकी मानहानि की थी। चन्दू ने एक बार फिर गुरु अर्जुन से वही प्रस्ताव किया किन्तु गुरु अपनी बात पर दृढ़ रहा। परिणाम यह हुआ कि चन्दू ने गुरु को अत्यन्त कठोर यातनाएँ देकर मार डाला।

**जहाँगीर की गुरु अर्जुन के प्रति नीति का मूल्यांकन**—इस घटना के दुष्परिणामों पर विचार करते हुए लेखकों ने मुग़ल साम्राज्य की भावी असहिष्णु नीति का सूत्रपात यहीं से बतलाया है। किन्तु उस पर पूर्णरूप से विचार करने से इस बात का कोई

प्रमाण नहीं मिलता कि जहाँगीर धार्मिक कट्टरता के कारण गुरु अर्जुनसिंह को दण्ड देना चाहता था। सम्राट् का यह संशय कि ग्रन्थ साहब में कहीं-कहीं हिन्दू व मुस्लिम धर्मों पर कटाक्ष किया गया है, निराधार था और इसकी सफाई गुरु ने पहले ही पूरी तरह कर दी थी। जहाँगीर उन सब लोगों को दण्ड देना आवश्यक समझता था जिन्होंने अंश मात्र भी खुसरू की सहायता की थी। परन्तु इस घटना-चक्र में जहाँगीर की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उसने गुरु अर्जुन को भी साधारण सरदारों आदि के समान समझकर उसे उसी प्रकार दण्ड दिया। यदि जहाँगीर में अकबर जैसी राजनीतिक बुद्धि तथा दूरदर्शिता होती तो वह गुरु की असाधारण परिस्थिति तथा व्यक्तित्व को न भूल जाता। सिक्ख गुरु उस समय एक उन्नतिशील सम्प्रदाय का नेता ही नहीं किन्तु अपने अनुयायियों में ईश्वरावतार के समान पूजा जाता था। यदि जहाँगीर ने यह विचारा होता कि उसको एक सामान्य अपराधी के समान दण्ड देने से समस्त सिक्ख सम्प्रदाय के हृदय को गहरी चोट लगेगी और वह सदैव के लिए मुग़ल बादशाह के दुश्मन बन जाएँगे तो वह गुरु के साथ यथोचित व्यवहार इस प्रकार से करता कि यथासम्भव सिक्ख जाति को नाराज़ न होने देता। इस राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिणाम मुग़ल-साम्राज्य के लिए बहुत ही हानिकारक हुआ और उसीसे सिक्ख सम्प्रदाय का रूप परिवर्तित हुआ। इसके दुष्परिणामों की विवेचना आगे चलकर की जायगी।

**सिक्ख जाति का संगठन व उत्थान : गुरु नानक का कार्य**—सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक के जीवन तथा कार्य का विवरण दिया जा चुका है। गुरु नानक ने हिन्दू-मुस्लिम जाति की कुरीतियों को हटाकर एक संशोधित, सदाचारयुक्त तथा सच्ची ईश्वरोपासना के सार्वभौम धर्म का प्रचार किया था। यद्यपि उनका मुख्य उद्देश हिन्दू जाति का उद्धार करता था, उन्होंने मुसलमानों की कुरीतियों पर कटाक्ष किया और मुस्लिम जाति को भी सच्चा धर्म पालन करने की शिक्षा दी। उन्होंने जाति-पाँति के भेद-भावों को मिटाकर मनुष्य मात्र को समानाधिकार देने का विचार किया। सभी जातियों के लोग उनके अनुयायी तथा शिष्य बनने लगे।

गुरु नानक की मृत्यु १५३८ में हुई। उन्होंने अपने जीवन में देश में बहुत दूर-दूर भ्रमण करके सामाजिक व धार्मिक सुधार का विचार किया था। अन्तिम दिनों में उन्होंते करतारपुर में अपना निवास-स्थान बनाया और मरने से पहले अपने एक शिष्य लहना को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। लहना का दूसरा नाम अंगद भी था क्योंकि उसको गुरु का एक अंग ही समझा जाता था। इस प्रकार गुरु की गद्दी की स्थापना होने से नानक के सम्प्रदाय में गुरु-परम्परा प्रचलित हो गई। यहाँ यह संकेत कर देना उचित होगा कि तत्कालीन अन्य संत-साधुओं ने इस प्रकार की कोई शिष्य-परम्परा प्रचलित नहीं की थी। इसी से उनकी गद्दियों का प्रबन्ध उनके भक्त और पुजारियों के ही हाथ में रहा और उनके अनुयायियों में कोई उनका

स्थानापन्न न माना गया। अन्य सुधारकों और नानक के कार्य में इसी मौलिक भेद के कारण उनके सम्प्रदायों की भावी प्रगति पर भी बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ा।

**गुरमुखी लिपि का निर्माण**—गुरु अंगद ने नानक के मिशन को आगे बढ़ाने अर्थात् उनकी शिक्षाओं व सुधारों का प्रचार करने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही उन्होंने नानक की शिक्षाओं को स्थायी रूप देने के लिए गुरमुखी लिपि का आविष्कार किया और गुरु नानक के संस्मरणों का संकलन किया। सर्वसामान्य में अपने मिशन का प्रचार करने के लिए गुरु अंगद ने लंगर खोले जहाँ बिना जाति-पाँति के भेदभाव के सब लोग मुफ्त भोजन करते थे। गुरु नानक के थोड़े ही दिन बाद उनके अनुयायियों में दो प्रकार की प्रवृत्तियों का उदय हुआ। कुछ लोग तो त्याग और साधुपन के जीवन की ओर झुके और कुछ लोग नानक को अन्य पूज्य देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित करके उनके वास्तविक प्रचार को गौण समझने लगे। इन भयानक प्रवृत्तियों से हिन्दूमात्र को बचाने का गुरु अंगद ने भरसक प्रयत्न किया। किन्तु इस प्रयास में उन्हें बहुत कम सफलता मिली। गुरु नानक के दो बेटे थे—एक श्रीचन्द और दूसरा लक्ष्मीचन्द। लक्ष्मीचन्द तो गुरु नानक की तरह एक गृहस्थी जीवन में प्रवृत्त हुआ परन्तु श्रीचन्द संसार को त्याएकर साधु बन गया और उसने उदासी नामक सम्प्रदाय प्रचलित किया। उसने अपने अनुयायियों को अविवाहित रहने और हर प्रकार की सांसारिक सामग्री को त्याग देने की शिक्षा दी। श्रीचन्द प्रवर्तित यह सम्प्रदाय बहुत सफल हुआ और दूर-दूर फैल गया।

**उदासी व नानकपंथी सम्प्रदाय-संगठन : गुरु अमरदास**—गुरु अंगद के बाद गुरु अमरदास गद्दी पर आरूढ़ हुए। इस समय सिक्खों के दो सम्प्रदाय हो गये। एक वे जो गुरु अमरदास के अनुयायी बने और दूसरे श्रीचन्दके। श्रीचन्द के साधु व त्यागी जीवन के कारण उसका प्रभाव जनता पर बहुत अधिक हुआ। इस भय से खालसा की रक्षा करने के लिए गुरु अमरदास ने जनता से एक अपील की जो बड़ी कारगर हुई। उन्होंने उसके सामने स्वयं गुरु नानक का उदाहरण रखा जिन्होंने साधु जीवन की अपेक्षा गृहस्थ जीवन को अधिक महत्व दिया और स्वयं गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपनी उच्च शिक्षाओं का प्रचार किया। श्रीचन्द एक वास्तविक साधु वृत्तिवाला था। उन्होंने इस सब कार्य के प्रति पूरी उदासीनता दिखाई और अमरदास का कोई विरोध नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि गुरु अमरदास के अनुयायी अर्थात् नानकपंथी उदासी सम्प्रदाय से पूरी तरह अलग हो गए। गुरु अमरदास ने सिक्खों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर यह आवश्यक समझा कि उनको सुसंगठित किया जाय। इस उद्देश से उसने उस सब प्रदेश को, जहाँ-जहाँ सिक्ख लोग रहते थे, बाइस मंजों अर्थात् विभागों में बाँट दिया। प्रत्येक मंजा एक-एक योग्य तथा सुचरित्र सिक्ख नेता के शासन में रखा गया। उसका कार्य था कि गुरु के स्थानापन्न रूप में वह सिक्खों को धार्मिक जीवन में प्रवृत्त करे और उनका नेतृत्व करे।

**अमृतसर की स्थापना : गुरु रामदास के जनसेवा के कार्य : गुरु रामदास (१५७५-८२)**—पिछले गुरुओं के प्रभावशाली प्रचार तथा अन्य प्रगतिशील कार्यों से सिक्ख समाज की बहुत वृद्धि तथा विस्तार हुआ था। लेकिन सिक्ख गुरुओं ने कई स्थानों पर सर्वसाधारण के आराम के लिए धर्मशालाएँ, मन्दिर, कुएँ व बावली आदि बनवाए थे। गुरु रामदास ने इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए सबसे अधिक महत्त्व का कार्य अमृतसर शहर की नींव डालकर किया। इस स्थान को खास तौर से इसलिए चुना गया कि वहाँ पर पानी का एक नैसर्गिक स्रोत था और ऐसा प्रचलित था कि गुरु नानक उस स्थान पर अकसर आते थे। गुरु रामदास ने उस स्रोत के निकट अपना घर बनाया और सम्राट् अकबर ने उन्हें ५०० बीघा जमीन प्रदान की। थोड़े ही दिन में वहाँ एक काफी बड़ा शहर खड़ा हो गया। पहले उसका नाम रामदासपुर पड़ा। परन्तु जब उस पानी के सोते के चारों ओर एक बहुत बड़ा तालाब बना दिया गया तब उसका नाम अमृतसर रखा गया। अमृतसर के धार्मिक तथा व्यापारिक महत्त्व से सिक्ख सम्प्रदाय की शक्ति बहुत बढ़ी। अमृतसर के व्यापार-केन्द्र होने के कारण गुरुओं की आमदनी में बहुत बढ़ोतरी हुई। साथ ही उदार सम्राट् अकबर के सद्व्यवहार और मैत्री के परिणाम-स्वरूप गुरुओं का आदर-मान बहुत बढ़ा और उनका प्रभाव विस्तृत होता गया। सम्राट् अकबर ने कई अवसरों पर गुरुओं के प्रति बड़े आदर-भाव का व्यवहार किया। एक बार गुरु अमरदास बहुत-से यात्रियों को साथ लेकर हरद्वार गए। गुरु के अनुरोध करने पर कोई यात्री-कर इन लोगों से नहीं लिया गया। एक बार लाहौर के आस-पास के किसानों की सहायता के लिए गुरु की प्रार्थना पर सम्राट् ने भूमिकर छोड़ दिया था। इन सब घटनाओं के कारण भी जनता में गुरुजी की ख्याति तथा प्रभाव-कुछ संवृद्ध हुआ। इसी समय गुरुओं ने अपनी गद्दी को वंशानुगत बनाने की नीति प्रचलित कर दी यद्यपि गुरु नानक का उद्देश यह कदापि नहीं था गुरु की गद्दी किसी गुरु के परिवार की धरोहर बन जाए। यह घटना इस प्रकार हुई कि तीसरे गुरु अमरदास अपनी बेटी को बहुत प्यार करते थे। उनकी वृद्धावस्था में उनकी बेटी ने पिता की इतनी सेवा की कि उससे प्रसन्न होकर गुरु ने उसे यह वरदान दे दिया कि भविष्य में उसके वंशज ही गुरु की गद्दी पर आसीन होंगे। इसी कारण गुरु अमरदास के दामाद गुरु रामदास गद्दी पर बैठे। इस घटना से गुरु की स्थिति में एक और मौलिक परिवर्तन हुआ। अब तक गुरु केवल एक आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक माना जाता था, परन्तु उपर्युक्त घटना के बाद गुरु उनका सांसारिक स्वामी तथा शासक भी मान लिया गया। अभी तक गुरु केवल सतगुरु अर्थात् सच्चा नेता था, अब वह सच्चा बादशाह कहलाने लगा।

**गुरु अर्जुन (१५८२-१६०७) गुरुग्रन्थ का संकलन : सिक्ख समाज में क्रान्ति**—रामदास के बाद उसका पुत्र गुरु अर्जुन गुरु की गद्दी पर आसीन हुआ। सिक्ख सम्प्रदाय इस समय तक काफी सुसंगठित तथा दृढ़ हो चुका था। इसके पूर्णरूप से परिपक्व व दृढ़ करने का श्रेय गुरु अर्जुन को है। अर्जुन बड़ा योग्य तथा

दूरदर्शी राजनीतिज्ञ ही नहीं साथ ही वह एक विद्वान्, कवि तथा तत्त्ववेत्ता भी था। उसमें अध्यात्मिक तथा धार्मिक गुणों के अतिरिक्त सांसारिक विवेक तथा क्रियात्मक बुद्धि की भी कमी नहीं थी। यद्यपि सिक्ख समाज का संगठन धीरे-धीरे एक राजनीतिक संस्था के रूप में ढलता जा रहा था तथापि अकबर की उदार नीति तथा गुरुओं के प्रति मित्रवत् व्यवहार करने के कारण मुग़ल साम्राज्य की शक्ति से गुरुओं का संघर्ष होने का कोई अवसर न आया। गुरु अर्जुन ने सिक्ख समाज का नेतृत्व सँभालते ही अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया। सबसे पहले उसने अपने अनुयायियों के लिए एक धर्म-पुस्तक का संकलन करना अत्यन्त आवश्यक समझा। इस उद्देश से उसने पिछले सब गुरुओं के वचनों को एकत्र कराकर और उसमें अपनी रचनाएँ भी सम्मिलित करके तथा अन्य प्रसिद्ध भक्तों की वाणियों के बहुत-से उद्धरण संकलित करके एक बहुत बृहद् ग्रन्थ की रचना की। इस कार्य में गुरु अर्जुन को कई वर्ष लगे। इस ग्रन्थ का नाम ग्रन्थ साहब रखा गया।

**अमृतसर की समृद्धि व विकास**—गुरु अर्जुन ने गुरु रामदास के स्थापित किए हुए रामदासपुर ग्राम को समृद्ध करके उस स्थान पर एक विस्तृत नगर का निर्माण किया। साथ ही उसने अमृतसर तालाब के निकट हर मन्दिर नाम का एक विशाल देवस्थान बनाया जो कि आजकल अमृतसर का मुनहरा मन्दिर कहलाता है। उसी समय से गुरु अर्जुन ने करतारपुर से हटकर अमृतसर को अपना केन्द्र बनाया और तब से गुरुओं की गद्दी वहीं स्थापित हुई। इस घटना से अमृतसर का महत्त्व दुगना-चौगुना बढ़ गया और वह केवल व्यापार का ही नहीं प्रत्युत वह सिक्खों की धार्मिक राजधानी बन गया। सिक्ख मत का प्रचार बलपूर्वक करने के लिए गुरु अर्जुन ने ग्रामीण जनता, विशेषकर जाटों के गाँवों के बीच में एक और नगर स्थापित किया जिसको तरनतारन का नाम दिया। यह रावी और व्यास के बीच के प्रदेश में सिक्ख सम्प्रदाय का केन्द्र बन गया।

**गुरु अर्जुन द्वारा सिक्खों का नया संस्थान : सिक्खों की आर्थिक व सामरिक उन्नति**—इस समय सिक्खों की संख्या काफी बढ़ गई थी और वे गंगा से सिन्ध तक सारे प्रदेश में जहाँ-तहाँ फैले हुए थे। इस समस्या को हल करने के लिए गुरु अर्जुन ने एक तो प्रत्येक सिक्ख की भेंट की मात्रा नियत कर दी ताकि वह अपने आय-व्यय का पूरा अनुमान कर सके। दूसरे, उसने अपने सब मंझों में एक-एक मसन्द अर्थात् कर वसूल करनेवाला नियुक्त किया। इस कर्मचारी का यह कर्तव्य था कि अपने मंझे के सिक्खों से कर अथवा दान वसूल करके प्रतिवर्ष वैशाखी के दिन अमृतसर जाकर स्वयं गुरु को अर्पण करे। एक और विचित्र कार्य गुरु अर्जुनसिंह ने किया। उसने अपने बहुत से अनुयायियों को घोड़े खरीदने के लिए तुर्किस्तान भेजा। इस व्यापार से इन लोगों में साहसिक कार्य करने के भाव उत्पन्न हुए और उन्हें बहुत लाभदायक अनुभव प्राप्त हुआ। इस घटना के अत्यन्त दूरगामी एवं गहरे प्रभाव सिक्ख समाज की भावी प्रगति पर पड़े। जाति-पाँति के बन्धनों का नानक की शिक्षाओं ने पहले ही

खण्डन किया था। अब बाहरी देशों में जाने से सिक्ख-समाज में इस शिक्षा को पूरी तरह क्रियात्मक रूप दे दिया गया। इसके अतिरिक्त इस व्यापार से बहुत-से सिक्खों को बड़ा आर्थिक लाभ हुआ जिससे उनकी शक्ति बहुत-कुछ बढ़ गई। इस नये अनुभवी तथा सम्पन्न वर्ग के उदित हो जाने से भविष्य में सिक्ख समाज को एक सामरिक रूप धारण कर लेने में बहुत सुविधा हुई।

**गुरु के रूप व उसके दरबार में मौलिक परिवर्तन**—गुरु के पद का गुण भी मौलिक रूप से परिवर्तित हो गया। यह पद पहले ही वंशानुगत बनाया जा चुका था। अब गुरु अर्जुन ने उसे सब प्रकार से एक राज्य का रूप दे दिया। अपने पूर्वजों के सादा व साधु के समान जीवन को छोड़कर अपने दरबार को एक राजदरबार सरीखा बनाया। स्वयं गुरु अर्जुन अत्यन्त सादा तथा विनम्र व्यक्ति था परन्तु उसका दरबार एक राजदरबार के समान वैभवशाली तथा शान-शौकत से भरपूर हो गया। उसने अपने लिए राजमहल बनवाए और घुड़सवार सेना, बृहत् राजकोष तथा अन्य राज्योचित सामग्री एकत्र की। इस प्रकार गुरु अर्जुन ने सिक्ख-समाज के भविष्य में एक सैनिक दल बन जाने की नींव तो डाल दी थी किन्तु कोई सैनिक दल निर्माण करके अपनी अध्यक्षता में रखने का विचार नहीं किया था। जान पड़ता है कि विधना ने सिक्ख-समाज के भविष्य को सैनिक रूप देने का पहले ही निर्णय कर लिया था। गुरु अर्जुन ने अनायास ही उसकी सब तैयारी कर दी और जब राजकुमार खुसरू के विद्रोह के समय जहाँगीर और गुरु अर्जुन में वह संघर्ष हुआ, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, तो सिक्ख-समाज का अपनी रक्षा के हेतु एक सैनिक दल में परिवर्तित हो जाना अनिवार्य-सा हो गया। दुर्भाग्य से जहाँगीर के उत्तराधिकारियों की बढ़ती हुई संकीर्ण नीति ने सिक्खों की इस प्रगति को और भी उत्तेजित कर दिया।

**सिक्ख समाज का सामरिक व राजनीतिक रूप : गुरु हरगोविन्द (१६०७-४४)**—गुरु अर्जुन का उत्तराधिकारी उसका ११ साल का नवयुवक बेटा हरगोविन्द हुआ। उसने अपने पिता के वध का बदला लेने का प्रण किया और एक राजा के समस्त चिह्न धारण किए। छत्र, खड्ग, मुकुट तथा मुग़ल बादशाहों के समान बाज रखना आरम्भ किया। उसने अपनी कमर में दो तलवारें लटकाईं। एक उसके आध्यात्मिक पद का प्रतीक थी और एक राजकीय अधिकार का प्रतीक। अपने अनुयायियों को उसने मांस-भोजन करने की ओर प्रवृत्त किया। इस घटना से यह स्पष्ट है कि गुरु नानक स्वयं निरामिषभोजी थे और उन्होंने अपने अनुयायियों को भी शाकाहारी रहने की शिक्षा दी थी। गुरु हरगोविन्द के समय तक सिक्ख-समाज मांसाहारी नहीं प्रत्युत पूर्णरूप से शाकाहारी था। सिक्खों को निर्भीक तथा लड़ने के योग्य बनाने के उद्देश से हरगोविन्द ने मल्लयुद्ध, घुड़सवारी तथा जंगली पशुओं का शिकार आदि करने का प्रचार सिक्खों में किया। शारीरिक बल तथा व्यायाम को उसने उतना ही महत्त्व दिया जितना सदाचार को। साथ ही उसने सैनिक तैयारी

भी पूरी तरह करनी आरम्भ की और अपने सब अनुयायियों को आदेश दिया कि वे शस्त्र लेकर चलें और अपने धर्म के शत्रुओं से युद्ध करने के लिए सदैव तैयार रहें। उसने ८०० घोड़ों, ३०० सवारों और ६० तोपों की एक संरक्षक सेना बनाई। उसने अमृतसर की रक्षा के लिए लोहगढ़ नाम का किला भी बनवाया। इस प्रकार गुरु हरगोविन्द की कीर्ति सिक्खों में सुगन्ध के समान फैल गई।

इन सब तैयारियों के करने से गुरु का उद्देश मुग़ल सम्राट् से संघर्ष करने का कदापि नहीं था। इसके प्रतिकूल वह जहाँगीर के बुलाने पर उसके दरबार में निःशंक भाव से चला गया। पहले सम्राट के साथ गुरु की मित्रता बनी रही, यहाँ तक कि वह गुरु अर्जुन के हत्यारे चन्दूशाह से पूरा बदला निकाल सका। परन्तु फिर शिकार खेलने आदि के कारण जहाँगीर उससे नाराज़ हो गया और उसे (१६२२ में) ग्वालियर के किले में बन्द कर दिया गया। कुछ दिन बाद लाहौर के सूफ़ी मियाँ मीर के अनुरोध पर जहाँगीर ने उसे मुक्त कर दिया। इसके बाद गुरु हरगोविन्द और मुग़ल सम्राट् में कोई संघर्ष नहीं हुआ और गुरु बेरोक-टोक सिक्ख-समाज को सैनिक रूप से शिक्षित तथा संगठित करता रहा। परन्तु सम्राट् शाहजहाँ के समय में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिनके कारण हरगोविन्द और मुग़ल सम्राट् का संघर्ष फिर उठ खड़ा हुआ। इसका वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

## जहाँगीर के समय की सामरिक घटनाएँ

**राणा प्रताप और राणा अमरसिंह की तुलना**—अकबर के समय में जिस प्रकार राणा प्रताप ने मेवाड़ की रक्षा करने का आजीवन प्रयास किया इसका उल्लेख किया जा चुका है। राणा प्रताप अपनी राजपूती आन की रक्षा करने और किसी शक्ति के सामने सिर न झुकाने के आदर्श को सबसे अधिक मूल्यवान् समझता था। उसने इस आदर्श की वेदी पर मेवाड़ और उसकी जनता की बलि दे दी। उसके स्थान पर यदि कोई प्रजाहित के आदर्श को सर्वोच्च स्थान पर रखने वाला होता तो वह एक दूरदर्शी नीति-निपुण नरेश की भाँति मुग़ल सम्राट् से इस प्रकार समझौता करने की सोचता जिससे उसकी पुत्रवत् प्रजा की रक्षा होती। मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए वीर-शिरोमणि राणा प्रताप को यही शंका और चिन्ता व्यथित कर रही थी कि उसका बेटा अमरसिंह ऐसे सुखमय जीवन का अभ्यासी हो गया है कि वह सीसोदियों की आन को सुरक्षित न रख सकेगा। उसने अपनी मृत्यु-शय्या के निकट एकत्र राजपूत सरदारों से बप्पा रावल के सिंहासन की शपथ दिलाई कि वे मुग़लों का निरन्तर विरोध करेंगे और उनसे कदापि मित्रता न करेंगे। परन्तु राणा अमरसिंह अपने पिता के जीवन की घटनाओं के अनुभव को न भूला था। उसने अपनी आँखों के सामने देखा था कि राणा प्रताप के हठ के कारण मेवाड़ की प्रजा को कितने असह्य दुःख भुगतने पड़े थे और मुगल सम्राट् ने किस प्रकार उस भूमि और वहाँ की प्रजा को ध्वस्त करके खाक कर दिया था। राणा अमरसिंह शूरवीरता में किसी से कम

नहीं था परन्तु उसमें राजनीतिक दूरदर्शिता तथा चातुर्य राणा प्रताप से कहीं अधिक था। वह भली-भाँति समझता था कि मुग़लों के साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने का कैसा भयावह परिणाम होगा। नष्टप्राय प्रजा को कितनी यातानाएँ सहनी पड़ेंगी और एक प्रकार से सारा राज्य ही भस्म हो जाएगा। उसके सामने दो भिन्न मार्ग थे ; या तो अपनी निजी आन तथा मान-प्रतिष्ठा की रक्षा करने के लिए देश, प्रजा तथा अपना सर्वस्व भी त्याग देने को उद्यत होना और मुग़लों से निरन्तर शत्रुता बनाए रखना अथवा अपने राज्योचित प्रजा-पालन व्रत के आदर्श को सर्वोच्च कर्त्तव्य मानकर इस निरन्तर संघर्ष के भयानक परिणामों से निर्वाक् प्रजा की रक्षा करना। पहला आदर्श एक वैयक्तिक मान-मर्यादा की रक्षा करने का था, दूसरा आदर्श एक सच्चे प्रजापालक राजा के समान अपनी प्रजा की रक्षा करने का था। यही मौलिक भेद राणा प्रताप और राणा अमरसिंह के चरित्र में था।

**अकबर व जहाँगीर की राजपूत नीति की तुलना**—अकबर महान् ने कई बार कुँवर सलीम को मेवाड़ पर चढ़ाई करने का कार्य सौंपा था किन्तु उस समय सलीम को राजगद्दी की पड़ी हुई थी और उसका चित्त अकबर की आज्ञा का पालन करने में न था। राजगद्दी पर बैठते ही उसने अपने पिता के आदेश को पूरा करने का संकल्प किया। परन्तु अकबर की तत्सम्बन्धी मनोवृत्ति और जहाँगीर की मनोवृत्ति में आकाश-पाताल का अन्तर था। अकबर मेवाड़ अथवा अन्य राज्यों को मुग़ल पताका के नीचे लाने का प्रयत्न केवल एक साम्राज्यवादी चक्रवर्ती सम्राट् के लक्ष्य की पूर्ति के लिए करता था। जहाँगीर का उद्देश केवल राजनीतिक नहीं था। वह मेवाड़ के राणा को काफ़िरों का सरदार भी समझता था। अतएव गद्दी पर बैठते ही उसने राजकुमार परवेज़ की अध्यक्षता में बीस हज़ार घुड़सवार सेना राणा अमरसिंह के विरुद्ध भेजी। वह स्वयं कहता है कि इस सेना का उद्देश था उस कलुषित काफ़िर के विरुद्ध जिहाद करना। परवेज़ के साथ कई बड़े-बड़े सेनापति भेजे गए जिनमें भारमल कछवाहे का बेटा राजा जगन्नाथ और राणा प्रताप का भाई सगरसिंह भी थे। परवेज़ को यह आदेश दिया गया कि पहले वह राणा अमरसिंह से मिलकर उससे सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए कहे। अगर वह इस आदेश को स्वीकार न करे तब उससे युद्ध करे। राणा अमरसिंह की इच्छा थी कि मुग़ल सम्राट् से सन्धि की बातचीत शुरू करे। परन्तु अन्य राजपूत सामन्त-गण, जो राणा प्रताप की परिपाटी के अनुयायी थे, उसके प्रस्ताव से सहमत न हुए। विवश होकर राणा अमरसिंह को मुग़ल सम्राट् का प्रस्ताव अस्वीकार करना पड़ा। दोनों ओर से लड़ाई की तैयारियाँ होने लगी। इसी बीच में खुसरू के विद्रोह के कारण जहाँगीर ने परवेज़ को वापस बुला लिया। परवेज़ लौटते समय राणा जगन्नाथ और कुछ अन्य सेनानायकों को मेवाड़ में छोड़ता आया ताकि वे राणा के आने-जाने तथा अन्य कार्यों की देख-रेख करते रहें। इस प्रकार थोड़े समय के लिए लड़ाई रुक गई।

१६०८ में जहाँगीर ने फिर महाबतखाँ को मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए

भेजा। महाबतखाँ एक बड़ा योग्य सैनिक था। वह अपने समय के सर्वोत्तम सेनापतियों में से था। लड़ाई के आरम्भ में महाबतखाँ को मेवाड़ के सेनापति मेघसिंह ने खूब छकाया और रात में उसके शिविर पर हमला करके खूब लूटा। महाबतखाँ के बहुत से सैनिक मारे गए और वह स्वयं बड़ी कठिनाई से बचकर निकला। इसका प्रतिकार करने के लिए महाबतखाँ ने तमाम मेवाड़ भूमि को तहस-नहस करना शुरू किया और राणा को पहाड़ियों में जाकर छिपना पड़ा। सम्राट् की ओर से राजा किशनसिंह राठौर बड़ी वीरता के साथ मेवाड़ की सेना से लड़ा और सैकड़ों सीसौदियों को घायल करके व मारकर उनके ३,००० सैनिकों को बन्दी बना लिया। इस विजय के बाद महाबतखाँ की सेना ने मेवाड़ में कोई और पराक्रम नहीं दिखलाया, इसलिए उसे १६०९ में वापस बुला लिया गया और मेवाड़ की चढ़ाई ख्वाजा अब्दुल्लाखाँ के सुपुर्द की गई। अब्दुला ने बड़े बलपूर्वक चढ़ाई का काम शुरू किया और यद्यपि उसे रणपुर घाटी में (१६११) सीसौदियों ने पराजित किया, उसने राणा अमरसिंह को पहाड़ियों में जा छिपने पर विवश किया और उसके बेटे कुँवर करनसिंह को पूरी तरह परास्त किया। इस सफलता के उपलक्ष में जहाँगीर ने उसे पाँच हज़ार का मन्सबदार बनाया और फ़ीरोज़ जंग का ख़िताब दिया। परन्तु इसके बाद अब्दुला को भी वापस बुलाकर दक्षिण के रणक्षेत्र में भेज दिया गया और मऊ के राजा बासु को मेवाड़ की चढ़ाई पर भेजा गया। परन्तु उसको अपने काम में तनिक भी सफलता न मिली। अन्त में १६१३ में ख़ानेआज़म अज़ीज़ कोका को मेवाड़ के रणक्षेत्र का संचालन करने के लिए भेजा गया। उसके साथ कुँवर खुर्रम को भी भेजा गया। यह सम्राट् की बड़ी भूल थी। अज़ीज़ कोका अभागे शाहज़ादे खुसरू का श्वसुर था, अतएव खुर्रम और अज़ीज़ कोका में मैत्री रहना असम्भव था। खुर्रम की शिकायत पर अज़ीज़ कोका क़ैद कर दिया गया।

**खुर्रम की सफलता : अमरसिंह की सुलह के लिए याचना**—अज़ीज़ कोका के पदच्युत हो जाने पर मेवाड़ रणक्षेत्र का संचालन खुर्रम के हाथ में आ गया। उसने समस्त मेवाड़ भूमि का संहार करना आरम्भ किया और चारों ओर से राणा अमरसिंह के पास रसद का पहुँचना बिलकुल बन्द कर दिया। उसने खेतों और बागों में आग लगवा दी और गाँवों व नगरों को खूब लूटा एवं हिन्दू मन्दिरों को भी तुड़वाया। उसके सैनिकों ने राजपूतों का जगह-जगह पीछा किया और उनको पकड़कर तलवार के घाट उतारा। खुर्रम की इस भयानक मारकाट से विवश होकर राणा अमरसिंह ने हार मान ली और संधि की बातचीत आरम्भ की। उसके सामन्तों व कुँवर करनसिंह ने भी राणा को यही परामर्श दिया। शाहज़ादा खुर्रम से बात करने के लिए शुभकर्ण और हरदास झाला को भेजा गया। संधि की बातचीत के अनुसार राणा अमरसिंह ने खुर्रम से आकर भेंट करना स्वीकार किया। जहाँगीर ने शाहज़ादा खुर्रम को एक निजी फ़रमान के द्वारा राणा के साथ संधि करने का सम्पूर्ण अधिकार दे दिया था क्योंकि मुग़ल सम्राट् के हृदय में मेवाड़ के राणाओं की वीरता के कारण

उनका बड़ा आदर था और वह यह यश प्राप्त करने के लिए बहुत था कि किसी न किसी प्रकार उससे मैत्री कर लेने के लिए तैयार हो जाए। जहाँगीर को इस बात का बड़ा गौरव था कि जिस उद्देश में उसका पिता अकबर महान् भी असफल हुआ, उसे उसने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। जो संधि राणा और खुर्रम के द्वारा मुग़ल सम्राट् के बीच हुई उसकी शर्तें यह थीं—(१) राणा से कभी यह आशा न की जाएगी कि वह; मुग़ल दरबार में स्वयं उपस्थित हो; (२) उसके स्थान पर कुँवर करनसिंह सम्राट् के दरबार में उपस्थित होगा; (३) कुँवर अपने व्यय से एक हज़ार अश्वारोही सेना रखेगा और आवश्यकता पड़ने पर सम्राट् की सहायता करेगा; (४) चित्तौड़ का क़िला राणा को वापस दे दिया जाएगा किन्तु उसकी टूटी हुई दीवारें फिर से न बनाई जाएँगी। राणा के ऊपर किसी प्रकार का राजकर लगाने अथवा उससे वैवाहिक सम्बन्ध करने का विचार भी असम्भव था। जहाँगीर ने इस अवसर पर सराहनीय विवेक तथा सावधानी से काम लिया और राणा को अप्रसन्न करने का तनिक भी अवसर न दिया। इसके अतिरिक्त जब कुँवर करनसिंह संधि के अनुसार सम्राट् के दरबार में पहुँचा तो उसका ऐसे समारोह के साथ स्वागत किया गया जैसा पहले कभी किसी का न किया गया था। इस प्रकार जहाँगीर और खुर्रम के प्रयास तथा नैतिक दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप मेवाड़ के राणा और मुग़ल सम्राट् का संघर्ष समाप्त हुआ।

**दक्षिण की चढ़ाई**—पिछले अध्याय में कह आए हैं कि सम्राट् अकबर को किस प्रकार सलीम के विद्रोह के कारण १६०१ में जल्दी-जल्दी असीरगढ़ के घेरे को समाप्त करके वापस लौटना पड़ा था। उससे कुछ ही पहले दक्षिण की चढ़ाई में भी मुगल सेना को अहमदनगर तथा बीजापुर आदि राज्यों के विरोध के कारण कोई विशेष सफलता न हुई थी। चाँदबीबी के वध के बाद निज़ामशाही की रक्षा करने के लिए मलिक अम्बर नामक हब्शी सरदार, जिसने अद्वितीय राजनीतिक व सामरिक योग्यता का परिचय दिया, मैदान में आगे बढ़ा। बरार और ख़ानदेश पर जब मुगलों का कब्ज़ा हो गया तो मलिक अम्बर ने बीजापुर के सुलतान की नौकरी कर ली। परन्तु थोड़े ही दिन बाद वह अहमदनगर वापस लौटा और मन्त्री अभंगखाँ ने उसे एक छोटे से मनसबदार के पद पर नियुक्त कर दिया। इसी समय शाहज़ादा दानियाल और अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना अहमदनगर पर चढ़ाई कर रहे थे। अभंगखाँ ने मलिक अम्बर और मलिक राजू को मुग़लों से लड़ने के लिए नियुक्त किया और अम्बर ने १६०१ के अन्तिम दिनों में अब्दुर्रहीम के बेटे मिर्ज़ा ईरज को नान्देर के स्थान पर पीछे हटाया। किन्तु मलिक राजू की प्रतिस्पर्धा उसकी उन्नति के मार्ग में बाधक थी।

दक्षिण में मुग़लों का मुख्यालय बुरहानपुर में था जहाँ, शाहज़ादा परवेज़ तथा ख़ानख़ाना, जिनके सुपुर्द जहाँगीर ने दक्षिण के युद्ध-स्थल का कार्य किया था, आपस में झगड़ते रहते थे। अतएव यह लड़ाई मुग़ल सरदारों के परस्पर झगड़ों तथा

वैमनस्य के कारण १६०८ से १६१५ तक घिसटती रही। पहले नाम के लिए शाहज़ादा परवेज़ था, परन्तु वास्तविक अधिकार ख़ानख़ाना का था। १६१० से १२ तक ख़ानेज़मान, राजा मानसिंह, अब्दुल्लाख़ाँ, तथा ख़ाँजहाँ लोदी इस युद्ध-स्थल पर नियुक्त रहे। १६१२ में सम्राट् ने फिर ख़ानख़ाना को भेजा। इस बार उसने मुग़लों के खोए हुए प्रदेशों को लेने का भरसक प्रयत्न किया और निज़ामशाह की सेना को परास्त किया क्योंकि निज़ामशाही सेनापतियों में परस्पर वैमनस्य और झगड़े चल रहे थे। ख़ानख़ाना दक्षिण युद्धक्षेत्र में १६१६ तक रहा। तदनन्तर शाहज़ादा ख़ुर्रम वहाँ भेजा गया। ख़ुर्रम मेवाड़ की विजय के बाद अत्यन्त उल्लसित था और उसका चित्त और अधिक विजयें तथा सम्मान प्राप्त करने के लिए आकुल हो रहा था। जहाँगीर ने इसी समय उसको शाह की उपाधि से विभूषित किया जो उससे पहले किसी मुग़ल राजकुमार को न दी गई थी। इस समय जहाँगीर ने उसको अगण्य बहुमूल्य उपहारों से भरपूर कर दिया जिनमें केवल एक तलवार एक लाख रुपए की थी। शाहजहाँ ने अपने चलते-फिरते नगर सरीखे शिविर को लेकर बड़े समारोह के साथ अक्टूबर सन् १६१६ में दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। इस घटना का बड़ा रोचक वर्णन सर टामस रो और पादरी हैरी ने किया है जो घटनास्थल पर मौजूद थे। मार्ग में १५०० रजपूत अश्वारोही सेना के साथ मेवाड़ का कुँवर करणसिंह शाहजहाँ से आ मिला। मुग़ल सेना १६१७ के आरम्भ में बुरहानपुर पहुँच गई। जान पड़ता है कि इसी से भयभीत होकर निज़ामशाह ने बालाघाट की भूमि, जिसपर मलिक अम्बर ने कब्ज़ा कर लिया था, मुग़लों को वापस कर दी और अहमदनगर तथा अन्य निकटस्थ किलों की चाबियाँ भी ख़ुर्रम के पास भिजवा दीं। यह सब सफलता बिना एक तीर भी चलाए हुए सर्वथा शान्ति के साथ ख़ुर्रम को प्राप्त हुई। सम्राट् उससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे अपने पास अजमेर बुलाकर उसका अपूर्व सम्मान किया। उसको सम्राट् ने अपने सिंहासन पर पास बिठलाकर प्रतिष्ठित किया और साथ ही तीस हज़ार घुड़सवार का मन्सब तथा शाहजहाँ की उपाधि प्रदान की। दक्षिण के सूबे पर जिसमें बरार, ख़ानदेश और अहमदनगर सम्मिलित थे, अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना को नाज़िम (सूबेदार) नियुक्त किया गया। उसकी रक्षा के लिए ख़ानख़ाना के बेटे शाहनवाज़ को १२,००० सेना के साथ नियुक्त किया गया। साथ ही उसकी सहायता के लिए और भी कई सैनिक, ३०,००० घुड़सवार और ७,००० बन्दूकचियों के साथ, वहाँ रखे गए।

**मलिक अम्बर का खोए हुए प्रदेशों को वापस लेना**—मुग़लों की यह सफलता, जब तक मलिक अम्बर जैसा चतुर, पराक्रमी तथा युद्धनीति-निपुण निज़ामशाही में मौजूद था, कभी भी स्थायी न हो सकती थी। मलिक अम्बर ने अहमदनगर राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति की थी और उसको हर प्रकार से दृढ़ बनाया था विशेषतया उसने राजकर को ठेके के द्वारा वसूल करने की घातक प्रथा को बन्द करके एक सुव्यवस्थित पद्धति स्थापित की थी और गाँवों की आर्थिक दशा को हर प्रकार से

सुधारा था। शायद टोडरमल की भूमिकर-पद्धति का अनुकरण करके उसने भूमि नाप-कर कर उगाहने का नियम बनाया। कर की मात्रा उसने ४०% रखी और इसका प्रबन्ध हिन्दू कर्मचारियों के सुपुर्द किया। मुसलमान अफ़सर भी समस्त शासन-व्यवस्था की देख-भाल करने के लिए रखे गए थे। अम्बर के इन संशोधनों का परिणाम यह हुआ कि राज्य की पैदावार में बहुत वृद्धि हुई और प्रजा सुखी व सम्पन्न हो गई। स्वाभाविक ही था कि राजकीय कोष भी काफी भरपूर हुआ तथा सेना व अन्य राजनीतिक विभागों के लिए धन की कमी न रही।

अम्बर ने सैनिक योग्यता तथा दूरदर्शिता का भी पूरा परिचय दिया। वह पहला मनुष्य था जिसने सामरिक समस्या पर पूरी तरह विचार किया कि मुग़लों की महान् शक्ति के साथ अहमदनगर सरीखे तुच्छ राज्य का खुले तौर पर युद्ध-क्षेत्र में मुक़ाबला करना असम्भव था। उसने देखा कि मेवाड़ और बुन्देलखण्ड आदि प्रदेशों के राजपूत राजाओं ने वैसी ही परिस्थिति में छापामार युद्ध-नीति का अनुकरण करके बहुत दिन तक मुग़लों को छकाया था। उसने यह भी देखा कि यह युद्ध-पद्धति अहमदनगर के पहाड़ी प्रदेश में और भी उपयुक्त थी। उसने अपने मरहठा सैनिकों को इसी छापामार-पद्धति की शिक्षा दी। इस संग्राम-पद्धति की विशेषता यह थी कि कभी भी शत्रुसेना से खुले रणक्षेत्र में युद्ध न किया जाए। इसके प्रतिकूल उन पर छोटी-छोटी सैनिक टुकड़ियों के द्वारा अचानक हमले करके उनको त्रस्त किया जाए और जितना सम्भव हो इसी युक्ति से शत्रु की सेना तथा युद्ध-सामग्री को नष्ट किया जाए। इस प्रकार उसने अपनी सेना को अत्यन्त सुदृढ़ तथा युयुत्सु बना लिया। साथ ही उसने अहमदनगर राज्य के समुद्री व्यापार, वाणिज्य की रक्षा के लिए एक जहाज़ी बेड़ा तैयार कराया। उसने जंजीरा द्वीप को अपना समुद्री सैन्यस्थल बनाया और सैनिक जहाजों का संचालन अर्बी (सीदी) नाविकों के सुपुर्द किया। यह सब तैयारी करके मलिक अम्बर ने मुग़ल सेना के थोड़ा-थोड़ा हटते ही फिर से अहमदनगर के खोए हुए प्रदेश पर कब्ज़ा करना आरम्भ किया और १६२० तक लगभग सभी खोए हुए स्थानों को वापस ले लिया। इस पर १६२१ में शाहजहाँ को फिर उसके विरुद्ध भेजा गया। मलिक अम्बर ने एक बार फिर यह उचित समझा कि मुग़लों से समझौता कर लिया जाए। इस सन्धि के द्वारा मुग़लों से छीनी हुई भूमि वापस लौटा दी गई तथा उसके आगे १४ कोस तक की भूमि से भी निज़ामशाह को अपना शासन हटाना पड़ा और ५० लाख रुपया सम्राट् को देना पड़ा।

**दक्षिण के राज्यों के पतन और विनाश के कारण**—दक्षिण के इन राज्यों के ह्रास के दो मुख्य कारण थे। इन राजवंशों का बड़ी तीव्रगति से पतन हो रहा था और इन सुलतानों में कोई भी इस योग्य न था जो उस भारी राजनीतिक, सामरिक तथा शासन-सम्बन्धी उत्तरदायित्व को पूरा कर सके जो तत्कालीन परिस्थिति में उनके कन्धों पर आ गया था। दूसरे, यह लोग प्रायः आपस में लड़ते रहते थे और एकदूसरे के विरुद्ध मुग़लों से सहायता माँगते थे।

शाहजहाँ उपर्युक्त सन्धि करके १६२२ के मार्च में बड़ी शीघ्रता से उत्तर की ओर लौटा क्योंकि उस समय उत्तराधिकार का संग्राम विभिन्न दलों में फिर उठ खड़ा हुआ था। शाहजहाँ ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया और जहाँगीर ने उसका पीछा करने के लिए शाहज़ादा परवेज़ और महाबतखाँ को भेजा। जहाँगीर को यह शंका थी कि कहीं शाहजहाँ मलिक अम्बर से न मिल जाए। अतएव महाबतखाँ और परवेज़ ने आदिलशाह से मित्रता कर ली। परन्तु मलिक अम्बर इससे न घबराया और संयुक्त सेना को अपनी छापामार युक्तियों से काफ़ी हलाकान करके अहमदनगर के निकट उनको पूरी तरह परास्त किया। मलिक अम्बर की इस शानदार विजय का कारण यह था कि उसने बहुत दिन तक गहरे तौर से सोच-विचार कर मुग़ल और बीजापुरी सेना को अपने जाल में फँसाने की योजना तैयार की थी। इस अवसर पर शाहजी ने मलिक अम्बर की सराहनीय सहायता की थी और इसी युद्ध से उसने अपने से अधिक बलवान् शत्रु को पराजित करने की युक्ति का अनुभव किया था। किन्तु मलिक अम्बर और शाहजी एक म्यान में दो तलवारों के समान थे। उनमें जल्दी ही वैमनस्य आरम्भ हुआ और शाहजी को अहमदनगर छोड़कर आदिलशाह की शरण में जाना पड़ा। इस घटना के थोड़े ही दिन बाद अस्सी वर्ष के बूढ़े मलिक अम्बर की मृत्यु हो गई और अहमदनगर की स्वतन्त्रता का सबसे महान् रक्षक चल बसा। इसके बाद कुछ और ऐसी ही घटनाएँ हुईं जिनके कारण अहमदनगर का पतन तथा अन्त बहुत ही तेज़ी से हो गया। १६२७ में सम्राट् जहाँगीर की मृत्यु हो जाने पर शाहजहाँ, जो उस समय एक महत्त्वाकांक्षी युवक विजेता के उल्लास से भरपूर था, बादशाह हुआ। उसी समय बीजापुर का इब्राहीम आदिलशाह भी मर गया और शाहजी को बीजापुर की नौकरी में रहने का अवसर न रहा। जहाँगीर की मृत्यु के समय उपर्युक्त घटनाओं के कारण अहमदनगर की समस्या वैसी ही बनी रही।

**कांगड़ा विजय : जहाँगीर की धार्मिक संकीर्णता**—काँगड़े का पहाड़ी दुर्ग, जो पंजाब के उत्तर-पूर्व की ओर हिमालय पर्वत की भीतरी पर्वत-रेखा पर स्थित है, अति प्राचीन काल से अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए हुए था। लेखकों ने इस दुर्ग की दृढ़ता की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी अजेयता के कारण यह दुर्ग प्राचीनकाल से एक ही वंश के अधिकार में चला आता था। मुसलमान लेखकों ने भी इस बात का समर्थन किया है। मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के समय से अब तक कोई इस दुर्ग को न जीत सका था। जहाँगीर को विशेष रूप से इस दुर्ग के जीतने की लालसा इस कारण थी कि उसका पिता अकबर महान् भी उसे जीतने में असफल हुआ था। अतएव १६१५ में जहाँगीर ने पंजाब के नाज़िम मुर्तजाखाँ को काँगड़े पर अधिकार करने की आज्ञा दी और मऊ के राजा बासु के बेटे सूरजमल को उसकी सहायता के लिए भेजा। यह चढ़ाई सफल न हुई। इसका कारण यह जान पड़ता है कि सूरजमल गुप्त रूप से काँगड़ा की पराजय न चाहता था। उसने अन्त में खुले

तौर पर इसका विद्रोह किया। तब जहाँगीर ने राजा विक्रमाजीत बघेल (सुन्दरदास) को १६२० के अक्टूबर मास में इस कार्य के लिए भेजा। उसने काँगड़े का इतना कड़ा घेरा डाला कि किले के निवासी थोड़े दिन बाद भूख से त्रस्त हो गए और आत्म-समर्पण करने को तैयार हो गए। यह सूचना पाकर जहाँगीर स्वयं काँगड़ा पहुँचा और अपने काज़ी तथा अन्य मुल्लाओं को आज्ञा दी कि ख़ुदा का शुक्र मनाने के लिए मोहम्मद के मतानुसार जो उस अवसर पर आवश्यक कार्य करना हो उसे वे करें। उन्होंने नमाज़ व खुतबा पढ़वाने के अतिरिक्त दुर्ग के मन्दिर में एक बैल का वध किया जो उस दुर्ग के अन्दर कभी भी नहीं हुआ था। इस घटना का उल्लेख जहाँगीर ने बड़े गर्व के साथ करते हुए लिखा है कि 'यह सब कार्य स्वयं मेरी उपस्थिति में किया गया।'

काँगड़े की इस विजय का राजनीतिक महत्त्व जो भी हो उससे जहाँगीर की भावनाओं पर अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है। जान पड़ता है कि कभी उसे मानो यह याद आ जाता था कि 'मैं एक सच्चा मुसलमान हूँ' और इसका प्रमाण देने के लिए वह इस प्रकार की हरकत कर बैठता था जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। किन्तु उसका लालन-पालन तथा शिक्षा अकबर-रचित उदार तथा सांस्कृतिक वायुमण्डल में हुआ था। इसके अतिरिक्त उसकी अपरिमित भोग-विलासी प्रवृत्ति पग-पग पर उसको इसलामी शिक्षा व नियमों को भंग करने पर मजबूर करती थी। तीसरे, अकबर ने राजदरबार एवं साम्राज्य भर में जो उदार नीति का वायुमण्डल स्थापित कर दिया था उसका निषेध करना किसी के लिए सम्भव न था चाहे वह कितना ही शक्तिशाली हो। राजनीतिक वायुमंडल के इस विश्लेषण से यह विदित होगा कि यदि कोई कट्टर बादशाह भी उनके स्थान पर आसीन होता तो भी वह अनुदार नीति का एकाएक संचालन न कर पाता। परन्तु जहाँगीर के विचार तथा शासन-नीति सामान्यतया उदार तथा धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर ही आधारित थे।

पुर्तगाली व्यापारी कम्पनी की स्थापना और आरम्भिक कृत्यों का विवरण पहले दिया जा चुका है। १६११ में गोआ के नए वायसराय ने खुले तौर पर मुग़ल सम्राट् का विरोध करना आरम्भ किया क्योंकि पुर्तगालियों की अंग्रेजों से शत्रुता थी और सम्राट् ने इंगलैण्ड के प्रतिनिधि हॉकिन्स का बड़ा स्वागत किया था और उसे ४०० ज़ात का मनसबदार बनाकर प्रतिष्ठित किया था। उसने इंगलिश व्यापारियों के लिए जो-जो सुविधाएँ माँगी थीं वे सब उसे दे दी गई थीं। इधर सम्राट् पुर्तगालियों से भी मैत्री रखना चाहता था। सन् १६०७ में मुकर्रबख़ाँ को साम्राज्य की ओर से राजदूत बनाकर गोआ भेजा गया परन्तु उस समय गोआ का वायसराय कहीं गया हुआ था इसलिए मुकर्रबख़ाँ का जाना व्यर्थ हुआ। सन् १६११ में मैन्डोज़ा गोआ का नया वायसराय हुआ। उसने अंग्रेज़ी प्रतिनिधि की जो आवभगत सम्राट् के दरबार में हुई थी उससे चिढ़कर सम्राट् के राजदूत से भेंट करने से इनकार कर दिया। जहाँगीर इससे बहुत भयभीत हुआ क्योंकि मुग़लों के पास कोई समुद्री सेना न थी

जो पुर्तगालियों का मुकाबला कर सकती। अतएव उसने अंग्रेज़ों से नाता तोड़ लिया और उनके जहाज़ों को सूरत के बन्दरगाह में आने से रोक दिया। हॉकिन्स को भी उसने जल्दी ही वापस भेज दिया।

**समुद्री शक्ति का महत्त्व**—परन्तु पुर्तगाली इतने से सन्तुष्ट न हुए। १६१३ में उन्होंने सम्राट् के चार जहाज़ों को जिनमें बहुत-सा रुपया-पैसा और बहुत-सी सामग्री भरी हुई थी, सूरत के पास लूट लिया। इस पर सूरत के शासक मुकर्रबख़ाँ को इनको दबाने के लिए हुक्म दिया गया और उसने पुर्तगालियों के सब उपनिवेशों पर अधिकार करके उनके पादरी जेरोम जेवियर को कैद कर लिया। सम्राट् ने अंग्रेज़ों से फिर मित्रता कर ली। १६१५ में एक अंग्रेज एडवर्ड्स राजदरबार में आया और उसका उचित स्वागत किया गया। उसी वर्ष अंग्रेज़ी बेड़े ने, जिसका अध्यक्ष डाउन्टन था, गुजरात के निकटस्थ समुद्र में पुर्तगालियों के जहाज़ों को परास्त किया और बाहर धकेल दिया। फिर भी पुर्तगालियों से भविष्य में शान्ति बनाए रखने के लिए जहाँगीर ने उसी वर्ष उनसे सन्धि कर ली और उनकी बस्तियाँ वापस कर दी गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि फिर उनसे जहाँगीर को कोई कष्ट न हुआ और शान्ति बनी रही।

**बंगाल व उत्तर-पूर्वी सीमा**—बंगाल का सूबा बहुत दूर तथा सम्पन्न होने के कारण सदा उपद्रव का केन्द्र बना रहता था। १६१२ में एक अफ़ग़ान सैनिक उसमानख़ाँ ने उस प्रदेश पर फिर से स्वाधीन अफ़ग़ान शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। बंगाल के गवर्नर इसलामख़ाँ के सेनाध्यक्ष शुजातख़ाँ ने इस विद्रोह को आसानी से दबा दिया। इसलामख़ाँ ने बंगाल प्रान्त की राजधानी ढाका में बनाई थी। तिस पर भी अराकान आदि सीमा-प्रदेशों में शान्ति कभी स्थापित न हो पाई और उन प्रदेशों के फिरकों को दमन करने के लिए निरन्तर सेना रखनी पड़ती थी।

**उत्तर-पश्चिम सीमा पर उपद्रव**—उत्तर-पश्चिम सीमा पर रौशनैया फिरके के नेता ने विद्रोह खड़ा कर दिया और काबुल पर आक्रमण कर दिया। तथापि वह उसको ले न सका। उस प्रान्त में राजकीय पदाधिकारी परस्पर लड़ते रहते थे। उनके झगड़ों से ही प्रोत्साहित होकर रौशनैया लोगों ने विद्रोह किया था। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम सीमा के अन्य भागों में भी छोटे-मोटे विद्रोह बराबर होते रहे और उनमें जहाँगीर के सैनिक शान्ति स्थापित न कर सके।

**सर टामस रो का आगमन**—मेवाड़-युद्ध के प्रसंग में बतला आए हैं कि खुर्रम की अपूर्व सफलता की सूचना पाकर जहाँगीर स्वयं अजमेर पहुँचा। वहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण घटना अंग्रेज़ी राजदूत सर टामस रो का आगमन तथा उसका स्वागत किया जाना हुई। सर टामस रो जनवरी सन् १६१६ में पहले-पहल अजमेर पहुँचा और सम्राट् के दरबार में उपस्थित हुआ। टामस रो के साथ उसका पादरी एडवर्ड टैरी भी था। टामस रो का मुख्य उद्देश मुग़ल सम्राट् से इस प्रकार की संधि करने का था जिससे अंग्रेज़ी व्यापारियों तथा अन्य यात्रियों को हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त

हों और वे सुरक्षित रूप से रह सकें। अंग्रेज़ों तथा मुग़ल सम्राट् के सम्बन्धों का पूरा वृत्तान्त आगे दिया जाएगा।

**कन्धार का महत्व और साम्राज्य से निकलना**—कन्धार की भौगोलिक स्थिति एक विशेष सामरिक एवं व्यापारिक महत्व रखती है। भारत और ईरान के बीच में सबसे उत्तम मार्ग बोलान दर्रे के अन्दर से होकर जाता है। यह दर्रा बिलोचिस्तान के उत्तर में सीवी के सीमावर्ती किले के निकट है। यही किला इस दर्रे के भारत की ओर निकलनेवाले मुहाने की रक्षा करता है। पश्चिम की ओर बोलान का दर्रा क्वेटा के किले से नियन्त्रित होता है। भारत से ईरान की तरफ जानेवाला मार्ग बोलान से निकलकर क्वेटा होता हुआ और पिशिन व चमन आदि स्थानों को छूता हुआ कन्धार पहुँचता है। कन्धार अफ़ग़ानिस्तान के दक्षिण में एक पहाड़ी पर स्थित है जो लगभग ३५०० फुट ऊँची है और बलूचिस्तान की उत्तरी सीमा के बहुत निकट है। इसका महत्व इस कारण भी है कि कन्धार में भारतवर्ष, ईरान, तथा अफ़ग़ानिस्तान के काबुल, ग़ज़नी एवं हिरात आदि बड़े-बड़े स्थानों से मार्ग आकर मिलते हैं। इसीलिए अति प्राचीनकाल से यह नगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मंडी रहा है। भारत, मध्य एशिया तथा पश्चिमी देशों के व्यापारी यहाँ आकर अपने-अपने सामान का क्रय-विक्रय तथा अदल-बदल करते थे। इसी के द्वारा इन देशों की सेनाएँ—मुख्यतया भारत और ईरान की सेनाएँ—जाती थीं। अतएव मुग़लों और ईरान के सफ़वी बादशाहों के बीच कन्धार सदैव ही संघर्ष का मूल बना रहा। हम देख आए हैं कि बाबर ने १५२२ में कन्धार पर अधिकार कर लिया था। हुमायूँ के समय में कामरान उसपर शासन करता रहा। जब हुमायूँ शेरशाह से हारकर सिन्ध होता हुआ कन्धार के निकट पहुँचा तो उसके भाई अस्करी ने, जो कामरान की तरफ से कन्धार पर शासन कर रहा था, उसे कोई सहायता न दी। हुमायूँ को ईरान के शाह तहमास्प की शरण में जाना पड़ा और उसकी सहायता से हुमायूँ ने १५४७ में कन्धार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हुमायूँ की मृत्यु के बाद १५५८ में ईरान के बादशाह ने कन्धार अपने अधिकार में कर लिया। तदनन्तर १५९४ में अकबर ने सिन्ध और कन्धार को जीतकर उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रदेश की योजना को परिपूर्ण किया।

जहाँगीर के राज्य के आरंभ में खुसरो के विद्रोह से लाभ उठाकर ईरान के बादशाह शाह अब्बास ने खुरासान के शासकों को उकसाकर कन्धार पर आक्रमण करा दिया किन्तु मुग़ल सेनापति शाह बेगखाँ ने सम्राट् की भेजी हुई सहायक सेना के साथ मिलकर उनको परास्त किया। इस पर शाह अब्बास एक सुअवसर की ताक में बैठा रहा और ऊपर से जहाँगीर को उसने यह विश्वास दिलाया कि वह इन दुष्ट खुरासानी हमला करनेवालों से बहुत अप्रसन्न है। उसने मुग़ल सम्राट् के प्रति बड़ी मित्रता के भाव प्रदर्शित किए। जहाँगीर उसकी चालाकी को न समझ पाया और उसको अपना सच्चा मित्र मान लिया। इतना ही नहीं उसने काबुल, गज़नी और

कन्धार में सड़कों आदि की मरम्मत कराई जिससे उस प्रान्त के आवागमन के मार्ग अधिक सुलभ हो गए।

जब शाह अब्बास को यह निश्चय हो गया कि जहाँगीर उसकी मीठी-मीठी बातों और चापलूसी से भरे पत्रों के प्रभाव से कन्धार के बारे में बिलकुल निश्शंक हो गया है और उसकी रक्षा का विशेष प्रबन्ध करने पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है तो उसने इस अवसर को उपयुक्त देखकर १६२१ में कन्धार पर आक्रमण कर दिया। इन्हीं दिनों जहाँगीर ने कन्धार का किलेदार एक अनुभवहीन युवक सैनिक ख्वाजा अब्दुल अज़ीज़ नक्शबन्दी को नियुक्त किया था। जब जहाँगीर को यह सूचना मिली कि ईरान के शाह ने एक भारी फौज के द्वारा कन्धार पर घेरा डाल दिया है तो उसे इस अफ़वाह पर बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा कि हमारे आपस के गहरे मित्रता के सम्बन्धों को देखते हुए यह विश्वास नहीं होता कि शाह अब्बास सरीखा सम्राट् इस प्रकार का तुच्छ तथा तिरस्करणीय कार्य करेगा कि मेरे एक छोटे-से कन्धार के किलेदार पर, जिसके पास केवल तीन-चार सौ सिपाहियों की सेना है, आक्रमण करेगा। जहाँगीर की इस बात से स्पष्ट सिद्ध होता है कि कन्धार के अद्वितीय सामरिक (strategic) तथा व्यापारिक महत्त्व का बोध जहाँगीर को तनिक भी नहीं था। वह सोचता ही रह गया और शाह अब्बास ने ४५ दिन तक घेरा डालकर कन्धार को अधिकृत कर लिया। जहाँगीर उन दिनों काश्मीर की यात्रा करने की तैयारी कर रहा था। उसने कन्धार के मामले को इतना महत्त्व न दिया कि काश्मीर की सैर को स्थगित कर दे। परन्तु जब उसके पास यह सूचना आई कि शाह अब्बास ने कन्धार पर घेरा डाल दिया है तो उसने बड़ी भारी सेना तैयार करके कंधार को वापस लेने के लिए भेजने का विचार किया। साम्राज्य के दूर-दूर प्रांतों से उसने सेनाएँ बुलाई और लाहौर में उनका पहला शिविर बनाया गया। काश्मीर के दीवान ख्वाजा अबुलहसन और बख्शी सादिकखाँ को आज्ञा दी कि लाहौर पहुँचकर उस सेना को व्यवस्थित करें और तब उसे मुल्तान भेजा जाए। घुड़सवार, पैदल, तोपखाना तथा खाने-पीने की सामग्री सभी बड़ी मात्रा में एकत्र किए गए। इधर उसने शाहजहाँ को, जो उस समय मांडू में था, इस चढ़ाई का नेतृत्व करने के लिए फ़रमान भेजा। इस समय जहाँगीर को दोनों तरफ से धक्का लगा। शाहजहाँ ने तो कंधार की चढ़ाई पर तुरत जाने में असमर्थता प्रकट की क्योंकि उसे यह डर था कि यदि उसे हिन्दुस्तान के बाहर बहुत दिन तक रुकना पड़ गया तो उसके पीछे नूरजहाँ शहरयार को जहाँगीर का उत्तराधिकारी बनाने की योजना को और भी पक्का कर देगी और शाहजहाँ की जड़ें ढीली हो जाएँगी। और शाह अब्बास ने उसको एक बड़ी धृष्टतापूर्ण चिट्ठी लिखी कि कंधार को उसने इसलिए अधिकृत कर लिया है कि वह वास्तव में ईरान के अन्तर्गत ही है न कि भारत के अन्तर्गत। इसलिए जहाँगीर को उचित था कि वह पहले ही कंधार को उसे दे देता। साथ ही शाह अब्बास ने यह भी लिखा था कि हमारी तुम्हारी मित्रता में और परस्पर सहृदयता

के भावों में इस घटना से कोई कमी न आनी चाहिए।

**शाहजहाँ का सन्देह**—कुछ लेखकों का यह विचार है कि कंधार जाने से शाहजहाँ ने इसलिए इनकार किया था कि उसको नूरजहाँ के षड्यंत्र का भय था, वह केवल यह चाहता था कि बरसात के अन्त तक वह मांडू में ही रहे और जब वह कन्धार जाए तो उसको अपनी सेना तथा पंजाब के प्रान्त पर पूर्ण अधिकार दिया जाय। कारण कि उसे काफी अनुभव था कि किस प्रकार मुग़ल सेनापतियों के परस्पर वैमनस्य और झगड़ों के कारण ऐसे अवसरों पर उनको असफलता का मुँह देखना पड़ता था। साथ ही वह यह भी समझता था कि सेना के आवागमन तथा आवश्यक सामग्री के बिना रोक-टोक मिलने के लिए पंजाब प्रान्त पर उसका पूरा अधिकार होना आवश्यक था। वह यह भी चाहता था कि ऐसी दुरूह चढ़ाई पर जाने के लिए वह अपने सैनिकों को पूरी तरह तैयार कर ले। इन शर्तों पर वह बरसात के बाद कंधार पर चढ़ाई करने को उद्यत था। परन्तु उस समय की परिस्थिति ऐसी थी कि उसकी दृष्टि से जहाँगीर को यह शंका हुई कि वह (शाहजहाँ) केवल बहाने कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि शाहजहाँ भी इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाना चाहता था। वह अब्बास से मित्रता करके अवसर पड़ने पर उसकी सहायता प्राप्त करने का निश्चय कर लेना चाहता था। इस हेतु उसने अपने दूत के द्वारा शाह अब्बास को कन्धार की विजय पर बधाई भेजी। शाहजहाँ के इस दुष्कार्य से पता चलता है कि यद्यपि उसके कंधार जाने में आना-कानी करने का कारण नूरजहाँ का भय न रहा हो तथापि वह शाह अब्बास के विरुद्ध चढ़ाई करने को किसी प्रकार उद्यत न था। परिणाम यह हुआ कि जहाँगीर ने कंधार पर सेना भेजने का सरतोड़ प्रयत्न किया किन्तु उसकी एक न चली और वह एक निस्सहाय के समान छटपटाकर चुप रह गया।

**खरदा के राजा का दमन**—राजा टोडरमल के बेटे राजा कल्यानमल ने सम्राट् के आदेश पर १६११ में उड़ीसा प्रान्त के अन्दर खरदा के राजा पुरुषोत्तमदास पर आक्रमण किया। उस राजा के आधिपत्य में जगन्नाथपुरी का प्रसिद्ध मन्दिर भी था। मुग़ल आक्रमण का राजा ने बड़ी वीरता से प्रतिरोध किया और बड़े घोर संग्राम के बाद मुग़ल उसे परास्त कर सके। मुग़ल सेना ने उसको एक बात पर भी मजबूर किया कि वह अपनी बेटी सम्राट् के अन्तःपुर में भेजे। पाशविक बल से इस प्रकार एक हिन्दू राजकुमारी को अपने अन्तःपुर में मँगवाना भी जहाँगीर की असहिष्णु नीति को प्रमाणित करता है। १६१७ में खरदा के राजा ने फिर से विद्रोह किया। परन्तु उड़ीसा के सूबेदार मुकर्रमखाँ ने उसको आसानी से परास्त कर दिया।

**किस्तवार की विजय**—किस्तवार का जिला काश्मीर का एक भाग था परन्तु उस पर मुग़लों का अधिकार अभी तक नहीं हो पाया था। जहाँगीर ने काश्मीर के सूबेदार दिलावरखाँ को किस्तवार पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। दिलावरखाँ ने किस्तवार के राजा को परास्त करके और उसे बेड़ियों में बाँधकर सम्राट् के दरबार में उपस्थित किया। परन्तु दिलावरखाँ के दुर्व्यवहार व अत्याचारों को किस्तवार

की जनता सहन न कर सकी और उन्होंने उसी वर्ष फिर विद्रोह कर दिया। अन्त में सम्राट् की महान् शक्ति के सामने यह छोटा-सा राज्य कहाँ ठहर सकता था। १६२२ में इस राज्य को पूरी तरह अधिकृत करके काश्मीर के साथ जोड़ दिया गया।

**नूरजहाँ और उसका कार्य**—सम्राट् जहाँगीर के शासन में महारानी नूरजहाँ का बड़ा महत्त्व है। अपने अनेक गुणों के कारण नूरजहाँ संसार की महान् स्त्रियों में एक विशेष स्थान रखती है। जिस समय से वह राजमहल में प्रविष्ट हुई तभी से जहाँगीर पर उसका प्रभाव पड़ने लगा था और थोड़े दिन बाद तो एक प्रकार से राज-काज का संचालन एवं नीति-निर्धारण सब-कुछ उसी के हाथों में आ गया था। कदाचित् नूरजहाँ की अद्वितीय योग्यता ने भी जहाँगीर को साम्राज्य की चिन्ताओं से विमुक्त करके उसे भोग-विलास में डूब जाने के लिए प्रेरित किया हो। जो हो, यह निश्चित है कि अपने राजत्व-काल के उत्तरार्द्ध में जहाँगीर ने शासन-संचालन का प्रायः समस्त अधिकार नूरजहाँ के हाथों में छोड़ दिया था।

**नूरजहाँ का प्रारम्भिक जीवन और जहाँगीर से विवाह**—नूरजहाँ ईरान के एक उच्च परिवार के अमीर मिर्ज़ा ग़यासबेग की पुत्री थी। मिर्ज़ा ग़यासबेग अधिक संकटों से दुखी होकर ईरान छोड़कर कुछ व्यापारियों के साथ अपने परिवार सहित भारतवर्ष आया। मार्ग में कन्धार के निकट उसकी स्त्री के गर्भ से एक कन्या का जन्म हुआ जिसका नाम मेहरुन्निसा रखा गया। इस संकट में एक धनाढ्य व्यापारी ने ग़यासबेग की बड़ी सहायता की और फतहपुर सीकरी पहुँचकर उसका परिचय सम्राट् अकबर से कराया। अपनी योग्यता, तीव्रबुद्धि तथा कार्यकुशलता के द्वारा वह बहुत ही जल्दी मुग़ल दरबार में ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त हुआ और फिर काबुल का दीवान बनाया गया। ग़यासबेग में अनेक गुणों के साथ-साथ एक बड़ा दुर्गुण यह था कि वह रिश्वत बहुत लेता था। तथापि उसका प्रभाव कम न हुआ। जब मेहरुन्निसा बड़ी हुई तो उसका विवाह एक सामान्य सैनिक अलीकुलीख़ाँ के साथ कर दिया गया। अलीकुलीख़ाँ भी ईरान-निवासी था और उसे भी दुर्भाग्यवश अपना देश छोड़कर भारत आना पड़ा था। उसे भी मुग़ल सेना में नौकरी मिल गई थी। एक अवसर पर शेर का बड़ी वीरता से शिकार करने के उपलक्ष में शाहज़ादा सलीम ने ही उसे शेर अफ़ग़न की उपाधि प्रदान की थी। यद्यपि शेर अफ़ग़न ने जहाँगीर के विद्रोह के समय उसका साथ नहीं दिया था तथापि जब जहाँगीर सम्राट् बन गया तो उसने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया। जहाँगीर ने भी उसे बड़ी उदारता से क्षमा करके बंगाल के सूबेदार राजा मानसिंह के नीचे एक मनसबदार बना दिया था। बंगाल में इन दिनों मुग़लों के विरुद्ध कई पठान सरदार तथा सैनिक नेता बड़े बलशाली व उद्दण्ड होते जा रहे थे। इनकी उद्दण्डता से प्रोत्साहित होकर जैसौर, आसाम, कछार, त्रिपुरा व अराकान आदि के शासकों ने भी विद्रोहियों को सहायता देनी आरम्भ की। साथ ही पुर्तगाली समुद्री लुटेरे भी इस अराजकता में सम्राट्-विरोधी दलों की सहायता कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति होते हुए भी बंगाल का

सूबेदार राजा मानसिंह तथा उसके अधीनस्थ अन्य कर्मचारी बड़े उदासीन थे और इस अराजकता को दमन करने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहे थे। उनकी उदासीनता का कारण यह था कि सम्राट् को उनकी राजभक्ति पर विश्वास न था। यह देखकर जहाँगीर ने मानसिंह को बंगाल से बुलाकर बिहार भेज दिया और कुतुबुद्दीनखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया। साथ ही उसने कुतुबुद्दीन को आदेश दिया कि शेर अफ़ग़न को वापस भेज दे। कुतुबुद्दीन ने शेर अफ़ग़न के साथ धृष्टता का व्यवहार किया। उसने शेर अफ़ग़न को आज्ञा दी कि वह राजमहल में आकर उसके सामने उपस्थित हो। शेर अफ़ग़न ने उसकी आज्ञा की अवहेलना की। इस पर कुतुबुद्दीन शेर अफ़ग़न को उसके उद्दण्ड व्यवहार का बदला लेने के लिए स्वयं बर्दवाद पहुँच गया जहाँ शेर अफ़ग़न नियुक्त था। उसके बुलाने पर शेर अफ़ग़न केवल दो सैनिकों को साथ लेकर सूबेदार के सामने चला आया ताकि उसके ऊपर राजविद्रोह का सन्देह न रहे। परन्तु कुतुबुद्दीन ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी कि उसको घेर लें। शेर अफ़ग़न को इस पर बड़ा ताव आया और उसने कुतुबुद्दीनखाँ को कत्ल कर दिया और फिर कुतुबुद्दीन के सिपाहियों के हाथ वह भी मारा गया। यह घटना १६०७ के आरम्भ में हुई जबकि जहाँगीर लाहौर से काबुल जाने की तैयारी कर रहा था। शेर अफ़ग़न की बीवी मेहरुन्निसा के पिता और भाई इस समय मुग़ल दरबार में बड़े ऊँचे पदों पर थे। अतएव इस घटना से उनको मेहरुन्निसा के लिए अत्यन्त चिन्तातुर होना स्वाभाविक ही था। स्पष्ट है कि इसी कारण जहाँगीर ने एक अविलम्ब आज्ञा भेजी कि मेहरुन्निसा और उसके परिवार को तुरन्त राजदरबार में आगरा भेज दिया जाए। इसी समय नूरजहाँ का पिता, जो साम्राज्य का वज़ीर था, और उसका बड़ा बेटा दोनों खुसरू को क़ैद से छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे पदच्युत कर दिए गए। ऐतमादुद्दौला (ग़यासबेग) को क़ैद में डाल दिया गया। किन्तु दो मास पश्चात् उसे फिर अपने पद पर बहाल कर दिया गया।

**साम्राज्य के शासन व नीति-निर्धारण में नूरजहाँ का हाथ**—नूरजहाँ से विवाह होने के थोड़े ही समय बाद उसकी बुद्धिमत्ता तथा अन्य अनुपम गुणों का प्रभाव सम्राट् के ऊपर स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होने लगा। जहाँगीर का नूरजहाँ के प्रति अगाध प्रेम ही नहीं प्रत्युत उसपर अटूट विश्वास भी था। अतएव शासन के बहुत से कामों को नूरजहाँ पर छोड़कर उसने समय को आनन्द-मंगल तथा सांस्कृतिक कार्यों में व्यतीत करना आरम्भ किया। नूरजहाँ की निजी योग्यता के अतिरिक्त उसके सम्बन्धियों की राजदरबार में उच्च स्थिति से भी उसके प्रभाव के बढ़ने में अवश्य सहायता मिली थी। उसके माता-पिता दोनों ही बड़े योग्य व अनेक गुण-सम्पन्न थे। उसकी माता भी एक विदुषी व दूरदर्शी महिला थी। उसका पिता ग़यासबेग, जिसको जहाँगीर ने ऐतमादुद्दौला का खिताब प्रदान किया था, बड़ा बुद्धिमान, अनुभवी तथा कार्यकुशल राजनीतिज्ञ था। नूरजहाँ का भाई आसफ़खाँ भी अपने

माता-पिता के अनुरूप ही विद्वान व सुयोग्य राजदरबारियों में से था। डा० बेनीप्रसाद के कथनानुसार आसफ़खाँ वित्त-विज्ञान में अपना सानी न रखता था। आसफ़खाँ की बेटी अर्जुमन्द बानू बेगम का १६१२ में राजकुमार खुर्रम (भावी शाहजहाँ) के साथ विवाह हो जाने से आसफ़खाँ का प्रभुत्व तथा प्रभाव और भी बढ़ गया। इस प्रकार नूरजहाँ के साथ सहयोग करने और हर प्रकार से साम्राज्य के काम-काज को अपने अधिकार में लेने के लिए उसके उपर्युक्त चार सम्बन्धियों का एक गुट-सा बन गया। और यह गुट्ट लगभग अगले १० वर्ष तक परस्पर सहयोग के साथ कार्य करता रहा। कुछ लेखकों का मत है कि नूरजहाँ का इतना गहरा प्रभाव बहुत-कुछ उसके इन सम्बन्धियों के कारण था। निःसंदेह इन लोगों की योग्यता तथा दरबार में उनके उच्चाधिकार तथा सम्मानित स्थिति का काफी प्रभाव नूरजहाँ के पक्ष में पड़ा होगा। किन्तु यह अनुमान करने की चेष्टा करना कि इन लोगों का प्रभाव न होने की स्थिति में नूरजहाँ केवल अपने गुणों के बल पर कितनी शक्तिशाली हुई होती, न तो संभव है और न आवश्यक ही। १६११ से २२ तक नूरजहाँ पर, डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार उसके सम्बन्धियों का सत्प्रभाव पड़ता रहा और उनके सत्परामर्श से उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ परिमित रहीं। १६२२ के बाद परिस्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ जिसका मुख्य कारण यह था कि राजकुमार खुर्रम, जो कि अब तक नूरजहाँ के साथ मिलकर कार्य करता था, उसका विरोधी हो गया, क्योंकि उसे यह संशय होने लगा कि नूरजहाँ अपने दामाद शहरयार को, जो एक अत्यन्त अयोग्य पुरुष था, जहाँगीर के बाद राजगद्दी पर बिठाना चाहती है। १६२२ से जहाँगीर का स्वास्थ्य बड़ी तीव्रगति से गिरने लगा। परिणाम यह हुआ कि शाहजहाँ नूरजहाँ के विरुद्ध होकर अपने भावी भाग्य-निर्माण की योजना में लग गया। नूरजहाँ और उसके सम्बन्धियों के विरोध होने का एक और भी कारण था। इन लोगों ने राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों पर अपने सब सगे सम्बन्धियों को नियुक्त कर दिया था। इस बात से दरबार के अन्य सब कर्मचारियों में गहरा असन्तोष फैल गया था। इस विरोधी दल का नेता महाबतखाँ था। जब उसने देखा कि नूरजहाँ का आतंक इस हद तक बढ़ चुका है कि साम्राज्य की समस्त व्यवस्था उसको सौंप दी गई है तो उसने बड़े धैर्य परन्तु विनीत भाव से सम्राट् से इसका प्रतिरोध किया और कहा कि बड़े आश्चर्य की बात है कि एक इतना महान सम्राट् अपने आपको पूर्ण रूप से एक स्त्री के हाथों में सुपुर्द कर दे। उसने जहाँगीर को यह भी परामर्श दिया कि राजकुमार खुसरू को, जो सर्वप्रिय था, मुक्त कर देना ही बुद्धिमत्ता होगी। इसी पर साम्राज्य की भलाई तथा शान्ति आश्रित है। सम्राट् ने महाबतखाँ के इस परामर्श पर कोई रोष प्रकट न किया किन्तु उसका कोई क्रियात्मक लाभ न हुआ। सम्राट् की नीति तथा नूरजहाँ का आतंक पूर्ववत् ही बना रहा। हाँ, एक परिणाम इसका अवश्य हुआ कि नूरजहाँ और उसके सम्बन्धी उसके परम शत्रु हो गए और उसका सब उत्कर्ष रुक गया। इन्हीं दिनों शाहजहाँ अपने साथ राजकुमार खुसरू

को दक्षिण लेता गया और वहाँ १६२२ में उसको जहर देकर मरवा डाला ताकि उसके मार्ग का एक बड़ा कंटक दूर हो जाए।

**शाहजहाँ का विरोध और नई परिस्थिति**—फ़ारस के शाह अब्बास के द्वारा कन्धार के छिन जाने का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उसी घटना के प्रसंग में शाहजहाँ का विरोध स्पष्ट प्रकट हो जाता है और उस समय से नूरजहाँ तथा शाहजहाँ में परस्पर वैमनस्य व शंका बढ़ते जाते हैं। इधर महाबतखाँ भी अपने दल के प्रभाव को पुनः स्थापित करना चाहता था। नूरजहाँ की परिस्थिति कुछ हद तक इस कारण निर्बल हो गई थी कि १६२१ में उसकी माता और १६२२ में उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। इन दोनों की उपस्थिति से नूरजहाँ को बहुत भारी सहायता थी। इसके अतिरिक्त उसका भाई आसफखाँ अपने दामाद शाहजहाँ के साथ सहानुभूति रखता था यद्यपि ऊपरी तौर से उसने इस बात को प्रकट नहीं होने दिया था। शाहजहाँ के विरोध की घटनाओं का वर्णन कन्धार के प्रसंग में ऊपर किया जा चुका है।

**शाहजहाँ का खुले तौर पर विद्रोह**—शाहजहाँ के विद्रोह का उद्देश कन्धार के प्रसंग में किया जा चुका है। जब १६२१ में कन्धार को फ़ारस के कब्ज़े से वापस लेने के लिए जहाँगीर ने शाहजहाँ को आज्ञा दी कि वह कंधार पर चढ़ाई करे तो उसने इस चढ़ाई पर जाने के लिए ऐसी कड़ी शर्तें लगाईं जो पूरी न की जा सकती थीं। अपने रास्ते से खुसरू को हटाने के लिए उसने उसे जहर देकर मरवा डाला, जैसा कि कहा जा चुका है। इन सब बातों से जहाँगीर को निश्चय हो गया कि शाहजहाँ के मन में विद्रोह की भावना उठ चुकी है और वह शत्रुता पर तुला हुआ है। ऐसी परिस्थिति में नूरजहाँ ने पहले शहरयार को और फिर परवेज़ को बिहार से बुलाकर कन्धार की सेना का संचालन सौंपा। शाहजहाँ ने जहाँगीर को जो चिट्ठियाँ लिखी थीं उनमें भी अपने विद्रोही संकल्प स्पष्ट कर दिए थे। जहाँगीर अपने जीवन-वृत्तान्त में लिखता है कि अपने बेटे की इस करतूत पर उसे बड़ा क्रोध आया। बादशाह को इस घटना से इतना हार्दिक दुःख हुआ। वह लिखता है—"इस अभागे और बदबख्त बेटे के लिए जो कुछ मैंने किया है उसको लेखनी बयान नहीं कर सकती और ऐसे समय में जब कि कन्धार और खुरासान को वापस जीतने के लिए इन सब लोगों को एकता के साथ मिलकर प्रयत्न करना चाहिए था वे मेरे इस अभागे बेटे के साथ विद्रोही हो गए हैं। उनको उचित दण्ड देना आवश्यक हो गया है। किन्तु इनके राजद्रोही कृत्यों के कारण कन्धार की चढ़ाई को अनिश्चित समय के लिए स्थगित करना पड़ा है।"

शाहजहाँ आगरे पर अधिकार करने के विचार से आगे बढ़ रहा था। इसकी सूचना जब जहाँगीर को पहुँची तो वह पंजाब में था। इधर शाहजहाँ फतहपुर तक पहुँच चुका था और उसके साथ अब्दुर्रहीम खानखाना तथा अन्य कई अमीर इस राजद्रोह में मिल गए थे। इन विद्रोहियों ने राजभक्त अमीरों के घरों से बहुत सा

रुपया-पैसा लूटा और आगे बढ़े। खानखाना के बारे में जहाँगीर लिखता है—"इस अधम मनुष्य ने, जो मेरे शैशवकाल में मेरा शिक्षक भी रहा था, इस प्रकार विद्रोही होकर अपना मुँह काला किया है। उसके पिता ने भी इस प्रकार निर्लज्जता का व्यवहार मेरे पिता के साथ किया था।" शाहजहाँ और उसके साथी उत्तर की ओर चलकर जब दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम में पहुँचे तो जहाँगीर सरहिन्द से चलता हुआ एक बड़ी सेना के साथ उस स्थान पर आ पहुँचा और शाहजहाँ को हारकर भागना पड़ा। वह मालवा होता हुआ दक्षिण पहुँचा और मलिक अम्बर से सहायता माँगी किन्तु निराश होकर तिलंगाना होता हुआ बंगाल पहुँचा। वहाँ से उसने बिहार पर चढ़ाई की और रोहतास के किले को अधिकार में कर लिया। फिर वह आगे बढ़कर इलाहाबाद पहुँचा किन्तु बादशाह की सेना से यहाँ उसकी फिर मुठभेड़ हुई और उसे वापस लौटना पड़ा। एक बार फिर दक्षिण पहुँचकर उसने मलिक अम्बर से सहायता माँगी और महाबतखाँ का दमन करने के लिए इन दोनों का एक समझौता हो गया। किन्तु इस समय शाहजहाँ ऐसा रोगग्रस्त हुआ कि उसने समझ लिया कि उसकी योजनाएँ किसी प्रकार पूरी होनेवाली नहीं हैं और उसका श्रेय अपने पिता से क्षमा-याचना करने में ली है। तब उसने सम्राट् को एक पत्र लिखा जिसमें अपने सब अपराधों पर गहरा शोक प्रकट किया और उनकी क्षमा माँगी। जहाँगीर ने इसके उत्तर में उससे अपने बेटों दाराशिकोह और औरंगज़ेब को ज़मानत के तौर पर राज-दरबार में भेज देने का आदेश दिया और रोहतास तथा असीरगढ़ आदि के किलों को वापस कर देने की माँग की। शाहजहाँ ने इन शर्तों को तुरन्त मान लिया और अपने बेटों को बहुत से जवाहरात, रुपया-पैसा और हाथी आदि देकर भेंट के तौर पर बादशाह के पास भेज दिया और रोहतास आदि के किलों को भी सम्राट् को वापस दे देने की आज्ञा अपने किलेदार को दे दी; और तब वह नासिक पहुँचा, क्योंकि जहाँगीर ने उसको बालाघाट के प्रदेश का शासन दे दिया था। इस प्रकार ३ वर्ष के व्यर्थ विद्रोह तथा बहुत-सी जान-माल की हानि होने के बाद शाहजहाँ का यह विद्रोह समाप्त हुआ। इस घटनाचक्र में सम्राट् की सेनाओं की सफलता का श्रेय मुख्यतया महाब्रत-खाँ को है।

**महाबतखाँ का दुस्साहस**—शाहजहाँ के विरुद्ध सेना के संचालन में राजकुमार परवेज़ महाबतखाँ का सहयोगी था। शाहजहाँ के विद्रोह की घटना और इन दोनों की सफलता से महाबतखाँ का प्रभाव तथा शक्ति बढ़ जाना स्वाभाविक ही था और परवेज़ के साथ उसकी मैत्री तथा सहयोग नूरजहाँ की आकांक्षाओं के मार्ग में कंटक बन सकते थे। वह यह न देख सकती थी कि महाबत की शक्ति व अधिकार इतने बढ़ जाएँ कि वह उसके नियन्त्रण से बाहर निकल जाए। इस समय महाबतखाँ और परवेज़ बुरहानपुर के पास थे। अतएव महाबतखाँ के प्राबल्य को घटाने के लिए पहला काम नूरजहाँ ने यह किया कि महाबतखाँ को बंगाल का सूबेदार बनाकर भेज दिया ताकि वह परवेज़ से दूर हो जाए और महाबतखाँ के स्थान पर खाँजहाँ को नियुक्त

किया। परन्तु परवेज अपने मित्र और संरक्षक से जुदा होने के लिए तैयार न था क्योंकि शाहजहाँ के ह्रास से अपने पिता का उत्तराधिकारी बनने की उसकी आशा बहुत बढ़ गई थी और इस प्रयास में उसका सबसे बड़ा सहायक महाबतखाँ ही हो सकता था। दूसरी ओर नूरजहाँ भी अपने संकल्प को पूरा करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थी। उसने तुरंत एक शाही फ़रमान महाबतखाँ को भिजवाया कि या तो वह बंगाल चला जाए और या तुरंत दरबार में उपस्थित हो। महाबतखाँ बंगाल न गया और ४,००० पके हुए राजपूत सैनिकों के साथ शाही दरबार पहुँचा। उस पर यह अभियोग लगाया गया कि उसने जो हाथी आदि बंगाल में उसके हाथों पड़े थे उनको सम्राट् के पास नहीं भेजा था। इसी प्रकार के कई निर्मूल दोष उस पर आरोपित किए गए। इसके अतिरिक्त महाबतखाँ के दामाद ख्वाजा उमर नक्शबन्दी को सम्राट् ने बुलाकर बहुत अपमानित किया और उसे बन्दी बनाकर महाबतखाँ का दिया हुआ सामान उससे छिनवा लिया। सम्राट् इस समय काश्मीर से लौट रहा था और झेलम नदी के किनारे पर ठहरा हुआ था और वहाँ से काबुल की तरफ जाने का विचार कर रहा था। महाबतखाँ सम्राट् के व्यवहार से इतना हताश व आशंकित हो चुका था कि उसने अपनी रक्षा के लिए सम्राट् को अपने अधिकार में लेने का निश्चय कर लिया। अपने २,००० राजपूतों को नदी के पुल की रक्षा तथा निगरानी करने के लिए नियत करके वह स्वयं उसके पार जाकर सम्राट् के शिविर में जा धमका और उसे अपने संरक्षण में ले लिया। उसके इस बेधड़क कार्य से समस्त शिविर में बड़ी हलचल मच गई। किन्तु इस संकट में भी नूरजहाँ ने अपने धैर्य को न छोड़ा। उसने अद्वितीय धीरज व चतुराई से काम लिया और समस्त सैनिकों तथा अमीरों को एकत्र करके उनसे बड़ी भावुकता से अपील की कि वे ऐसे समय में सम्राट् के प्रति अपनी भक्ति का परिचय दें। उन सबने एक स्वर से सम्राट् की सहायता करने और उसको इस उद्दण्ड के हाथों से निकालने का वचन दिया। नूरजहाँ और आसफखाँ ने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार अपनी सेना को पार करके जहाँ सम्राट् का शिविर था पहुँचाया जाय। महाबतखाँ के राजपूत इस सेना को रोकने के लिए डटे हुए थे। तथापि बहुत बड़ी जान और माल की हानि के बाद और अत्यन्त भयंकर परिस्थिति का सामना करते हुए नूरजहाँ अपने कुछ सैनिकों के साथ दूसरी ओर उतर गई और सम्राट् से जा मिली। आसफखाँ महाबत की प्रबल शक्ति से भयभीत होकर भाग निकला और अटक के किले में जा छिपा और वहाँ से विवश होकर उसने महाबतखाँ को सहायता देने का वचन दिया।

अपने इस प्रयास से महाबतखाँ ने सोचा था कि साम्राज्य के सब बड़े-बड़े अमीरों व सैनिकों पर अपना नियन्त्रण स्थापित करके वह राज्य का एकाकी शासक बन जाय। किन्तु नूरजहाँ की तीक्ष्ण युक्ति और चतुर कूटनीति ने उसके सब संकल्पों पर पानी फेर दिया। उसने धीरे-धीरे साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से बहुत से अमीरों को अपनी ओर तोड़ लिया और अन्य स्थानों से भी सेना एकत्र कर ली और

इस प्रकार अपनी शक्ति को प्रबल करके सम्राट् को महाबतखाँ के हाथों से मुक्त किया। सम्राट् ने महाबतख़ाँ को आज्ञा दी कि वह अपने सैनिकों की परेड एक दिन बंद रखे क्योंकि वह मल्का की सेना की परेड करना चाहता है। महाबतख़ाँ को आज्ञा हुई कि वह एक मंजिल आगे जाकर अपना शिविर लगाए। इसके बाद सम्राट् अपनी सेना के साथ आगे बढ़ता हुआ महाबतखाँ को मार्ग में पीछे छोड़कर रोहतास के किले तक जा पहुँचा। वहाँ पर समस्त अमीर व सैनिकों ने एक दरबार का आयोजन करके सम्राट् का स्वागत किया। अब महाबतखाँ को अनुभव हुआ कि उसका प्रयास सफल न हुआ। परन्तु महाबतखा ने इस सब घटना-चक्र के अंतर्गत सम्राट् का कभी भी अपमान नहीं किया था प्रत्युत वह उसके प्रति एक पूरे राजभक्त सेवक के सदृश व्यवहार करता रहा। अब सम्राट् ने उसे आज्ञा दी कि आसफ़ख़ाँ आदि अमीरों को रोहतास गढ़ के किले से मुक्त करके शाहजहाँ का पीछा करे। इन्हीं दिनों राजकुमार, परवेज़ और अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना की मृत्यु हो गई। शाहजहाँ सम्राट् की निर्बल अवस्था से लाभ उठाने के लिए सिन्ध पहुँचा था किन्तु कई कारणों से हताश होकर वह दक्षिण वापस लौटा। महाबतखाँ ने शाहजहाँ से मैत्री कर लेने में ही अपना श्रेय समझा और उससे पत्र द्वारा क्षमा-याचना की। शाहजहाँ ने उसकी क्षमा-याचना स्वीकार करके उसे अपने पास बुलाया और उसका बड़ा आदर किया।

इस परिस्थिति को देखकर नूरजहाँ फिर आशंकित हुई। वह इन लोगों का दमन करने की योजना करने लगी। किन्तु इसी समय जहाँगीर की २८ अक्तूबर १६२७ को मृत्यु हो गई। इस घटना से साम्राज्य की भावी परिस्थिति बिलकुल बदल गई।

**नूरजहाँ का चरित्र**—नूरजहाँ संसार की महान् स्त्रियों तथा महारानियों में एक अद्वितीय स्थान रखती है। उसमें प्रकृति ने शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक व कलात्मक आदि-आदि सभी गुणों का बड़ा सुन्दर व आकर्षक समन्वय किया था।

अपने रूप-लावण्य के लिए शैशव-काल से ही वह प्रसिद्ध हो चुकी थी। उसके अनेक गुण उसके जीवन के पूर्वार्द्ध में इसलिए प्रस्फुटित न हो सके कि उसका विवाह एक साधारण सेनानायक के साथ कर दिया गया था। ३४ वर्ष की आयु में उसका सम्राट् जहाँगीर के साथ विवाह हुआ और सम्राट् ने उसका नाम नूरमहल व तदनन्तर नूरजहाँ रखा। इन्हीं नामों से प्रमाणित होता है कि उसके रूप व शारीरिक कान्ति तथा अन्य गुणों का कितना गहरा प्रभाव जहाँगीर के चित्त पर पड़ा था। अनुपम रूपवती होने के साथ ही नूरजहाँ बड़ी बलिष्ठ, स्वस्थ तथा साहसी वीरांगना थी। एक कोमल सुकुमार युवती के गुणों के साथ-साथ उसमें एक शूरवीर सैनिक के गुण भी समान रूप से विद्यमान थे। तत्कालीन राजपूत वीरांगनाओं से उसकी तुलना इन अंशों में की जाए तो किसी प्रकार अत्युक्ति न होगी।

परन्तु मस्तिष्क की प्रतिभा तथा तीक्ष्ण बुद्धि व दूरगामी राजनीतिक दृष्टि नूरजहाँ में अद्वितीय थी। वह गहन से गहन राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी समस्या

तथा संकट में विचलित न होती थी। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हमें उस घटना में मिलता है जब कि अन्य अमीरों व सेनापतियों की असावधानी के कारण महाबत खाँ स्वयं सम्राट् को अपने अधिकार में कर लेने का दुस्साहस कर सका। जैसा हम देख चुके हैं, इस घोर संकट में यह सम्राज्ञी लेशमात्र भी न घबराई और ऐसी विलक्षण चतुराई से परिस्थिति को सँभाला कि अंत में शत्रु को मैदान छोड़कर भागना पड़ा और सम्राट् फिर निःशंक रूप से स्वतन्त्र हो गया।

मानव-चरित्र को समझने की शक्ति भी नूरजहाँ में पूरी मात्रा में थी। अपने संगी-साथियों तथा दरबार के विभिन्न राजकुमारों व अमीरों आदि की मानसिक प्रवृत्ति, उनके चरित्र तथा उनकी भावनाओं को वह भलीभाँति समझती थी। उसने यथासमय भाँप लिया था कि शाहजहाँ राजगद्दी पर अधिकार करने के लिए अत्यंत उत्सुक है और उसके लिए प्रयत्नशील है। महाबतखाँ के भावों को भी वह खूब समझती थी। इसी से उसने इन दोनों की शक्तियों को अधिक बढ़ने से रोकने की चेष्टा की थी। इस प्रयास में जो भूलें अथवा त्रुटियाँ नूरजहाँ ने एक नैतिक दृष्टि से कीं वह तत्कालीन परिस्थिति में स्वाभविक सी ही थीं। शासक के रूप में नूरजहाँ ने बड़ी उच्च योग्यता का परिचय दिया था। मुग़ल-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था अकबर ने ऐसी सुदृढ़ तथा स्थायी बुनियाद पर खड़ी कर दी थी कि उसमें कोई विशेष मौलिक संशोधन करना सम्भव न था। किन्तु उस संस्था का सुचारु रूप से प्रयोग करना और उसके द्वारा प्रजा-हित के कार्यों में योग देना ही एक कुशल शासक की योग्यता का परिचय देता है। नूरजहाँ ने अनेक सार्वजनिक कार्य सम्पन्न किए और दरिद्रों, असहाय व अनाथों, निस्सहाय कन्याओं व विधवाओं आदि के पालन-पोषण एवं शादी-विवाह के लिए बहुत बड़ी राजकीय सहायता देने का प्रचलन आरम्भ किया। इससे उसकी दानशीलता तथा सामाजिक उदारता का परिचय मिलता है।

कलाओं तथा शिल्प आदि ललित विद्याओं में भी नूरजहाँ बहुत निपुण थी। वह उच्चकोटि की कवयित्री थी और महलों को अनेक प्रकार से सुसज्जित व ललित करने में उसकी प्रतिभा बड़ी अनुपम थी। उसने बहुत ही सुन्दर वस्तुओं तथा अनेक प्रकार के भोजनों, सुगन्धियों व गहनों आदि के आविष्कार किए थे। उपर्युक्त विवरण से विदित होगा कि नूरजहाँ एक महान् गुणवती महिला थी जिसमें एक महारानी के लगभग सभी गुण-अवगुण विद्यमान थे। कारण कि इतने बड़े साम्राज्य की विधायक तथा व्यवस्थापक हो जाने पर उसका अधिकार-प्रेमी तथा महत्त्वाकांक्षी हो जाना कोई विचित्र बात न थी। उसकी एकाधिकार बनाए रखने की लालसा के कारण ही उसको अपने प्रतिस्पर्धियों से संघर्ष करना तथा अनेक संकटों में फँसना पड़ा। किन्तु इस प्रकार के महत्वाकांक्षी मनुष्य संकटों से घबराने के बजाय उनका आवाहन करते हैं। नूरजहाँ इसी कोटि के मनुष्यों में थी।

**सिंहावलोकन**—जहाँगीर के चरित्र का दिग्दर्शन हम आरम्भ में करा चुके हैं।

जैसा अनेक लेखकों ने कहा है, सामान्य दृष्टि से जहाँगीर अत्यन्त दयालुता व नम्रता और भावुकता तथा निर्दयता, क्रूरता तथा निःस्पृहता के परस्पर प्रतिकूल गुणों का संमिश्रण जान पड़ता है। बहुत हद तक यह बात सत्य भी है, क्योंकि अपने जन्मजात संस्कारों तथा शिक्षा व संस्कृति के उत्कृष्ट गुणों को अनियंत्रित महत्त्वाकांक्षा की बलिवेदी पर यह सम्राट् तो क्या सामान्य कोटि के मनुष्य भी न्योछावर करने में नहीं हिचकते। जहाँगीर की नृशंसता तभी प्रदर्शित होती थी जब कोई शक्ति अथवा मनुष्य उसकी राजनीतिक आकांक्षाओं में बाधक होता था। अन्यथा अपने सामान्य जीवन में वह एक बड़े उच्च, सुशिक्षित व बुद्धिमान् पुरुष के सदृश व्यवहार करता था। वह स्वयं विद्वान् था और विद्वानों तथा गुणवानों का उचित समादर करता था। चित्र-कला में उसकी विशेष रुचि थी। उसके संपोषण में मुग़लकालीन चित्रकला की बहुत उन्नति हुई। महलों तथा भवनों के निर्माण में भी जहाँगीर की काफी रुचि थी। अपने पिता के मकबरे को जो उसके समय में पूरा न हो सका था, जहाँगीर ने ही पूरा कराया था। किन्तु इस दिशा में नूरजहाँ की रुचि एवं प्रतिभा बहुत ऊँची थी। उसी के निर्देशन तथा संरक्षण में उसके पिता ऐतमादुद्दौला तथा जहाँगीर के मकबरों का निर्माण हुआ था।

राजनीतिक दृष्टि से जहाँगीर के शासन को सामान्य कोटि का ही कहा जा सकता है। विलासप्रिय होने तथा कई कारणों से जहाँगीर साम्राज्य-विस्तार करने में बिलकुल सफल न हुआ बल्कि दक्षिण प्रदेश के जीते हुए भाग भी उसके सैनिकों के परस्पर कलह के कारण मुग़ल-साम्राज्य से छिन गए। यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँगीर बहुत से उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न होते हुए भी अपने पिता के महान् कार्य तथा सफल साम्राज्य-रूपी वृक्ष के फलों का उपभोग करता रहा किन्तु उसको किसी प्रकार से भी अधिक संवृद्ध न कर सका।

बत्तीस

# उत्तरार्द्ध : शाहजहं का शासन और संस्थाएं

**राजगद्दी के लिए संघर्ष**—जहाँगीर के अन्तिम दिनों में यह निश्चित-सा हो गया था कि उसका उत्तराधिकारी शाहजहाँ ही होगा और वही अन्य सब राजकुमारों में योग्यतम था। शहरयार के कुछ सहायक शाहजहाँ का विरोध करने को उद्यत थे और शाहजहाँ राजधानी से बहुत दूर दक्षिण में था। अतएव आसफखाँ ने, जो शाहजहाँ का श्वसुर था, एक सन्देशवाहक को जल्दी से भेजकर शाहजहाँ को सम्राट् के मरने की सूचना दे दी। शाहजहाँ के पहुँचने तक उसने राजकुमार खुसरू के बेटे दावरबख्श को कैद से निकालकर गद्दी पर बिठला दिया ताकि शहरयार उस पर अधिकार न कर सके। इसके बाद सम्राट् के शव को लाहौर के निकट शहादरा में लाया गया और एक विस्तृत वाटिका में दफ़न किया गया। नूरजहाँ ने उस पर एक अत्यन्त सुन्दर मकबरा बनवाया। परन्तु राजगद्दी का निबटारा आसानी से न हो पाया। नूरजहाँ के उत्तेजित करने पर शहरयार ने लाहौर में अपने को सम्राट् घोषित कर दिया। किन्तु आसफखाँ ने लाहौर पर चढ़ाई कर दी। शहरयार उसका मुकाबला न कर सका। आसफखाँ ने उसको पकड़कर अन्धा कर दिया और जेलखाने में बन्द कर दिया। शाहजहाँ सूचना पाते ही उत्तर की ओर शीघ्रता से चला और आसफखाँ को रास्ते से ही उसने एव फ़रमान भेजा कि उसके समस्त शत्रु मार डाले जाएँ। आसफखाँ ने इस आज्ञा का अक्षरशः पालन किया और शाहजहाँ के समस्त प्रतिस्पर्धियों को मरवा डाला। शाहजहाँ का मार्ग इस प्रकार प्रशस्त हो गया और २४ जनवरी १६२८ को वह निःशंक होकर सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। स्वाभाविक ही था कि आसफ़खाँ को उसकी सहायता तथा सेवाओं के लिए उचित रूप से समादृत किया जाता। उसे यमीनुद्दौला की उपाधि प्रदान की गई और उसका मनसब ८,००० जात व सवार कर दिया गया। इस समय आसफ़खाँ का गौरव तथा आतंक सर्वोपरि हो गया था।

**शाहजहाँ के युग का मूल्यांकन**—शाहजहाँ ने ३० वर्ष राज्य किया। आधुनिक इतिहास-लेखकों ने उसके राजत्वकाल को मुग़ल-युग का स्वर्ण-युग बतलाया है। किन्तु इस विषय के प्रत्येक पहलू पर विचार करने पर उपर्युक्त मत से सहमत होना कठिन जान पड़ता है। पिछले अध्याय में हम कह आए हैं कि जहाँगीर ने साम्राज्य के विस्तार, शासन-व्यवस्था के सुधार तथा प्रजा की सुख-सम्पन्नता में कोई वृद्धि नहीं

की। जो परिपाटी तथा शासन-व्यवस्था अकबर के समय में जड़ पकड़ गई थी वही उसके उत्तराधिकारियों के समय में प्रचलित रहीं। अकबर की उदार नीति का प्रतिकार जहाँगीर ने ही आरम्भ कर दिया था। इसका निर्देश भी किया जा चुका है। शाहजहाँ के राजत्व-काल के पूर्वार्ध में साम्राज्य में वही शान्ति तथा सुरक्षित अवस्था बनी रही क्योंकि उसमें एकाएक कोई अद्भुत परिवर्तन, उत्कर्ष अथवा अपकर्ष न हो सकता था। अपने राज्य के पहले १०-१५ वर्षों में शाहजहाँ ने बड़ी तत्परता तथा उत्साह से कार्य किया किन्तु उसके बाद सम्राट् की शक्ति क्षीण होने लगी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि शासन-कार्य का पतन होने लगा। इस दृष्टि से भी शाहजहाँ के युग को स्वर्ण-युग कहना उपयुक्त होगा। इसके अतिरिक्त उसके अनेक राजभवनों को देखकर जिन पर जनता की गाढ़ी कमाई का एक बहुत बड़ा भाग उस सम्राट् ने बेदर्दी से व्यय कर डाला था, प्रायः आधुनिक लेखक उसके राजत्व-काल को स्वर्ण-युग कहने लगते हैं और उसके इन्हीं कृत्यों को जनता की सम्पन्नता का मापदण्ड समझते हैं। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय न समझ लेना चाहिए कि उस समय सर्वसाधारण प्रजा को किसी प्रकार अपनी दैनिक आवश्यकताओं की कमी थी। किन्तु सामान्य जनता का अपनी आवश्यकताओं के परिमित होने के कारण सुख से जीवन व्यतीत करना एक बात है और ऐसे समय को स्वर्ण-युग कहना दूसरी बात। यदि हम कला व संस्कृति के उत्कर्ष की दृष्टि से भी देखें तो भी इस युग को स्वर्ण-युग कहना युक्ति-संगत न होगा। कला व साहित्य के क्षेत्र में भी वह प्रांजल व तेजस्वी उत्कर्ष जो अकबर के समय में हुआ, उसके समन्वयात्मक उच्चादर्श तथा मानवता के स्थान पर केवल बाह्य आडम्बर व आदर्शहीन शारीरिक सौन्दर्य का व्यापक साम्राज्य इस युग में दीख पड़ता है।

**शाहजहाँ का प्रारम्भिक जीवन**—शाहजहाँ ५ जनवरी सन् १५९२ को लाहौर में जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह की बेटी मानमती (उपनाम जोधबाई) के उदर से उत्पन्न हुआ था। जहाँगीर की माता भारमल की पुत्री थी। इस प्रकार शाहजहाँ के शरीर में तीन-चौथाई राजपूत रक्त था और एक-चौथाई तुर्क। तथापि यह देखा गया है कि जितने मुसलमान हिन्दू माताओं से पैदा होते हैं वे उतने ही अधिक कट्टर तथा सहिष्णु होते हैं। जहाँगीर ने कई अवसरों पर कट्टरपन का प्रमाण दिया था। शाहजहाँ उससे बहुत आगे बढ़ गया था। उसने खुले-आम हिन्दुओं के प्रति कठोरता का व्यवहार करना और बड़े-बड़े देवालयों को तोड़ना शुरू कर दिया था। औरंगज़ेब की नीति तो अपने इन पूर्वजों की नीति का केवल अन्तिम चरण थी।

शाहजहाँ आरम्भ से ही एक बड़ा कर्मठ राजकुमार था। उसकी बुद्धि तथा स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी किन्तु वह विशेष व्यसनी नहीं था। उसे युद्ध-कला तथा घुड़सवारी आदि में अधिक रुचि थी। वह जहाँगीर का दूसरा पुत्र था। जब उसके बड़े भाई खुसरू के विद्रोह को दमन करने के लिए जहाँगीर को उसका पीछा करते हुए पंजाब की तरफ जाना पड़ा तो वह राजकुमार खुर्रम को राजधानी की रक्षा

का कार्य सौंपा गया। उसकी सहायता के लिए एक राजप्रतिनिधि-मंडल नियुक्त किया गया। यह पहला अवसर था जब कि नवयुवक राजकुमार खुर्रम को एक राजनीतिक भार सौंपा गया था। अभी वह लगभग १५ वर्ष का भी न हुआ था कि उसको आठ हजारी ज़ात और पाँच हज़ार सवार का मनसबदार बना दिया गया। उसी वर्ष आसफ़खाँ की बेटी अर्जुमन्द बानू बेगम से उसका सम्बन्ध निश्चय हुआ जो भविष्य में मुमताज़महल के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी समय खुर्रम को हिसार फ़ीरोजा सरकार जागीर में दी गई। सन् १६०६ में एक और शाहज़ादी से, जो कि फ़ारस के शाही खानदान की थी, खुर्रम की सगाई हुई और १६१० में शादी हो गई परन्तु नूरजहाँ के भाई खानखाना आसफ़खाँ की बेटी मुमताज़महल से उसका विवाह १६१२ में सम्पन्न हुआ। शाहजहाँ का तीसरा विवाह अब्दुर्रहीम खानखाना के लड़के शाहनवाज़खाँ की लड़की से १६१७ में हुआ। शाहजहाँ की समस्त सन्तानें मुमताज़ से ही उत्पन्न हुईं। इनमें सबसे प्रसिद्ध दो लड़कियाँ अर्थात् जहाँनारा बेगम जो सबसे बड़ी थी और रोशनारा बेगम तथा चार लड़के क्रमशः दाराशिकोह, शुजा, औरंगज़ेब और मुरादबख़्श थे।

खुर्रम युवावस्था में बड़ा योग्य तथा गुणवान् राजकुमार था। राजकुमार खुसरू के ह्रास के बाद अपने अन्य भाइयों की तुलना में वह हर प्रकार से उनसे उत्कृष्ट था। उसमें कर्तव्यनिष्ठा, शौर्य आदि क्षत्रियोचित गुण काफी मात्रा में पाए जाते थे। जैसा जहाँगीर के वर्णन में देख आए हैं, शाहजहाँ ने १६१४ में ही जबकि वह केवल २२ वर्ष का नवयुवक था, मेवाड़ के रणक्षेत्र में बड़ी कीर्ति उपार्जित की। इसके बाद उसको दक्षिण का सैन्य-संचालन दिया गया। इन क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष में शाहजहाँ को सम्राट् ने तीस हज़ारी ज़ात व बीस हजार सवार का अद्वितीय मनसब प्रदान किया और कई लाख की जागीरें तथा नकद रुपये भी उसे दिए गए। इसके बाद उसे १६१८ में गुजरात प्रान्त का सूबेदार नियुक्त किया गया। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में शाहजहाँ और नूरजहाँ के परस्पर संघर्ष के कारण जो घटनाएँ हुईं उनका विवरण दिया जा चुका है। इस संकट को पार करके शाहजहाँ १६२८ में सिंहासन पर बैठा। इस समय उसका कोई विरोधी बाकी न रहा था। जैसा कि हम कह चुके हैं लगभग सभी लेखकों ने शाहजहाँ के युग को मुग़ल-काल का स्वर्ण-युग अर्थात् श्री व सम्पत्ति आदि से भरपूर बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि महान् अकबर ने जो सुव्यस्थित शासन-संस्था उत्तर भारत में स्थापित कर दी थी उसके परिणाम-स्वरूप मुग़ल राज्यकोष धन-धान्य से भरपूर था। इसका चमत्कार विशेष रूप से शाहजहाँ के राजतिलक के समय प्रदर्शित किया गया। जान पड़ता है कि उसके युग को स्वर्ण-युग कहने का भ्रम इतिहासज्ञों को उसकी इस विपुल सम्पत्ति से ही हुआ है। इस अवसर पर शाहजहाँ ने सरकारी कोष को जी खोलकर लुटाया। सबसे पहले महारानी मुमताज़महल को २ लाख अशर्फी और ६ लाख रुपए तथा १ लाख अशर्फी वार्षिक शुल्क की भेंट की गईं। जहाँनारा को १ लाख अशर्फी,

४ लाख रुपए और ६ लाख रुपए की वार्षिक वृत्ति भेंट की गई। ८ लाख रुपए राजकुमारों तथा राजघराने के अन्य लोगों को दिए गए। इसी प्रकार बड़े-बड़े इनाम-इकराम दरबारियों, अमीरों, विद्वानों, कवियों, चित्रकारों, ज्योतिषियों, सूफी सन्तों आदि को बाँटे गए। अमीरों में सबसे बड़ा मान आसफ़खाँ का किया गया और उसको सम्राट् के चरण-चुम्बन का विशेष श्रेय प्रदान किया गया तथा साम्राज्य का वकील अर्थात् मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया।

**कुछ सामान्य राजनीतिक घटनाएँ**—शाहजहाँ के शासन के आरंभ में ही कुछ विद्रोह हुए, जिनके नेता मुग़ल सम्राटों के अधीन अधिकारियों में से ही थे।

**खाँजहाँ लोदी का विद्रोह**—खाँजहाँ एक अफ़ग़ान वंश का अमीर था, जो अपनी सेवाओं के कारण जहाँगीर के समय में उच्च पद प्राप्त कर चुका था। वह पहले गुजरात का सूबेदार था और फिर महाबतखाँ के परामर्श से नूरजहाँ ने उसे दक्षिण का सूबेदार बना दिया था। अफ़ग़ानों और मुग़लों का प्राचीन वैर चला आता था। यद्यपि खाँजहाँ मुग़लों का नमकख़्वार रह चुका था तो भी उसके हृदय से अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की आकांक्षा शान्त न हुई थी। जहाँगीर की मृत्यु के समय उसने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का सुअवसर समझा और अहमदनगर के निज़ामशाह को बालाघाट का इलाका बेचकर एक बड़ी सेना एकत्र की, और मालवे पर चढ़ाई करने की तैयारी की। परन्तु इस अवकाश में शाहजहाँ अपने सब विरोधियों का दमन करके सम्राट् बन चुका था। इस परिस्थिति से खाँजहाँ की हिम्मत टूट गई और उसने सम्राट् से क्षमा-याचना की। शाहजहाँ ने उसे क्षमा करके एक बार फिर दक्षिण प्रदेश का शासक बना दिया। उसे आज्ञा हुई कि बालाघाट को निज़ामशाह से वापस ले ले किन्तु उसने इसका कोई प्रयत्न न किया क्योंकि आन्तरिक रूप से उसकी विद्रोह प्रवृत्ति वैसी ही बनी हुई थी। यह देखकर शाहजहाँ ने उसे वापस दरबार में बुला लिया और महाबतखाँ को दक्षिण का शासन सुपुर्द किया। कुछ दिन दरबार में बेकार रहने के उपरान्त खाँजहाँ शंकित हो उठा और अपने परिवार-सहित चुपके से भागकर बुन्देलखण्ड चला गया। वहाँ पर मराठों तथा दक्षिण के सुलतानों से मिलकर वह संकटमय परिस्थिति उत्पन्न कर सकता था। इस आशंका से शाहजहाँ ने तुरत इस कंटक का दमन करने की चेष्टा की। एक शाही सेना खाँजहाँ का पीछा करने के लिए भेजी गई किन्तु खाँजहाँ जान बचाकर दक्षिण भाग गया। शाही सेना ने वहाँ भी उसका पीछा किया और कई स्थानों पर उसे परास्त किया। इन युद्धों में उसके बहुत-से सहायक सम्बन्धी नष्ट हुए। अन्त में वह भी अपने पुत्र-सहित लड़ता हुआ कालंजर के पास मारा गया और इस प्रकार उसका विद्रोह समाप्त हुआ।

**बुन्देलों का विद्रोह**—वीरसिंह बुन्देला जहाँगीर का परम प्रिय तथा कृपापात्र था क्योंकि उसने राजकुमार जहाँगीर के शत्रु अबुलफ़ज़ल का वध किया था। वीरसिंह का पुत्र जुझारसिंह १६२७ में अपने पिता की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी बना। वह स्वयं शाहजहाँ के दरबार में चला आया और बुन्देलखण्ड का शासन अपने नव-

युवक पुत्र विक्रमादित्य को सौंप दिया। इस अनुभवहीन नवयुवक ने अपने कड़े व्यवहार से शाही अफसरों को बहुत असंतुष्ट कर दिया। इसका प्रभाव सम्राट् के ऊपर अच्छा न हुआ। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ ने कुछ दिन बाद आज्ञा दी कि जो धन जुझारसिंह के पिता ने जहाँगीर के समय में अनुचित रीति से एकत्र किया था उसकी जाँच-पड़ताल की जाए। इससे अपमानित एवं आशंकित होकर जुझारसिंह आगरे से भाग निकला और ओरछा पहुँचकर युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। सम्राट् ने महाबतखाँ को उसके विरुद्ध भेजा। जुझारसिंह परास्त हुआ और निम्नलिखित शर्तों पर उसे क्षमा कर दिया गया—युद्ध के व्यय के हर्जाने के रूप में उसे बहुत बड़ी रकम देनी पड़ी और दक्षिण की चढ़ाई पर २,००० घुड़सवार व २,००० प्यादों की सेना लेकर बादशाह की ओर से जाना पड़ा।

इस दमन-नीति से बुन्देला वीर का विद्रोह स्थायी रूप से शान्त न हो सकता था और न हुआ। कुछ समय बाद वह दक्षिण से लौट आया और फिर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उसने गढ़ कटंगा का चौरागढ़ दुर्ग उसके शासक वीरनारायण से छीन लिया। वीरनारायण ने सम्राट् से फ़रियाद की। इस पर उसे आज्ञा दी गई कि जीता हुआ दुर्ग सरकारी अफसरों को सुपुर्द कर दे और लूट के माल में से दस लाख शाही कोष में जमा करे। जुझारसिंह ने इस आज्ञा को न माना। तब सम्राट् ने औरंगज़ेब को २०,००० सेना के साथ उसके विरुद्ध भेजा। जुझार भयभीत हो गया और ओरछा के किले व महलों को छोड़कर सपरिवार धमनी के किले में जा छिपा। जब शाही सेना धमनी के निकट पहुँची तो जुझार ने उस किले को उजाड़ डाला और चौरागढ़ के किले में जा रहा। वहाँ से भी खदेड़ा जाने पर उस दुर्ग को नष्ट करके वह अपने परिवार तथा सामान-सहित दक्षिण की तरफ भागा। मुग़ल सेना ने उसका पीछा किया और आ दबाया। तब जुझार और उसके बेटे विक्रमादित्य ने अपनी कई स्त्रियों को कत्ल कर डाला और जी तोड़कर मुग़ल सेना पर टूट पड़े, परन्तु अन्त में फिर हारकर भागे। पर मुग़ल सेना ने उनको फिर आ घेरा और उसके बहुत से सैनिकों व सम्बन्धियों को काट डाला और बहुतों को बन्दी कर लिया। जुझार और विक्रमादित्य गौंड़ देश के जंगलों में जा छिपे। पर गौंड़ उनके शत्रु थे। उन्होंने इनको पकड़कर बड़ी निर्दयता से मारा। तब खानेखानान महाबतखाँ ने उन दोनों के सर काटकर सम्राट् के पास भिजवा दिए। सम्राट् की आज्ञा से इनको सेहोर के द्वारों पर लटकवा दिया। इसी चढ़ाई के अन्तर्गत शाही सेना ने चाँदा के किले को उसके गौंड़ जमींदार से और झाँसी के दुर्ग को भी अधिकृत कर लिया।

**शाहजहाँ की संकीर्णता व नृशंसता**—बुन्देलों के विरोध से शाहजहाँ को अपनी संकीर्णता प्रदर्शन करने का पूरा बहना मिल गया। जुझारसिंह का एक लड़का और एक पोता, जो मुग़लों के हाथ पड़ गए थे, बलात् मुसलमान बनाए गए। जुझार के दो और बेटे उदयभान और श्यामदेव भागकर दक्षिण चले गए थे। वहाँ कुतुबशाह ने

उन्हें पकड़वाकर सम्राट् के पास भेज दिया। उन दोनों से कहा गया कि मुसलमान बन जाएँ अन्यथा फाँसी पर चढ़ाए जाएँगे। उन्होंने धर्मत्याग करने की अपेक्षा मौत का आवाहन किया और कत्ल कर दिए गए। जुझारसिंह की रानियाँ जो पकड़ी गई थीं उनको शाही महल में बाँदियों का काम करने को रखा गया। इस प्रकार शाहजहाँ ने अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करके उस अमानुषिक नीति को प्रचलित किया जिसे बाद में औरंगज़ेब ने पराकाष्ठा को पहुँचाया। बुन्देलखण्ड के मन्दिर भी नष्ट किए गए।

**चम्पतराय का विद्रोह**—जुझारसिंह बुन्देलखण्ड का सबसे बड़ा सरदार था किन्तु बुन्देलखण्ड में और भी वीर ऐसे थे जो किसी का आधिपत्य मानने को तैयार न थे। इसमें महोबे का चम्पतराय सर्वोच्च था। १६३९ में उसने मुग़ल भूमि में इतनी लूट-पाट आरम्भ की कि दक्षिण के मार्ग बड़े अरक्षित हो गए। महोबे की समस्त जनता का सहयोग उसे प्राप्त था। कुछ दिन बाद वीरसिंहदेव के बेटे प्रह्लादसिंह के बीच में पड़ने से चम्पतराय तो चुप हो बैठा, किन्तु उसके बेटे प्रसिद्ध छत्रसाल ने औरंगज़ेब के काल में मुग़लों के नाकोंदम कर दिया।

उसी वर्ष नूरपुर मऊ के ज़मींदार, जगतसिंह के पुत्र राजरूप ने भी विद्रोह आरम्भ किया। तीन वर्ष की निरन्तर कोशिश के बाद उससे सुलह हुई और उसे क्षमा कर दिया गया।

**पुर्तगाली लुटेरों का मर्दन**—पुर्तगाली सौदागरों की बस्तियाँ पूर्वी बंगाल में भी स्थापित हो गई थीं। मुग़ल सम्राट् से उन्होंने १०,००० रुपया वार्षिक लैसन्स फीस के बदले में नमक के व्यापार का ठेका ले रखा था। पुर्तगाली रोमन कैथलिक ईसाई थे और व्यापार के साथ ही अपने मत का प्रचार करने में वे हर प्रकार के उपाय करने से न चूकते थे। धीरे-धीरे उन्होंने इतनी धृष्टता करनी शुरू की कि वे दरिया के रास्ते से सैकड़ों मील तक देश में घुसकर गाँवों की जनता को पकड़ ले जाते और फिर उनको मेलों इत्यादि के अवसर पर उनके सम्बन्धियों को बेचते थे। बेचारे घरवालों को अपने दुखी माँ-बापों को इन आततायियों से छुड़ाने के लिए बहुत सा पैसा देना पड़ता था।

स्थानीय पदाधिकारियों ने इन लोगों को रोकने की विशेष चेष्टा न की थी। अतः सम्राट् को उनके दमन करने के लिए आवश्यक कार्रवाई करनी पड़ी। पुर्तगाली लोग, विशेषकर चटगाँव के फिरंगी, लूट-मार ही नहीं करते थे वरन् लोगों को पकड़कर बलात् ईसाई बनाते थे और अपने कार्य पर बड़ा घमण्ड करते थे। शाही सेना को इनसे काफी संघर्ष करना पड़ा। अन्त में वे परास्त हुए और बहुत से मारे गए अथवा दरिया में डुबा दिए गए। जो बचे वे बन्दी बना लिए गए। उनके लगभग १०,००० आदमी मारे गए और लगभग ४५०० मर्द व औरत ईसाई पकड़े गए और १०,००० के करीब हिन्दुस्तानी जिन्हें इन लोगों ने बन्दी बनाकर रखा था, मुक्त किए गए। ईसाई बन्दियों को मुसलमान मत स्वीकार करने पर विवश किया और उनके

देवताओं की मूर्तियों को जमना में फिकवा दिया गया। जिन्होंने मुसलमान बनने से इनकार किया उनका वध कर दिया गया।

**साम्राज्य के दक्षिण में विस्तार का आरम्भ**—दक्षिण प्रदेशों पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास अकबर ने ही आरंभ कर दिया था। इसका विस्तृत वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। १५९९ में अकबर ने खानदेश को अधिकृत किया और १६०१ में असीरगढ़ पर कब्ज़ा किया। उसने निज़ामशाही राज्य से बरार प्रदेश भी ले लिया था। जहाँगीर के समय में राज्य-विस्तार में कोई उन्नति न हुई। इस घटना-क्रम में मलिक अम्बर के महत्त्वपूर्ण कार्य का विवरण भी दिया जा चुका है। मुग़ल साम्राज्य का विस्तार उन दिनों शाहज़ादों तथा उनके सैनिकों के परस्पर कलह व दलबन्दियों के कारण ही रुक गया था। एक समय ऐसा भी आया जब कि स्वयं शाहजहाँ को मलिक अम्बर की सुरक्षा में शरण लेनी पड़ी थी। स्वयं शाहजहाँ के राज्य के आरंभ में खाँजहाँ लोदी व जुझारसिंह आदि के विद्रोहों से उपर्युक्त परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। राजगद्दी पर बैठते ही शाहजहाँ ने बड़ी तत्परता से दक्षिण की समस्या पर ध्यान दिया और अकबर की साम्राज्य-विस्तार-नीति को पूरा करने के लिए सचेष्ट हुआ। इस समय दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा की विस्तीर्ण किन्तु पतनशील रियासतें मौजूद थीं जिनको जीतकर साम्राज्य में मिला लेना मुग़लों की प्राचीन नीति चली आई थी। इन तीनों के उत्तर में मुग़ल सीमा से लगता हुआ अहमदनगर राज्य था। इस राज्य की बागडोर इस समय मलिक अम्बर के अयोग्य तथा विश्वासघाती बेटे फतहखाँ के हाथों में थी। जहाँगीर के अंतिम दिनों में जो अव्यवस्था राज्य में उत्पन्न हो गई थी उससे लाभ उठाकर निज़ामशाह मुर्तजा द्वितीय ने अपने लगभग सभी प्रदेशों को मुग़ल अधिकार से वापस ले लिया था। अतएव शाहजहाँ को अहमदनगर पर आक्रमण करने का पर्याप्त बहाना मिल गया। उसने अपने सेनापति आज़मखाँ को अहमदनगर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। उसने धारू और कंधार के किले फिर से ले लिए। उत्तरी साम्राज्य की इस विस्तारमयी भयानक नीति से दक्षिण के सभी राज्य भयभीत थे। अतएव बीजापुर और अहमदनगर ने मुग़लों से अपनी रक्षा करने के हेतु परस्पर सहायता करने के लिए संधि कर ली और अपने कुछ प्रदेशों को बचा लिया। परिणाम यह हुआ कि मुग़ल सेना ने निज़ामशाही राज्य को तहस-नहस कर डाला और उसकी समस्त जनता को ध्वस्त कर देने की धमकी दी। अहमदनगर के विरुद्ध मुग़ल सेना की सफलता का एक बड़ा कारण यह था कि उसके उच्चाधिकारियों में बड़ी दलबन्दी तथा वैमनस्य पैदा हो गया था। एक दल का नेता फतहखाँ था जिसे मुग़लों से मिल जाने के कारण कैद कर दिया गया किन्तु परिस्थिति से विवश होकर मुर्तजाखाँ को उसे छोड़ देना पड़ा था। दूसरे दल का नेता मुकर्रबखाँ था। जब फतहखाँ को बन्दीगृह से छोड़कर वकील और पेशवा नियुक्त कर दिया गया तो मुकर्रबखाँ शत्रु से जा

मिला। किन्तु कृतघ्न फतहखाँ ने मुग़लों से रिश्वत की आशा में अपने स्वामी मुर्तजा खाँ को क़ैद करके मुग़ल सेनापति को सूचित कर दिया और इससे उस श्रेष्ठ कार्य के लिए कुछ पारितोषिक की आशा की। फिर मुग़ल सेनापति के इशारे पर उसने निज़ामशाह को मरवा डाला और उसके दस बरस के बेटे को राजगद्दी पर बिठला दिया और अपनी इन करतूतों की सूचना मुग़ल सम्राट् को भेज दी। फिर कुछ समय तक आना-कानी करने के बाद अन्त में पिछले निज़ामशाह के माल-असबाब तथा बहुत-से जवाहरात व हाथी-घोड़े आदि सम्राट् को भेंट में भेज दिए और अहमदनगर में शाहजहाँ के नाम का खुत्बा पढ़वाया तथा उसके सिक्के जारी किए। इस विद्रोही के विश्वासघात के कारण शाहजहाँ को पूरी सफलता हुई और अहमदनगर राज्य तथा निज़ामशाही वंश नष्टप्राय हो गए। इसके बाद शाहजहाँ ने राजधानी की ओर प्रस्थान किया।

**दक्षिण में घोर दुर्भिक्ष तथा मुमताजमहल की मृत्यु**—जब शाहजहाँ को उपर्युक्त सफलता की प्रसन्नता हो रही थी उसी समय इसको विह्वल करनेवाली दो घोर संकटमय घटनाएँ हुईं। दक्षिण के कुछ प्रदेशों में इस समय एक भारी अकाल पड़ा क्योंकि वहाँ दो वर्ष तक बराबर बारिश नहीं हुई थी। स्मिथ आदि आधुनिक लेखकों ने यह भ्रम प्रचलित किया है कि यह अकाल समस्त दक्षिण और गुजरात पर फैल गया था। किन्तु पहले वर्ष में यह केवल बालाघाट और दौलताबाद के आस-पास की भूमि तक ही परिमित था। अगले वर्ष फिर सूखा पड़ जाने के कारण अहमदाबाद, सूरत तथा बुरहानपुर को भी इस संकट ने घेरा। अहमदाबाद के आस-पास इसका सबसे अधिक प्रकोप हुआ। इसी कारण सम्राट् ने अहमदाबाद और उसके निकटवर्ती स्थानों में पीड़ितों की सहायता करने तथा भूखे और गरीबों के लिए लंगर खुलवाए। किन्तु अहमदाबाद से केवल ८० मील पूरब की तरफ चांपानेर दुर्भिक्ष से पीड़ित नहीं हुआ था। सूरत और बुरहानपुर के बीच के प्रदेश भी उससे बरी थे और इन्हीं स्थानों से खाने-पीने का सामान मँगवाकर सम्राट् ने पीड़ितों की रक्षा की थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस कार्य में सम्राट् की ओर से कुछ देर हो जाने के कारण अकाल-पीड़ितों को बहुत कष्ट हुए और बहुत-से भूख के कारण मर गए। परन्तु स्मिथ आदि का यह कथन कि लोगों ने कुत्ते-बिल्लियों का माँस तथा अपने बच्चों को मार-मारकर खाना शुरू कर दिया था, सर्वथा निराधार है। इस दुर्भिक्ष से शाहजहाँ की सेना को भी रसद की कमी हो गई। उसके उत्तर की तरफ लौट आने का एक यह भी कारण था।

**मुमताजमहल की मृत्यु**—इसी समय १६३१ में शाहजहाँ की अत्यन्त प्रिय महारानी मुमताजमहल की प्रसव में मृत्यु हो गई। मुमताजमहल ने शाहजहाँ के साथ विवाहित जीवन के १९ वर्ष व्यतीत किए। इस अवकाश में वे दोनों अत्यन्त सुख से रहे। मुमताजमहल से शाहजहाँ के ८ लड़के और ६ लड़कियाँ हुईं। शाहजहाँ उसकी मृत्यु से घोर शोकातुर तथा व्याकुल हुआ और २ वर्ष तक उसने उसकी याद

में हर प्रकार के भोग-विलास से अपने को वंचित रखा। यद्यपि वह उसके बाद ३५ वर्ष और जीवित रहा, एक प्रकार से उसका सारा जीवन अन्धकारमय हो गया और जीवन के सभी आनन्द उसे फीके जान पड़े। अपनी प्रेमिका के प्रति प्रेम-प्रदर्शित करने के लिए उसने जगत्प्रसिद्ध ताजमहल नामक मक़बरा उसकी कब्र के ऊपर आगरे में बनवाया। इस दुर्घटना के कारण भी शाहजहाँ दक्षिण को छोड़कर राजधानी वापस चला आया।

**दक्षिण में फिर अशान्ति**—उपर्युक्त दक्षिण सम्बन्धी घटनाओं के बाद दौलताबाद में नए झगड़े शुरू हुए। शाहजी भोंसले ने बीजापुर के सुलतान की नौकरी करली थी। उसे मुग़लों ने एक जागीर दी थी जिसपर फतहख़ाँ भी दाबा करता था। अतएव शाहजी ने फ़तहख़ाँ को जो दौलताबाद में था, घेरने की तैयारी की। फ़तहख़ाँ ने मुगल सेनापति महाबतख़ाँ से शाहजी के विरुद्ध सहायता माँगी और उसे यह प्रलोभन दिया कि यदि वह शाहजी के आने से पहले पहुँच जाएगा तो वह (फ़तहख़ाँ) दौलताबाद का क़िला उसके सुपुर्द कर देगा और स्वयं सम्राट् के दरबार में चला जाएगा। ख़ानेख़ानान महाबतख़ाँ ने तुरन्त अपने बेटे ख़ानेज़मान को एक सेना के साथ आगे भेजा और स्वयं बहुत जल्दी उस तरफ गया। मार्च सन् १६३३ के पहले सप्ताह में वह दौलताबाद पहुँच गया था किन्तु उसके पहुँचने से पहले ही शाहजी की सेना को ख़ानेज़मान परास्त कर चुका था। इस परिस्थिति में शाहजी और बीजापुरी सेना ने फ़तहख़ाँ से सन्धि की बातचीत आरम्भ की और उसे यह प्रलोभन दिया कि वे उसे न छेड़ेंगे और साथ ही ३ लाख पगोड़ा (एक सोने का सिक्का जो ४ रुपये के बराबर होता था) भेंट करेंगे। फतहख़ाँ इस लालच में फँस गया और मुगलों से सम्बन्ध तोड़कर शाहजी से मिल गया। इस विश्वासघात की सूचना पाते ही महाबतख़ाँ ने ख़ानेज़मान को आज्ञा दी कि आगे बढ़कर फौरन दौलताबाद के क़िले को फतहख़ाँ से छीन ले। जब फतहख़ाँ ने देखा कि मुगल सेना से वह क़िले को बचा न सकेगा, वह फिर पलट गया और अपने अपराध को छिपाने के लिए आदिलखानी सेना और शाहजी को ज़िम्मेवार ठहराया। उसने अपने बेटे को ख़ानेख़ानान के पास भेजा और क्षमा माँगी। ख़ानेख़ानान ने उसके बेटे को ज़मानत के तौर पर अपने अधिकार में रखा और उसे आज्ञा दे दी कि वह अपने तथा निज़ाम के परिवार को आवश्यक सामग्री सहित क़िले से निकालकर ले जाए। यह तैयारी करके फतहख़ाँ ने किले की चाबियाँ ख़ानेख़ानान के पास भेज दीं। इस प्रकार बिना लड़ाई किए हुए दौलताबाद के क़िले पर अधिकार करके ख़ानेख़ानान ने उसके अन्दर सम्राट् का नाम ख़ुत्बे में पढ़वाया। नवयुवक निज़ामशाह को क़ैद करके ग्वालियर के क़िले में भेज दिया गया और विश्वासघाती फतहख़ाँ क्षमा करके सम्राट् के नौकरों में भर्ती किया गया। उसके इस विश्वासघात के लिए उसे २ लाख रुपए तथा अन्य वस्तुएँ भेंट की गईं किन्तु निज़ामशाह की सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर

ली गई। यह घटना १६३३ के सितम्बर मास में हुई। इस प्रकार निज़ामशाही वंश तथा अहमदनगर राज्य का अन्त हुआ।

**शाहजी की निज़ामशाही को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा**—उपर्युक्त घटना से विदित होता है कि निज़ामशाही वंश सर्वथा विलुप्त हो गया था तथापि निज़ामशाही और आदिलशाही के सैनिक तथा जागीरदारों ने हिम्मत न तोड़ी और दक्षिण की स्वाधीनता को फिर से कायम रखने का भरसक प्रयत्न किया। इन सैनिकों में सबसे अधिक सक्रिय तथा जागरूक शाहजी था। उसने तुरन्त निज़ामशाही वंश के एक बालक को उत्तराधिकारी घोषित करके अहमदनगर और बीजापुर आदि दक्षिण की समस्त सेनाओं को आमंत्रित किया कि वे उसकी सहायता करें। किन्तु शाहजी की छोटी-सी शक्ति भारी मुग़ल सेना के सामने न ठहर सकी और उसे जान बचाने के लिए जगह-जगह भागना पड़ा। तथापि मुग़ल सेना उसका पूर्णतया दमन न कर सकी। १६३५ के अन्तिम दिनों में स्वयं शाहजहाँ दक्षिण पहुँचा और शाहजी के समस्त सहायकों को घूस दे-देकर या धमकियों से तोड़ लिया और बहुत-से क़िले इस प्रकार मुगलों के हाथ में आ गए। साथ ही एक बड़ी सेना अहमदनगर की तरफ भेजी गई कि वह शाहजी की अपनी जागीर पर कब्ज़ा कर ले और फिर आगे बढ़कर कोंकण से भी शाहजी को निकाल बाहर करे।

**बीजापुर पर आक्रमण**—अहमदनगर पर अधिकार कर लेने के बाद सेना को यह आज्ञा भी दी गई कि वह बीजापुर पर चढ़ाई करे। जब आदिलखाँ को मुग़लों की इस योजना का पता चला तो उसने शाहजी की सहायता के लिए रन्दौला खाँ के संचालन में एक फौज भेजी। इससे क्रोधित होकर शाहजहाँ ने बीजापुर सुलतान के विरुद्ध भी एक बड़ी सेना भेज दी और खानेदौरान तथा खानज़मान दोनों सेनापतियों को आज्ञा दी कि वे बीजापुर पर इस प्रकार आक्रमण करें कि रन्दौलाखाँ शाहू से न मिल पाए और मुग़ल सेना बीजापुर प्रदेश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक ध्वस्त कर दे जब तक कि आदिलखाँ की आँख न खुले और वह सम्राट् का प्रभुत्व व आज्ञा पालन करना स्वीकार न करे। साथ ही आदिलखाँ के पास एक शाही दूत भेजा गया। आदिलखाँ ने अपनी परिस्थिति को अत्यन्त संकट-मय देखकर शाही दूत का बड़ा आदर-सत्कार किया और बादशाह का प्रभुत्व नम्रता-पूर्वक स्वीकार किया। परन्तु शाही दूत को यह विदित हो गया कि आदिलशाह का यह सब व्यवहार केवल दिखावे के लिए था। वास्तव में वह मुग़ल सेना के विरुद्ध देश को भड़काने का गुप्त रूप से प्रयत्न कर रहा था। इसकी सूचना उसने सम्राट् को दी। इस पर सेनाओं को फिर से आज्ञा हुई कि वे बीजापुरी भूमि में जितनी मारकाट तथा बरबादी कर सकें उसमें कोई कसर न छोड़ें। अन्त में इस हृदय-विदारक विध्वंस से भयभीत होकर आदिलखाँ को आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसने बीस लाख रुपया वार्षिक राजकर देना स्वीकार किया और साथ ही शाहू को दमन करने का भी वचन दिया।

**गोलकुण्डा को राजदूत**—बीजापुर के साथ-साथ गोलकुण्डा के सुलतान कुत्बुलमुल्क के पास भी एक राजदूत भेजा गया। कुत्बुलमुल्क ने उसका बहुत आदर किया और तुरन्त दिल्ली सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार करके अपनी मस्जिदों में सम्राट् के नाम का खुत्बा पढ़वाया तथा सिक्के भी उसके नाम से प्रचलित किए। इस प्रकार दक्षिण की यह दोनों बड़ी-बड़ी रियासतें मुग़ल सम्राट् के अधीन हो गईं और दक्षिण की स्वाधीनता विलुप्त हो गई। यह कार्य पूरी तरह सम्पन्न करके शाहजहाँ राजधानी को वापस लौटा। मार्ग में वह मांडू के स्थान पर ठहरा। आदिलखाँ का भेजा हुआ राजशुल्क वहाँ पर पहुँचा। तब सम्राट् ने उसका बीजापुर राज्य का अधिकार स्वीकृत किया और साथ ही निज़ामशाही का परेन्दा का क़िला तथा कोंकण की समूची भूमि भी उसे दे दी।

**दक्षिण का सूबा**—जब १६३३ में महाबतखाँ ने दौलतबाद पर अधिकार कर लिया तो शाहजहाँ ने उसे दक्षिण के सूबे का वायसराय नियुक्त कर लिया और खानेदौरान को उसका सहायक। उसका मुख्य स्थान बुरहानपुर में था। अगले वर्ष (१६३४ में) महाबतखाँ की मृत्यु हो गई। तब सम्राट् ने दक्षिण को दो प्रान्तों में विभक्त कर दिया—एक बालाघाट जिसमें अहमदनगर व दौलताबाद आदि के ज़िले शामिल थे और दूसरा पाइनघाट। बालाघाट का शासक खानेदौरान का बेटा खानेज़मान बनाया और पाइनघाट का खानेदौरान। यह अवस्था केवल दो बरस रही।

**औरंगज़ेब दक्षिण सूबे का वायसराय**—१६३६ में जब औरंगज़ेब को दक्षिण का वायसराय नियुक्त किया गया, तब दोनों उप-प्रान्तों को फिर मिलाकर एक महा-प्रान्त (वायसरायल्टी) बना दी गई। अब इस महाप्रान्त को चार उप-प्रान्तों में बाँटा गया : (१) दौलताबाद, जिसका पहला केन्द्र अहमदनगर था, (२) खानदेश, जिसका केन्द्र बुरहानपुर था, और उसका मुख्य दुर्ग असीरगढ़, (३) तिलंगाना, अर्थात् बरार और गोलकुण्डा के बीच का प्रदेश जिसमें नांदेर मुख्य स्थान था; इसका किला कन्दाहार था; (४) बरार, जो खानदेश के दक्षिण-पूर्व में था; इसका केन्द्र इलीचपुर और किला गवीलगढ़ था। इस महाप्रान्त में ६४ किले थे जिनमें कुछ अब तक शाहजी के कब्ज़े में थे; और उसकी आमदनी पाँच करोड़ रुपया थी।

औरंगज़ेब के अधीन खानेज़मान ने आदिलशाही सेना से मिलकर शाहजी से रहे-सहे क़िले छीन लिए। उसी खानेज़मान की मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर शायस्ताख़ाँ को भेजा गया। शाहजी को सम्राट् की सेना के दबाव से आदिलशाह से सन्धि करनी पड़ी और अन्त में अपने को और युवक सुलतान निज़ामशाह को समर्पित करना पड़ा। इस अन्तिम निज़ामशाह को भी मुग़ल सेनापति ने ग्वालियर के किले में भेज दिया और इस प्रकार निज़ामशाही राज्य तथा वंश का अन्त हुआ। १६३७ में औरंगज़ेब ने 'शाहनवाज़ख़ाँ' सफ़वी की बेटी दिलरसबानू बेगम से विवाह किया और थोड़े दिन बाद 'नवाबबाई' से।

**गोलकुण्डा से कन्दाहार (दक्षिण) का गढ़ लेना**—हम कह चुके हैं कि गोलकुण्डा के कुतुबशाह ने अपनी निर्बल परिस्थिति को देखकर मुग़ल सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। कुतुबशाही राज्य में एक नई उलझन पैदा हो गई थी। कुतुबशाह और उसके वज़ीर मीर जुमला में परस्पर बड़ी शत्रुता हो गई थी। कारण यह था कि मीरजुमला, जो एक पारसीक सौदागर था, थोड़े दिन पहले तिलंगाना में आकर बसा था और उसने जवाहरात आदि के व्यापार में बड़ा धनोपार्जन कर लिया था। फिर उसने कुतुबशाह के दरबार में नौकरी कर ली और थोड़े ही दिन में राज्य का मुख्य मन्त्री बन गया। उसने अपनी योग्यता तथा युद्ध-कौशल से तिलंगाना के समुद्री तट का बहुत लम्बा-चौड़ा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया था, जिसकी आय ४० लाख रुपया प्रतिवर्ष थी। उसकी शक्ति अब हर प्रकार से इतनी बढ़ गई थी कि कुत्बुलमुल्क को यह शंका होने लगी कि कहीं वह सारे राज्य को ही न हड़प ले। मीरजुमला के पास अनन्त दौलत थी क्योंकि उसकी भूमि में हीरे की खानें थीं जिनसे उसको इतनी अगण्य आय हो गई थी जितनी कुत्बशाही राजाओं के पास भी कभी न हुई थी। उसकी इस अतुल सम्पत्ति तथा बल से शंकित होकर कुत्बुलमुल्क ने उसके बेटे को, जो बड़ा अहंकारी तथा उद्धत हो गया था, क़ैद में डाल दिया। इस पर मीर जुमला ने मुग़ल सम्राट् से सहायता की प्रार्थना की। इस अवसर का बहाना पाकर औरंगज़ेब ने, जो दूसरी बार दक्षिण के महाप्रान्त का वायसराय बनाया गया था, उससे लाभ उठाया।

**औरंगज़ेब दक्षिण का दूसरी बार वायसराय**—हम बता चुके हैं कि १६३६ में औरंगज़ेब को दक्षिण महाप्रान्त का वायसराय नियुक्त किया गया था। इस पद पर औरंगज़ेब पूरे ८ वर्ष तक रहा था। यह समय दक्षिण के किसी शासक के लिए शासन सम्बन्धी संकट व कठिनाइयों का था। कारण कि वह प्रदेश बहुत समय से निरन्तर युद्धस्थली बना हुआ था और, जैसा कहा जा चुका है, मुग़ल सम्राटों ने उसको बिलकुल तहस-नहस करा दिया था। निस्सहाय जनता अपनी खेती-बाड़ी तथा अन्य व्यवसायों को छोड़कर जंगल में भाग गई थी। लाखों निहत्थे मनुष्य भूख तथा अत्याचारों की भेंट हो गए थे। देश में बराबर अकाल पड़ रहा था। संक्षेप में दक्षिण की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दुर्बल व शोचनीय हो गई थी। ऐसी अवस्था में औरंगज़ेब को शासन-संचालन के लिए भी पर्याप्त आमदनी न होती थी। और उसे अपनी निजी आमदनी से खर्चा करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त दारा उसका सदा विरोध करता रहता था। यह आठ वर्ष औरंगज़ेब ने बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए बिताए और दक्षिण की जनता को सँभालने का भरसक प्रयत्न किया। १६४४ में उसकी बड़ी बहन जहाँनारा बुरी तरह जल गई थी। उसे देखने के लिए वह आगरा आया। वहाँ पर किसी कारण से शाहजहाँ उससे बहुत अप्रसन्न हो गया और उसे पदच्युत कर दिया। इस प्रकार ८ मास तक बेकार रहने के बाद उसे फिर गुजरात का सूबेदार बनाया गया और २ वर्ष बाद उसे बल्ख और बदख़्शाँ का शासक व सेनापति बनाकर

भेजा गया। शाहजहाँ की कन्धार तथा उत्तर-पश्चिम नीति का वर्णन यथास्थान किया जाएगा।

१६५३ में औरंगज़ेब को दुबारा दक्षिण महाप्रान्त का नाज़िम बनाकर भेजा गया। उसके पहली बार निज़ामत से हटाए जाने के बाद दक्षिण का शासन बहुत ही अयोग्य तथा उदासीन लोगों के हाथ में रहा था। गरीब जनता पर हर प्रकार के अन्याय व अत्याचार किए जा रहे थे। सैकड़ों गाँव बरबाद हो गए थे तथापि सम्राट् के कानों पर जूँ न रेंगी थी। जागीरदार इतने निर्धन हो गए थे कि राज्यकर देने में असमर्थ थे। औरंगज़ेब इस संकट से विचलित न हुआ। उसने अपनी संचित की हुई सम्पत्ति को शासन-व्यवस्था के सुधारने में व्यय करना शुरू किया और थोड़े दिन में खेती आदि व्यवसायों को पुनः स्थापित करके देश को सम्पन्न बनाया। इस कार्य में उसकी सहायता करनेवाला मुर्शिदकुलीखाँ नामक एक अत्यन्त योग्य पारसीक राज्य-कर्मचारी था। इसको सम्राट् ने ही औरंगज़ेब के साथ भेज दिया था। मुर्शिदकुलीखाँ ने बड़ी तत्परता तथा अद्वितीय परिश्रम से स्वयं खेत-खेत को नापा और मालगुज़ारी आदि का इस तरह प्रबन्ध किया कि गरीब किसानों पर किसी प्रकार का अन्याय न होने पाए। सूबे के आन्तरिक शासन-सुधार का कार्य तो इस प्रकार हो ही रहा था किन्तु औरंगज़ेब जैसे कूटनीतिज्ञ तथा महत्त्वाकांक्षी को इतने से ही संतोष न हो सकता था। वह दक्षिण की दो बड़ी रियासतों अर्थात् बीजापुर और गोलकुण्डा को जीतकर मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लेना चाहता था। इन दोनों रियासतों के राजवंश शिया थे। इस कारण भी औरंगज़ेब उनको मिटा देना चाहता था। किन्तु यह केवल उसकी राजनीतिक लिप्सा को पूरा करने का बहाना मात्र था।

हम बता चुके हैं कि मीरजुमला अपने स्वामी कुतुबशाह से झगड़ा करके मुग़ल सम्राट् की शरण में आ गया था। औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा पर छापा मारने के उद्देश से मीरजुमला की सहायता ली।

**गोलकुण्डा पर घेरा डालना**—औरंगज़ेब ने अपने बेटे मुहम्मद सुलतान को आदेश दिया कि वह अकस्मात् गोलकुण्डा पर चढ़ाई कर दे। उसने तुरन्त हैदराबाद पर चढ़ाई करके उसको लूटा तब औरंगज़ेब ने १६५६ के आरम्भ में उस पर घेरा डाला। कुतुबशाह ने संधि करने की बातचीत आरम्भ करना चाही किन्तु औरंगज़ेब ने इसको अस्वीकार कर दिया। शाहजहाँ ने कुतुबशाह की शर्तों को स्वीकार करके एक चिट्ठी रवाना की थी, किन्तु औरंगज़ेब ने उसको बीच ही में रोक लिया ताकि वह कुतुबशाह से कुछ और अधिक मूल्यवान् शर्तें मनवा सके। इसी के कुछ दिन बाद दारा और जहाँनारा ने शाहजहाँ के द्वारा गोलकुण्डा की चढ़ाई को एकदम बन्द कर देने की आज्ञा भिजवा दी। औरंगज़ेब को विवश होकर गोलकुण्डा का घेरा उठा लेना पड़ा। तथापि कुत्बशाह ने एक बहुत भारी युद्ध-क्षति पूरक धन देना स्वीकार किया। साथ ही उसको औरंगज़ेब ने गुप्त रूप से मजबूर किया कि वह उसके बेटे मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी मान ले। कुतुबशाह ने अपनी बेटी का विवाह भी

मुहम्मद सुलतान के साथ कर दिया और मानिक दुर्ग तथा चिनूर आदि स्थान मुग़लों को दे दिए। साथ ही मीरजुमला को बादशाह ने अपने पदाधिकारियों में नियुक्त किया और उसे छः हजारी मनसब तथा मुअज्ज़मख़ाँ की उपाधि प्रदान की। इसी समय साम्राज्य के वज़ीर सादुल्लाख़ाँ की मृत्यु हो गई और मीरजुमला उसके स्थान पर नियुक्त किया गया।

**बीजापुर**—हम देख चुके हैं कि सन् १६३६ में बीजापुर के सुलतान ने मुग़ल शक्ति के दबाव से सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था और कुछ शर्तों पर संधि कर ली थी। उसके बाद बीजापुर का सुलतान मुहम्मद आदिलशाह बहुत योग्य हुआ और उसके शासन में बीजापुर राज्य ने बहुत उन्नति की। उसने अपने राज्य की श्री व सम्पत्ति को बहुत बढ़ाया और उसको वैभवशाली बनाया। इतना ही नहीं, उसने आरकट जिले में ज़िन्जी पर तथा पश्चिमी तट की कुछ भूमि पर अधिकार करके राज्य का विस्तार भी किया। १६५६ के अन्त में मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका १८ वर्षीय नवयुवक बेटा सुलतान बना। उसकी अल्पायु के कारण राज्य में दलबन्दियाँ तथा परस्पर झगड़े खड़े हो गए।

बीजापुर के आंतरिक कलह से औरंगज़ेब को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। औरंगज़ेब ने यह दावा किया कि उसको बीजापुर के उत्तराधिकार का झगड़ा निबटाने का अधिकार है। इसके लिए उसने यह झूठा बहाना किया कि यूसुफ़ आदिलशाह अपने पिता का वास्तविक पुत्र नहीं है। औरंगज़ेब ने मीरजुमला को अपनी सहायता के लिए बुलाया और तुरंत बीजापुर राज्य पर आक्रमण कर दिया। पहले-पहल बीदर के किले पर, जो बीजापुर के अधिकार में १६०९ में आ गया था, घेरा डाला। बीजापुर गढ़ बड़ा बीहड़ तथा दुर्जेय था। लगभग एक महीने तक बहुत बड़ी मुग़ल सेना के भीषण प्रयत्न करने पर बीदर के सेनापति सीदी मरजान ने हार मान ली और बड़े विनम्र भाव से रक्षा की याचना की। किले की चाबियाँ उसने अपने बेटों के हाथ औरंगज़ेब के पास भिजवा दीं। उनका औरंगज़ेब ने अच्छी तरह स्वागत किया और फिर शहर के अन्दर दाखिल होकर पहले सम्राट् का नाम खुत्बे में पढ़वाया। इस घेरे पर लगभग बीस हज़ार रुपया तथा बहुत-सा गोला-बारूद व्यय हुआ।

**कल्याणी तथा गुलबर्गा पर चढ़ाई**—औरंगज़ेब को इस समय सूचना मिली कि एक बड़ी बीजापुरी सेना गुलबर्गा के निकट एकत्र की जा रही है। उसने तुरंत अपने एक सैनिक को भेजा कि वह गुलबर्गा पर छापा मारे परन्तु मार्ग में समस्त प्रदेश को लूटता, जलाता चला जाए। इस सैनिक ने चालुक्यों की प्राचीन राजधानी कल्याणी नगर को, जो बीदर से ४० मील पश्चिम में है, बुरी तरह ध्वस्त किया और फिर बीजापुर की ओर बढ़ा। किन्तु इस समय सम्राट् ने एक फ़रमान द्वारा इस चढ़ाई को वहीं पर रोक दिया। तथापि बीदर, कल्याणी और परेन्दा के किले मुग़लों के हाथ में रह गए और आदिलशाह को सवा करोड़ रुपया युद्ध-क्षति के रूप में देने का

वचन देना पड़ा। इसमें से एक-तिहाई को शाहजहाँ ने माफ कर दिया। इसी समय शाहजहाँ सख्त बीमार पड़ गया जिसके कारण एकाएक देशभर की राजनीतिक परिस्थिति बदल गई।

**कन्धार तथा मध्य-एशियाई नीति**—कन्धार की स्थिति सामरिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण थी कि उसके अधिकार के लिए ईरान तथा हिन्दुस्तान के बादशाहों में निरन्तर संघर्ष होता रहता था। सन् १५२२ में बाबर ने उस पर अधिकार कर लिया था किन्तु हुमायूँ के ह्रास के कारण वह फिर ईरान के बादशाह के पास चला गया था। हुमायूँ ने सन् १५४५ में उसे फिर ले लिया था। किन्तु जब अकबर नवयुवक था, कन्धार फिर हाथ से निकल गया था। १५९५ में फिर अकबर ने उस पर अधिकार कर लिया था। १६२२ में जहाँगीर को धोखे में रखकर ईरान के बादशाह ने उसे फिर छीन लिया, शाहजहाँ ने सन् १६३८ में उसे फिर वापस लिया और १६४८ में फिर वह ईरान के अधिकार में चला गया। इसके बाद मुग़ल सम्राट् ने कन्धार को वापस लेने का भरसक प्रयत्न किया और उस पर कई चढ़ाइयाँ कीं तथा असंख्य धन व्यय किया परन्तु सब बेकार। वह कन्धार को वापस न ले सका। इस अवकाश में मुग़ल और ईरान के सफ़वी बादशाह बड़े योग्य थे। उनमें परस्पर चिट्ठी-पत्री होती रही और राजदूत भेजे जाते रहे। किन्तु इनका उद्देश केवल एक दूसरे की सामरिक शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना था।

१६३८ में ईरान राज्य की ओर से कन्धार का शासक व सेनापति, अली मरदानखाँ था। उसने अपने सूबे की बहुत-सी मालगुजारी हड़प कर ली थी, इस कारण वह अपने स्वामी ईरान सम्राट् के हाथों से बचना चाहता था। इस अवसर से लाभ उठाकर शाहजहाँ ने अलीमरदानखाँ को अपने रक्षण में ले लिया जिसके बदले में उसने कन्धार का किला मुग़ल सम्राट् को सौंप दिया।

**कन्धार पर फिर ईरान का अधिकार**—१६४२ में शाह अब्बास द्वितीय ईरान का बादशाह हुआ। वह बड़ा महत्त्वकांक्षी तथा बलवान् था और कन्धार को वापस लेना वह आवश्यक समझता था। उसने पूरी तैयारी करके १६४८ में कन्धार पर चढ़ाई कर दी। कन्धार के शासक दौलतखाँ ने मुग़ल सम्राट् को चेतावनी दी कि शाहअब्बास की सेनाएँ कन्धार पर आक्रमण करने के लिए आ रही हैं। साथ ही उसने ईरानी सेना को रोकने और अपनी शक्ति को हर प्रकार से बढ़ाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। उसने आस-पास के प्रदेश से खाने-पीने आदि की सामग्री एकत्र करनी आरम्भ की और ईरान की सेना को हरात के आगे बढ़ने से रोकने के लिए सेना भेजी। आक्रमण की सूचना पाते ही शाहजहाँ ने अपने बड़े-बड़े अमीरों तथा मनसबदारों को सेनाएँ तैयार करके तुरंत इकट्ठा होने का आदेश दिया और ज्योतिषियों को भी आज्ञा हुई कि वे सेना के प्रस्थान के लिए शुभ मुहूर्त्त निश्चय करके बतलाएँ। शाहज़ादा औरंगज़ेब तथा मुख्य मन्त्री सादुल्लाखाँ को अन्य कई अनुभवी सैनिकों के साथ सेना-संचालन के लिए भेजा गया। इनके अधीन बहुत से मनसबदार, अहदी तथा ५०,०००

घुड़सवार सेना आदि भेजे गए। मनमाना रुपया व्यय करने की आज्ञा दे दी गई। सेना को आदेश दिया गया कि वह काबुल और गज़नी के मार्ग से कन्धार पर चढ़ाई करे। परन्तु इस सेना को पहुँचने में इतनी देर लग गई कि कन्धार का शासक दौलतखाँ बिलकुल हताश हो गया और हिम्मत हार बैठा। किले के अन्दर की सेना ने ईरानियों से सुलह की बात-चीत शुरू की और किला उनके सुपुर्द करके १६४६ के आरम्भ में वे उसे छोड़कर बाहर निकल गए। औरंगज़ेब की सेना कोहाट के पर्वतीय मार्ग को पार न कर पाई और फिर पेशावर के मार्ग से कन्धार छिन जाने के ४ मास बाद पहुँच पाई और किले का घेरा डाला। किन्तु इतनी भारी तैयारी किसी काम न आई और मुग़ल सेना को कई महीने तक कन्धार का घेरा डाले रखने के बाद असफलता का मुँह देखना पड़ा। उनकी सेना में न कोई सुशिक्षित तोपची थे और न घेरा डालने की आवश्यक सामग्री ही। अन्त में निराश होकर मुग़ल सेना को वापस लौटना पड़ा। इसी समय शाहजहाँ की नई राजधानी दिल्ली का किला तथा शहर की चारदीवारी बनकर तैयार हुई थी। इसकी खुशी में शाहजहाँ कन्धार छिन जाने की क्षति को भूल गया। ध्यान देने की बात है कि एक ओर कन्धार तथा मध्य एशिया की चढ़ाइयों पर असंख्य धन व्यय किया जा रहा था और उसी समय यह सम्राट् अपने अनगिनत विशाल भवनों पर राजकीय आय बड़ी बेदर्दी से व्यय कर रहा था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कर देने वाली प्रजा के धन का कितना हिस्सा प्रजाहित के कामों में लगाया जाता था।

**कन्धार पर दूसरी चढ़ाई**—१६५२ के मई मास में कन्धार को जीतने के लिए फिर एक सेना भेजी गई और इसके लिए बड़ी भारी तैयारी की गई। इस बार फिर सादुल्लाखाँ और औरंगज़ेब को ५०,००० घुड़सवारों और १०,००० प्यादों के साथ भेजा गया। हर प्रकार की गोलाबारी करने की सामग्री तथा उसके चलानेवाले सैनिक भी बड़ी संख्या में भेजे गए। १० बड़े-बड़े हाथी और उनके साथ बड़ी-बड़ी तोपें भी भेजी गईं। ३,००० ऊँटों पर गोलबारी की सामग्री भेजी गई। औरंगज़ेब को आदेश दिया गया कि वह काबुल और गज़नी के रास्ते से जाए।

कन्धार पहुँचते ही औरंगज़ेब ने उसके चारों तरफ वे स्थान निश्चय कर दिए जहाँ-जहाँ से मुग़ल सेना को किले पर हमला करना था और फौरन घेरा शुरू कर दिया। दो महीने तक मुग़ल सेना ने जी तोड़कर संघर्ष किया किन्तु पारसीक तोपों ने मुग़ल तोपखाने को निरर्थक कर दिया। जब सम्राट् को यह खबर मिली कि कन्धार के जीतने की कोई आशा नहीं है और उसकी सेना थक गई है, तब उसने ( जुलाई १६५२ में ) तुरंत औरंगज़ेब को फ़रमान भेज दिया कि घेरा उठाकर वापस लौट आए। इस चढ़ाई पर भी बहुत-सा धन नष्ट किया गया, पर सब व्यर्थ हुआ।

**कन्धार का तीसरा घेरा (१६५३)**—एक बरस बाद शाहजहाँ ने फिर एक बार कन्धार को लेने का प्रयास किया। इस बार शाहज़ादे दारा ने इस चढ़ाई का संचालन करने की आज्ञा माँगी। दारा को मुलतान और काबुल का शासक (सूबेदार)

नियुक्त किया गया। दारा ने लाहौर पहुँचकर चढ़ाई के हेतु बड़ी तैयारी करनी शुरू की। उसने कई महीने बड़ी-बड़ी तोपों के ढलवाने तथा युद्ध-सामग्री एकत्र करने में लगाए। फरवरी १६५३ में, जब उसने पूरी तैयारी कर ली, दारा ने मुल्तान से कूच किया। उसने किले के निवासियों की रसद तथा अन्य सहायता बाहर से बन्द कर देने के लिए उसके आप-पास की भूमि पर भी अधिकार कर लिया और साथ ही किले पर हमले शुरू किए। कन्धार के पश्चिम में बिस्त और गिरिस्क के किलों पर अधिकार कर लिया गया और उनके चारों तरफ की भूमि को नष्ट कर दिया गया। यह भी प्रयत्न किया गया कि किले की सेना को घूस देकर तोड़ लिया जाए। किन्तु न पैसे से काम बना और न गोलाबारी कारगर हुई। पाँच महीने से ऊपर इस प्रकार संघर्ष करने के बाद अन्त में सम्राट् को यह समझ आई कि कन्धार का लेना सम्भव नहीं। तब उसने पहले की तरह फ़रमान भेज दिया कि घेरा उठा लिया जाए और सेना वापस आ जाए। सितम्बर मास के अन्त में दारा अपनी सेना सहित वापस चल पड़ा। उसकी इस घोर पराजय पर भी दारा को बड़े इनाम-इकराम दिए गए। इसका अवसर था सम्राट् की ६५वीं वर्ष गाँठ का समारोह। इसका निर्देश यथास्थान किया जाएगा।

**मध्यएशिया (बदख़्शाँ) की चढ़ाइयाँ**—समरकन्द और बुखारा पर मुग़लों के पूर्वजों का शासन था। तीमूर ने अपनी राजधानी समरकन्द को इतना वैभवशाली बनाया था कि संसार प्रसिद्ध नगर हो गया था। बाबर ने अपने स्वदेश पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए भीषण संघर्ष किया था, किन्तु अंत में असफल होकर उसे अन्य स्थान पर अपना राज्य कायम करना पड़ा था। तीमूर के वंशजों के शासन में जो मध्यएशिया के प्रदेश थे उनको उज़बक सरदारों ने छीनकर अपने राज्य स्थापित कर दिए थे। इनमें मुहम्मद शैबानी सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली था। शैबानी के वंशज इमामक़ुली ने जहाँगीर के समय में जब कि शाह अब्बास सफ़वी ने कन्धार को हड़प लिया था, मुग़ल सम्राट् को स्वयं सहायता देने को कहा था। परन्तु जब जहाँगीर के राज के अन्तिम दिनों में शाहजहाँ के विद्रोह के कारण साम्राज्य में अव्यवस्था हुई तो इमामकुली के भाई नजर मुहम्मद के मन में काबुल जीत लेने का लालच आ गया। परन्तु उसकी यह चेष्टा कुछ सफल न हुई। तथापि १६२८ में उसने बामयाम पर अधिकार कर ही लिया। इस घटना से मुग़ल बादशाह कहीं उसका शत्रु न बन जाए इस उद्देश से उसने अपना एक दूत शाहजहाँ के पास क्षमा माँगने के लिए भेजा और शाहजहाँ ने भी उसके बदले में अपने कारनामों की एक लम्बी-चौड़ी गाथा एक दूत द्वारा उस सुलतान के पास भिजवाई।

१६३६ में शाहजहाँ को उज़बक सुलतान से बदला लेने का अवसर मिला। साथ ही वह मध्यएशिया पर आँख लगाए बैठा था क्योंकि अपने पूर्वजों की भूमि होने के कारण वह उन प्रदेशों पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता था। वह आक्सस पार प्रदेश के भागों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वयं काबुल पहुँचा और एक सरहदी उज़बक

प्रान्त पर चढ़ाई कर दी। इससे उज़बक लोगों में बड़ी खलबली मच गई किन्तु उज़बक राज्य में भी इन दिनों बड़ी अव्यवस्था हो गई थी कारण कि इमामकुली के भाई नज़र मुहम्मद ने अपने भाई को हटाकर उससे राजगद्दी छीन ली। नज़रमुहम्मद ने शासन में ऐसे परिवर्तन किए जिनके कारण वह मुसलमानी धर्म के नेताओं में बहुत अप्रिय हो गया इसलिए उसका बड़ा विरोध हुआ और १६४५ में नज़रमुहम्मद का बेटा अब्दुलअज़ीज़, जो सर्वप्रिय था, उसका स्थानापन्न बना दिया गया और नज़रमुहम्मद को भागकर बल्ख में शरण लेनी पड़ी। शाहजहाँ ने इस घटना को उज़बक राज्य पर चढ़ाई करने का सुअवसर समझा और तुरत एक सेना भेज दी, जिसने काबुल के उत्तर कहमर्द के किले पर अधिकार कर लिया। नज़रमुहम्मद और उसके बेटे ने यह समझौता कर लिया कि नज़रमुहम्मद बल्ख का शासक रहे और अब्दुलअज़ीज़ बुखारा पर राज करे। किन्तु नज़रमुहम्मद ने शाहजहाँ से सहायता की याचना की। शाहजहाँ इस समय सब तरफ से निश्चन्त था और उसने अपनी सेना को फिर से सुव्यवस्थित किया और फिर एक बहुसंख्यक सेना अपने बेटे मुराद के संचालन के बदख्शाँ को अधिकृत करने के लिए भेजी। मुराद को यह आदेश दिया गया था कि वह नज़रमुहम्मद के साथ नरमी का बरताव करे और समरकंद वापस लेने में उसकी सहायता करे। किन्तु उसका वास्तविक उद्देश था इन स्थानों पर स्वयं अधिकार कर लेना। नज़रमुहम्मद मुराद के गुप्त उद्देश को भाँप गया और उसने मुराद को बातों में लगा मुग़ल सेना को आगे बढ़ने से रोकने का यत्न किया। परन्तु मुराद आगे बढ़ता चला गया और जब बल्ख के नज़दीक पहुँचा तो नज़रमुहम्मद भाग गया। मुराद ने शहर को खूब लूटा और बहुत धन उसके हाथों पड़ा। फिर उसने आक्सस के तट पर तिर्मिज पर अधिकार किया। नज़रमुहम्मद हारकर मर्व होता हुआ फ़ारस चला गया। मुराद की इस सफलता से शाहजहाँ को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने चाहा कि मुराद को बल्ख़ व बदख्शाँ तथा वंक्षु पार प्रदेश का शासक नियुक्त कर दे। किन्तु उस स्थान की कड़ी सर्दी और नीरस जीवन से मुराद तंग आ चुका था और किसी प्रकार भी वह वहाँ रहने को तैयार न हुआ। अतएव उसको वापस बुला लिया गया।

**शाहजहाँ की कूटनीति**—ईरान के अब्बासी सम्राट् की सहानुभूति तथा सहायता नज़रमुहम्मद को प्राप्त न हो जाए और वह इस घटना-चक्र से तटस्थ रहे, इस उद्देश से शाहजहाँ ने बड़ी युक्ति से काम लिया। उसने शाह अब्बास द्वितीय को उसके राज्यारोहण के अवसर पर बधाई का पत्र लिखा जिसका वास्तविक उद्देश उपर्युक्त था। नज़रमुहम्मद को भी उसने यह कहकर ठंडा करने का प्रयत्न किया कि मुराद का कार्य अनुभवहीन नवयुवक सरीखा था। केवल इस उद्देश से भेजा गया था कि बल्ख से दुष्ट तथा भयंकर लोगों को निकालकर नज़रमुहम्मद को वहाँ स्थापित कर दे। किन्तु मुराद के लौट [illegible] पर बल्ख़ और बदख्शाँ में उज़बक लोगों ने बड़ी संकटमय स्थिति उत्पन्न कर दी।

**औरंगज़ेब की नियुक्ति**—१६४७ में शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को गुजरात से बुलाकर बल्ख का शासन सुपुर्द किया। औरंगज़ेब को बल्ख पहुँचने में उज़बक आदि फ़िरकों का बहुत विरोध भुगतना पड़ा। साथ ही अब्दुलअज़ीज़ ने वंक्षु के किनारे तक अपनी सेना लगा दी थी। परन्तु औरंगज़ेब ने इस सेना को अपनी सामरिक योग्यता से तितर-बितर कर दिया। उज़बकों को छापामार लड़ाई तथा लूटपाट का अभ्यास था। किन्तु वे युद्धक्षेत्र में जमकर लड़ने का हुनर नहीं सीखे थे। इसके अतिरिक्त औरंगज़ेब ने इस अवसर पर बड़ी गंभीरता तथा धैर्य का परिचय दिया था। युद्धक्षेत्र में सायंकाल होते ही वह निर्भीक अपने घोड़े से उतर नमाज़ पढ़ने लगा। इस दृश्य से उज़बक लोगों के हृदय बड़े प्रभावित हुए। तथापि औरंगज़ेब की यह सफलता स्थायी सिद्ध न हुई। मुग़ल सेना वंक्षु के किनारे तक पहुँची किन्तु उसके पार न जा सकी। अब्दुलअज़ीज ने औरंगज़ेब से संधि कर ली और बल्ख से अपनी सेनाओं को हटा लिया। किन्तु लौटते समय मार्ग में मुग़ल सेना को इतने कष्ट हुए कि वह बहुत कुछ नष्ट हो गई। परिणाम यह हुआ कि मध्यएशिया तक साम्राज्य-विस्तार करने तथा उत्तर-पश्चिम सीमा के बाहरी किनारे को सुरक्षित करने के प्रयत्न में मुग़ल सम्राट् को सफलता न हुई। जो परिस्थिति अकबर ने स्थापित कर दी थी उसमें कोई उन्नति न हुई।

**शाहजहाँ के पुत्रों में राजगद्दी के लिए संग्राम**—बीजापुर के आक्रमण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि जिस समय आदिलशाह ने औरंगज़ेब का प्रभुत्व स्वीकार करके उसकी अन्य शर्तें मान लीं, उसी समय औरंगज़ेब को सूचना मिली कि सम्राट् शाहजहाँ बहुत सख्त बीमार हो गया है। मुग़ल वंश में सम्राट् का रोगग्रस्त होना सदैव ही उत्तराधिकार के लिए घोर संघर्षमय परिस्थिति का सूचक होता था। इसका मुख्य कारण यह था कि मुग़ल राजवंश में उत्तराधिकार प्राप्त करने का कोई निश्चित नियम नहीं था। विगत राजा के सबसे बड़े बेटे को राजगद्दी का स्वामी होने का नियम इस वंश में कभी नहीं माना गया। तथापि यह मर्यादा पूरी तरह सर्वमान्य थी कि राजकुलोत्पन्न पुरुष ही राजगद्दी का दावेदार हो सकता था, अन्य कोई नहीं। इस अनिश्चित नियम के कारण ही मुग़ल वंश के राजकुमारों में सदैव राजगद्दी के लिए इतने घोर तथा वीभत्स संघर्ष हुए जिनके परिणाम-स्वरूप भाई-भाई परस्पर जानी दुश्मन हो गए और उनमें जो सफल हुआ उसने शेष सबका बड़ी निर्दयता से वध किया।

शाहजहाँ के चारों बेटे एक ही माता के गर्भ से थे। उनमें दारा सबसे बड़ा था। उसकी आयु इस समय ४३ वर्ष की थी और वह पंजाब का मनोनीत सूबेदार था। तथापि वह बराबर अपने पिता के पास राजधानी में ही रहता था और अपने सूबे का प्रबन्ध अपने सहायक कर्मचारियों द्वारा करता था। वह बड़ा विद्वान्, धार्मिक तथा उदारचित्त मनुष्य था। साधु-सन्तों की संगत में उसकी बहुत रुचि थी और वह उपनिषदों का अनन्य भक्त था। उसने ४६ उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद किया

था जो अब तक मिलता है। उसकी चित्तवृत्ति औरंगज़ेब के सर्वथा विपरीत थी। वह अपने पूर्वज अकबर महान् की उदार तथा मानवीय नीति का अनुयायी था। किन्तु उसमें अकबर के राजनीतिक गुण तथा सामरिक कौशल आदि का अभाव था। इस प्रकार की कूटनीति तथा कपट आदि गुण उसमें न थे जिनके द्वारा औरंगज़ेब ने अपने सब भाइयों को एक-एक करके नष्ट किया और राजगद्दी प्राप्त की। अपनी उदारता के कारण दारा जनता में सर्वप्रिय था। किन्तु राजनीतिक बुद्धि व दूरदर्शिता आदि आवश्यक गुणों का अभाव होने के अतिरिक्त उसके चरित्र में बड़ी हानिकारक त्रुटि यह थी कि वह जल्दी क्रोधित हो जाता था और उसके व्यवहार में कठोरता आ जाती थी। अपने पिता का परम प्रिय होने के कारण उसमें कुछ अहंकार भी आ गया था। दूसरा बेटा शुजा दारा से केवल २ वर्ष छोटा था और इस समय बंगाल का सूबेदार था। उसमें सामाजिक सौम्यता तथा मिलनसारी बहुत थी किन्तु वह राजनीतिक तथा शासन-सम्बधी कठिन कार्यों के लिए अयोग्य था। वह सुख से रहना चाहता था और राजनीतिक झगड़ों अथवा संकटों से दूर भागता था। वह शिया मत का अनुयायी था। तीसरा औरंगज़ेब, जो उस समय ३९ वर्ष का था, अपने सब भाइयों में तीक्ष्ण, महत्त्वाकांक्षी, षड्यंत्री, अपनी कार्यसिद्धि के लिए सत्य व असत्य के पचड़े से मुक्त तथा अविचलित व गम्भीर कूटनीतिज्ञ था जो घोरतम संकट में भी धैर्य तथा शान्ति को नहीं छोड़ता था। वह बड़ा दृढ़संकल्प तथा कार्य-कुशल था। धार्मिक क्षेत्र में वह दारा के सर्वथा प्रतिकूल इतना कट्टर था कि हिन्दू और अन्य मूर्तिपूजक तो दूर, शिया मुसलमानों को भी वह सहन नहीं कर सकता था। दाराशिकोह से उसकी शत्रुता होने का यह भी एक बड़ा कारण था कि उन दोनों के धार्मिक विश्वासों में आकाश-पाताल का भेद था। चौथा भाई मुराद जो उस समय केवल ३३ वर्ष का था, बड़ा आरामतलब, बहादुर, हृष्ट-पुष्ट, महत्त्वाकांक्षी परन्तु सीधा-सादा, निष्कपट युवक था। वह मदिरा-पान, भोग-विलास में पड़ जाने से अपने महत्त्व को खो बैठा था और उसमें उपयुक्त बुद्धि का भी अभाव था। वह इस समय गुजरात का शासक था। मुराद का झुकाव भी शिया मत की तरफ ही था।

शाहजहाँ की सख्त बीमारी की सूचना पाते ही शुजा ने बंगाल में और मुराद ने गुजरात में अपने को बादशाह घोषित करके अपने नाम के सिक्के भी चला डाले। दारा अपने पिता की सेवा बड़ी तत्परता से कर रहा था। जब बादशाह की बीमारी इतनी बढ़ी कि उसके बचने की आशा न रही तो उसने भी अपने उत्तराधिकार को निश्चित व निःशंक करने के उपाय करने शुरू कर दिए। बादशाह की बीमारी की खबरें बाहर भेजना बन्द कर दिया। इसका परिणाम उलटा हुआ। जनता में यह खबर फैल गई कि बादशाह मर गया। यह अफ़वाह सुनते ही शुजा ने बंगाल में और मुराद ने गुजरात में अपने को सम्राट् घोषित करके अपने-अपने नाम के सिक्के भी चला डाले। औरंगज़ेब ने ऐसी जल्दबाजी से काम न किया। वह बड़ी ही सावधानी से चला। उसने यह घोषित किया कि उसका उद्देश केवल यह है कि

धर्मभ्रष्ट दारा के हाथों अथवा प्रभाव से बादशाह को मुक्त करके, साम्राज्य में जो इसलाममत-विरोधी प्रभाव फैल गए हैं उनको नष्ट करके धर्म-रक्षा करे। दारा पर उसने धर्मपतित होने का अभियोग लगाया ताकि मुसलमान जनता की सहानुभूति उसे मिल जाए। मुराद से कुरान पर शपथ खाकर उसने यह वचन दिया कि यदि वह दारा को नष्ट करने में उसकी सहायता करेगा तो पंजाब और उसके पश्चिम का समूचा प्रदेश उसको दे दिया जाएगा। मुराद जो अपने भाई के प्रपंच को न समझता था, तुरत उसका साथ देने को चल पड़ा। औरंगज़ेब शीघ्रता से उत्तर की तरफ़ चला और जब वह नरमदा को पार करके मालवा में पहुँचा तो दारा अपनी सेना सहित उससे जा मिला।

**धर्मत का युद्ध**—इधर दारा ने अपने भाइयों का दमन करने के हेतु सेनाएँ भेजीं। अपने बेटे सुलेमान शिकोह को मिर्ज़ा राजा जयसिंह के साथ बंगाल की तरफ शुजा के विरुद्ध भेजा। औरंगज़ेब और मुराद को रोकने के लिए उसने राजा जसवन्त सिंह और कासिमखाँ को भेजा। सुलेमान व मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शुजा को बनारस के निकट पूरी तरह परास्त किया और मुंगेर तक उसका पीछा किया। जसवन्तसिंह की मुठभेड़ औरंगज़ेब-मुराद की संयुक्त सेना से उज्जैन के १४ मील दक्षिण में धर्मत के स्थान पर हुई। बड़ी कठोर लड़ाई के अन्त में जसवन्तसिंह परास्त होकर पीछे हटा और औरंगज़ेब मुराद सहित बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़ा। दारा ने सुलेमान को तुरत लौटने के लिए संदेशा भिजवाया पर वह समय पर न पहुँच सका। दारा की शक्ति विभाजित हो गई और औरंगज़ेब को यह अवसर मिल गया कि अपने शत्रुओं को अलग-अलग नष्ट कर सके।

**समूगढ़ का युद्ध और उसका परिणाम**—जब औरंगज़ेब और मुराद आगरे के समीप पहुँचे, दारा स्वयं एक सेना लेकर बाहर निकला। आगरे के १० मील पूरब समूगढ़ के स्थान पर दोनों दलों में युद्ध हुआ और दारा पूरी तरह परास्त होकर दिल्ली की तरफ भागा। औरंगज़ेब ने तुरत आगरे पर अधिकार कर लिया और शाहजहाँ को आमरण किले के अन्दर नज़रबन्द रखा। आगरे से वह दिल्ली की तरफ चला। मार्ग में मथुरा के पड़ाव पर उसने मुराद पर कई बे-बुनियाद लांछन लगाकर उसे बड़े घृणास्पद विश्वासघात से एक दावत के अवसर पर बन्दी कर लिया। फिर उसने दिल्ली पहुँचकर २१ जुलाई १६५८ को अपना राज्याभिषेक करवाया। दारा को पकड़ने के लिए उसने सेना भेजी। वह बड़ी यातनाएँ सहन करता हुआ राजपूताना, गुजरात, सिन्ध में भागता फिरा। अन्त में वह बोलान दर्रे के निकट पकड़ा गया और दिल्ली लाकर बड़ी दुर्दशा में दिल्ली के बाज़ार में घुमाया गया। उसके साथ उसका दूसरा बेटा सिपहर शिकोह भी था। इस प्रकार उन दोनों को अपमानित करके खवासपुर के बन्दीघर में बन्द कर दिया। फिर औरंगज़ेब ने अपने मौलवियों तथा अमीरों आदि की एक सभा में यह व्यवस्था दिलवायी कि दारा और उसका बेटा धर्म से पतित हो चुके हैं, इसलिए उनको प्राणदण्ड अवश्य दिया

जाना चाहिए। इस व्यवस्था में दारा का मामा शायस्ताखाँ और उसकी बहिन रोशनारा भी बड़े जोश के साथ सम्मिलित थे। यह व्यवस्था निकलते ही दारा और उसके बेटे सिपहर शिकोह को अत्यन्त निर्दयता से कत्ल किया गया और दारा का सर काटकर औरंगज़ेब के सामने लाया गया। मनूची ने यह भी लिखा है कि 'औरंगज़ेब ने उसको शाहजहाँ के पास भिजवाया। स्वाभाविक ही है कि इस दृश्य से जो दारुण दु:ख शाहजहाँ को हुआ होगा, अकथनीय है।' इसके बाद दारा और उसके बेटे दोनों को हुमायूँ के मकबरे के एक कमरे में दफ़ना दिया गया।

दारा का बड़ा बेटा सुलेमान शिकोह शुजा को पछाड़कर वापस लौटा भी न था कि अपने पिता की दुर्दशा की सूचना उसे मिली। अतएव अपने निर्दयी चाचा के हाथों से बचने के लिए उसने गढ़वाल पहाड़ी के राजा के पास जाकर श्रीनगर में शरण ली और वहाँ वह एक वर्ष तक रहा। परन्तु जब औरंगज़ेब ने गढ़वाल के राजा से उसको माँगा तो उसने इस राजकुमार को मुग़ल सम्राट् के सुपुर्द कर किया। सुलेमान को ग्वालियर के किले में बन्द किया गया और वहीं कुछ दिन बाद उसका वध कर दिया गया। मुरादबख्श को भी, जो ग्वालियर के किले में भेज दिया गया था, इन्हीं दिनों कत्ल कर दिया गया।

इस घटना-चक्र से उत्तेजित होकर शुजा ने अपने भाग्य की परीक्षा के लिए एक बार फिर प्रयास किया। वह एक बड़ी सेना एकत्र करके इलाहाबाद तक पहुँच गया। किन्तु खजुवा के स्थान पर औरंगज़ेब की सेना से उसको फिर हारना पड़ा। इसके बाद वह दो वर्ष तक संघर्ष करता रहा और फिर विवश होकर अराकान में उसने शरण ली। यहाँ बर्मा के राजा के विरुद्ध उसने षड्यंत्र रचना आरम्भ किया जिसके परिणाम-स्वरूप उसे सपरिवार मार डाला गया। इस प्रकार अपने सब भाइयों तथा सम्बंधियों का रक्तपात करके औरंगज़ेब सम्राट् बना।

**शाहजहाँ का चरित्र**—अकबर महान् के समय से ही मुग़ल वंश में भारतीय क्षत्रियों का रक्त मिश्रित होने लगा था। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों की माताएँ राजपूतनी थीं, इस दृष्टि से शाहजहाँ के शरीर में तुर्की रक्त की अपेक्षा हिन्दू रक्त अधिक था। तथापि यह देखा गया है कि हिन्दू माताओं से उत्पन्न बादशाह शुद्ध मुसलमानों से अधिक कट्टर तथा असहिष्णु होते हैं। दूसरा प्रभाव जो हम इन सम्राटों के चरित्र तथा मनोवृत्ति पर दो बलवान शूरवीर जातियों के रक्त-मिश्रण से देखते हैं, यह है कि वे सब बड़े निर्भीक, शूरवीर, योद्धा, समर-कुशल तथा महत्त्वाकांक्षी होते थे। मुग़ल सम्राटों में औरंगज़ेब तक सभी बड़े निर्भीक योद्धा हुए। औरंगज़ेब के बाद उसके वंशज बड़ी तीव्रगति से पतनोन्मुख होते चले गए।

शाहजहाँ भी युवा अवस्था में बड़ा बलवान, बेधड़क तथा कर्मठ पुरुष या। प्रौढ़ावस्था तक उसमें मदिरापान आदि भोग-विलास के दोष भी न आए थे, यद्यपि वह अपने पिता को दिन-दिन शराब में सराबोर देखता था। युवक शाहजहाँ ने कई अवसरों पर अपने युद्ध-कौशल एवं सामरिक नीति-निपुणता का परिचय दिया था।

जैसा हम देख चुके हैं, इन सभी राजकुमारों पर मुग़ल वंश में उत्तराधिकार के नियम के अनिश्चित होने के कारण बहुत गहरा तथा विषैला प्रभाव पड़ता था। वे सभी अपने भाइयों एवं अन्य सम्बन्धियों के खून के प्यासे हो जाते थे। जिस निर्दयता से शाहजहाँ ने अपने भाई खुसरू का वध किया था उससे कहीं अधिक हृदय-विदारक रूप से औरंगज़ेब ने अपने भाई-भतीजों का रक्त बहाकर अपने मन को ठण्डा किया। इनके ऐसे अमानुषिक कृत्यों को याद करके यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार ऐसे सुशिक्षित, सुसंस्कृत मनुष्य इतने पाशविक कार्य कर सकते थे। इसका केवल एक ही उत्तर है कि सांसारिक सम्पदा तथा अधिकार की लोलुपता में फँसकर मनुष्य पतन के गर्त में पाताल तक पहुँच सकता है। मानव-इतिहास के इस दृश्य का आशय यही है कि मनुष्य की आन्तरिक पाशविक प्रवृत्ति पर सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परिवर्तन केवल इतना होता है कि सामाजिक संस्थाओं व नियमों के बंधनों के कारण व्यक्ति अपनी लालसा को पूरा करने के हेतु उतने घोर अत्याचार खुले तौर पर नहीं कर पाता जितने कोई सर्वशक्तिसम्पन्न बादशाह कर सकता था, अथवा है। इस युग में भी उन शक्ति-सम्पदा-लोलुप शासकों के अवतारों की कमी नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि हम इनकी कुण्डली से अपने को घिरा पाते हैं। भेद केवल इतना है कि इनके पास उतनी शक्ति नहीं है कि उस प्रकार के खुले अन्याय कर सकें; किन्तु दूसरी रीति से इनके कृत्य निष्ठुरता तथा अन्याय में इनके उपर्युक्त पूर्वजों से किसी प्रकार घटे नहीं हैं।

गद्दी पर बैठने से समय शाहजहाँ की आयु ३६ वर्ष की थी। अब उसमें उतनी स्फूर्ति तथा शक्ति न रही थी जैसी युवावस्था में थी। तथापि साम्राज्य के निकटवर्ती प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थिति से जो समस्याएँ उस समय उपस्थित थीं उनका समाधान करने में उसने कोई सुस्ती अथवा कसर नहीं की। जैसा हम दुख चुके हैं, दक्षिण में शाहजहाँ को बहुत सफलता मिली। परन्तु जब उसने मध्यएशिया की तरफ मुँह मोड़ा उस समय राजदरबार की परिस्थिति उतनी सुदृढ़ न रही थी। उसके बेटों में परस्पर वैमनस्य बढ़ने लगा था। शाहजहाँ स्वयं भोग-विलास में अधिकाधिक उतरता जा रहा था। वृद्धावस्था का प्रभाव भी उसपर काफी हो चुका था अतएव मध्यएशिया या कंधार में उसको असफलता का मुँह देखना पड़ा।

धार्मिक क्षेत्र में शाहजहाँ ने उस असहनशील नीति का खुले तौर पर सूत्रपात कर दिया जो पूरी तरह औरंगज़ेब के हाथों विकसित हुई और साम्राज्य के विनाश का एक बड़ा कारण बनी। १६३३ में शाहजहाँ ने उन सब हिन्दू मंदिरों को तुड़वा डालने का हुक्म दिया जो जहाँगीर के समय में बने थे और नए मंदिरों के बनने की मनाही कर दी। पुराने मंदिरों की मरम्मत भी बन्द कर दी गई। काश्मीर और पंजाब में जो हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने लगे थे उन्हें भी १६३४ में बन्द कर दिया गया। हिन्दुओं को यह भी आज्ञा दी कि वे कोई ऐसे धार्मिक कार्य खुले तौर पर न करें जो इसलाम के विरुद्ध हों। हिन्दुओं को मुसलमान

बनाने के लिए भी बहुत से प्रलोभन दिए गए। उसके राज्य के अन्तिम दिनों में शायद उसकी धार्मिक नीति और भी अधिक संकीर्ण हो गई होती यदि दारा के उदार प्रभाव से उसके पिता के अन्दर सहिष्णुता न उत्पन्न हुई होती।

शासन-व्यवस्था तथा प्रबन्ध में शाहजहाँ के युग में कोई कथनीय उन्नति नहीं हुई। जहाँगीर के समय में जो आर्थिक तथा सामान्य शासन में अव्यवस्था पैदा हो गई थी उसीको ठीक-ठाक करने में शाहजहाँ का समय व्यतीत हो गया। सेना के संगठन, वेतन आदि के नियमों में शाहजहाँ ने कुछ ऐसे सुधार किए जिनसे उसकी सेना की शक्ति तथा दृढ़ता पहले से बहुत बढ़ गई। साम्राज्य के उन प्रदेशों में जहाँ सूबेदार योग्य होते थे, शासन-कार्य में काफी उन्नति हुई। शुजा ने बंगाल में भूमिकर की व्यवस्था को बहुत सुधारा। दक्षिण प्रान्तों का सुधार मुर्शिदकुलीखाँ ने औरंगज़ेब की सूबेदारी में बड़ी योग्यता से किया।

विदेशों से शाहजहाँ बराबर पत्र-व्यवहार रखता था। उसने किसी उच्च प्रकार की वैदेशिक नीति तथा कूटनीति का परिचय नहीं दिया। उसका दूसरों पर प्रभाव प्रायः साम्राज्य की सम्पन्नता तथा उसके चकाचौंध करने वाले भवनों व राजदरबार के वैभव के कारण था। उसके समय में यूरोपीय व्यापारियों से भी कोई विशेष सम्बन्ध नहीं बढ़े। पुर्तगालियों के धार्मिक अत्याचारों के कारण उनको बहुत क्षति पहुँची। किन्तु अंग्रेज़ और हालैण्ड वालों का व्यापार बदस्तूर बढ़ता रहा। उनके परस्पर झगड़ों में साम्राज्य की तरफ़ से कोई हस्तक्षेप नहीं किया गया।

कला व संस्कृति के क्षेत्र में शाहजहाँ के द्वारा ऐसे कार्य सम्पन्न हुए जिनके बाहरी वैभव व चमत्कार से सम्राट् लोक-प्रसिद्ध हो गया, विशेषकर महारानी मुमताज़महल के लिए ताजमहल नामक अनुपम मकबरे का निर्माण कराके जो अपने अगाध प्रेम का परिचय शाहजहाँ ने दिया उससे संसार के भवन-निर्माताओं में उस सम्राट् की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ ने दिल्ली, आगरा, लाहौर तथा अजमेर आदि स्थानों पर अन्य बड़े विशाल एवं अलंकृत प्रासाद, मस्जिदें, दरबार-मण्डप एवं विशाल उद्यान निर्माण कराए जो बाह्य कला की दृष्टि से संसार में अद्वितीय समझे जाते हैं। कला व संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में भी इस युग में सराहनीय उन्नति हुई। हिन्दी का साहित्य-भांडार पूर्व-परम्परा के अनुयायी अनेक साधु-संत व अन्य लेखक भरपूर कर रहे थे। फ़ारसी तथा अरबी में अनेक इतिहास व अन्य विषयों पर ग्रन्थ लिखे गए जिनसे तत्कालीन इतिहास तथा समाज व संस्कृति पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

# दसवाँ प्रकरण
# साम्राज्य के विरुद्ध प्रतिरोध

## तैंतीस

## शिवाजी का कार्य और महत्त्व

**विगत** इतिहास का सिंहावलोकन—चौदहवीं शती के मध्य में दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना से एक बलशाली तथा उन्नतिशील मुस्लिम राज्य की बुनियाद पड़ गई थी। सुदूर दक्षिण में विजयनगर साम्राज्य ने बहमनी राज्य के विस्तार को रोक दिया था परन्तु कृष्णा व तुंगभद्रा नदियों के ऊपर का समूचा प्रदेश पश्चिम से पूरब तट तक धीरे-धीरे बहमनी वंश के अधिकार में आ गया था। १६वीं शती में मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत लगभग समस्त उत्तर भारत आ चुका था। अकबर ने अपने राजत्व-काल के अन्तिम दिनों में दक्षिण की मुस्लिम रियासतों को एक दूत-मण्डल भेजा था जिसके द्वारा उनसे मुग़ल सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार करने की माँग की गई थी। बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर की रियासतों ने उस समय टाल-मटोल का जवाब देकर मुग़ल दूतों को वापस लौटा दिया था क्योंकि वे न तो मुग़ल सम्राट् की माँग पूरी करने को तैयार थे और न उससे खुले तौर पर शत्रुता ही मोल लेना चाहते थे। अकबर ने अवसर पाकर खानदेश को जीतकर साम्राज्य में मिला लिया था और अहमदनगर का भी बहुत-सा हिस्सा अधिकृत कर लिया था। उसके बाद जहाँगीर ने निरन्तर चेष्टा की कि दक्षिण प्रदेश पर अधिकार कर सके किन्तु उसे इसमें सफलता प्राप्त न हुई। तदनन्तर, जैसा हम देख चुके हैं, शाहजहाँ ने अहमदनगर राज्य को पूरी तरह अपने कब्ज़े में कर लिया तथा गोलकुण्डा और बीजापुर को भी मजबूर किया कि वे सम्राट का आधिपत्य मान लें।

**दक्षिण की भीषण समस्या : बड़ी निश्शक्त दशा**—दक्षिण की इन रियासतों की मुख्य समस्या उस समय मुग़लों से अपनी रक्षा करने की थी। समूची १७वीं शती में मुग़ल-साम्राज्य के बढ़ते हुए प्रवाह से अपने अस्तित्व को बचाए रखने की चेष्टा में ही दक्षिण के नृपतियों का अधिक समय व सामग्री व्यतीत होते थे। हम देख चुके हैं कि सन् १६३६ में अहमदनगर राज्य के मुग़ल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिए जाने के बाद बीजापुर और मुग़ल सम्राट् ने एक संधि के द्वारा अपने राज्यों की सीमा

निश्चित कर ली थी। बीजापुर के सुलतान अब भी बड़े योग्य तथा महत्त्वाकांक्षी थे। १६३६ के अनन्तर आदिलशाही राज्य का विस्तार पश्चिम से पूरब तक के समुद्र-तट तक फैला गया था। उनकी इस सम्पन्नता का परिणाम एक ओर कला व साहित्य की उन्नति में प्रदर्शित हुआ किन्तु दूसरी ओर आदिलशाही सुलतान भोग-विलास में पड़कर बड़े वेग से पतन के मार्ग पर चले। आदिलशाही शक्ति अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचते ही बड़ी तीव्रगति से अवनति की ओर बढ़ी। १६५६ तक बीजापुर का सुलतान मुहम्मद आदिलशाह बड़ा योग्य था। उसी ने अपनी योग्यता से आदिलशाही शक्ति को इतना ऊँचा उठाया था। १६५६ में उसकी मृत्यु होते ही उसके नवयुवक बेटे अली आदिलशाह के समय में बीजापुर राज्य के विभिन्न सैनिक व सामन्तगण स्वतंत्र होने लगे और बीजापुर राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। ऐसी शोचनीय परिस्थिति में दक्षिण खण्ड की स्वतंत्रता को मुग़ल साम्राज्य से बचाने का कोई उपाय न था। इस संकटमय परिस्थिति के समय मराठा शक्ति का उत्थान बड़े वेग से आरम्भ हुआ और दक्षिण की रक्षा का भार इस शक्ति के कंधों पर आ गया। औरंगज़ेब के राज्यारोहण से पहले ही मराठा शक्ति बढ़नी शुरू हो गई थी और कालान्तर में उसका इतना विस्तार तथा बल-वैभव बढ़ा कि उसी के धक्के से ही मुग़ल साम्राज्य की जड़ें खोखली हो गई और आगामी डेढ़ शताब्दी तक मराठा शक्ति का आतंक देश के बहुत बड़े भाग पर बैठा रहा।

**शिवाजी के सामने विकट समस्या**—किन्तु समस्या अत्यन्त जटिल थी। दक्षिण की मुस्लिम रियासतें अत्यन्त निर्बल और निर्जीव हो चुकी थीं। पाठकों को यह बात ध्यानपूर्वक समझ लेनी चाहिए कि दक्षिण की मौलिक समस्या उस समय थी उत्तरी साम्राज्यवादी बाढ़ से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने की। इसी के लिए अकबर के समय से ही निज़ामशाही के रक्षक चाँदबीबी, मलिक अम्बर, अन्त में स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी आजीवन संघर्ष करते रहते थे। निज़ामशाही का अन्त हो जाने से उत्तरी बाढ़ बीजापुर और गोलकुण्डा तक पहुँच गई। इस बाढ़ को रोकने का दम उन दिनों मरणासन्न रियासतों में न था जिनका महाकाय शरीर बेजान व शिथिल पड़ा हुआ था। इधर शिवाजी तथा मराठा जाति में दक्षिण की रक्षा करने की आकांक्षा एवं हर प्रकार की योग्यता थी। पर उनके पास धन-सम्पत्ति आदि न थे जिनके बिना मुग़लों का विरोध करना असम्भव था। इस परिस्थिति ने शिवाजी को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह महाराष्ट्र तथा दक्षिण प्रदेश और उसकी सामग्री को अपने हाथ में ले ले। इसी से शिवाजी अपने बल व राज्य को बढ़ाने के लिए इस बात पर मजबूर हुआ कि आदिलशाही के कुछ हिस्सों पर अपना अधिकार स्थापित करे। अतएव आरम्भ से ही उसको आदिलशाह से संघर्ष करना पड़ा। आदिलशाह दक्षिण की स्वाधीनता की रक्षा करने की सामर्थ्य न रखता था, पर उसको अपने वंश तथा अधिकार को बचाए रखने की चिन्ता स्वाभाविक ही थी। अब उसके सामने एक भय के स्थान पर दो तरफ से भय उत्पन्न हो गया। मुग़ल साम्राज्यवाद तो उसको चट करने पर उतारू

था ही। दूसरी ओर शिवाजी के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि वह आदिलशाही राज्य पर अधिकाधिक कब्ज़ा करके मुग़ल साम्राज्य का विरोध करने के लिए अपनी शक्ति को बढ़ाए और ठोस बनाता जाए।

**शिवाजी के लिए अनुकूल परिस्थिति**—१६५८ में दक्षिण प्रान्ताधीश औरंगज़ेब ने उत्तर की ओर प्रस्थान किया और अपने पिता के रोगी हो जाने के कारण अपने भाइयों को नष्ट करके स्वयं सम्राट् बना। तब से २४ वर्ष तक दक्षिण में कई प्रान्ताधीश नियुक्त किए गए। किन्तु वे साम्राज्य-विस्तार की नीति बीजापुर के विरुद्ध ही चलाते रहे। शिवाजी ने इन लोगों की उदासीनता तथा सुस्ती से लाभ उठाकर अपनी शक्ति का विस्तार करना आरम्भ किया। शिवाजी की सफलता के कई कारण थे। मुग़ल सेना में पहला-सा जोश तथा सेवा-भाव अब न रहा था। उसको कई-कई वर्ष तक वेतन न मिलते थे इस कारण सेनाएँ बड़ी असंतुष्ट ही नहीं बलवा करने को उद्यत रहती थीं। शिवाजी बड़ी चतुराई से उनसे बातचीत करके बहुतों को अपनी ओर तोड़ लेता था। मुग़ल सैनिक सभी बड़े विलासी व आरामतलब हो चुके थे। परन्तु शिवाजी के सैनिक अन्यन्त जोशीले, देशभक्ति के उल्लास से भरपूर तथा बहुत ही सादा जीवन व्यतीत करनेवाले थे। उनकी गति इतनी तीव्र थी कि मुग़ल सेना पर उनके अकस्मात् हमलों का आतंक बैठ गया था।

शिवाजी की सेना में घाटमाथा निवासी मावाल लोगों का विशेष स्थान था। यह लोग शिवाजी के परम भक्त थे और एक अनुपजाऊ पहाड़ी प्रदेश में बसने के कारण उनमें बड़ा साहस तथा संघर्ष करने की शक्ति अद्वितीय मात्रा में पैदा हो गई थी।

**शिवाजी : आरम्भिक जीवन**—शिवाजी १० अप्रैल १६२७ को शिवनेर के पहाड़ी क़िले में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम शाहजी और माता का नाम जीजाबाई था। शाहजी पहले अहमदनगर राज्य का एक जागीरदार था जहाँ पर उसने मलिक अम्बर को मुग़ल आक्रमण के विरुद्ध बहुत सहायता दी थी। अहमदनगर राज्य के अन्त होने के बाद शाहजी ने बीजापुर के दरबार में नौकरी कर ली थी। वहाँ से उसको मैसूर और फिर पूर्वी तट पर नए प्रदेश जीतने के लिए भेज दिया गया था। शाहजी अपनी दूसरी स्त्री तुकाबाई और उसके बेटे व्यंकोजी को अपने साथ ले गया था किन्तु शिवाजी और उसकी माता जीजाबाई को पूना में अपने एक विश्वासी कर्मचारी दादाजी कोंडदेव के संरक्षण में छोड़ता गया था। इस एकान्तवास में पलने के कारण शिवाजी के चित्त पर बड़ा गहरा धार्मिक प्रभाव पड़ा और वह अपनी माता को एक देवी के समान पूजने लगा। शैशव व किशोर अवस्था में शिवाजी का दादाजी के सिवा और कोई साथी-संगी अथवा परामर्शदाता नहीं था। दादाजी ने उसको घुड़सवारी, तीरन्दाजी आदि सामरिक विद्याओं में निपुण कर दिया था। साथ ही अपनी माता से शिवाजी ने हिन्दू धर्मग्रन्थों, रामायण व महाभारत आदि को सुना था और उनकी शिक्षाओं से उसका मन भरपूर था। इसका परिणाम

यह भी हुआ कि शिवाजी को मुस्लिम तथा हिन्दू साधु-सन्तों के सत्संग में बहुत रुचि बढ़ गई ।

**मावालों की शिवाजी को सहायता**—महाराष्ट्र प्रदेश के पर्वतखण्ड के पूर्वी ढालू भाग पर मावाल जाति के वीर किसान रहते थे । शिवाजी के प्रारम्भिक कार्यों में इन लोगों ने उसकी बड़ी सहायता की और मुख्यतया यही उसकी सेना में भर्ती हुए । शिवाजी ने भी इन लोगों के साथ सह्याद्रि पर्वत की घाटियों व शिखरों पर पर घूम-घूमकर अपने जीवन को अत्यन्त कठोर व सहनशील बना लिया । १६४७ में दादाजी की मृत्यु हो गई तब से शिवाजी को अपने कार्यभार को स्वयं सँभालना पड़ा ।

**शिवाजी के प्रारम्भिक पराक्रम**—इन्हीं दिनों १६४६ में बीजापुर का सुलतान सख़्त बीमार हुआ और इस दशा में वह १० साल तक पड़ा रहा । अतएव उसका राज-काज सभी अव्यवस्थित हो गया । इस अवसर से लाभ उठाकर शिवाजी ने आस-पास के दुर्गों पर अधिकार करना शुरू कर दिया । एक साल के अन्दर तोरण, सिंहगढ़, सूपा तथा पुरन्धर के क़िलों पर अधिकार कर लिया और रायगढ़ नाम का एक नया किला भी बनवाया जो बीजापुर राज्य के अन्तर्गत था । इस पर बीजापुर सुलतान ने उसके पिता शाहजी को शिवाजी के साथ मिला हुआ समझकर उसे कैद में डाल दिया । शिवाजी ने मुग़ल वायसराय शाहज़ादे मुराद से अपील की और शाहजी को मुक्त करा दिया । इस समय तक शिवाजी उत्तर मावाल तथा दक्षिण कोंकण पर अधिकार कर चुका था । इस भूमि के अन्दर २० के लगभग बड़े-बड़े किले भी उसके अधिकार में आ गए थे । कुछ समय के लिए आदिलशाह से सुलह करने के अभिप्राय से शिवाजी ने उसको सिंहगढ़ का किला वापस दे दिया था । इस घटना के बाद कई वर्ष तक शिवाजी शक्ति-संगठन के कार्य में लगा रहा, चार वर्ष तक उसने क्या किया, इसका कुछ पता नहीं लगता । सन् १६५३ में आदिलशाह ने शाहजी को कर्नाटक का प्रबन्ध करने के लिए पूर्वी तट पर भेज दिया तब शिवाजी को मौका मिला कि वह फिर से अपनी शक्ति व भूमि बढ़ाने का कार्य आरम्भ करे ।

**जावली-विजय और चन्द्रराव का वध**—सन् १६५३ में उसने जावली के राजा से यह माँग की वह उसके साथ मिलकर राज्य-विस्तार में सहायता करे । इससे पहले शिवाजी ने जावली के जागीरदार व सामन्त चन्द्रराव मोरे को सहायता भी दी थी । परन्तु उसने शिवाजी के एक अपराधी को आश्रय देकर रख लिया । शिवाजी ने जावली पर चढ़ाई कर दी और चन्द्रराव मोरे तथा उसके दोनों पुत्रों को मार डाला ।

**शिवाजी और औरंगज़ेब के संघर्ष का आरम्भ**—औरंगज़ेब किसी-न-किसी बहाने से गोलकुंडा व बीजापुर की रियासतों से झगड़ा उठाकर उनको मुग़ल साम्राज्य में मिला लेने पर तुला हुआ था । १६५६ में मुहम्मद आदिलशाह की मृत्यु होते ही औरंगज़ेब ने बीजापुर पर चढ़ाई करने की तैयारी शुरू कर दी और बीजापुर के

दरबारियों व सैनिकों को अपनी तरफ तोड़ना शुरू कर दिया। शिवाजी को उसने उन सब किलों व ग्रामों आदि पर अधिकार रखने का वादा किया जो उसके कब्ज़े में थे। किन्तु शिवाजी उसके वादों पर विश्वास न करता था तथा वह यह भी आवश्यक समझता था कि मुग़ल साम्राज्य की बाढ़ से दक्षिण की रक्षा करना उसका मुख्य उद्देश है। अतएव शिवाजी ने अपनी सेनाएँ भेजकर मुग़ल राज्य के गाँवों में लूट-मार शुरू कर दी। उसकी सेना मार-काट करती हुई अहमदनगर तक पहुँच गई। शिवाजी ने इन्हीं दिनों जुन्नार उपप्रान्त को खूब लूटा और वह बड़ी वीरता के साथ रात्रि के समय किले की ऊँची दीवारों को लाँघकर उसके द्वारपालों को मारकर २०० घोड़े, बहुत-सा हीरा, जवाहरात तथा ३ लाख हुन ( एक सोने का सिक्का ) लेकर चलता बना। इस घटना की सूचना पाकर औरंगज़ेब ने बहुत-सी सेना शिवाजी का दमन करने के लिए भेजी और एक बार उसके सैनिकों ने मरहठा सेना को घेरकर बड़ी मारकाट भी की किन्तु शिवाजी काबू में न आया। थोड़े दिन बाद जब बीजापुर सुलतान ने औरंगज़ेब से सन्धि कर ली तो शिवाजी ने भी लड़ाई को जारी रखना हानिकारक समझा और उसे बंद कर दिया। उसने अपने एक राजदूत को औरंगज़ेब से पास भेजा, किन्तु इस समय अर्थात् जनवरी १६५८ में औरंगज़ेब उत्तर की तरफ प्रस्थान करने की तैयारी में था अतएव वह शिवाजी के प्रति कुछ न कर सका। औरंगज़ेब के दक्षिण से चले जाने तथा बीजापुरी राजदरबारियों के परस्पर झगड़ों से ऐसी संकटमय परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें शिवाजी को बे रोक-टोक अपनी आकांक्षा पूरी करने का पूरा अवसर मिल गया। उसने अविलम्ब पश्चिमी तट के पहाड़ों को पार करके कोंकण के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। दक्षिण की तरफ कोलाबा आदि स्थानों को भी उसने इसी समय ले लिया। १६५९ तक बड़ी विस्तृत भूमि, जिसमें पश्चिमी घाट से लेकर सतारा ज़िले तक और लगभग समस्त कोंकण सम्मिलित थे, उसके अधिकार में आ गई थी।

**शिवाजी की शक्ति को रोकने और नष्ट करने के प्रयास : बीजापुर का प्रयास** इधर बीजापुर के सुलतान को भी मुग़लों के भय से मुक्ति पाकर अपनी बिखरी हुई शक्ति को फिर से समेटने का अवसर मिला। शिवाजी की बढ़ती हुई शक्ति बीजापुर राज्य के लिए उतनी ही भयानक थी जितना मुग़ल साम्राज्यवाद। अतएव आदिल-शाह ने उसका दमन करने के लिए अपने एक उच्चतम सैनिक व दरबारी अफ़ज़ल खाँ को दस हजार सेना के साथ भेजा। नवयुवक सुलतान की चतुर राजमाता ने शिवाजी के सैन्यबल के बारे में सुन रखा था। अतएव उसने अफ़ज़लखाँ को यह समझा दिया था कि वह शिवाजी के साथ युद्ध न करके प्रत्युत मैत्री के बहाने से उसको पकड़ करके ले आए। अतएव अफ़ज़ल ने शिवाजी के पास अपने दूत कृष्णा जी भास्कर को भेजा। पर शिवाजी ने उससे बड़े अनुरोध के साथ यह पता लगा लिया कि अफ़ज़लखाँ के मन में छल है। फिर उसने अपने दूत गोपीनाथ को भेजकर यह भी पता लगा लिया कि अफ़ज़ल उसको भेंट करने के अवसर पर पकड़ लेने की

योजना बना रहा है। यह सूचना पाकर शिवाजी ने अपनी रक्षा के लिए हर प्रकार की आवश्यक तैयारी व सावधानी कर ली। उसने अपने एक हाथ में बाघनख पहन लिया और दूसरे में एक छोटा-सा किन्तु बड़ा तीक्ष्ण छुरा छिपा लिया। प्रतापगढ़ के किले के चारों ओर उसने अपनी सेनाएँ लगादीं। शिवाजी और अफ़ज़ल की भेंट के लिए एक ऊँचा थला बनाया गया और उसके नीचे शिवाजी ने अपने अंगरक्षकों को खड़ा कर दिया। अफ़ज़लख़ाँ उस थले पर पहले विराजमान था। जब शिवाजी उससे मिलने के लिए थले पर चढ़ा, अफ़ज़लख़ाँ ने उसको अपनी बाँहों में लपेटकर बड़े ज़ोर से दबाया और बाईं बाँह में उसकी गर्दन को इतने ज़ोर से दबाया कि शिवाजी का दम घुटने लगा। फिर उसने अपना बड़ा छुरा निकालकर शिवाजी की कोख में मारा। किन्तु शिवाजी ने अन्दर लोहे का कवच पहन रखा था जिसके कारण छुरा उसपर कोई असर न कर सका। यह देखकर शिवाजी को सूझ आई और उसने अपना बायाँ हाथ अफ़ज़लख़ाँ की कमर में डालकर बाघनख से उसके पेट को चीर डाला, और सीधे हाथ का छुरा उसकी पसलियों में भोंक दिया। अफ़ज़लख़ाँ के हाथ-पैर ढीले पड़ गए और शिवाजी उसके चंगुल से छूटकर अपने अंग-रक्षकों की तरफ़ भागा। अफ़ज़ल के एक सिपाही ने भागते हुए शिवाजी के सिर पर अपनी तलवार का वार किया जिससे उसकी पगड़ी कट गई किन्तु उसकी लोहे की टोपी ने उसे यहाँ भी बचा लिया। तुरत ही शिवाजी के अंगरक्षक जीवमहाला ने उस मुसलमान सैनिक का हाथ अपनी तलवार से उड़ा दिया और फिर एक वार से उसका वध कर डाला। इतने ही में शिवाजी का दूसरा सैनिक घायल अफ़ज़लख़ाँ का सर काटकर अपने स्वामी के पास ले गया। फिर शिवाजी और उसके साथियों ने प्रतापगढ़ की चोटी पर से एक तोप चलाई जिसे सुनकर मोरो त्र्यम्बक और नेताजी पालकर के नेतृत्व में हज़ारों मराठे झाड़ियों में से निकलकर बीजापुरी सेना पर टूट पड़े और भयानक मार-काट की और उनका सब सामान लूट लिया। अनन्त सैनिक सामग्री, तोपखाने, गाड़ियाँ, गोला-बारूद, घोड़े तथा बारबरदारी के बहुत से जानवर हाथी, ऊँट तथा दस लाख रुपया नक़द उनके हाथ में पड़ा। इस विजय से प्रोत्साहित होकर मराठे एकदम टिड्डीदल की तरह दक्षिण कोंकण तथा कोल्हापुर आदि जिलों में जा उतरे और पन्हाला के दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु अली आदिलशाह द्वितीय ने अपने एक हब्शी गुलाम सिद्दी जोहर को किला का घेरा डालने के लिए भेजा और अन्त में शिवाजी को यह किला छोड़ देना पड़ा।

**मुग़ल सम्राट् का प्रयास : शायस्ताख़ाँ**—जब औरंगज़ेब ने देखा कि बीजापुर सुलतान शिवाजी को दमन करने में बिलकुल असमर्थ है तो उसने शायस्ताख़ाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। दक्षिण की तरफ से बीजापुर की सेना ने शिवाजी की भूमि पर आक्रमण किया और शायस्ताख़ाँ ने अहमदनगर से एक बड़ी सेना लेकर पूना पर चढ़ाई की। शिवाजी ने खुले मैदान में उससे युद्ध न किया। शायस्ताख़ाँ ने पूना के अतिरिक्त चाकन के किले पर अधिकार किया। फिर १६६१ में उसने

कोंकण के उत्तरी भाग पर चढ़ाई आरम्भ की। किन्तु यहाँ शिवाजी ने चुपके से आगे बढ़कर मुग़ल सेना का रास्ता काट दिया। मुग़ल सेनापति करतलबख़ाँ ने अपने शिविर का सारा सामान व सम्पत्ति शिवाजी को देकर बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाई। इसके बाद मराठा सेना बराबर मुग़ल सेना पर छापा मारती रही यद्यपि एक-दो स्थान पर मुग़लों ने उनको भारी शिकस्त दी। वर्षा का मौसम शुरू हो जाने के कारण शायस्ताखाँ पूना जाकर मामूली मकान में रहने लगा था उसके थोड़ी ही दूर पर उसका सहकारी सेनापति महाराजा जसवन्तसिंह भी १०,००० सेना के साथ ठहरा हुआ था। शिवाजी ने इस अवसर पर जिस फुर्ती तथा तीव्रबुद्धि से शायस्ता खां पर छापा मारा उसका उदाहरण कठिनाई से कहीं मिलेगा। मुग़ल सेना के दोनों ओर उसने एक-एक हज़ार मराठा सेना छिपाकर लगा दी और स्वयं ५ अप्रैल १६६३ को रात के अंधेरे में बड़ी निडरता के साथ पूना में घुस गया। मुग़ल पहरेदारों को बड़े निडर होकर उसके साथियों ने कह दिया कि वे दक्खिन के सिपाही हैं। वह महीना मुसलमानों के रोज़ों का था, इसलिए नवाब के घराने के नौकर-चाकर रात का खाना खाकर गहरी नींद सो गए थे। बावर्ची आदि अन्य नौकरों को शिवाजी के साथियों ने इस तरह काट डाला कि उनकी आवाज़ तक न निकली। और फिर शायस्ताखाँ के सोने के कमरे में २०० आदमियों के साथ शिवाजी घुस पड़ा। नवाब की घबराई हुई स्त्रियों के हाहाकार से शायस्ताखाँ की आँख खुली तो शिवाजी उसके सर पर खड़ा था। शायस्ताखाँ भागने न पाया कि शिवाजी ने उस पर वार किया जिससे उसका अंगूठा कटकर गिर पड़ा। इतने में ही किसी ने कमरे की बत्ती बुझा दी और अँधेरे में शायस्ताखाँ की लौंडियाँ उसको उठाकर दूर ले गईं। परन्तु मराठों ने बड़ी भारी मार-काट की जिसमें शायस्ताखाँ का बेटा अबुल-फ़तह भी मारा गया। यह सब कार्य बहुत जल्दी-जल्दी करने के बाद शिवाजी अपने आदमियों को एकत्र करके चुपके से शहर के बाहर निकल गया ताकि जसवन्तसिंह की सेना इस घटना की सूचना पाकर उनको न आ दबाए। शायस्ताखाँ के बेटे के अतिरिक्त उसके ४० नौकर-चाकर, ६ बीवियाँ और कनीज़ें आदि भी मारे गए और बहुत से घायल हुए। इस घटना से शिवाजी का आतंक चारों ओर ऐसा बैठ गया कि सब लोग उसे शैतान का अवतार समझने लगे। औरंगज़ेब ने इसकी जिम्मेदारी शायस्ताखाँ की असावधानी पर रखी और उसे वहाँ से हटाकर बंगाल भेज दिया। उसके स्थान पर शाहज़ादे मुअज़्ज़म को नियुक्त किया।

**शिवाजी को धन की आवश्यकता : सूरत की लूट**—उपर्युक्त घटना के बाद शिवाजी ने एक और बड़ी भारी वीरता तथा निर्भीकता का कार्य किया। उसने जनवरी सन् १६६४ में सूरत नगर पर आक्रमण करके उसको कई दिन तक बुरी तरह से लूटा। सूरत का शहर एक बड़ा भारी बन्दरगाह था और उसमें अतुल धन व सम्पत्ति थी। वहाँ की केवल समुद्री चुंगी की आमदनी ३२ लाख रुपए साल थी। एक रोज बहुत सवेरे शिवाजी सूरत पर अपनी सेना लेकर टूट पड़ा। जब शहर के

लोगों को सूचना मिली कि शिवाजी शहर को लूटने के लिए आ रहा है तो वे इतने भयभीत हुए कि अपने बाल-बच्चों को लेकर अपनी जान बचाने के लिए चारों ओर भागने लगे। अमीरों ने बड़ी कठिनाई से किले के अन्दर शरण ली। अंग्रेज़ और डच सौदागरों ने अपनी रक्षा के लिए स्वयं तैयारी की। शिवाजी के साथियों ने चार दिन तक बराबर शहर को बेदरदी से लूटा और सैकड़ों घरों को जलाकर भस्म कर दिया। उस समय के दो बड़े धनी सौदागर, जिनकी सम्पत्ति संसार भर में प्रसिद्ध थी, वीरजी बोहरा और हाजी सैयदबेग थे। इन दोनों के घरों को मराठा सैनिकों ने कई दिन तक पूरी तरह से लूटा। इस अवसर पर सूरत के कायर शासक इनायतख़ाँ ने, जो भयभीत होकर किले में जा छिपा था, शिवाजी को कत्ल करने का षड्यन्त्र रचा। परन्तु शिवाजी के अंग-रक्षकों ने उसका काम तमाम किया। शिवाजी अपनी सेना-सहित लगभग एक करोड़ रुपए का सामान लेकर वापस लौटा। मुग़ल सम्राट् ने सूरत के गरीब सौदागरों की सहायता के लिए एक साल तक उनसे कोई कर वसूल न किए और अंग्रेज़ तथा डच सौदागरों के माल पर उनकी बहादुरी के उपलक्ष में उनके सामान पर एक प्रतिशत कर कम कर दिया।

**शिवाजी के विरुद्ध मिर्ज़ा राजा जयसिंह का भेजा जाना**—शायस्ताख़ाँ की असफलता तथा सूरत की लूट ने औरंगज़ेब को अत्यन्त उद्विग्न कर दिया। उसने अब अपने योग्यतम सेनापति जयसिंह तथा दिलेरख़ाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह अपने समय का सर्वमान्य, प्रसिद्ध योद्धा तथा रणकुशल सैनिक था। साथ ही वह उतना ही महान् कूटनीतिज्ञ भी था। वह तुर्की, फ़ारसी, उर्दू तथा राजस्थानी भाषाओं का अनन्य विद्वान् था। राजपूतों के से अक्खड़पन, बेबाकी आदि गुणों के प्रतिकूल उसमें बड़ा सन्तोष, शील तथा शान्ति और मधुर भाषण आदि गुण विद्यमान थे।

जयसिंह ने दक्षिण पहुँचते ही शिवाजी को सब तरफ़ से निस्सहाय तथा मित्रहीन करने की योजना की। उसने बीजापुर के सुलतान को आश्वासन दिया कि यदि वह मुग़ल सेना की सहायता करेगा तो उसका राजकर माफ़ कर लिया जाएगा। शिवाजी के सैनिकों व उच्च कर्मचारियों को भी घूस तथा उच्च पद के प्रलोभन देकर उसने तोड़ने की चेष्टा की। इस युद्ध का योग्यता से संचालन करने के लिए उसका उच्चतम अधिकार अपने हाथ में रखा और औरंगज़ेब को उसका यह आग्रह मानना पड़ा। पहले उसने पुरन्धर के क़िले पर घेरा डाला। पुरन्धर का किला अत्यन्त अजेय एक बड़े ऊँचे पहाड़ की चोटी पर स्थित है। उसके निकट वज्रगढ़ का किला उसका सहायक है। जयसिंह ने पहले वज्रगढ़ पर प्रहार किया और बड़ी वीरता के साथ दिलेरख़ाँ की एक टुकड़ी ने उस किले पर अधिकार कर लिया। तदनन्तर दिलेरख़ाँ को पुरन्धर के घेरे के लिए छोड़कर जयसिंह ने बाकी मुग़ल सेना के साथ मराठा प्रदेश में हमले करने शुरू किए ताकि शिवाजी को यह पता चल जाए कि मुगल सेना इतनी काफ़ी है कि घेरा डालने के साथ-साथ देश के चारों ओर आक्रमण भी कर

सकती है। इधर दिलेरखाँ बड़ी मुस्तैदी के साथ पुरन्धर के लेने का प्रयत्न करता रहा। मराठा सेना ने किले पर से जलते हुए गन्धक तथा गोला-बारूद और भारी-भारी पत्थर मुग़लों पर फेंके जिससे घेरे का कार्य कुछ रुक गया। जयसिंह ने इसका प्रतिकार करने के लिए बड़े-बड़े लकड़ी के मचान बनवाए और उनपर से गोलाबारी करानी आरम्भ की। अन्त में उसकी जीत हुई। शिवाजी ने यह देखकर कि अब बचने का कोई उपाय नहीं है, जयसिंह से सन्धि करने का निश्चय किया और ११ जून सन् १६६५ के दिन वह उसके डेरे में इस कार्य के लिए स्वयं पहुँचा। जयसिंह ने उसका समुचित आदर-मान किया। दोनों ओर से सन्धि की शर्तों पर बड़ी देर तक बातचीत होने के बाद निश्चय हुआ कि शिवाजी के २३ किले, जिनकी वार्षिक आय ४ लाख हुन थी, मुग़ल सम्राट् को दिए जाएँ और राजगढ़ समेत १२ किले (एक लाख हुन आय के) शिवाजी को छोड़ दिए जाएँ। साथ ही शिवाजी मुग़ल-सम्राट् के पदाधिकारियों में सम्मिलित हो जाए। शिवाजी ने राजा जयसिंह से प्रार्थना की कि वह अपने प्रतिनिधि के रूप में अपने बेटे को भेज देगा ताकि उसे स्वयं जाने पर विवश न किया जाए। इसी प्रकार की अन्य शर्तें भी शिवाजी ने जयसिंह से निर्णय कर लीं। जयसिंह ने बड़ी चतुराई से शिवाजी की यह शर्त मान ली कि बीजापुर की भूमि पर अपने सैन्यबल से अधिकार कर ले। मुग़लों के लिए इस शर्त का लाभ यह था कि शिवाजी और बीजापुर में परस्पर संघर्ष बना रहेगा और वे मुग़लों के विरुद्ध कभी एका न कर सकेंगे। यह सब बातें निर्णय करके जयसिंह ने शिवाजी से लिए हुए किलों पर अधिकार कर लिया और वापस लौटने की तैयारी की।

**शिवाजी का मुग़ल दरबार में अपमान (१६६६)**—चलते समय जयसिंह ने शिवाजी को हर प्रकार के आदर-सत्कार तथा उच्च पद आदि मिलने की आशा दिलाकर आगरा आने पर तैयार कर लिया था। तिस पर भी शिवाजी और उसके साथी अत्यन्त शंकित थे। बहुत दिन तक शिवाजी के मुग़ल दरबार में जाने का निश्चय न कर पाए थे। अन्त में जयसिंह ने शपथ खाकर शिवाजी की रक्षा का पूरा आश्वासन दिया और उसे आने पर तैयार किया। तब शिवाजी ने अपनी अनुपस्थिति में अपने राज्य के शासन की व्यवस्था अत्यन्त दूरदर्शिता तथा गम्भीरता के साथ की। अपनी माता को उसने अपना स्थानापन्न बनाया और अन्य अधिकारियों को उनके कर्त्तव्य समझा-बुझाकर उसने उत्तर-भारत की ओर अपने बड़े बेटे शंभुजी, ७ अन्य अफ़सर तथा ४,००० सेना के साथ प्रस्थान किया। मई मास में वे आगरे पहुँचे और १२ तारीख को उन्हें आगरे के किले में सम्राट् के दरबार में आमन्त्रित किया गया। शिवाजी की तरफ से १,५०० अशर्फियाँ और ६,००० रुपये सम्राट् को नजर किए गए। शिवाजी को सम्राट के सिंहासन तक ले जाया गया और फिर तीसरे दर्जे के दरबारियों में खड़ा कर दिया गया। शिवाजी को बतलाया गया कि उसका मनसब पाँचहज़ारी है। शिवाजी को इस अपमान से इतना क्रोध आया कि उसने जयसिंह के बेटे रामसिंह को और राजा जसवन्तसिंह को जो वहीं खड़े थे, बड़े ज़ोर से

डाँटा और फिर क्रोध के मारे शिवाजी बेहोश होकर गिर पड़ा। सारे दरबार में खलबली मच गई। शिवाजी को एक पास के कमरे में ले जाया गया और होश में आने पर उसके ठहरने के स्थान पर भेज दिया गया। शिवाजी ने औरंगज़ेब पर धोखा देने का अभियोग लगाया। औरंगज़ेब ने शिवाजी को शहर के बाहर जयपुर महल में रखने की आज्ञा दी और कुँवर रामसिंह को उसकी देख-भाल करने के लिए नियुक्त किया। थोड़े दिन बाद उसके निवास-स्थान पर पुलिस का कड़ा पहरा लगा दिया गया। जयसिंह, जो अभी दक्षिण में ही था, शिवाजी की इस संकटमय परिस्थिति से अत्यन्त चिन्तित हुआ और कुँवर रामसिंह को बराबर पत्रों द्वारा आदेश देता रहा कि शिवाजी की जान पर किसी प्रकार की आँच न आने दे।

**शिवाजी का आगरे से बचकर निकल जाना**—इस प्रकार मुग़ल सम्राट् के चंगुल में अपने को फँसा पाकर शिवाजी ने बचकर निकलने की युक्ति स्वयं ही सोचनी शुरू की थी। उसने बीमारी के बहाने से ब्राह्मणों और भिखारियों इत्यादि के लिए हर रोज़ शाम को बहुत-सी मिठाई इत्यादि बहुत बड़े-बड़े टोकरों में भेजना शुरू किया। पहरेदारों ने इन टोकरों को दो-चार रोज़ खखोड़ा और उनमें कुछ न पाकर फिर तलाशी लेना बन्द कर दिया। १९ अगस्त के दोपहर बाद शिवाजी ने पहरेदारों को खबर करदी कि उसकी तबियत बहुत खराब है और इसलिए उसको कोई न छेड़े। शाम के समय शिवाजी का सौतेला भाई हीराजी फ़रज़न्द, जिसकी सूरत बहुत-कुछ शिवाजी से मिलती-जुलती थी, शिवाजी के पलंग पर चादर ओढ़कर लेट गया और सिर्फ एक बाँह बाहर निकाल रखी जिसमें वह शिवाजी का सोने का कड़ा पहने हुए था। शाम के झुटपुटे में शिवाजी और उसका बेटा मिठाई के टोकरों में छिपकर आराम से बे रोक-टोक बाहर निकल गए और शहर के बाहर पहुँचकर आगरे से छः मील एक गाँव में पहुँचे जहाँ उसका न्यायाधीश नीराजी रावजी घोड़े लिए उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। जल्दी-जल्दी शिवाजी और उसका बेटा तथा नीराजी रावजी दो अन्य अफ़सरों के साथ भिखारियों का वेश बनाकर और अपने सारे शरीर पर भस्म लगाकर मथुरा की तरफ़ भागे। उनके शेष साथी सीधे दक्षिण की तरफ़ भेज दिए गए।

उधर आगरे में शिवाजी के पलंग पर उसका भाई अगले दिन दुपहर बाद तक लेटा रहा और फिर वहाँ से उठकर चुपचाप बाहर निकल गया और पहरेदारों से कहता गया कि कोई कोलाहल न करे क्योंकि शिवाजी बहुत बीमार हैं। धीरे-धीरे जब पहरेदारों ने देखा कि घर में बिलकुल सन्नाटा-सा है और शिवाजी के मिलने-जुलनेवाले कोई नहीं आ रहे हैं तो उन्हें संशय हुआ और उन्होंने शिवाजी के कमरे में झाँका तो देखा कि पलंग खाली पड़ा है। जब सम्राट् को इसकी खबर मिली तो उसने कुँवर रामसिंह के ऊपर सन्देह किया कि शिवाजी उसके आँख छिपाने से बचकर भागा है। उसको पदच्युत कर दिया गया। शिवाजी दक्षिण की तरफ जाने के बदले पूर्व की ओर प्रयाग, बनारस व गया आदि होता हुआ और मार्ग में कई

बार बाल-बाल बचकर उड़ीसा का चक्कर लगाता हुआ महाराष्ट्र पहुँचा।

**वापस लौटने पर शिवाजी का कार्य**--स्वदेश पहुँचकर शिवाजी ने देखा कि परिस्थिति उसके बहुत अनुकूल है। मिर्जा राजा जयसिंह अत्यन्त वृद्ध हो चुका था और १६६७ में उसकी मृत्यु हो गई थी। उसके स्थान पर शाहजादा मुअज़्ज़म जैसा सुस्त और आरामतलब आदमी नियुक्त किया गया था। अब शिवाजी को किसी प्रकार का भय न रहा। मुगल सेनापति दिलेरखाँ बड़ा योग्य सैनिक था किन्तु मुअज़्ज़म से उसकी न बनती थी। मुअज्ज़म के साथी और मित्र महाराजा जसवन्तसिंह का वह खुले तौर पर अपमान करता था। परिणाम यह हुआ कि मुगल सेना में दलबन्दी हो गई और इस परस्पर कलह के कारण वे मराठों का कुछ न बिगाड़ सके। इसके अतिरिक्त सम्राट् को राज्य के अन्य स्थानों में शान्ति स्थापित करने के लिए सेनाएँ भेजना आवश्यक था। उत्तर-पश्चिम सीमा पर अफ़गानी फिरके उपद्रव करने लगे थे जिसके कारण बहुत बड़ी सेना उस तरफ भेजनी आवश्यक हुई। इस ओर शिवाजी ने लगभग तीन वर्ष तक मुगलों से कोई छेड़छाड़ न की और शान्ति के साथ अपनी शक्ति को संचित एवं सुसंगठित किया। साथ ही बीजापुर तथा जंजीरा के सिद्दी नवाबों की भूमि, जो पश्चिमी तट पर थी, उस पर अधिकार कर लिया। उसने जसवंत के द्वारा मुगल सम्राट् से संधि का प्रस्ताव किया उसको मुअज़्ज़म और औरंगज़ेब ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। १६६८ की संधि के अनुसार सम्राट् ने शिवाजी का राजा की उपाधि धारण कर लेना स्वीकार कर लिया और उसके कुछ किले लौटा दिए। इस सन्धि के अनुसार शिवाजी ने शंभुजी को मुअज़्ज़म के पास बहुत-सी सेना के साथ भेजा। शम्भुजी को पाँचहज़ारी मनसब प्रदान किया गया और बहुत-सी जागीर आदि दी गई। इन्हीं दिनों शिवाजी अपने भावी शासन के संगठन को पूरे विस्तार के साथ व्यवस्थित करता रहा और तभी से एक सुव्यवस्थित स्थायी मराठा राज्य की नींव पड़ी।

परन्तु औरंगज़ेब के मन में शिवाजी की तरफ से शंका भरी हुई थी और वह उसे किसी-न-किसी प्रकार पकड़ लेना चाहता था। सम्राट् को अपने बेटे मुअज़्ज़म पर विश्वास न था। १६६९ के अन्तिम दिनों में औरंगज़ेब ने शिवाजी की बरार की जागीर एक झूठे बहाने से छीन ली। इस पर शिवाजी ने तुरन्त लड़ाई छेड़ दी। मराठा सैनिकों ने मुगल भूमि में लूट-मार करना आरम्भ किया और बहुत ही जल्दी वे सब किले जो पुरन्धर की संधि के अनुसार मुगलों को दे दिए गए थे, वापस ले लिए। मावले सिपाहियों ने 'हर-हर महादेव' के नाद से मुगल सेना में ऐसा आतंक उत्पन्न कर दिया कि बहुत-से मुगल फौजदार व सैनिक जान बचाकर भाग निकले। तीन-चार महीने के अन्दर ही शिवाजी ने अहमदनगर के आस-पास लगभग ५० गाँवों को लूटकर अपनी बल-वृद्धि की।

मुग़ल शिविर में मुअज्ज़म और दिलेरखाँ में परस्पर इतना झगड़ा हो गया कि दिलेरखाँ को वहाँ से वापस आना पड़ा। इन परस्पर के झगड़ों के कारण मुगल

सेना सर्वथा निरर्थक हो गई और शिवाजी को अपनी शक्ति बढ़ाने का बड़ा अच्छा अवसर मिल गया। वह अब खुले तौर पर तीस हज़ार सेना लेकर मुगल-भूमि पर धावे मारने लगा।

**सूरत की दूसरी लूट**—१६७० के अक्तूबर मास में शिवाजी ने सूरत को फिर लूटने की तैयारी की और १५००० घुड़सवार व प्यादे लेकर शहर पर चढ़ गया। शिवाजी के आने की सूचना पाकर शहर के सब हिन्दुस्तानी व्यापारी भाग गए। शिवाजी की सेना ने आसानी के साथ शहर पर अधिकार कर लिया और उसे खूब लूटा। केवल विदेशी व्यापारियों के कारखाने किसी तरह बच सके। इस बार शिवाजी को लगभग ६६ लाख रुपये का माल हाथ लगा। किन्तु शहर की हानि का अनुमान करना बहुत कठिन है क्योंकि लूट-खसोट करने के बाद मराठा सेना ने शहर के बड़े-बड़े मकानों को जलाकर भस्म कर दिया था।

**शिवाजी की मुग़ल सेना से मुठभेड़ : राज्य का विस्तार**—१६७० के अन्तिम दिनों में शिवाजी ने महाराष्ट्र के उत्तरी प्रदेश बागलाना को लूटना शुरू किया और मुग़ल सेनापति दाऊदखाँ को पूरी तरह परास्त किया तथा मराठा सेनाओं ने कोंकण आदि प्रदेशों में फैलकर अधिक भूमि पर अधिकार किया और कई प्रकार से मुग़ल सेना को त्रस्त कर दिया। इन घटनाओं से औरंगज़ेब बहुत शंकित हुआ और दक्षिण की गम्भीर परिस्थिति उसकी समझ में आई। उनसे शिवाजी के विरुद्ध महाबतखाँ को भेजा किन्तु उसके कार्य से असंतुष्ट होकर फिर दिलेरखाँ और बहादुरखाँ को बागलाना पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। इन लोगों ने मराठा सेना से उनके किले छीनने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। १६७२ ई० में मराठा सेना ने कोली प्रदेश पर चढ़ाई करके उसके राजा से १७ लाख रुपया छीन लिया और इस प्रकार कोंकण से सूरत तक का रास्ता उनके लिए सुरक्षित हो गया। फिर शिवाजी के सैनिकों ने सूरत के व्यापारियों से ४ लाख रुपया चौथ माँगी और उनको धमकी दी कि इस माँग को पूरा न करने की सूरत में उनको फिर लूटा जाएगा। इसके बाद मराठों ने सन् १६७३ में बरार और तिलंगाना तक धावे मारने आरम्भ किए और चाँदा राज्य तक पहुँच गए। दूसरी ओर उन्होंने बीजापुर राज्य पर भी धावा बोलकर वहाँ के व्यापार-केन्द्रों व धनवान् लोगों को खूब लूटा। जब ऐसी संकटमय परिस्थिति दक्षिण में उत्पन्न हो रही थी उसी समय उत्तर-पश्चिम सीमा पर अफ़ग़ान विद्रोह भी बड़ा भयानक रूप धारण कर रहा था।

**शिवाजी का राज्याभिषेक (जून १६७४)**—अब शिवाजी लगभग समस्त कोंकण व दक्षिण प्रदेश पर अधिकार कर चुका था और मुग़ल सेना का उसको कोई भय न रह गया था। अब उसने बड़े समारोह के साथ अपना राज्याभिषेक करने की तैयारी की। इस शुभ कार्य को सम्पन्न करने के लिए काशी से पंडित आमंत्रित किए गए। अभिषेक की समस्त क्रियाएँ प्राचीन भारतीय विधि के अनुसार की गईं। इस अवसर पर शिवाजी ने जी खोलकर ब्राह्मणों आदि को दान-दक्षिणा दी तथा अन्य क्रिया-कलापों

में बहुत-सा धन व्यय किया। तदनन्तर फारसी भाषा के स्थान पर संस्कृत राज्यभाषा बनाई गई और राज्य के अधिकारियों की उपाधियाँ भी फारसी भाषा से संस्कृत में परिवर्तित की गईं। राज्याभिषेक के अवसर पर शिवाजी ने जो नई शासन-व्यवस्था निर्धारित की उसका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा।

**राज्याभिषेक के बाद की घटनाएँ**—राजतिलक पर शिवाजी ने इतना अधिक व्यय कर दिया था कि उसे रुपए की बहुत आवश्यकता हुई। इसके अतिरिक्त मुग़लों ने उसके राज्य की भूमि पर धावे बोलने शुरू किए जिसके बदले में शिवाजी ने मुग़ल प्रान्त पर भड़ौच तथा नर्मदा के उत्तरी प्रदेश तक आक्रमण करने आरंभ कर दिए। उसकी एक छोटी-सी सेना ने मुग़ल सेनापति बहादुरखाँ को प्रलोभन देकर ५० मील के लगभग मराठा शिविर के भीतर तक खींच लिया। तब शिवाजी उसपर एकाएक टूट पड़ा और मुग़ल शिविर में खूब लूट-मार की। इस अवसर पर एक करोड़ रुपया और २०० घोड़े शिवाजी के हाथ लगे। इसी प्रकार उसने मुग़लों के कई अन्य स्थानों पर आक्रमण करके उनपर अधिकार कर लिया। सन् १६७६ के आरंभ में शिवाजी का कार्य उसकी सख्त बीमारी के कारण हलका पड़ गया।

**करनाटक की चढ़ाई**—१६७० के आरंभ में शिवाजी ने अपने पिता की करनाटक अर्थात् पूर्वीतट की जागीर को वापस लेने की तैयारी की। एक बड़ी सेना लेकर वह गोलकुण्डा के मार्ग से दक्षिण की ओर रवाना हुआ। गोलकुण्डा के कुतुबशाह से उसने मित्रता कर ली, और फिर जिंजी के किले का घेरा डाल दिया। जिंजी के किलेदार ने बिना झगड़ा किए किला खाली कर दिया। शिवाजी ने वहाँ लगान आदि का बन्दोबस्त महाराष्ट्र के समान शुरू किया। तब शिवाजी ने अपने सौतेले भाई व्यंकोजी से कहा कि पुरखों की जायदाद का आधा हिस्सा हमें दो। व्यंकोजी ने पहले तो आनाकानी की परन्तु जब शिवाजी ने यह देखा कि वह सीधी तरह मानने को तैयार नहीं है तो उसने अपने पिता की मैसूर की समूची जागीर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद एक बार व्यंकोजी और शिवाजी की सेनाओं में लड़ाई भी हुई जिसमें व्यंकोजी हार गया। इसके बाद शिवाजी के समझाने-बुझाने पर व्यंकोजी ने शिवाजी से संधि कर ली और अपनी जागीर की आधी आमदनी शिवाजी को देने की शर्त मान ली। इस चढ़ाई से शिवाजी के आतंक एवं बल-वैभव में बहुत वृद्धि हुई। बंगलौर, कोलार आदि किले और गदग, मुलगुंड, लक्ष्मीश्वर आदि कई बड़े-बड़े स्थान उसके अधिकार में आ गए। इनमें से कुछ उसने व्यंकोजी और उसकी स्त्री को दे दिए। इतने में उसको सूचना मिली कि मुग़लों ने गोलकुण्डा पर आक्रमण कर दिया है। यह सूचना पाते ही वह दक्षिण की जागीर पर अपना एक शासक नियुक्त करके १६७८ में रायगढ़ वापस लौट आया।

**मुग़लों से संघर्ष**—इस समय खाँजहाँ के बदले मुग़लों के सबसे महान् सैनिक दिलेरखाँ को फिर से दक्षिण भेजा गया। गोलकुण्डा ने जो शिवाजी से संधि की थी उससे बीजापुर का सुलतान बहुत नाराज़ हुआ था। इसका फायदा उठाकर दिलेरखाँ

ने बीजापुर से मिलकर गोलकुण्डा पर आक्रमण कर दिया। किन्तु कुतुबशाह के योग्य मराठा मन्त्री मदन पण्डित ने अत्यन्त चतुराई तथा परिश्रम से सेना एकत्र करके बीजापुरी व मुग़ल दोनों सेनाओं को परास्त कर दिया। औरंगज़ेब को दिलेरखाँ का गोलकुण्डा पर चढ़ाई करना ठीक न लगा। उसने तुरंत आज्ञा भेजी कि गोलकुण्डा से
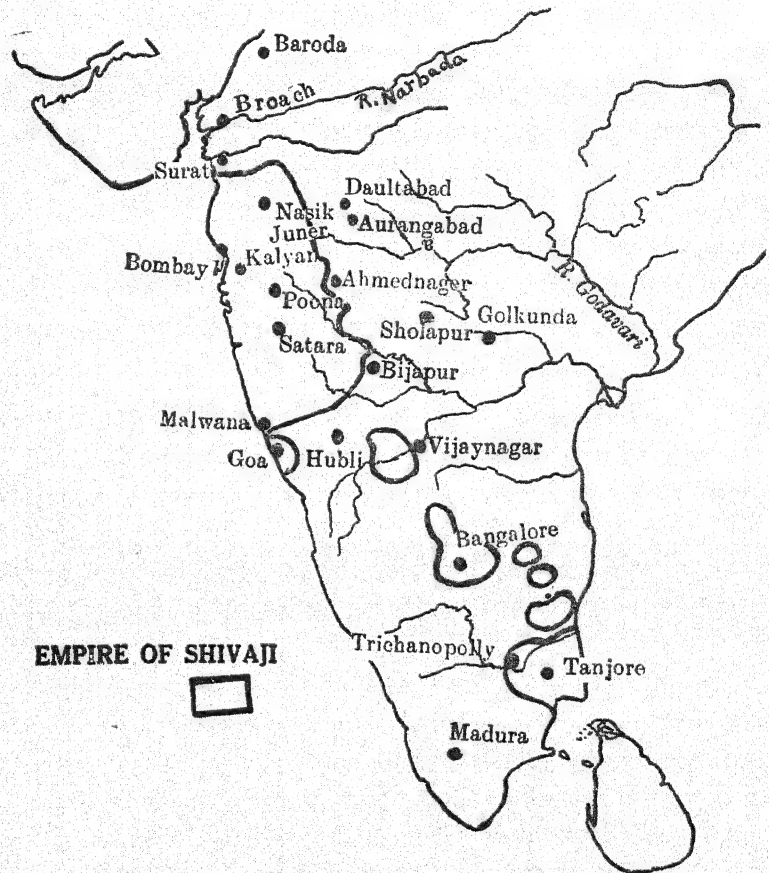
सेनाएँ हटाकर बीजापुर पर चढ़ाई की जाए। इस संकट में अन्य कोई सहायक न देखकर बीजापुर के कारबारी मसऊदखाँ ने शिवाजी से बड़े विनम्र भाव से सहायता की याचना की। शिवाजी ने मुग़लों द्वारा बीजापुर के घेरे को उठवा देने की युक्ति सोची और मुग़ल भूमि पर धावा बोलकर लूट-मार और कर वसूलयाबी शुरू कर दी जिससे मजबूर होकर दिलेरखाँ को बीजापुर का घेरा उठाना पड़ा। इस सहायता के बदले में बीजापुर को तुंगभद्रा और कृष्णा के बीच की अपनी भूमि शिवाजी को देनी पड़ी और शाहजी की जागीर पर से भी अधिकार उठाना पड़ा। इसी से व्यंकोजी की भूमि पर भी शिवाजी को पूरा अधिकार मिल गया। इन्हीं गौरवपूर्ण सफलताओं तथा

पराक्रमों के दिनों में शिवाजी अकस्मात रोगग्रस्त होकर ५ अप्रैल सन् १६८० को जीवन-लीला समाप्त करके परलोक सिधारा।

**शिवाजी का राज्य और उसकी नीति**—मृत्यु के समय शिवाजी के राज्य की सीमा उत्तर में आधुनिक धर्मपुर रियासत के अन्दर रामनगर से दक्षिण में कन्नड़ जिले की गंगावती नदी तक और पूर्व में बागलान से नासिक, पूना, सतारा आदि जिलों से कोल्हापुर तक थी। शिवाजी ने अपने राज्य के लिए एक अत्युत्तम शासन-व्यवस्था की रचना की जिससे यह प्रमाणित होता है कि वह न केवल एक उत्तम योद्धा और कुशल सेनापति ही था अपितु अच्छा व्यवस्थापक भी था। उसके उपर्युक्त राज्य की सीमा के चारों ओर और बहुत-सी भूमि ऐसी थी जो उसके राजत्व के अन्तर्गत नहीं थी किन्तु उससे वह अक्सर चौथ वसूल करता था। इसका अभिप्राय केवल इतना ही था कि ये प्रदेश मराठों की लूट-मार से सुरक्षित रहते थे। शिवाजी की सामान्य आय लगभग एक करोड़ हुन थी इसके अतिरिक्त प्रायः अस्सी लाख की आय चौथ से हो जाती थी। शिवाजी की नीति थी कि सेना का व्यय वह अपने पड़ौसियों की भूमि से वसूल किया करता था। किन्तु इन हमलों में उसका कड़ा आदेश था कि न तो कोई सैनिक अपने साथ किसी स्त्री को ले जाए और न किसी स्त्री अथवा बच्चे को तथा ब्राह्मण को ही किसी प्रकार का कष्ट दिया जाए।

**मन्त्रिमण्डल**—शिवाजी ने आठ मुख्य मन्त्री नियुक्त किए थे जो राज्य के आठ भिन्न-भिन्न विभागों के अधिष्ठाता थे इसी कारण इस मन्त्रिमण्डल का नाम अष्टप्रधान पड़ा और यही उसकी शासन-व्यवस्था की आधारशिला थी। यह आठ मन्त्री इस प्रकार थे—(१) पेशवा या पंत-प्रधान; (२) मजुमदार या अमात्य; (३) वक्नीस या मंत्री; (४) दबीर या सुमन्त; (५) सुरनीस या सचिव; (६) पण्डितराव; (७) सरनौबत या सेनापति; (८) न्यायाधीश। जैसा कह आए हैं, शिवाजी ने इस अवसर पर अपने मन्त्रिमण्डल के पुराने फारसी नाम बदलकर संस्कृत नाम रखे और उनके कार्यों का आज्ञापत्र जारी किया। वह इस प्रकार है—

पंत-प्रधान सब राज-काज करे। राजपत्रों पर मुहर लगाए; अवसर पड़ने पर युद्ध करे, नए जीते हुए प्रदेशों का बन्दोबस्त करे; सब सरदार और सेना को अपने अधीन रखे। सेनापति सेना की हर प्रकार की व्यवस्था तथा युद्ध आदि करे और राज्य की रक्षा का बन्दोबस्त करे। अमात्य राज्य के आय-व्यय का हिसाब रखे। उसके अधीन फड़नीस कार्य करता था। फड़नीस चिटनीस के सब काग़ज़ों पर अपनी मुहर लगाए तथा युद्ध में भाग ले। पण्डितराव का कार्य धर्म-विभाग, महत् जनों का उचित सत्कार आदि करना था। राज्य की ओर से दान-दक्षिणा तथा अनुष्ठान आदि भी वही करता था। सचिव पत्र-व्यवहार का कार्य करता था। न्यायाधीश का कर्त्तव्य धर्मानुसार न्याय करना तथा पत्रों पर मुहर आदि लगाना था। मंत्री का कर्त्तव्य था सब राज-काज को मन्त्रणा अर्थात् सोच-विचार कर करना। सुमन्त

विदेशों से पत्र-व्यवहार करने का कार्य करता था। परदेशी दूतों आदि का सत्कार करना भी उसका कर्त्तव्य था।

इस मन्त्रिमण्डल के अधिकार कितने थे और उसको आधुनिक उत्तरदायी कैबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डल के सदृश माना जाए, इस विषय पर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं। परन्तु यह निश्चय है कि अष्टप्रधान को सर्वांश में एक प्रजातंत्र राज्य के मन्त्रिमण्डल के समान नहीं माना जा सकता। हाँ, इन दोनों में इतनी समानता अवश्य है कि जैसे अष्टप्रधान सर्वथा राजा के अधीन था और उसके किसी भी सदस्य को राजा चाहे जब पदच्युत कर सकता था, प्रायः इसी प्रकार आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक मन्त्रिमण्डल के सदस्यों पर प्रधान मन्त्री का पूरा अधिकार होता है। वह मतभेद होने पर स्वेच्छानुसार किसी मन्त्री को भी उसके पद से अलग कर सकता है। किन्तु इनमें मौलिक भेद यह है कि आजकल का मन्त्रिमण्डल प्रजा द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के समर्थन पर नियोजित एवं निर्भर होता है। शिवाजी के मन्त्रिमण्डल की स्थिति इसके नितान्त विपरीत एक स्वाधिकारी निरंकुश राजा के परामर्शदाताओं से कुछ अधिक न थी। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर इन मन्त्रियों को अपने अधिकार से ही नीति-निर्धारण तथा अन्य आवश्यक कार्य करने का अधिकार था परन्तु सामान्य दशा में इन लोगों को राजा की आज्ञानुसार ही कार्य करना पड़ता था। विधानतः राज्य के उच्चतम पदाधिकारी राजा के पूरी तरह अधीन थे। परन्तु वास्तविक कार्य-क्रम में अवश्य ही वे यथोचित स्वतंत्रापूर्वक कार्य करते थे।

**शासन-व्यवस्था**—शिवाजी के शासन से पहले भूमि का लगान अनाज के रूप में जमींदारों द्वारा वसूल किया जाता था। शिवाजी ने इस प्रथा को बन्द कर दिया और ज़मीन की नाप करवाकर उसकी पैदावार के अनुसार लगान निश्चित किया जिसे सरकारी कर्मचारी वसूल करते थे। इस संशोधन से प्रजा जमींदारों के अन्याय से मुक्त हो गई। शिवाजी ने अपने राज्य को प्रान्तों में, प्रान्तों को तर्फ़ों में, तर्फ़ों को मौजों में बाँटा। प्रान्त का अधिकारी सूबेदार अथवा मुख्य देशाधिकारी, तर्फ का अधिकारी हवलदार और मौजे का अधिकारी पटेल होता था। लगान का हिसाब रखने के लिए उसने कुलकर्णी नियत किए। जमीन की नाप-तौल करके किसान और सरकार में लिखा-पढ़ी हो जाती थी।

**न्याय-व्यवस्था** में शिवाजी ने विशेष परिवर्तन नहीं किया। गाँवों में पंचायतें न्याय करती थीं और आवश्यकता पड़ने पर उनके फैसले की अपील ऊपर के न्याया-लयों में भेजी जाती थी। कोई-कोई मामला समूचे मन्त्रिमण्डल की सभा में पेश होता था।

**सैनिक व्यवस्था** शिवाजी ने बड़ी उत्तम रीति से की। उसकी सेना में घुड़-सवार और पैदल दो ही शाखाएँ थीं। नौ पैदल सिपाहियों पर एक नायक, पाँच नायकों पर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों पर एक जुमलेदार, दस जुमलेदारों पर एक हज़ारी और सात हज़ारियों पर एक सरनौबत होता था। घुड़सवार सेना

में पचीस सवारों पर एक हवलदार, पाँच हवलदारों पर एक जुमलेदार, दस जुमलेदारों पर एक हज़ारी और पाँच हज़ारियों पर एक पंचहज़ारी होता था। सेना के आय-व्यय का ब्यौरा रखने के लिए अलग कर्मचारी थे। घुड़सवार सेना के दो भेद थे—एक बारगी और दूसरा शिलेदार। बारगीर को घोड़ा आदि सब सामान सरकार से मिलता था। शिलेदार ऊँचे दर्जे के सिपाही गिने जाते थे और वह अपने घोड़े आदि सामान का स्वयं प्रबन्ध करते थे। सैनिकों को बलवाई होने से रोकने के लिए भी शिवाजी ने विचारपूर्वक आवश्यक नियम बनाए थे। सिपाहियों को हर प्रकार की जाँच करने के बाद नौकर रखा जाता था। नियम भंग करने पर सिपाही को बड़े कठोर दण्ड दिए जाते थे।

सैनिक विभाग में किलों का बड़ा महत्त्व था। शिवाजी के पास २४० किले थे। इनका शासन मराठा हवलदार तथा उनके अधीन अन्य कर्मचारियों के हाथ में था। हर किले में प्राय: **सबनीस और कारखन्नीस** दो कर्मचारी हवलदार के सहायक होते थे। आय-व्यय का काम सबनीस करता था और हर प्रकार की आवश्यक सामग्री, अस्त्र-शस्त्रादि का प्रबन्ध कारखन्नीस करता था। शिवाजी के किले तीन प्रकार के थे—टापू पर बने हुए किले जंजीरा या दुर्ग कहाते थे; पहाड़ी किले गढ़ और मैदानी किले भूमिकोट या कोट कहाते थे। किलों में हर प्रकार का सामान भरपूर रहता था ताकि घेरे के समय किसी तरह की कमी न हो। विशेष रूप से पहाड़ी और जंजीरे किलों का बड़ा महत्त्व था। ये शिवाजी के राज्य के आधार-स्तम्भ थे।

**राज्य के विभाग—एक 'स्वराज्य' और दूसरा 'मुगलई'।** उपर्युक्त विवरण स्वराज्य के शासन का है। मुगलई वे समीपस्थ प्रदेश थे जो अन्य राज्यों के अन्तर्गत थे। उनमें मराठे लूट-मार भी करते थे और उनसे चौथ व सरदेशमुखी भी वसूल करते थे। बहुत समय तक बीजापुर, गोलकुण्डा और मुग़ल सम्राट् ने शिवाजी के ये अधिकार स्वीकार नहीं किए थे। इस प्रकार इन स्थानों से रुपया वसूल करने का अधिकार शिवाजी इस आधार पर रखता था कि मुग़लों के हमलों से अपने देश व जनता की रक्षा करने के लिए जो धन उसे व्यय करना पड़ता है वह उसे उन्हीं के राज्य से लेना उचित है। इस प्रकार के स्वदेश-रक्षा के हेतु कामों के कारण शिवाजी को आधुनिक लेखकों ने लुटेरा कहा है किन्तु यह सर्वथा अन्याय है। अपने पड़ौसी राजाओं, विशेषत: मुग़लों से स्वदेश व जनता की रक्षा करने और उनकी स्वाधीनता को बनाए रखने के लिए जितने धन, सामग्री की आवश्यकता थी उसे प्राप्त करने के लिए शिवाजी के पास और क्या उपाय था। केवल मुग़लई को ही नहीं उसने अपने राज्य के निवासी उन धनवानों को भी लूटा जो देश की रक्षार्थ पैसा देने से इनकार करते थे। आज दिन भी लड़ाई के दिनों में सरकारें अनगिनत टैक्स, चन्दे आदि गरीब-अमीर सबसे बलात् वसूल करती हैं। इस लूट को नियम बनाकर वैधानिक होने का रूप दे दिया जाता है। वास्तविक तत्त्व तथा परिणाम दोनों का एकसमान है। भूमिकर के अलावा शिवाजी की आय के कुछ और भी साधन थे।

**टकसाल**—भूमिकर द्रव्य या नकदी के रूप में लिए जाने का प्रचलन हो जाने से सिक्कों की आवश्यकता हुई और शिवाजी को बहुत-सी टकसालें खोलनी पड़ीं क्योंकि स्वराज्य में उसने अन्य सिक्कों का चलन बन्द कर दिया था।

**शिवाजी के राज्य के आधारभूत नियम**—कर्मचारियों को यथासमय वेतन आदि देना—वेतन नकद देना, जागीर के रूप में नहीं। सरकारी नौकरी, गुणों के आधार पर देना न कि वंश-परम्परा अथवा अन्य ऐसे कारणों से। धार्मिक सहनशीलता का पूरी सच्चाई से पालन करना। शिवाजी ने कभी किसी धर्म-पुस्तक, अर्थात् कुरानादि अथवा धर्मस्थान जैसे मसजिद आदि की निन्दा या अपमान नहीं किया। प्रत्युत हिन्दू मन्दिरों के समान उनके व्यय की भी व्यवस्था की। सरकारी नौकरी में हिन्दू मुसलमान का भेद न रखना।

**शिवाजी का व्यक्तित्व व इतिहास में स्थान**—शिवाजी के ऊपर वर्णन किए गए पराक्रमों तथा सफल प्रयासों से स्पष्ट है कि वह एक असाधारण कोटि का महापुरुष था। आरम्भ से ही उसने अपनी अनुपम प्रतिभा, शौर्य, अप्रतिम नेतृत्व-शक्ति, उच्चादर्श, युद्ध-कौशल तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि का परिचय दिया। ये सब गुण शिवाजी में अन्त काल तक न केवल स्थिर रहे वरन जैसे-जैसे उसको अधिकाधिक जटिल समस्याओं और संकटों का सामना करना पड़ा वैसे-वैसे ही उसके गुण अधिक चमत्कार के साथ प्रस्फुटित हुए।

व्यक्तिगत रूप से शिवाजी का जीवन एक आदर्श, नितान्त निर्मल व उच्च कोटि का जीवन था। अपने सम्बन्धियों, संगी-साथियों के प्रति उसका व्यवहार अनुकरणीय था। सब प्रकार के दोषों से रहित, शिवाजी का चरित्र संयम के दृढ़ आधार पर परिपोषित हुआ था। गहरी धर्म-भावनाओं से ओत-प्रोत, शिवाजी साधु-सन्तों एवं वृद्धजनों का बड़ा आदर-मान करता था। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति तथा दूषित वातावरण की दृष्टि से शिवाजी का सर्वोच्च गुण उसकी नितान्त अनुपमेय साम्प्रदायिकता के दोष से सर्वथा रहित उदारता तथा मानवता थी। शिवाजी के इस सहज गुण का दूसरा उदाहरण संसार भर के इतिहास में मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। शिवाजी ने अपना सैनिक कार्य मुग़ल साम्राज्यवाद की बाढ़ से दक्षिण प्रदेश को मुक्त रखने तथा देश और जाति की स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए आरम्भ किया। यह प्रयास कितना जटिल एवं उलझन-ग्रस्त था, इसका दिग्दर्शन हम करा चुके हैं। इस स्वाधीनता-संग्राम का नायक, दक्षिण प्रदेश व जनता की स्वाधीनता का प्रतीक, उनकी आशाओं का नक्षत्र, शिवाजी था जिसने जागृत किन्तु बिखरी हुई जनता को एक सूत्र में बाँध दिया। शिवाजी की यह समस्या यहीं तक सीमित न रही। थोड़े दिन बाद ही औरंगज़ेब की क्षुद्रबुद्धि-जनित संकीर्ण धार्मिक नीति एवं हिन्दू जाति व धर्म के अंग-प्रत्यंगों पर आघातों ने शिवाजी की केवलमात्र राजनीतिक समस्या में हिन्दू धर्म व जाति की रक्षा की समस्या को जोड़कर उसे एक नया ही रूप दे दिया और पहले की अपेक्षा बहुत अधिक जटिल एवं कष्टसाध्य बना दिया। जहाँ शिवाजी

के धार्मिक व राजनीतिक शत्रुओं के कार्यों, नीति व सिद्धान्तों में अन्य मतानुयायियों के धर्मस्थानों व पवित्र धर्मग्रन्थों आदि का समादर तो दूर, उनके आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुषों की मान-मर्यादा तक का लेशमात्र आदर-मान नहीं था, वहाँ एक ऐसा महा-पुरुष हो जो इन अत्याचारों तथा आघातों को अपनी आँखों से देखता जाए, उसमें हर प्रकार की शक्ति व बल भी उन आततायियों से बदला लेने का हो, उसके सात्त्विक प्रकोप को उद्दीप्त करनेवाले कारणों की कोई कसर न रही हो, और तब भी वह अपनी सहज उदारता, उच्च धार्मिक आदर्श तथा सहनशीलता की अडिग, दृढ़ चट्टान पर डटा रहे, ऐसा चरित्रवान् बिरला ही इतिहास में मिलेगा। एक राजा, सैनिक व विजेता होते हुए, शत्रुओं की स्त्रियों, बालकों व निर्बलों तथा उनकी धार्मिक वस्तुओं व धर्मस्थानों के प्रति जो आदर्श व्यवहार शिवाजी ने सदैव किया और अपने सैनिकों आदि से कराया, उसकी सराहना वर्णनातीत है। इसका दूसरा उदाहरण मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

यह तो रहा शिवाजी का व्यक्तित्व, पर एक सैनिक, शासक तथा व्यवस्थापक व नीतिज्ञ के रूप में भी शिवाजी अपने समय में अद्वितीय था। चारों ओर शत्रुओं से घिरे रहते हुए, जिस प्रकार शून्य से आरम्भ करके उसने अपनी शक्ति तथा राज्य का विस्तार व निर्माण किया, किस प्रकार एक सुव्यवस्थित, संगठित राज्य का भवन खड़ा किया, उसके अन्दर संयम की भावना फूँकी, उससे अधिक प्रमाण शिवाजी के राजनीतिक गुणों व सैनिक कौशल का नहीं दिया जा सकता। शिवाजी में नेतृत्व का ऐसा अनुपम गुण था कि उसके सम्पर्क में आनेवाले सभी उससे प्रभावित होते और उसके अनुयायी बन जाते थे। मावाल जाति के लोग शिवाजी के वैयक्तिक आकर्षण पर जान न्यौछावर करने को उद्यत रहते थे।

शिवाजी एक महान् राष्ट्र-निर्माता था। जिस समय दक्षिण की मुस्लिम रियासतें राजवंशों के पतन के कारण मृतप्राय हो चुकी थीं, दक्षिण की प्रजा को एक सूत्र में बद्ध करके उसका नेतृत्व व पथ-प्रदर्शन करनेवाला कोई न था, ऐसे संकट के समय में शिवाजी ने जाति को संगठित करके उसका नेतृत्व किया और न केवल उसे मुग़ल साम्राज्यवाद की बाढ़ से बचाया, उसकी धार्मिक अत्याचारों से भी रक्षा की और साथ ही एक टिकाऊ साम्राज्य-संस्था की भी रचना की। शिवाजी के महान् पराक्रम से महाराष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति इतनी सजीव, सक्रिय तथा उत्तेजित हो गई थी कि उसने बहुत ही शीघ्र एक महान् साम्राज्य का रूप धारण करके मुग़ल साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। अन्त में न्याय की माँग को पूरा करने के लिए इतना कह देना आवश्यक है कि शिवाजी की धार्मिक प्रवृत्ति इतनी उदार थी कि उसको संकीर्ण साम्प्रदायिकता छू नहीं गई थी। शिवाजी एक आदर्श राष्ट्रीय नेता तथा दीन-दुखियों, अन्याय-पीड़ितों का रक्षक व संपोषक था। जो लोग उसको हिन्दू जाति व धर्म का साम्प्रदायिक नेता बतलाते हैं वे उसके साथ उतना ही अन्याय करते हैं जितना उसको केवल लुटेरा बतलानेवाले। यदि शिवाजी उस साम्प्रदायिक संकीर्णता के वायुमण्डल

में उत्पन्न न होकर एक स्वच्छ वायुमण्डल में प्रादुर्भूत हुआ होता तो हम उसको एक महान् राष्ट्रीय नेता तथा कर्मठ वीर की पदवी देते। उसके जीवन के समस्त कार्य तथा नीति इस सत्य के प्रमाण हैं। उसने अपनी सेना तथा अन्य विभागों के बड़े-बड़े पदों पर कई मुसलमानों को रखा था। मु० हैदर (जो औरंगज़ेब की नौकरी करके मुग़ल-राज्य का न्यायाधीश हो गया था), सीदी सम्बल, सीदी मिश्री, दौलतखाँ (समुद्री सेनानायक) तथा सेनानायक सीदी हलाल व नूरखाँ, आदि अनेक योग्य मुसलमान शिवाजी के शासन में उच्च पदों पर नियुक्त थे और उसके विश्वासपात्र थे। शिवाजी ने मुसलमान काज़ियों को भी अपने राज्य में उपयुक्त स्थान दिए थे। इन सब बातों को ध्यान में रखने से स्पष्ट हो जाता है कि शिवाजी को केवल एक साम्प्रदायिक व संकुचित दृष्टि का नेता अथवा केवल हिन्दू (अर्थात् गो-ब्राह्मण) रक्षक मानना सर्वथा भ्रान्त धारणा ही नहीं, उसके साथ बड़ा अन्याय करना है। आश्चर्य यह है कि शिवाजी के अगाध भक्त ही उसको एक परमोत्कृष्ट, कुशाग्र बुद्धि तथा विशाल मनोवृत्ति के नेता होने के स्तर से गिराकर उसे केवल एक साम्प्रदायिक व संकुचित दृष्टि वाला नेता बनाना चाहते हैं।

•

चौंतीस

# पूर्वार्द्ध—रचनात्मक नीति का अभाव : औरंगज़ेब का शासन

(१)

**राज्यकाल** का पूर्वार्द्ध—औरंगज़ेब के राज्यकाल को दो बराबर हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले २५ वर्ष उसने उत्तर भारत में बिताए और दूसरे २५ वर्ष दक्षिण में। पूर्वार्द्ध में उत्तर भारत में इतनी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिनके कारण सम्राट् का उत्तर में रहना आवश्यक हुआ। यद्यपि अपने शासन के पहले २५ वर्ष में भी उत्तर भारत की अनेक समस्याओं व राजोचित कर्त्तव्यों को सन्तोषजनक रूप में सम्भाल न पाया था, किन्तु शिवाजी की मृत्यु होते ही उसने सोचा कि दक्षिण की गहनतम और दिनोंदिन बढ़ती हुई संकटमय परिस्थिति को सुलझाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है और उसे अब टाला नहीं जा सकता। इसलिए वह न केवल अपने आप दक्षिण चला गया वरन साम्राज्य की अधिकतर शक्ति व सम्पत्ति वहीं पर व्यय की। राज्य की सेना के मुख्य भाग, उसके सर्वोत्तम सेनापति आदि सभी को अपने घरों को छोड़कर दक्षिण में दिन काटने पड़े। इन लोगों के मन की दशा का इस बात से पता चलता है कि उनमें से बहुत-सी बड़ी-बड़ी रिश्वतें देकर अपने घर वापस लौटने की आज्ञा माँगते थे। यह भी स्वाभाविक ही था कि इस लम्बे समय में, जबकि सम्राट् और समूचा राजदरबार निरन्तर दक्षिण में ही रहा, उत्तर-भारत की शासन-व्यवस्था बहुत अव्यवस्थित व निर्बल होती चली गई जिसके कारण चारों ओर शान्ति भंग करनेवाले लोगों को उपद्रव करने के अवसर मिल गए।

**औरंगज़ेब के शासन का पूर्वार्द्ध**—मई सन् १६५९ में औरंगज़ेब ने दिल्ली में दुबारा अपना राज्याभिषेक बड़े समारोह के साथ कराया और वहीं से राज्य करना आरम्भ किया। अन्य मुस्लिम देशों से जो राजदूत उसको इस अवसर पर बधाई देने के लिए आए उनको प्रभावित करने के लिए उसने अपनी अनन्त सम्पत्ति तथा वैभव का ऐसा प्रदर्शन किया जिसको देखकर वे लोग चकित रह गए। अपने राज्यारोहण के उपलक्ष में औरंगज़ेब ने भी अपने पूर्वजों के सदृश बहुत से अन्यायपूर्ण करों को मन्सूख किया। इस समय इस प्रकार प्रजा के बोझ को हलका करने की आवश्यकता

इसलिए भी पड़ी कि राजपूताने के पश्चिमी प्रदेश में बड़ा कठोर दुर्भिक्ष पड़ गया था। इस समय औरंगज़ेब ने लगभग ८० स्थानीय कर तथा अबवाब माफ़ कर दिए। यद्यपि सम्राट् ने बड़ी कड़ी विज्ञप्ति निकाली कि कोई इन करों को वसूल न करे तथापि प्राय: उनकी वसूलयाबी बन्द न हुई।

**सन् १६६१ से १६६६ तक की घटनाएँ**—१६६२ में औरंगज़ेब बहुत सख्त बीमार हुआ और उसके बचने की कोई आशा न रही। उसकी बीमारी इस कारण और भी बढ़ गई कि वह बराबर बड़ी मेहनत से शासन-कार्य करता रहा और उसने आवश्यक आराम न किया। जब वह कुछ अच्छा हुआ तो हकीमों के परामर्श के अनुसार वह स्वास्थ्य सुधारने के लिए काश्मीर गया। काश्मीर उसे बिलकुल पसन्द न आया। यहाँ तक कि वापस लौटकर फिर जीवन भर वहाँ न गया। इस यात्रा में फ्रेंच यात्री बर्नियर सम्राट् के साथ था।

**मध्यभारत व उत्तर-पूर्वी प्रदेशों की समस्या**—इसी अवकाश में साम्राज्य के अन्दर कई स्थानों पर छोटे-मोटे बलवे हुए और कुछ नए प्रदेशों को जीतकर साम्राज्य में मिलाया गया। इनमें से आसाम और कूच-बिहार की चढ़ाई उल्लेखनीय है। मीर जुमला को शुजा के परास्त कर देने के बाद बंगाल का शासक नियुक्त किया गया था। वहाँ के आहोम राजा ने गोहाटी पर आक्रमण कर दिया। मीर जुमला उससे बदला लेने के लिए आसाम के जंगलों में घुस गया परन्तु जिस प्रकार १२०५ में बख्तियार खल्जी उस प्रदेश में जाकर नष्ट हुआ था उसी प्रकार मीर जुमला भी बड़ी भारी हानि उठाकर जान बचाकर वापस लौटा और १६६३ में मर गया। उसके बाद शायस्ताखाँ, जो पूना में शिवाजी के हाथों मार खा चुका था, बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ। उसने अराकान के शासक से चटगाँव छीन लिया और पुर्तगालियों को ब्रह्मपुत्र के मुहाने के काँठे से निकाल बाहर किया। इन्हीं दिनों बुन्देल-खण्ड में बुन्देलों के नेता चम्पतराय ने औरंगज़ेब की नीति के विरुद्ध विद्रोह की पताका उठाई। वीरसिंह बुन्देले का दमन करके ओरछा का राज्य उसके एक सम्बन्धी देवीसिंह को दे दिया गया था। किन्तु थोड़े दिन बाद उसी परिवार में से पूर्वी बुन्देलखण्ड में एक और बुन्देला वीर उत्पन्न हुआ। इसका नाम चम्पतराय था। उसने पहले तो औरंगज़ेब की सहायता की थी किन्तु बाद में उसकी नीति से चम्पतराय अप्रसन्न हो गया और बुन्देलखण्ड के आस-पास के प्रदेशों को जीतकर अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ किया। औरंगज़ेब ने उसका दमन करने के लिए शुभकरन बुन्देला और कुछ राजपूत सैनिकों को भेजा। देवीसिंह बुन्देला तथा मालवा के अन्य जागीरदारों को भी शाही सेना की सहायता करने की आज्ञा दी गई। इस प्रकार चारों तरफ से शत्रु-दल से घिर जाने के कारण चम्पतराय को अपनी रक्षा के लिए जगह-जगह भागते रहना पड़ा और अन्त में १६६१ में शत्रु के हाथों पड़ने से अपने को बचाने के लिए उसने आत्महत्या कर ली। इसी समय उसकी वीरांगना रानी कान्तीकुमारी ने भी, जो बराबर उसके साथ रहती थी, आत्महत्या कर ली। इसी चम्पत बुन्देले का

पुत्र वीर छत्रसाल अपने पराक्रमों के लिए प्रसिद्ध हुआ और यद्यपि उसकी छोटी-सी शक्ति मुग़ल साम्राज्य की महान् शक्ति की तुलना में कुछ भी न थी तथापि बहुत काल तक उसने मुग़ल साम्राज्य को अपने जीवन भर परेशान रखा। इसी ने बुन्देलखण्ड के पूर्वी भाग में पन्ना राज्य की स्थापना की।

**औरंगज़ेब की राजनीतिक व धार्मिक नीति**—गद्दी पर बैठते ही औरंगज़ेब को दो शासन सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ा। राजगद्दी के लिए औरंगज़ेब और उसके भाइयों में जो घोर संग्राम हुआ था उससे तथा उसी के परिणामस्वरूप शासन की अव्यवस्था से देश की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। स्थानीय शासकों व अधिकारियों पर केन्द्रीय शासन का कोई नियंत्रण न रह गया था। जगह-जगह पर व्यापारियों से जमींदार और जागीरदारों ने राहदारी और पंडरी नाम के सीमान्त कर उगाहने शुरू कर दिए थे जिससे देश के व्यापार को बहुत धक्का पहुँचा था। इस दुरवस्था को दूर करने के अभिप्राय से औरंगज़ेब ने समस्त स्थानीय करों को एकदम मन्सूख कर दिया और यथासम्भव इस राजनियम का पालन कराने की चेष्टा की जिससे देश के व्यापार आदि को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

दूसरी समस्या, जिसका पूरी तरह समाधान करना औरंगज़ेब एक कट्टर मुसलमान के नाते अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझता था, यह थी कि उसके पूर्वजों ने जिन-जिन बातों में सुन्नी मत के सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य किए थे अथवा रीति-रिवाज स्थापित कर दिए थे, उन सबको मिटाकर शुद्ध इसलाम मतानुसार राजनीति तथा शासन-कार्य की स्थापना करना। अपने दूसरे राज्याभिषेक पर उसने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके द्वारा सिक्कों पर कलमा खुदवाना, पारसी वर्ष के अनुसार नौरोज़ का मनाना, भंग का पैदा करना तथा पीना, थोड़े दिन बाद दरबार में गाना-बजाना तथा अपने दोनों जन्मदिनों पर सोना, चाँदी आदि का तुलादान करवाना, ये सब बन्द कर दिए। एक मुहतसिब अर्थात् धर्म-निरीक्षक नियुक्त किया गया, जिसका कर्त्तव्य था सब मनुष्यों से सम्राट् की आज्ञाओं का पालन कराना, उनको किसी प्रकार की मादक वस्तुओं के पीने से रोकना, मुसलमानों से इसलामी नियमों का पालन कराना और नियम भंग करनेवालों को दण्ड देना आदि, आदि। उसकी सहायता के लिए बहुत से सरकारी अफसर तथा सेना नियत की गई। पुरानी मस्जिदों आदि की मरम्मत कराई गई और उनमें मुअज्जिन व इमाम वगैरह नियुक्त किए गए।

जैसे-जैसे औरंगज़ेब वृद्ध होता गया, उसकी धार्मिक संकीर्णता अधिक बढ़ती गई। ऊपर कह चुके हैं कि उसने १६७० में दरबारी संगीत-मण्डली को स्थगित कर दिया। साथ ही हिन्दू रिवाज के अनुसार दरबारियों का परस्पर शिष्टाचार बन्द करके केवल सलाम-अलेकम कहने की आज्ञा दी। उसी वर्ष उसने अपने जन्मदिन पर, जो बहुत बड़ा समारोह तथा आनन्द-मंगल मनाया जाता था, उसको बहुत-कुछ काट-छाँट कर अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया। फिर कुछ समय बाद अभिषेक-दिवस के समारोह को भी बन्द कर दिया। मुग़ल साम्राज्य के अधीन राजाओं के राज्याभिषेक के समय

सम्राट् अपने हाथों से उनके माथे पर तिलक लगाया करते थे। १६७९ में इस प्रथा को भी बन्द कर दिया गया क्योंकि उसमें हिन्दूपन का रंग दीख पड़ता था। झरोखा-दर्शन की प्रथा अकबर के समय से बराबर जारी रही थी। उसको भी उसने बन्द कर दिया। उसकी धर्मान्धता यहाँ तक बढ़ी कि कब्रों के ऊपर सफेदी करवाना, स्त्रियों का साधु-सन्तों की कब्रों पर जाना आदि सब रोकने की आज्ञा दी किन्तु उसके यह कड़े नियम सामान्य जनता में न चल सकते थे और न चल पाए। अन्त में उसे विवश होकर इन सब प्रतिबन्धों को ढीला करना पड़ा। मनूची व अन्य लेखकों से ज्ञात होता है कि बाजारी औरतों का नाचना-गाना, होली के अवसर पर लोगों का निर्द्वन्द्व होकर खेल-तमाशा करना, मुहर्रम के अवसर पर ताजिए निकालना आदि, जिनको सम्राट् ने बड़ी कड़ाई के साथ रोकने का प्रयास किया, सभी बराबर प्रचलित रहे। यहाँ तक कि सती तथा अन्य इसी प्रकार की प्रथाएँ भी बन्द न की जा सकीं।

इतना ही नहीं, औरंगज़ेब ने उन सब मुसलमान दरवेशों व सूफ़ियों को भी दण्ड दिए जिनकी उदारता तथा उच्च रहस्यवादी प्रवृत्ति के कारण दाराशिकोह उनका अत्यन्त आदर करता था। इनमें लाहौर के प्रसिद्ध सूफ़ी मियाँ मीर के शिष्य शाह मुहम्मद बख़्शी तथा तत्कालीन प्रसिद्ध सूफ़ी सर्मद जो अद्वैतवादी था, मुहम्मद ताहिर जिसने अपने शिया धर्म के कारण पहले तीनों ख़लीफ़ाओं का निरादर किया था, उल्लेखनीय हैं। कहा जाता है कि मुसलमानों के बोहरा सम्प्रदाय के नेता अहमदाबाद-निवासी सैयद कुतुबुद्दीन को औरंगज़ेब की आज्ञा के अनुसार उसके ७०० अनुयायियों के साथ कत्ल किया गया था।

**मुग़ल सम्राटों की वैदेशिक नीति**—हम संकेत कर आए हैं कि औरंगज़ेब ने अपना राज्याभिषेक बड़े भारी समारोह के साथ कराया और विदेशी राजाओं को जो उस समय उपस्थित थे, प्रभावित करने के लिए उन्हें दिल खोलकर हर प्रकार के उपहारों से भरपूर करके अपने-अपने देशों को वापस लौटाया। साथ ही उसने अपने दूत प्रदेशों को भेजे। मुल्तान के नाज़िम तरबियतख़ाँ को १६६७ में ७ लाख रुपए से अधिक के उपहार व भेंट इत्यादि देकर ईरान के शाह के पास भेजा और एक पत्र द्वारा उसका धन्यवाद करते हुए यह अहंकारपूर्ण संदेश भी भेजा कि वह किसी सांसारिक मनुष्य की सहायता की परवाह नहीं करता है : वह केवल ईश्वर पर भरोसा रखता है और उसकी इतनी विलक्षण सफलताएँ इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर की कितनी कृपा उसके ऊपर है इत्यादि, इत्यादि। जब मुग़ल दूत इस्फ़हान के शाह के दरबार में उपस्थित हुआ तो उसके साथ अत्यन्त अपमानजनक व्यवहार किया गया। ईरान के बादशाह ने हिन्दुस्तान पर हमला करने की धमकी भी दी और औरंगज़ेब को एक बहुत लम्बी चिट्ठी लिखी जिसमें शिया मत तथा अपने राजवंश के गौरव का बखान किया और औरंगज़ेब को खुले शब्दों में उसके दुष्कृत्यों पर धिक्कारा। औरंगज़ेब ईरान के शाह का तो कुछ न बिगाड़ सका किन्तु अपना नपुंसक क्रोध अपने राजदूत पर उतारा। औरंगज़ेब के दरबार में बल्ख़, बुख़ारा आदि मध्य-एशियाई

देशों के अतिरिक्त तुर्किस्तान (एशियाई रूम) आदि देशों से भी राजदूत आते-जाते थे ।

**औरंगज़ेब की उत्तर-पश्चिम सीमा की समस्याएँ व उनका प्रतिकार : उत्तर-पश्चिम की समस्या का रूप तथा अफ़ग़ान जाति का चरित्र**—साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम सीमान्त पहाड़ी प्रदेश में अति प्राचीनकाल से पठान व बलूची जातियाँ रहती आई हैं । इसलाम मत स्वीकार कर लेने के बाद भी उनकी बोलचाल, फ़िरेकबन्दी, शासन-व्यवस्था तथा लूट-मार करने के अभ्यास में कोई परिवर्तन न हुआ था । इसका मुख्य कारण यह था कि जिस प्रदेश के यह लोग निवासी थे वह इतना रूखा-सूखा था कि इनको अपने जीवन-निर्वाह के लिए पास-पड़ौस के लोगों पर लूट-मार करनी ही पड़ती थी । इनकी यह भयानक प्रवृत्ति उनकी बढ़ती हुई संख्या के साथ बढ़ती जाती थी । उनकी इस जीवन-समस्या का उपाय करने का किसी निकटवर्ती शासक ने कभी विचार न किया । वे केवल अपने सैन्यबल से ही उनको दमन करने की चेष्टा करते रहे । लूट-मार करने के अतिरिक्त अफ़रीदी, शिनवारी, युसुफ़ज़ई और खटक फिरक़ों के पठान हिन्दुस्तान और काबुल के व्यापारियों से भी कर (toll) वसूल करते थे ।

हम देख चुके हैं कि अकबर महान् ने कितना समय व शक्ति इन पठान फिरक़ों के दमन करने में व्यय की थी । सन् १६६७ के आरम्भ में युसुफ़ज़ई फिरके के भग्गू नामक एक नेता ने पाँच हज़ार सैनिकों को एकत्र करके अटक के उत्तर में सिन्धु नदी को पार किया और हज़ारा ज़िले पर आक्रमण करके मुग़ल भूमि पर लूट-मार मचा दी । औरंगज़ेब ने तुरन्त उसके विरुद्ध एक सेना भेजी जिसने शत्रु को परास्त करके खदेड़ दिया और उसके २००० आदमियों को कत्ल कर डाला । बहुत से सिन्धु नदी में डूब गए और बहुत से आहत हुए । इसके बाद अफगानिस्तान से एक भारी सेना के साथ सेनापति शमशेरखाँ ने सिन्धु को पार करके युसुफ़ज़इयों के देश पर आक्रमण किया और कई स्थानों पर उनको परास्त करके उनके घरबार तथा खेती-बाडी सबको विध्वंस कर डाला । फिर मुग़ल दरबारी मुहम्मद अमीन एक भारी सेना लेकर उन पर चढ़ आया और स्वात व शाहबाज़गढ़ी आदि घाटियों में युसुफ़ज़ई आबादी का इतना विध्वंस किया कि उन्होंने कई वर्ष तक सर न उठाया ।

परन्तु १६७२ में जलालाबाद के फौजदार के दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर अफ़रीदी पठान अकमालखाँ के नेतृत्व में फिर से उठ खड़े हुए और मुग़ल सम्राट् के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी तथा खैबर-पास में आवागमन बन्द कर दिया । इनके विरुद्ध काबुल का सूबेदार मुहम्मद अमीनखाँ भेजा गया । किन्तु अली मस्जिद के निकट अफ़ग़ानों ने उसे पूरी तरह परास्त किया और वह बड़ी कठिनाई से बचकर पेशावर पहुँचा । इस युद्ध में मुग़लों के दस हज़ार सैनिक काम आए और दो करोड़ रुपये की नकदी तथा सामान दुश्मन के हाथों पड़ा । साथ ही बीस हज़ार स्त्री-पुरुषों को भी बन्दी करके ले गए । इस गौरवपूर्ण विजय से अफ़रीदियों के नेता अकमाल की प्रसिद्धि तथा उत्साह बहुत बढ़ गया । परिणाम यह हुआ कि कन्धार से कटक तक

सारे पठान प्रदेश में विद्रोह की आग जल उठी। अफ़रीदियों की सहायता के लिए खटक आदि अन्य फ़िरके पेशावर के दक्षिण के ज़िलों में उनसे आ मिले। इसी समय उनके एक शायर ने अपनी उत्तेजक कविताओं से सब अफ़ग़ानों को युद्ध के लिए प्रेरित तथा प्रोत्साहित किया। इस प्रकार अफ़ग़ानों के इस विद्रोह ने समूचे जातीय विद्रोह का रूप धारण कर लिया। इन लोगों के नेता मुग़लों की सेना में युद्ध-कला की शिक्षा पा चुके थे। अतएव युद्ध-कौशल में वे किसी प्रकार उनसे कम न थे। इसके उलटा शारीरिक बल, शौर्य तथा सहन-शक्ति में वे विलासी व सुकुमार मुग़लों की अपेक्षा बहुत बढ़े-चढ़े थे।

इस संकट का प्रतिकार करने के हेतु औरंगज़ेब ने तुरत आवश्यक कार्यवाही की। दक्षिण से महाबतख़ाँ को बुलाकर काबुल में सूबेदार नियुक्त किया गया ताकि अफ़ग़ानों को क़ाबू में रखे और कोई उपद्रव न करने दे। परन्तु महाबतख़ाँ ने युक्ति से काम लिया। उसने अफ़ग़ानों से संधि कर ली ताकि वे छेड़-छाड़ न करें। ख़ैबर-पास के मार्ग को खुलवाने का उसने आग्रह न किया और एक-दूसरे मार्ग से काबुल पहुँचा। मुग़ल सम्राट् इस नीति से असंतुष्ट हुआ और उसने १६७३ में राजा जसवन्त-सिंह तथा शुजातख़ाँ को एक विशाल सेना के साथ युद्धस्थल पर भेजा। शुजातख़ाँ अपनी उद्दण्डता के कारण जसवन्तसिंह के परामर्श की परवाह न करता था। इसी कारण १६७४ के आरम्भिक दिनों में एक दिन अफ़ग़ानों ने उसे परास्त किया और उसकी प्रायः समूची सेना को नष्ट कर डाला। बचे-खुचे लोगों को जसवन्तसिंह ने राजपूत वीरों की एक टुकड़ी भेजकर बचाया।

इस घटना से मुग़ल सम्राट् की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। इस कलंक को मिटाने के लिए औरंगज़ेब स्वयं १६७४ के मध्य में सीमा-प्रदेश में पहुँचा और महाबतख़ाँ को पदच्युत करके दक्षिण से आगरख़ाँ नामी प्रसिद्ध सैनिक को बुलाकर पहले ख़ैबर के मार्ग को खुलवाने की आज्ञा दी। इस अवसर पर औरंगज़ेब ने अपनी विलक्षण बुद्धि व कूटनीति से काम लिया। आगरख़ाँ के सैनिक प्रयास को हलका करने के लिए उसने अफ़ग़ान फ़िरकों को उपहार, जागीरें तथा नौकरियाँ आदि देकर अपनी ओर मिलाना आरम्भ किया। इस युक्ति से उन लोगों को जो किसी प्रकार भी मैत्री करने को उद्यत न थे, अलग करके फिर सैन्य-बल से उनका मुकाबला किया। साथ ही मुग़ल सेनापति ने मोमन्द फ़िरके को पेशावर के निकट परास्त किया और २,००० अफ़ग़ानों को बन्दी कर लिया। फिर अली मस्जिद के निकट एक भयानक युद्ध में दोनों सेनाओं की बड़ी भारी हानि हुई। अतएव पेशावर की तरफ़ से ख़ैबर का मार्ग खुलवाने का प्रयत्न स्थगित कर दिया। परन्तु काबुल की तरफ से आगरख़ाँ ने ५,००० राजपूतों के साथ कई बार पठानों को परास्त करके अन्य रास्तों को जारी रखा। उसके इन पराक्रमों से अफ़ग़ान जनता में उसका बड़ा भय बैठ गया।

इस पर भी अफ़ग़ान शान्त न हुए। १६७५ में काबुल से आती हुई मुग़ल सेना पर वे टूट पड़े और उसका सामान तथा औरतों को हड़प कर ले गए। इससे

भी बहुत अधिक हानि थोड़े ही दिन बाद बाजोर की घाटी में हुई, जहाँ शत्रु ने मुग़ल सेनापति मुकर्रबख़ाँ की भारी सेना को फुसलाकर दूर तक खींच लिया और तब उस पर एकाएक हमला करके उसे नष्ट किया। इन दो पराजयों के अतिरिक्त और भी कई छोटी-मोटी लड़ाइयों में मुग़लों का नुकसान हुआ। किन्तु १६७५ के अन्त तक परिस्थिति सम्राट् के पक्ष में बहुत-कुछ बदल गई। अफ़ग़ानों के देश में जितने मुग़ल क़िले और सेनास्थल थे, सबको बड़ी-बड़ी सेनाओं और युद्ध-सामग्री से भरपूर कर दिया गया ताकि वे अफ़ग़ानों को उठने न दें।

इस प्रकार नीति व बल से सामयिक रूप से अफ़ग़ान उपद्रव को शान्त करके सम्राट् वापस चला आया और तब अमीरख़ाँ को, जो बड़ा योग्य तथा विश्वस्त दरबारी था, अफ़ग़ान प्रदेश में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा गया। अमीरख़ाँ को पहले केवल सीमा-प्रदेश की रक्षा का कार्य सुपुर्द किया गया और १६७७ में उसे काबुल सूबे का नाज़िम बना दिया गया। वह १६७८ में काबुल पहुँचा और तब से पूरे २० बरस तक, अपने मरने तक, उसने इतनी चतुराई तथा योग्यता से उस प्रदेश का शासन किया कि अफ़ग़ान उसके मित्र बन गए और उस पर इतना विश्वास करने लगे कि वे अपने निजी मामलों में भी उसका परामर्श लेते थे। बड़ी युक्ति से उसने उनके नेता अकमालख़ाँ के दल में फूट डलवा दी। अमीरख़ाँ की सफलता का अधिक श्रेय उसकी स्त्री साहबजी, जो अलीमर्दानख़ाँ की बेटी थी, की बुद्धिमत्ता तथा सत्परामर्श को है।

सीमा प्रदेश में औरंगज़ेब की सफलता के कई कारण थे। उसने अफ़गानों को रिश्वतें, धन की सहायता दे-देकर खरीदा, दूसरे अपनी कूटनीति से उनमें परस्पर वैमनस्य पैदा करके उनकी शक्ति को तोड़ा। मुग़ल सेनाध्यक्षों ने भी अफ़ग़ानों को कई बार परास्त करके उनको बड़ी क्षति पहुँचाई। खैबर घाटी के मार्ग को सुरक्षित चलता रखने के लिए भी उसने फ़िरकों के सरदारों को रिश्वतें दीं। अमीरख़ाँ और उसकी स्त्री की बुद्धिमानी एवं कूटनीति ने इस सफलता में बहुत योग दिया। तथापि अफ़ग़ानों का एक सरदार ख़ुशालख़ाँ खट्टक किसी प्रकार चुप न हुआ और अकेला ही स्वदेश की स्वाधीनता के लिए निरन्तर संघर्ष करता रहा। अन्त में अपने बेटे ही के विश्वासघात से वह पकड़ा गया और बन्दी हुआ।

इस अफ़ग़ान अथवा सीमावर्ती संग्राम के कई दूरगामी परिणाम हुए। इस संग्राम के बाद ही औरंगज़ेब की अदूरदर्शिता की नीति से राजपूत-मुग़ल संग्राम शुरू हुआ। उसके लिए सम्राट् अफ़ग़ानों को सेना में न ले सका। साम्राज्य का मुख्य सैन्य-बल उत्तर-पश्चिम में खिंच जाने से शिवाजी को अपना कार्य करने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। १६७६ में ही शिवाजी गोलकुण्डा से कर्नाटक तक के प्रदेश पर हावी हो गया, और फिर मैसूर व बीजापुर होता हुआ वापस लौटा। इससे उसका प्रभाव व उत्साह बहुत बढ़ा।

## औरंगज़ेब की साम्प्रदायिक संकीर्णता और उसका परिणाम

**मुग़ल राजसत्ता की प्रकृति**—मुग़ल राजसत्ता मूलरूप से इस्लामी राजसत्ता के सिद्धान्तों पर ही निर्मित हुई थी। किन्तु उसमें देश, काल के अनुसार काफी परिवर्तन हो गया था। जैसा हम अकबर के अध्याय में बतला चुके हैं, इस महान् सम्राट् ने अपनी अनुपम प्रतिभा से मुस्लिम राजसत्ता को एक साम्प्रदायिक दायरे के अन्दर परिमित सत्ता से ऊपर उठाकर एक सार्वभौम राजसत्ता का रूप प्रदान किया था। अकबर के उत्तराधिकारियों ने उसके महान् आदर्श को न समझा और आरम्भ से ही वे उस आदर्श का प्रतिकार करने पर उद्यत हो गए। उनकी मानसिक प्रवृत्ति बराबर यही रही कि यथासंभव इस्लामी राजसत्ता के सिद्धान्तों का पालन करें। किन्तु अकबर-कालीन सांस्कृतिक व सामाजिक वायुमण्डल राजनीति में इतना व्यापक हो चुका था कि उसका सर्वतोमुखी प्रतिकार एकबारगी करना असम्भव था। इस उद्देश व आदर्श को पूर्णरूप से कार्यान्वित करने की चेष्टा औरंगज़ेब ने की और इस प्रयास में उसने मुग़ल साम्राज्य की एक शताब्दी में उदित व संवर्धित हुई परिस्थिति की माँग को कोई महत्त्व न दिया। उसने ठेठ इस्लाम मत के सिद्धान्तों के अनुसार शासन करने का प्रयास किया। इस्लामी राजसत्ता के सिद्धान्तों और उनके अनुकूल अमुस्लिम (विशेषकर मूर्तिपूजक हिन्दू) जनता के साथ जो व्यवहार होता आया था इसका विवरण पहले दे चुके हैं। औरंगज़ेब ने अपनी समझ के अनुसार व परिस्थिति से इस नीति को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

**मुसलमान जनता के धार्मिक कर्त्तव्य**—मुस्लिम विधानवेत्ताओं के अनुसार प्रत्येक मुसलमान का सर्वोच्च कर्त्तव्य है अपने धर्म-प्रचार के लिए हर प्रकार से प्रयत्नशील रहना। प्रायः मुसलमान राजाओं व शासकों ने इस सिद्धान्त का अभिप्राय यही समझा था कि धर्म का प्रचार तलवार के ज़ोर से किया जाए और संसार के काफ़िरों को मुसलमान बनाया जाए। इस उद्देश की पूर्ति के लिए जिम्मियों को प्रत्येक अवसर पर तिरस्कृत करना, उनके धर्मस्थानों का विध्वंस करना और उन स्थानों पर मस्जिदें बनवाना, नए मंदिरों का बनना बन्द करना आदि आदि कर्त्तव्य इसलामी शासन के माने जाने लगे। औरंगज़ेब जैसे अदूरदर्शी शासकों ने मुसलमानों को हिन्दू जनता की अपेक्षा हर प्रकार के आर्थिक व राजनीतिक विशेषाधिकार तथा लाभ प्रदान करके अकर्मण्य व भोगविलासी बना दिया। अतएव जो उच्चवर्ग के मुसलमान उसकी इस नीति से प्रभावित हुए उनका पतन बहुत तेज़ी के साथ हुआ। औरंगज़ेब की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य के कोने-कोने में एक प्रकार से विद्रोह की आग भड़क उठी। वह एक ओर उसको दबाने का प्रयत्न करता था तो दूसरी ओर विद्रोहाग्नि जोर पकड़ जाती थी। अतएव उसका अधिकांश समय व साम्राज्य की शक्ति इसी दुस्साहस में नष्ट हो गई और फिर भी उसका परिणाम दुःखदायी हुआ।

**औरंगज़ेब की नीति का दिग्दर्शन**—१६४४ में जब वह गुजरात का सूबेदार था, उसने अहमदाबाद के प्रसिद्ध चिन्तामणि मंदिर को तुड़वा डाला । साथ ही और भी बहुत-से छोटे-बड़े धर्मस्थान नष्ट-भ्रष्ट किए । राजगद्दी पर बैठते ही १६५९ में उसने बनारस की जनता को नए मंदिर बनाने की मनाही कर दी । उड़ीसा के स्थानीय अफ़सरों को आज्ञा दी गई कि वे कटक से मिदनापुर तक के सब मंदिरों को मिस्मार कर दें । १६६९ में सम्राट् ने एक सार्वदेशीय आज्ञा दी कि हिन्दुओं के सब बड़े-बड़े मंदिरों व स्कूलों को तोड़ डाला जाए । अनेक छोटे-बड़े मंदिरों के अतिरिक्त इस आज्ञा के अनुसार मथुरा का केशवराय नामक देवस्थान भी ध्वस्त किया गया और मथुरा का नाम बदलकर इस्लामाबाद रखा गया । सब मोहतिसबों को आज्ञा दी गई कि वे साम्राज्य की इस नीति का पूरी तरह पालन कराएँ । यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि १६६७ में मिर्ज़ा राजा जयसिंह का देहान्त हो चुका था जिसके प्राबल्य तथा महानता के कारण औरंगज़ेब की संकीर्ण नीति पर बड़ी रोक लगी हुई थी । इसी के बाद मथुरा आदि के मंदिर तोड़े गए और अन्त में १६८० में जयपुर के मंदिरों की भी बारी आई । मुसलमानों को हिन्दुओं से अधिक लाभ पहुँचाने के उद्देश से १६६५ में सम्राट् ने मुस्लिम व्यापारियों के नाम पर २½% और हिन्दू व्यापारियों पर ५% चुंगी लगाई । फिर १६६७ में मुसलमान व्यापारियों से चुंगी बिलकुल माफ कर दी गई और हिन्दुओं पर उतनी ही बनी रही । इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से मुसलमान व्यापारियों ने अपने हिन्दू मित्रों के लिए अपने नाम से सामान खरीदना-बेचना आरम्भ कर दिया । यह घटना इस बात का संकेत करती है कि जनता में तो परस्पर बड़ा सहयोग तथा सहानुभूति थी किन्तु मुल्ला तथा शासकवर्ग उनमें संघर्ष कराने के बीज बोते रहते थे । दरिद्र हिन्दुओं को मुस्लिम बनने के लिए उन्हें इनाम, इकराम देने तथा उच्च पदों पर नियुक्त करने, मुजरिमों को जेलखानों से मुक्त कर देने आदि अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाते थे । १६०९ के लगभग आरम्भ में हिन्दुओं से जज़िया फिर वसूल करने की आज्ञा दी गई और काफिरों के हर प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाजों को दमन करके इसलाम का प्रचार करने का आदेश समस्त सरकारी अफसरों को दिया गया । जज़िया केवल हृष्ट-पुष्ट बालिग मनुष्यों से वसूल किया जाता था । स्त्रियाँ, चौदह वर्ष से कम के बच्चे, गुलाम आदि इस कर से बरी थे । अंधे, लँगड़े, लूलों को केवल धनवान् होने पर ही जज़िया देना पड़ता था । बड़े-बड़े धनी महन्त भी इससे बरी न थे, परन्तु सामान्य साधु-संतों से जज़िया नहीं लिया जाता था । जज़िया की रकम निर्धारित करने के लिए समूची हिन्दू जनता को मोटे तौर पर उनकी आमदनी के अनुसार तीन वर्गों में बाँट दिया गया था । सबसे कम आमदनी वालों को १२ दिरहम, दूसरे दर्जे के लोगों को २४ और उसके ऊपर के लोगों को ४८ दिरहम वार्षिक जज़िया देना पड़ता था । (बारह दिरहम का मूल्य लगभग सवा तीन रुपया था)। इस प्रकार गरीब वर्ग के ऊपर जज़िया

का भार उनकी समूची आय का लगभग ६% पड़ता था, मध्यम वर्ग पर ६% से ६¼% तक और धनवान् वर्ग पर केवल २½ फी हजार। प्रो० सरकार के अनुसार गरीब जनता से जज़िया के रूप में पूरे साल भर की खुराक का मूल्य ले लिया जाता था। जिस तिरस्कार के चिह्न को अकबर ने १५६४ में स्थगित करके समस्त प्रजा को एक समान नागरिक अधिकार प्रदान किए थे, औरंगज़ेब ने जज़िया फिर से लागू करके उस महान् कार्य को नष्ट कर दिया। जब दिल्ली की हिन्दू जनता ने सम्राट् की इस आज्ञा का प्रतिरोध किया तो उसे बड़ी कठोरता से दबा दिया गया। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि बहुत से दरिद्र जो जज़िया देने में असमर्थ थे और अन्य हिन्दू भी कर वसूल करनेवाले अधिकारियों के दुर्व्यवहार तथा अपमान से छुट्टी पाने के लिए मुसलमान हो गए।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, औरंगज़ेब की संकीर्णता और भी कठोर होती गई। १६७१ में उसने सारे हिन्दू लगान वसूल करनेवालों को एकदम पदच्युत कर दिया। सूबेदारों व तालुकेदारों को भी आज्ञा दी कि अपने सब हिन्दू लेखकों आदि को नौकरी से हटाकर उनकी जगह पर मुसलमानों को नियुक्त करें। परन्तु हिन्दू पेशकारों आदि के हटा देने से सरकारी काम का चलना असम्भव हो गया। इससे मजबूर होकर सम्राट् ने आज्ञा दी कि बख्शी के विभाग में आधे पेशकार वगैरह हिन्दू रख लिए जाएँ। औरंगज़ेब के राज्य में यह बात सर्वसामान्य में फैल गई कि कानून-गोई पाने के लिए मुसलमान बन जाना सबसे सीधा रास्ता है। प्रो० सरकार ने लिखा है कि पंजाब के कई परिवारों में आज तक औरंगज़ेब की शाही चिट्ठियाँ मौजूद हैं जिनमें यह शर्त साफ तौर से अंकित है। औरंगज़ेब की कट्टरता यहाँ तक बढ़ी कि बहुत से नौ-मुसलिमों की हाथी पर चढ़ाकर और बाजे-गाजे के साथ उनकी सवारी शहर में निकलवाई गई। बहुतों को मुसलमान बन जाने के बदले में दैनिक वृत्ति दी जाती थी। फिर १६९५ में राजपूतों को छोड़कर बाकी सब हिन्दुओं को पालकी, हाथी और अच्छे-अच्छे घोड़ों पर चढ़ने तथा शस्त्र धारण करने की मनाही कर दी गई। इससे पहले १६६८ में औरंगज़ेब ने हिन्दुओं के मेले तथा होली-दिवाली के त्योहारों का शहर के अन्दर मनाना बन्द कर दिया था।

**उपर्युक्त नीति के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ**—औरंगज़ेब के धार्मिक अन्याय की मात्रा इतनी बढ़ी कि वह पद-दलित जनता को असहनीय हो गई। हिन्दू जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों पर इस नीति का बड़ा हानिकारक व दुःखदायी प्रभाव पड़ा और उनमें असन्तोष की आग झुलसने लगी। सन् १६६० में मथुरा के निर्दयी फौजदार अब्दुन्नबीखाँ ने सम्राट् की नीति का अनुकरण करके मूर्तिपूजा को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयास आरम्भ किया। १६६१-६२ में उसने नगर के बीचोबीच एक भारी मंदिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर मस्जिद बनवाई। इसी प्रकार के अन्य अत्याचारों के कारण मथुरा के आस-पास के जाट किसानों ने शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उनका नेता तिलपत का जमींदार गोकल था। विद्रोहियों ने अब्दुन्नबी को

मार डाला और फिर लूट-मार करते हुए आगरे के समीप पहुँच गए। इस पर औरंगज़ेब ने उनका दमन करने के लिए एक बहुत बड़ी सेना भेजी। जाटों ने लगभग बीस हज़ार योद्धा इकट्ठे करके सम्राट् की सेना का बड़ी वीरता के साथ कई स्थानों पर सामना किया परन्तु अन्त में उनकी छोटी-सी शक्ति मुग़ल सम्राट् के सामने सफल न हो पाई। हज़ारों जाट अपनी मान-मर्यादा व धर्म की रक्षा करने के लिए अत्याचार की बलिवेदी पर चढ़ गए। उनका नेता बंदी हुआ और सम्राट् की आज्ञा से उसके एक-एक अंग को काटा गया। उसके परिवार के लोगों को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया गया। इस पराभव के बाद मेवात की किसान जनता लगभग कई वर्ष तक चुप रही। परन्तु १६८६ में उनके बलवे की आग फिर भड़की जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

**सतनामी विद्रोह**—१६७२ में नारनौल ज़िले की एक किसान जाति के लोगों ने, जो अपने को सतनामी कहते थे, शासन के अत्याचार से तंग आकर विद्रोह कर दिया। एक सम्प्रदाय-विशेष के अनुयायी होने के कारण इन लोगों में बड़ा ऐक्य था। यह लोग अपने सर तथा दाढ़ी-मूँछें ही नहीं किन्तु भौंहें तक मुँड़वाते थे। वे अपनी ईमानदारी, सच्चरित्र तथा परिश्रमी होने के लिए प्रसिद्ध थे। शासन के नित नए अन्यायपूर्ण नियमों तथा आदेशों का असहनीय दबाव इस गरीब जाति पर भी पड़ रहा था। किन्तु एक साधारण घटना के कारण सतनामी लोगों को शासन का विरोध करने का अवसर मिल गया। एक सरकारी सिपाही से किसी सतनामी किसान का झगड़ा हो गया। सिपाही ने उसका सिर जख़्मी कर दिया। इस पर कई सतनामियों ने इकट्ठे होकर उस सिपाही को इतना मारा कि वह मृतप्राय हो गया। इस घटना की खबर पाते ही स्थानीय शिकदार ने उन लोगों के विरुद्ध सेना की एक टुकड़ी भेजी किन्तु सतनामियों ने इकट्ठे होकर उनको मार-पीटकर भगा दिया और उनके शस्त्र छीन लिए। अब इस झगड़े का रूप एक धर्मयुद्ध हो गया। औरंगज़ेब ने उनका दमन करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी परन्तु सतनामियों के अन्दर एक आग-सी भड़क उठी और वे टिड्डीदल की तरह जमा हो गए। उन्होंने नारनौल के फौजदार तथा अन्य सरकारी अफ़सरों को भारी क्षति पहुँचाई और नारनौल को खूब लूटा। इससे उनका उत्साह और भी बढ़ गया। अन्त में सम्राट् को १,००,००० सिपाहियों की फौज उनके विरुद्ध भेजनी पड़ी और तब बड़ी कठिनाई से यह लोग काबू में आए। दो हज़ार सतनामी युद्धक्षेत्र में मारे गए और रहे-सहे बाद में मार डाले गए।

**सिक्ख और मुग़ल सम्राट् : गुरु हरगोविन्द (१६०७-४५)**—पीछे बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार पाँचवें सिक्ख गुरु अर्जुन का मुग़ल सम्राट् जहाँगीर से संघर्ष हुआ और सिक्ख गुरु की कैसी हृदय-विदारक मृत्यु हुई। गुरु अर्जुन का पुत्र हरगोविन्द, जो केवल ११ वर्ष का था, गुरु की गद्दी पर बैठा। गुरु अर्जुन की उपर्युक्त घटना से सिक्ख जाति के अन्दर एक गहरी शंका की लहर उठ खड़ी

हुई थी। बालक हरगोविन्द ने आरम्भ से ही अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने तथा मुहम्मदी मत को नष्ट करने का संकल्प कर लिया था। उसने अपने अनुयायियों को साफ़-साफ़ कह दिया कि धार्मिक जीवन के साथ सांसारिक कर्त्तव्यों को सम्मिलित करना आवश्यक हो गया है। अतएव ईश्वर-प्रार्थना व उपासना आदि को छोड़ कर सिक्ख गुरु ने मल्ल युद्ध का अभ्यास करना, घुड़सवारी करना और साथ ही मांसाहार का अभ्यास करना आरम्भ कर दिया और यही शिक्षा अपने अनुयायियों को दी। हरगोविन्द के इस परिवर्तन का कारण केवल तत्कालीन परिस्थिति ही नहीं थी, उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति भी ऐसी ही थी।

आरम्भ में हरगोविन्द ने सम्राट् जहाँगीर से मित्रता करके अपने पिता के बधिक चन्दूशाह से पूरा बदला लिया। और कई वर्ष तक सम्राट् की नौकरी में रहकर बहुत से विद्रोही सरदारों का दमन किया। जहाँगीर ने उसे ७०० घोड़े और १,००० पैदल का मनसबदार नियुक्त किया। परन्तु फिर किसी कारण जहाँगीर से मतभेद होने पर हरगोविन्द को कई वर्ष तक बन्दीघर में रहना पड़ा। क़ैद से छूटने के बाद गुरु हरगोविन्द ने सिक्खों को सैनिक जीवन के लिए पूरी तरह तैयार करना शुरू कर दिया।

शाहजहाँ के गद्दी पर बैठते ही गुरु हरगोविन्द से शाही सैनिकों की अमृतसर के निकट मुठभेड़ हो गई। सम्राट् की सेना को गुरु ने कई बार पछाड़ा पर अन्त में उसकी हार हुई। गुरु का अमृतसर का दरबार लूट लिया गया और वह अपनी जान बचाने के लिए काश्मीर के पहाड़ में कीरतपुर स्थान पर जा छिपा। १६४५ में वहाँ उसकी मृत्यु हो गई।

**गुरु हरराय (१६४५-६१)**—हरगोविन्द के बाद उसका पोता हरराय गद्दी पर आसीन हुआ। उसके जीवन-काल में कई कारणों से शान्ति का वातावरण बना रहा। इसका मुख्य कारण यह था कि हरराय एक मननशील व शान्तिप्रिय मनुष्य था। उसे युद्ध में कोई रुचि न थी। इसके प्रतिकूल वह एकान्तवास और धार्मिक जीवन को पसन्द करता था। गुरु हरराय शाहज़ादा दाराशिकोह का बड़ा मित्र था। उसने अपने जीवन में केवल एक ही बार सेना का प्रयोग किया था। जब दारा औरंगज़ेब से हारकर पंजाब की ओर भाग रहा था, गुरु ने उसकी सहायता के लिए अपनी सेना भेजी। औरंगज़ेब ने उससे इस धृष्टता का जवाब माँगा तो उसने अपने बेटे रामराय को दरबार में भेज दिया। मुग़ल सम्राट् ने रामराय को बंधक के रूप में अपने दरबार में रखा। गुरु हरराय ने आजीवन शान्ति भंग न की। किन्तु चुपके-चुपके वह बड़े-बड़े परिवारों को सिक्ख बनाने का कार्य करता रहा। हरराय की मृत्यु १६६१ में हो गई। उसका छोटा पुत्र हरकिशन, जो केवल ५ वर्ष का बालक था, गुरु की गद्दी पर आसीन हुआ। इससे असंतुष्ट होकर गुरु के बड़े भाई रामराय ने औरंगज़ेब से फ़रियाद की कि गद्दी का अधिकार उसका है न कि हरकिशन का। किन्तु हरकिशन की १६६४ में चेचक के रोग से मृत्यु हो गई। हरकिशन इतनी छोटी

आयु में भी अत्यन्त मेधावी व चतुर बालक था। उसने अपने परदादा हरगोविन्द के सबसे छोटे पुत्र तेगबहादुर को सबसे अधिक योग्य देखकर गुरु की गद्दी के लिए नियुक्त किया। तेगबहादुर उसी वर्ष गद्दी पर बैठा। तेगबहादुर अत्यन्त साधु व शान्त प्रकृति का मनुष्य था। अपनी नेकी, सादा जीवन तथा सेवाभाव के कारण वह सर्वप्रिय बन गया था। किन्तु रामराय ने औरंगज़ेब को उसके विरुद्ध उकसाया और उसे दरबार में बुलाया गया। इस समय मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने बीच में पकड़कर तेगबहादुर को बचा लिया और उसे अपने साथ आसाम की चढ़ाई पर ले गया। वहाँ तेगबहादुर ने राजा जयसिंह की बड़ी सहायता की। तदनन्तर पंजाब वापस लौटकर वह शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगा। तेगबहादुर ने काश्मीर के निकट आनन्दपुर गाँव को अपना निवास-स्थान बनाया। हिन्दुओं और उनके धर्म पर अत्याचारों को देखकर वह सहन न कर सका और उसने खुल्लम-खुल्ला काश्मीर के हिन्दुओं को प्रोत्साहित किया कि वे शासन के दबाव से इस्लाम धर्म मानने से इनकार कर दें। इस पर उसे पकड़कर दिल्ली ले जाया गया और बन्दीघर में उससे इस्लाम स्वीकार करने को कहा गया। परन्तु उसके इनकार करने पर पाँच दिन तक अत्यन्त यातनाएँ देकर उसका सर कटवाया गया (१६७६)।

इसका परिणाम यह हुआ कि सिक्ख जाति और मुसलमानों में खुल्लमखुल्ला संघर्ष आरम्भ हो गया। उसी समय सिक्खों के अन्दर एक बड़ा चतुर नेता उत्पन्न हुआ जिसने सिक्ख जाति को एक संयम के सूत्र में संगठित करके मुग़ल साम्राज्य का विरोध करने के लिए तैयार कर दिया। यह तेग़बहादुर का बेटा गुरु गोविन्दसिंह था।

**गुरु गोविन्दसिंह (१६७६-१७०८)**—गुरु गोविन्दसिंह के कार्य का उल्लेख करने से पहले तत्कालीन पंजाब प्रान्त की परिस्थिति तथा सामाजिक वायुमंडल का संक्षेप से वर्णन करना आवश्यक है। औरंगज़ेब के शासन के आरम्भ में मुग़ल शासन-व्यवस्था में बहुत-सी त्रुटियाँ आ गई थीं। इसके आन्तरिक व बाह्य दोनों ही कारण थे। एक ओर मुग़ल राज्य का संचालक-वर्ग बहुत पतित हो चुका था, दूसरी ओर उत्तर-पश्चिम की समस्या एवं अन्य उपद्रवों के कारण भी बड़ी अव्यवस्था फैल गई थी। ऊपर से मुग़ल सम्राट की खुल्लमखुल्ला संकीर्ण व अन्यायपूर्ण नीति के कारण साम्राज्य का मान व विश्वास जनता के मन से घटता जा रहा था। तथापि भारतवर्ष की प्राचीन परम्परा के अनुयायी हिन्दू अब भी अपने सम्राट् के प्रति सेवा व भक्ति-भाव छोड़ना न चाहते थे। गुरु गोविन्दसिंह पिता की मृत्यु के समय केवल १५ वर्ष का नवयुवक था। साथ ही उसके परिवार के लोग उसके विरुद्ध थे। यह सब बातें गुरु गोविन्दसिंह के मार्ग में बाधक थीं। इनके विपरीत सिक्ख सम्प्रदाय में गुरु की पूजा ईश्वर के समान ही होने लगी थी और उसी के नेतृत्व में समस्त सिक्ख जाति एकता के सूत्र में बँध गई थी। गोविन्दसिंह को इस जाति को मुग़ल साम्राज्य से युद्ध करने के लिए पूरी तरह शिक्षित व तैयार करना था। आरम्भ में गुरु गोविन्दसिंह को अपने कार्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

गुरु गोविन्दसिंह शुरू से ही एक राज्य स्थापित करना चाहता था। अपनी परिस्थिति को दृष्टि में रखकर गोविन्द तैयारी करने के लिए उत्तरी पंजाब के पहाड़ों में जा बसा। वहाँ उसने २० वर्ष तक बड़ी कठोर साधना का जीवन बिताया और धीरे-धीरे अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाता रहा। इन सबको उसने इस्लाम और मुस्लिम सरकार के विरुद्ध लड़ने के लिए सैनिक शिक्षा देना आरम्भ किया। अपने निजी उद्देश को पूरा करने के लिए गोविन्दसिंह ने अपने पड़ोसी व आसपास के ज़मीदारों को लूटना शुरू किया। ऐसा करना अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए आवश्यक था। इस पर पर्वतीय राजाओं ने मुग़ल सम्राट् की सहायता से गोविन्द का दमन करना चाहा किन्तु वे बड़ी कठिनाई से उसको परास्त कर सके। अन्त में गुरु को आनन्दपुर, जहाँ उसका निवास था, छोड़कर अपनी जान बचाने के लिए जगह-जगह भागना पड़ा। इस घटनाचक्र में गुरु गोविन्दसिंह के चारों बेटे शत्रुओं के हाथ पड़े और वीरगति को प्राप्त हुए। तथापि गुरु गोविन्दसिंह ने अपने सुव्यवस्थित संगठन तथा चतुराई से सिक्खों में ही नहीं हिन्दू मात्र में स्वाधीनता व आत्मसम्मान की आकांक्षा प्रज्वलित कर दी और उन सबको विशाल शक्ति-सम्पन्न मुग़ल साम्राज्य का खुला विरोध करने पर उद्यत कर दिया। सिक्खों के लिए उसने बड़े कठोर संयम का जीवन व्यतीत करना अत्यावश्यक बतलाया। उनको सैनिक शिक्षा देने के अतिरिक्त गुरु का सर्वोपरि आदेश यह था कि वे धर्म और गुरु के लिए जीवन अर्पण कर देना सर्वोच्च मानें। जनता में ऐक्य तथा समानता के भाव उत्पन्न करने के लिए गुरु ने जाति-पाँति के भेद, ऊँच-नीच के विचार आदि कुप्रथाओं को समूल नष्ट कर दिया। कोई मनुष्य इस प्रकार की त्रुटियों को रखते हुए अपने को सच्चा सिक्ख अथवा गुरु का सेवक नहीं कह सकता था। इसी के साथ गुरु ने सिक्खों को अपने पाँच सूचक चिह्न रखने का आदेश दिया अर्थात् केश, कड़ा, कंघा, कच्छा तथा कृपाण।

जब गुरु गोविन्द मुग़ल साम्राज्य की शक्ति का मुकाबला न कर सका तो उसने अपने कुछ साथियों सहित दक्षिण की यात्रा करने का विचार किया। इतने में औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई। उसके बेटे बहादुरशाह प्रथम ने गुरु गोविन्द के साथ मित्रता का व्यवहार किया और उसको हैदराबाद तक अपने साथ ले गया। वहाँ गुरु एक वर्ष तक रहा। १७०८ में उसके एक शत्रु अफ़गान ने छुरे से उसका वध कर दिया।

उपर्युक्त विवरण से विदित होगा कि औरंगज़ेब ने कुछ समय के लिए गुरु गोविन्द और उसके अनुयायियों को तितर-बितर करके सिक्ख-विद्रोह को दबा दिया। उन्हें एक नेता की आवश्यकता थी जो उनको एक सूत्र में बाँधकर उनका नेतृत्व करता रहे। ऐसा नेता उनको न मिला। गोविन्दसिंह के बाद गुरु-परम्परा समाप्त हो जाने से सिक्ख जनता एक बे-सिर के शरीर के समान हो गई। अतएव उनके छोटे-बड़े सरदारों ने अपने-अपने साथियों को लेकर लूट-मार करनी शुरू की। इस समय गोविन्दसिंह का एक अनुयायी, बन्दा बैरागी सिक्खों का नेता बन गया। बन्दा ने

सिक्खों को सुचारु रूप से एक ऊँचे उद्देश की प्राप्ति के हेतु संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने के बजाय उनको केवल बेरोक-टोक लूट-मार तथा अत्याचार करने का प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुग़ल सम्राटों ने सिक्खों का उसी प्रकार दमन करने के उपाय किए जिस प्रकार कोई राज्य लुटेरों व आततायियों का दमन करता है। फर्रुख़सियर के शासन में सिक्खों को ढूँढ़-ढूँढ़कर मारा गया। उनके घर-बार लूटे और जला दिए गए। सिक्ख शक्ति एक प्रकार से नष्ट हो गई और बहुत दिन तक सिक्ख अपना सर न उठा सके।

**बन्दा बैरागी**—गुरु गोविन्दसिंह के बाद बन्दा बैरागी ने सिक्खों का नेतृत्व करना शुरू किया। बन्दा एक डोगरा फिरके का राजपूत था। वह १६७० में पैदा हुआ था। उसका पहला नाम लक्ष्मणदेव था और फिर साधु बनने के बाद उसने अपना नाम माधवदास रखा और तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़ा। १७०८ में दक्षिण में नान्देर के स्थान पर उसकी भेंट गुरु गोविन्दसिंह से हुई और वह गुरु के सम्पर्क से इतना प्रभावित हुआ कि वह उसका शिष्य बन गया और अपने को गुरु का बन्दा अर्थात् दास कहने लगा। उसने गुरु से आज्ञा माँगी कि वह उसके मिशन को पूरा करने के लिए अपना जीवन लगा दे। गुरु ने प्रसन्न होकर बन्दा को दीक्षा दी और पूर्ण संयम का जीवन व्यतीत करके सिक्ख जाति का संचालन करने तथा मुसलमानों को नष्ट करने का भार उसको सौंपा। जब यह संदेशा लेकर बन्दा पंजाब लौटा, हज़ारों सिक्ख उसके झण्डे के नीचे आकर जीवन-आहुति देने को तैयार हो गए। बन्दा के अनुयायियों में हर प्रकार के लोग थे। बहुत से गुरु गोविन्द के भक्त उच्चादर्श से प्रेरित होकर आए, बहुत से केवल वेतनभोगी, जो पैसा लेकर लड़ने के लिए उसकी सेना में शामिल हुए। बहुत से ऐसे भी थे जिनमें केवल लूट-मार करनेवाले हर प्रकार के डाकू, चोर आदि शामिल थे।

बन्दा ने पहले-पहल सरहिन्द पर चढ़ाई की, जहाँ गुरु गोविन्दसिंह के बेटों का बड़ी यातनाओं से वध किया गया था। मार्ग में उसने बादशाह का खज़ाना, जो दिल्ली जा रहा था, लूटकर अपनी सेना में बाँट दिया। इसी प्रकार कई गाँवों और कस्बों को, जिनमें मुसलमान बस्तियाँ थीं, लूटता तथा विध्वंस करता हुआ और मुसलमान अधिकारियों को कत्ल करता हुआ वह सरहिन्द पहुँचा। उसकी इस सफलता को देखकर और भी हज़ारों सिक्ख तथा हिन्दू आकर उसकी सेना में सम्मिलित हो गए। ३० मई १७१० को मुग़ल सेना और बन्दा में एक घोर युद्ध हुआ और यद्यपि मुग़ल सेना के पास तोपखाना था जो बन्दा की सेना में नहीं था तथापि मुग़लों की हार हुई और सरहिन्द शहर को तीन दिन तक लूटा गया। चौथे दिन बन्दा ने लूट-खसोट बन्द करके एक सिक्ख सरदार को सरहिन्द का शासक नियुक्त किया। इसी प्रकार उसने सामाना आदि अन्य आस-पास के शहरों में हिन्दू अधिकारी व शासक नियुक्त किए और मुसलमानों को चुन-चुनकर निकाल बाहर किया। इसके बाद जमुना के पार देवबन्द व अन्य स्थानों के हिन्दुओं को मुसलमान अत्याचारी अधिकारियों

से बचाने के लिए बन्दा सहारनपुर पहुँचा और दोआब के शहरों से मुसलमानों को मार-काटकर नष्ट कर दिया और हिन्दू प्रभुत्व स्थापित किया। तदनन्तर करनाल व पानीपत इत्यादि शहरों पर भी सिक्खों ने अधिकार कर लिया। बन्दा के सैनिकों के इन अत्याचारों का समाचार सुनकर मुग़ल सम्राट् बड़ी तीव्रगति से उत्तर की तरफ आया और सीधा सरहिन्द पहुँचा। वहाँ जाकर मुग़ल सेना का बन्दा से लोहगढ़ के स्थान पर, जो अम्बाला के समीप था, मुकाबला हुआ। बन्दा ने लोहगढ़ के किले में आश्रय लिया और मुग़लों के किले का घेरा डाला। मुग़ल सेना की शक्ति बन्दा से कहीं अधिक थी। उन्होंने किले पर अकस्मात् चढ़ाई करके अधिकार कर लिया और अन्दर घुसकर बड़ी भयानक मार-काट की। बन्दा रात के समय चुपके से बाहर निकल गया और नाहन की पहाड़ी में जा छिपा। इन्हीं दिनों मुग़ल सम्राट् बहादुरशाह की मृत्यु हो गई और सामान्य घरेलू युद्ध के बाद फर्रुखसियर सम्राट् बना। बन्दा ने इस घटना से लाभ उठाकर फिर लूट-मार करना तथा मुसलमानों को हर प्रकार से त्रस्त करना आरम्भ किया। उसने बदला लेने के भाव से उनके धर्मस्थानों व धर्म-पुस्तकों को भी अपमानित किया। फर्रुखसियर उसके इन कारनामों की सूचना पाकर आपे से बाहर हो गया। उसने लाहौर के नाज़िम को आज्ञा दी कि बन्दा की शक्ति को समूल नष्ट करे। लाहौर के शासक अब्दुस्समद ने बन्दा का पीछा करना शुरू किया और अन्त में गुरुदासपुर के किले का घेरा डालकर, जहाँ बन्दा बैरागी अपनी रक्षा के लिए चला गया था, उसको पकड़ लिया और दिल्ली पहुँचाया। दिल्ली में बन्दा को हथकड़ी-बेड़ियों से बाँधकर एक जंगली जानवर के समान लोहे के कठघरे में रखा गया और बड़ी हृदय-विदारक यातनाएँ देकर उसका वध किया गया। बन्दा के साथियों को भी अत्यन्त निर्दयता के साथ अपमानित करके नष्ट किया गया। इसके बाद सरहिन्द तथा पंजाब के सिक्खों व हिन्दुओं को इतने घोर दण्ड दिए गए कि वे फिर बहुत दिन तक सर न उठा सके।

**मुग़ल राजपूत संघर्ष**—राजपूताने की स्थिति उत्तर भारतीय भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजपूताने का विजय करना केवल एक निस्सार महत्त्वा-कांक्षा ही नहीं थी, उसके निवासी अपनी शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे और उनका सहयोग किसी भी दिल्ली सम्राट् के लिए परमावश्यक था। यद्यपि राजपूताने का विशेषकर पश्चिमी भाग मरुभूमि होने के कारण जलविहीन तथा अनुपजाऊ था तो भी उसका आर्थिक तथा व्यापारिक दृष्टि से भारी महत्त्व था क्योंकि गुजरात व दक्षिण के बन्दरगाहों तथा व्यापार-केन्द्रों के आवागमन कायम रखने के लिए राजस्थान के रास्तों से जाना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त राजस्थान का एक विशेष आर्थिक स्रोत जिसे प्रायः सभी लोग अदृष्ट कर देते हैं वह है उसका शिल्प तथा कई प्रकार की दस्तकारी का व्यवसाय। इनमें सर्वोपरि महत्त्व वास्तु तथा तक्षण कला का है क्योंकि वास्तु-निर्माण के लिए संगमरमर तथा अन्य प्रकार के सर्वोत्तम पत्थरों की सबसे विपुल खानें राजस्थान में ही पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त

पच्चीकारी, चाँदी, पीतल व ताँबे के सर्वोत्तम अलंकृत बर्तन और एक अत्यन्त अनुपम सुन्दर छपाई के सैंकड़ों नमूने के स्त्री-पुरुषों के वस्त्र आदि आदि व्यवसाय राजपूताने की विशेषताएँ रही हैं जिनसे वह प्रदेश धन-धान्य में भी अन्य स्थानों से पीछे नहीं रहा। उसके बड़े-बड़े नगरों में इतने धनवान् व्यापारी व वाणिज्य करनेवाले हुए हैं जो अपने समय के राजाओं तक की धन से सहायता करते थे और उनपर बहुत प्रभाव रखते थे। आर्थिक सम्पन्नता के उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त राजस्थान के मवेशी विशेषकर गाय, बैल एवं ऊँट और घोड़े भी सर्वोत्तम होते आए हैं जो राजपूताने के व्यापार के मुख्य साधन थे। इन सब कारणों से दिल्ली-सम्राटों के लिए राजस्थान पर अधिकार करना अनिवार्य था। इस उद्देश को अकबर ने अपनी मैत्री की नीति से बड़ी सुन्दरता से पूरा कर लिया था। उसके कार्य को यथासंभव जहाँगीर व शाहशहाँ ने पूरा करने की चेष्टा की। औरंगज़ेब के समय तक राजपूताने के मुख्य-मुख्य वीर घरानों से इतने पुराने व घनिष्ठ सम्बन्ध मुग़ल-परिवार के साथ हो गए थे कि एक प्रकार से मुग़ल साम्राज्य को मुग़लों व राजपूतों के सहयोग का ही फल समझा जा सकता है। औरंगज़ेब ने भी आमेर व जोधपुर के राजाओं की मित्रता से पूरा लाभ उठाया। किन्तु उनके मरते ही उसने अपनी धर्मान्धता के कारण उनके महत्त्व को भुला दिया और राजपूतों के प्रति भी ऐसी विचारहीन तथा कुटिल नीति का सूत्रपात किया कि इन साम्राज्य के भक्त राजपूतों से भी सहन न हो सका और वे आत्मरक्षा के लिए संग्राम करने पर तुल गए। राजपूतों का सर्वमान्य नेता जयसिंह १६६७ में मर चुका था। उसके बाद जोधपुर का राजा जसवंतसिंह राजपूतों का सर्वोपरि नेता था। लगभग ११ वर्ष बाद जसवंतसिंह की मृत्यु हो गई। इन दुर्घटनाओं से औरंगज़ेब को राजस्थान में भी इस्लाम फैलाने की अपनी आन्तरिक आकांक्षा को पूरा करने का अवसर मिला।

**मुग़ल सम्राट और मारवाड़**—औरंगज़ेब की इच्छा थी कि राजा जसवंतसिंह का कोई उत्तराधिकारी न रहे और उस रियासत को भी अन्य सूबों की भाँति शासित किया जाए। उस पर जज़िया लगाया जाए और वहाँ के मंदिर तोड़े जाएँ। अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए उसे एक अच्छा अवसर मिल गया। अफ़गानिस्तान के संग्रामस्थल से लौटते हुए राजा जसवंतसिंह की खैबर की घाटी में अकस्मात मृत्यु हो गई। उस समय उसके कोई बेटा न था। केवल एक भतीजा था जिसको औरंगज़ेब ने उत्तराधिकारी स्वीकार न किया। इसके प्रतिकूल उसने जोधपुर राज्य को तुरंत हड़प कर लेने की युक्ति आरंभ की। समस्त राज्य में उसने मुसलमान पदाधिकारी नियुक्त कर दिए और स्वयं १६७६ में एक सेना के साथ अजमेर जा बैठा। जसवंतसिंह की मुख्य सेना अभी तक उत्तर-पश्चिम में थी। अतएव जौधपुर राज्य का समस्त कोष आदि बड़ी आसानी से मुग़ल सेनापति के हाथ पड़ा और वह हजारों मन्दिरों को तोड़कर उनके मलबे की सैंकड़ों गाड़ियाँ भरकर राजधानी ले आया ताकि वह किले के फर्श में डाला जाए और आगन्तुकों के पैर के नीचे कुचला जाता रहे यह कार्य पूरा

करने के बाद औरंगजेब ने जसवंतसिंह के भतीजे इन्द्रसिंह को करद राजा बनाकर जोधपुर में प्रतिष्ठित किया और स्वयं वापस चला आया इसी समय वहाँ जजिया भी फिर से लागू किया गया।

**राजपूताने में विप्लव**—मुग़ल सम्राट् के इन अन्यायों से समस्त राजपूतों में आत्म-सम्मान की रक्षा करने के भाव उत्तेजित हो गए। सभी राजपूत घरानों के नेता इस प्रतिरोध में सम्मिलित हो गए। इस आन्दोलन को जसवन्तसिंह के बेटे अजीतसिंह के उत्पन्न होने से बड़ी उत्तेजना मिली। जब जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद उसका परिवार लाहौर वापस आया, वहाँ उसकी दो रानियों से दो लड़के पैदा हुए। इनमें से एक मर गया और दूसरा जिसका नाम अजीतसिंह रखा गया, जीवित रहा। राजपूतों ने तुरत सम्राट् से अनुरोध किया कि अजीतसिंह को जसवन्तसिंह का उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाए किन्तु औरंगज़ेब ने उनकी एक न सुनी और बालक अजीतसिंह का पालन करना अपने महल में तय किया। एक लेखक के अनुसार औरंगज़ेब ने मुसलमान हो जाने की शर्त पर अजीतसिंह को जोधपुर का उत्तराधिकारी मान लेने का प्रस्ताव किया।

**दुर्गादास का पराक्रम**—मुग़ल सम्राट् के ऐसे भयानक विचारों तथा इरादों से राठौर वर्ग अति शंकित हो उठा। उन्होंने देखा कि उनका धर्म तथा बालक राजकुमार दोनों ही गहरे संकट में ग्रस्त हैं। अतएव उन्होंने अपनी जान की बाजी लगाकर अपनी मान-प्रतिष्ठा तथा बालक अजीत को बचा लेने की प्रतिज्ञा की। इन वीर राठौरों का नेता दुर्गादास था जो हर प्रकार से एक अद्वितीय योद्धा, समर-कुशल, स्वामिभक्त मनुष्य था। दुर्गादास का जीवन बालकपन से ही चरित्र की पवित्रता तथा उत्कृष्ट विचारों एवं कर्मण्यता के लिए प्रसिद्ध रहा था। वह विरला ही राजपूत वीर था जिसमें क्षत्रियोचित शौर्य तथा निर्भीकता के साथ-साथ बड़ी कार्यकुशलता, दूरदर्शिता तथा राजनीतिक बुद्धि विद्यमान थी।

ज्योंही औरंगज़ेब ने बालक अजीत को अपने कब्ज़े में रखने की चेष्टा की, दुर्गादास ने तुरत अपने राजपूत साथियों से मन्त्रणा करके उसको बचाकर जोधपुर पहुँचा देने का दृढ़ निश्चय किया। इस पर औरंगज़ेब ने उसके विरुद्ध एक सेना भेजी और जसवन्तसिंह की रानियों तथा अजीतसिंह को नूरगढ़ (सलीमगढ़) के किले में कैद कर देने की आज्ञा दी। किन्तु दुर्गादास के साथियों को इस घोर संकटमय परिस्थिति ने मानो यम का अवतार ही बना दिया था। उनमें से १०० वीरों का एक जत्था जिनकी भीषण भृकुटि तथा रक्तिम आँखें क्रोधाग्नि से आग बरसा रही थीं, अपनी जानों को हथेली पर रखकर एक उबलते हुए ज्वालामुखी के समान मुग़लों पर फट पड़ा और ऐसी मार-काट की कि अपने जीवन की आहुति देने से पहले एक-एक राजपूत वीर ने सैकड़ों मुग़लों को संग्राम की ज्वाला में बलि चढ़ा दिया। उनके इस भीषण प्रहार ने सम्राट् की सेना को थर्रा दिया। अवसर पाकर दुर्गादास अजीतसिंह और रानियों को अपने संरक्षण में लेकर मारवाड़ की तरफ चल

निकला। मुग़ल सेना को उसका पीछा करने से रोकने के लिए रघुनाथ भट्टी ने मुग़लों के रक्त से दिल्ली की गलियों को रंग दिया और एक घण्टे तक इस प्रकार युद्ध करते हुए वह और उसके ७० साथी योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। परन्तु इतनी देर में दुर्गादास काफी दूर निकल गया था। रघुनाथ के प्रहारों से छुट्टी पाकर जब मुग़लों ने दुर्गादास का पीछा करना चाहा तो रणछोड़दास योद्धा और उसके थोड़े से साथियों ने उनका रास्ता बहुत देर तक रोका और जब तक इन वीरों में से एक भी जीवित रहा, मुग़ल आगे न बढ़ सके। तदनन्तर दुर्गादास ने रानियों और राजकुमार को आगे भेज दिया और स्वयं ५० वीरों के साथ मुग़ल सेना को रोकने के लिए उद्यत हुआ। अब दोनों सेनाओं को लड़ते-लड़ते शाम हो गई थी और मुग़ल थककर बेहाल हो रहे थे। इनसे युद्ध करते हुए दुर्गादास अपने साथ थोड़े से बचे हुए वीरों को लेकर मुग़ल पंक्तियों को काटता हुआ साफ निकल गया और मुग़ल सेना ने थककर उनका पीछा छोड़ दिया। दुर्गादास इस प्रकार अद्वितीय वीरता के साथ राजकुमार अजीतसिंह को औरंगज़ेब के पंजों से छुड़ाकर सही-सलामत जोधपुर पहुँचा और बड़े गुप्त रूप से उनका पालन-पोषण करने का प्रबन्ध किया। अजीतसिंह के जीवित होने की खबर पाकर मारवाड़ के कोने-कोने में आग लग गई और यद्यपि औरंगज़ेब ने एक बनावटी अजीतसिंह को अपने रनिवास में रखकर असली राजकुमार होने की खबर फैलाई परन्तु उसकी इस चालाकी का किसी ने विश्वास न किया।

अजीतसिंह के बचकर निकल जाते ही औरंगज़ेब ने एक सेना अजमेर भेजी और फिर वहाँ स्वयं पहुँचा। मुग़ल सेना ने तहव्वरखाँ के संचालन में मारवाड़ भूमि को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। १६७९ के अन्तिम दिनों में पुष्कर झील के निकट दोनों पक्षों में घोर संग्राम हुआ जिसमें राजपूत वीरता से लड़ते हुए एक-एक करके आहत हुए। इसके बाद राजपूतों ने खुले मैदान में युद्ध न करके छापामार लड़ाई करने की युक्ति का आश्रय लिया। इधर औरंगज़ेब ने मारवाड़ में पूर्णरूप से अपना शासन स्थापित करके मन्दिरों को तुड़वाकर उनके स्थान पर मसजिदें बनवाना, धर्मस्थानों को दूषित व अपमानित करना, देवमूर्तियों को खण्डित करना आदि अत्याचार करने आरम्भ किए। उसके इस असीम अत्याचार को उदयपुर का राणा भी सहन न कर सका और उसने राठौरों की सहायता करने का निश्चय किया।

**औरंगज़ेब और मेवाड़**—जब से राणा अमरसिंह प्रथम ने जहाँगीर से सन्धि कर ली थी, मेवाड़ के राणाओं ने मुग़लों के साथ मैत्री का व्यवहार किया था। किन्तु मारवाड़ पर औरंगज़ेब का ऐसा घोर अत्याचार देखकर सच्ची शंका हुई कि मारवाड़ जीतने के बाद उनकी बारी आना अवश्यम्भावी है। इसकी पहली किश्त सम्राट् की ओर से उन्हें यह मिल चुकी थी कि मेवाड़ पर भी जज़िया लागू करने का हुक्म दे दिया गया था। साथ ही अजीतसिंह की माँ ने, जो मेवाड़ी थी, राणा से सहायता की याचना की थी जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

औरंगज़ेब ने तुरत सात हज़ार सेना के साथ मेवाड़ पर धावा बोल दिया। राणा उदयपुर को खाली करके पहाड़ियों में चला गया। मुग़लों ने उदयपुर पहुँचकर वहाँ के मन्दिरों को तोड़ा व लूट-मार की। उदयपुर के आस-पास के १७० से ऊपर मन्दिर ध्वस्त किए गए। चित्तौड़ में ६३ मन्दिरों को धाराशायी किया गया। मुग़ल सेना ने एक स्थान पर राणा को परास्त किया और फिर राजकुमार अकबर को चित्तौड़ आदि स्थानों का शासन सौंपकर सेना वापस लौटी।

**मुग़ल सेना की पराजय**—मुग़लों ने उदयपुर व चित्तौड़ के समीपवर्ती स्थानों को अवश्य नष्ट कर डाला था तथापि उस प्रदेश के बीहड़ पहाड़ी रास्तों व घाटियों आदि से मुग़ल परिचित न थे। राजपूतों को इस भौगोलिक स्थिति का बड़ा सहारा था। वे एक प्रकार से एक पर्वत-शृंखला के भीतर सुरक्षित थे और मुग़लों को इस नैसर्गिक गढ़ के चारों ओर घूम-घूमकर अन्दर घुसने के द्वार ढूँढ़ने पड़ते थे। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था और शाहज़ादे अकबर के पास पर्याप्त सेना भी नहीं थी क्योंकि उसकी बहुत-सी सेना मारवाड़ के युद्धस्थल पर भेज दी गई थी। औरंगज़ेब के अजमेर वापस लौटते ही राजपूतों ने इतनी तेजी से मुग़लों पर छापे मारने और उनके खजाने आदि को लूटना आरम्भ किया कि उनकी सारी हिम्मत पस्त होने लगी और मुग़ल सैनिकों ने मेवाड़ युद्धस्थल पर जाने से इनकार कर दिया। कई स्थानों पर शाहज़ादा अकबर तथा अन्य मुगल सरदार परास्त हुए और उनका सब माल-असबाब व खजाना लूट लिया गया। राणा के बेटे भीमसिंह ने ऐसे लगातार हमले मुग़ल सेना पर किए कि वे मेवाड़ भूमि में घुसने का साहस न कर सके। अकबर ने सम्राट् को लिखा कि हमारी सेना भय से शिथिल हो गई है और भूखों मर रही है। सम्राट् शाहज़ादे अकबर की असफलता से अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसे मारवाड़ भेज दिया। उसका विचार यह था कि मेवाड़ में तीन तरफ से धावा बोलकर अन्दर घुसा जाए किन्तु उसकी यह युक्ति बिलकुल असफल हुई और इसी वर्ष शाहजादा अकबर अपने पिता की नीति से ऊबकर बागी हो गया।

**मेवाड़ में शाहज़ादा अकबर और मुग़लों का ह्रास**—मारवाड़ पहुँचने तक शाहज़ादा अकबर व तहव्वरखाँ दोनों ही उत्साहहीन हो चुके थे और अकबर अपनी मानहानि को बचाने का दुस्साहस कर रहा था। ऐसी मानसिक दशा में इनको सफलता कैसे मिल सकती थी। दूसरी ओर राठौरों ने छापा मारकर युद्ध करने की नीति बरतना शुरू कर दिया था। वे छोटी-छोटी टुकड़ियों में समस्त मारवाड़ में बिखर गए और मुग़ल सेना को इतना छकाया कि अकबर सर्वथा हतबुद्धि हो बैठा। मुग़ल सेना इतनी भयभीत हो चुकी थी कि कई महीने तक प्रयत्न करने पर वह आगे बढ़ सकी और सोजत व नादोल तक पहुँची जहाँ से वह मेवाड़ में प्रवेश कर सकती थी किन्तु तहव्वरखाँ ने पहाड़ी कन्दराओं में घुसने से इनकार कर दिया। भीमसिंह ने उन पर हमला करके काफी नुकसान पहुँचाया।

इस घटना के कोई डेढ़ महीने तक मुग़ल सेना बिलकुल शिथिल रही; क्योंकि

मुग़ल सेनापति राजपूतों से मिल जाने के लिए बातचीत कर रहा था। छः महीने तक आनाकानी करने के बाद उसने बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ना शुरू किया पर अत्यन्त उदासीनता से। सम्राट् ने उसकी सुस्ती से ऊबकर एक सहायक सेना भेजी जो कुम्भलमेर के निकट तक पहुँच गई, पर फिर सब चुप बैठ गए। थोड़े दिन बाद जनवरी १६८१ में अकबर ने घोषणा निकाली जिसके द्वारा उसने अपने पिता औरंगज़ेब को राजगद्दी से उतारकर अपने को बादशाह घोषित किया और वह खुले तौर पर राजपूतों से जा मिला। तदनन्तर अकबर ने अपने सहयोगी चार मुल्लाओं से यह व्यवस्था दिलवाई कि औरंगज़ेब ने अपने कुकृत्यों से बादशाहत की पदवी का अधिकार खो दिया है। तहव्वरखाँ को उसने अपना वज़ीर बनाया।

इस समय सम्राट् अजमेर में था। उसकी परिस्थिति इतनी निर्बल व निस्सहाय थी कि यदि अकबर ने अविलम्ब उस पर आक्रमण कर दिया होता तो उसे सफलता मिलने की बहुत ही सम्भावना थी। शाहज़ादे के विद्रोह की सूचना पाकर स्वयं बादशाह ने कहा कि इस समय मैं बिलकुल निस्सहाय हूँ। वह क्यों नहीं मुझ पर आक्रमण करता है। पर औरंगज़ेब और उसके पुत्र के चरित्र व यथा अवसर क्रियाशील बुद्धि में जमीन-आसमान का अन्तर था। अकबर ने अपनी स्वाभाविक सुस्ती व अकर्मण्यता से ऐसे स्वर्ण अवसर को खो दिया। एक-एक क्षण की देरी उसके लिए घातक थी पर उसने १२० मील तय करने में १५ दिन लगा दिए। इतने में सम्राट् ने अपनी रक्षा की पूरी तैयारी कर ली और अजमेर को पूरी तरह सेनाओं से सुरक्षित कर लिया। जब शाहज़ादे और सम्राट् की सेनाओं का सामना हुआ, तो औरंगज़ेब की कूटनीति के प्रहार ने, विद्रोही शाहज़ादे को ऐसे भँवर में डाला कि वह कहीं का न रहा। जिस प्रकार मालदेव को झूठे पत्र उसके कैम्प में फिकवाकर शेरशाह ने धोखे से भाग जाने पर मजबूर किया था, उसी प्रकार औरंगज़ेब ने भी अकबर के नाम एक पत्र लिखा जिसमें उसकी चतुराई की बड़ी प्रशंसा की कि वह राजपूतों को फुसलाकर मुग़ल शिविर के इतने समीप ले आया है जहाँ उनका नष्ट हो जाना सम्भव है। इस पत्र को उसने इस प्रकार भिजवाया ताकि वह राजपूतों के हाथों अवश्य पड़ जाए। तहव्वरखाँ को धमकी दी गई कि उसके परिवार की खुलेआम दुर्गति की जाएगी। इस भय से जब वह सम्राट् के कैम्प में गया तो उसका वध कर दिया गया। इस पत्र को देखकर राजपूत शंकित हो उठे। दुर्गादास रात को अकबर के पास इसकी सफाई करने गया तो वह सोया पड़ा था और तहव्वरखाँ जा चुका था। इस कुसंयोग से राजपूतों को विश्वास हो गया कि अकबर ने उनके साथ धोखा किया है। वे रात ही में अकबर को अकेला छोड़कर भाग निकले। जब अगले सवेरे अकबर जागा तब उसे अपनी संकटमयी परिस्थिति का पता चला और वह अपने मित्रों की खोज में भागा। दो दिन बाद राजपूतों को यथार्थ बात का पता चला, तो दुर्गादास ने लौटकर अकबर को अपने रक्षण में लिया। अकबर जान बचाने के लिए भागा-भागा फिरा, और अन्त में उत्तर में कोई स्थान सुरक्षित न पाकर, दुर्गादास उसे

शम्भुजी के दरबार में पहुँचा आया। औरंगज़ेब ने समस्त राजपूताने में गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछा दिया था कि दुर्गादास का इन सबसे बचाकर अकबर को दक्षिण पहुँचा देना एक अविश्वसनीय पराक्रम समझा गया।

**अकबर के विद्रोह का परिणाम**—यद्यपि शाहज़ादे अकबर का विद्रोह नितान्त असफल हुआ परन्तु उससे उदयपुर के महाराणा को एक बड़े संकट के समय अकस्मात् सहायता मिल गई क्योंकि उसी समय मुग़ल बादशाह की सेनाओं का घेरा महाराणा के राज्य के चारों ओर पक्का होता जा रहा था। इसी तन्त के समय अकबर ने विद्रोह कर दिया। इसका लाभ उठाकर महाराणा के बेटे भीमसिंह ने चारों ओर हमले करने शुरू कर दिए और गुजरात के कई जिलों में घुस गया। दूसरी तरफ महाराणा के एक मन्त्री दयालदास ने मालवे पर हमला कर दिया। इन सामयिक हमलों से थोड़ी ही देर के लिए मुग़ल-राजपूत-संग्राम पर कुछ असर पड़ा क्योंकि राजपूतों ने मालवा और गुजरात आदि पर केवल हमला करके छोड़ दिया और उनपर अधिकार न किया। दूसरा परिणाम यह हुआ कि दोनों दल अपनी-अपनी परिस्थिति के कारण निःशक्त से हो बैठे। इस युद्ध का सबसे अधिक घातक प्रभाव तो महाराणा की गरीब जनता पर पड़ा जिसकी भूमि तथा खेती-बाड़ी सबकी सब इस तरह नष्ट हो गई कि सर्वसामान्य को अत्यन्त कष्ट सहन करने पड़े। मेवाड़ की जनता अपने पहाड़ों की कन्दराओं में छिपकर अपनी जान तो बचा सकी किन्तु अपने को भूखों मरने से न बचा सकी। इसके प्रतिकूल मुग़ल उनके पहाड़ी स्थानों और किलों आदि में तो न घुस पाए परन्तु सारे मैदानी भाग पर उन्होंने अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति में दोनों दलों ने समझौता करना चाहा जिसमें बीकानेर के राजा श्यामसिंह मध्यस्थ थे। महाराणा स्वयं शाहज़ादे आलम से मिलने गया और उसके द्वारा एक संधि स्वीकृत की गई, जिसकी शर्तें ये थीं—(१) राणा ने मांड़लपुर और बदनूर के परगने बादशाह को दिए, इनके बदले में मेवाड़ राज्य से जजिया की माँग उठा ली गई। (२) मुग़ल सेनाएँ मेवाड़ से हटा ली गईं और राज्य राणा जयसिंह को सौंप दिया गया और उसे पाँचहजार का मनसबदार बना दिया गया। इस प्रकार बादशाह और मेवाड़ राज्य की पुरानी मैत्री फिर से स्थापित हुई और भीमसिंह और उसके बेटे को दरबार में नौकरियाँ दीं गईं।

**मारवाड़ के साथ युद्ध जारी**—मेवाड़ से तो किसी प्रकार संधि हो गई किन्तु मारवाड़ के साथ युद्ध जारी रहा और मुग़लों का सारा बल मारवाड़ के विनाश में लगा दिया गया। मारवाड़ भूमि की बरबादी इस पराकाष्ठा को पहुँची कि शायद राठौर लोग विवश होकर बादशाह से संधि करने की याचना करते परन्तु अकबर ने दक्षिण में शिवाजी के बेटे शम्भुजी से मिलकर एक बड़ी संकटमय परिस्थिति उत्पन्न कर दी और इसी समय औरंगज़ेब को युद्धक्षेत्र उत्तर से हटाकर दक्षिण ले जाना पड़ा। इस प्रकार मारवाड़ पर आक्रमण का दबाव अत्यन्त हलका हो गया। अगले

लगभग ३० वर्ष तक मारवाड़ पर मुग़ल सेना का दबाव दक्षिण की परिस्थिति के अनुसार घटता-बढ़ता रहा। मराठों ने जिस छापामार युक्ति से मुग़लों के प्रति कार्य किया उसका प्रयोग दुर्गादास ने उनसे पहले ही कर डाला था। इसी के द्वारा उसने मुग़लों को छका-छकाकर निस्तेज कर दिया। इस प्रकार यह संग्राम १७०९ तक घिसटता रहा जब कि दिल्ली सम्राट् बहादुरशाह ने राजा अजीतसिंह को जोधपुर का वैधानिक राजा स्वीकार किया और वह बड़े समारोह के साथ अपनी राजधानी में आकर राजगद्दी पर आसीन हुआ।

**राजपूत-संग्राम के राजनीतिक परिणाम**—इस प्रकार राजपूतों के साथ सर्वथा अनुचित व अनुपयुक्त संघर्ष करने से औरंगज़ेब को अकथनीय हानि हुई। जब सीमा-प्रदेशों तथा अन्य स्थानों में विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी ऐसे समय उसने बिना कोई लाभ उठाए साम्राज्य की सारी शक्ति को राजपूताने में नष्ट कर दिया। दूसरे उसकी इस नीति से सामान्य जनता इतनी शंकित हो गई कि सम्राट् के प्रति किसी को विश्वास तथा आस्था न रह गई। तीसरे, मुगल सेना का सर्वोत्तम अंग, जो अकबर के समय से ही साम्राज्य के निर्माण में सहायक हुआ था, अर्थात् राजपूत लोग ऐसे समय में उससे पृथक् हो गए जब कि उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी। चौथे, इस युद्ध से जो आन्दोलन उठा और आस-पास के सूबों में पहुँचा उससे दक्षिण और उत्तर को मिलानेवाला मार्ग जो मालवा होकर जाता था, बहुत खतरे में पड़ गया। औरंगज़ेब ने अपनी धार्मिक असहनशीलता की नीति से उपर्युक्त फल पाया।

## ( २ )

## औरंगजेब का शासन : उत्तरार्द्ध

**औरंगज़ेब दक्षिण में : शिवाजी के अनुगामियों से संघर्ष**—शिवाजी के जीवन-काल का दक्षिण प्रदेश का हाल पूर्वार्द्ध में दिया जा चुका है। हम पूर्वार्द्ध के आरम्भ में बतलाया आए हैं कि शिवाजी की मृत्यु के बाद ही औरंगज़ेब उत्तर को छोड़कर मराठा शक्ति का दमन करने के उद्देश से दक्षिण पहुँचा। मुगल सम्राट् के अपार वैभव व अतुल सैन्य-बल का अगले २५ वर्षों तक मराठा जाति व शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने किस प्रकार मुकाबला किया, अब संक्षेप में इस संघर्ष की कहानी दी जाएगी।

**शिवाजी के बाद दक्षिण की दशा**—शिवाजी का पुत्र संभाजी (शम्भुजी) ऐसे महान् पिता का अत्यन्त अयोग्य पुत्र हुआ। वह बड़ा विलासी एवं दुश्चरित्र था। एक ब्राह्मण स्त्री पर बलात्कार की चेष्टा करने के अपराध के कारण शिवाजी ने उसे बन्दीगृह में डाल दिया था। परन्तु वह बीजापुर की चढ़ाई के दिनों में बन्दी-गृह से निकल भागा और दिलेरखाँ की रक्षा में चला गया। शिवाजी के मरने के बाद कुछ सरदारों ने उसके स्थान पर उसके छोटे भाई राजाराम को, जो उस समय केवल १० वर्ष का था, गद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहे और

संभाजी जून १६८० में शिवाजी का स्थानापन्न स्वीकृत हुआ। संभाजी ने राजगद्दी पर बैठते ही अपनी अत्यन्त अमानुषिक निर्दयता का परिचय दिया। उसने अपने सब विरोधियों को बड़ी यातनाएँ देकर मरवाया जिनमें उसके पिता के मंत्री तक न बचे। कलुषा नामक एक कनौजिया ब्राह्मण उसका परम मित्र तथा सलाहकार बन बैठा था। इसी दुष्ट ब्राह्मण के बहकाने से संभाजी ने शिवाजी के बड़े-बड़े मंत्रियों को तलवार के घाट उतार दिया था। अन्त में संभाजी की पत्नी यसूबाई ने उसकी आँखें खोलीं, तब उसे अपनी भूल का अनुभव हुआ। उसने बालाजी आपजी के लड़के खंडो और नीलो को उनके पिता का काम सौंपा। तथापि संभाजी कलुषा ब्राह्मण पर इतना अधिक भरोसा करता था कि उसके बहकाने से उसने शिवाजी के समय के कारबारियों को दूर करने का सदैव प्रयत्न किया। संभाजी को सीधे मार्ग पर लाने के लिए गुरु रामदास तथा करनाटक के प्रसिद्ध नेता रघुनाथ नारायण हनुमंते ने प्रयत्न किए किन्तु उन्हें कुछ सफलता न मिली। १६८२ में गुरु रामदास की मृत्यु हो गई। रघुनाथ हनुमन्ते ने संभाजी को औरंगज़ेब की ओर से सावधान रहने का परामर्श दिया परन्तु संभाजी को उसकी बात अच्छी न लगी। इस पर वह करनाटक वापस चला गया और उसी वर्ष उसकी भी मृत्यु हो गई।

**संभाजी की वीरता और जंजीरा पर चढ़ाई**—जंजीरा टापू के सिद्दियों से शिवाजी ने जंजीरा छीन लेने की बड़ी कोशिश की थी किन्तु उसमें वह सफल न हो सका था। शिवाजी की मृत्यु के बाद जंजीरा के सिद्दी ने औरंगज़ेब के भड़काने से वहाँ के मराठों पर बड़े अत्याचार करने शुरू किए। इस पर संभाजी ने जंजीरा पर आक्रमण करने की तैयारी की। परन्तु यह कार्य अत्यन्त कठिन था। उसे एक ओर मुग़ल सरदार रणमस्तखाँ की लूटमार से कल्याण के आस-पास के प्रदेश को बचाना था, दूसरी ओर पुर्तगाली लोग भी उसके दुश्मन थे। यह लोग पश्चिम तट के कई बड़े-बड़े बन्दरगाहों पर अधिकार कर बैठे थे और सदैव शिवाजी के विरुद्ध कार्यवाही किया करते थे। संभाजी ने पुर्तगालियों पर तड़ातड़ हमले करके उनको पूरी तरह हराया। पुर्तगालियों पर इस घटना से मराठों की धाक जम गई। संभाजी ने गोआ के उत्तर का समूचा पुर्तगाली प्रदेश लूट-मारकर नष्ट कर दिया। इससे दबकर उन्होंने संभाजी से संधि की बातचीत चलाई। परन्तु इसी समय औरंगज़ेब का सारा दल-बल महाराष्ट्र और दक्षिण पर आ धमका, जिसके कारण संभाजी को पुर्तगाली व जंजीरा दोनों को छोड़कर औरंगजेब से देश की रक्षा करने के लिए अपना सारा समय लगाना पड़ा।

**दक्षिण और महाराष्ट्र के प्रति सम्राट की योजना**—राजपूतों से किसी प्रकार समझौता करके औरंगज़ेब एक बड़ी सेना, अच्छा तोपखाना और यूरोपियन गोलन्दाज़ साथ लेकर दक्षिण की तरफ रवाना हुआ। कई महीने की यात्रा के बाद मुग़ल सेना का यह चलता-फिरता नगर दक्षिण पहुँचा। औरंगज़ेब की युद्ध-योजना यह थी कि पहले मराठों के प्रदेश को जीते। इस उद्देश से उसने अपने दो बेटे आज़म और

मुअज़्ज़म को महाराष्ट्र और कोंकण पर आक्रमण करके वहाँ की खेती-बाड़ी नष्ट करने का आदेश देकर भेजा। उन्होंने कोंकण के बहुत से प्रदेश को बरबाद तो कर दिया किन्तु किले लेने में उन्हें सफलता न मिली। उनकी नीति का उलटा असर यह पड़ा कि देश की बरबादी से मुगल सेना को रसद मिलनी बन्द हो गई। अतएव शाहज़ादा मुअज़्ज़म बड़ी कठिनाई में पड़ा और किसी-न-किसी प्रकार पश्चिमी घाट को लाँघकर १६८४ में कृष्णा नदी के किनारे तक पहुँचा और वहीं छावनी डालकर पड़ रहा। आज़म की भी इसी प्रकार मराठों की छापामार लड़ाई के कारण एक न चली और जब उसकी परेशानी की सूचना औरंगज़ेब को मिली तो उसको उसने वापस बुला लिया। इसके बाद सम्भाजी की सेना ने भड़ौंच और बुरहानपुर तक मुग़ल भूमि को खूब लूटा और मुगलों को छकाते हुए साफ बचकर वापस आ गई। इस प्रकार औरंगज़ेब ने दक्षिण की चढ़ाई के पहले तीन साल व्यर्थ नष्ट करके अन्त में बीजापुर पर मोर्चा लगाने का विचार किया और शाहज़ादे आज़म को बीजापुर का घेरा डालने को १६८५ में भेजा। इससे सम्भाजी को जो सुअवसर मिला उसने अपनी विलासिता में पड़कर उसका सदुपयोग किया। वह कलुषा के जाल में फँसकर भोग-विलास में निमग्न हो गया और सरकारी खजाने को अपने व्यसनों पर लुटाना आरम्भ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि उसकी आय से व्यय अधिक बढ़ गया। कलुषा ने करों की मात्रा बहुत बढ़ा दी जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रजा में बड़ा असन्तोष फैल गया। तथापि औरंगज़ेब का दो-तीन वर्ष तक बीजापुर और गोलकुण्डा की तरफ अपना सारा ध्यान लगाए रखने के कारण सम्भाजी और मराठों को उसके प्रहार से छुट्टी रही।

**बीजापुर और गोलकुण्डा का विनाश**—औरंगज़ेब ने शहज़ादे मुअज़्ज़म को भी आज़म की सहायता करने के लिए भेजा और स्वयं अहमदनगर की तरफ बढ़ा। आज़म ने आगे बढ़कर शोलापुर को जीत लिया किन्तु बीजापुर की एक बहुत बड़ी सेना ने उसे बीजापुर की तरफ आगे बढ़ने से रोक दिया। मुअज़्ज़म अपने भाई की कुछ सहायता न कर पाया। अब औरंगज़ेब स्वयं शोलापुर पहुँचा और आज़म को बीजापुर पर अधिकार करने के लिए आगे भेजा। परन्तु वह फिर एक बार बुरी तरह हारा और बड़ी कठिनाई से उसकी जान बची। इधर मुग़ल सेना की इस संकटमय परिस्थिति से लाभ उठाकर संभाजी और मराठों ने कोंकण की उत्तरी मुग़ल भूमि में भड़ौंच और गुजरात तक खूब लूट-मार की।

**गोलकुण्डा पर चढ़ाई**—गोलकुण्डा के सुलतान ने इस समय संभाजी से मित्रता कर ली। इससे औरंगज़ेब को उस राज्य पर भी तुरत हमला करने का बहाना मिल गया। गोलकुण्डा का सुलतान अबुलहसन बड़ा विलासी था तथापि उस राज्य का शासन मदन पण्डित तथा उसके भाई अकन्ना पण्डित दो अत्यन्त योग्य ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ में बड़ी योग्यता से संचालित हो रहा था। परन्तु मुसलमान दरबारी तथा सेनापति इन दोनों भाइयों से ईर्ष्या करते थे। अतएव वे शत्रु से जा मिले। मदन

पण्डित शाहज़ादे मुअ़ज़्ज़म की सेना से लड़ता हुआ हैदराबाद की गलियों में मारा गया और कुतुबशाह भागकर गोलकुण्डा के किले में जा छिपा। मुग़ल सेना ने शहर को बेदर्दी से लूटा और कुतुबशाह से बहुत-सा धन लेकर क्षणिक संधि कर ली ताकि वे अपनी सेना का मोर्चा बीजापुर की तरफ लगा सकें। इस समय बीजापुर का पराभव पूरी तरह हुआ क्योंकि उसकी सेना सब बिखर चुकी थी और शहर की रक्षा करने-वाला कोई न था। मुग़ल सेना ने हमला करके बीजापुर पर अधिकार कर लिया और युवक आदिलशाह को कैद में डाल दिया। वह तीन वर्ष बाद मर गया। इस प्रकार आदिलशाही राज्य एवं वंश दोनों ही का अन्त हुआ।

**गोलकुण्डा पर फिर चढ़ाई**—यह सफलता होते ही औरंगज़ेब ने कुतुबशाह की संधि को तोड़ दिया और एक बड़ी सेना एकत्र करके तीर्थयात्रा के बहाने से गोलकुण्डा की तरफ बढ़ना शुरू किया और फिर उस पर एकदम घेरा डाल दिया। यद्यपि मुग़ल बादशाह ने बहुत-सी कुतुबशाही सेना को घूस दे-देकर अपनी ओर तोड़ लिया था तथापि अबुलहसन ने इस संकटमय परिस्थिति में बड़ी वीरता का परिचय दिया। उसने ७ महीने तक मुग़लों के घेरे का बड़ी योग्यता से मुकाबला किया। अन्त में मुग़ल सेना केवल धोखे से किले के अन्दर घुस सकी। अबुलहसन कुतुबशाह ने बड़ी वीरता से अपनी अन्तिम आपदाओं को सहन किया। औरंगज़ेब ने गाज़ीउद्दीन को गोलकुण्डा का सूबेदार बनाया। शाहज़ादे मुअ़ज़्ज़म पर कुछ संशय हो जाने के कारण ७ वर्ष तक उसको निगरानी में रखा गया।

**इस युद्ध के परिणाम**—दक्षिण की इन चढ़ाइयों के परिणाम अत्यन्त दुःखदायी तथा विनाशकारी हुए। समूचा दक्षिण प्रदेश तहस-नहस हो गया और वहाँ किसी प्रकार की व्यवस्था तथा शान्ति कायम न रही। जिन सेनाओं को औरंगज़ेब ने अपनी ओर मिला लिया था, वह अब बेसिरी होकर लूट-मार करने लगीं। बहुत से जमींदार स्वतन्त्र हो गए और उनके अत्याचारों से प्रजा को बड़े कष्ट हुए। सम्राट् ने बीजापुर और गोलकुण्डा की समूची भूमि पर मैसूर तक अधिकार कर लिया और व्यंकोजी का शासन केवल तंजौर तक सीमित हो गया। तथापि औरंगज़ेब की यह विजय एक सैनिक अधिकार मात्र थी। उसके शासन के हेतु बादशाह को समूची भूमि देशमुखों को ठेके पर देनी पड़ी। यह लोग मालगुज़ारी वसूल करके शाही खज़ाने में भेजने के बदले में २५ % लेते थे।

**संभाजी का दुःखमय अन्त**—संभाजी इन दिनों भोग-विलास में इतना डूबा हुआ था कि उसे और किसी बात की सुध-बुध न थी। वह अपने परम मित्र कलुषा पर अन्ध-विश्वास रखता था। उस धूर्त ने संभाजी को बहका रखा था कि औरंगज़ेब की सेना को वह अपने यन्त्र-तन्त्र के बल से एक क्षण में नष्ट कर देगा। औरंगज़ेब ने गोलकुण्डा और बीजापुर से छुट्टी पाते ही मराठा राज्य पर तीन तरफ से आक्रमण कर दिया। मुग़ल सेनापति मुकर्रबख़ाँ कोल्हापुर तक पहुँच चुका था जब कि संभाजी कोंकण में संगमेश्वर के स्थान पर आनन्द-मंगल में निमग्न था। मुकर्रबख़ाँ को इसकी

सूचना मिलते ही उसने तुरन्त उस पर छापा मारकर संभाजी और उसके मित्र कलुषा दोनों को बन्दी बना लिया और औरंगज़ेब के पास भेज दिया। औरंगज़ेब ने उसे मुसलमान बनाने के इरादे से कहला भेजा कि यदि वह मुसलमान हो जाए तो उसको मौत की सजा से छुट्टी मिल सकती है। इसके उत्तर में संभाजी ने बादशाह ही नहीं किन्तु रसूल के लिए भी अपशब्द कहे। यह सुनकर औरंगज़ेब क्रोध से उबल उठा और उसने संभाजी को बड़ी कठोर यंत्रणाएँ दिलवाकर उसका वध किया। इस प्रकार १६८९ के मार्च महीने में संभाजी का दुःखपूर्ण अन्त हुआ। संभाजी के अत्यन्त विलासी जीवन के कारण शाहज़ादा अकबर, जो मराठों की शरण में रहता था, दुखी होकर फारस भाग गया और मरते दम तक वहीं रहा। १७०६ में उसकी मृत्यु हो गई।

**मराठे और मुग़ल : संभाजी के बाद**—संभाजी को कत्ल करने के बाद औरंगज़ेब ने शायद यह समझा कि अब मराठा राज्य आसानी से उसके अधिकार में आ जाएगा। किन्तु जैसा ऐलफिन्सटन ने कहा है, "यद्यपि संभाजी ने अपने दुश्चरित्र से अपनी जनता में बड़ी घृणा व तिरस्कार के भाव उत्पन्न कर दिए थे तथापि उसके ऐसी परिस्थिति में वध किए जाने से महाराष्ट्र जनता उसके दोषों को भूल गई और उसका सारा क्रोध तथा प्रतिकार भाव मुग़लों के विरुद्ध उबल पड़ा। उनके मुख्य-मुख्य सरदार इस संकटमय स्थिति पर विचार करने के लिए एकत्र हुए। उन्होंने संभाजी के बालक पुत्र साहू को राजगद्दी पर बिठलाया और उसके चचा राजाराम को उसका संरक्षक बनाया।"

**औरंगज़ेब की सामयिक सफलता**—औरंगज़ेब ने तुरन्त बड़े दल-बल से हमले शुरू किए। १६९० में रायगढ़ के किले को एक मावाल सरदार के देशद्रोही हो जाने के कारण उसकी सहायता से अपने अधिकार में किया। वहाँ बालक साहू औरंगज़ेब के हाथों में पड़ गया और राजाराम ने महाराष्ट्र छोड़कर जिंजी के किले में जाकर शरण ली ताकि शिवाजी का उत्तराधिकारी मुग़लों के आक्रमण के क्षेत्र से बिलकुल दूर रह सके। राजाराम तथा साहू इस प्रकार महाराष्ट्र में न रहे तथापि मराठे सरदारों ने अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर मुग़लों को छकाने का बीड़ा उठाया। औरंगज़ेब ने यह समझा कि मराठा राज्य दक्षिण में विलुप्त हो गया। तब उसने जुल्फिकारखाँ को जिंजी का घेरा डालने के लिए भेजा ताकि मराठा राज्य के अन्तिम अंश को समाप्त कर सके। किन्तु वहाँ उसकी सेना को सफलता न मिली। कारण यह था कि औरंगज़ेब की सेना का अधिक भाग बीजापुर के निकट एक किले को लेने की चेष्टा में लगा हुआ था। दूसरे, राजाराम के सैनिक, जिनमें संताजी घोरपड़े तथा धनाजी जादव व रामचन्द्र पन्त बहुत प्रसिद्ध हैं, अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर मुग़लों पर टूट पड़े। उन्होंने गाँव-गाँव में मराठों से अपील की कि अपने देश की रक्षा के लिए उसकी सहायता करें। चारों ओर से टिड्डीदल के समान मराठे उनकी सेना में आ मिले और मुग़ल-भूमि पर छापे मारकर चौथ और घास-दाना वसूल करना आरम्भ

किया। इस लूट के लालच से मराठे सरदारों की सेनाएँ इतनी बढ़ीं कि वे समूचे दक्षिण प्रदेश पर फैल गईं और लूटमार तथा अग्निकाण्ड से सबको भयभीत कर दिया।

**मुग़ल व मराठा युद्ध-नीति की तुलना**—इस समय से मुग़ल सेना संगठन तथा युद्ध-नीति का मराठों की नवीन युद्ध-प्रणाली तथा संगठन से मुकाबला होना आरम्भ हुआ। मराठा सेना की तुलना में मुग़ल सेना के अन्दर अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई थीं। उनकी कई पीढ़ियों की सम्पन्नता तथा सुख-शान्ति के जीवन के कारण वे लोग केवल आरामपसन्द तथा युद्ध-कौशल-विहीन ही न हो गए थे, उनमें शूरवीरता व आवश्यक संयम की भी बहुत कमी हो गई थी। वे सेना में बहुत भारी ठाट-बाट के साथ सैकड़ों नौकर-चाकर व सारा परिवार लेकर चलते थे। इसके प्रतिकूल मराठे सैनिक बड़े चुस्त व तेज़-तर्रार थे और छोटे-छोटे मगर हल्के व तेज़ी से दौड़नेवाले घोड़ों पर सवारी करते थे। उन्होंने अपने घोड़ों को ऐसा साध रखा था कि तनिक से इशारे पर वे एक क्षण में घूम जाते थे अथवा आगे छलांग मारते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे तुरन्त रुक जाते थे। मराठे सिपाही अपने साथ बहुत हलका सामान रखते थे और ज़मीन पर सोते थे। सोते समय उनके बरछे बगल में रहते थे और घोड़े की लगाम हाथ में बँधी रहती थी ताकि ज़रा-सा इशारा पाते ही वे तुरन्त उछलकर घोड़े पर सवार हो सकें और शत्रु के हाथ में न पड़ें।

ऊपर कह चुके हैं कि संभाजी के मरने के बाद मराठा युद्ध-नीति में मौलिक परिवर्तन हुआ। उनका नेता राजाराम शत्रु के हाथों में पड़ने से बचने के लिए सुदूर दक्षिण चला गया और रामचन्द्र पंत अमात्य को उत्तरीय रणक्षेत्र का नेतृत्व सुपुर्द किया गया। मुग़लों के भारी-भरकम सैन्य-शिविर को तीव्रगति से दौड़नेवाले मराठों ने आरम्भ से ही दबाना शुरू किया। औरंगज़ेब के शिविर का इस समय ३० मील का घेरा था। २५० बाजार उसके लिए समान देनेवाले थे जो साथ-साथ रहते थे। प्रत्येक सेनाध्यक्ष के साथ उसका परिवार और सैकड़ों बाँदियाँ, नौकर-चाकर थे। खाना न मिलने से हज़ारों घोड़े मर रहे थे। कई स्थानों पर उनके शिविर में घुसकर मराठों ने सारा सामान लूट लिया और बहुतों को पकड़कर बन्दी बनाया। १६६१ में शाहज़ादे कामबख़्श ने मराठों से संधि की बातचीत शुरू कर दी। कामबख़्श को जिंजी का घेरा डालने के लिए भेजा गया था। वह तीन वर्ष तक वहाँ बेसुध पड़ा रहा। तब संताजी घोरपड़े २०,००० फौज लेकर जिंजी पर जा धमका और शत्रु की सेना को परास्त करके सेनापति को क़ैद कर लिया। इस प्रकार उसने जिंजी की मुग़ल सेना का केन्द्रीय सेना से सम्बन्ध बन्द कर दिया और यह अफ़वाह उड़ा दी कि औरंगज़ेब मर गया। उसने कामबख़्श को तोड़ने के लिए सम्राट् बनने में सहायता देने का प्रलोभन दिया। इस पर मुग़ल सेनापतियों ने शाहज़ादे को नज़रबन्द किया। परन्तु उनकी इस कार्यवाही से मुग़ल सेना में ऐसी गड़बड़ी मच गई कि उन्हें घेरा उठाकर अपनी जान बचाने की चिन्ता हो गई। सम्राट् ने उनकी इस नीति को

ना-पसन्द किया और कामबख्श को वापस बुलाकर दक्षिण का सैन्य-संचालन केवल जुल्फिकारख़ाँ के सुपुर्द कर दिया। किन्तु मराठे सरदारों ने इन दिनों कई मुग़ल सेनाओं पर छापे मारे और हर अवसर पर उनको बड़ी हानि पहुँचाई। अन्त में बड़ी कठिनाई से जुल्फिकारख़ाँ ने १६५७ में जिंजी पर फिर से घेरा डाला और लगभग एक वर्ष में उसको जीतकर अपने अधिकार में लिया। परन्तु राजाराम बचकर निकल गया।

**मराठे सरदारों में परस्पर वैमनस्य और उसका परिणाम**—१६९८ के बाद मराठे सरदारों में परस्पर विद्वेष शुरू हुए जिनके कारण धनाजी जादव का वध हो गया। अतएव राजाराम ने स्वयं सेना का नेतृत्व करने का निश्चय किया। उसने सतारा को अपना केन्द्र बनाया। इधर मुग़ल सम्राट् ने भी अपनी युद्ध-योजना को बदला। वह बीजापुर के रणक्षेत्र को छोड़कर उत्तर की ओर मुड़ा और उसने बहुत से किलों पर अधिकार कर लिया। परन्तु इन सफलताओं से मुग़ल सेना को कोई विशेष लाभ न होता था। इसके प्रतिकूल जहाँ कहीं वे हारते थे वहाँ उनकी बड़ी भारी हानि होती थी। कई महीनों तक घेरा डालने के बाद सम्राट् ने १७०० ई० में सतारा पर अधिकार किया परन्तु राजाराम की मृत्यु हो चुकी थी और उसका बेटा शिवाजी द्वितीय अपनी माता ताराबाई के संरक्षण में उसका स्थानापन्न बना। यह परिस्थिति मराठा दल के लिए काफ़ी संकटमय थी। इसके अतिरिक्त औरंगज़ेब बूढ़ा होने पर भी अनथक कार्य करनेवाला तथा अत्यन्त चालाक था। उसकी कठिनाई यह थी कि साम्राज्य के कोने-कोने में उसके विरुद्ध विद्रोह उठ रहे थे और उसकी सेनाएँ अवैतनिक रूप से लड़ते-लड़ते जी तोड़ बैठी थीं। उधर मराठा सेना की संख्या बराबर बढ़ती जाती थी। उन्होंने समूचे दक्षिण को उजाड़ दिया और फिर मालवे में घुस पड़े। मुग़ल सम्राट् मराठा प्रदेश के किलों को जीतता तो था परन्तु बड़ी भारी क्षति उठाने के उपरान्त। अन्त में अवस्था यह हुई कि जैसे-जैसे मराठा सेना बढ़ती जाती थी, मुग़ल सैन्य दल घटता जाता था और साथ ही उसका साहस समाप्त होता जाता था। सम्राट् का कोष भी लगभग ख़ाली हो चुका था, यहाँ तक कि सेना को रसद मिलनी भी कठिन हो गई थी। इस घोर संकटमय परिस्थिति ने औरंगज़ेब को अपने बचाव के लिए पीछे हटकर अहमदनगर आने पर मजबूर किया। उसकी सेना पर मराठों का ऐसा आतंक छा गया था कि प्रतिक्षण वे उनकी लूट-मार तथा अकस्मात् धावों से डरते रहते थे। वास्तविक दशा यहाँ तक पहुँची कि स्वयं सम्राट् सौभाग्य से ही शत्रु के हाथों में पड़ने से बचा। बीस वर्ष पहले जिस अहमदनगर से मुग़ल सम्राट् बड़े दल-बल तथा वैभव के साथ मराठा जाति को नष्ट करने के लिए आगे निकला था, अब उसी नगर में उसने अपनी नष्टप्राय विभूति तथा टूटी-फूटी भूखी सेना के साथ वापस आकर शरण ली। इस पराभव से औरंगज़ेब सरीखे अद्वितीय साहसी विजेता की भी कमर टूट गई और उसने अपनी आयु के अन्तिम दिन अत्यन्त निराशा तथा खिन्न अवस्था में व्यतीत किए। इसी अवस्था में २१ फ़रवरी १७०७ को यह

महान् तथापि अदूरदर्शी सम्राट् करोड़ों दीन-दुखियों की आहों का भार अपने कन्धों पर लेकर इस असार संसार से चल बसा। जब उसे मौत सामने खड़ी दीखने लगी, तो अपने जीवन का चित्र उसके सामने आ गया। अपने दुष्कृत्यों को याद करके तथा उनके परिणाम का ध्यान करके उसकी आत्मा भय और अदृष्ट आशंका से रो उठी। उसे यह भी चेतना हुई कि जीवन भर 'धार्मिक मार्ग' का अनुकरण करने पर भी उसे अपना भविष्य नितान्त अन्धकारमय ही दीख रहा है। अपने पश्चात्ताप का विलाप उसने उस पत्र में किया है जो उसने मृत्यु से कुछ ही दिन पहले अपने पुत्र आज़म को लिखा था (देखो, सरकार कृत 'औरंगज़ेब,' भाग ५, पृ० २५९)।

## औरगजेब की नीति के घातक परिणाम : उत्तर भारत में अराजकता

**मध्य प्रदेश में अराजकता**—मालवा और खानदेश में मराठों के आक्रमण और उनकी लूट-मार से इतनी बरबादी हुई कि स्वयं सम्राट् ने लिखा कि यह दोनों प्रदेश बिलकुल तहस-नहस हो गए हैं और वहाँ की आबादी भी लगभग ख़त्म हो गई है।

इन्हीं दिनों चम्पतराय बुन्देले का चौथा बेटा छत्रसाल मुग़ल शक्ति का निरन्तर विरोध कर रहा था। अन्त में उसने पूर्वी मालवे और मध्य प्रदेश में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और पन्ना को अपनी राजधानी बनाया। युवावस्था में छत्रसाल और उसके भाई ने मिर्ज़ा राजा जयसिंह की सेना में नौकरी की थी जब कि वह १६६५ में शिवाजी के विरुद्ध लड़ रहा था। इसके अतिरिक्त छत्रसाल ने अन्य अवसरों पर भी मुग़ल सेना में बड़ी वीरता का परिचय दिया था किन्तु उसको अपने पराक्रम का पर्याप्त आदर-मान न मिला जिससे असन्तुष्ट होकर वह शिवाजी से परामर्श करने गया और उसके आदेशानुसार अपने निज स्थान पर लौटकर उसने मुग़ल सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह करने शुरू कर दिए। औरंगज़ेब की देवस्थानों व मन्दिरों को खण्डित करने की नीति के विरोध में बुन्देलखण्ड की हिन्दू प्रजा छत्रसाल के नेतृत्व में अपने धर्म तथा मान-मर्यादा की रक्षा करने के लिए एक साथ खड़ी हो गई। छत्रसाल ने सिरौंज के आस-पास की मुग़ल भूमि को हर वर्ष लूटना शुरू किया और मुग़ल फौजदार उसका कुछ न बिगाड़ सके। उसकी सफलता को देखकर बूँदी का दुर्जन हाड़ा तथा अन्य कई छोटे-बड़े सरदार उससे आ मिले। छत्रसाल ने भी मराठों के समान मुग़ल जिलों से चौथ वसूल करनी शुरू की। धीरे-धीरे उसकी लूट-मार का दायरा जमुना के किनारे से मालवे तक पहुँच गया। औरंगज़ेब दक्षिण के जंगलों में इतना फँसा हुआ था कि उसे छत्रपाल से सन्धि करने पर मजबूर होना पड़ा। छत्रसाल को चारहज़ारी मनसबदार बना दिया गया और वह औरंगज़ेब के मरने तक शान्ति से रहा।

**मुग़ल सम्राट और काश्मीर**—काश्मीर की सुन्दर घाटी को मुग़लों ने सदैव अपने आनन्द-मंगल का साधन-मात्र माना और कभी भी उसकी जनता को उन्नत

करने की चेष्टा नहीं की। काश्मीर-निवासी बड़े अन्ध-विश्वासी थे और पीर-पैग़म्बरों के पूजा-पाठ आदि साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों में लगे रहते थे। इनमें से मुगलों ने कभी किसी को उच्च पद पर नियुक्त नहीं किया। औरंगज़ेब के शासन के अन्तिम दिनों में थोड़े से काश्मीरियों को सामान्य मनसबदारों आदि के पद दिए गए थे। मुग़ल सूबेदारों ने काश्मीर को अनेक अवैध करों से बहुत लूटा। काश्मीर पर अक्सर दैवी आपदाएँ भी आती रहती थीं। कई बार वहाँ भूचाल आए और श्रीनगर को अग्नि-काण्ड ने भी भस्म किया। इसके अतिरिक्त काश्मीर के शिया और सुन्नी लोगों में घोर शत्रुता थी। कई बार दोनों सम्प्रदायों के अनुयायियों में बड़ा रक्तपात हुआ। कई अवसरों पर काश्मीर की मुसलमान जनता ने अपने घोर अन्धविश्वासों का परिचय दिया किन्तु मुग़ल सम्राटों ने काश्मीर-निवासियों की शिक्षा तथा अन्य सामाजिक व आर्थिक सुधारों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया।

**गुजरात का महत्व और उसका उपयोग**—गुजरात का सूबा अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण सदैव से बड़ा सम्पन्न तथा व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रहा है। उत्तर-भारत के खानदेश, बरार व मालवा आदि का व्यापार गुजरात के बन्दरगाहों के द्वारा ही विदेशों से होता था। इसी परिस्थिति के कारण गुजरात की आबादी बहुत पचमेल थी। परन्तु दुर्भाग्यवश गुजरात में दुर्भिक्ष बहुत पड़ते थे। औरंगज़ेब के शासनकाल में १६८१, ८४, ९०, ९६ और ९८ में वहाँ अकाल पड़े जिनमें कई अत्यन्त भयानक हुए। इनके अतिरिक्त कभी-कभी महामारी से भी गुजरात की जनता पीड़ित होती थी तथा औरंगज़ेब व राजपूतों के युद्धों का हानिकारक प्रभाव भी गुजरात पर पड़ता था। परन्तु इन सब आपदाओं से बहुत अधिक आपत्ति मराठों के हमलों के कारण आई। १७०६ के आरम्भ में मराठा सरदारों ने गुजरात पर आक्रमण करके मुगल सेना को पूरी तरह परास्त किया और बड़ी लूटमार मचाई। तदनन्तर उन्होंने समूचे प्रान्त और उसके आस-पास की भूमि से चौथ वसूल की और इस प्रकार लूटे-खसोटे हुए गाँवों व नगरों को छोड़कर वे वापस लौटे। इन घटनाओं से गुजरात की हर प्रकार की भारी हानि हुई।

**औरंगज़ेब की नीति तथा उसके परिणाम**—औरंगज़ेब मुग़ल-वंश के सम्राटों में अकबर को छोड़कर, अपने अनेक गुणों के कारण सबसे महान् तथा योग्य सम्राट् था, जिसके चरित्र के कतिपय महासूत्र इतने स्पष्ट हैं कि उनको दृष्टि में रखकर हम सुगमता से उसका तथा उसके जीवन-कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। युवावस्था से ही अत्यन्त धीर, वीर तथा गम्भीर प्रवृत्तिवाला मनुष्य था। घोरतम संकटमय परिस्थिति में भी वह धैर्य तथा शान्ति को न छोड़ता था। इस बात का परिचय भी औरंगज़ेब ने आरम्भ से ही दे दिया था कि वह अत्यन्त महत्वाकांक्षी था और अपने उद्देश को सिद्ध करने में किसी प्रकार का आचरण करने से वह न हिचकता था। तीसरे, अपने बड़े भाई दारा की मानसिक प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल औरंगज़ेब की प्रवृत्ति थी और कदाचित उसकी धार्मिक कट्टरता दारा के उदारतापूर्ण विश्वासों तथा

कार्यों के कारण भी बहुत बढ़ गई हो। जो हो, सुन्नी इसलाम मत के सिद्धान्तों में औरंगज़ेब की इतनी गहरी आस्था थी कि वह अपने मत की बलिवेदी पर कुछ भी न्यौछावर कर सकता था। तथापि यह न भूल जाना चाहिए कि सांसारिक बल-वैभव तथा साम्राज्य की लोलुपता को पूरा करने के लिए वह अपने धार्मिक सिद्धान्तों को भी लात मारने में एक क्षण न हिचकता था।
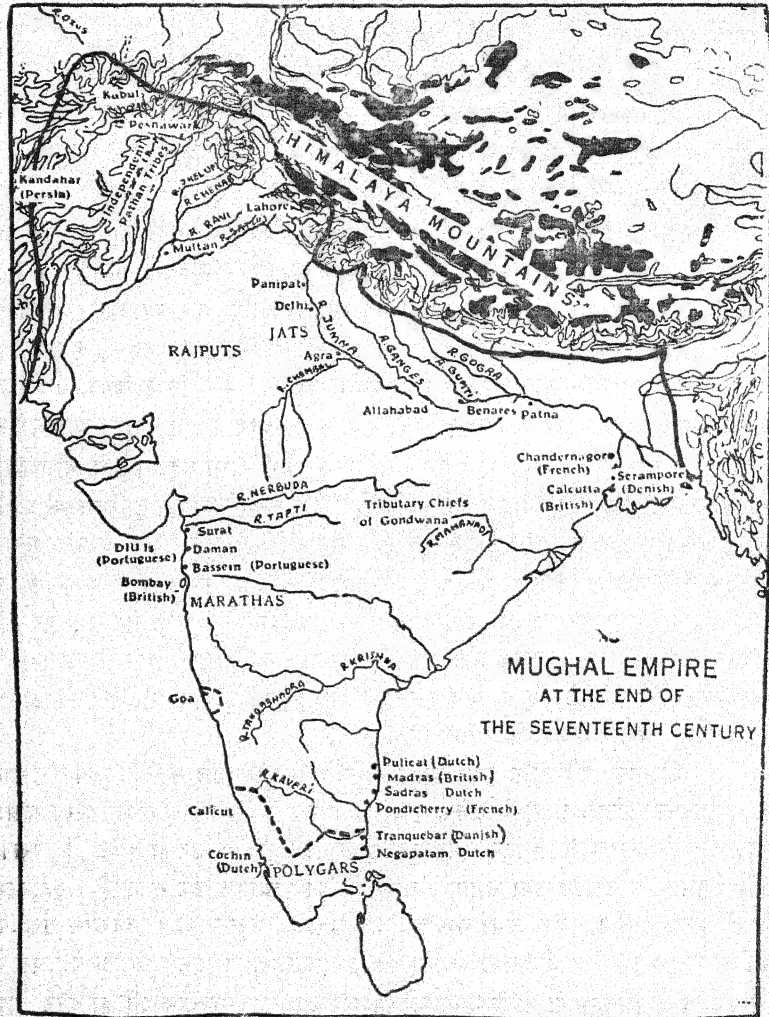
**औरंगज़ेब का चरित्र**—औरंगज़ेब का निजी जीवन सामान्यतया बड़ा संयमी था। वह धार्मिक कृत्यों, नमाज़ आदि को घोरतम संकट में भी न छोड़ता था। वह बड़ा उच्चकोटि का विद्वान् था। दैनिक शासन-कार्य में उसका परिश्रम तथा तत्परता

अद्वितीय थी। अनेकों सरकारी काग़ज़ात पर वह स्वयं अपने हाथ से आज्ञाएँ लिखा करता था। परन्तु उसके राजनीतिक चरित्र की सबसे बड़ी त्रुटि उसकी संशयात्मक बुद्धि थी। शायद उसके आन्तरिक चरित्र का ही बाह्य रूप यह था कि वह किसी पर भी, यहाँ तक कि अपने बेटों तक पर भी, विश्वास न कर सकता था। परिणाम यह हुआ कि मुग़ल शासन की अवस्था दिनों-दिन अवनत होती चली गई। पीढ़ियों से उच्च पदों तथा सुख-सम्पत्ति का भोग करनेवाले मुग़ल कर्मचारीगण अपनी प्राचीन योग्यता तथा कर्त्तव्यपरायणता को बहुत हद तक पहले ही खो चुके थे। ऐसी सामग्री को पुनः कर्मठ व क्रियाशील बनाना सुगम कार्य न था। परन्तु औरंगज़ेब की नीति ने उसको समुन्नत करने के बजाय और भी पतनोन्मुख कर दिया। इसके मुख्य कारण थे उसकी धार्मिक असहिष्णुता, अत्यन्त संकीर्ण सामाजिक व्यवहार तथा संस्कृति एवं ललितकलाओं का विरोध और संशयपूर्ण प्रवृत्ति जिसके कारण साम्राज्य का बड़े से बड़ा दरबारी अथवा कर्मचारी भी अपने को सुरक्षित नहीं समझता था।

**औरंगज़ेब की अन्य राजकुमारों से तुलना**—तत्कालीन अन्य राजकुमारों की तुलना में औरंगज़ेब बड़ा उच्चकोटि का विद्वान् था और मरते दम तक वह धार्मिक साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन करता रहा। उसे कुरान की नकल करने से आत्मशान्ति मिलती थी। कई बार उसने समूचे कुरान की प्रतिलिपि अपने हाथ से लिखकर तैयार की। राज-काज के भारी कार्य से जो कुछ अवकाश उसे मिलता था, उसे वह प्रायः इस्लामी फिकह (धर्मशास्त्र) तथा आध्यात्मिक विषय के ग्रन्थों को पढ़ने में व्यतीत करता था। उसके पत्रों से, जिन्हें वह स्वयं लिखता था, प्रमाणित होता है कि वह फारसी व अरबी दोनों भाषाओं का असाधारण पण्डित था। वह बातचीत में सदैव अरबी व फारसी के अनेक उद्धरण अपनी स्मृति से बोल देता था। उसकी इस रुचि तथा प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप इस्लामी कानून का सबसे बड़ा ग्रन्थ फ़तवा-ए-आलमगीरी तैयार हुआ।

उसका निजी जीवन, खाना, पहनना तथा विश्राम आदि अत्यन्त सादे तथा नियमित थे। वह अन्य बादशाहों के सामान्य दोषों से बिलकुल रहित था। उसकी बीवियों की संख्या चार से भी कम थी। शासन-कार्य में उसकी लगन तथा परिश्रम आश्चर्यजनक थे। इटली के एक तत्कालीन यात्री ने उसके बारे में लिखा है कि वह छोटे क़द का वृद्धावस्था से झुका हुआ एक पतला-दुबला मनुष्य था और उसकी नाक बहुत बड़ी थी। उसके गेहुँआँ रंगवाले चेहरे पर उसकी गोल छोटी-सी दाढ़ी अधिक चमकती थी। इस बुढ़ापे में भी वह चश्मा लगाए अपने हाथ से सरकारी कागजों पर आज्ञाएँ लिखता था। ९० वर्ष की आयुपर्यन्त उसकी सब शारीरिक शक्तियाँ व इन्द्रियाँ स्वस्थ रहीं। उसकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। एक बार किसी को देखकर अथवा कोई शब्द सुनकर वह फिर कभी न भूलता था।

औरंगज़ेब के लम्बे शासन के परिणाम भारतीय सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर काफी मात्रा में हानिकारक हुआ। जैसा देख चुके हैं, उसके

समय में वह शान्ति व सुरक्षा, जो मुग़ल साम्राज्य के आतंक एवं प्रताप के कारण सैकड़ों वर्ष से स्थापित हो चुकी थी, भंग हो गई। मुगल सम्राट् की शक्ति तथा अजेयता पर विश्वास शिवाजी के सफल आक्रमणों ने नष्ट कर दिया। जिस साम्राज्य में शान्ति व सुरक्षा नष्ट होकर उसके स्थान पर अराजकता फैल जाती है उसकी आर्थिक सम्पन्नता एवं जनता का सुख भी नष्ट हो जाते हैं। औरंगज़ेब के शासन के परिणाम-स्वरूप उपर्युक्त अव्यवस्था भी साम्राज्य में फैल गई और उसकी धार्मिक संकीर्णता के कारण हिन्दू मात्र को अपने जान-माल एवं आत्म-सम्मान की सुरक्षा का भरोसा न रहा। देश की आर्थिक अवस्था बिगड़ने का एक मुख्य कारण यह था कि लगभग अपने शासन के पिछले २५ वर्ष उसने निरन्तर लड़ाइयों में व्यतीत किए, जिनमें राजकोष का पैसा पानी की तरह बहाया गया फिर भी वह काफी न हुआ। श्रमजीवी वर्ग पर बेगार इत्यादि का अन्याय होने के अतिरिक्त उनको अक्सर भूखों मरने तक के कष्ट सहन करने पड़ते थे और उनके प्रदेशों में धड़ाधड़ युद्ध होने के कारण वबा फैलने से भी वे पीड़ित होते थे। जहाँ-जहाँ युद्धस्थल, थे उन प्रदेशों की खेती-बाड़ी तथा अन्य व्यवसाय सर्वथा नष्ट हो गए। सरकारी कोष की यह दशा थी कि सैनिक तथा अन्य अधिकारियों के वेतन तीन-तीन साल तक न मिलते थे। मुग़ल सेना के लगभग १ लाख आदमी हर वर्ष मारे जाते थे और रहे-सहे इतने दुखी व त्रस्त हो गए कि उनमें युद्ध करने की न शक्ति रही और न हिम्मत। शासन की अव्यवस्था के कारण विभिन्न सूबों में बहुत-से छोटे-बड़े जागीरदार अपने पड़ोसी किसानों को लूटने लगे।

**संस्कृति व सभ्यता**—औरंगज़ेब के शासन के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति पर भी बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। अकबर-कालीन उच्च तथा मानवीय परम्पराओं के स्थान पर तुच्छ विचार तथा चापलूसी आदि के दोषों से राजदरबार का वायुमण्डल भरपूर हो गया। पुराने रचनात्मक स्वतन्त्र बुद्धि तथा दूरदर्शिता के गुणों से सम्पन्न उच्चकोटि के राज्याधिकारियों के स्थान पर निकृष्ट, हतबुद्धि तथा संकुचित दृष्टि वाले मनुष्य बादशाह के चारों ओर रह गए। इस नैतिक व सामाजिक पतन को देखकर तत्कालीन विचारक तथा बुद्धिमान लोग बड़े हतोत्साह हुए जैसा कि उनके कथनोपकथन तथा रचनाओं से विदित होता है। राजकीय दफ्तरों में भी भारी अवनति दीख पड़ती थी। घूसखोरी, निर्बल व दरिद्र जनता पर अधिकारियों के अत्याचार आदि दोष बहुत बढ़ गए।

**औरंगज़ेब की शासन-प्रणाली**—औरंगज़ेब के शासन का विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि शासन के ढाँचे में अकबर-कालीन संघटन में प्रायः बहुत कम परिवर्तन हुआ था। ये परिवर्तन मौलिक प्रकार के न थे, प्रत्युत बहुत ही सामान्य, आवश्यकता व परिस्थिति के अनुसार किए गए थे। केवल एक मौलिक परिवर्तन औरंगज़ेब ने अवश्य किया था अर्थात् जज़िया को दुबारा हिन्दुओं पर लागू करके और उन पर अन्य इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाकर बादशाह ने समस्त हिन्दू

जनता को सिद्धान्त रूप से राज्य के नागरिक होने के हक़ से वंचित कर दिया था। दूसरे शब्दों में, उसने इस्लाम के उस पुराने नियम का पुनरुद्धार किया जिसके अनुसार किसी 'अमुस्लिम' को इस्लामी राज्य का नागरिक और सदस्य होने का अधिकार ही नहीं है। इस घटना अथवा परिवर्तन को ध्यान में रखने पर यह विदित होगा कि मुग़ल शासन-पद्धति तथा व्यवस्था भी एक परिवर्तनशील संस्था थी। इसलिए जो वास्तविक रूप-रंग उसका औरंगज़ेब के हाथों बन गया था उसे ही मुगल शासन का उसके आदि से एकसा, शिथिल, अप्रगतिशील रूप कहना न्यायसंगत न होगा। यह संकेत यहाँ पर कर देने की आवश्यकता इसलिए हुई कि प्रायः लेखक इस भ्रान्ति से न बच पाए हैं।

**शासन का रूप**— मुग़ल शासन का सविस्तार विवरण अकबर के इतिहास के अन्तर्गत दिया जा चुका है। अतएव यहाँ पर शासन-प्रणाली की सूक्ष्मतर रूपरेखा, सम्राट् की नीति, उसके परिणाम आदि विषयों का निर्देश मात्र पर्याप्त होगा। बाबर और हुमायूँ ने सैन्य-बल से उत्तर भारत में अपना राज्य स्थापित किया था। ये दोनों बादशाह सुशिक्षित तथा उदार शासक थे तथापि इन्हें शासन में जनता के हित के लिए कोई स्थायी काम करने का अवकाश न मिला था। इनके सैनिक शासन को शेरशाह ने यथाशक्ति एक उदार निरंकुश शासन की स्थापना करने का प्रयास किया था किन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि शेरशाह को केवल यह चेतना अच्छी तरह थी कि प्रजा, विशेषकर किसान के साथ सद्व्यवहार इसलिए करना चाहिए कि उनके सुखी सम्पन्न होने से ही शासक को वह धन प्राप्त हो सकता है जिस पर राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इससे अधिक राजा या शासक के कर्त्तव्यों की ओर कोई समझ अथवा कल्पना उसे नहीं थी। अकबर महान् ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि तथा अनुपम प्रतिभा से राज के कर्त्तव्यों के मूल सिद्धान्त को पूर्णरूप से ग्रहण करके उसके आधार पर अपने शासन तथा उसकी नीति का भवन खड़ा किया। अकबर भली-भाँति समझता व मानता था कि राजा भगवान् का प्रतिनिधि रूप है जिसे मानव समाज की सुचारु रूप से व्यवस्था तथा शासन करके उसे सुखी, सम्पन्न एवं उन्नतिशील बनाने का कर्त्तव्य सौंपा गया है। इस प्रकार अकबर के कार्य का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल राज्य सर्वांगीण रूप से एक उदार राज्य बन गया। राज्य के इस आदर्श का अकबर ने जीवनपर्यन्त अनुसरण करने का भरसक प्रयास किया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए न केवल साम्राज्य को दृढ़ नींव पर खड़ा करके छोड़ दिया वरन् इसी के साथ एक ऐसी उदार नीति तथा विशाल राज्य-सिद्धान्तों की परम्परा भी प्रचलित करके छोड़ गया जिसका पूरा लाभ उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हुआ। यद्यपि वे एक पीढ़ी के बाद ही उसके प्रशस्त मार्ग से धीरे-धीरे विचलित होने लगे थे तो भी अकबर के साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ़ थी कि अनेक त्रुटियों एवं कठिनाइयों के आ जाने पर भी साम्राज्य का भवन दो शताब्दी तक अटल खड़ा रहा।

**सम्राट् तथा केन्द्रीय सरकार**—औरंगज़ेब के समय में भी सिद्धान्त रूप से

उच्चतम शक्ति तथा अधिकार सम्राट् को ही प्राप्त थे। वह राज्य की सैनिक एवं सामान्य शासन-शक्ति का सर्वोपरि अधिकारी था। एक परिवर्तन अवश्य हुआ था। अकबर अपने को प्रजा का पिता तथा प्रतिपालक मानता था परन्तु औरंगज़ेब इसके प्रतिकूल केवल मुस्लिम प्रजा को ही अपनी वास्तविक रियाया समझता था। उसके राजनीतिक विचार के अनुसार 'अमुस्लिम' जनता को एक इस्लामी राज्य के अन्तर्गत रहने का अधिकार प्राप्त करने के लिए उसका मूल्य राजा को देना आवश्यक था। राज्य के संकीर्ण साम्प्रदायिक रूप को बदलकर अकबर ने उसे एक सार्वभौम रूप प्रदान किया था। औरंगज़ेब ने इस महान् सिद्धान्त को बदलकर फिर से उसे एक संकीर्ण साम्प्रदायिक रूप दे दिया।

औरंगज़ेब का मन्त्रिमण्डल भी पूर्ववत् था। हाँ, उनकी नीति के परिणाम-स्वरूप साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में इतने उपद्रव तथा प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो गई थीं कि मुग़ल दरबार का सामान्य रूप एक सैनिक शिविर का-सा बन गया था। सैनिक योग्यता ही राज्य के ऊँचे अधिकार प्राप्त करने के लिए सबसे अधिक आवश्यक थी। औरंगज़ेब आरम्भ से ही इन सैनिक कामों में इतना व्यस्त रहा कि शासन की तात्कालिक अवस्था का निरीक्षण करने और उसमें आवश्यक सुधार करने का उसे न समय था न उसकी ओर उसका ध्यान। बादशाह जब आखेट आदि मनोरंजन के उद्देश से कहीं जाता था ऐसे अवसरों पर भी इसके साथ जो सेना चलती थी वह किसी प्रकार भी युद्धक्षेत्र को जानेवाली सेना से भिन्न न होती थी। इस प्रकार राज्य की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा केवल सैनिक व्यवस्था पर व्यय होता था। यह परम्परा उसके पूर्वजों से चली आई थी। विशेषकर शाहजहाँ ने अपनी मध्य एशिया तथा कन्धार की चढ़ाइयों में निरर्थक साम्राज्य की अगणित सम्पत्ति नष्ट कर दी थी। परन्तु औरंगज़ेब ने साम्राज्य की धनराशि को सरहदी हमलों से देश की रक्षा करने में ही व्यय नहीं किया, उससे कहीं अधिक उसने राजपूतों तथा दक्षिण के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करने में बरबाद किया। यहाँ तक कि साम्राज्य का कोष बिलकुल खाली हो गया और सामान्य सैनिकों को तो क्या, सेनापतियों को भी कई-कई वर्ष तक वेतन न मिले। सम्राट् स्वयं खूब समझता था कि उसके सैनिक उससे इतने दु:खी हैं कि वे सदैव उसकी मृत्यु के लिए प्रार्थना करते होंगे। यह बात उसने एक पत्र में अपने पुत्र कामबख़्श को लिखी थी।

राज्य के अन्य विभागों का कार्य पुरानी परिपाटी के अनुकूल किसी-न-किसी प्रकार चल रहा था। राज्यकर के निश्चित करने तथा उसके वसूल करने में ऊपर का निरीक्षण ढीला पड़ जाने के कारण अनेक त्रुटियाँ आ गई थीं। इसके अतिरिक्त सम्राट् की यह खुली नीति थी कि हिन्दुओं तथा अन्य मतावलम्बियों पर ऐसे कर लगाए जाएँ जिनसे वे विवश होकर मुसलमान बन जाएँ। इस नीति का स्वाभाविक परिणाम यह था कि मुसलमान फौजदार तथा कोतवाल इत्यादि पुलिस के अधिकारी-गण हिन्दुओं पर अनेक प्रकार के अन्याय करने लगे। भूमिकर जो वास्तविक रूप

से वसूल किया जाता था उसकी मात्रा भी इतनी बढ़ गई थी कि जाटों आदि के विद्रोह के कारण केवल धार्मिक अत्याचार न थे किन्तु आर्थिक अत्याचार भी थे। न्याय विभाग का कार्य भी पूर्व परिपाटी के अनुसार किया जाता था परन्तु ऐसी अस्त-व्यस्त परिस्थिति में न्याय का सुचारु रूप से वितरण किया जाना असम्भव था। इसी कारण अधिकतर शासन-कार्य गाँव-सभाएँ तथा जाति-सभाएँ आपस में ही कर लेती थीं। शासन-व्यवस्था के बिखर जाने का एक परिणाम यह भी हुआ कि सेना के साथ-साथ चलने वाले हज़ारों नौकर-चाकर तथा अनेक दरवेश व इसी प्रकार के घुमक्कड़ लोग बेचारे किसानों पर अत्यन्त अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त सेना को सामान बेचनेवाले बनजारों के गिरोह, जिनमें कभी-कभी पाँच हज़ार आदमी तक होते थे, इस अव्यवस्था से लाभ उठाकर रास्ते में पड़नेवाले गाँवों तथा उनकी फसलों को बेरोक-टोक लूट लेते थे। जैसा कि प्रो० जदुनाथ सरकार ने लिखा है, 'इस अवस्था में दस वर्ष दक्षिण में मारे-मारे फिरते हुए मुग़ल सेना की कमर टूट गई थी और उसके उत्साह का सर्वथा अन्त हो गया था।' बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय के बाद औरंगज़ेब के वज़ीरे आज़म असदख़ाँ ने यह सुझाव देने का दुःसाहस किया कि अब सम्राट् अपनी सेना सहित दिल्ली वापस लौट चलें किन्तु औरंगजेब किसी की सलाह सुनने वाला न था। उसने इस सब परामर्श पर अपने वज़ीर को डाँटकर चुप कर दिया।

**राजस्व के साधन**—भूमिकर राज्य की आय का मुख्य स्रोत था। यह अकबर के समय से उपज का $\frac{1}{3}$ लिया जाता था किन्तु इसके साथ-साथ अन्य कई प्रकार के अबवाब उगाहे जाते थे। स्थानीय अधिकारीगण बहुत-से कर केन्द्रीय सरकार के नियमों के विरुद्ध भी उगाहने लगते थे। सामान्य भूमिकर के अतिरिक्त जो खालसा भूमि से उगाहा जाता था, करद राज्यों से भी काफी मात्रा में धनराशि प्राप्त होती थी। खालसा भूमि के अतिरिक्त बहुत-सी भूमि जो सरकारी अफसरों को उनके वेतन के बदले जागीर के रूप में दी जाती थी, राजकीय आय का एक बहुत बड़ा साधन थी। इसके अतिरिक्त देशी तथा विदेशी व्यापार से भी पर्याप्त मात्रा में आमदनी होती थी। आय का एक बड़ा साधन उन दिनों यह भी था कि सम्राटों को उनके अपने बड़े-बड़े पदाधिकारियों तथा बाहर से आनेवाले दूतों व व्यापारियों से बहुत बहुमूल्य भेंटे व उपहार मिलते थे। एक और आय का साधन यह भी था कि बड़े-बड़े पदाधिकारी जो राजकीय कोष से कर्ज़ा लेते थे उनके मरने पर उनकी सम्पत्ति से वह सब वसूल कर लिया जाता था। सरकारी न्यायालयों के द्वारा अपराधियों पर बड़े-बड़े जुरमाने किए जाते थे जिनकी मात्रा भी काफी होती थी। औरंगज़ेब की लड़ाइयों के कारण उसका व्यय इतना बढ़ गया कि यह सब धन उसके लिए कम पड़ गया : इसी लिए उसे हिन्दुओं पर कई नए-नए विशेष कर लगाने पड़े।

**सम्राट् के निरंकुश अधिकार और उनका नियन्त्रण**—सिद्धान्त रूप से कुरान के नियमों के दायरे के भीतर मुस्लिम बादशाह के अधिकार अपरिमित थे। उसकी प्रजा को उसके कामों में हस्तक्षेप करने अथवा उसका विरोध करने का कोई अधिकार

नहीं था किन्तु वास्तविक रूप से मुग़ल सम्राट् के ऊपर कई प्रकार के प्रतिबन्ध थे जिनसे उसे अपनी नीति एवं शासन-कार्यों को परिमिति करना पड़ता था। सबसे प्रथम उसे अपने मुख्य सरदारों तथा शक्तिशाली मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करना आवश्यक था। उनका विरोध करके कोई सम्राट् सुरक्षित नहीं रह सकता था। उन दिनों विष आदि से मारे जाने का भय भी सम्राट् को बराबर बना रहता था जिसके कारण उसे सोच-समझकर कार्य करना पड़ता था। उच्च परिवार के दरबारियों तथा प्रभावशाली लोगों की सहानुभूति के अनुकूल शासन-संचालन करना भी सम्राट् के लिए आवश्यक था। इन सबसे बड़ा भय जो इन सम्राटों को सीधे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता था वह था विद्रोह की सम्भावना। राजपूत जाट, सतनामी तथा मराठा व सिक्ख आदि जातियों के विद्रोहों का कारण यही था कि सम्राट् आलमगीर ने उनके आर्थिक तथा धार्मिक हितों को पददलित करना आरम्भ किया जिसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

●

पैंतीस

# मुग़ल युग का समाज और संस्कृति

( १ )

## मुगलकालीन समाज

**मध्यकालीन समाज का विश्लेषण**—जिस प्रकार मुग़ल सत्ता के विषय में सैनिक सत्ता होने की भ्रान्ति आधुनिक लेखकों ने फैलाई है, उसी प्रकार तत्कालीन भारतीय समाज के सम्बन्ध में यह निराधार तथा नितान्त भ्रान्तिपूर्ण विचार भी प्रायः सभी आधुनिक इतिहास-लेखकों ने फैलाया है कि मुग़ल शासन-व्यवस्था और राजकीय संघटन की यूरोपीय मध्यकालीन सामन्त समाज (Feudal System) से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। परन्तु यह विचार निराधार है। मुग़ल जागीर प्रथा की किसी अंश में भी मध्यकालीन यूरोपीय सामन्त-प्रथा से तुलना नहीं की जा सकती। इसका संकेत हम अकबरकालीन सैनिक व्यवस्था के प्रकरण में कर आए हैं। किन्तु यहाँ उस पर कुछ अधिक प्रकाश डाल देना आवश्यक जान पड़ता है। मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत दो प्रकार की जागीर-प्रथा प्रचलित थी : (१) पैतृक जागीर जो उन हिन्दू नरेशों व सामन्तों की पैतृक भूमि थी जिस पर वे पूर्वकाल से शासन करते आए थे और जिन्हें मुग़ल साम्राज्य के अन्तर्गत करद राजाओं के समान सम्मिलित कर लिया गया था। अकबर महान् ने यह नीति संचालित की थी कि उन प्राचीन राजघरानों से जिन्होंने सम्राट् का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था, उनके राज्य छीने न जाएँ और वे वंशानुगत उन्हीं राजवंशों के अधिकार में बने रहें। तत्कालीन इतिहास-लेखक इन राज्यों को जागीरदारी अथवा जमींदारी के नाम से पुकारते हैं। (२) दूसरे

उपर्युक्त विवेचन से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि मध्ययुगीन भारत के समाज में वे विशेषताएँ नितान्त नहीं थीं जो मानव-समाज की प्रगति के उस युग में प्रायः सभी देशों में पाई जाती थीं।

प्रकार की जागीर प्रथा वह थी जिसका उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर आए हैं अर्थात् वे जागीरें जो सरकारी कर्मचारियों को उनके तथा उनकी सेवाओं के वेतन की अदायगी के रूप में दी जाती थी और जिन पर उन कर्मचारियों का लेने के अतिरिक्त और किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता था। यह कर भी केन्द्रीय सरकार की ओर से निर्णय कर दिए जाते थे और उस निश्चित राशि से एक पाई भी अधिक वसूल करने का अधिकार जागीरदार को नहीं होता था। यह जागीरें अस्थायी होती थीं और बहुत बार बदली जाती थीं। उदाहरणार्थ, यदि किसी मनसबदार की जागीर बिहार प्रान्त में हो तो उसके एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजे जाने के समय अथवा अन्य अनेक कारणों से उसको किसी दूसरे प्रान्त में जागीर दी जाती थी। इन जागीरों की मात्रा में भी जागीरदार के वेतनों के अनुसार परिवर्तन होते रहते थे। इस कथन से स्पष्ट हो गया होगा कि यह दोनों जागीर-प्रथाएँ किसी प्रकार भी यूरोपीय सामन्त-प्रथा के सदृश नहीं थीं, यद्यपि राजपूत समाज में कुछ ऊपरी रीति-रिवाज इस प्रकार के प्रचलित हो गए थे जो यूरोपीय सामन्त-प्रथा से मिलते-जुलते थे और इसी कारण टाड आदि विद्वानों को यह भ्रान्ति हुई कि राजपूत राजनीति व सामाजिक संगठन का रूप भी उसी प्रकार की सामन्त-प्रथा है जैसी प्रथा मध्यकालीन यूरोप में विद्यमान थी।

**समाज के विभिन्न वर्ग**—सामाजिक अवस्था का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है—आर्थिक व राजनीतिक आधार पर जनता कितने वर्गों में विभाजित थी। प्रत्येक वर्ग की अवस्था तथा दैनिक जीवन कैसे थे? क्या-क्या उनके पेशे थे और विभिन्न वर्गों में परस्पर कैसे सम्बन्ध थे? दूसरे, जनता के धार्मिक विश्वासों तथा क्रियात्मक जीवन की दृष्टि से भारतीय समाज का कैसा रूप था; कितने साम्प्रदायिक वर्गों में समाज विभाजित था? इन वर्गों में परस्पर कैसे सम्बन्ध थे? सर्व-सामान्य के धार्मिक विश्वास व जीवन उन्नतिशील थे अथवा शिथिल? आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से ध्यान देने पर हमें विदित होता है कि तत्कालीन समाज में कम-से-कम चार वर्ग स्पष्ट रूप से विद्यमान थे। **सबसे ऊँचा वर्ग** धनवान् तथा ऐश्वर्यवान् लोगों का—उच्च सरकारी पदाधिकारियों का—था जिनके शिखर पर बादशाह और उसका परिवार विराजमान थे। साम्राज्य की श्री-सम्पत्ति, धन-धान्य समग्र सांसारिक वस्तुओं के उपभोग करने का सर्वोपरि अधिकार बादशाह का था। राजकीय आय में से कितना भाग बादशाह अपने निजी उपभोग तथा व्यसनों पर व्यय करते थे, इसका न कोई नियम था न उसपर कोई प्रतिबन्ध। हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे हमें यह जानकारी हो कि राजकीय आय का निश्चित भाग बादशाह अथवा उसके परिवार के निजी रहन-सहन में अथवा उनकी इच्छाओं को पूरा करने में व्यय किया जाए। किन्तु परोक्ष रूप से मुग़ल बादशाहों के निजी व्यय पर एक प्रकार की रोक अवश्य थी अर्थात् राज-काज के विभिन्न आवश्यक विभागों अथवा लड़ाइयों आदि का व्यय करने के बाद जो धन राजकोष में बचता था उसी को ये लोग अपने व्यसनों तथा अन्य इच्छाओं को पूरा करने में व्यय कर सकते थे। यह

बात कभी न देखी गई कि इन बादशाहों के भोग-विलास के कारण राजकीय कोष इतना खाली हो गया हो कि साम्राज्य की आवश्यक सेवाओं के लिए पैसा न मिल सके। इस बात से यह परिणाम भी स्पष्ट निकलता है कि मुग़ल बादशाहों का कोष अनन्त धन से भरपूर था जैसा कि हमें अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है। बादशाह और उसके परिवार के अतिरिक्त राज-दरबार के अन्य ऊँचे-ऊँचे कर्मचारी जिनकी संख्या सैकड़ों में कही जा सकती है, बड़े-बड़े वेतन पाते थे और अपने रहन-सहन में राजदरबार और महलों के जीवन का अनुकरण करने की चेष्टा करते थे। इन लोगों के निजी भोग-विलास आदि पर इतना भारी व्यय होता था कि वे बहुधा ऋणी हो जाते थे और बहुतों को सरकारी खज़ाने का ऋण चुकाने में निर्धनता का मुँह देखना पड़ता था तथापि राजनीतिक वर्ग ही उत्तमोत्तम आर्थिक जीवन का संभोग करना अपना अधिकार समझता था। बादशाहों के रनिवास (हरम) और महलों की आबादी कई-कई सौ होती थी जिनके प्रबन्ध के लिए एक पृथक विभाग ही होता था। इस मद का व्यय राजकीय कोष पर बड़ा भारी बोझ रहता था। इसी की नकल करके दरबारी व अन्य उच्च अधिकारी वर्ग के पारिवारिक व्यय बहुत अनियमित तथा अपरिमित होते थे। राजमन्त्री व अन्य बड़े-बड़े मनसबदार, जागीरदार राजदरबार व राजमहलों की नकल करते थे और अपने वित्त से अधिक वे हवेली के नौकर-चाकर, लौंडी व बाँदी तथा अन्य विलास की सामग्री रखते और उनके संभोग में निमग्न रहते थे। इन दोनों वर्गों का जीवन बाबर से अकबर के काल तक तो बहुत हद तक संयमी और किन्हीं-किन्हीं का अत्यन्त सादा भी रहा। किन्तु जहाँगीर ने अपने नितान्त असंयत जीवन तथा भोग-विलास में पड़े रहने से आगे आनेवाले बादशाहों के लिए एक बड़ा हानिकारक उदाहरण कायम कर दिया। उसने अकबर के दीर्घ जीवन की संचित की हुई सम्पत्ति का दिल खोलकर संभोग किया। परिणाम यह हुआ कि उस समय से मुग़ल बादशाह तथा उनके परिवार के अन्य सब लोगों में विलासिता बढ़ती गई और शाहजहाँ के काल में इस हद तक पहुँची कि रणक्षेत्र में भी यह लोग अपने पूरे परिवार, नौकर-चाकर तथा लौंडियों व बाँदियों आदि का एक बड़ा समूह लेकर चलते थे। प्रत्येक राजकुमार व राजमन्त्री के साथ उसके चित्रकार, कवि, भाट तथा हकीम आदि रहते थे।

उपर्युक्त शासक-वर्ग में राजपूत राजा, सामान्त व उच्च पदाधिकारी भी सम्मिलित थे। राजपूत राजवंशों का जीवन पहले से ही बड़ा वैभवशाली एवं विलास-पूर्ण चला आया था। अब मुग़ल राजघरानों की नकल करके उन्होंने नए-नए प्रकार के मनोरंजन व भोग-विलास के ढंग सीख लिए थे। मुग़ल दरबार और राजमहलों की होड़ करना यह लोग बड़े गौरव का चिह्न समझते थे। राजपूतों के सामाजिक जीवन व परस्पर व्यवहार तथा शिष्टाचार में आज तक अनेक परम्पराएँ व रीति-रिवाज मुग़ल दरबारों के प्रतिरूप दीख पड़ते हैं। धार्मिक विश्वासों तथा कर्मकाण्ड को छोड़कर राजपूतों का खाना-पीना, पोशाक, उठना-बैठना, महफ़िलें आदि लगाना

और शादी-विवाह आदि अनेक पर्वों पर बादशाही दरबार की पार्टियों की नकल करना ; यह सब उन्होंने मुग़लों से ही धरोहर के तौर पर प्राप्त किया है।

**दूसरा वर्ग** राज्य के अधिकारियों के अतिरिक्त बड़े-बड़े धनवान् ऐश्वर्यवान् व्यापारियों तथा व्यवसायियों का था। यह लोग अपने धन तथा व्यापारिक योग्यता के कारण समाज में बड़े प्रभावशाली गिने जाते थे और अक्सर राजाओं व अन्य अधिकारी वर्ग में भी उनका बड़ा आदर-मान होता था। यह लोग केवल देश के विभिन्न प्रान्तों में ही नहीं बल्कि विदेशों से भी व्यापार करते थे। इस वर्ग के बड़े-बड़े धनी-मानी लोग सीमान्त व्यापार-केन्द्रों व बन्दरगाहों में पाए जाते थे। इनके अतिरिक्त बहुत से धनी लोग बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा दरबारों की आवश्यक चीज़ें बनवाते और उनको बेचते थे। इनके अतिरिक्त बहुत से धनवान् साहूकारे का व्यवसाय करते थे जिनका कार्य आजकल के बैंकों के समान होता था। उस समय के यही बैंक थे जिनसे बड़े-बड़े लोग यहाँ तक कि कभी-कभी राजा भी धन की सहायता अथवा ऋण लेते थे। यह सब धनी वर्ग अत्यन्त धर्म-परायण होता था और प्राचीन परम्पराओं के अनुसार अपना बहुत-सा धन सार्वजनिक सेवा के कार्यों में व्यय करता था। सार्वजनिक मार्गों पर वाटिकाएँ, कुएँ, धर्मशालाएँ, तालाब आदि बनवाना यह लोग अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। इनके अतिरिक्त वे नदियों पर बड़े-बड़े घाट और बहुत से स्थानों पर मंदिर आदि बनवाते थे। इन लोगों का जीवन सरकारी कर्मचारी वर्ग के जीवन की अपेक्षा अधिक संयत व धार्मिक होता था। तो भी वे अपने घरेलू कारजों व पर्वों के ऊपर जी खोलकर व्यय करते थे और इन अवसरों पर तथा मेले, त्यौहार आदि पर भी ये बड़ा आनन्द-मंगल मनाते थे। जब कभी राज्यकर्मचारी अथवा स्वयं राजा अन्यायी होते थे, उनसे धनी वर्ग को बड़ी हानि तथा कष्ट सहन करने पड़ते थे। परन्तु मुग़ल काल में इस प्रकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार शायद ही कहीं होता हो।

**तीसरा वर्ग** उन साधारण व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धों के करनेवालों का था जिनको हम आजकल के मध्य वर्ग में रख सकते हैं। इनमें सामान्य दुकानदार, वाणिज्य करनेवाले तथा छोटे-बड़े व्यवसायी लोगों को रखा जा सकता है। इस वर्ग में छोटे-बड़े, सम्पन्न-विपन्न, सफल-असफल हर प्रकार के व्यापारी सम्मिलित थे। इनके विषय में यह कहना ठीक न होगा कि इनका जीवन सर्वथा शुष्क व सादा ही था और इन्हें मनोरंजन तथा आनन्द-मंगल के कोई अवसर प्राप्त न थे। इस देश की प्राचीन परम्पराओं में अनेक अवसरों पर सामान्य कोटि से लगाकर बड़े-बड़े सार्वदेशिक मेले-तमाशों का होना सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग था। अपने निजी कारजों के अतिरिक्त इन अवसरों तथा त्योहारों पर छोटे-छोटे वर्ग के लोग बिना रोक-टोक सामाजिक मनोरंजन में भाग लेते थे। निस्संदेह उच्च वर्ग की अपेक्षा मध्य वर्ग का दैनिक जीवन बहुत सीधा-सादा तथा मितव्ययी था। इसी वर्ग में एक बहुत बड़ी संख्या हमारे किसानों की थी। इनमें भी आर्थिक दृष्टि से छोटे-

बड़े सभी प्रकार के लोग थे। गाँवों के चौधरी, मुकद्दम व जमींदार आदि सम्मानित लोग काफी सुखमय एवं विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु इनका कार्यक्षेत्र अपने ग्रामीण दायरे के अन्दर ही परिमित था। बाहरी प्रदेशों व बड़े-बड़े नगरों से उनका सम्पर्क बहुत कम था। उनका दैनिक जीवन पूर्णतया सुखमय व सुसम्पन्न था। किसी प्रकार की आवश्यक वस्तु की उन्हें कमी न थी।

चौथा सबसे निम्न वर्ग छोटे-छोटे कारीगरों, मजदूरों व सेवकों का था जिनकी आर्थिक स्थिति अन्य वर्गों की अपेक्षा बहुत हीन थी। परन्तु यह कहना असत्य होगा कि इन लोगों को सामान्य परिस्थितियों में खाने-पीने अथवा आवश्यक वस्त्र आदि की कमी थी। कई आधुनिक लेखकों ने यह मत प्रकट किया है कि उच्च वर्ग को छोड़कर अन्य सब लोगों का जीवन उस समय अत्यन्त विपन्न, शुष्क तथा मनोरंजन-विहीन होता था। यह मत सर्वथा निराधार है। हिन्दू-समाज की परम्परागत रीतियों से हमें विदित होता है कि प्रत्येक वर्ग, जाति, व्यापार तथा व्यवसाय संघ के लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक अवसरों पर मनोरंजन करते थे।

**जाति-प्रथा**—इस प्रसंग में हिन्दुओं के जाति-पाँति के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है। निस्सन्देह प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियों में शेष रह गया था। परन्तु इनके अतिरिक्त और भी अनेक जातियाँ भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हो गई थीं। उनमें विशेष उल्लेखनीय वे जातियाँ थीं जो अपने व्यवसाय के कारण अन्य जन-समूहों से अलग हो गई थीं, जैसे जुलाहे, तेली, सुनार, लुहार इत्यादि। दूसरा बड़ा वर्ग प्राचीन कुल व वंशों से उत्पन्न लोगों का था जैसे जाट, गूजर, चमार आदि। इस प्रकार की जातियों की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। हिन्दू धर्म के संकीर्ण सिद्धान्तों का प्रभाव, जो नवीन ब्राह्मण धर्म की देन थी, इस जातीय विभाजन पर अत्यन्त अनुचित एवं हानिकारक हुआ। इन सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न जातियों में परस्पर पार्थक्य—खान-पान एवं छूत-छात के भेदभाव—उत्पन्न हो गए जिसका परिणाम यह हुआ कि कुछ जातियाँ अपने को अन्य जातियों से ऊँचा मानने और उनके ऊपर धार्मिक व सामाजिक क्षेत्रों में अन्यायपूर्ण व्यवहार करने लगीं। तथापि हिन्दू मात्र की छोटी-से-छोटी जातियों ने भी, जिन्हें उच्च जातियों ने अन्त्यज, अस्पृश्य एवं चाण्डाल आदि कहकर तिरस्कृत किया, कभी भी अपने धार्मिक विश्वासों तथा क्रियाकलापों को नहीं छोड़ा। किसी-न-किसी प्रकार धर्म-ग्रन्थों को सुनना, देवी-देवताओं की पूजा करना, तीर्थयात्रा करना आदि किसी जाति के लोगों ने नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि उन्हीं ब्राह्मणों को, जिनकी स्वार्थपूर्ण शिक्षाओं के कारण इन जातियों से ऐसा अमानुषिक व्यवहार किया जाता था, अपने धार्मिक अन्धविश्वासों के कारण यह लोग बराबर दान-दक्षिणा देते और अनेक अवसरों पर उन्हें भोजन कराके उनका पेट भरते रहे। उनके निमन्त्रणों का बड़े प्रसन्न चित्त से यह पेटू वर्ग सदैव लाभ उठाता रहा। जाति-पाँति के इन भेदभावों का बड़ा हानिकारक परिणाम उस समय से प्रकट हुआ जब

से इन लोगों को अपने तिरस्कृत जीनव तथा अपने स्वत्वों की चेतना उत्पन्न हो गई।

**जाति-प्रथा के लाभ**— जाति-प्रथा के अन्दर धार्मिक व साम्प्रदायिक आधार पर जो अमानुषिक संकीर्णताएँ आ गईं उनके बुरे परिणामों का दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। किन्तु यदि इन संकीर्ण रीति-रिवाजों को इस प्रथा से बहिष्कृत कर दिया जाए तो जाति-प्रथा के बहुत से गुण व लाभ भी हमें साफ तौर से दीख पड़ेंगे। जाति-पाँति का एक मुख्य आधार विभिन्न व्यवसाय तथा पेशे रहे हैं। उनके कारण प्रत्येक व्यक्ति बचपन से ही अपना पैतृक व्यवसाय सहज ही सीख लेता था। इतना ही नहीं उस के जन्मजात संस्कार उसके अंदर एक प्रकार की प्रतिभा प्रस्फुटित करने में सहायक होते थे। इन संस्कारों तथा एक जाति विशेष के व्यवसाय का बचपन से ही अध्ययन तथा अभ्यास करने से अनेक उद्योग-धन्धों तथा शिल्प व कलाओं की उन्नति जितनी हुई वह अन्यथा नहीं हो सकती थी। जातीय संघ व श्रेणी के द्वारा उनके सदस्यों में परस्पर प्रेम तथा सुख-दुख में सहायता करने के भाव पैदा होते थे। लोगों में समाज-सेवा, उदारता तथा आत्मत्याग की भावनाएँ भी जातीय प्रथा से प्रोत्साहित होती थीं। अपनी सामूहिक उन्नति करने के प्रयोजन से जातियाँ अपनी अलग-अलग संस्थाएँ बनाती थीं। एक सबसे स्पष्ट लाभ जातीय प्रथा का यह था कि जिस प्रकार ग्राम-पंचायतें ग्रामीण जनता का शासन व नियन्त्रण तथा संरक्षण करती थीं, उसी प्रकार से जाति-पंचायतें भी अपनी जाति के सदस्यों का नियन्त्रण, उनके चरित्र एवं आचार-विचार पर बड़ा अनुशासन रखती थीं। जाति-पंचायत के सामने कोई कैसा भी पाप कर डाले, उसे स्वीकार कर लेता था और पंचायत के दिए हुए दण्ड को भी बड़ी प्रसन्नता से सहता था। आर्थिक क्षेत्र में तो जाति-प्रथा का लाभ बहुत बड़ा था क्योंकि प्रत्येक जाति अपने-अपने व्यवसाय की सामूहिक रूप से अभिवृद्धि तथा रक्षा करने पर तत्पर रहती थी।

**धार्मिक जीवन**—समूचे मध्य युग में और विशेषतया मुग़ल युग में हिन्दू मात्र नवीन ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त थे। इनमें शैव तथा वैष्णव सबसे अधिक संख्या में प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त उत्तरीय पर्वतखण्ड में शाक्त और तान्त्रिक मतों का बड़ा प्राबल्य था। आसाम और बंगाल में भी यह दोनों मत बहुत विस्तार से फैले हुए थे। उत्तर भारत में वैष्णवों में विशेष रूप से कृष्ण व राम के भक्त तथा पुजारियों की सबसे अधिक संख्या थी। किन्तु इस भूखण्ड में एक विशेषता यह थी कि शैव व वैष्णवों में कोई परस्पर विद्वेष अथवा संघर्ष नहीं था। आश्चर्य यह है कि उत्तर भारत में वैष्णव जनता की संख्या बहुत बड़ी थी तथापि मथुरा, वृन्दावन व अयोध्या आदि कतिपय स्थानों को छोड़कर अन्य सब जगह अधिकतर शिवालय व शिवमन्दिर थे जो आज तक विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त श्रीरामचन्द्र, भगवान् कृष्ण, लक्ष्मीनारायण व हनुमान् आदि के मन्दिर भी स्थान-स्थान पर थे। परन्तु शैव व वैष्णव एवं अन्य सम्प्रदायों के लोग भी बिना किसी भेद-भाव के इन सब देवताओं की पूजा करते थे। उत्तर भारतीय हिन्दू जनता में इन साम्प्रदायिक भेदों के न रहने

का एक मुख्य कारण गोस्वामी तुलसीदास के समन्वयात्मक ग्रन्थों व सिद्धान्तों के प्रभाव का परिणाम था। उस युग के उत्तर भारतीय अन्य सन्तों ने भी हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा-भक्ति में कोई विशेष भेद नहीं किया; यद्यपि उनमें से कई कृष्ण के पुजारी थे और दूसरे राम के पुजारी। गोस्वामी तुलसीदास के अतिरिक्त हिन्दू जनता की साम्प्रदायिक उदारता पर महात्मा कबीर, मलूकदास, गुरु नानक व रैदास आदि ज्ञानाश्रयी सन्तों का भी गहरा प्रभाव पड़ा क्योंकि यह सन्तगण निराकार ईश्वर की भक्ति व उपासना का प्रचार करते थे और रामनाम को सर्वोच्च महत्व देते थे। इनकी इस शिक्षा का अभिप्राय यह था कि राम व कृष्ण आदि सभी देवी-देवता एक राम के प्रतीक मात्र हैं। अतएव वे समस्त हिन्दूमात्र की पूजा व भक्ति के पात्र हैं। हिन्दू जनता के अन्तर्गत ही जैनियों का एक बड़ा प्रभावशाली एवं बहुसंख्यक सम्प्रदाय उस समय था। जैनियों के अन्तर्गत भी श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी आदि कई उपसम्प्रदाय उत्पन्न हो गए थे। जैन मतानुयायी अपने पूजा-पाठ आदि अनेक चर्याओं में हिन्दुओं से किसी प्रकार भिन्न नहीं थे। खान-पान, शादी-विवाह, छूत-छात आदि प्रथाओं में वे हिन्दुओं से भी कहीं अधिक कट्टर हो गए थे। केवल भेद इतना था कि हिन्दू देवताओं के स्थान पर वे अपने मन्दिरों में जिन महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा करते थे। उस युग में अनेक राजपूत राजा व बड़े-बड़े धनी-मनी लोग हिन्दू व जैन दोनों ही मतों के परिपोषक तथा भक्त थे। बौद्ध धर्म के अनुयायी उस युग में बहुत ही थोड़े से केवल बौद्ध तीर्थस्थानों में पाए जाते थे।

**दक्षिण भारत का धार्मिक जीवन**—दक्षिण में धार्मिक व साम्प्रदायिक जीवन का दृश्य उत्तरीय जीवन से बहुत-कुछ भिन्न था। यहाँ भी मुख्यतया, शैव, वैष्णव व जैन सम्प्रदायों में हिन्दू जनता विभक्त थी। किन्तु यह लोग उत्तर भारत के हिन्दुओं की तरह बिना किसी भेद-भाव के सब देवी-देवताओं के मन्दिरों में न जाते थे। यहाँ के शैव तथा वैष्णव एवं जैनी लोग बड़े कट्टर थे और उनमें परस्पर भारी अन्तर था। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण हमें दक्षिण के काशी सदृश पवित्र कांचीपुरी में मिलता है। इस विस्तीर्ण नगर के स्पष्ट रूप से दो खण्ड हैं। एक खण्ड शिवकांची कहलाता है और दूसरा विष्णुकांची। शिवकांची में बड़ा विशाल शिवमन्दिर है और विष्णुकांची में विष्णुमन्दिर। ये मन्दिर एक दूसरे से ३½ मील के फासले पर हैं। दक्षिण के शैव तथा वैष्णवों में परस्पर काफी विद्वेष तथा विरोध उस समय था और कोई एक-दूसरे के मन्दिरों अथवा देवताओं का पूजन नहीं करता था।

**दक्षिण के मन्दिरों का सामाजिक जीवन में महत्व**—दक्षिण के बड़े-बड़े मंदिरों के सामूहिक जीवन तथा कार्यों पर हम पिछले भाग में प्रकाश डाल चुके हैं। ये मन्दिर एक सर्वतोमुखी जातीय संस्था का केन्द्र बन गए थे। असंख्य दान-दक्षिणा मिलने के कारण इनकी सम्पत्ति तथा भूमि अनन्त हो गई थी। इस सम्पत्ति का बहुत-सा भाग जनसेवा के काम में प्रयुक्त होता था। इन मन्दिरों में बड़ी-बड़ी पाठशालाएँ व शिक्षा-संस्थाएँ चलती थीं जहाँ गुरुजनों व छात्रों का पालन-पोषण होता था। हजारों दरिद्रों

तथा निस्सहाय मनुष्यों को भोजन, वस्त्र आदि मन्दिरों से प्राप्त होता था। बहुत से मंदिर आजकल के बैंकों का भी कार्य करते थे और सामान्य व्यवसायियों को धन की सहायता देते थे। इन मन्दिरों में बड़े-बड़े चिकित्सालय होते थे जिनमें रोगियों की चिकित्सा व सेवा-शुश्रूषा की जाती थी। गाँवों व नगरों की पंचायतें भी अक्सर मंदिरों में ही होती थीं। इसका एक विशेष लाभ यह था कि देवस्थान में आकर कोई झूठ नहीं बोल सकता था।

भारतीय कला के समस्त अंगों, नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, शिल्प, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला आदि सभी उत्कृष्ट कलाओं के संरक्षण, संपोषण एवं सतत उन्नयन के केन्द्र भी हमारे मन्दिर ही थे। इन कलाओं को आश्रय या तो नरेशों तथा धनी-मानी लोगों के यहाँ मिलता था और या मन्दिरों में और एक प्रकार से जितना प्रोत्साहन तथा उन्नति करने का निस्संकोच अवसर मन्दिरों और देवालयों में हमारे कलाविदों को प्राप्त था, उतना अन्य कहीं नहीं था ; न हो सकता था।

**भारतीय मुस्लिम समाज का स्थान और प्रभाव**—भारतीय जनसंख्या में दूसरा बड़ा वर्ग मुसलमानों का था। इनमें बहुत से वे ही थे जो पहले हिन्दू थे और किसी-न-किसी कारण मुसलमान हो गए थे। ऐसे मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी जो बाहर से आए थे। और यह भी अपने वंश को शुद्ध रखने का दावा न कर सकते थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण स्वयं मुसलमान मुग़ल बादशाहों और बहुत से तुर्की, ईरानी व अफ़ग़ान आदि सरदारों का था। मुस्लिम समाज दो मुख्य सम्प्रदायों में बँटा हुआ था अर्थात् शिया और सुन्नी। शिया लोग वे थे जो यह मानते थे कि हजरत मुहम्मद के बाद उनके उत्तराधिकारी होने का हक केवल उनके वंशजों को ही था। हजरत मुहम्मद के मरने के वक्त उनकी केवल एक लड़की थी जिसका विवाह हजरत अली के साथ हुआ था। अतएव शिया लोग केवल हजरतअली और उनके वंशजों को ही वैध रूप से मुहम्मद का उत्तराधिकारी मानते हैं। इसके प्रतिकूल सुन्नी लोग उन खलीफ़ाओं के अनुयायी हैं जिनको हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद मदीने की मुस्लिम जनता ने उनकी योग्यता के कारण निर्वाचित किया था; जिसका परिणाम यह हुआ कि सुन्नी धर्मविधान के अनुसार खलीफ़ा अथवा बादशाह का पद पैतृक न रहकर एक निर्वाचनीय पद हो गया। शिया और सुन्नियों में आरम्भ से ही बड़ा संघर्ष चला आया था। शिया लोग हजरतअली और उनके शहीद बेटों हसन और हुसैन के प्रतीक-स्वरूप ताजिए बनाते, उनकी पूजा करते और उनकी मृत्यु की वर्षगाँठ पर बड़ा शोक मनाते हैं। ये अन्य पीर-पैगम्बरों की भी पूजा करते हैं। सुन्नी लोग उनको मूर्ति-पूजक समझते हैं और उनसे बड़ी घृणा करते हैं। इसी कारण इन दोनों सम्प्रदायों में बड़ा भेद तथा वैमनस्य चला आया है। औरंगज़ेब शिया लोगों को भी उतना ही दण्ड का भागी मानता था जितना हिन्दुओं को।

**सूफ़ी वर्ग**—मुसलमानों में एक बड़ा प्रभावशाली वर्ग सूफ़ियों व दरवेशों का था, जिनका जीवन बहुत-कुछ तत्कालीन हिन्दू साधु-सन्तों जैसा सादा तथा निरपेक्ष

होता था। ये लोग भी बड़े त्याग और तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे तथा मुख्यतया ईश्वर-प्रेम व आत्म-समर्पण के सिद्धान्त का प्रचार करते थे। बहुत से हिन्दू भी इन सूफ़ी सन्तों के शिष्य बन जाते थे और अक्सर ये लोग इस्लाम ग्रहण कर लेते थे। इन सूफियों में बहुत कम ऐसे थे जो राजाओं तथा उनके बल-वैभव से बिलकुल दूर रहते हों। इनमें अधिकतर ऐसे थे जो समकालीन सुलतानों और बादशाहों से काफ़ी सम्पर्क रखते थे और उनसे खूब दान-दक्षिणा लेते थे तथा उनकी सुख-समृद्धि के लिए प्रार्थना करते थे। तथापि इन लोगों का बड़ा अच्छा प्रभाव समाज पर पड़ता था। हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों के लोग इनके भक्त होते थे और इस प्रकार इनमें एकता तथा परस्पर मेल-जोल के भाव उत्पन्न होते थे। हिन्दू-मुस्लिमों को सामाजिक क्षेत्र में एक-दूसरे के निकट लाने में इन सूफ़ी सन्तों का बड़ा हाथ था। इन लोगों की मृत्यु के बाद इनकी कब्रों (मज़ारों) को सभी लोग अत्यन्त पवित्र मानते थे और राजा से रंक तक सभी लोग उन पर जाकर पूजा-पाठ करते थे। यह सब जानते हैं कि अकबर मुईनुद्दीन चिश्ती की मज़ार पर अक्सर जाया करता था और उसी परम्परा के एक प्रसिद्ध सूफ़ी सलीम चिश्ती के खानकाह में, जो आगरे के निकट सीकरी में था, अकबर के बेटे सलीम का जन्म हुआ था। सलीम चिश्ती पर अकबर की बड़ी श्रद्धा थी। जिस प्रकार नानक और कबीर जैसे हिन्दू सन्तों के भक्तों में हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही होते थे उसी प्रकार मुस्लिम सूफ़ियों के अनुयायियों में भी दोनों जाति के लोग होते थे। तीसरा बड़ा कारण हिन्दू-मुस्लिम जनता के ऐक्य का यह था कि बहुत से मुसलमान पहले भारतीय तथा हिन्दू ही थे और इस्लाम ग्रहण करने के बाद उनके रीति-रिवाज, उनके धार्मिक विश्वास, साधु-सन्तों के प्रति भक्ति-भाव, पंडा-पुजारियों के प्रति श्रद्धा, शुभ अवसरों एवं शुभ लग्न इत्यादि पर आस्था यहाँ तक कि तीर्थ-यात्रा व मन्दिरों आदि में जाना यह सब बातें जो वंशानुगत परम्परा से उनके रक्त में समा गई थीं, उनसे न छूट सकती थीं ; न छूटीं। आज तक अनेक मुसलमान घराने ऐसे हैं जिनके यहाँ विवाह-शादियों आदि के अवसर पर पंडित और काजी दोनों ही संस्कार करवाते हैं। चौथा कारण हिन्दू-मुसलमानों के घनिष्ठ सम्बन्ध व सहयोग का यह था कि आर्थिक क्षेत्र में नवमुस्लिमों के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ था। एक मुस्लिम किसान अथवा कारीगर व व्यापारी हिन्दू किसान, कारीगर आदि के साथ उसी प्रकार से निर्वाह करता था जिस प्रकार वह सदैव करता चला आया था। इसलिए उनके दैनिक जीवन में कोई ऐसा अवसर न था कि परस्पर संघर्ष करने से उनको कोई लाभ होता हो।

उपर्युक्त विश्लेषण से विदित होगा कि सामान्य दैनिक जीवन में हिन्दू-मुस्लिम जनता का श्रेय परस्पर सहानुभूति व सहयोग से रहने में ही था। किन्तु दोनों जातियों की परिस्थिति में इतना भेद अवश्य आ गया था कि हिन्दुओं पर जजिया आदि करों तथा अन्य अन्यायपूर्ण बन्धनों के कारण वे मुस्लिम जनता के समान स्वतंत्रता से न रह सकते थे। परन्तु अकबर ने हिन्दुओं को इस तिरस्कृत स्थिति से पूरी तरह मुक्त

करके समस्त हिन्दू व मुस्लिम समाज को एक नागरिक समानता की स्थली पर खड़ा कर दिया और उसका यह अनुपम कार्य प्रायः औरंगज़ेब के समय तक बहुत कुछ अंश में बना रहा। हिन्दू-मुस्लिम जनता के परस्पर सहयोग व सहानुभूति का एक प्रमाण यह है कि जब औरंगज़ेब ने हिन्दू व्यापारियों के ऊपर मुसलमानों की अपेक्षा दुगना कर लागू किया तो मुसलमान व्यापारियों ने अपने हिन्दू सहयोगी व्यापारियों के लिए अपने नाम से उनका माल मँगाना, भेजना शुरू कर दिया।

**साम्प्रदायिक नेताओं के विषैले प्रभाव**—जो कुछ भेद-भाव अथवा संघर्ष कभी-कभी हिन्दू-मुसलमानों में हुआ, उसके मूल में दोनों सम्प्रदायों के स्वार्थी और निकृष्ट धर्म के ठेकेदार पुजारी, पंडा, मुल्ला, मौलवी होते थे जो धर्म के नाम पर भोली-भाली जनता को लड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। यही लोग इस बात के पक्षपाती थे कि हिन्दू मुसलमानों के सिद्धान्तों तथा विश्वासों में एक ऐसी खाई है जिसके कारण इन जातियों का परस्पर सहयोग और मित्रता से रहना सम्भव नहीं। इस भावना के निषेध में हम जो हिन्दू-मुसलमानों के परस्पर सहयोग व सम्बन्धों पर प्रकाश डाल चुके हैं वह इसकी असत्यता का काफी प्रमाण है।

## (२)
## मुग़लकालीन साहित्य और संस्कृति

इस युग में राजकीय प्रोत्साहन एवं परिपोषण के कारण राज-दरबार तथा काशी, मथुरा आदि साहित्य व विद्या के प्राचीन केन्द्रों में संस्कृत व हिन्दी-साहित्य की बहुत वृद्धि हुई। सभी मुग़ल सम्राट् बड़े विद्याव्यसनी व कला-प्रेमी थे। सैकड़ों कलावन्तों, साहित्यिकों, विद्वानों व विचारकों को उनके दरबार में आश्रय मिलता था और उनके रहन-सहन के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थीं। आरम्भ से ही सैकड़ों कवि, लेखक, इतिहासज्ञ, कई-कई भाषाओं के ज्ञाता, बड़े-बड़े संगीतज्ञ तथा चित्रकार चारों ओर से मुग़ल दरबार की ओर आकृष्ट हुए और अपनी उत्तमोत्तम कृतियों से न केवल सम्राटों का मनोरंजन किया वरन् उनके दरबार को प्रज्वलित एवं उनके नाम को इतिहास में अमर कर दिया। मुग़ल सम्राट् स्वयं बड़े ज्ञानवान् तथा कला-प्रेमी थे। एक प्रकार से बाबर ने ही मुग़ल साम्राज्य के साथ-साथ मुग़ल दरबार की साहित्यिक परम्परा का श्रीगणेश किया। बाबर के संस्मरण (तुज़के बाबरी) संसार के आत्मकथा-साहित्य में एक अद्वितीय ग्रन्थ है। भाषा व साहित्य की दृष्टि से तो यह संस्मरण अत्युत्तम हैं ही किन्तु उनकी अनुपम विशेषता यह है कि जिस स्पष्टवादिता के साथ बाबर ने अपने बाह्य तथा आन्तरिक जीवन को निस्संकोच एक चित्रपट के सदृश खोलकर संसार के सामने रख दिया है उसका अन्यत्र उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ है। दूसरा सराहनीय गुण बाबर का यह है कि उसकी प्रत्येक वस्तु को बड़े ध्यान से देखने की शक्ति अपने समय के विजेताओं में अद्वितीय थी। वास्तविक जीवन का कोई पहलू बाबर की दृष्टि में इतना तुच्छ नहीं था कि उसे वह उल्लेखनीय

न समझता हों। वह अपने गार्हस्थ्य जीवन, अपनी संतान के प्रति गहरा प्रेम तथा निजी जीवन की अनेक घटनाओं का बड़ी रोचकता के साथ उल्लेख करता है। मित्र-मण्डली के साथ मदिरा-पान का आनन्द लेने आदि घटनाओं को भी वह उतने ही निस्संकोच उल्लास के साथ बयान करता है। अपने परिवार तथा स्वजनों व मित्रों के गुण-दोष भी उससे छिपे नहीं। भारतवर्ष के मौसम, जलवायु, पशु-पक्षी, भूमि की उपज, सिंचाई के उपाय आदि-आदि अनेक बातों का ज्ञान हमें बाबर के विवरण से मिलता है। साथ ही अपने पूर्वजों से लगाकर भारत की विजय तक का बड़ा सुस्पष्ट वर्णन हमको बाबर के शब्दों में मिलता है। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि 'बाबर के संस्मरण साहित्यिक दृष्टि से अनुपमेय हैं।' हुमायूँ भी अपने पिता के समान बड़ा विद्वान् था। वह ज्योतिषशास्त्र का स्वयं बड़ा पण्डित था और उसमें बड़ी गहरी रुचि रखता था। उसने अपने मन्त्रिमण्डल को १२ नक्षत्रों के अनुकूल संगठित किया था। उसके समकालीन कई बड़े साहित्यिक व इतिहास-लेखक हुए जिन्होंने अपने ग्रन्थों से साहित्य की मूल्यवान् सेवा की। ख्वाँदा मीर ने कानून-ए-हुमायूँनी, जौहर ने हुमायूँनामा और स्वयं सम्राट् की बहन गुलबदन बेगम ने अपना हुमायूँनामा, लिखे। ये तीनों ग्रन्थ हुमायूँ और उनके पूर्वजों के इतिहास तथा राजनीतिक संस्थाओं के लिए बड़े प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

परन्तु मुग़ल युग का सर्वोत्कृष्ट तथा परम उज्ज्वल काल अकबर महान् के राजत्वकाल से आरंभ होता है। इसका सारा श्रेय अकबर की सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा उच्च भावनाओं को देना अनुचित न होगा। अकबर ने न केवल बड़े राजपूत वीरों को अपनी ओर आकर्षित किया प्रत्युत साहित्य और कला के क्षेत्र में अनेकों आलिमों व पंडितों को भी मोहित किया। आधुनिक लेखकों ने अकबर को अनपढ़ बतलाने का दुस्साहस किया है। परन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। किसी भी विचारशील विद्वान् के लिए ऐसा मानना केवल अकबर के ही साथ नहीं अपनी बुद्धि के साथ अन्याय करना है। अकबर के बारे में इस भ्रान्ति का कारण यह है कि स्वयं उसके हाथ के लेख अथवा हस्ताक्षर बहुत ही कम प्राप्त हुए हैं। किन्तु तनिक ध्यान देने से विदित हो जाता है कि राजनीति व शासन-सम्बन्धी ही नहीं वरन् साहित्य, दर्शन, अध्यात्म तथा कला आदि कोई विषय ऐसा न था जिस पर बड़े-बड़े कठिन ग्रन्थों को सम्राट् स्वयं न सुनता हो और उनको पूरी तरह न समझता हो। लेकिन वास्तविक बात यह है कि अकबर एक दृष्टि से अपने समय का सबसे बड़ा ज्ञानी व गुणवान् था क्योंकि वह उन सब विषयों का बड़े विस्तार तथा गहराई के साथ अध्ययन करता था जिनकी भिन्न-भिन्न विद्वान् व कलाविद् सम्राट् के सामने व्याख्या करते थे। अकबर की प्रेरणा से तथा उसके परिपोषण में अनेकों बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गए तथा अनूदित हुए। बदायूँनी व फ़ैज़ी आदि ने सम्राट् के आदेशानुसार अथर्ववेद, महाभारत तथा रामायण आदि महान् ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त १२वीं सदी में भास्कराचार्य द्वारा रचित अंकगणित के प्रसिद्ध ग्रन्थ

लीलावती का अनुवाद फ़ैज़ी ने और मूल पंचतन्त्र का अय्यारे दानिश नामक फारसी अनुवाद, अबुलफ़ज़ल ने व सिंहासनबत्तीसी का अनुवाद मुल्ला बदायूँनी ने सम्राट् की आज्ञा के अनुसार किया। अबुलफ़ज़ल और उसके बड़े भाई फ़ैज़ी ने कई उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे। फ़ैज़ी एक विचारक और बड़ा प्रसिद्ध कवि था। परन्तु अबुलफ़ज़ल न केवल एक अद्भुत दार्शनिक तथा विचारक ही था, वह उतना ही महान् राजनीतिज्ञ व इतिहासवेत्ता भी था। राजधर्म तथा राजा व मानव-समाज के मौलिक सिद्धान्तों की जैसी व्याख्या व विश्लेषण अबुलफ़ज़ल ने किया है वह अन्यत्र तत्कालीन विद्वानों में सर्वथा अप्राप्य है। उसके दो ग्रन्थ अर्थात् 'अकबरनामा' व 'आईने-अकबरी' (जो अकबरनामे का ही अन्तिम भाग है) ऐतिहासिक साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। और भी बहुत से इतिहास अकबर के समय में लिखे गए। बदायूँनी ने मुन्तखब-उत्तवारीख, निज़ामुद्दीन अहमद ने तबकाते अकबरी उसी काल में लिखे। बदायूँनी का इतिहास गुप्त रूप से लिखा गया था। मुग़ल साम्राज्य की स्थापना से कुछ ही पहले से अनेक लेखकों और विशेषकर साधु-सन्तों ने हिन्दी-साहित्य की भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं के द्वारा अपनी रचनाओं से हिन्दी के भाण्डार को भरपूर किया। इनमें रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य, रैदास, सूरदास, मीराबाई तथा गोस्वामी तुलसीदास के नाम तत्कालीन सन्तों की श्रेणी में सर्वोच्च हैं। इनके अतिरिक्त रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना), कवि गंग, केशव आदि कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। अकबर के नव रत्नों में राजा टोडरमल जितना महान् राजनीतिज्ञ तथा शासक था उतना ही विद्वान् था। वह हिन्दी में भी कविता करता था परन्तु उसने व्यहार मलूक नामक ग्रन्थ संस्कृत में रचा जो उसकी सर्वोत्तम कृति थी। राजा बीरबल भी हिन्दी में बड़ी उत्तम कविता करता था। सभी मुग़ल सम्राट् विशेषकर अकबर, अनेक संस्कृत कवियों तथा साहित्यिकों के परिपोषक व सहायक थे। अकबर महान् के अतिरिक्त इनमें, शेरशाह, जहाँगीर, शाहजहाँ एवं पिछले मुग़लों के दरबारों में अनेक पण्डित, कवि तथा गुणीजन आश्रय पाते थे। इन विद्वानों में भानुकर, अकबरीत, कालिदास और जगन्नाथ पण्डितराज के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। भानुकर का समय प्रायः १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। अनेक अन्य ग्रन्थों में उसके पद मिलते हैं। उसने गीता-गौरीश, काव्यदीपिका, रसमंजरी आदि कई ग्रन्थों की रचना की थी। जान पड़ता है कि भानुकर के आश्रयदाताओं में विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवराय, शेरशाह, बुरहान, निज़ामशाह आदि हिन्दू व मुस्लिम दोनों ही थे।

अकबरीय कालिदास का वास्तविक नाम गोविन्द भट्ट था। उसने रेवाँ (भट्टा) के राजा रामचन्द्र वाघेल (१५५५-१५९२ ई०) की प्रशंसा में **'रामचन्द्रयशः प्रशस्ति'** नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उसने अपनी कविताओं में अकबर की प्रशंसा की है। और इस कारण कि उसने अपना विरुद अकबरीय कालिदास रखा, यह अनुमान किया जाता है कि अन्य नरेशों के साथ-साथ अकबर का आश्रय भी उसे प्राप्त था।

परन्तु इन सबमें सुप्रसिद्ध जगन्नाथ पण्डितराज था। यह एक तैलंग ब्राह्मण, पेरम भट्ट व लक्ष्मी का पुत्र था। यह जहाँगीर व शाहजहाँ का समकालीन था। इसने लवंगी नामक एक मुसलमान महिला से विवाह किया था जिसके कारण कट्टरपंथी पण्डों के हाथों इसे अनेक कष्ट उठाने पड़े थे। जान पड़ता है वजीर आसफ़ख़ाँ उसका विशेष प्रेमी था। जगन्नाथ ने 'आसफ़-विलास' काव्य लिखा जिससे प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने उसे पण्डितराज की उपाधि प्रदान की। वह शाहजहाँ के दरबार में दीर्घ काल तक रहा। शायद उसी के सम्बन्ध में उसने यह पद लिखा था—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्॥

कहा जाता है कि दारा के नृशंस वध से दुःखी होकर, मुग़ल दरबार को त्यागकर वह वाराणसी चला गया था। जगन्नाथ अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों का रचयिता था। इनमें से रसगंगाधर, आसफ-विलास, गंगा-लहरी, विष्णु-लहरी, आदि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों के अलावा और भी अनेक हिन्दू विद्वानों को मुसलमान बादशाहों का आश्रय प्राप्त था।*

अकबर के वंशज जहाँगीर व शाहजहाँ स्वयं बड़े विद्वान्, विद्याव्यसनी तथा कला-प्रेमी सम्राट् थे। जहाँगीर ने तुज़के जहाँगीरी नामक अपने संस्मरण बड़ी योग्यता के साथ लिखे जो तत्कालीन इतिहास का एक मूल्यवान् स्रोत है। जहाँगीर के समय में अन्य विद्वानों ने भी इतिहास के बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। इनमें मुअत्मदखाँ रचित इकबालनामा समूचे तीमूरी वंश का इतिहास है; इसके तीसरे भाग में जहाँगीर के शासन का विस्तृत इतिहास दिया गया है। यह तीसरा भाग इकबालना में जहाँगीर कहलाता है। इसके अतिरिक्त ख्वाज़ा कामदार-रचित मा-सिर-ए जहाँगीरी, मुहम्मद अब्दुल बकी रचित मा-सिर-ए रहीमी जो अब्दुर्रहीम खानखाना का जीवन-चरित है, आदि ग्रन्थ भी इसी समय लिखे गए। शाहजहाँ के राजत्व-काल में अब्दुल हमीद लाहौरी का बादशाहनामा जहाँगीर के अन्तिम दिनों तथा शाहजहाँ के शासन के पूर्वार्द्ध का इतिहास है। यह शाहजहाँ के इतिहास का सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता है। इसी समय मुहम्मद सालेह कम्बोह ने अम्ले सालेह लिखा जिसमें शाहजहाँ का आदि से अन्त तक का पूर्ण इतिहास वर्णित है।

जहाँगीर के समकालीन हिन्दू सन्तों में दादूदयाल व सुन्दरदास के नाम सर्व-प्रसिद्ध हैं। दादूदयाल का जन्म सन् १५४४ में गुजरात के अहमदाबाद नगर में बताया जाता है। दादू के सिद्धान्तों तथा विश्वासों पर कबीर का विशेष प्रभाव जान पड़ता है। इनका प्रचार-क्षेत्र राजस्थान था। इन्होंने अपनी साखियों व पदों द्वारा सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता व जाति-पाँति की निस्सारता आदि

*देखो, 'मुस्लिम पेट्रनेज टु संस्कृत लर्निंग' जे० बी० चौधरी कृत (द्वितीय संस्करण) द्वितीय खंड।

का उपदेश दिया है। दादूदयाल की मृत्यु सन् १६०७ में हुई। इनकी शिष्य-परम्परा में सर्वोच्च कोटि के कवि तथा विद्वान् सुन्दरदास हुए। इनका अध्ययन बड़ा विस्तृत था और इनकी वाणी व भाषा शुद्ध काव्य की भाषा है। इन सन्तों के अतिरिक्त धर्मदास, जगजीवन, पलटू साहब आदि अनेक सन्त भी इसी समय हुए। इनकी भाषा व साहित्य पर तो विशेष प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु जनता को भक्ति व अपने कर्त्तव्यों की ओर प्रेरित करने में इन सन्तों ने सराहनीय कार्य किया। इसी समय कई उत्कृष्ट कवि व सन्त मुसलमान समाज ने भी उत्पन्न किए जो शासक अथवा उच्च वर्ग में से न होकर सामान्य जनता में ही प्रादुर्भूत हुए और जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सर्वसामान्य की पारस्परिक एकता, समान मनोवृत्ति तथा सहयोग की भावनाओं का बड़ी उत्तमता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन किया। इन कवियों ने व्यावहारिक जीवन की समता की ओर अधिक ध्यान दिया। ये सूफ़ी कवि मुस्लिम होने के नाते एक निर्गुण और निराकार ईश्वर की उपासना करते थे तथापि वे ईश्वर को अनन्त प्रेम का भांडार मानते थे और उन्होंने अनेक आख्यानों के द्वारा ईश्वर के इस गुण की विशेष रूप से अभिव्यंजना की। यह अभिव्यंजना संकेत रूप से की गई न कि स्पष्ट रूप से और इसी से हिन्दी में रहस्यात्मक कविता का जन्म हुआ। इन्होंने अपने काव्यों में मुख्यतया अपनी कल्पना-शक्ति से ही काम लिया। किन्तु अक्सर उनके कथानक की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक भी होती थी। इन प्रेममार्गी कवियों की परम्परा हिन्दी में कुतबन के समय से आरम्भ होती है जिसने सन् १५०३ में मृगावती नामक ग्रन्थ की रचना की। यह शेरशाह के पिता हुसैनशाह के दरबारी कवि थे और चिश्ती-परम्परा के शेख बुरहान के शिष्य थे। चन्द्रनगर के अधिपति गणपतिदेव के राजकुमारों तथा कंचननगर की राजकुमारी मृगावती के प्रेम की कहानी के द्वारा कुतबन ने त्याग के आदर्श का संकेत किया है। मृगावती के उपरान्त मंझन ने मधुमालती नामक एक बड़ी सरस प्रेमगाथा की रचना की। प्रकृति के दृश्यों का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन करते हुए इन्होंने अव्यक्त की ओर संकेत किए। इन सूफ़ी कवियों में सबसे प्रसिद्ध मलिक मुहम्मद जायसी हुए जिनका 'पद्मावत' काव्य हिन्दी का एक ज्वलन्त रत्न है। जायसी ने अपने काव्य में बड़ी रोचकता से ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों का संयोग किया है। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसमें जाति-पाँति की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर समस्त मानव हृदय के भावों का चित्रण किया गया है। इतनी ही उत्तमता से जायसी ने अखिल जगत् के प्राकृतिक दृश्यों को एक निरंजन भगवान् की ज्योति से आलोकित देखा है। जायसी के बाद उसमान, शेख नबी, नूर मुहम्मद आदि भी इसी परम्परा के भक्ति कवि हुए। इन कवियों की भाषा अवधी हिन्दी में थी। यह शौरसेनी प्राकृत तथा राजस्थान की नागर अपभ्रंश के समन्वय से उत्पन्न हुई थी। इस भाषा को परिमार्जित तथा सुसंस्कृत बनाने का श्रेय इन सूफ़ी कवियों को दिया जा सकता है यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजी की अवधी भाषा संस्कृत के शब्द-भांडार की प्रचुरता के कारण एक साहित्यिक रूप में प्रस्फुटित हुई। इन मुसलमान सूफी कवियों का

अनुकरण करके बहुत से हिन्दू कवियों ने भी उपाख्यान काव्यों की रचना की। पर इन सब कार्यों का विषय पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। सूफी कवियों के रहस्यवाद का इनमें अभाव है। इन काव्यों में लक्ष्मणसेन-पद्मावती तथा ढोला-मारू, प्रेमपयोनिधि, हरिचन्द पुराण आदि-आदि बहुत से काव्य उल्लेखनीय हैं। ये कवि भावी हिन्दी-साहित्य व भाषा के निर्माता सूर व तुलसी सरीखे उच्चतम कवियों के पूर्वगामी थे। और एक प्रकार से कहा जा सकता है कि उन्हीं के द्वारा संचालित उपाख्यान-परम्परा अपने उच्चतम स्तर को इन महान् सन्त कवियों के उपाख्यान-काव्य में प्राप्त हुई।

मुग़ल-कालीन फ़ारसी साहित्य तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उनके अतिरिक्त औरंगज़ेब के समय में भी कई बड़े-बड़े ऐतिहासिक ग्रन्थ रचे गए जो तत्कालीन इतिहास के बहुमूल्य भाण्डार हैं। इनमें मुहम्मद साकी मुस्तईदखाँ का मासिरे आलमगीरी, मुहम्मद काज़िम का आलमगीर-नामा, राय भारामल का लुब्द तवारीखे हिन्द बड़े प्रमाणिक ग्रन्थ हैं। परन्तु औरंगज़ेब के साम्राज्य का सबसे बृहत् इतिहास ख़ाफ़ीखाँ रचित मुन्तखब-उल्-लुबाब है। ख़ाफ़ीखाँ ने शिवाजी तथा समकालीन मराठा जाति का भी काफी वर्णन किया है। इन इतिहासज्ञों के साथ मुहम्मदकासिम हिन्दुशाह, उपनाम फिरिश्ता का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। फिरिश्ता अपने शैशव में अपने पिता गुलामअली हिन्दुशाह के साथ ख़्वारिज़्म से भारतवर्ष आया था। उसके पिता ने पहले निज़ामशाह की नौकरी की और बाद में बीजापुर के सुलतान के दरबार में चला गया। फिरिश्ता १५७० में पैदा हुआ था और १५८९ में उसके पिता का देहान्त हो गया। परन्तु यह नवयुवक दक्षिण सुलतानों के दरबारों में अपनी योग्यता के कारण काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। कुछ दिन बाद उसके स्वामी इब्राहीम आदिलशाह ने फिरिश्ता को भारतीय मुस्लिम जगत का एक सम्पूर्ण इतिहास लिखने का आदेश दिया। कहा जाता है कि फिरिश्ता एक बार दूत के रूप में जहाँगीर के दरबार में भी आया था। फिरिश्ता की मृत्यु कर्नल ब्रिग्स के अनुसार १६१२ में हुई थी। इससे विदित होगा कि उसने कितने थोड़े-से अवकाश में भारतवर्ष का इतना विविध व विस्तृत इतिहास तैयार किया जिसके आधार पर ऐलिफन्स्टन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने पहले-पहल भारतीय इतिहास का अध्ययन किया और अपने इतिहास लिखे।

३

## मुग़लकालीन कला

ललित कलाओं की उन्नति मुग़ल-युग में साहित्य व संस्कृति के किसी क्षेत्र से कम न हुई। वास्तव में कतिपय अंगों में जैसे चित्रकला, वास्तु, सुलेख़-कला आदि में तो इस काल में अनुपम उन्नति हुई। इन कलाओं के अतिरिक्त पच्चीकारी (Pietra dura), लकड़ी व पत्थर में कटाई का काम, विभिन्न प्रकार के बर्तनों पर अत्यन्त सुन्दर नक्काशी आदि भी उल्लेखनीय हैं। किन्तु इन सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय

शिल्प अत्यन्त बारीक जाले के समान रेशम व सूत के वस्त्र के बनाने का इस युग में बहुत उत्तमता को प्राप्त हुआ। भारत का वैदेशिक व्यापार बहुत-कुछ ढाका, कालीकट तथा मसूलीपटम आदि स्थानों में बने हुए वस्त्रों के बाहर भेजने का था जिससे इस देश को विदेशों से बहुत आय प्राप्त होती थी।

कह आए हैं कि मुग़ल काल में वास्तु (स्थापत्य) तथा चित्रकला की उन्नति विशेष रूप से हुई। मुग़ल सम्राट् बड़े-बड़े भवनों, प्रासादों, किले एवं नहरों और पुलों को बनवाने में बड़ी रुचि रखते थे। साथ ही अत्यन्त विस्तीर्ण व सुललित उद्यान व वाटिकाएँ बनवाना भी मुग़लों की विशेषता थी। उन्होंने दिल्ली, आगरा, लाहौर तथा काश्मीर आदि स्थानों पर इतने बड़े-बड़े एवं सुन्दर उद्यान लगवाए जो आज दिन तक उनके कला-प्रेम, मनोरंजन-प्रवृत्ति तथा उनके वैभव को सूचित करते हैं। यहाँ पर इन शिल्प व ललित कलाओं का अत्यन्त संक्षेप से ही उल्लेख करना सम्भव है, अतएव हम इन कलाओं की रूपरेखा का नीचे वर्णन करेंगे।

**वास्तु**—मुग़लों की वास्तु-कला प्राचीन भारतीय वास्तु-कला की परम्परा से भिन्न नहीं है। मुग़लों से पहले दिल्ली के तुर्क व अफ़ग़ान सुलतानों ने भारतीय वास्तुओं व स्थपतियों के द्वारा अपने मस्जिद, महल व मकबरे आदि बनवाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय स्थपतियों ने मुस्लिम सुलतानों के धार्मिक सिद्धान्तों का समावेश बड़ी सुन्दरता के साथ करते हुए उनके नए भवनों में भारतीय वास्तु के मौलिक नियमों का पूर्णरूप से प्रयोग किया। इस प्रकार निस्संदेह मस्जिद व मकबरों के आकार-प्रकार में स्पष्ट रूप से एक नए प्रकार की वास्तुकला विकसित हो गई। परन्तु पारिवारिक आवास सम्बन्धी वास्तु, सामरिक वास्तु अर्थात् किलों व महलों, हवेलियों तथा उद्यानों व वाटिकाओं के निर्माण प्रायः प्राचीन परम्परा के अनुसार ही होते रहे। इन सब भवनों में प्राचीन परम्परा तथा वास्तु के सिद्धान्तों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। जैसा पूर्वकालीन हिन्दू महलों, सामान्य कोटि के घरों व हवेलियों का भू-विन्यास तथा आकार-प्रकार होता था उसी प्रकार के महल व अन्य इमारतें इस काल में भी बनती रहीं। उनके निर्माण के सिद्धान्तों में देश, काल तथा उपयुक्त सामग्री की भिन्नता के कारण अवश्य कुछ परिवर्तन हुए। प्राचीन काल की वाटिकाएँ तथा उद्यान व सरोवर आदि की परम्परा को भी इन लोगों ने जारी रखा और विशेष रूप से उद्यान व पुष्प-वाटिकाओं में मुग़लों ने विशेष रुचि दिखलाई और उनके आकार तथा सौन्दर्य में बहुत वृद्धि की। एक और वास्तु-परिपाटी का अनुसरण तुर्क सुलतानों की भाँति मुग़लों ने भी बड़े पैमाने पर किया। यह वास्तु कृत्रिम झीलों के निर्माण का था। इस देश में अति प्राचीन काल से पहाड़ी-प्रदेशों में बड़ी-बड़ी कृत्रिम झीलें बनाने की परम्परा चली आई है। जहाँ कहीं कोई पर्वतश्रेणी अर्द्धचन्द्राकार हुई जिसका मुहाना केवल एक तरफ को खुलता हो, उस मुहाने को एक बाँध बना कर बन्द कर दिया जाता था। इसी सिद्धान्त पर कहीं-कहीं नदियों तक को रोककर एक पहाड़ी की घाटी के अन्दर ले

जाया जाता था और उसको बाँध के द्वारा रोककर बड़ी भारी झील बना दिया ज़ाता था। इस प्रकार की हज़ारों झीलें राजस्थान, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड तथा देश के अन्य भागों में भी पाई जाती हैं। राजा भोज परमाल ने आश्चर्य-जनक वैज्ञानिक बुद्धि से एक बड़ा भारी बाँध बनवाकर बेतवा नदी को रोककर उसका पानी निकट-वर्ती चन्द्राकार पहाड़ी के अन्दर ले लिया था जिससे २५० वर्ग मील की एक समुद्र-सदृश झील बन गई थी। इस बाँध का नाम भोजपाल होने से उसके निकटवर्ती आबादी भोजपाल कहलाने लगी और वहाँ एक पूरा नगर बस गया। यही आजकल का भूपाल है। इसी प्रकार अकबर ने फतहपुर सीकरी की उस पहाड़ी शाखा को जो पूर्व से पश्चिम की ओर चलती हुई उत्तर को मुड़ जाती है और भरतपुर तक चली जाती है, उसके मुहाने की तरफ से एक बहुत बड़ा लगभग १३ मील लम्बा बाँध बनवाकर एक बड़ी विशाल झील का निर्माण किया था। यही बाँध फतहपुर सीकरी से भरतपुर तक की सड़क का काम भी देता है। मुग़लों ने बहुत से प्राचीन राजमार्गों का जीर्णोद्धार किया और अन्य नए-नए मार्ग बनवाए जिनके दोनों ओर छायादार व फलदार वृक्ष लगवाए और थोड़े-थोड़े फासले पर यात्रियों के आराम के लिए बड़ी-बड़ी सराएँ बनवाईं। सड़कों के किनारों पर कोस मीनारें बनवाईं जो आजकल के मील-निर्देशक पत्थरों (milestones) की पूर्वज थीं। इन कोस मीनारों में चारों ओर दीपक जलाने के लिए आले बने होते थे ताकि अँधेरे के समय सड़कों पर उजाला रहे। साथ ही सड़कों के किनारों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर आदमी के कमर की ऊँचाई के बराबर दीवारें बनवाईं ताकि भारी बोझ ढोने वाले मजदूर इन दीवारों के ऊपर अपना बोझा उतारकर साँस ले सकें। यह सब कार्य बहुत तुच्छ से जान पड़ते हैं किन्तु सर्वसामान्य की दृष्टि से इनका महत्त्व इने-गिने वैभवशाली भवनों से बहुत अधिक था।

अब मुग़लों के शाही तथा धनवान् अमीरों के भवनों का उल्लेख किया जाएगा। बाबर ने अपने अल्प शासन-काल में कई स्थानों पर मन्दिरों को तोड़कर मसजिदें बनवाईं जिनका वास्तु की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। बाबर के वास्तु-स्मारकों में उसके आगरा में बनाए हुए बागों का बड़ा महत्त्व है। उसने अपने संस्मरण ग्रन्थ में लिखा है कि मेरे आगरे के बागों पर लगभग १२०० संगतराश कई वर्ष तक काम करते रहे। बागों में संगतराशों की आवश्यकता इसलिए पड़ती थी कि उनके विशाल प्राचीर तथा बड़े-बड़े द्वार और बागों के अन्दर के महल तथा नहरें और रोसें यह सभी पत्थरों से बनाए गए थे। बाबर के बाद हुमायूँ के बनवाए हुए वास्तुस्मारकों में केवल वह किला बाकी है जो आजकल पुराने किले के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन इन्द्रप्रस्थ के टीले के ऊपर बादशाह ने १५३४ में इस किले का निर्माण आरम्भ किया था और इसका नाम दीन पनाह रखा था। वह इसे पूरा भी न कर पाया था जब कि शेरशाह से परास्त होकर उसे निर्वासित होना पड़ा था। शेरशाह ने इस किले को पूरा किया और साथ ही एक नए नगर का

निर्माण किया। १५५६ में वापस लौटकर हुमायूँ ने यथाशक्ति शेरशाह के स्मारकों को नष्ट करके उनके स्थान पर अपने स्मारक खड़े किए किन्तु वह अपने गद्दीनशीन होने के बाद बहुत थोड़े दिन में ही अपने कार्य को अधूरा छोड़कर परलोक सिधार गया।

इसके बाद शेरशाह ने दिल्ली तथा अपनी पहली जागीर सहसराम में इतने विशाल तथा सर्वांगसुन्दर भवन निर्माण कराए जिनसे उसकी अद्वितीय कलात्मक बुद्धि का परिचय मिलता है। शेरशाह की सर्वोत्तम कृति उसकी अतीव सुन्दर तथा वैभव-शाली मसजिद है जो उसने पुराने किले के अन्दर बनवाई थी और अब तक लगभग अपनी पुरानी अवस्था में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने सहसराम में स्वयं अपना मकबरा एक विस्तीर्ण सरोवर के बीच में निर्माण कराया जो वास्तु-शिल्प की दृष्टि से मुग़ल-कालीन वास्तु-शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। वास्तु-विशारदों के मतानुसार तुर्क-पठान-कालीन वास्तु इस मकबरे में अपने उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार शेरशाह ने अपने पिता हसन का मकबरा सहसराम (बिहार) में बनवाया और वह भी तत्कालीन वास्तु का एक बहुत अच्छा नमूना है। शेरशाह के बेटे इस्लामशाह ने भी बहुत बड़े पैमाने पर अपना मकबरा एक विशाल सरोवर के बीच में बनवाना आरम्भ किया किन्तु वह उसे अपने जीवन में पूरा न कर पाया। सूरी वंश के इन बादशाहों ने भारतीय वास्तु में भी उसी प्रकार एक नई जागृति तथा नए पथ का अनुगमन किया जिस प्रकार उन्होंने भारतीय साम्राज्य की शासन-व्यवस्था को पुनर्जीवित करके उनमें महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक सुधार किए थे। मुग़ल वास्तु-कला का भावी विकास शेरशाह की वास्तु-शैली से ही प्रारम्भ होता है। इस्लामशाह ने भी दिल्ली में एक बड़ा विशाल तथा मज़बूत किला बनवाया था जिसके निकट, शाहजहाँ ने अपने नए नगर शाहजहानाबाद का निर्माण किया। यह किला आज तक विद्यमान है।

(अकबर के राज्यकाल में मुग़ल वास्तु अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई। इसी समय हम वास्तु के अन्दर एक नई पद्धति, नया रंग-रूप तथा नई शैली का प्रादुर्भाव देखते हैं। सबसे पहले पठानकालीन वास्तु की रुक्षता व नीरसता के स्थान पर कोमल व सरस सौन्दर्य तथा सुकुमारता के गुण स्पष्ट दीख पड़ते हैं। उनके वास्तु के विशेष चिह्नों में गोलाकार गुम्बद का सर्वोच्च स्थान है। इसके अतिरिक्त उनके भवन प्रायः बड़े-बड़े विशाल उद्यानों के बीच में प्रतिष्ठित किए जाते थे और एक सुन्दर चहार-दीवारी से घिरे होते थे जिसमें आवश्यकतानुसार तीन या चार तरफ बड़े सुन्दर अर्द्ध-गुम्बदी द्वार होते थे। इसी समय पतली ऊँची मनोरंजक मीनारें भी मुख्य भवन के चारों कोनों पर बनाने की रीति आरम्भ हुई। अकबर के ही वास्तु में उपर्युक्त चिह्नों के अतिरिक्त सबसे अधिक स्मरणीय विशेषता यह है कि उसने प्राचीन हिन्दू शिल्प सिद्धान्तों तथा आकार-प्रकारों का नवोदित निर्माण-नियमों के साथ इतना विलक्षण समन्वय किया कि अकबर के सभी भवन अन्य मुग़लों के भवनों से सर्वथा भिन्न दीख

पड़ते हैं। उदाहरण के लिए स्वयं उसका मकबरा, फतहपुर सीकरी का पंचमहल, उसके बनवाए हुए महल आदि-आदि सभी में हिन्दू शिल्प-सिद्धान्तों का प्रभाव व्यापक है। साथ ही उसके बुलन्द दरवाज़े व जामी मसजिद तथा उसके किलों के अंग-प्रत्यंग नई शैली के उदाहरण प्रतीत होते हैं। अकबर को हर प्रकार के भवन बनवाने का बड़ा व्यसन था। अबुलफ़ज़ल के शब्दों में "सम्राट् अपने प्रतिभाशाली मस्तिष्क के अन्दर बड़े विशाल भवनों की योजना बनाता है और इन मानसिक चित्रों को चूने-पत्थर के द्वारा बाह्य रूप में परिणत करता है।" अबुलफ़ज़ल का यह कथन पूर्णतया यथार्थ है। अकबर के शासन-काल की सबसे पहली और प्रसिद्ध इमारत हुमायूँ का मकबरा है जो १५६५ ई० में हुमायूँ की बीवी नवाब हाजी बेगम ने बनवाना शुरू किया और १६ वर्ष के अरसे में यह मकबरा बनकर तैयार हुआ। इसको देखते ही विदित हो जाता है कि इसका बाह्याकार पूर्वकालीन मकबरों से बहुत अंशों में भिन्न है। यह लाल पत्थर का बना हुआ है और उसमें सफ़ेद व काले संगमरमर की पट्टियाँ उसकी सतह को अलंकृत करने के लिए बड़े सुन्दर ज्यामितिक आकारों में जड़ी हुई हैं। उसके दरवाजों के ऊपर पत्थर के बड़े-बड़े कँगूरे और छतरियाँ बनी हुई हैं। उसका गुम्बद सफ़ेद संगमरमर का है, परन्तु उसमें कहीं भी महापद्म का प्रयोग नहीं किया गया है। गुम्बद की चोटी पर एक कलश अवश्य है जो गुम्बद के परिमाण की अपेक्षा बहुत संकुचित व छोटा दीख पड़ता है। हाजी बेगम के स्थपतियों ने इस मकबरे को पूर्णतया पारसी वास्तु का रूप देने की चेष्टा की है किन्तु इस प्रयास में वे उसके सौन्दर्य को बहुत अंशों में खो बैठे और एक रूखा व नीरस भवन ही खड़ा कर पाए। इस मकबरे के निर्माण में अकबर का कोई हाथ न था यद्यपि वह उसके राजत्व-काल में बनाया गया था। अकबर के वास्तविक भवनों में जहाँ उसकी प्रतिभा पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुई, फतहपुर सीकरी का नगर व उसके अन्तर्गत महल तथा अन्य इमारतें हैं। उसके ये भवन आज दिन तक अच्छी हालत में विद्यमान हैं। इनमें मुख्य स्थान अकबर की बड़ी मसजिद तथा उसके बुलन्द दरवाज़े का है। ये दोनों भवन अपनी विशालता तथा वास्तु-सिद्धान्तों की दृष्टि से दृढ़ता व सौन्दर्य में अद्वितीय हैं। फतहपुर सीकरी के अन्य सभी भवनों के समान ये दोनों भी रक्त-सदृश लाल पत्थर के बने हुए हैं। बुलन्द दरवाजे में अर्द्धगुम्बदी डाटों का बड़ा विलक्षण प्रयोग किया गया है। मसजिद का परिमाण बहुत विस्तृत है और उसके दालानों का पटाव सीधे पट्ट के नियम पर किया गया है। मसजिद की दीवारों, स्तम्भों आदि को कटाई तथा सफेद पत्थर के अनेक अभिप्रायों (designs) की पच्चीकारी (mosaic) से सुसज्जित किया गया है। फतहपुर सीकरी में अकबर ने और भी बहुत से भवन, राजमहल, सरकारी दफ्तर आदि बनवाए जो सभी लाल पत्थर के बने हुए हैं और वास्तु-कला के सर्वांगसुन्दर एवं उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें राजा बीरबल का आवास, जोधबाई की हवेली तथा दीवाने खास और उसका विष्णु-स्तम्भ उल्लेखनीय हैं। फतहपुर सीकरी में पहाड़ी की एक भुजा की पीठ पर

नई राजधानी बनाकर अकबर ने अपनी स्थापत्य सम्बन्धी प्रतिभा का परिचय दिया। इस राजधानी के भूनिवेशन में उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया जो केवल बाह्य आडम्बर तथा तड़क-भड़क के दिखावे के उद्देश से बनाया गया हो। उसके राज-महल तथा तत्सम्बन्धी अनेक आवश्यक रचनाएँ और राजकीय दफ्तर सभी को इस प्रकार सुव्यवस्थित रूप से स्थापित किया गया कि उसकी तुलना तत्कालीन किसी अन्य राजधानी से नहीं की जा सकती। उसने अपने भवनों को बड़े समुचित एवं सुनियंत्रित रूप से सुसज्जित किया। इस राजधानी-निवेशन की सर्वोत्कृष्ट उत्तमता इस बात में है कि उसके मूल में एक उच्च कल्पना तथा समन्वयात्मक दृष्टि थी जिसके कारण वह नगर एक सजीव राजनीतिक व सामूहिक जीवन का प्राकृतिक चोला बन गया था।

अकबर के अन्य स्थानों के वास्तु-स्मारक भी बड़े विशाल, सर्वाङ्गसुन्दर एवं वैभवशाली हैं। अकबर ने अनेक समरोचित नाकों पर बड़े-बड़े किले बनवाए। इनमें प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर, आगरे से जमुना के दाहिने तट पर, लाहौर में रावी के तट पर तथा अन्य उत्तर-पश्चिमी सैनिक मार्गों पर उसके बनाए हुए गढ़ इतने दृढ़ तथा विशाल हैं कि उनके समान अन्य किसी मुग़ल सम्राट् ने गढ़ नहीं बनाए। इन किलों को भी उसने बड़े-बड़े राजमहलों तथा सभा-भवनों आदि से भरपूर किया था। परन्तु एक दृष्टि से अकबर की सर्वोत्तम व सबसे आकर्षक कृति उसका मकबरा है जिसका नक्शा स्वयं उसने बनाया था यद्यपि उसका निर्माण सम्राट् के जीवन-काल में समाप्त न हो पाया और जहाँगीर ने उसे पूरा किया। यह मकबरा एक अत्यंत विस्तीर्ण उद्यान के बीच में स्थित है और प्राचीन हिन्दू पंचमहल की शैली पर बना हुआ है, अर्थात् इसमें नीचे से ऊपर तक पाँच खण्ड हैं। सबसे ऊपर का खण्ड संगमरमर का बना हुआ है जिसके बीचोंबीच अकबर की वास्तविक क़ब्र थी, जो सबसे नीचे तह-खाने के बीच में स्थित है, स्मारक शिला (cenotaph) स्थापित की गई है। इस मकबरे का पश्चिमी महाद्वार भी वास्तु का एक अत्यन्त भव्य उदाहरण है। निस्संदेह बड़े उत्तुंग, महाकाय व दृढ़रक्तिम शिलाओं के द्वार बनाने का विशेष ज्ञान अकबर को था। यह द्वार भी फतहपुर सीकरी के बुलन्द दरवाज़े की तरह बहुत ही विशाल एवं सुन्दर बना हुआ है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके दाएँ-बाएँ पक्ष सफ़ेद पत्थर के फूल-पत्तियों तथा बेलों से सुसज्जित किए गए हैं और यह उसकी सतह में जड़े हुए हैं। इससे भी अधिक स्मरणीय इस द्वार की विशेषता यह है कि उसके ऊपर चारों कोनों पर चार गगनचुम्बी संगमरमर की मीनारें खड़ी की गई हैं जो उस द्वार के प्रताप तथा तेज को दुगना कर देती हैं। सीकरी के भवनों के सदृश ही नहीं उनसे भी अधिक यह द्वार उस महान् सम्राट् के अद्वितीय तेज तथा प्रताप का प्रतीक है। अकबर के इन सब भवनों में उसका पौरुष, दृढ़ चरित्र तथा उसकी महत्त्वाकांक्षा प्रस्फुटित हुई है। उनके मूल में एक उच्च भावना तथा आदर्श है।

अकबर के बाद, जैसा हम कह चुके हैं, जहाँगीर ने वास्तु में विशेष रुचि नहीं

दिखलाई। जहाँगीर का मकबरा, जो लाहौर के निकट शहादरे में रावी के तट पर स्थित है, उसकी बेगम नूरजहाँ की कृति है। इस मकबरे का भवन तुलनात्मक रूप से बहुत बड़ा नहीं है परन्तु उसके सर्वांगसुन्दर निवेशन तथा पच्चीकारी की सजावट आदि में बेगम नूरजहाँ की सुकुमारता तथा उसकी कलात्मक सूक्ष्म कल्पना प्रदर्शित होती है। मुग़ल वास्तु-समूह में नूरजहाँ की देन उसके पिता ग़यासबेग एत्मादउद्दौला का मक़बरा सर्वोत्तम है। यह मक़बरा आगरे में जमुना के बाएँ तट पर एक बाग के बीच में स्थित है। यह मुग़ल सम्राटों के मक़बरों के समान बहुत लम्बा-चौड़ा नहीं है। एक दुमंज़िले सुनिवेशित सफेद पत्थर के समकोण भवन के चारों कोनों पर चार छोटी-छोटी सुन्दर अठपहलुआ मीनारें हैं। इसकी सबसे अधिक ध्यान देनेवाली विशेषता यह है कि नूरजहाँ ने अपनी कला-प्रवीणता तथा अनुपम साहस के द्वारा उस पच्चीकारी की कला को, जिसका प्रयोग पहले बहुत छोटे पैमाने पर संगमरमर आदि के बर्तनों तथा अन्य ऐसी ही वस्तुओं में किया जाता था, एक बड़े मकबरे को सुसज्जित करने में प्रयुक्त कर दिखाया। इसी का अनुकरण भविष्य में शाहजहाँ ने अपने समस्त भवनों में किया।

शाहजहाँ-कालीन वास्तु को प्रायः सभी आधुनिक लेखकों ने मुग़ल-कालीन वास्तु का चरमोत्कर्ष बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि सदियों के अभ्यास से शाहजहाँ के समय तक भारतीय शिल्पियों ने हस्त-कौशल में इतनी अनुपम प्रवीणता प्राप्त करली थी कि उनकी किसी भी कलात्मक कृति में चाहे वह वास्तु हो, चाहे अलंकरण, इतनी कोमलता, मृदुता एवं लालित्य पाए जाते हैं जिनका उदाहरण कहीं भी मिलना कठिन है। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ ने अपने भवनों के निर्माण में बंगले के से सफ़ेद संगमरमर का प्रयोग करके उनके बाह्य आकार को इतना आकर्षक तथा भव्य बना दिया जिससे देखनेवाला आश्चर्य-चकित हो जाता है। किन्तु शाहजहाँ की कला, उसके स्मारक, चित्र आदि एक निर्जीव व उच्च आदर्श-विहीन मृतक शरीर के समान है। इसका शरीर बड़ा सुन्दर है पर कला के मौलिक गुणों का इसमें अभाव है। शाहजहाँ की कला के स्मारक उसकी मानसिक दशा की ही बाह्य अभिव्यक्ति हैं।

शाहजहाँ के बाद मुगल कला राजपोषण-विहीन होने से अनाथ हो गई। औरगज़ेब को कला के किसी अंग से भी रुचि न थी। इससे यह अभिप्राय नहीं कि कला का नितान्त अन्त हो गया। राजदरबार से निरादृत होकर कलावन्तों को प्रादेशिक राज्यों, अमीरों तथा बड़े श्रीमानों के आश्रय में जाना पड़ा। जैसा हम आगे बतलाएँगे, संगीत, चित्रकला, नृत्य आदि तो कुछ काल के लिए सम्राट् के दरबार से सर्वथा बहिष्कृत हो गए। वास्तुकला की अवनति भी उसी समय से बड़े वेग से हुई। औरंगज़ेब ने दिल्ली के लाल किले में एक छोटी सी किन्तु सफेद संगमरमर की मस्जिद और औरंगाबाद में (दौलताबाद के निकट, दक्खिन में) अपनी प्रिय बेगम औरंगाबादी का मक़बरा बनवाया, जिसे कला से अनभिज्ञ सामान्य लोग दक्खिन का ताजमहल

कहते हैं। परन्तु वास्तव में यह मकबरा कला की दृष्टि से अत्यन्त निम्न कोटि का है। ताज से इसकी तुलना करना किसी प्रकार उचित नहीं है। औरंगजेब ने अपने लिए कोई मकबरा नहीं बनवाया। उसके समय में जो अन्य इमारतें बनीं उनमें संगमरमर व कटे-छँटे चिकने चौकोर पत्थरों के स्थान पर अनगढ़ पत्थर व चूने के पलस्तर का प्रयोग हुआ। शायद इसका एक कारण यह भी हो कि लोगों की आर्थिक दशा भी बहुत बिगड़ चुकी थी।

औरंगजेब के वंशजों में कई सम्राट् बड़े कलाप्रेमी हुए। इनके संरक्षण में संगीत-कला को बहुत प्रोत्साहन मिला जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा।

वास्तु के क्षेत्र में मुग़लों के ह्रास के काल में दरबारी वास्तु कभी भी उस पौरुष व दृढ़ता को न पा सका जो अकबर महान् की प्रतिभा ने उसे प्रदान की थी। न वास्तु-स्मारकों का शरीर ही उतने बहुमूल्य कलेवरों से आच्छादित किया जा सका जैसा कि अकबर से शाहजहाँ तक के काल में हुआ था। पिछले मुगलों के काल में कहीं-कहीं सामान्य पत्थर-शिलाओं का प्रयोग अवश्य हुआ किन्तु बहुत अधिक फुँकी ईंट और चूने आदि से ही सब इमारतें बननी शुरू हुईं। तथापि बाह्याकार की सुकुमारता व रेखाओं तथा गोलाई इत्यादि की उत्तमता की परम्परा जो मुग़लकाल के सुवर्ण युग में अपनी चरमोन्नति को पहुँच चुकी थी, इस युग में भी वैसी ही बनी रही। स्तम्भों, डाटों और गुम्बद आदि के निर्माण में हस्त-कौशल का प्रदर्शन वैसा ही होता रहा। कहीं-कहीं पूर्वकालीन पच्चीकारी अर्थात् रंग-बिरंगे बहुमूल्य पत्थरों के जड़ाऊ अलंकरण का भी प्रयोग हुआ। इसका सर्वोत्तम उदाहरण दिल्ली का सफदरजंग का मकबरा है। पिछले मुग़लों ने कोई उल्लेखनीय वास्तु-स्मारक नहीं बनाए। परन्तु प्रादेशिक नवाबों व सूबेदारों ने, जो प्रायः स्वाधीन हो चुके थे, अपनी-अपनी राजधानियों में विशाल भवन का निर्माण किया। इनमें अवध के नवाबों के प्रासाद तथा विशाल सभामण्डप जो इमामबाड़े कहलाते हैं, अपने ढंग के निराले वास्तु-स्मारक हैं। इनकी एक विशेषता यह है कि इकहरे पटाव की इतनी लम्बी-चौड़ी मेहरावें दुनिया में कहीं नहीं पाई जातीं।

**चित्रकला तथा सुलेख**—चित्रकला व सुलेख की भी मुग़ल काल में बड़ी उन्नति हुई। मुगलकालीन चित्रकला विशेषतया सूक्ष्माकार (miniature) होती थी। इसका विकास प्राचीन राजपूत शैली पर ईरानी चित्रकारी के प्रभाव पड़ने से हुआ था। बाबर के समय में जो चित्र बने उनके रूप-रंगों तथा नैसर्गिक पृष्ठभूमि, सभी पर ईरानी कलम का पूरा प्रभाव दीख पड़ता है। चित्र के विषयों की मुखाकृति उनके मुकुट, दस्तार तथा अन्य वस्त्र भी ईरानी शैली के हैं। बाद में शनैः-शनैः भारतीय कला तथा प्राकृतिक परिस्थिति का प्रभाव उस पर पड़ता है और अकबर के समय में चित्रकला पूर्णतया भारतीय हो जाती है। मुग़लकालीन चित्रकला के विषय लगभग सभी दरबारी अथवा राजकीय आखेटों व उद्यानों के होते थे। मनुष्यों के चित्र प्रायः एकचश्म अर्थात् एकपक्षीय बनाए जाते थे। राजपूत व मुगल दरबारों

ी चित्रकारी में इस युग में ऐसा सामंजस्य हुआ कि उनके चित्र-विन्यास तथा अलं-ारों आदि में कोई भेद न रह गया था। इस कला का परमोत्कर्ष जहाँगीर के ाल में हुआ।

**काँगड़ा कलम**—उत्तर मुग़ल काल में—जबकि औरंगज़ेब के दुर्व्यवहार के कारण मुगल दरबार के चित्रकार तथा अन्य शिल्पी अपनी आजीविका के लिए दूसरे दरबारों की शरण में जाने पर विवश हुए—एक अतीव भव्य, सुकुमार तथा सललित चित्रकला का प्रादुर्भाव काँगड़ा पर्वत की उपत्यका में हुआ और उसका नाम पहाड़ी या काँगड़ा कलम पड़ा। इस शैली का सबसे महान् प्रोत्साहक तथा संपोषक काँगड़े का राजा संसारचन्द्र (१७७४-१८२३ ई०) हुआ। इसका समय पहाड़ी कला का स्वर्ण-युग कहलाता है। काँगड़ा कलम के चित्रकार एक हिन्दू नृपति के आश्रय में आकर महान् हिन्दू-साहित्य के विषयों को चित्रित करने के लिए उत्तेजित हुए। उन्होंने रामायण, महाभारत, भागवत आदि समस्त पौराणिक साहित्य, ऐतिहासिक गाथा, लोककथा एवं केशव, मतिराम, बिहारी, सेनापति हिन्दी कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक चर्या तक ऐसा एक भी विषय नहीं छोड़ा जिसे अपने चित्रों में प्रदर्शित न किया हो। एक आधुनिक चित्रकला-विशेषज्ञ का मत है कि काँगड़ा कलम की कृतियों में इतनी मौलिकता है कि उनके विषय में यह कहना बहुत कठिन होगा कि वे साहित्यिक रचना पर अवलम्बित हैं। उनकी विशेषताओं के कारण यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अजन्ता युग के बाद भारतीय कला इतनी ऊँचाई तक उठी जहाँ तक पहुँचना साधारण बात नहीं है। किन्तु पहाड़ी शैली के चित्र भी एकचश्म चेहरे के आलेखन में ही सीमित रहे।

समस्त मुस्लिम कला की एक विशेषता उसकी अतीव सुन्दर भिन्न-भिन्न ्कार-प्रकारों की आलेखन-कला रही है जिसका भारत में भी बड़ा आकर्षक विकास ुआ। कला-प्रेमियों तथा कलावन्तों को इस दिशा में अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने की आवश्यकता इस कारण हुई कि इस्लामी शरियत के अनुसार किसी प्रकार के जीव-जन्तु अथवा मनुष्यों का चित्र बनाना वर्जित है। इसलिए उन्होंने अरबी व फारसी अक्षरों को अपनी कला का माध्यम बनाकर उनको इतना सुललित तथा चित्रमय रूप दिया जिससे वे अक्षर भी बने रहें और साथ ही उनके कला-प्रेम को भी बहुत हद तक सन्तुष्ट कर सकें। परिणाम यह हुआ कि सुलेख-कला एक स्वतन्त्र कला के रूप में विकसित हुई और अन्य कलाओं के साथ उतनी ही समादृत हुई।

संगीत-कला को मुग़ल बादशाहों ने बहुत ही प्रोत्साहन दिया। इसका आरम्भ कबर के समय से होता है जबकि उसने पन्ना राज्य के गायनाचार्य ख्यातनामा ानसेन का नाम सुनकर उसे अपने दरबार में बुलवाया और उसे अपने नवरत्नों में म्मिलित करके उसका उचित सम्मान किया। अकबर के दरबार में अन्य और ी बहुत से कवि तथा प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। उस युग में प्राचीन भारतीय ध्रुवपद ायन शैली के स्थान पर खयाल गायकी का अधिक प्रचलन हो चुका था। कहते

हैं कि ध्रुपद की अत्यन्त दुस्तर गायकी को सुलभ बनाने के उद्देश से अमीर खुसरो ने १३वीं सदी में ध्रुपद का रूपान्तर ख़याल नामक गायकी में किया था। परन्तु भारत के तानसेन सरीखे महान् संगीतज्ञ शुद्ध प्राचीन शैली के ही अनुयायी थे। यह भी जनश्रुति है कि तानसेन ने पहले-पहल सम्राट् अकबर के दरबार में राग कान्हड़ा को एक विशेष रूप में प्रस्तुत किया जिसको सुनकर सम्राट् अकबर मुग्ध हो गया और तभी से यह राग दरबारी कान्हड़ा कहलाया। अकबर-कालीन संगीतज्ञों में तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास तथा बैजू बावरा के नाम भी विश्व-विख्यात हैं। अकबर के बाद औरंगज़ेब को छोड़कर सभी मुगल सम्राट् गायन-वादन के परम-प्रेमी तथा परिपालक रहे। किन्तु पिछले मुग़लों में संगीत का परम प्रेमी तथा स्वयं उसका ज्ञाता मुहम्मदशाह (१७१८-१७४८ ई०) हुआ। उसके समय में ख़याल शैली की बहुत अधिक उन्नति हुई और वहीं से उसका प्रचार प्रादेशिक रियासतों के दरबारों में हुआ।